****

BRAHAM SUTRA (Hindi)

****

अधिकरण-निर्देश

प्रथमाध्याय—प्रथम पाद

१. आचार्य शंकर ने सूत्रपदों के अनुसार इस अधिकरण का नाम न देकर लक्ष्य-प्रदेश के श्रुतिप्रसंग के अनुसार यह नाम दिया है। पर लक्ष्यप्रदेश शंकरानुमोदित स्थल से अन्य भी संभव होसकता है; जैसा प्रस्तुत भाष्य में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः इस अधिकरण का सूत्रानुसारी नाम 'प्राणस्तथाधिकरण' होने में कोई आपत्ति न होनी चाहिये; जैसा कि इससे पहले और आगे के अधिकरण का नाम है।

२. आचार्य शंकर ने इस अधिकरण का यह नाम सूत्रपदों के आधार पर न देकर एक ऐसे कल्पनामूलक प्रतिपाद्य विषय के आधार पर दिया है, जिसका सूत्र में कोई संकेत नहीं है। सूत्र के आधार पर 'तदुपर्यधिकरण' नाम दिया जाने पर कोई आपत्ति न होनी चाहिये।

३. इस अधिकरण का सूत्रानुसार 'शुगनादराधिकरण' नाम उपयुक्त प्रतीत होता है।

'अपंसूत्र' पद का सूत्रों में कोई संकेत नहीं।

१. यह नाम लक्ष्यप्रदेश के गाथागत व्यक्तिनाम के आधार पर है। इसके 'जगद्वाचित्वाधिकरण' नामकरण में कोई बाधा न होनी चाहिये। अगले अधिकरण का 'वाक्यान्वयाधिकरण' इसीप्रकार का नाम है।

२. यह नाम सूत्रपदानुसारी नहीं है। इसका 'उभयथाऽकर्माधिकरण' नाम सूत्रपदों के अनुसार बिना किसी बाधा के रक्खा जासकता है।

ओ३म्

ब्रह्मसूत्र-विद्योदयभाष्यम्

समन्वयात्मके प्रथमाध्याये प्रथमः पादः ।

चेतन और अचेतनरूप दो प्रकार के तत्त्व संसार में पाये जाते हैं। सृष्टिविद्या के पारदर्शी विद्वानों ने इस विषय में जो विशद विचार प्रस्तुत किये हैं, वे प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को इसी परिणाम पर पहुंचाते हैं। इन तत्त्वों का विवेचन भारतीय शास्त्रों में विस्तार के साथ किया गया है, विशेषरूप से दर्शनशास्त्रों का यही मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। यद्यपि आज ऐसा समझा जाता है, कि भारतीय दर्शनों में परस्पर विरोधी अर्थों का प्रतिपादन हुआ है, वे एक-दूसरे के प्रतिपाद्य अर्थों का प्रतिषेध करते दिखाई देते हैं। ऐसी स्थिति में वास्तविक तत्त्व क्या है, यह निर्णय करलेना सरल कार्य नहीं है।

दर्शनशास्त्र की इस स्थिति को आधुनिक दृष्टि से इस आधार पर महत्त्वपूर्ण बतलाया जाता है, कि ऐसी विचार-विभिन्नता मानवीय मस्तिष्क के विकास और उसके क्रमिक उर्वरभाव की द्योतक है। आदिकाल से आज तक मानव की इस प्रवृत्ति को यथार्थरूप में अनुभव किया जा सकता है। इससे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि मानव ने विचारों की दासता को नैसर्गिक रूप में सर्वात्मना कभी स्वीकार नहीं किया, अपने आप पर कभी उसको प्रभावी नहीं होने दिया। ये विचारमूलक संघर्ष जनता के सामने सदा आते रहे हैं, और आते रहेंगे। इस प्रवृत्ति को मानव की ज्वलन्त जागृति एवं सतर्कता का प्रमाण कहा जाता है।

इस विषय में महान आत्माओं का अनुभव है, कि यह प्रवृत्ति भले ही नैसर्गिक हो, जीवन्त जागृति का चिह्न हो, पर एक ओर की खिड़की से चुपचाप अज्ञान की छाया इसे झांका करती है। मानव ने मुड़कर उस ओर बहुत कम देखा है। कहा जा सकता है, कि यह प्रवृत्ति अपने रूप में कितनी भी यथार्थ हो, पर इससे तत्त्व के निर्णय व उसके स्वरूप के समाधान में कोई सन्तोषकर सहयोग प्राप्त नहीं होता; जब वे विचार इतने स्पष्ट विभेदों के साथ हमारे सामने आते हैं, तो उनमें से कौन सच्चा और कौन झूठा है, यह जानना कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में दो विकल्प होसकते हैं—उनमें से कोई एक विचार सत्य हो, अथवा कोई सत्य न हो; और यह अंधेरे में लाठी चलाने व हाथ-पैर मारने का प्रदर्शन होरहा हो। कारण यह है, कि तत्त्व का स्वरूप एक ही होसकता है; संभव है उसको मानव अभी न पासका हो, पर उसको जानने व पाने के लिये

उसका यह प्रयास प्रशंसनीय है।

हम अपने आपको ऐसी स्थिति में अनुभव करते हैं, कि जिन पारदृश्वा विद्वानों ने उन विचारों को प्रस्तुत किया है, उनकी पवित्र लोककल्याणकारी भावनाओं को समझते हुए यह साहस नहीं होता, कि उन विचारों को अनायास असत्य मान लिया जाय। तब किसी भी विचारक के सन्मुख यह गम्भीर समस्या आ जाती है, कि उन विभेदों की छाया में कौनसी समानता अन्तर्निहित है, जो इसका समाधान दे सकती है। क्रान्तदर्शी आचार्यों ने इसके लिये कुछ सुझाव दिये हैं; आइये, उन पर विचार करें।

ज्ञात होता है—तत्त्व की वास्तविकता के स्वरूप का विस्तार अनन्त है। समय-समय पर जो तत्त्वदर्शी विद्वान् भूमण्डल पर प्रादुर्भूत होते रहे हैं, और उस तत्त्व की वास्तविकता के महासागर का अवगाहन करते रहे हैं; उन्होंने लोककल्याण की भावना से उस अथाह सागर के उतने ज्ञान-रत्नों को प्रस्तुत करने का स्तुत्य यत्न किया है, जिनको उस समय के जन-मानस के लिये आवश्यक अथवा अपेक्षित समझा। उनके सामने यह परिस्थिति सदा जागरूक रही है, कि जिन व्यक्तियों के लिये यह तत्त्व-स्वरूप आलोकित किया जारहा है, उसे ग्रहण करने की क्षमता उन व्यक्तियों में कहांतक है। ज्ञान ग्रहण करने की क्षमता के आधार पर जिज्ञासु अधिकारी को तत्त्व के किसी अंश का उपदेश करने वाले आचार्य के विषय में यह नहीं कहा जासकता, कि उसकी तत्त्व-विषयक जानकारी उतने तक सीमित है। अपनी अज्ञानता के कारण हम यह समझ लेते हैं, कि आचार्य का इतनामात्र उपदेश अन्तिम है, और यही उसकी तत्त्वविषयक जानकारी की सीमा है; उस सचाई को हम अपनी आंखों से ओझल कर देते हैं, जिससे प्रेरित होकर उपदेष्टा ने जिज्ञासु अधिकारी की ग्रहण करने की क्षमता को जांचकर तत्त्व का उपदेश किया। उपदेष्टा की जिज्ञासु के लिये सदा कल्याण की भावना रहता है, अपने तत्त्वज्ञान का प्रदर्शन करने की नहीं। इसप्रकार प्रत्येक दर्शन तत्त्वविषयक जितने अंश का वर्णन करता है, उसीको पूर्ण और अन्तिम समझकर उनके परस्पर विरोध की घोषणा कर देना उचित नहीं है।

इस विचार की छाया में यदि हम दर्शनों के प्रतिपाद्य विषयों पर ध्यान दें, तो स्पष्ट हो जाता है, कि प्रत्येक दर्शन एक-दूसरे का पूरक है, विरोधी नहीं। भारतीय दर्शनों के दो विभाग किये जाते हैं—एक आस्तिक दर्शन, दूसरा नास्तिक दर्शन। आस्तिक दर्शन छह हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त। नास्तिक दर्शनों में चार्वाकदर्शन, जैनदर्शन, तथा बौद्धदर्शन का समावेश है।

आस्तिक दर्शनों को लीजिये। न्यायदर्शन में प्रमाण, प्रमेय आदि का वर्णन है। वस्तुतत्त्व को समझने के लिये किस प्रणाली का आश्रय लेना चाहिये, अथवा कौनसी रीति इसके लिये अपेक्षित है, इसीको समझाने और स्पष्ट करने के लिये इस दर्शन का प्रयास है। वस्तुमात्र की सि[illegible] के लिये प्र[illegible] स्तर पर प्रमाणों का आश्रय लेना [illegible]ा।

है। इस स्थिति का कोई दर्शन विरोध नहीं करता। न्याय इसीका मुख्यरूप से वर्णन करता है।

तत्त्वविषयक जिज्ञासा होने पर प्रारम्भ में उस विषय की शिक्षा का उपक्रम वहीं से होता है, जिसका प्रतिपादन वैशेषिक ने किया है। यहां उन भौतिक तत्त्वों का विवेचन है, जो जीवन के सीधे सम्पर्क में आते हैं। मानव जीवन अथवा प्राणिमात्र जिस वातावरण से आवेष्टित है, और अपने निर्वाह तथा अपने अस्तित्व को—जब तक संभव हो—बनाये रखने के लिये साक्षात् जिन भूत-भौतिक तत्त्वों की अपेक्षा रखता है, उनका तथा उनके स्थूल-सूक्ष्म साधारण स्वरूप एवं उनके गुण-धर्मों का विवेचन करना वैशेषिक दर्शन का मुख्य विषय है। इसको जानकर ही आगे तत्त्वों की अतिसूक्ष्म अवस्थाओं को जानने-समझने की ओर प्रवृत्ति एवं क्षमता का होना सम्भव है। इसके विरोध का कहीं अवसर नहीं आता, यह तत्त्वविषयक जानकारी का अपना स्तर है। वेदान्त आदि का अध्ययन भी इसके विना अधूरा रहता है। उसके प्रतिपाद्य विषय को समझने के लिये ज्ञान-साधन के इस स्तर से गुजरना आवश्यक है। वेदान्त अथवा कोई अन्य दर्शन इसका विरोध नहीं करता।

तत्त्वों की उन अतिसूक्ष्म अवस्थाओं और चेतन-अचेतन रूप में उनके विश्लेषण को तथा उनके वस्तुभूत भेदज्ञान की आवश्यकता को सांख्य प्रस्तुत करता है। प्रमाणों से वस्तुसिद्धि और वैशेषिक के तत्त्वविषयक प्रतिपाद्य अंश को वह अपनी सीमा में समेटे रखता है। तब न्याय-वैशेषिक के साथ उसके विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। न वे दोनों सांख्य का विरोध करते हैं, क्योंकि उनका अपना—प्रतिपाद्य विषय का—सीमित क्षेत्र है। वेदान्त आदि के साथ भी सांख्य का कोई विरोध नहीं, क्योंकि वेदान्त के मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्मतत्त्व को स्वीकार करने से वह नकार नहीं करता, और न मीमांसा-प्रतिपाद्य वर्णाश्रम-धर्मों के अनुष्ठान का वह विरोधी है। सांख्य ने चेतन-अचेतन के जिस विश्लेषण को प्रस्तुत किया है, उसके साक्षात्कार की प्रक्रियाओं का वर्णन योग में है। इसका विरोध कोई दर्शन नहीं करता। वेदान्त केवल ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध करता है, वेदान्त का अध्ययनमात्र उस चेतनतत्त्व ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार नहीं करा सकता; उसके लिये योग की प्रक्रियाओं तथा औपनिषद उपासनाओं का आश्रय लेना होगा। तब वेदान्त आदि के साथ इसका विरोध कैसा ?

योगप्रतिपाद्य इन प्रक्रियाओं के मुख्य साधनभूत मन अथवा अन्तःकरण की जिन विविध अवस्थाओं के विश्लेषण का योग में वर्णन किया गया है, वह मनोविज्ञान की विभिन्न दिशाओं का एक केन्द्रभूत आधार है। समाज की समस्त गति-प्रगतियों की डोर इसीके हाथ में रहती है। तब समाज के कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यों का विश्लेषणात्मक विवेचन प्रस्तुत करने वाले मीमांसाशास्त्र का इससे विरोध कैसा ? मीमांसा समाज के लिये उन अनुष्ठानों का वर्णन करता है, जो वर्तमान में उसके अभ्युदय और मृत्यु

अनन्तर कल्याण के साधन हैं। यह तो उन मनोदशाओं का प्रदीप है, जो अन्तर्निहित रहती हुई समाज को खेल खिलाया करती हैं। समस्त विश्व के संचालक व नियन्ता चेतन-तत्त्व का वर्णन वेदान्त करता है। जगत् के कर्त्ता-धर्त्ता-संहर्त्ता के रूप में प्रत्येक शास्त्र ने इसे स्वीकार किया है, कोई इसका प्रतिषेध नहीं करता। वेदान्त का तात्पर्य केवल ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध करने में है, अन्य तत्त्वों के प्रतिषेध में नहीं। वेदान्त के प्रखर भाष्यकार भगवान् आदि शंकराचार्य भी इस विचार के स्पष्ट करने में अक्षम रहे हैं, कि उस परमतत्त्व चेतन ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व का सर्वथा अस्तित्व नहीं है। प्रस्तुत व्याख्या में इस स्थिति को यथावसर स्पष्ट किया गया है। दर्शनशास्त्रों द्वारा प्रस्तुत यह ज्ञान-साधन का कार्यक्रम भारतीय संस्कृति के अनुसार वर्णाश्रम-धर्मों एवं कर्त्तव्यों के रूप में पूर्णतया व्यवस्थित है। इन मूलभूत लक्ष्यों के रूप में कहीं किसी का किसी के साथ विरोध का उद्भावन अकल्पनीय ही समझा जाना चाहिये।

नास्तिक दर्शन (चार्वाक)—भारतीय दर्शनों में से आस्तिक दर्शन-विभाग को लक्ष्यकर उनके पारस्परिक अविरोध को प्रकट करने के लिये उक्त पंक्तियां प्रस्तुत की हैं। यदि इसी तुला पर तथाकथित नास्तिक दर्शनों को तोला जाय, और गम्भीरता से उनका परीक्षण किया जाय, तो इन दर्शनों में भी आस्तिक कहे जाने वाले दर्शनों से कोई उत्कट अथवा मूलभूत विरोध की भावना नहीं पाई जाती, यह पर्याप्त सीमा तक स्पष्ट होजाता है। आस्तिक दर्शनों के समान चार्वाक अथवा जैन-बौद्ध दर्शनों द्वारा चेतन-अचेतनरूप में तत्त्वों का विवेचन किया गया है। चार्वाकदर्शन की इस मान्यता को जब हम अपने सामने विचार-कोटि में रखते हैं, कि इस समस्त चर-अचर एवं जड़-चेतन जगत् का मूल आधारतत्त्व केवल जड़ है; तब उसका तात्पर्य हमें केवल इतने अर्थ के प्रतिपादन में समझना चाहिये, कि इस लोक में हमारी सुख-सुविधा और सब प्रकार के अभ्युदय के लिये सर्वप्रथम तथाकथित जड़तत्त्व की यथार्थता और उसकी प्राणि-कल्याणकारी उपयोगिता को जानना परम आवश्यक है, उसकी उपेक्षा कर संसार में हमारा सुखी रहना सम्भव न होगा।

इस मान्यता के विरोध में चार्वाकदर्शन के सामने जब यह आशंका प्रस्तुत की जाती है, कि क्या जड़तत्त्व से अतिरिक्त चेतनतत्त्व का नित्य अस्तित्व नहीं माना जाना चाहिये? तब इसके समाधान में चार्वाकदर्शन का यही कहना है, कि चेतन के अस्तित्व से उसे कोई नकार नहीं है, पर वह नित्य है, या कैसा है, कहां से आता है, कहां जाता है? इत्यादि विचार-मन्थन उस समय तक अनपेक्षित हैं, जबतक उन तत्त्वों की यथार्थता व उपयोगिता को नहीं जान लिया जाता, जिनपर हमारा वर्त्तमान अस्तित्व निर्भर करता है। मरने के बाद क्या होगा? इसकी अपेक्षा यह अधिक आवश्यक है, कि हम जीवित कैसे रह सकते हैं। वर्त्तमान जीवन के आधारभूत जड़तत्त्व की रहस्यमय वास्तविकता व उपयोगिता के जान लेने से पहले यदि हम ऐसा मान लें, कि चेतन-

तत्त्व जड़ में से ही उभर आता है, तो इसमें क्या हानि है ? चार्वाकदर्शन का यह मन्तव्य 'अन्तिमेत्थम्' नहीं है, मानव-समाज के विचार-प्रवाह और कर्त्तव्य का यह एक स्तर है, इसकी उपेक्षा किया जाना मंगल का मूल नहीं। यह प्रत्यक्ष है, कि प्रायः मानव करता वही है, जो चार्वाकदर्शन बताता है; पर कहता वह है, जो उस दर्शन का विषय नहीं है, तब स्वभावतः संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। फलतः इस दर्शन का तात्पर्य इतने में है, कि सर्वप्रथम हमें उन तत्त्वों को समझने व प्रयोग में लाने का प्रयास करना चाहिये, जिनको हम अपने चारों ओर बिछा हुआ पाते हैं। उससे अतिरिक्त के प्रतिषेध में उसका कोई तात्पर्य नहीं है। तब किसी से किसी तरह के विरोध की भावना स्वतः शान्त होजाती है।

जैन-बौद्धदर्शन—चार्वाकदर्शन की अपेक्षा इन दोनों दर्शनों में यह विशेषता है, कि ये जड़तत्त्व से अतिरिक्त चेतनतत्त्व के स्वतन्त्र अस्तित्व का उपदेश करते हैं। यह संभावना की जासकती है कि इन दर्शनों के मूल प्रवक्ताओं ने विचार की दृष्टि से कुछ उन्नत जिज्ञासु जनों को तत्त्वज्ञान के इस स्तर का अधिकारी समझकर चेतन-अचेतन तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत किया। जैनदर्शन चेतन [आत्म-]तत्त्व को जहां संकोच-विकास-शील बताता है, दूसरा दर्शन उसे ज्ञानस्वरूप मानकर क्षणिक कहता है, और उसके निर्विकार भाव को अक्षुण्ण बनाये रखना चाहता है। बौद्धदर्शन में विभिन्न अधिकारी-स्तर की भावना से ज्ञानरूप [अथवा विज्ञानरूप] चेतनतत्त्व का विवेचन उस स्थिति तक पहुंचा दिया गया है जहां यह प्रतिपादन किया जाता है, कि समस्त चराचर जड़-चेतन जगत् उस 'विज्ञान' का ही आभास है, बाह्य का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कुछ नहीं, वस्तुभूत सत्ता एकमात्र विज्ञान है, भले वह क्षणिक हो। यह संभव है, कदाचित् मूलरूप में उसका भी वस्तुभूत अस्तित्व न हो। इसप्रकार हम संसार के मूलतत्त्व की विवेचना व खोज करते हुए एक रहस्यमय स्थिति पर पहुंच जाते हैं। ये सब तत्त्व-विचार के विभिन्न स्तर हैं। संभवतः इनमें कोई एक ऐसा ठिकाना नहीं, जिसे 'अन्तिमेत्थम्' कहकर निश्चयरूप से वहां टिका जासके। इससे उन-उन विचारों के मूल प्रवक्ताओं को अज्ञानी बताने का हमारा तात्पर्य नहीं है; वे वस्तुतः सर्वज्ञ-कल्प रहे होंगे, उनके वैसे उपदेश में लोककल्याण की भावना अधिक होसकती है। फलतः चेतन-अचेतन का यह विवेचन जो इतने अनेक प्रकारों में प्रस्तुत हुआ है, इसमें परस्पर विरोध की भावना न होकर जिज्ञासु अधिकारी के कल्याण की भावना अधिक है।

आस्तिक-नास्तिक दर्शन के भेद का कारण ईश्वर अथवा ब्रह्म-तत्त्व की मान्यता-अमान्यता कहा जासकता है। आस्तिक दर्शन उसके अस्तित्व को सर्वतोभावेन स्वीकार करते हैं, जबकि दूसरे नहीं। इसी आधार पर उनका यह नाम-भेद होगया है। दूसरा कारण है, वेद के प्रामाण्य को स्वीकार करना, न करना; परन्तु यह पहले कारण पर आश्रित है। वेद को मानने वाले उसे ईश्वरीय ज्ञान कहते हैं, जिन्होंने ईश्वर को न माना, वे

ईश्वरीय ज्ञान वेद को या उसके प्रामाण्य को क्यों मानेंगे ? इस प्रसंग में हमारा विचार है, कि तथाकथित नास्तिक दर्शन के मूल प्रवक्ताओं ने ईश्वर—अथवा ऐसी चेतन परम-शक्ति, जो समस्त संसार का नियन्त्रण करती है—के अस्तित्व का निषेध नहीं किया। उनकी रचनाओं से ऐसा अवगत होता है, कि उन्होंने किन्हीं विशेष परिस्थितियों से बाधित होकर वैसा प्रवचन किया। वे परिस्थितियां चाहे जिज्ञासु जनों की योग्यता पर आधारित रही हों, अथवा ईश्वर या वेद के मानने वालों द्वारा अपनी मान्यताओं को अन्यथा प्रस्तुत करने से पैदा हुई हों, या तात्कालिक सामाजिक प्रवृत्तियां आदि अन्य कारण रहे हों। ऐसा प्रतीत होता है, कि उस-उस काल के लोककर्त्ता व्यक्तियों ने ईश्वर या तत्सम्बन्धी मान्यताओं को अवाञ्छनीय सामाजिक संघर्ष का अनवेक्षित कारण समझकर लोगों को समझाया हो, कि भाई! इन अदृश्य अज्ञेय तत्त्वों को थोड़े समय के लिये एक ओर रहने दो, अपने वर्त्तमान जीवन को सुधारो, सबके कल्याण के लिये सदाचार पर ध्यान दो, परस्पर सहानुभूति से रहना सीखो; उससे हमारा यह लोक सुखमय होगा, और परलोक भी। ऐसे आचरणों से ईश्वर तक भी पहुंचा जा सकता है। उन्होंने समाज के सदाचार पर अधिक बल दिया। इसकी तब अपेक्षा रही होगी, वस्तुतः इसकी अपेक्षा सदा रहती है। उन प्रवक्ताओं का तात्पर्य ईश्वरास्तित्व के नकार में नहीं समझना चाहिये। तब ऐसे विरोध की भावना इन दर्शनों में कहां रहजाती है ?

अनन्तर काल में उन-उन विचारों के अनुयायियों ने आदिप्रवक्ता के तात्पर्य को यथार्थरूप में न समझते हुए परस्पर विरोध की भावना को उभारने में सहयोग दिया। धीरे-धीरे ऐसी प्रवृत्तियां बढ़ती गई; कालान्तर में उन्होंने विभिन्न वर्ग, सम्प्रदाय अथवा पन्थ का रूप धारण कर लिया, तब परस्पर विरोधी अखाड़ों ने स्थायिता प्राप्त कर ली। प्रत्येक विचार के व्याख्याकार विद्वानों ने उसी रूप में अपने विषय के विशाल साहित्य का सर्जन किया। उसमें कारण चाहे उनके कोई निजी स्वार्थ रहे हों, अथवा अन्य कारण हों, यह कहना कठिन है; पर आज हम उसी आदर्श के आधार पर मूल तत्त्व-विवेचना को परखने का प्रयास करते हैं। निश्चित है, मूल उद्देश्य से हम बहुत दूर भटक गये हैं। आदि प्रवक्ताओं के जन-कल्याणकारी लक्ष्य विचारों की इन काली-पीली आंधियों में तिरोहित हो चुके हैं। तत्त्व की खोज में यही भावना हमें सचाई के अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचा सकती है, कि सृष्टि के इस अनवरत प्रवाह में वे सब विचार अपने स्थान व अपने स्तर पर ठीक हैं, सत्य से अधिधारित हैं, उनमें छिपे यथार्थ को उभार लाने में आज तक जो सफल प्रयास किये गये हैं, उनसे चेतन और अचेतन के यथार्थ सत्यस्वरूप को समझने में पूरा सहयोग प्राप्त हुआ है।

विचारों के अवतरण की इस छाया में यह स्पष्ट समझ आता है, कि सृष्टि-विषयक तत्त्वज्ञान के उस लम्बे मार्ग के अपेक्षित विभिन्न अंशों अथवा अंगों का विस्तृत विवेचन अपनी उपयोगी भूमिकाओं के साथ विभिन्न शास्त्रों में प्रस्तुत किया गया है,

जो सब मिलाकर उस पूरे मार्ग के सत्यस्वरूप को प्रकट करता है। उसीके अनुसार प्रस्तुत वेदान्तदर्शन में समस्त ब्रह्माण्ड के कर्त्ता-धर्त्ता-संहर्त्ता सर्वशक्ति ब्रह्म चेतनतत्त्व के अस्तित्व का शास्त्र-समन्वय तथा ऊहापोहपूर्वक प्रतिपादन है। इसीकारण इस शास्त्र को 'ब्रह्मसूत्र' कहा जाता है। परमकारुणिक भगवान् वेदव्यास ने उस परमतत्त्व का निश्चय कराने की भावना से शास्त्र का प्रारम्भ करते हुए शिष्यों के सन्मुख प्रथम सूत्र कहा—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥१॥

[अथ] अनन्तर, अब [अतः] यहां से, इस कारण [ब्रह्मजिज्ञासा] ब्रह्म को जानने की इच्छा (ब्रह्मविषयक विचार का प्रारम्भ)।

सूत्रपठित 'अथ' पद का प्रयोग आनन्तर्य और अधिकार दोनों अर्थों में देखा जाता है। उच्चारणमात्र से इस पद को मांगलिक माना गया है। शास्त्र के प्रारम्भ में ऐसे पद का प्रयोग अध्यापक और अध्येताओं के कल्याण का सूचक है। 'अथ' पद के 'अधिकार' अर्थ की भावना से सूत्रपदों की योजना होगी—यहां से ब्रह्मविषयक जिज्ञासा-मीमांसा का प्रारम्भ किया जाता है। ब्रह्म की जिज्ञासा में उस विषय की 'मीमांसा' होना अनिवार्य है। ऊहापोहपूर्वक वस्तु का विचार करना 'मीमांसा' कहाता है। इसप्रकार ब्रह्म को जानने की इच्छा का समाधान ऊहापोहपूर्वक विचार करते हुए इस शास्त्र द्वारा प्रस्तुत किया गया है। वह शास्त्र तथा उसका प्रतिपाद्य विषय यहां से प्रारम्भ किया जाता है।

'अथ' पद का 'आनन्तर्य' अर्थ माने जाने पर सूत्रार्थ होगा—जिज्ञासु ने अमुक अपेक्षित तत्त्वों को जान-समझ लिया है, और उस स्थिति को प्राप्त कर लिया है, जब ब्रह्म को जानने की इच्छा का प्रादुर्भाव सम्भव है; इस कारण उस सबके अनन्तर अब ब्रह्मजिज्ञासा का उपयुक्त अवसर है। वह कौनसी वस्तु एवं स्थितियां हैं, जिनको जान लेने व प्राप्त करलेने पर ब्रह्मजिज्ञासा होसकती है, यह विचारणीय है। संसार में उपलभ्यमान दो प्रकार के तत्त्वों—चेतन और अचेतन—का साधारण ज्ञान अन्य शास्त्रों से प्राप्त होजाता है। चेतन के अतिरिक्त अचेतनरूप प्रकृति और अधिकाधिक यथा-सम्भव प्राकृतिक तत्त्वों को प्रमाण एवं प्रयोगात्मक विधियों द्वारा जान लेने पर जिज्ञासु के सन्मुख यह एक समस्या होती है, कि यह सब प्राकृत जगत् इस रूप में कैसे आजाता है? केवल प्रकृति और जीवात्मतत्त्व की दृग्गोचर जैसी स्थिति के द्वारा वह इसका समाधान प्राप्त नहीं कर पाता। संसार में समस्त रचना ज्ञानपूर्वक देखी जाती है। तब जगद्रचना में भी उसीकी कल्पना हो सकती है। प्रकृति जड़ है, इसलिये वह स्वयं इस रूप में आजाती है, यह माना जाना असम्भव है। जीवात्मतत्त्व अल्पज्ञ अल्पशक्ति तथा अनेक होने के कारण इस अनन्त जगत् के [illegible] अक्षम हैं। अतः एक ऐसे सर्वशक्ति-

सम्पन्न चेतन की ऊहा होती है, जो इस जगत् को इस रूप में लाता व इसका नियमन करता है। यद्यपि साधारण रूप से इस विषय को अन्य शास्त्रों द्वारा जान लिया जाता है, पर विशेषरूप से इस तत्त्व का प्रतिपादन अन्य शास्त्रों में नहीं है, क्योंकि प्रत्येक शास्त्र के अपने निर्धारित मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं। ब्रह्मतत्त्व की यथार्थता को जाने बिना प्राकृत तत्त्ववेत्ता के सन्मुख यह आशंका उभर आ सकती है, कि ऐसे तत्त्व का अस्तित्व माना जाना चाहिये, अथवा नहीं ? यदि माना जाय तो क्यों ?

तत्त्वज्ञाता प्राकृत तत्त्वों की परिणामिता व नश्वरता को देखता है, उनपर गम्भीरतापूर्वक विचार करता है; प्रत्येक वस्तु की स्थिति, वर्णाश्रम-धर्मों के अनुष्ठान व उनके फलों की भंगुरता तथा उनके अन्तरालवर्त्ती संघर्ष व उथल-पुथल को देख-समझ कर वह इस ओर से उपेक्षा करने लगता है, इन प्रवृत्तियों के प्रति उदासीन होजाता है। वह एक शाश्वत तत्त्व की खोज की ओर झुकने लगता है। यही अवस्था है, जब ब्रह्म की जिज्ञासा हुआ करती है। शास्त्रों के अध्ययन तथा पुण्य कर्मों के अनुष्ठान आदि से जिज्ञासु का अन्तःकरण शुद्ध होजाता है। संसार की ओर से वैराग्य की भावना जागृत होजाती है; इन्द्रियनिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन, अध्यात्मविषयक वार्त्ताओं का श्रवण आदि ब्रह्मजिज्ञासा के प्रति प्रवृत्तियों को उभारने में अत्यन्त सहायक होते हैं। ये ही सब स्थितियां हैं, जिनके अनन्तर ब्रह्म की जिज्ञासा का उदय होता है। इस प्रकार के जिज्ञासु अधिकारी लोक में पाये जाते हैं, अतः उनके कल्याण के लिये ब्रह्मविषयक विवेचन को प्रस्तुत करने वाले शास्त्र का प्रारम्भ करना अति-आवश्यक है।

अनुभवी शास्त्रकारों ने बताया, ब्रह्म का साक्षात् ज्ञान मोक्षरूप अतिशय आनन्दानुभूति का एकमात्र आधार है। वेद कहता है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ [यजु० ३१।१८]

अतितेजोमय महान आत्मा को जानने का प्रयत्न करना चाहिये, जो अन्धकार-मय जड़ प्रकृति से उत्कृष्ट है। उसीको जानकर मानव दुःख को पार कर पाता है, उस अवस्था की प्राप्ति के लिये अन्य मार्ग नहीं है। 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' [यजु० ४०।१४] विद्या-ज्ञान-साधनों द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर पुरुष अमृत का भोग करता है। इसको जानते हुए उस अतिशय अनवरत आनन्दानुभूति की ओर—संसार की संघर्षमय स्थिति —खिन्न मानव को सदा प्रेरित किया करती है। उसके लिये ब्रह्मविषयक मीमांसा का प्रस्तुत करना अपेक्षित है॥१॥

वस्तुतः ब्रह्मतत्त्व बाह्य दृष्टि का विषय नहीं है, पर हम उसको जानना चाहते हैं; तब सरलतापूर्वक उसके अस्तित्व को कैसे समझना चाहिये ? कहता है—

जन्माद्यस्य यतः ॥२॥

[जन्मादि] जन्म-उत्पत्ति आदि [अस्य] इसकी [यतः] जिससे। इस समस्त संसार की उत्पत्ति और 'आदि' पद से गृहीत स्थिति तथा प्रलय जिससे होता है, वह ब्रह्म है।

अदृश्य ब्रह्म के अस्तित्व को समझाने के लिये सूत्र का निर्देश है। किसी वस्तु के अस्तित्व को लक्षण एवं प्रमाण के द्वारा सिद्ध किया जाता है। लक्षण दो प्रकार का होता है, एक तटस्थलक्षण, दूसरा स्वरूपलक्षण। तटस्थलक्षण वह है, जो किसी के गुण अथवा क्रियाशक्ति द्वारा उस वस्तु का बोध कराया जाय, जैसे गौ का लक्षण किया जाय, कि जो अमुक विशेषताओं से युक्त दूध देने वाला पशु है, वह गौ है। यह गौ का तटस्थलक्षण है। स्वरूपलक्षण वह है, जो पदार्थ के यथायथ स्वरूप का वर्णन कर दिया जाय। जैसा कि सास्ना वाला जो पशु है, वह गौ है, यह गौ का स्वरूपलक्षण है।

इस सूत्र में ब्रह्म का तटस्थलक्षण कहा गया है। यह संसार उत्पन्न होने वाला पदार्थ है। प्रत्येक पदार्थ जो उत्पन्न होता है, उसका कोई उत्पादक कर्त्ता अवश्य होता है, और वह चेतनतत्त्व होसकता है। जैसे घट आदि का कर्त्ता चेतन कुम्भकार तथा कटक कुण्डल आदि का कर्त्ता सुवर्णकार होता है। विना कुम्भकार व सुवर्णकार के घट कटक आदि का निर्माण असम्भव है। इसीप्रकार उत्पन्न होने वाले इस विश्व-ब्रह्माण्ड का कोई चेतन कर्त्ता अवश्य होना चाहिये। अचेतन उपादान स्वयं जगत् के रूप में परिणत नहीं होसकता। पृथिवी द्युलोक आदि की रचना, इसके किसी चेतन रचयिता को सिद्ध करती है। जो इसको उत्पन्न करता है, वही इसकी स्थिति व संचालन का अधिष्ठाता है। उत्पन्न होने वाली वस्तु अवश्य समय पाकर बिगड़ जाती है, इसलिये इस विश्व का प्रलय करने वाला अर्थात् इसको पुनः कारणरूप में लेजाने वाला वही ब्रह्मतत्त्व है। इसप्रकार समस्त जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय का जो नियामक चेतनतत्त्व है, वही ब्रह्म है। यहां ब्रह्म के सर्वशक्तिमत्ता आदि गुण तथा जगद्रचना की क्रियाशक्ति व नियमन आदि के द्वारा उसके अस्तित्व को सिद्ध किया है, अतः यह ब्रह्म का तटस्थलक्षण है।

ब्रह्म का यह तटस्थलक्षण अन्य शास्त्रों में ब्रह्म अथवा परमेश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिये अनुमान प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि ब्रह्मतत्त्व एवं अन्य नित्य पदार्थों का अस्तित्व स्वतःसिद्ध होता है, पर उस स्थिति को समझने समझाने के लिये प्रमाण आदि का आश्रय आवश्यक है। यदि अन्य शास्त्रों में अनुमानादि द्वारा ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध कर दिया गया है, तब इस शास्त्र में उसके प्रतिपादन की क्या विशेषता है, जिसके लिये यह अतिरिक्त शास्त्र का प्रवचन हुआ? विशेषता है, अन्य शास्त्रों में साधारणरूप से इसका प्रासंगिक वर्णन है, पर यहां सर्वात्मना मुख्य प्रतिपाद्य विषय यही है; इसी कारण न केवल तटस्थ लक्षण, अपितु ब्रह्म के स्वरूपलक्षण तथा

उपनिषद् एवं अन्य वैदिक साहित्य में विविध पदों से प्रतिपादित इस तत्त्व का सामञ्जस्य इसी शास्त्र द्वारा प्रस्तुत किया गया है। ब्रह्म का स्वरूपलक्षण 'सत्, चित्, आनन्द' माना जाता है, यह किस प्रकार यहां प्रस्तुत किया है, इसका स्पष्टीकरण प्रथम पाद के उन्नीस सूत्र तक होजाता है। अनन्तर उन वैदिक व औपनिषद पदों एवं सन्दर्भों का विवेचन है, जिनके द्वारा विविधरूप में ब्रह्मतत्त्व का निर्देश उन शास्त्रों में किया है।

वेदादि शास्त्रों में विस्तार के साथ यह प्रतिपादन है, कि इस समस्त जगत् को उत्पन्न करने वाला एक चेतनतत्त्व ब्रह्म है। वेद की कतिपय ऋचा इसप्रकार हैं—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ [ऋ० १०।१९०।३]

रचयिता परमात्मा ने पूर्व सर्ग के समान सूर्य और चन्द्रलोक को बनाया; द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं अन्य सुखमय लोकों का निर्माण किया।

ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत् ।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ॥ [ऋ० १०।७२।२]

दिव्य लोक-लोकान्तरों की आदि रचना के अवसर पर सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म ने इन समस्त लोकों का इसी प्रकार निर्माण किया, जैसे कोई शिल्पी उपयुक्त साधनों से कार्य की रचना किया करता है। इसप्रकार यह जगत् अव्यक्त से व्यक्त अवस्था में आजाता है।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥
किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् ॥
[ऋ० १०।८१।३-४]

ऋग्वेद के दसवें मण्डल का यह ८१वां समस्त सूक्त इस विषय पर अद्भुत प्रकाश डालता है, पर यहां केवल दो ऋचा प्रस्तुत की हैं। ऋचा के चक्षु मुख बाहु और पाद ये चार पद दर्शन प्रवचन संरक्षण और सर्वत्र प्राप्ति के प्रतीक हैं। वह अद्वितीय देव सर्वद्रष्टा प्रवक्ता सबकी रक्षा करने वाला और सर्वत्र व्यापक है, वह अपनी ज्ञान-क्रियाशक्ति के द्वारा उन अव्यक्त गतिशील तत्त्वों से द्यु-भूमि आदि समस्त लोक-लोकान्तरों को उत्पन्न करता है।

लोक में देखा जाता है, जब शिल्पी किसी भवन का निर्माण करना चाहता है, तब उसे उसके लिये साधन की अपेक्षा होती है। वह किसी अच्छे वन से मट्टी पत्थर का तथा लकड़ी के लिए वृक्ष आदि का चयन करता है। पर इस विश्व के शिल्पी के लिये वह कौनसा वन है, वह कौनसा वृक्ष है, जिससे द्यु-भूमि आदि इन समस्त लोकों का निर्माण किया जाता है। उस दिव्य चेतन की प्रेरणाओं ने जिस वृक्ष से द्यावापृथिवी आदि को तछा, उसके विषय में मनन[illegible]के अन्तरात्मा से पूछें, व मालूम करें;

वह ब्रह्म उस पर अधिष्ठित है, उसका नियामक है एवं समस्त लोकों का धारण व संचालन करता है। जगत् के मूल उपादान तत्त्व प्रकृति को वेद में 'वृक्ष' पद से अनेकत्र [ऋ० १।१६४।२०] कहा गया है। उस वृक्ष के तक्षण [प्रेरण आदि] द्वारा जो जगत् का कर्त्ता-धर्त्ता-संहर्त्ता है, वह एकमात्र चेतनतत्त्व परमात्मा है।

यही भाव नासदीयसूक्त [ऋ० १०।१२९।७] में प्रस्फुट किया है—

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

यह विविध सृष्टि जहां से उत्पन्न होती है, और जिसके द्वारा धारण की जाती है, तथा अन्त में जब यह नहीं रहती, अर्थात् अपने कारण में लीन हो जाती है, इस सब-का जो अध्यक्ष-नियन्ता सर्वव्यापक परमात्मा है, वह इसकी वास्तविकता को जानता है; जब यह जगत् नहीं रहता, अर्थात् कारण में लीन होकर प्रलय अवस्था में रहता है, उसको भी वह अध्यक्ष जानता है।

इससे पहली छठी ऋचा में यह प्रश्न किया गया है—'को वेद यत आबभूव'। कौन जानता है, यह सृष्टि जहां से होती है? उसीका उत्तर इस ऋचा में है। यहां किसी तरह के सन्देह शर्त या विकल्प की कल्पना नहीं करनी चाहिये। प्रश्न के पदों [को वेद यत आबभूव] को यहां दुहराकर उसका उत्तर दिया है। यहां जगत् की—सर्ग, स्थिति और प्रलय—तीनों अवस्थाओं का उल्लेख है—'यत आबभूव, यदि वा दधे, यदि वा न'। इन सबका अध्यक्ष सर्वव्यापक परमात्मा को बताया है। इससे जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय के कर्त्ता ब्रह्मतत्त्व का बोध होता है। संभवतः वेद के 'यत आबभूव' आदि पदों के अभिप्राय को ध्यान में रखते हुए सूत्रकार वेदव्यास ने 'यतः अस्य जन्मादि' पदों में सूत्र की रचना की। जगत् के धारण और लय का वर्णन वेद में अन्यत्र भी द्रष्टव्य है—'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् [यजु० १३।४], तथा 'तस्मिन्निदं सञ्च विचैति सर्वम् [यजु० ३२।८] वह [परमात्मा-ब्रह्म] पृथिवी और द्युस्थानीय समस्त लोक-लोकान्तरों को धारण करता है। यह सब जगत् उसीमें इकट्ठा होता और उसी में बिखर जाता है। जगत् के उत्पत्ति स्थिति प्रलय ब्रह्म के अस्तित्व से बाहर नहीं जासकते।

इस अर्थ का उपनिषदों में अनेकरूप से वर्णन है। यथाप्रसंग उनका विचार किया जायगा, यहां केवल दो-एक ऐसे सन्दर्भ प्रस्तुत हैं, जिनमें ब्रह्म को सबका अधिष्ठाता व ईशिता बताया गया है।

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥

[श्वेता० ५।१]

दो तत्त्व अक्षर—अपरिणामी हैं, उनमें ब्रह्मतत्त्व पर-उत्कृष्ट-श्रेष्ठ है

एकमात्र है। विद्या और अविद्या अनन्त हैं, पर उस रहस्यमय अनभिव्यक्त ब्रह्मतत्त्व में वे दोनों आश्रित हैं। परिणामी तत्त्व अविद्या है, अपरिणामी तत्त्व विद्या कहा गया है। इन दोनों पर जो प्रशासन करता है, वह इनसे भिन्न है। अविद्या पद से यहां अचेतन प्रकृति का निर्देश है, जो परिणत होने वाला तत्त्व है, ईशिता परमात्मा उसीको जगत् के रूप में परिणत करता है। विद्या पद से चेतनतत्त्व जीवात्माओं का निर्देश है, जो अपरिणामी तत्त्व हैं, अल्पज्ञ अल्पशक्ति हैं। प्रकृति अचेतन होने से अपने समस्त परिणामों के लिये सर्वशक्ति चेतनतत्त्व ब्रह्म पर आश्रित है। जीवात्माओं के कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व आदि का प्रसंग उस समय आता है, जब ब्रह्म की प्रेरणा से प्रकृति जगद्रूप में परिणत होजाती है, इसलिये चेतनतत्त्व होने पर भी इनको ब्रह्म-आश्रित कहा गया है। कर्मानुसार जीवों के लिये फलप्रदान भी जगन्निर्माण पर संभव है। जगत् की रचना और कर्मफल देने के रूप में ब्रह्म इन दोनों सत्ताओं पर प्रशासन करता है। इसी अर्थ को अगले सन्दर्भ में स्पष्ट किया—

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः॥

[श्वेता० ५।५]

समस्त जगत् का कारण जो ब्रह्म जीवों के कृतकर्मों का फल देता है, तथा कार्यरूप में आने वाले समस्त तत्त्वों को परिणत करता है, जो इस सम्पूर्ण विश्व का अधिष्ठाता है, वही एकमात्र ब्रह्मतत्त्व—सत्त्व रज तम—इन सब प्रकृतिरूप गुणों को अपने-अपने कार्य में प्रयुक्त करता है। वह इन सबका नियामक है। तैत्तिरीय उपनिषद् [३।१] का सन्दर्भ इस विषय को स्पष्ट करता है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म॥

निश्चित ही ये प्राणि-अप्राणिरूप भौतिक जगत् जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न किये जाकर जिसके सहयोग व आश्रय से जीवित रहते हैं, और जिसके द्वारा लीन होते अथवा कारणरूप में प्रवेश पाते हैं, उसको जानने की इच्छा करो, वह ब्रह्म है। इससे स्पष्ट होता है—जगत् के उत्पत्ति स्थिति प्रलय का कारण ब्रह्म है। व्यवहाररूप में ब्रह्म-सत्ता को इसी आधार पर जाना या पहचाना जासकता है। वेद तथा वैदिक साहित्य के साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों द्वारा किये गये इस विषय के वर्णनों को ध्यान में रखकर सूत्रकार ने इस सूत्र की रचना की, और अतिसंक्षेप से उस विधि को प्रस्तुत किया, जिससे ब्रह्मजिज्ञासा का समाधान हो सके।

ब्रह्म जगत् के जन्म आदि का कारण है, यह ठीक है, पर वह कैसा कारण है, यह आशंका बनी रहती है। क्योंकि प्रत्येक कार्यवस्तु के कारण अनेक प्रकार के होते हैं। घड़ा मट्टी से बनता है, कुम्हार से बनता है, चक्र दण्ड आदि से बनता है। मट्टी न

हो, घड़ा नहीं बन पाता, कुम्हार न हो तो घड़ा नहीं बनता और चक्र दण्ड आदि साधन न हों, तो भी घड़ा बनना संभव नहीं। ये सब घड़ा बनने में कारण हैं, पर इन सबकी स्थिति एकसमान नहीं है, हम देखते हैं, केवल मट्टी संस्कारपूर्वक संस्थानविशेष के साथ परिवर्त्तित की जाती हुई घटरूप में परिणत होती है, यह घट का उपादान कारण है। कुलाल या दण्ड चक्र स्वयं इस रूप में कभी परिणत नहीं होसकते। इसलिये ये सब घट के उपादानकारण नहीं हैं। इनमें कुलाल चेतनतत्त्व है, वह बुद्धिपूर्वक घटनिर्माण क उपयुक्त मट्टी का संग्रह करता, उसे कूट पीट मथकर संस्कृत करता और घट के आकार में परिणत करता है; यह घट का निमित्त कारण कहा जाता है, यह कर्त्ता है। घटनिर्माण की इस प्रक्रिया में कुलाल जिन वस्तुओं को उपयोगी समझता है, साधन के रूप में उनका उपयोग करता है, चक्र दण्ड आदि ऐसे ही पदार्थ हैं। ऐसी सब सामग्री घट के निर्माण में साधारण कारण कही जाती है। इस प्रसंग में विचारणीय है, कि ब्रह्म जगत् का कैसा कारण है ?

यह निश्चित है, कि ब्रह्म चेतन तत्त्व है। तब स्पष्ट है, कि घट के कारण कुलाल के समान उसे जगत् का केवल निमित्त-कारण माना जाना चाहिये। तात्पर्य यह, कि वह स्वयं जगत् के रूप में कभी परिणत नहीं होता, अन्य उपादानतत्त्व से जगत् का निर्माण करता है। परन्तु कतिपय आचार्यों ने प्रस्तुत उपनिषद् वाक्य के आधार पर ब्रह्म को जगत् का उपादान होने का भी उपपादन किया है। उनका कहना है, कि 'जायते' क्रिया का योग होने पर जिस कारणभूत वस्तु में पञ्चमी विभक्ति होती है, वह कारण उपादान है। अर्थात् जायमान वस्तु के उपादान कारण में पञ्चमी विभक्ति होती है, ऐसा व्याकरण [पा० १।४।३०] का एक नियम है। परन्तु आचार्यों का इस विषय में ऐकमत्य नहीं है, उनका कहना है, कि व्याकरण के उस नियम के अनुसार कारणमात्र में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग माना जाना चाहिये, केवल उपादानकारण में नहीं। ऐसे प्रयोग वेद और लोक में बराबर देखे जाते हैं, 'तस्मादश्वा अजायन्त······। गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः' [यजु० ३१।८], 'आदित्याज्जायते वृष्टिः' [मनु० ३।७६], 'पुत्रात् प्रमोदो जायते' इत्यादि प्रयोग सर्वसिद्ध हैं। निश्चित ही घोड़ा, गाय, भेड़, बकरी आदि पशुओं का यज्ञ [चेतन पुरुष—परमात्मा अथवा ब्रह्म] उपादानकारण नहीं है, इसी प्रकार आदित्य को वृष्टि का तथा पुत्र को प्रमोद-हर्ष का उपादान नहीं कहा जासकता, ये केवल इन जायमान वस्तुओं के निमित्त हैं, फिर भी पञ्चमी का प्रयोग यहां उसी नियम [पा० १।४।३०] के अनुसार है। ऐसी स्थिति में उपनिषद् का प्रस्तुत सन्दर्भ निर्बाधरूप से ब्रह्म की जगदुपादानकारणता का साधक नहीं माना जासकता। यह केवल कारणता का बोध कराता है, और कारणता ब्रह्म में निमित्तरूप सिद्ध होसकती है; क्योंकि समस्त शास्त्रों में ब्रह्म को चेतन माना गया है, जो सर्वथा अपरिणामी तत्त्व है, उसमें किसी प्रकार का परिणाम संभव नहीं।

फलतः जगत् का उपादानकारण केवल जड़तत्त्व होना चाहिये, वेद एवं वैदिक साहित्य में उस तत्त्व को त्रिधातु, स्वधा, अदिति, वृक्ष आदि पदों से तथा दर्शन एवं अन्य पुराण आदि साहित्य में त्रिगुण, प्रकृति, प्रधान, अजा, प्रसवधर्मिणी आदि पदों से प्रस्तुत किया गया है। जिन आचार्यों ने प्रकृत उपनिषत्संदर्भ का यह अर्थ समझा है, कि ब्रह्म से जगत् ऐसे ही उत्पन्न होता है, जैसे मट्टी से घड़ा; वे अपने इस विचार को सर्वात्मना निर्बाधरूप में स्पष्ट नहीं कर सके, और उन्होंने जगत् के उपादानकारणरूप में एक मायातत्त्व को स्वीकार किया, जो त्रिकाल में ब्रह्म का स्वरूप नहीं है, जैसा वे स्वयं मानते हैं। फिर भी ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण कहा जाय, अपने इस आग्रह को पूरा करने के लिये उन आचार्यों ने एक पारिभाषिक 'विवर्त्त' पद की कल्पना की, जिसका वेदान्तसूत्रों में सर्वथा अभाव है। उनकी दृष्टि से जगत् माया का परिणाम है, और ब्रह्म का विवर्त्त। सदृश विकार का नाम 'परिणाम' तथा विसदृश विकार को 'विवर्त्त' कहा। पर व्याख्याकारों ने इन पदों के प्रयोग में अधिक सतर्कता नहीं बरती है। जगत् को ब्रह्म का विवर्त्त कहते हुए भी वेदान्तसूत्रों के भाष्य में आचार्य शंकर ने स्वयं अनेकत्र [ब्र० सू० शांकरभाष्य २।१।२४॥२।१।२६] जगत् को ब्रह्म का परिणाम लिखा है। इसके अतिरिक्त यह 'विवर्त्त' की कल्पना स्पष्ट करती है, कि जगत् ब्रह्म का परिणाम नहीं है। तब ब्रह्म जगत् का उपादान कैसे ? उपादान वही होगा, जिसका यह परिणाम है। उपादान तत्त्व जड़ होने से स्वयं कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकता, लोहा तथा अन्य कारण द्रव्य स्वयं अनेक पुर्जों के रूप में परिणत होकर एवं यथास्थान सन्निविष्ट हो घड़ी आदि कार्यों के आकार को ग्रहण नहीं कर सकते, उसके लिये चेतन तथा उस व्यवस्था के जानकार चतुर शिल्पी की अपेक्षा होती है, ठीक यही स्थिति जगत् की रचना में स्वीकार की जाती है। किसी प्रमाण, तर्क या दृष्टान्त के आधार पर यह सिद्ध करना अशक्य है, कि चेतन तत्त्व स्वयं जड़रूप में परिणत होजाता है। ऐसे प्रतिपादन का प्रयत्न मूल में जड़ और चेतन के भेद को नष्ट कर देता है, फिर इसका नियमन करना संभव नहीं, कि चेतन से जड़ होता है, अथवा जड़ से चेतन। उस अवस्था में तथाकथित ब्रह्मैक्य-विचारधारा ही उच्छिन्न होजाती है और इस विचार के पोषक शंकर आदि आचार्य तथा जड़वादी चार्वाक एक ही स्तर पर आ खड़े होते हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद् [३।१-६] के प्रस्तुत प्रसंग में वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता के सन्मुख उपस्थित होकर ब्रह्मविषयक अध्ययन के लिये प्रार्थना करता है। पिता 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि सन्दर्भ से ब्रह्मविषयक उपदेश करता है। इस प्रसंग के उपसंहार में कहा—'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्, आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते'। यहां ब्रह्म का स्वरूप 'आनन्द' बताया, और उसीसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होने का उल्लेख किया। वैसे ब्रह्म का स्वरूप

'सच्चिदानन्द' कहा जाता है, परन्तु सत् प्रकृति भी है और सत्-चित् जीवात्मा, ब्रह्म का विशिष्ट स्वरूप 'आनन्द' मात्र है। उसीसे जगत् की उत्पत्ति आदि किये जाने के वर्णन का तात्पर्य यही है, कि केवल प्रकृति जड़ होने से तथा जीवात्मा अल्पज्ञ अल्पशक्ति होने से जगद्रचना में असमर्थ रहते हैं। आनन्दस्वरूप ब्रह्म की प्रेरणा प्रकृति को कार्योन्मुख करती है, इसलिये उत्पत्ति आदि का मुख्य प्रयोजक उसीको माना गया है। यद्यपि सर्वशक्ति सर्वज्ञ ब्रह्म अकेला केवल स्वरूप से जगत् की रचना नहीं करता, उसे जगद्रचना में उपादान तत्त्व की अपेक्षा रहती है; फिर भी चेतन होने के कारण नियन्ता होने से उसके महत्त्व व प्राधान्य को स्वीकार कर ऐसा वर्णन किया जाता है। नियन्ता और नियम्य का अन्तर सर्वविदित है।

अनन्त लोक-लोकान्तरों तथा अन्य विविध रूपों में विश्व चाहे कहीं तक फैला हो, वह ब्रह्म की सत्ता से बाहर नहीं जासकता। ब्रह्म को 'विश्वतस्पात्' [ऋ० १०।८१।३] बताया, उसकी प्राप्ति सर्वत्र है। ब्रह्माण्ड चाहे हमारी दृष्टि से अनन्त कहा जाय, पर वह सब ब्रह्म के एक अंश में अवस्थित रहता है [यजु० ३१।३]। ऐसी दशा में—यह समस्त विश्व ब्रह्म के आश्रय से पैदा होता, वहीं रहता और उसीमें लीन होजाता है—इस कथन का यही आधार कहा जासकता है।

कतिपय आचार्यों ने प्रस्तुत सूत्र का यह आशय प्रकट किया है, कि जगत् के जन्मादि का एकमात्र कारण ब्रह्म है, अन्य कोई वस्तु किसी तरह का भी कारण जगत् का नहीं है। लोक में जो हम उपादान और निमित्त कारण अलग देखते हैं, ब्रह्म के विषय में ऐसा नहीं है, इसलिये जगत् का उपादान और निमित्त सब प्रकार का कारण वही एक ब्रह्म है। परन्तु गम्भीरता से विचारने पर यह स्पष्ट होता है, कि सूत्र में कोई ऐसा पद नहीं है, जिससे यह प्रकट हो, कि जगत् का कारण केवल एक ब्रह्म है। सूत्र के पद जगत् के प्रति ब्रह्म की उपयुक्त एवं समञ्जस कारणता का निर्देश करते हैं, अन्य किसी तरह के कारण का निषेध नहीं। जगत् के जन्मादि का जैसा कारण ब्रह्म है, वैसा अन्य कोई कारण संभव नहीं है, इसी रूप में यह ब्रह्म का लक्षण है। चेतन ब्रह्म जड़ जगत् का निमित्त कारण ही संभव होसकता है; अन्य कोई चेतन जगत् का रचयिता नहीं, इसीमें एकमात्र ब्रह्म के जगत्कारण कहने का तात्पर्य पर्यवसित माना जासकता है; जगत् के अन्य कारणों का यहां निषेध नहीं ॥२॥

उपनिषद् [छा० ६।३।२–३] में कहा—उस देवता (ब्रह्म) ने संकल्प किया—मैं सर्ग का 'नाम' और 'रूप' से विस्तार करूं; उसने सृष्टि को 'रूप' और 'नाम' दो प्रकार में रचा। जो कुछ वस्तुतत्त्व है, वह रूपात्मक जगत् है; इसके व्यवहार के लिये वाणी का जो व्यापार अथवा प्रयोग है वह 'नाम' है। एक 'वस्तु' एक उसका 'नाम'; एक अर्थ और एक शब्द, इन दो प्रकारों में समस्त सृष्टि का समावेश है। जैसे ब्रह्म ने 'रूप' का निर्माण किया वैसे 'नाम' का। सूत्रकार ने 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्रद्वारा

ब्रह्म से रूपात्मक जगत् की उत्पत्ति आदि के समान 'नाम' जगत् की उत्पत्ति भी ब्रह्म से बताने के लिये सूत्र कहा—

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

[शास्त्र-] शास्त्रस्य—शास्त्र का—ऋग्वेद आदि का [योनित्वात्] कारण होने से (ब्रह्म के अस्तित्व का बोध होता है)।

प्रथमसूत्रवर्णित जगत् के जन्म आदि जैसे ब्रह्म के अस्तित्व का लक्षण हैं; वैसे ही ऋग्वेदादि शास्त्र का प्रकट होना ब्रह्म के अस्तित्व का चिह्न है। ऋग्वेदादि शास्त्र समस्त सत्य विद्याओं के स्थान हैं, लौकिक अलौकिक ज्ञानों का उपबृंहण उन्हीं के आधार पर हुआ है, ये सूर्य के समान समस्त अर्थों के प्रकाशक हैं, इनको सब सत्य ज्ञानों का आधार कहा जाय, तो अत्युक्ति नहीं। ऐसे सर्वज्ञकल्प ऋग्वेदादि शास्त्र का प्रादुर्भाव सर्वज्ञ सर्वशक्ति ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा होना संभव नहीं है। लोक में यह देखा जाता है, कि ज्ञेय अर्थ के किसी एक अंश का प्रतिपादन करने के लिये किसी विशेषज्ञ आचार्य के द्वारा जब उस विषय की रचना को प्रस्तुत किया जाता है, तो रचना के यथासंभव सर्वांगपूर्ण होने पर भी रचयिता आचार्य का ज्ञान अवश्य उसकी अपेक्षा अधिक रहता है। जैसे पाणिनि आचार्य ने व्याकरण की रचना की, यह रचयिता के ज्ञान का एक अंशमात्र कहा जासकता है। तब यह ऋग्वेदादि शास्त्र—जिनका ऋषियों ने व्याख्यानरूप से अनेक शाखाओं में विस्तार किया, जिनमें जड़ जगत् तथा चेतन देव मनुष्य पशु पक्षी कृमि आदि एवं मानव-समाज के वर्णाश्रम धर्म आदि का विस्तृत वर्णन है, और जो अन्य सब प्रकार की सत्यविद्याओं की खान हैं—पुरुष के श्वासोच्छ्वास के समान अनायास उस महान सर्वशक्तिसम्पन्न सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म से प्रादुर्भूत हुआ; यही माना जाना सम्भव है।

जन्मादि [१।१।२] सूत्र से पृथिव्यादि जगत् का कारण ब्रह्म को बताये जाने पर यह आशंका की जासकती है, कि जगत् केवल जड़ कारण से उत्पन्न हुआ क्यों न माना जाय, ब्रह्म नाम के किसी चेतनतत्त्व को मानना अनावश्यक है। सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र से प्रकट किया, कि जो जगत् के जन्मादि का कारण है, वही सर्वज्ञगुणान्वित ऋग्वेदादि शास्त्र के प्रादुर्भाव का कारण है। वेद ज्ञानरूप हैं, इसलिये उनके प्रादुर्भाव का कर्त्ता चेतन संभव होसकता है। केवल जड़ तत्त्व से स्वतः जगत् का निर्माण संभव नहीं, अतः जन्मादि सूत्र में जगत् के कारण जिस ब्रह्म तत्त्व के अस्तित्व का निर्देश है, वह चेतन तत्त्व है, उसकी प्रेरणा से प्रकृतिरूप जड़ उपादान दृश्यादृश्य जगत् के रूप में परिणत होते हैं। इससे जगत् के रूप-नामात्मक विस्तार का कारण अधिष्ठाता नियन्ता ब्रह्म सिद्ध होता है।

उपनिषद् [बृह० २।४।१०] के 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद्

ऋग्वेदो यजुर्वेदः' इत्यादि सन्दर्भ से स्पष्ट है, कि ऋग्वेदादि शास्त्र उस महती सत्ता चेतन ब्रह्म से प्रादुर्भूत हुआ। इसके अतिरिक्त स्वयं वेद की ऋचा [ऋ० १०।५४।६] इसपर प्रकाश डालती है—

यो अदधाज्ज्योतिषि ज्योतिरन्तर्यो असृजन्मधुना सं मधूनि।
अध प्रियं शूषमिन्द्राय मन्म ब्रह्मकृतो बृहदुक्थादवाचि॥

जिस सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ने चमकते सूर्य आदि तेजोमय पदार्थों के अन्दर सतत कार्यरत ज्योति को स्थापित किया, और जिसने मधु से भरे विविध भोगैश्वर्य सामग्री-युक्त मधुर जगत् को बनाया; उस ऐश्वर्यशाली के लिये उसी ब्रह्मद्वारा प्रादुर्भूत [ब्रह्मकृतः] महान उक्थ [स्तुतिसंग्रह—अध्यात्म अधिभूत के यथायथ वर्णनों से पूर्ण ऋग्वेदादि] से ऋषियों ने स्तुतिगान किया है। यह हमारे लिये अनुकूल है, बलदायक है, एवं सबप्रकार मननीय है।

इससे स्पष्ट है—जिस महती सत्ता ने सूर्य आदि अखिल जगत् का निर्माण किया, उसीने इस 'बृहदुक्थ'[१]—महान स्तवन रूप ऋग्वेदादि—को प्रादुर्भूत किया। इससे ऋग्वेदादि का 'ब्रह्मकृत्' होना स्पष्ट होता है। इस विषय में 'ऋग्वेद १।१६४।३९' भी द्रष्टव्य है। यजुर्वेद [३१।७] का मन्त्र इसी अर्थ का प्रतिपादन करता है—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत॥

विश्व के आधार यज्ञरूप ब्रह्म से ऋक् साम छन्द (अथर्व) और यजु का प्रादुर्भाव हुआ। इसीके अनुसार बृहदारण्यक उपनिषद् [१।२।५] में कहा है—'स तया वाचा तेनात्मनेदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च—ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांसि' उस सर्वज्ञ परमात्मा ने उस वाणी द्वारा उस रूप से यह सब बनाया, जो कुछ—ऋक् यजु साम और छन्द हैं। इस विषय में बृहदारण्यक उपनिषद् का अन्य [२।४।१०] प्रसंग भी द्रष्टव्य है। इन सब वर्णनों से स्पष्ट होता है, रूपात्मक जगत् के समान शब्दात्मक ऋग्वेदादि शास्त्र के प्रादुर्भाव का कारण ब्रह्म है। इससे ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध होता है। ऐसे सर्वज्ञकल्प समस्त सत्यविद्याओं के मूल ऋग्वेदादि शास्त्र का सर्वज्ञ के विना अन्य किसी से प्रादुर्भाव होना संभव नहीं।

बृहदारण्यक उपनिषद् के पञ्चमाध्याय के प्रारम्भ में 'ओम्' की उपासना का

---

१. यह 'ब्रह्मकृत्' है, ब्रह्मद्वारा प्रकाश में लाया गया है। क्योंकि यह कथन इस महान स्तवन—'बृहदुक्थ' के द्वारा प्रस्तुत किया गया है, इसलिये यहां ऋषिरूप में निर्दिष्ट है। वेद के ऋषि स्वयं वेदरचयिता द्वारा प्रवक्ता के रूप में निबद्ध हैं। सूक्तों व ऋचाओं के ऐसे प्रवक्ता ही वेद के ऋषि हैं। इसप्रकार प्रस्तुत प्रसंग में 'बृहदुक्थ' स्वयं सूक्त का ऋषि है।

वर्णन है। यहां 'ओं खं ब्रह्म' यह मन्त्रप्रतीक देकर आगे उसका व्याख्यान किया—'ओम्' पद का जो वाच्य है, वह निराकार (खं) और सर्वव्यापक (ब्रह्म) है। ओम् पद के द्वारा इस रूप में ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। यहां 'खम्' पद भौतिक आकाश का वाचक नहीं, अनादि ब्रह्म का बोधक है। इसी प्रसंग में 'ओम्' की व्याख्या करते हुए कहा है—'वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुः' [बृ० ५।१।१] ब्रह्मतत्त्व को जानने वाले साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने यह समझा, कि वेद ओंकार (अयं) है। क्योंकि जो कुछ वेदितव्य है, जानने योग्य है वह सब इसके द्वारा जान लिया जाता है। यहां वेद को 'ओम्' का स्वरूप कहा गया है। ओम् का वाच्य ब्रह्म है, वेद को ब्रह्मरूप कहने का यही कारण है, कि वह ब्रह्मद्वारा प्रादुर्भूत हुआ। इसप्रकार नाम-रूपात्मक जगत् की उत्पत्ति आदि का कारण होने से ब्रह्म का अस्तित्व सुतरां सिद्ध है।

प्रस्तुत सूत्र का एक अन्य प्रकार से अर्थ किया जाता है—**शास्त्रयोनित्वात्**—

शास्त्र के योनि-कारण अर्थात् प्रमाण होने से ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध होता है, ब्रह्म के अस्तित्व में शास्त्र प्रमाण है, इसलिये उसे स्वीकार किया जाना चाहिये। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के प्रारम्भ में जगत् की प्रलय अवस्था का वर्णन करते हुए बताया—

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास।

उस अवस्था में एक 'अवात'—निर्बाध—सर्वशक्तिसंपन्न तत्त्व स्वधा-प्रकृति [जगत् के मूल उपादानकारण] के साथ विद्यमान रहता है, उससे उत्कृष्ट अन्य तत्त्व संभव नहीं। उसी सर्वोत्कृष्ट सत्ता का नाम ब्रह्म है, जो एकमात्र है। इस कार्य जगत् के न रहने की अवस्था में इसका मूल उपादान तत्त्व बना रहता है, उस सब का अध्यक्ष-अधिष्ठाता नियन्ता सर्वोत्कृष्ट चेतनतत्त्व ब्रह्म सदा उस पर नियन्त्रण करता है। इस प्रकार शास्त्र जगत्कर्त्ता के रूप में एकमात्र ब्रह्म के अस्तित्व को बतलाता है, वह उसमें प्रमाण है। इस विषय में 'ऋग्वेद' [१।१६४।२०, ३९ तथा १०।७२।२] के प्रसंग द्रष्टव्य हैं। द्वितीय सूत्र की व्याख्या में ऐसे अनेक शास्त्र-वचनों का निर्देश किया है।

ब्रह्म के अस्तित्व में शास्त्र प्रमाण है, इस कथन से कतिपय आचार्यों ने यह अभिप्राय समझा है, कि उसके अस्तित्व में एकमात्र प्रमाण शास्त्र है, अर्थात् जगत् की सृष्टि स्थिति प्रलय का सर्वज्ञ सर्वशक्ति ब्रह्म एकमात्र कारण है, यह केवल शास्त्र-प्रमाण-गम्य है, अनुमानप्रमाण-गम्य नहीं। शाकल्य-याज्ञवल्क्य संवाद में याज्ञवल्क्य ने शाकल्य के प्रति कहा—'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' [बृ० ३।९।२६]; मैं उस औपनिषद पुरुष के विषय में प्रश्न कर रहा हूं। यहां उस ब्रह्म पुरुष को 'औपनिषद' कहा है। इससे स्पष्ट होता है, वह उपनिषदों द्वारा जानने योग्य है, अन्य प्रमाण से नहीं जाना जासकता। क्योंकि उपनिषद् उन ऋषियों के प्रवचन हैं, जिन्होंने ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार किया, उनका कथन इस विषय में प्रमाण माना जाना चाहिये।

वस्तुतः यह कथन उन्हीं के लिये सारभूत होसकता है, जो साक्षात्कृतधर्मा

ऋषियों और उनके प्रवचनों पर आस्था रखते हैं। दूसरे व्यक्तियों के लिये तो अनुमान का आश्रय लेना होगा। इसी कारण उसका 'जन्मादि' सूत्र से प्रथम निर्देश किया है। ऐसा कहा जासकता है, कि जो बात द्वितीय सूत्र द्वारा अनुमान से सिद्ध की गई है, वह ठीक उसीप्रकार शब्द प्रमाण से निश्चित होती है, उसी को इस सूत्र में प्रस्तुत किया। आप्तता का निश्चय आप्त के कहे शब्द के प्रामाण्य को स्थिर करता है, जिसमें [निश्चय में] अनुमान आदि का सहयोग आवश्यक रहता है। इसलिये प्रस्तुत अर्थ के निश्चय करने में अनुमान की सर्वथा उपेक्षा नहीं की जासकती। ब्रह्मविषयक जैसा साधारण ज्ञान अनुमान के आधार पर होजाता है, शब्द प्रमाण से भी वैसा ही रहता है, उस ज्ञान में थोड़ी बहुत दृढ़ता भले हो जाय, पर उस तत्त्व के विशेष ज्ञान के लिये अथवा साक्षात्कार के लिये प्रत्येक व्यक्ति को ऋषियों के स्तर तक पहुंचना होगा। उसके उपाय अलग हैं, केवल ऋषिवचनों को पढ़ने या सुनने से उस तत्त्व का साक्षात्कार होना संभव नहीं। इसलिये जहां तक ब्रह्मज्ञान का प्रश्न है, अनुमान और शब्द में अधिक अन्तर नहीं रहता। अतः यह कथन विशेष महत्त्व नहीं रखता, कि अनुमान से ब्रह्म का साधारण ज्ञान और शब्द से विशेष ज्ञान [साक्षात्कार ज्ञान] होजाता है। ब्रह्म के ऐसे ज्ञान के लिये तो योगसमाधि अथवा उपनिषदादिवर्णित विशिष्ट उपासनाओं का अनुष्ठान आवश्यक है।

उपनिषदों के आधार पर सर्वात्मना, यह निश्चित नहीं होता, कि जगत् के जन्म आदि का निमित्त और उपादान दोनों प्रकार का कारण केवल ब्रह्म है। आचार्य शंकर ने, और दूसरे उन आचार्यों ने जो इस विचार के उपज्ञ समझे जाते हैं, ब्रह्म के अतिरिक्त एक 'अनिर्वचनीय माया' नामक तत्त्व को स्वीकार किया है, जो सरूप कार्य जगत् का उपादान माना गया है। यह तत्त्व ब्रह्मरूप कदापि संभव नहीं। जगत् का उपादान माया को मानकर उन आचार्यों ने ब्रह्म के साथ उपादान पद को जोड़े रखने का सर्वथा व्यर्थ प्रयास किया है। उपनिषदों के कतिपय ऐसे सन्दर्भ प्रस्तुत किये जाते हैं, जिनके आधार पर ब्रह्म को जगत् का उपादान माने जाने के लिये प्रयास किया गया है। वस्तुतः थोड़ा गंभीरता से उन सन्दर्भों को विचारा जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है, कि उनके आधार पर ब्रह्म जगत् का उपादान सिद्ध नहीं होता। उनके स्वारसिक अर्थों की उपेक्षा कर उस विचार के आचार्यों ने उन सन्दर्भों के अन्यथा व्याख्यान करने में प्रबल प्रयत्न किया है। ऐसे एक [यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते] सन्दर्भ का विवरण 'जन्मादि' सूत्र में दिया गया है। इसीप्रकार मुण्डक उपनिषद् [१।१।७] के निम्नलिखित सन्दर्भ को उक्त अर्थ की सिद्धि के लिये प्रस्तुत किया जाता है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम् ॥

जैसे मकड़ी जाले को बनाती और समेट लेती है, जैसे पृथिवी में ओषधियां

उत्पन्न होती हैं, जैसे जीवित पुरुष से केश लोम प्रादुर्भूत होते हैं, वैसे ही अक्षर से यहां विश्व उत्पन्न होता है। इस सन्दर्भ में 'यथा-तथा' पदों पर ध्यान दिया जाय, तो अर्थ की वास्तविकता अधिक स्पष्ट होजाती है। जैसे मकड़ी जाले को बनाती और समेटती है, इस वाक्य के अर्थ पर ध्यान देना चाहिये, कि मकड़ी कैसे बनाती और समेटती है। स्पष्ट है, कि मकड़ी के भौतिक देह के अवयव तन्तुजाल के रूप में परिणत होते हैं, जो चेतन आत्मतत्त्व वहां बैठा है, उसका स्वतःपरिणाम तन्तुजालरूप में नहीं होता। इस दृष्टान्त की यथार्थता को समझकर उपसंहार वाक्य में यही अर्थ संभव होगा, कि वैसे ही अक्षर से विश्व प्रादुर्भूत होता है। यदि यहां 'अक्षर' पद से ग्राह्य ब्रह्म है, तो वाक्य का तात्पर्य होगा, कि जैसे मकड़ी से जाला बनता है, वैसे ही अक्षर से विश्व बनता है। पहले स्थल में जैसे जाला देह का परिणाम है चेतन आत्मा का नहीं; वैसे ही विश्व ब्रह्म के देहस्थानीय प्रकृति का परिणाम है, चेतन ब्रह्म का नहीं। परन्तु जैसे मकड़ीदेह में चेतन आत्मतत्त्व के सहयोग से उसकी प्रेरणा व संकल्प के अनुसार देहावयव तन्तुजालरूप में परिणत होते हैं, वैसे ही चेतन ब्रह्म के सहयोग अर्थात् उसकी प्रेरणा व संकल्प के अनुसार प्रकृत्यंश विश्वरूप में परिणत होते हैं। प्रकृति जड़ होने से स्वतः परिणत होने में अक्षम रहती तथा चेतन ब्रह्म के संकल्पानुसार परिणत हुआ करती है, इसीलिये जगत्सर्ग का वर्णन करने में ब्रह्म के प्राधान्य को प्रकट किया जाता है।

इसीप्रकार से ओषधि आदि के प्रादुर्भाव में पृथिव्यादि तत्त्व केवल निमित्त हैं, उनके उपादान तो उनके अपने बीज होते हैं। ऐसे ही पुरुषदेह से केश लोमादि की उत्पत्ति का वर्णन है। जीवित [सतः] अर्थात् आत्मसंयुक्त देह से केश लोमादि का प्रादुर्भाव संभव है, अजीवित [मृत] से नहीं। इससे स्पष्ट है, पुरुषदेह में चेतन आत्मा की स्थिति केशलोमादि के प्रादुर्भाव में निमित्त है, स्वतः चेतन आत्मा केशादिरूप में परिणत नहीं होता, वह परिणाम देहावयवों का है। आश्चर्य है, इन दृष्टान्तों के आधार पर कतिपय आचार्यों ने ब्रह्म का परिणाम विश्व कैसे समझा?

'तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वम्' इस उपसंहार वाक्य में 'अक्षर' पद का अर्थ प्रकृति मानने पर प्रतिपाद्य भाव और अधिक स्पष्ट होजाता है। जैसे मकड़ी अपने देह से जाल बुनती, पुरुषदेह से केश लोमादि होते, उसीप्रकार ब्रह्म के देहस्थानीय अक्षर-प्रकृति से विश्व का परिणाम होता है। इस प्रसंग में 'अक्षर' पद का प्रकृति अर्थ अयुक्त नहीं है। आगे मुण्डक उपनिषद् [२।१।१] में सन्दर्भ है—

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः, सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥

जैसे जलती हुई आग से सहस्रों चिनगारियां उसके समानरूप प्रादुर्भूत होती हैं, ऐसे अक्षर से विविध भाव उत्पन्न होते हैं। यहां 'अक्षर' पद प्रकृति का वाचक है, ब्रह्म का नहीं; क्योंकि उत्पन्न होने वाले विविध भावों को 'सरूपाः' विशेषण द्वारा कारण के

समानरूप कहा है। जड़ जगत् चेतन ब्रह्म के समान नहीं है। जगत् का कारण उसके समान जड़ होना चाहिये। इसलिये यहां 'अक्षर' पद जगत् के उपादान कारण प्रकृति को कहता है। यह अर्थ अगले सन्दर्भ 'अक्षरात् परतः परः' [२।१।२] से और अधिक स्पष्ट हो जाता है यहां ब्रह्म का निर्देश करते हुए उसे 'अक्षर' से परात्पर कहा है। यदि 'अक्षर' पद का तात्पर्य यहां ब्रह्म हो, तो ब्रह्म को ब्रह्म से परात्पर कहना प्रमत्तवाक्य के समान होगा। प्रकृति अर्थ मानने पर वाक्यार्थ सर्वथा संगत होता है, प्रकृति से पर-उत्कृष्ट चेतन जीवात्मतत्त्व हैं, और उनसे पर-उत्कृष्ट चेतनतत्त्व ब्रह्म है; इसलिये अक्षर—प्रकृति से ब्रह्म, परात्पर है। इसी भाव को ऋग्वेद [१०।१२६।२] में कहा—'आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास' प्रलय काल में प्रकृति के साथ वह एक शुद्ध निर्दोष [ब्रह्म] तत्त्व विद्यमान रहता है, उससे उत्कृष्ट अन्य कोई नहीं है।

इस सब विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि ब्रह्म जगत् का केवल निमित्तकारण है, विश्व का कर्त्ता-धर्त्ता-संहर्त्ता, व नियन्ता है, वह स्वयं जगत् के रूप में परिणत नहीं होता, इसलिये उपादान कारण नहीं है। जड़ जगत् का उपादान जड़ प्रकृति है। उसीसे नामरूपात्मक विश्व को ब्रह्म परिणत करता है। उपनिषद् वाक्यों के आधार पर ब्रह्म की उपादान कारणता स्पष्ट नहीं होती। कतिपय सन्दर्भों का विवेचन यहां प्रस्तुत किया गया, अन्य एतद्विषयक तथाकथित संदर्भों का प्रसंगानुसार यथावसर विवेचन प्रस्तुत किया जायगा ॥३॥

सूत्रकार ने गत सूत्रों से ब्रह्मजिज्ञासा की उद्भावना होने पर स्पष्ट किया, कि जगत् के जन्म आदि से तथा ऋग्वेदादि शास्त्र के प्रादुर्भाव एवं उनके वर्णनों से ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध होता है। ब्रह्म कोई क्रियात्मक वस्तु नहीं है, वह नित्यतत्त्व है, सदा वर्त्तमान रहता और विश्व का संचालन करता है, उपयुक्त उपायों द्वारा केवल उसका ज्ञान होना अपेक्षित है। वह ज्ञान समाधिनिष्ठ मानव को होता है। ऐसा ज्ञान ब्रह्म के अस्तित्व का निर्माता नहीं, वह केवल मानव के तद्विषयक अज्ञान को दूर करने में सहायक है। फलतः अनुमान और शब्द प्रमाण के आधार से ब्रह्म का अस्तित्व स्वीकार कर लेने पर शिष्य आशंका करता है—संभव है जगत् की रचना आदि का कारण ब्रह्म हो; पर यह कैसे समझें कि ऋग्वेदादि शास्त्र का प्रादुर्भाव उसके कारण हुआ। इनकी रचना अनेक साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों द्वारा हुई मानी जासकती है। तब शास्त्र को ब्रह्म के अस्तित्व में प्रमाण मानना भी संगत नहीं होगा। सूत्रकार ने इस आशंका का समाधान किया—

तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

[तत्] वह [तु] तो [समन्वयात्] समन्वय से। जगत् का कर्त्ता और ऋग्वेदादि

शास्त्र के प्रादुर्भाव का कारण एकमात्र ब्रह्म है, यह बात जगत् और ऋग्वेदादि शास्त्र के समन्वय से समझी जा सकती है। इन दोनों का समन्वय-पारस्परिक सामञ्जस्य इस बात को स्पष्ट करता है, कि इनका रचयिता एक है।

ब्रह्म का बनाया हुआ जगत् और ब्रह्म के द्वारा प्रादुर्भूत वेद में परस्पर समन्वय है, सामञ्जस्य है; इनमें एक दूसरे के प्रति किसी विरुद्ध अर्थ का अस्तित्व नहीं देखा जाता। इस विषय में यह कहा जासकता है, कि जो ईश्वरीय ज्ञान शब्दरूप में वेद है, वह प्रयोगात्मक स्थिति में जगत् है। यह ज्ञान की दो अवस्था हैं—सिद्धान्त और प्रयोग।

इनका पारस्परिक सामञ्जस्य इनके एक कर्त्ता के अस्तित्व को सिद्ध करता है। इनके अनुसार शास्त्र में कोई ऐसा वर्णन नहीं होना चाहिये, जो सृष्टिक्रम के विरुद्ध हो। शास्त्र से सृष्टि-रचना का बोध होता है, तथा प्रतिभाशील एवं साक्षात्कृतधर्मा मानव के द्वारा प्रस्फुटित सृष्टिरचना की जानकारी से पर्याप्त सीमा तक शास्त्र की परीक्षा की जा सकती है; जो विवेचक को समान परिणाम पर पहुंचाते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है, कि विश्व की उभयविध नामरूपात्मक रचना का एकमात्र कर्त्ता ब्रह्म है। 'नाम' शब्द है, जो ऋग्वेदादिरूप रचना है, और 'रूप' अर्थ है, जो जगदात्मक रचना है।

सृष्टिरचना एक महान रहस्य है, मानव की गति से अतिक्रान्त। फिर भी आदिकाल से प्रतिभासम्पन्न मानव इस रहस्य के उद्घाटन का यथासम्भव प्रयास करता रहा है, और पर्याप्त सीमा तक उसके रहस्य को समझने में सफल हुआ है, यह प्रयास अज्ञात काल से चला आरहा है, अब भी चालू है, और आगे इसीप्रकार अज्ञात काल तक चलता रहेगा। यह स्थिति इस बात को स्पष्ट करती है, कि मानव उसे पूर्ण-रूप से समझने में असफल है; पर जो कुछ समझ पाया है वह कम नहीं है। वह इतना अवश्य है, कि उसके आधार पर शास्त्र को सन्तुलित किया जासके। यह बटलोई से एक-दो चावल देखकर उसके समान शेष का अनुमान लगा लेने के समान है। भारतीय दर्शन में सृष्टिरचनाविषयक जो वर्णन हैं, वे सांख्यविचारों में अपनी पूर्ण अवस्था तक पहुंचे हैं। आधुनिक विज्ञान ने इस विषय में जिन रहस्यों का उद्घाटन किया है, उससे वर्त्तमान संसार चमत्कृत है, गंभीर विचारक इस परिणाम पर पहुंच जाता है कि यह प्रयास उस विचार सीमा में प्रवेश कर गया है, जिसको सांख्य ने प्रस्तुत किया। ऐसा कहते हुए वर्त्तमान वैज्ञानिक की तुलना में सांख्यकार आचार्य के किसी प्रकार के महत्त्व का प्रतिपादन करने में हमारा तात्पर्य कदापि नहीं है। वे समस्त महान आत्मा सदा समानरूप से अर्हणीय हैं, जिन्होंने अपने काल में इन रहस्यों के उद्घाटन का प्रयास किया है, चाहे वे पहले थे या अब हैं अथवा आगे होनेवाले हैं। हमारा केवल इतना अभिप्राय है कि इस सन्तुलित जानकारी के बाद हमें यह अनुभव होता है, कि अवश्य हम इस क्षेत्र में किसी सचाई के आसपास पहुंच रहे हैं।

मूल सृष्टिविषयक जो संकेत ऋग्वेदादि शास्त्र में उपलब्ध होते हैं, यह हमारे लिये एक आश्चर्य जैसी बात है, कि वे उसी दिशा का निर्देश करते हैं, जिसे सृष्टिविज्ञान-वेत्ताओं ने पुराने या नये समय में सुझाया है। वस्तुतः इस दृष्टि से इन शास्त्रों का गंभीर अध्ययन यथावत् नहीं हुआ। प्राचीन काल में कपिलादि ऋषियों ने इस दिशा में प्रयास किया, उस तत्त्वज्ञान को .हां से तछकर लोककल्याण की भावना से दर्शनरूप में प्रस्तुत किया। कहा जासकता है, कि वर्त्तमान विज्ञानविद् की खोजों का आधार वेदादि शास्त्र नहीं है, तब उनकी क्या विशेषता रहजाती है? इस विषय में यह समझना चाहिये, कि सिद्धान्त सदा रहते हैं, और उनका मूल शास्त्र है। यह शास्त्र की परम्परा एक अज्ञात काल से चली आरही है, प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति ने इसको स्वीकार किया है। इसकी निम्नोन्नत अवस्था विभिन्न कालों में होती रही है, हमने चाहे उसको समझा या न समझा, पर शास्त्र की अपनी अवस्था सदा अक्षुण्ण रही; हमारा उससे सम्पर्क सीधा रहा या परम्परा से, फिर भी हमारी सच्ची विचारधारा ने उसे कभी लांघा नहीं। हमारी ज्ञानगति उसी सीमा में चक्कर काटा करती है। मानव ने सदा उसी तत्त्व को गाया है, चाहे वह किसी रूप में गाया गया हो। आधुनिक समस्त विज्ञान उसकी एक अत्यन्त तुच्छ कला है। उसमें कुछ भी नवीन निर्माण नहीं; जो सब निर्मित है, उसका ही यह मानवजनोचित उपयोग है, चाहे वह सदुपयोग हो या दुरुपयोग। फलतः इस विषय के शास्त्रीय संकेत अवश्य मननीय हैं।

ऋग्वेदादि शास्त्र में अनेकानेक ऐसे प्रसंग हैं, जिनमें सृष्टिरचनाविषयक संकेत उपलब्ध होते हैं, उनको विज्ञात सृष्टिक्रम के साथ सन्तुलित किया जासकता है। विभिन्न ऋचाओं के अतिरिक्त दशम मण्डल का अदितिसूक्त [७२] तथा नासदीय सूक्त [१२६] इस विषय में गंभीरतापूर्वक विचारणीय हैं। फुटकर ऋचाओं में निम्नलिखित ऋचाओं का मनन करना उपयुक्त होगा—ऋ० १।१६४।३८॥ ऋ० १।१५४।४॥ ऋ० ३।२६।७॥ ऋ० ४।४२।४॥ ऋ० ६।४४।२३॥ ऋ० ८।४०।१२॥ यजु० १८।६६॥ अथर्व० १०।८।४३॥ २०।८३।१; इत्यादि। ये कतिपय स्थल दिग्दर्शनमात्र दिये हैं।[1] ऋग्वेदादि शास्त्र के इन स्थलों में जगत् के निमित्तकारण चेतन ब्रह्म और उपादानकारण प्रकृति का विविधरूप से वर्णन है। जैसे चेतनतत्त्व का कहीं सर्वनाम और कहीं अन्य ब्रह्म, अध्यक्ष, सुपर्ण, अग्नि, अर्यमा, यम आदि अनेकानेक—पदों से निर्देश है, ऐसे ही अचेतन उपादान-तत्त्व का स्वधा [ऋ० १।१६४।३८॥१०।१२९।२], अदिति [ऋ० १०।६४।५॥ १।८९।१०॥१०।७२।८], त्रिधातु [ऋ० ३।२६।७॥४।४२।४॥६।४४।२३], वृक्ष [ऋ० १।१६४।२०॥१०।८१।४] आदि अनेक पदों द्वारा वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इन पदों

---

१. अधिक जानने के लिये देखें—'सांख्यसिद्धान्त' द्वितीय-तृतीय अध्यायों के अन्तिम भाग, तथा चतुर्थ अध्याय।

का निर्वचनमूलक विश्लेषण मूल उपादानतत्त्व की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट करता है; उसको समझने वाले विवेचक के लिये इस परिणाम तक पहुंचने में कोई बाधा नहीं रहती कि आज तक प्रतिभाशाली मानव ने सृष्टिरचना एवं जगत् के मूल उपादानतत्त्व-विषयक जो विज्ञानसम्मत मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं, उनका इस विषय के वैदिक संकेतों के साथ किसी तरह का असामञ्जस्य नहीं है। फलतः इस समन्वय के आधार पर जगत् का निर्माण और शास्त्र का प्रादुर्भाव करने वाले चेतन ब्रह्म के अस्तित्व का निश्चय होता है।

'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र का अर्थ दो प्रकार से किया गया है—ब्रह्म शास्त्र का योनि-कारण है, तथा ब्रह्म के जगत्कारण होने में शास्त्र योनि-प्रमाण है। प्रथम अर्थ के अनुसार प्रस्तुत सूत्र द्वारा समन्वय का प्रतिपादन किया गया। द्वितीय अर्थ के अनुसार यह आशंका सन्मुख आती है कि शास्त्र में ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य अनेक तत्त्वों से जगत् की उत्पत्ति आदि का वर्णन उपलब्ध होता है, तब जगज्जन्मादि के कारणरूप में केवल ब्रह्म के अस्तित्व को बताने के लिये शास्त्र प्रमाण कैसे माना जा सकेगा ? यद्यपि ऋग्वेदादि शास्त्र में ऐसे परस्पर विरोधी प्रसंग नहीं पाये जाते, वहां विविधरूप में एकमात्र परमतत्त्व का वर्णन वेदवित् ऋषियों एवं आचार्यों ने स्वीकार किया[1] है; पर उपनिषद् आदि में ऐसे उल्लेख पाये जाते हैं, जो इस मन्तव्य में आपाततः सन्देह पैदा करते हैं कि जगज्जन्मादि का कारण एकमात्र ब्रह्म है।

तैत्तिरीय उपनिषद् [३।१] में जगदुत्पत्ति आदि के कारण का निर्देश कर प्रकरण के उपसंहार-सन्दर्भ [३।६] में जो 'आनन्द' से जगदुत्पत्ति आदि का वर्णन है, वह जगदुत्पाद में ब्रह्म के कारण होने को स्पष्ट करता है। पर अन्यत्र कहा है—'असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत' [तै० उ० २।७], पहले यह असत् था, उससे सत् उत्पन्न हुआ। यहां असत् को जगदुत्पत्ति का कारण बताया है। ऐसे ही छान्दोग्य उप-निषद् [३।१६।१] में कहा—'असदेवेदमग्र आसीत्। तत्सदासीत्। तदाण्डं निरवर्त्तत'। असत् ही यह पहले था, वह सत् हुआ, वह गोलाकार बनगया। इसीप्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् [१।२।१] में लिखा है, 'नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्, मृत्युनैवेदमावृतमासीत्' यहाँ कुछ नहीं था पहले, यह मृत्यु से ही ढका हुआ था। ऐसा वर्णन करते हुए उपनिषद् में आगे मृत्यु को इस जगत् का कारण बताया है।

मुण्डक उपनिषद् [१।१।१] के प्रारम्भ में कहा—'ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता' देवों के बीच ब्रह्मा पहले प्रकट हुआ, जो विश्व का कर्त्ता और भुवन का रक्षक है। यहां विश्व का कारण और उसकी रक्षा करने वाला

---

१. देखें—ऋ० १।१६४।४६॥१०।११४।४-५॥१०।१२६।२॥३।५३।८॥ तथा निरुक्त ७।४।८

ब्रह्म कहा है। छान्दोग्य [१।६।१] में पाठ है, 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' ये सब भूत आकाश से उत्पन्न होते और आकाश में लीन हो जाते हैं। यहां सब भूतों का कारण आकाश को बताया है। छान्दोग्य [६।२।१] में दूसरे स्थल पर बताया—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' हे सोम्य! पहले यह सत् ही था। आरुणि आचार्य अपने पुत्र श्वेतकेतु को कहरहा है। इसके थोड़ा आगे सन्दर्भ है—'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत' उसने सोचा मैं बहुत हो जाऊं, प्रजाओं को उत्पन्न करूं; उसने तेज का सर्जन किया। यहां जगत् का कारण 'सत्' माना गया है। इसीप्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् [५।५।१] में आया—'आप एवेदमग्र आसुः। ता आपः सत्यमसृजन्त, सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिम्, प्रजापतिर्देवान्' पहले यह 'आपस्' ही थे, उन्होंने सत्य को उत्पन्न किया, सत्य ने ब्रह्म को, ब्रह्म ने प्रजापति को और प्रजापति ने देवों का सर्जन किया। यहां 'आपस्' को कारण माना गया है।

इसप्रकार के उल्लेखों से दो परिणाम सामने आते हैं, जिनका विवेचन होना चाहिये। पहला यह, कि ये वर्णन एक-दूसरे के विरुद्ध हैं, कहीं सत् से सृष्टि कहीं असत् से तथा कहीं आकाश से और कहीं जल से। दूसरा यह, कि तैत्तिरीय उपनिषद् [३।१; ३।६] के जिन सन्दर्भों के आधार पर केवल ब्रह्म को जगत् का कारण बताया है, उनके साथ उपर्युक्त वर्णनों का विरोध तो है ही, यदि विरोध का कुछ समाधान कर दिया जाय, तो भी एकमात्र ब्रह्म की कारणता निर्बाध सिद्ध नहीं होती। प्रत्येक कार्य के कारण अनेक प्रकार के देखे जाते हैं, यह एक निर्विवाद सत्य है। कोई कार्य किसी एकमात्र कारण से होजाता हो, ऐसा संसार में देखा नहीं जाता। उपर्युक्त उद्धरणों में—जहां सर्ग के विविध कारणों का निर्देश है—यह देखना होगा, कि कौन कैसा कारण है। इसके अतिरिक्त उन वर्णनों में प्रसंग के अनुसार यह जानना होगा, कि वह वर्णन सर्ग की किस अवस्था का है, और उपनिषद् का प्रवक्ता जिज्ञासु को क्या समझाना चाहता है। यदि इन सब बातों तथा इस सम्बन्ध की अन्य अपेक्षित बातों का विवेचन सामने स्पष्ट होजाय; तो यह आपाततः प्रतीयमान विरोध फिर कहीं न दीखे। आईये, इसपर विचार करें।

उपनिषद् के कतिपय प्रसंगों [तै० २।७॥ छा० ३।१९।१॥ बृह० १।२।१] में असत् से जो सर्ग के प्रादुर्भाव का उल्लेख हुआ है, उसका तात्पर्य असत् को जगत् का उपादानकारण बताने में नहीं है। जब सर्ग का प्रारम्भ होता है, उससे पहली अवस्था का नाम प्रलय है। 'प्रलय' पद का अभिप्राय यही है, कि उस दशा में यह समस्त दृश्यादृश्य कार्य जगत् अपने कारण में लीन रहता है, छिपा रहता है। सर्ग का प्रारम्भ होना उन कारणतत्त्वों का कार्यरूप में परिणत होना है। परिणाम और लय के क्रम का न कोई आदि है न अन्त। किसी निश्चित काल से जगत् का प्रारम्भ होना, तथा यह

समझना कि इसके पूर्व कभी कुछ नहीं था, किसी तर्क अथवा प्रमाण से सिद्ध किया जाना अशक्य है। तब हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि प्रलय के अनन्तर जगत् का सर्ग और सर्ग के अनन्तर प्रलय हुआ करते हैं। सर्ग के प्रारम्भ का कथन करने में 'असत् से सर्ग होता है' का तात्पर्य यही संभव है, कि प्रलय से सर्ग प्रकाश में आता है। पहले प्रलय है तब सर्ग है।

छान्दोग्य उपनिषद् [६।२।१-२] के सन्दर्भ ने इस तथ्य को आकर्षकरूप में इसप्रकार प्रस्तुत किया है—

> **सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत ॥१॥ कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच, कथमसतः सज्जायेतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥२॥**

आचार्य आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहता है—पहले यह सत् ही था एकमात्र अद्वितीय। किन्हीं ने कहा—यह असत् ही था पहले एकमात्र अद्वितीय। उस असत् से सत् होगया ॥१॥ पर हे सोम्य ! ऐसा तो निश्चित कैसे हो ? आरुणि बोला। असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो ? सत् ही सोम्य ! यह पहले था एकमात्र अद्वितीय ॥२॥

यहां जगत् के उपादानकारण के विषय में निर्देश है, जो प्रसंग एवं वर्णन की रीति से स्पष्ट है। उपादान कारण को सत् माना जाय अथवा असत् ? जो जगत् दृष्टिगोचर होरहा है वह सत् है। जब जगत् कार्यरूप में न था तब भी सत् था, अर्थात् जगत् का उपादानतत्त्व सत् है। उस उपादानता की सीमा में उस निश्चित कारणतत्त्व के साथ अन्य किसी का समावेश संभव नहीं। अतः वह उपादानता के रूप में एकमात्र अद्वितीय है। सर्गकाल में मूल उपादानतत्त्व परिणत होकर जो यह विविध कार्य जगत् के रूप में दीखरहा है, प्रलयकाल में यह अवस्था अविद्यमान रहती है। सर्ग के पूर्व की अवस्था को 'असत्' कहे जाने का इतना ही आधार है। यदि किन्हीं आचार्यों का वस्तुतः ऐसा कथन हो, कि असत् से सत् का उत्पाद या परिणाम होता है, और इसप्रकार मूल उपादान 'असत्' है; ऐसे विचारों का निराकरण प्रस्तुत सन्दर्भ में किया—असत् से सत् का जन्म होना संभव नहीं, यह सद्रूप कार्य जगत् सत् कारण से ही परिणत होता है। इस व्यवस्था के अनुसार जड़ जगत् का मूल उपादान जड़ होना चाहिये। चेतन का पहले तो परिणाम ही संभव नहीं, फिर उसका जड़रूप परिणाम तो सर्वथा युक्ति-प्रमाण एवं शास्त्र के विरुद्ध है।

कहा जासकता है, कि सर्ग से पूर्व कारणतत्त्व 'अव्यक्त' होता है। कार्य जगत् को 'व्यक्त' माना जाता है। तब अव्यक्त मूलतत्त्व से व्यक्त जगत् का होना विजातीय परिणाम का द्योतक है। जैसे अव्यक्त से व्यक्त जगत् की उत्पत्ति है, ऐसे ही चेतनतत्त्व से विजातीय जड़ जगत् की उत्पत्ति क्यों नहीं मानी जासकती ? ऐसी स्थिति में जिन

आचार्यों ने जड़ जगत् को चेतन ब्रह्म का परिणाम माना है, उनका वैसा मानना निराधार नहीं है। इस आशंका के विवेचन के लिये 'अव्यक्त' और 'व्यक्त' पदों की ओर ध्यान देना आवश्यक है। ये पद वस्तुतः किन्हीं विरुद्ध स्वभाव वाले दो तत्त्वों का निर्देश नहीं करते, प्रत्युत उसी तत्त्व की विभिन्न अवस्थाओं को प्रकट करते हैं; पहला पद तत्त्व की कारण अवस्था और दूसरा कार्य अवस्था का द्योतक है। उस तत्त्व का जो अपना वस्तुस्वरूप है, उसमें अवस्थाओं के भिन्न होने पर कोई अन्तर नहीं आता। वह जड़ है, त्रिगुणात्मक है या अनिवर्चनीय है; कैसा भी माना जाय, वह प्रत्येक अवस्था में अपने इस स्वभावसिद्धस्वरूप का परित्याग नहीं करता। अवस्थाओं का भेद आपेक्षिक होता है, उससे मूल वस्तुतत्त्व के स्वरूप में कोई भेद नहीं आता। एक ही देवदत्त चाचा मामा पुत्र पिता साला बहनोई भाञ्जा भतीजा आदि विभिन्न दशाओं में व्यवहृत होता है; पर इस व्यवहृत अवस्थाभेद से उसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं होता। इसीप्रकार मूलतत्त्व कारण और कार्य अवस्थाभेद से 'अव्यक्त' और 'व्यक्त' कहा जाता है; इससे उसकी जड़ता, त्रिगुणात्मकता व अनिर्वचनीयता आदि में कोई अन्तर नहीं आता। एकमात्र चेतनतत्त्व ब्रह्म को इस रूप में स्वीकार करने पर—कि वही उपादान, वही निमित्त, वही कार्य, वही कारण, वही जड़ और वही चेतन आदि है—अपेक्षाजन्य यह व्यवहार असंगत होगा, क्योंकि सर्वथा एकमात्र तत्त्व में आपेक्षिक स्थिति का होना संभव नहीं। जड़ता और चेतनता स्वरूपभेद के नियामक हैं, अवस्थाभेद के नहीं।

इस सब विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि जहां कहीं असत् से सत् के उत्पाद या प्रादुर्भाव का उल्लेख हुआ है, उसका केवल इतना तात्पर्य है, कि सर्ग का व्याख्यान या विवेचन प्रस्तुत करने के लिये उसके पूर्व प्रलय का होना अपेक्षित है, वह एक प्रकार से सर्ग अवस्था का अभाव है; उस रूप में उसे 'असत्' और सर्ग के प्रति निमित्त कहा जाय, तो इसमें कोई अधिक आपत्ति की बात नहीं होगी। ऐसे उल्लेखों का तात्पर्य उपादानतत्त्व के असत् स्वरूप बताने में नहीं है। असत् से जगदुत्पत्ति के प्रसंग में बृहदारण्यक उपनिषद् [१।२।१] का जो सन्दर्भ प्रस्तुत किया गया है—यह सब मृत्यु से आवृत था, उसका संकेत प्रलय अवस्था को बतलाने की ओर है। इसलिये सर्गसम्बन्धी अन्य वर्णनों के साथ ऐसे उल्लेखों का विरोध समझना शास्त्रसंमत न होगा।

मुण्डक उपनिषद् [१।१।१] के सन्दर्भ में ब्रह्मा को विश्वकर्त्ता और भुवन का रक्षक बताया है। इस सन्दर्भ का उन वाक्यों के साथ कोई विरोध नहीं है, जिनमें ब्रह्म को जगत्कर्त्ता कहा है। बोद्धा को किसी शास्त्रीय कथन के विषय में यह समझने का प्रयास करना चाहिये, कि वह किस उद्देश्य से कहा गया है, उसका प्रसंग आदि क्या है। इन बातों पर ध्यान देने से अर्थ अधिक स्पष्ट होजाता है। प्रकृत सन्दर्भ में

'ब्रह्मा' कौन है ? और किस रूप में उसे विश्वकर्त्ता आदि बताया है, इसपर ध्यान देना अपेक्षित है। उक्त सन्दर्भ में सबसे पहले पद इसको स्पष्ट कर देते हैं। पद हैं—'ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव'। जब देवों की सृष्टि होने लगी, उसमें सर्वप्रथम व्यक्ति ब्रह्मा है। यह वाक्य इस बात को स्पष्ट कर देता है, कि ब्रह्मा के प्रादुर्भाव से पहले पृथिवी सूर्य चन्द्र नक्षत्र आदि लोकलोकान्तरों की सृष्टि होचुकी है। यह होजाने पर प्राणिजगत् के प्रादुर्भाव का अवसर आता है। वहां जब देवों का प्रादुर्भाव होने लगता है, उसमें पहला ब्रह्मा होता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्मा को समस्त चराचर विश्व का कर्त्ता नहीं माना जासकता। वह स्वयं प्रादुर्भूत होने वाला व्यक्ति है। तब समझना चाहिये, कि उपनिषद् के इस कथन का क्या उद्देश्य है ? जिसमें ब्रह्मा को विश्वकर्त्ता और भुवनगोप्ता कहा है। विचार करने पर प्रतीत होता है—ब्रह्मा देव अथवा मानवसमाज का आदिपुरुष है। आगे प्रजासन्तति का सूत्र वहीं से चालू होता है, समाज की सुरक्षा के लिये वह विविध व्यवस्थाओं का निर्माण करता है। इन आधारों पर वह विश्वकर्त्ता और भुवनगोप्ता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में अनन्तर कालवर्त्ती समाजव्यवस्थापक आचार्यों ऋषि-मुनियों के लिये ऐसे शब्दों का प्रयोग होता रहा है। अहिर्बुध्न्यसंहिता (११।५१-५४) में कपिल, अपान्तरतपा, हिरण्यगर्भ आदि को 'लोककर्त्ता' लिखा है। इसका यह अभिप्राय नहीं, कि उन्होंने इन लोक-लोकान्तरों की रचना की; प्रत्युत उसका केवल इतना तात्पर्य है, कि अपने काल में विशृंखलित समाज को उन महान पुरुषों ने व्यवस्थित किया, उन्मार्ग से बचाकर सन्मार्ग पर चलाने का प्रयत्न किया, इसी रूप में वे 'लोककर्त्ता' पुरुष कहलाये। यही बात आदिपुरुष ब्रह्मा के विषय में कही जासकती है। भारतीय प्राचीन साहित्य का कोई ऐसा विभाग नहीं, जहां आदि प्रवक्ता के रूप में ब्रह्मा का निर्देश न किया गया हो। फलतः यह सन्दर्भ उन वाक्यों का कोई विरोध नहीं करता, जिनमें ब्रह्म को जगत् का कारण बताया गया है; क्योंकि इनका विषय भिन्न है।

कतिपय[1] व्याख्याकारों ने मुण्डक [१।१।१] के सन्दर्भ में 'ब्रह्मा' को प्रजापति एवं ब्रह्म का शबलरूप माना है। उनका कहना है—'ब्रह्मा और प्रजापति शबलरूप में परमात्मा के नाम हैं।' इन विद्वानों के विचार से ब्रह्म का वर्णन दो रूपों में किया जाता है, एक परब्रह्म अथवा शुद्धब्रह्म और दूसरा अपरब्रह्म अथवा शबलब्रह्म। पहले रूप में 'वह स्थूल सूक्ष्म सारे विश्व में परिपूर्ण है और उससे परे भी है। यह सारा जगत् उसकी अपेक्षा से बहुत छोटा है। यही उसका निखरा हुआ निजरूप शुद्ध-ब्रह्म के रूप में वर्णन किया गया है। जब वह ब्रह्म इस सारे जगत् के अन्दर समाया हुआ इस सारे जगत् का अन्तर्यामी नियन्ता है, इसीलिये जगत का एक-एक अणु

१. श्री पं० राजाराम शास्त्री, वेदान्तदर्शन भाष्य [पृ० ६६, पं० ४-५]

उसकी महिमा को प्रकाशित कर रहा है,···उसके रचे पदार्थों से उसकी महिमा का प्रकाश उसका प्रकाश कहलाता है। इस रूप में जब परमात्मा का वर्णन करते हैं, तो उसको अपरब्रह्म अथवा शबलब्रह्म कहते हैं।[1]

इसका सारांश इतना है, कि जब ब्रह्म का वर्णन जगत् के कर्त्ता नियन्ता अन्तर्यामी आदि रूप में जगत् के किसी तरह के सम्बन्ध के साथ किया जाता है, वह अपरब्रह्म अथवा शबलब्रह्म का वर्णन है, और उससे अतिरिक्त भिन्नरूप में वर्णन अथवा सत्-चित्-आनन्दरूप में वर्णन शुद्धब्रह्म अथवा परब्रह्म का वर्णन है। इस विषय में विचारना चाहिये, ब्रह्म के अस्तित्व को भिन्नरूपों में वर्णन करने का क्या प्रयोजन है? यह स्पष्ट है, कि सर्गरचना के अनन्तर प्रत्येक वस्तु प्रकाश में आती है। इस रचना का रचयिता ब्रह्म है। निश्चित ही रचना के अनन्तर या पूर्व ब्रह्म के अस्तित्व में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रहता। रचना से पूर्व प्रलयकाल में वह उसी प्रकार नियन्ता अन्तर्यामी एवं सर्वाधार है। उस अवस्था में कार्यजगत् चाहे न हो, पर जगत् के सर्वविध कारणतत्त्व की स्थिति से तब भी नकार नहीं किया जासकता। ब्रह्म का नियन्तृत्व आदि स्वरूप उस अवस्था में अक्षुण्ण है। वह उस समय प्रकाश में नहीं है, यह हम अपनी अर्थात् मानव की सीमित दृष्टि के आधार पर कह सकते हैं। मान लीजिये, लोक-लोकान्तरों की रचना यथावत् विद्यमान है, सूर्य चन्द्र आदि नियमानुसार उदय होते और अस्त होते हैं, समस्त जड़ संसारचक्र व्यवस्थानुसार चल रहा है, पर उसमें प्राणी का अभाव है, विशेष रूप से प्रतिभाशाली विचारशील मानव का। तब यह संसारचक्र वर्त्तमान के समान समस्त ऐश्वर्य एवं विविधविभूतिसम्पन्न होता हुआ भी एक प्रकार से अंधकारमय होगा। कारण यह, कि उस अवस्था में इसे अनुभव करने वाला कोई नहीं है। तब सर्ग और प्रलय की अवस्थाओं में इस दृष्टि से कोई विशेष अन्तर न होगा, क्योंकि अनुभविता इसको प्रकाश में लाता है। उसका इस रूप में आना सर्गरचना के अनन्तर जागतिक सम्बन्ध में संभव है, अन्यथा नहीं। फलतः ब्रह्मस्वरूप के अस्तित्व और उसके वर्णन में सर्ग-प्रलय की अवस्था कोई अन्तर नहीं डाल सकतीं। जगत् की रचना स्थिति व संहार ब्रह्म का कार्य है, वह सादातनिक है उसमें कभी अन्तर नहीं आता, इन आधारों पर ब्रह्म का वर्णन शुद्ध शबलरूप में करना सर्वथा निष्प्रयोजन है। वैसे इसप्रकार के वर्णनों को एकमात्र वस्तु के विविधरूप में वर्णन करने की केवल एक रीति कहा जासकता है।

'ब्रह्मा' प्रजापति है, और वह शबलरूप में परमात्मा का नाम है, यह विचारणीय है। मुण्डक [१।१।१] के वर्णन से स्पष्ट है, कि 'ब्रह्मा' देवसर्ग का प्रथम व्यक्ति है। वह जगत्कर्त्ता परमात्मा या ब्रह्म होना संभव नहीं। देवसर्ग एक प्रकार से

---

१. वही, [पृ० ६-७]

प्राणीसर्ग है। उससे पूर्व समस्त जड़ जगत् की रचना को पूर्ण हुआ माना जाना चाहिये। शबलब्रह्म की कल्पना करने वालों के विचार से जड़ जगत्सर्ग का कर्त्ता—शबलब्रह्म, ब्रह्मा के प्रादुर्भाव से पहले विद्यमान है, तब अनन्तर होने वाला 'ब्रह्मा' शबलरूप परमात्मा का नाम है, ऐसा समझना शास्त्रीय दृष्टि के अनुकूल नहीं होगा। ब्रह्मा का 'प्रजापति' अन्य नाम होसकता है। प्रजा-सूत्र का वह प्रथमतन्तु है, इस दृष्टि से उसका 'प्रजापति' नाम उपयुक्त है। अतएव मुण्डक उपनिषद् के सन्दर्भ [१।१।१] के आधार पर ब्रह्म के जगत्कर्तृत्व का जो विरोध प्रकट किया है, उसका समाधान यह कहकर नहीं किया जासकता, कि उक्त सन्दर्भ में निर्दिष्ट 'ब्रह्मा' शबल-रूप में परमात्मा का नाम है। उसके समाधान का वह दृष्टिकोण विचारना चाहिये, जिसका निर्देश प्रथम किया गया है।

शास्त्र में 'हिरण्यगर्भ' नाम बहुत प्रयुक्त हुआ है। ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ, प्रजापति, स्वयम्भू आदि नाम प्रकरणानुसार परमात्मा या ब्रह्म के संभव हैं, परन्तु सर्वत्र शास्त्रीय प्रयोग में ऐसा समझना संगत न होगा। ब्रह्म को सर्वशक्तिसम्पन्न मानने पर विविध-रूप में विविध नामों से उसका वर्णन जहां-तहां प्रकरणसंगत होसकता है; परन्तु इन पदों के अन्य भी कोई अर्थ हैं, और वे क्या हैं ? यह अतिविवादास्पद विषय है। किसी सीमा तक दृढ़ता के साथ यह बात कही जासकती है, कि शास्त्र में अनेकत्र इन पदों का प्रयोग ब्रह्म से अतिरिक्त अर्थों में हुआ है। क्या इस नाम के वे कोई हमारे जैसे प्राणी थे, जो आदिपुरुष के रूप में प्रादुर्भूत हुए, अथवा ये कोई दैवी शक्तियों के नाम हैं, जिनका वर्णन शास्त्रों में विविधरूप से हुआ है, और वे वर्णन उन स्थितियों से समानता रखते हैं, जो साधारण रूप से मानवजीवन में घटित होती हैं। इस विषय पर विचार करने का यह अवसर सर्वथा अनुपयुक्त है, तथा सब साधनों के अगोचर इस विषय में कोई सुलझे हुए विचार देना संभव नहीं है, पर अन्यत्र यथाप्रसंग इसपर प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

छान्दोग्य [१।९।१] में सब भूतों की उत्पत्ति 'आकाश' से बताई और उसी में सबका लय। इसका तैत्तिरीय उपनिषद् [३।१, ६] के तथा इसी आशय के अन्य औपनिषद वर्णनों के साथ कोई विरोध नहीं है। छान्दोग्य में यह उद्गीथ उपासना का प्रसंग है। ब्रह्म के सर्वश्रेष्ठ नाम 'ओम्' को उपनिषद् में उद्गीथ कहा गया है। यह उपासना उपासक को सर्वोन्नत दशा में पहुंचाती है। यह किस भावना के साथ कीजानी चाहिये, इसीका वर्णन प्रस्तुत प्रसंग में है, जिसका आशय है—उद्गीथ का वाच्य ब्रह्म समस्त चराचर स्थूल सूक्ष्म विश्व में व्याप्त है वह सब में अन्तर्यामीरूप से प्रकाशित है और उसीके प्रकाश एवं अस्तित्व से समस्त लोक-लोकान्तर अपने रूप में व्यवस्थित हैं। उसी आनन्दमय प्रकाश के मध्य में अवस्थित अथवा सर्वथा उससे अपने आपको आवृत हुआ उपासक अनुभव करता है, इस भावना के साथ 'ओम्' की उपासना उद्गीथ

उपासना है। छान्दोग्य सामवेदीय उपनिषद् है, साम को एक अभिमुख इकाई मानकर वहां से आकाशपर्यन्त कतिपय तत्त्वों के आधाराधेयभाव के सहारे बाह्याभ्यन्तर जगत् अथवा कार्यमात्र भूत-भौतिक का संकेत उक्त प्रसंग में किया गया है। इसमें आकाश को सबका आधार कहा है; वही समस्त भूत-भौतिक की अन्तिम गति है।

भूतों के सर्गक्रम में आकाश का स्थान सर्वप्रथम है, उसके अनन्तर अन्य भूत-भौतिक सर्ग। प्रतिसर्ग के अवसर पर कार्य अथवा आधेय का कारण अथवा आधार में लय होते-होते आकाश में भूतलय का अवसान होता है। इसी आशय से सब भूतों की आकाश से उत्पत्ति और आकाश में लय कहा है। यहां पर मूल उपादान से जगत् की उत्पत्ति का कोई प्रसंग नहीं है। इस सब भूत-भौतिक जगत् और इसकी व्यवस्था पर ब्रह्म का नियन्त्रण है, वही उपासक का लक्ष्य है, इस भाव को प्रकट करने में प्रकरण का तात्पर्य है।

यदि इस प्रसंग में 'आकाश' पद का प्रयोग ब्रह्म के [illegible] माना जाय, और यह वर्णन किया जाय, कि ब्रह्म से सब भूतों की उत्पत्ति और [illegible] सबका लय होता है, तो यह विचार करलेना अवश्य अपेक्षित होगा, कि ब्रह्म भूतों का उपादानकारण होना सम्भव नहीं। यहां हेतु अथवा आधार की भावना से ही ब्रह्म से भूतों की उत्पत्ति और उसमें लय होना कहा गया है। किसी कार्य का कर्त्ता व अधिष्ठाता उसका आधार होता है। ब्रह्म विश्व का कर्त्ता और अधिष्ठाता है, इस रूप में वह जगत् का आधार है। इसी भावना के अनुसार ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति और उसमें लय होना माना जाना चाहिये। इस आशय से यदि प्रस्तुत प्रसंग में 'आकाश' पद ब्रह्म के लिये प्रयुक्त माना जाय, तो कोई असंगति नहीं है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं, कि 'आकाश' पद का प्रयोग सर्वत्र ब्रह्म के लिये किया गया हो, अथवा निश्चितरूप से 'आकाश' पद ब्रह्म का पर्याय है। तैत्तिरीय उपनिषद् के ब्रह्मवल्ली अध्याय के प्रथम अनुवाक में 'आकाश' पद का प्रयोग स्पष्टरूप से भूत-आकाश के लिये हुआ है, जहां भूत-भौतिक सर्ग का वर्णन है। किसी प्रयुक्त पद के यथाभूत अर्थ के लिये प्रकरण और संगति का समझ लेना आवश्यक है।

छान्दोग्य उपनिषद् [६।२।१] में 'सत्' को जगत् का कारण बताया है। हमारे सामने असीम जगत् बिछा पड़ा है, इसका सद्रूप होना प्रत्यक्षसिद्ध है। इसका कारण अवश्य 'सत्' होना चाहिये। प्रस्तुत प्रसंग में 'सत्' क्या है? यह विचारणीय है। यहां जगत् के उपादानकारण का वर्णन है, या निमित्तकारण का, तथा इसका उद्देश्य क्या है? उद्देश्य के रूप में यह बराबर ध्यान रखना चाहिये, कि उद्दालक आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को 'आत्मा' की स्थिति व उसका स्वरूप समझाना चाहता है। उसने इस रहस्यपूर्ण अन्तर्हित अर्थ को समझाने के लिये सर्वप्रथम तीन भूततत्त्वों को सामने रक्खा है—तेज, अप्, अन्न। ये ऐसे तत्त्व हैं, जिनको प्रत्येक व्यक्ति प्रत्यक्ष देखता व अनुभव करता है, इनके अस्तित्व से कोई नकार नहीं करसकता। इसलिये सर्वानुमत तत्त्वों के

विवरण से प्रारम्भ कर आरुणि श्वेतकेतु को धीरे-धीरे आत्मतत्त्व तक लेजाना चाहता है।

उपनिषद् के इस द्वितीय खण्ड में बताया, कि तेज, अप्, अन्न का मूलरूप 'सत्' है। इससे स्पष्ट है कि यहां 'सत्' को तेज आदि के उपादानरूप में प्रस्तुत किया है। आचार्य शंकर आदि व्याख्याकारों ने भी यही माना है, कि यहां सद्रूप में जगत् के उपादानकारण का वर्णन है। अब विचारना यह है कि वह उपादानतत्त्व जड़ प्रकृतिरूप है, अथवा चेतन ब्रह्मरूप। आचार्य शंकर ने यहां 'सत्' पद का प्रयोग ब्रह्म के लिये माना है। ऐसा मानने का मुख्य आधार यह बताया है, कि यहां 'सत्' को ईक्षिता कहा गया है, ईक्षण, दर्शन, ज्ञान आदि पद समान अर्थ को कहते हैं, और ये अर्थ चेतन में सम्भव हैं, अचेतन प्रकृति में नहीं।

इस मान्यता में कुछ विचारणीय है। यहां यह प्रसंग प्रारम्भ होता है कि 'मैं बहुत-रूप में प्रादुर्भूत हो जाऊं'। अनेकरूप होने की चाहना ब्रह्म में मानना आपत्तिजनक है। सर्वसम्मत शास्त्रीय ब्रह्मस्वरूप में ऐसी चाहना या इच्छा का मानना उसके स्वरूप में दोष लगाना है। उसके ऐसे ईक्षण का—कि मैं स्वयं बहुतरूप होजाऊँ—कोई कारण आज तक बताया नहीं जासका। वह 'पूर्णकाम' है, उसमें ऐसी चाहना क्यों? आगे वाक्य है—'तत्तेजोऽसृजत' उसने तेज का सर्जन किया। यह वाक्यरचना पहले वाक्य के साथ समन्वित नहीं होती। 'मैं बहुत होजाऊं' इस ईक्षण के अनुसार अगला वाक्य होना चाहिये—'वह तेज होगया'। यदि उपनिषत्कार की भावना व्याख्याकार शंकर आदि की भावना के अनुसार होती, तो वह इसप्रकार लिखता—'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय, तत्तेजोऽजायत'। अर्थात् मैं बहुत होजाऊं, और वह तेज होगया। उक्त अर्थ मानने पर ऐसी स्थिति में वाक्यों का समन्वय ठीक होसकता था। पर उपनिषत्कार ने 'अजायत' क्रियापद न देकर 'असृजत' रक्खा है। इस विशेषता पर ध्यान देना आवश्यक है। यह इस बात को प्रकट करता है, कि तेज का सर्जन करने वाला उसका कर्त्ता अधिष्ठाता व नियन्ता माना जाना चाहिये, उसको तेज का उपादान मानना इस पदप्रयोगशैली के अनुकूल नहीं होगा।

इस समस्या को सुलझाने के लिये कतिपय[1] व्याख्याकारों ने उपनिषद् के 'बहु स्याम्' और 'प्रजायेय' पदों के विषय में एक अन्य विवेचन प्रस्तुत किया है। उनका कहना है, कि 'बहु' पद 'भूमा' पद का पर्याय होता हुआ ब्रह्म का वाचक है। 'स्याम्' क्रियापद वर्त्तमानकालिक लट् के अर्थ में प्रयुक्त है, जो 'अस्मि' के अर्थ को कहता है। ऐसे ही 'प्रजायेय' क्रियापद अन्तर्भावितण्यर्थ है, यह 'प्रजनयेयम्' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस सबका मिलित अर्थ होगा, कि ब्रह्म को यह भावना होती है, कि मैं 'बहु' अर्थात्

---

१. देखें—पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ, द्वारा रचित छान्दोग्य उपनिषद् के प्रस्तुत प्रकरण का भाष्य।

भूमा हूं, महान हूं, सर्वशक्तिसम्पन्न हूं, प्रजनन करूं—जगत् को उत्पन्न करूं, तब उसने तेज का सर्जन किया, तेज को उत्पन्न किया। इस व्याख्या में 'सत्' को ब्रह्म समझकर भी उसे उपादान मानने की निवृत्ति होजाती है, वह यहां केवल कर्त्ता व नियन्तारूप में प्रस्तुत किया गया है। पर समस्या का समाधान यहीं पूरा नही होजाता।

ईक्षण के आधार पर पूर्ववाक्य में 'सत्' को ब्रह्म माना गया। पर आगे उपनिषद् में वाक्य है—'तत्तेज ऐक्षत' यहां पर ब्रह्म द्वारा बनाये गये भौतिक तेज में ईक्षण का निर्देश है। यह जड़ तेज में ईक्षण कैसे? आचार्य शंकर ने इसका समाधान किया—'तत्सत्सृष्टं तेज ऐक्षत तेजोरूपसंस्थितं सदैक्षतेत्यर्थः' उस 'सत्' से बने हुए तेज ने ईक्षण किया, इसका अर्थ है—तेजरूप में विद्यमान सत् ने ईक्षण किया। इस कथन में दो आपत्ति हैं, एक तो सत्-चेतन ब्रह्म स्वयं जड़ तेजरूप में कैसे परिणत हो गया? चेतन-तत्त्व जड़ नहीं होसकता, यदि होता है तो वह परिणामी होगा, जिसको ब्रह्मरूप माना जाना सम्भव नहीं। भौतिक तेज को आचार्य शंकर ने भी जड़ माना है। तब दूसरी आपत्ति है, कि उसरूप में ईक्षण कैसे? आचार्य ने जगत् को ब्रह्म से विलक्षण माना है, तथा ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण मानने के आग्रह से ब्रह्म के समान जगत् को चेतन कहने पर भी उसमें चैतन्य अंश को वेदान्तसूत्र [२।१।६] की व्याख्या में अविभावित [अप्रकट-अप्रकाशित] बताया है। चैतन्य के अविभावित मानने पर तेजरूप में विद्यमान सत् का ईक्षण कहना कैसे सम्भव होसकता है? क्योंकि 'सत्' के बनाये गये तेज में चैतन्य अप्रकाशित होने से वह जड़ है, उसमें ईक्षण का होना अशक्य है। तेजरूप में हुआ 'सत्' अपने रूप [चैतन्यरूप] में नहीं है। वस्तुतः आचार्य ने तेज के ईक्षण का समाधान करने के प्रयास में परस्पर विरोधी बात कह डाली है। ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण मानकर इन आपत्तियों का समाधान कठिन है।

कतिपय आधुनिक[1] व्याख्याकारों ने 'तत्तेजोऽसृजत, तत्तेज ऐक्षत' इन वाक्यों में प्रथम प्रयुक्त 'तेज' पद का अर्थ उत्पद्यमान भौतिक तेज किया है, तथा द्वितीय ['तत्तेज ऐक्षत' के] 'तेज' पद का अर्थ 'तेजस्वी' अर्थात् तेजवाला—ब्रह्म या परमात्मा किया है। ऐसा अर्थ करने से जड़ में ईक्षण होने की आपत्ति का तो निवारण होजाता है, पर प्रकरण की दृष्टि से असंगति दोष आजाता है। प्रकरण में इन वाक्यों की रचना इसप्रकार की है, जिससे यह स्पष्ट होता है, कि द्वितीय वाक्य में वही तेज अभीष्ट है, जिसका निर्देश प्रथम वाक्य में किया गया है। द्वितीय 'तेज' पद के साथ 'तत्' पद का प्रयोग इस अर्थ को स्पष्ट करता है। ऐसी स्थिति में पहले तेज पद का अर्थ केवल भौतिक तेज, और दूसरे 'तेज' पद का अर्थ तेजस्वी [-ब्रह्म अथवा परमात्मा] करना प्रकरण के अनुकूल

१. देखें—पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ द्वारा रचित छान्दोग्य उपनिषद् के प्रस्तुत प्रकरण का भाष्य।

प्रतीत नहीं होता।

'तत्तेज ऐक्षत' इस वाक्य में यह एक ध्यान देने की बात है, कि 'ऐक्षत' क्रियापद का मुख्य कर्त्ता कौन है, 'तत्' अथवा 'तेज' ? आचार्य शंकर ने वाक्य में व्यतिक्रम करके 'तत्' को कर्त्ता माना है, आचार्य की भावना के अनुसार 'तत्' सर्वनाम पद पूर्वनिर्दिष्ट 'सत्' का परामर्शक है, यद्यपि 'तत्' का अर्थ 'सत्सृष्टं' ही किया है, और आगे तेजोरूप में अवस्थित वह 'सत्' ही ईक्षण करने वाला है, ऐसा माना है। आचार्य का यह अर्थ प्रकरण संगति के अनुकूल नहीं है। वस्तुतः द्वितीय वाक्य में सन्दर्भरचना के अनुसार 'ऐक्षत' क्रिया का कर्त्ता 'तेज' होना चाहिये। इसके साथ जुड़ा हुआ 'तत्' पद पूर्ववाक्य में वर्णित तेज के स्वरूप का निर्देश करता है। पूर्ववाक्य में कहा गया है—सत् ने तेज का सर्जन किया। इसके अनुसार द्वितीय वाक्य का अर्थ होगा—सत् से बनाये गये तेज ने ईक्षण किया। ऐसी स्थिति में वह आपत्ति बराबर बनी रहेगी, कि सत् से बनाये गये भौतिक जड़ तेज में ईक्षण कैसे ? द्वितीय व्याख्याकार ने 'ऐक्षत' क्रिया का कर्त्ता तो 'तेज' को माना, पर उसका अर्थ बदल दिया, जिससे 'तेज' के साथ पठित 'तत्' पद का स्वारस्य नष्ट होगया।

उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसंग की उपर्युक्त व्याख्याओं में एक आपत्ति और है। द्वितीय खण्ड में 'सत्' से तेज-अप्-अन्न की सृष्टि का वर्णन है। तृतीय खण्ड के प्रारम्भ में प्राणिवर्ग के तीन विभागों का उल्लेख कर जीवात्मा के प्रवेश द्वारा नामरूपात्मक जगत् के विस्तार कियेजाने का वर्णन है। आगे तीन देवताओं के त्रिवृत्करण का उल्लेख है। उपलब्ध व्याख्याओं के अनुसार ये तीन देवता पूर्वखण्ड में वर्णित तेज-अप्-अन्न हैं। ये भूतरूप में उपलब्ध अग्नि [तेज], जल [अप्] और पृथिवी [अन्न] हैं। इनकी रचना का वर्णन जब द्वितीय खण्ड में कर दिया गया है, पुनः उनके त्रिवृत्करण से नामरूपात्मक जगत् के विस्तार का कथन पुनरुक्त एवं अनावश्यक जैसा प्रतीत होता है। उक्त व्याख्याओं के अनुसार तेज आदि का जो लोक में उपलब्ध रूप है, वह 'त्रिवृत्कृत' है, इसके पूर्व तेज आदि की जो रचना है, उसमें तेज आदि का क्या स्वरूप होता है, इसका निरूपण व्याख्याओं में कहीं उपलब्ध नहीं है। उस अवस्था के लिये 'अत्रिवृत्कृत' पद का प्रयोग तो अवश्य व्याख्याकारों ने किया है; पर वह स्थिति विशुद्ध [अत्रिवृत्कृत] तेज आदि की किस्वरूपा है ? इसका विवेचन किसी व्याख्याकार ने नहीं किया। दोनों अवस्थाओं में उनके 'तेज' आदि नामों का ही उल्लेख है, इनके स्वरूपभेद का पता नहीं लगता। प्रतीत होता है, इस प्रसंग का उक्तरूप में समस्त व्याख्यान जैसे अन्यथा होगया है।

ग्रन्थकार विविध शैलियों का आश्रय लेकर अपने प्रतिपाद्य विषय का निरूपण करते देखे जाते हैं। यह एक शैली है, कि लेखक जिस विषय का प्रतिपादन करना चाहता है, उसीके द्वारा उसका वर्णन करादेता है। जैसे—विद्युत् की कहानी विद्युत् की जबानी, अथवा कागज़ की कहानी कागज़ की ज़बानी। विद्युत् अपनी कहानी अपने मुख से

सुनाती है। उसका न अपना मुख है न बोलने या विचार करने की शक्ति; यह विषय के प्रतिपादन की एक रुचिकर शैली है। बिजली के मुख से बिजली की कहानी को सुनकर कोई यह कहने या सोचने लगे, कि वह अपनी कहानी कैसे सुना सकती है, वह जड़ है, न उसके मुख है न वाक्शक्ति? तो ऐसा कहने सोचनेवाले की जड़ता या मूर्खता का ही यह प्रमाण होगा। ठीक इसी शैली का प्रयोग उपनिषत्कार ने प्रस्तुत प्रसंग के द्वितीय खण्ड में किया है। उपनिषत्कार अन्तर्हित रहस्यमय आत्मतत्त्व को समझाना चाहता है। उसने सर्वानुभूत स्थूल जगत् के प्रतीक से इसका प्रारम्भ किया। तेज-अप्-अन्न सर्वानुभूत तत्त्व हैं। उनकी उत्पत्ति 'सत्' से बताई। वह 'सत्' समस्त जगत् के मूल उपादान प्रकृति से अन्य नहीं है। 'तेज' आदि पद प्रस्तुत प्रसंग में उसके वास्तविक स्वरूप के प्रतीक हैं, जिनका शास्त्र में यथाक्रम रजस्-सत्त्व-तमस् नाम से वर्णन है। सत् प्रकृति समस्त जड़ जगत् का एकमात्र उपादानकारण है, इस उपादानता में अन्य किसी का कोई अंश नहीं, इसीलिये इसरूप में वह एकमात्र अद्वितीय है। अभी तक वह केवल कारणरूप में विद्यमान है, उसने ईक्षण किया—मैं बहुत होजाऊं, कार्यरूपमें परिणत होजाऊं। उसने तेज का सर्जन किया, तेज ने अप् का, अप् ने अन्न का। यह सब सृष्टि के आरम्भ होने से पूर्व प्रकृति की सर्गोन्मुख अवस्था का वर्णन है। सर्ग से पहले प्रकृति अपने आप को परिणाम के लिये तैयार हुआ दिखलाती है। रजस्-सत्त्व-तमस् रूप प्रकृति जो अब तक प्रलयकाल में कारणरूप से अवस्थित रही, अब वह कार्योन्मुख होने के लिये सन्नद्ध है, इतना ही इस वर्णन का तात्पर्य है। प्रकृति या तेज आदि के ईक्षण का यहां कोई प्रश्न नहीं, विषय का वर्णन करने वाले ऋषि ने उसको उक्तरूप में प्रस्तुत किया है।

इसके अनन्तर तृतीय खण्ड के प्रारम्भ में त्रिविध प्राणिवर्ग का निर्देश कर उपनिषत्कार प्राणिसर्ग के प्रारम्भ का उल्लेख करता है। इस प्रसंग में देवता का ईक्षण ब्रह्म का ईक्षण है। यह पहले ईक्षण की तरह नहीं है, कि मैं बहुत होजाऊं; यह ईक्षण—संकल्प सर्वनियन्ता अन्तर्यामी ब्रह्म का है—मैं इन तीन देवताओं का—इनमें जीवात्मा का प्रवेश कर—नामरूप से विस्तार करूं। अन्तर्यामी होने के कारण ब्रह्म का समस्त तत्त्वों में स्वतः प्रवेश है। जीवात्मा के प्रवेश के विना प्राणिसर्ग का प्रादुर्भाव सम्भव नहीं, इसलिये ब्रह्म की उस स्थिति को यहां 'अनुप्रवेश' पद से प्रकट किया है। जिन तीन देवताओं का नाम-रूप से विस्तार करना है, वे वही देवता हैं जो प्रकृति का वास्तविक स्वरूप हैं—रजस्, सत्त्व और तमस्। उनके त्रिवृत्करण अर्थात् अन्योन्यमिथुनद्वारा समस्त संसार का निर्माण होता है। इस प्रसंग में स्पष्टरूप से निर्माण करने वाली देवता ब्रह्म को कहा है, और निर्मित या परिणत होने वाली देवता तीन हैं—रजस्, सत्त्व, तमस्। कार्यमात्र में उन्हीं तीनों के अस्तित्व को सत्यरूप में वर्णन किया है, कार्य या विकार बनता बिगड़ता रहता है। उपनिषत्कार ने इस समस्त प्रकरण के उपसंहार में

यही स्पष्ट किया, कि यह सब जगत् की रचना जिसके लिये है, वह आत्मा है, और हे श्वेतकेतु ! तुम वही आत्मा हो । लोक-व्यवहार में यह सर्वाङ्गपूर्ण स्थूलशरीर 'श्वेतकेतु' नाम से व्यवहृत होता है, पर इसे आत्मा मत समझना, यह सब आत्मा के लिये है स्वयं यह आत्मा नहीं है; जिसके लिये है, वह आत्मा तुम हो; इस स्थूल देह अथवा भूत-भौतिक से सर्वथा अतिरिक्त है—आत्मतत्त्व; इन आकर्षक देह-देहांग और भूत-भौतिक के साधारण ज्ञान पर अभिमान मत करो। इसप्रकार प्रस्तुत प्रसंग में श्वेतकेतु को और उसके प्रतीक से समस्त आत्मजिज्ञासु जन को आत्मतत्त्व की यथार्थता के समझाने का प्रयत्न किया गया है ।

आचार्य शंकर ने प्रस्तुत प्रकरण में 'त्रिवृत्करण' की व्याख्या तीन भूतों [अग्नि-जल-पृथ्वी] के परस्पर मिलने के रूप में की है, और उसे पांच भूतों का उपलक्षण मानकर भूतविषयक पञ्चीकरण सिद्धान्त की उद्भावना की है । पर प्रस्तुत प्रसंग से ऐसी कल्पना किया जाना साधार व संगत नहीं है । इसका विस्तृत विवेचन तृतीयाध्याय प्रथम पाद के प्रारम्भिक सूत्रों की व्याख्या के अवसर पर किया गया है ।

छान्दोग्य के इस प्रकरण में जो 'सत्' को जगत् का कारण बताया है, उसका विवेचन किया गया । तैत्तिरीय उपनिषद् [३।१, ६] के वर्णन से इसका कोई विरोध नहीं है । वहां जगत् के केवल निमित्तकारण ब्रह्म की ओर मुख्य निर्देश है, प्रस्तुत प्रसंग में उपादान और निमित्त दोनों कारणों का यथावसर उल्लेख हुआ है । शास्त्र को जगत् के प्रत्येक कारण का वर्णन अभीष्ट है, प्रसंग के अनुसार उनकी वास्तविकता को समझने का प्रयास अपने हाथ से जाने नहीं देना चाहिये ।

बृहदारण्यक उपनिषद् [५।५।१] में 'आपस्' से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन है । इस प्रसंग का विचार करना अपेक्षित है । वहां पाठ है—

आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवान् ।

आरम्भ में यह आपस् (जल ?) ही थे, उन आपस् ने सत्य को सृजा, सत्य ने ब्रह्म को, ब्रह्म ने प्रजापति को, प्रजापति ने देवों को । यह उक्त सन्दर्भ के पदों का साधारण अर्थ है ।

इस प्रसंग में 'आपस्' पद का अर्थ विचारणीय है । साधारण लोकव्यवहार में इस पद का प्रयोग जलों के लिये होता है । निश्चित है, कि जल एक बना हुआ तत्त्व है, वही मूल में था और उसने सत्य को तथा सत्य ने ब्रह्म को बनाया; ऐसा कथन अटपटा व असंगत लगता है । इससे समझना चाहिये, कि 'आपस्' पद का यहां कोई विशिष्ट अर्थ है । गंभीरतापूर्वक विचारने पर ज्ञात होता है, कि इस पद का प्रयोग यहां अव्यक्त मूल उपादानतत्त्व के लिये किया गया है—'आप्नुवन्ति प्राप्नुवन्ति प्रलयावसरे लयीभवन्ति सर्वाणि कार्यजातानि यासु कारणशक्तिषु ताः सर्वोपादानकारणभूताः शक्तय आप उच्यन्ते,

प्रलय अवसर आनेपर समस्त कार्य जगत् जिन कारणरूप शक्तियों में लीन होजाता है, वे मूलभूत शक्तिरूप अव्यक्त कारण 'आपस्' कहे जाते हैं, क्योंकि समस्त कार्य स्वरूप को छोड़कर इन्हीं में प्राप्त होते हैं, इसलिये ये 'आपस्' हैं। लोक में इस पद का प्रयोग नित्य स्त्रीलिंग तथा बहुवचन में होता है, संभवतः यह स्थिति मूल अव्यक्त प्रकृति के स्त्रीभाव और सत्त्व-रजस्-तमस्, के रूप में उसके बहुभाव को ध्वनित करती है। प्रकृति निरन्तर गतिशील है, कदाचित् इसी भाव की स्थूलरूप में समता को देखकर 'आपस्' पद का प्रयोग द्रवीभूत जलों के लिये होने लगा हो, यह संभव है। मूलरूप में 'आपस्' पद जगत् के अव्यक्त शक्तिरूप उपादानतत्त्वों का बोधक है, ऐसा प्रतीत होता है। इसके अनुसार उक्त सन्दर्भ की व्याख्या करनी अपेक्षित है।

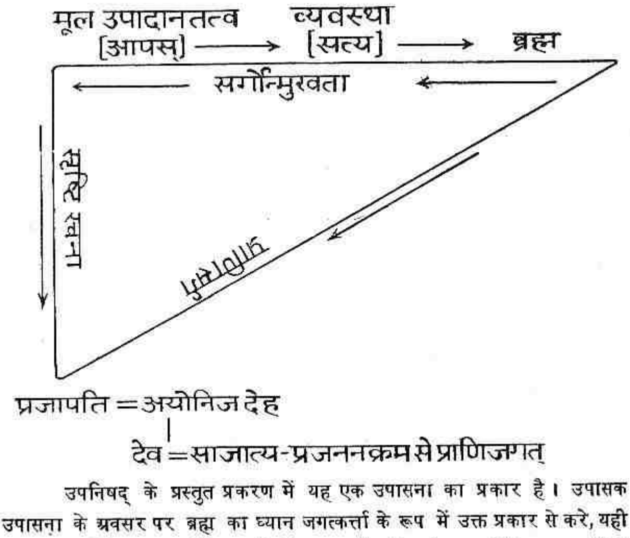
सर्ग अथवा प्रलय की स्थिति में मूल उपादानतत्त्वों की जो क्रमानुक्रमपूर्वक एक नियत व्यवस्था रहती है, वे तत्त्व [आपस्] अपनी उसप्रकार की क्रमिक विद्यमानता से उस नियत व्यवस्था का बोध कराते हैं, दूसरे शब्दों में उस व्यवस्था को प्रकाश में लाते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में उस व्यवस्था को 'सत्य' पद से कहा गया है। 'आपस् ने सत्य को सृजा' इसका यही तात्पर्य है, कि मूलतत्त्वों की उस प्रकार की विद्यमानता ने एक नियत व्यवस्था को प्रकट किया, प्रकाशित किया। यह वर्णन प्रलय समाप्त होने पर सर्गोन्मुख होते हुए तत्त्वों की दशा का है। मूलतत्त्वों की वह व्यवस्था, उसके व्यवस्थापक चेतनतत्त्व ब्रह्म का बोध कराती है, क्योंकि कोई ऐसी व्यवस्था चेतनतत्त्व के नियन्ता होने के विना संभव नहीं, यही उस नियन्ता चेतनतत्त्व का सर्जन या उसे प्रकाश में लाना है। प्रलयदशा में समस्त कार्यों के कारण में लीन होजाने से कोई ऐसा साधन नहीं रहता, जो उस नियन्ता चेतन का बोध करा सके। सर्ग की आदि दशा में जब मूल उपादानतत्त्व नियन्ता चेतन की व्यवस्था के कारण सर्गोन्मुख हो उठते हैं, तब वह व्यवस्था उस नियन्ता चेतन को प्रकट कर देती है, इसी अर्थ को उपनिषद् में कहा—'सत्यं ब्रह्म' उस सत्य ने ब्रह्म को प्रकट किया।

'आपस् ने सत्य को और सत्य ने ब्रह्म को सृजा' [ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म] इस सन्दर्भ का यह अभिप्राय हुआ, कि आदि सर्गदशा में मूल उपादानतत्त्व एक नियत व्यवस्था से बाधित होकर सर्गोन्मुख होने के लिये प्रेरित होते हैं, वह नियत व्यवस्था उस व्यवस्थापक नियन्ता चेतन ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध करती है। इस-प्रकार चेतन ब्रह्म अपनी व्यवस्था के द्वारा मूल उपादानतत्त्वों से जगत् का निर्माण करता है। इस ब्राह्मी व्यवस्था को वेद एवं अन्य वैदिक साहित्य में 'सत्य' अथवा 'ऋत' आदि पदों के द्वारा बहुधा प्रतिपादित किया गया है। इसीलिये ब्रह्म सबका मूल आधार है; सर्वोत्कृष्ट है, सबसे प्रथम है, इसी आशय से उसको गत चतुर्थ ब्राह्मण में 'महद्यक्षं प्रथमजं' कहा है; सबसे पहले विद्यमान महान यजनीय पूजनीय तत्त्व। उसकी व्यवस्था के अनुसार जड़जगत् की रचना होजाने पर प्राणिवर्ग के प्रकाश में आने का अवसर

आता है। उस सर्वशक्ति ब्रह्म ने प्राणिजगत् की रचना में सर्वप्रथम प्रजापति को प्रकट किया। 'प्रजापति' ब्रह्मा को कहा जाता है। यह उस प्रकार की प्राथमिक अयोनिज प्राणिसृष्टि का उपलक्षण है। 'प्रजापति' एक प्रतीकमात्र है उस अयोनिज प्राणिजगत् की रचना का। प्राणिजगत् में सर्वप्रथम अयोनिज सृष्टि हुई, उनसे फिर अन्य देव अथवा देवयोनियां प्रकाश में आईं। इसी आशय को उपनिषद् में कहा है—'ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवान्'।

यह वर्णन आदिसर्ग दशा में वस्तुस्थिति की एक त्रिकोण रेखा को बनाता है। मूल उपादानतत्त्व की हलचल से एक व्यवस्था प्रकाश में आती है, उस व्यवस्था से व्यवस्थापक ब्रह्म प्रकाश में आता है। वह आधारभूत सत्ता उन उपादानतत्त्वों से अपनी व्यवस्था के अनुसार अयोनिज देहों को प्रकाश में लाकर वहां उपयुक्त आत्मतत्त्वों का प्रवेश कर प्राणिजगत् का प्रारम्भ करती है।

प्रकाशन प्रक्रिया



उपनिषद् के प्रस्तुत प्रकरण में यह एक उपासना का प्रकार है। उपासक उपासना के अवसर पर ब्रह्म का ध्यान जगत्कर्त्ता के रूप में उक्त प्रकार से करे, यही इसका तात्पर्य है। यहां भौतिक जलों से जगदुत्पत्ति के वर्णन का कोई आधार नहीं है, और न यह माना जासकता है, कि ऐसे जलों का अस्तित्व सर्वप्रथम था, क्योंकि ये जल उत्पन्न होने वाले तत्त्व हैं, सब से प्रथम इनका होना किसीप्रकार प्रमाणित नहीं किया

जासकता। जिन व्याख्याकारों ने 'आपस्' पद का भौतिक जल अर्थ समझा है, वह चिन्तनीय है। आचार्य शंकर ने इसका अर्थ जगत् का 'अव्यक्त कारण' माना है। ऐसी स्थिति में तैत्तिरीय उपनिषद् [३।१, ६] के सन्दर्भ के साथ इसका कोई विरोध नहीं है, प्रत्युत दोनों प्रसंग प्रकारान्तर से समान अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। आचार्य शंकर ने इस सन्दर्भ के मूलपाठ में एक 'ब्रह्म' पद को उड़ा दिया है, जो चिन्त्य है।

'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र में बताया, कि ब्रह्म के अस्तित्व में शास्त्र प्रमाण है, जहां यह उपपादन किया जाता है, कि जगत् का उत्पादक ब्रह्म है। इसके विपरीत उपनिषदों के कतिपय सन्दर्भ प्रस्तुत किये गये, जहां ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन है। उन सब स्थलों का यथाक्रम विवेचन कर यह स्पष्ट किया गया, कि उपनिषदों के उन सन्दर्भों में कहां किसप्रकार के जगत्कारणों का वर्णन है। फलतः शास्त्र के आधार पर यह प्रमाणित होता है, कि जगत् का निर्माण करने वाली चेतन सत्ता ब्रह्म है। शास्त्र के प्रथम सूत्र से जिस ब्रह्म की जिज्ञासा का उपक्रम किया, उस ब्रह्म के अस्तित्व को आन्वीक्षिकी [न्याय अथवा तर्क] विद्या तथा शास्त्र [आगम] के आधार पर प्रस्तुत सूत्रों द्वारा सिद्ध कर दिया गया।

इस प्रसंग में ब्रह्म को लक्ष्यकर यह विवेचन कुछ अधिक महत्त्व नहीं रखता, कि ब्रह्म क्रिया का विषय अथवा ज्ञान का विषय है या नहीं। कोई आचार्य ब्रह्म को क्रिया-साध्य नहीं मानता। वह क्रिया का क्या, किसी का साध्य नहीं है; ब्रह्म सिद्धभूत तत्त्व है, मीमांसाप्रतिपादित कर्म के कर्त्तारूप में जिस पुरुष को स्वीकार किया गया है, वह चेतन अवश्य है, पर वह ब्रह्म नहीं है; उसका दूरगामी लक्ष्य ब्रह्मज्ञान होसकता है, यह अलग बात है। कर्मकर्त्ता पुरुष [जीवात्मा] किसी विशेष निमित्त से कर्म का प्रारम्भ करता है। यज्ञ याग आदि कर्म सम्पन्न होने पर उनसे होनेवाले फलों के प्रयोजक हैं, ऐसे यागादि काम्य-कर्म कहे जाते हैं। ब्रह्मज्ञान वहां लक्ष्य नहीं है। पर उन फलों की प्राप्ति के लिये उस देवाधिदेव की प्रार्थना समस्त वैदिक कर्मकलापों में अन्तर्हित रहती है। उसकी दया के विना फलों को प्राप्त करना संभव नहीं। उसकी महती दया का यह साक्षात् रूप है, जो विविध फलोपभोगों के लिये साधनभूत अनन्त ऐश्वर्यसम्पन्न संसार उसीकी रचना द्वारा हमारे लिये बिछा है। इसप्रकार यदि कर्मकाण्ड में ब्रह्म उसका अंगभूत होकर उपस्थित होता है, तो इसमें किसी को क्या आपत्ति होनी चाहिये। क्योंकि वहां ब्रह्मज्ञान मुख्य नहीं है, तथा ब्रह्म की वास्तविक सत्ता में इससे कोई न्यूनता नहीं आती।

जो वैदिककर्म विशेष फलप्राप्तिरूप निमित्त से न किये जाकर निष्काम भावना से किये जाते हैं, तथा जो नित्यकर्म हैं, उनका अनुष्ठान अन्तःकरण आदि की शुद्धि में अत्यन्त उपयोगी होता है। शुद्धान्तःकरण जिज्ञासु विवेक वैराग्य शम दम आदि अध्यात्ममार्ग की सम्पत्ति का संपादन करने में सरलतापूर्वक समर्थ होजाता है। जिससे ब्रह्मज्ञान का पथ उसके लिये प्रशस्त होता है। इसरूप में वैदिक कर्मों का अनुष्ठान

अध्यात्ममार्ग में बाधक न होकर उसका साधक है। यदि कोई उदात्त आत्मा जन्मान्तर-संस्कार के कारण अनायास ब्रह्मज्ञान की स्थिति को प्राप्त कर लेता है, तो इतनेमात्र से अध्यात्ममार्ग के लिये वैदिक कर्मों की अनुपयोगिता सिद्ध नहीं होजाती। फलतः ब्रह्म के अस्तित्व का निश्चय शास्त्र और जगद्रचना के समन्वय एवं शास्त्रद्वारा जगत्कर्त्ता आदि के रूप में उसका प्रतिपादन होने से स्पष्ट होता है। उपनिषदों में अनेक नामों के द्वारा ब्रह्म के जगत्कर्तृत्व का वर्णन है। उन स्थलों में वे नाम ब्रह्म के लिये प्रयुक्त हुए हैं, इसका समन्वय प्रस्तुत अध्याय के अगले प्रकरणों में किया गया है ॥४॥

ब्रह्मजिज्ञासा का आरम्भ कर दूसरे-तीसरे सूत्र से जगत् एवं शास्त्र का कारण होने से तथा शास्त्रीय प्रमाणों से ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध किया गया। शास्त्रगत प्रमाणों में कतिपय ऐसे सन्दर्भों का विवेचन किया गया, जिनके आधार पर ब्रह्म के जगत्कारण माने जाने में आपाततः आशंका की संभावना की जासकती है। इस रूप में ब्रह्म का अस्तित्व निर्बाध सिद्ध होजाता है। ब्रह्म का स्वरूपलक्षण 'सत्-चित्-आनन्द' बताया है। यद्यपि जगज्जन्मादि के कारणरूप में ब्रह्म का अस्तित्व तटस्थलक्षण द्वारा प्रकट किया गया है, फिर भी अस्तित्व सिद्ध होजाने पर वह उसके 'सद्-रूप' स्वरूपलक्षण को स्पष्ट करता है। इसप्रकार इन सूत्रों से ब्रह्म के स्वरूप का एक अंश (-सद्रूप) उपपादित हो जाता है।

जगत्कारण के रूप में ब्रह्म की सत्ता स्वीकार किये जाने पर शिष्य जिज्ञासा करता है—यद्यपि ब्रह्म के जगज्जन्मादि का कारण होने में शास्त्र प्रमाण हो, पर उसके निमित्तकारण तथा चेतन होने में शास्त्र प्रमाण कैसे है? इस जिज्ञासा के समाधान के रूप में ब्रह्म के द्वितीय स्वरूपलक्षण 'चित्' को स्पष्ट करने की भावना से सूत्रकार ने ईक्षत्यधिकरण का प्रारम्भ किया। उसका प्रथम सूत्र है—

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥५॥

[ईक्षतेः] ईक्षति से (ब्रह्म का चिद्रूप होना), [न] नहीं [अशब्दम्] अशब्द—अशास्त्रीय-अप्रमाण। ईक्षणक्रिया का कर्त्ता होने से जगत्कारण ब्रह्म का चिद्रूप होना तथा जगज्जन्मादि के प्रति निमित्तकारण होना अशब्द नहीं है, शास्त्रप्रमाणरहित नहीं है।

वैदिक साहित्य में जहां जगत् की सर्गादि अवस्था का वर्णन किया गया है, वहां जगत्कारण के रूप में ब्रह्म को ईक्षिता—ईक्षण करने वाला—कहा है। यह ईक्षण चेतन के अतिरिक्त अन्यत्र संभव नहीं है। चेतनतत्त्व किसी द्रव्य का केवल निमित्तकारण हो सकता है, उपादान आदि नहीं। ईक्षण का तात्पर्य है—जगत् के मूल उपादानकारणों को कार्यरूप (जगद्रूप) में परिणत करने का ज्ञान। सृष्टि की रचना ज्ञानपूर्वक, व्यवस्था-पूर्वक, होती है, आकस्मिक नहीं। शास्त्र से यह प्रमाणित होता है, कि जड़ जगत् के

मूल उपादान जड़तत्त्व स्वयं कार्यरूप में परिणत नहीं होते, वे किसी प्रेरणा की अपेक्षा रखते हैं। इस सम्बन्ध के विज्ञानमूलक परिणाम उक्त सिद्धान्त को स्पष्ट करते हैं। संसार में कोई ज्ञाततत्त्व स्वतः परिणत होते नहीं जाना जाता, उसके मूल में चेतन की प्रेरणा अपेक्षित देखी जाती है। इस व्यवस्था को समस्त विश्व के मूलरूप में लागू करने से यह परिणाम सन्मुख आता है, कि मूल उपादान तत्त्वों के परिणाम के लिये प्रेरणा अपेक्षित है। उस ज्ञानपूर्ण प्रेरणा को शास्त्र में 'ईक्षण' कहा गया है। ऐसा ईक्षिता जगत्कारण निश्चित चेतनतत्त्व है। फलतः जगदुत्पादक ब्रह्म को चेतन तथा जगत् का निमित्तकारण मानना अशब्द नहीं है, यह मन्तव्य शब्दप्रमाण से सिद्ध होता है।

ऐतरेय उपनिषद् के प्रारम्भ में कहा है—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, नान्यत्किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत।' सर्ग से पूर्व एक आत्मा ही था, अन्य कोई वस्तु व्यापार या क्रिया करती हुई न थी; क्योंकि यह समस्त व्यापृत जगत् तब कारण में लीन था। उस ब्रह्मरूप आत्मा ने ईक्षण किया, मैं लोकों का निर्माण करूं; उसने इन सब लोकों को बनाया। इस वर्णन से लोकों का बनाने वाला आत्मा [ब्रह्म] ईक्षिता होने के कारण अर्थात् ज्ञानपूर्वक सृष्टिकर्त्ता होने के कारण चेतन है, यह सिद्ध होता है।

आगे इसी उपनिषद् के तृतीय खण्ड के प्रारम्भ में पाठ है—'स ईक्षत-इमे नु लोकाश्च लोकपालाश्च, अन्नमेभ्यः सृजा इति। सोऽपोऽभ्यतपत् ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्त्तिरजायत। या वै सा मूर्त्तिरजायत, अन्नं वै तत्।' उस ब्रह्म ने ईक्षण किया—ये लोक और लोकपाल हैं, इनके लिये अन्न का निर्माण करूं। उसने [अपः] मूलतत्त्वों को गरमी पहुंचाई, उनसे मूर्ति—एक विशिष्ट आकार वाले द्रव्य प्रकाश में आये, जो वह मूर्त्ति प्रकट में आई वही अन्न है। इस वर्णन से यह स्पष्ट होता है, कि लोक-लोकान्तरों की रचना, और इसमें ओषधि वनस्पति तथा अन्य भोग्य पदार्थों का निर्माण ज्ञानपूर्वक किया जाता है, इसलिये इन सबका स्रष्टा ब्रह्म चेतनतत्त्व है, यह सिद्ध होता है। इस समस्त प्रसंग में ऐसा कोई संकेत नहीं है, जिससे यह प्रतीत हो, कि वह चेतन ब्रह्म स्वयं जगत् के रूप में परिणत होता है, अथवा अपने स्वरूप से एक रहता हुआ वह बहुत हो-जाता है; प्रत्युत यहां स्पष्ट है, कि वह अपने से अतिरिक्त मूल उपादानतत्त्वों से लोकों एवं अन्य भोग्य पदार्थों का निर्माण करता है। तत्त्वों में ऊष्मा का संक्रमण कर अन्नादि भोज्य पदार्थों के उत्पादन का यह कथन, सृष्टि रचना के एक वैज्ञानिक रहस्य का उद्घाटन करता है।

इसके अतिरिक्त छान्दोग्य उपनिषद् [६।३] में प्रसंग है—सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति' उस देवता ने ईक्षण किया—मैं इन तीन देवताओं का जीव आत्मा के प्रवेश के साथ अनुप्रविष्ट होकर नामरूप में विस्तार करूं। इस प्रसंग में ईक्षण करने वाली देवता ब्रह्म है। अपने से

अतिरिक्त जिन तीन देवताओं का विस्तार करने के लिये उसने ईक्षण किया, वे तीन देवता प्रकृति के—रजस्-सत्त्व-तमस्—रूप हैं। इस त्रिगुण के अन्योन्यमिथुनद्वारा वह महती देवता किस प्रकार विविध जगद्रूप में उनका विस्तार करती है, इसका वर्णन उपनिषद् के अगले खण्डों में विद्यमान है। उपनिषद् का यह कथन महती देवता के ईक्षणद्वारा तथा मूल उपादानतत्त्वों से ईक्षणपूर्वक जगद्विस्तार के विधानद्वारा ब्रह्म के चेतन तथा निमित्तकारण होने को सिद्ध करता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है, कि जड़ जगत् के मूल उपादानतत्त्व जगद्रचयिता चेतन ब्रह्म से सर्वथा भिन्न हैं।

आचार्य शंकर ने उपनिषद् के इस प्रसंग में तीन देवता—तेज, अप्, अन्न [पृथिवी] ये तीन भूत माने हैं, उनके त्रिवृत्करण का रूप बतलाया है, कि एक सीमित अंश में ये एक-दूसरे में मिला दिये जाते हैं। इसे पांच भूतों का उपलक्षण मानकर आचार्य ने भूतों के पञ्चीकरण सिद्धान्त का उद्भावन किया है। यद्यपि यह सिद्धान्त सर्वथा अवैज्ञानिक एवं मूलग्रन्थ की भावना के प्रतिकूल है, पर आचार्य ने इसपर इतना अधिक प्रयास संभवतः इस कारण किया है, कि उपनिषद् की मूलभावना के अनुसार इस प्रसंग से जड़ जगत् के मूल उपादानतत्त्व सत्त्व-रजस्-तमस् की वास्तविकता को उलझाया जासके। प्रसंगवश इसका स्पष्टीकरण चतुर्थ सूत्र के व्याख्यान में संक्षिप्तरूप से कर दिया है। विस्तृत विवेचन तृतीयाध्याय के प्रारम्भिक सूत्रों की व्याख्या में देखना चाहिये।

ऐतरेय उपनिषद् [५।३] में ब्रह्म को स्पष्टरूप से चेतन कहा है। वहां बताया है, ये सब स्थूल-सूक्ष्मभूत समस्त प्राणी, जंगम, स्थावर और जितना अन्य जगत् है, सब उस चेतन के द्वारा नियन्त्रित व संचालित होता है, उस चेतन में समस्त लोक प्रतिष्ठित हैं; वह सबकी प्रतिष्ठा है, क्योंकि उसकी प्रेरणा के बिना कोई तत्त्व क्रिया नहीं कर सकता, वह ब्रह्म चेतनतत्त्व है [-प्रज्ञानं-ब्रह्म]।

सूत्र में 'ईक्षतेः' पद केवल 'ईक्षति' धातु का निर्देश न कर उसके अर्थ का निर्देश करता है। इसका अभिप्राय यह है कि सृष्टिवर्णन के जिन प्रसंगों में 'ईक्षति' धातु का प्रयोग किया गया है, केवल वे प्रसंग ही ब्रह्म के चेतन होने को सिद्ध नहीं करते, अपितु अन्य ऐसे प्रसंग भी इसको सिद्ध करते हैं, जहां 'ईक्षति' के समानार्थक अन्य 'जानाति' आदि धातुओं का प्रयोग हुआ है। मुण्डक उपनिषद् [१।१।६] का सन्दर्भ है—

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नञ्च जायते॥

जो सबका जानने वाला सर्वान्तर्यामी है, जिसका ज्ञानरूप तप है, सृष्टिरचना आदि को ब्रह्म के तपोरूप में वर्णन किया जाता है, क्योंकि यह रचना ज्ञानपूर्वक होती है, इसलिये उसका तप ज्ञानरूप है। यह महान अनन्त सीमाओं तक फैला हुआ

विशाल नामरूपात्मक विश्व तथा अन्य विशिष्ट भोग्य पदार्थ उस ब्रह्म से उत्पन्न किये जाते हैं। यहां जगन्नियन्ता आत्मा को सर्वज्ञ तथा ज्ञानरूप बताया गया है, जो उसके चेतन होने को स्पष्ट करता है। इसीप्रकार यजुर्वेद [४०।८] में जगदुत्पादक ब्रह्म को 'कवि' और 'मनीषी' कहा है। वह क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ प्रकृतिरूप सत्त्व-रजस्तमोमयी शाश्वत [सदा रहने वाली] शक्तियों से सब पदार्थों को बनाता है। इससे भी जगन्निर्माता ब्रह्म चेतन सिद्ध होता है।

बृहदारण्यक [४।५।१३] में इसे 'प्रज्ञानघनः' कहा है, जो इसके चेतनमात्र स्वरूप को स्पष्ट करता है। ऋग्वेद [३।६२।६], अथर्ववेद [१८।४।१४], छान्दोग्य [६।२।३], बृहदारण्यक [३।७।२३], श्वेताश्वतर [३।१६], कठोपनिषत् [२।५।१३] आदि के स्थल भी इस विषय में द्रष्टव्य हैं।

आचार्य शंकर ने इस सूत्र द्वारा कापिल सांख्य के प्रत्याख्यान करने का प्रयास किया है। आचार्य ने सांख्य की ओर से यहां जिन पूर्वपक्षों की कल्पना की है, वे सर्वथा आधारहीन हैं। सांख्यग्रन्थों में उस प्रकार के विचार कहीं उपलब्ध नहीं होते। कपिल अथवा उसके अनुयायी किसी आचार्य ने चेतन की प्रेरणा के बिना प्रकृति में प्रवृत्ति का होना स्वीकार नहीं किया। बौद्ध विद्वानों तथा उनके अनुसार आचार्य शंकर ने यह अपवाद कपिल पर मिथ्या आरोपित किया है।[1] कपिल प्रकृति के अधिष्ठाता व प्रेरयिता चेतन परमेश्वर को स्वीकार करता है। सूत्र के 'अशब्द' पद से आचार्य ने 'प्रकृति' का जो ग्रहण किया है, वह सर्वथा अप्रामाणिक है। प्रथम तो किसी सांख्याचार्य ने प्रकृति के लिये इस पद का प्रयोग कहीं नहीं किया। दूसरे चेतन से अतिरिक्त जगत् के मूल उपादानभूत जड़ प्रकृति का शब्दप्रमाण से उपपादन नहीं होता, इसलिये 'अशब्द' पद से प्रकृति का ग्रहण किया गया; ऐसा विचारना भी सर्वथा निराधार है। वेद, वैदिक साहित्य तथा उपनिषद् एवं पुराण आदि साहित्य में अतिविस्तार के साथ त्रिगुणात्मक सत्त्वरजस्तमोमयी जगदुपादानभूत प्रकृति का प्रतिपादन उपलब्ध होता है।[2] इसलिये सूत्र के 'अशब्द' पद का आचार्य द्वारा 'प्रकृति' अर्थ समझना संगत नहीं कहा जासकता। उसका जो प्रकरणानुगत स्वारसिक अर्थ है, वह प्रथम कर दिया गया है।

आचार्य के मत में यह एक बड़ी दुर्बलता है, जो उसने जड़ जगत् का मूल उपादान चेतन ब्रह्म को मानलिया है। सांख्य में चेतन से अतिरिक्त त्रिगुणात्मक जड़ मूलतत्त्व को जगत् का उपादान मानकर जो इस समस्या का समाधान अथवा सर्गविषयक रहस्य का उद्घाटन किया है, वह किसी भी प्रतिभावान् विचारक को अधिकाधिक सचाई

---

१. इसके लिये देखें, हमारी रचना 'सांख्यसिद्धान्त' पृ० ६१-६२, तथा पृ० १७६ से १८४ तक।

२. इसके लिये देखें, हमारी रचना 'सांख्यसिद्धान्त' का चतुर्थ-पञ्चम अध्याय।

तक पहुंचाने में सक्षम है, इस भावना से भीत होकर कदाचित् आचार्य ने उक्त वाद के प्रत्याख्यानप्रयास के रूप में एक तथ्य को मिथ्यारूप देने के लिये बड़ा बल लगाया है, फिर भी ब्रह्म को एकमात्र उपादान कहकर माया से उसका पीछा आचार्य नहीं छुड़ा सका। यह कैसा भ्रमजाल है, कि जगत् का उपादान ब्रह्म होते हुए भी यह जगत् परिणाम माया का है। सूत्र का जो आशय बलपूर्वक आचार्य ने निकालने का प्रयास किया है, वस्तुतः ऐसा आशय सूत्रकार का रहा होगा, इसमें पूर्ण सन्देह है ॥५॥

शास्त्र के सृष्टि प्रकरणों में जगत्कारण ब्रह्म को 'ईक्षिता' कहे जाने से ब्रह्म का चित्स्वरूप होना सिद्ध होता है, यह गतसूत्र से निश्चित किया गया। जगत्सर्ग में उपादानतत्त्व की प्रेरणा के लिये किसी चेतन की अपेक्षा न होने की भावना से शिष्य इस प्रसंग में जिज्ञासा करता है, कि शास्त्र [छा० ६।२] में सत्, तेज और अप् को भी ईक्षिता कहा गया है; निश्चित है, कि ये तत्त्व जड़ हैं, चित्स्वरूप नहीं हैं। छान्दोग्य का यह स्थल 'सत्' से प्रकृति तथा तेज-अप्-अन्न से यथाक्रम रजस्-सत्त्व-तमस् को बोधित करता है। यह प्रकृति की आद्य सर्गोन्मुख अवस्था का वर्णन उपनिषत्कार ने प्रकृतिमुखद्वारा प्रस्तुत किया है। प्रकृति की सर्गोन्मुख अवस्था को दिखाकर अगले तृतीय खण्ड में उस देवता के ईक्षण का निर्देश है, जो इन त्रिविध उपादानतत्त्वों का त्रिवृत्करण [अन्योन्यमिथुनवृत्तिता] कर जगत् का निर्माण करती है। जिज्ञासा का आशय है, कि द्वितीय खण्ड में 'ईक्षति' का तेज आदि के लिये प्रयोग गौण है, इसीप्रकार अन्यत्र भी उसे गौण समझना चाहिये; इसलिये ऐसे प्रयोग से जगत्कारण ब्रह्म का चित्स्वरूप सिद्ध होना सन्दिग्ध हो जाता है। सूत्रकार समाधान करता है—

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥६॥

[गौणः] गौण है [चेत्] यदि (ऐसा कहो, तो यह) [न] ठीक नहीं, [आत्मशब्दात्] आत्मा शब्द से। 'ईक्षति' का प्रयोग गौण है, वह ब्रह्म के चित्स्वरूप का साधक नहीं, यदि ऐसा कहा जाय; तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि 'ईक्षति' प्रयोग के प्रसंग में 'आत्मा' शब्द पढ़ा गया है।

शास्त्र में सर्गविषयक ऐसे अनेक प्रकरण हैं, जहां जगत्कारण के लिये 'ईक्षति' का प्रयोग किया गया है। यह विवेचन करना आवश्यक होगा, कि उनमें कहां इस क्रियापद का गौण प्रयोग है, और कहां मुख्य। किसी एक प्रकरण में गौण प्रयोग होने से सर्वत्र वैसा ही प्रयोग हो, यह किसीप्रकार न्याय्य नहीं कहा जासकता। उनके गौण अथवा मुख्य होने का कारण जान लेना अपेक्षित होगा। ऐसे प्रकरणों में एक ऐतरेय उपनिषद् का प्रारम्भिक भाग है। वहां पाठ है—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत।' सर्ग के आदि में केवल एक आत्मा था, और कुछ भी सचेष्ट नहीं था। उस आत्मा ने ईक्षण

किया, लोकों का सर्जन करूं, उसने इन लोकों को बनाया।

इस अर्थ का उपपादन करने वाला उपनिषत्कार सर्ग की वर्त्तमान चालू अवस्था में यह वर्णन कर रहा है। उसके सामने समस्त विश्व दृष्टिगोचर है। वह इसका निर्देश उक्त सन्दर्भ में 'इदम्' पद के द्वारा करता है। इसका तात्पर्य है, यह सब जगत् इस समय चेष्टमान विविध क्रियाओं का आधार दृष्टिगोचर होरहा है, पर सर्ग के आदि में इसमें से कुछ भी सचेष्ट नहीं था, केवल वह 'आत्मा' था, जो इस विश्व में अन्तर्यामी रूप से व्याप्त रहकर इसका संचालन करता एवं सब प्रकार नियन्त्रण करता है। जगत् के उपादानतत्त्वों का वह सर्वात्मना ज्ञाता व नियन्ता है। उसका यह ज्ञान व नियन्त्रण ही ईक्षण है; उसी प्रेरणा से प्रेरित उपादानतत्त्व यथावसर सर्ग-स्थिति-प्रलय के रूप में परिवर्त्तित होते रहते हैं। यहां ईक्षणकर्त्ता के साथ 'आत्मा' पद का सम्बन्ध उसके चित्स्वरूप होने को सिद्ध करता है। 'आत्मा' पद अपने अर्थ में अन्तर्यामिता, व्यापिता, नियन्तृता, ज्ञातृता आदि भावों को अभिव्यक्त करने में क्षम है, जो उस अर्थ के चित्स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। फलतः इस प्रसंग में 'ईक्षति' के प्रयोग को गौण नहीं कहा जासकता, क्योंकि यहां चित्स्वरूप में ईक्षण का निर्देश है, अचित्स्वरूप में नहीं। उसका उपोद्बलक यहां 'आत्मा' पद है।

प्रश्न उपनिषद् के छठे प्रश्न में 'ईक्षति' का प्रयोग है। यहां षोडशकल [सोलह कला वाले] पुरुष के विषय में प्रश्न किया गया है। ऋषि ने उत्तर दिया, वह पुरुष इस शरीर के अन्दर ही निवास करता है, उसके रहने पर ये सोलह कला प्रादुर्भाव में आती हैं। इसीके अनन्तर उपनिषद् का पाठ है—'स ईक्षाञ्चक्रे। कस्मिन्नहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि, कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति।' उस पुरुष ने ईक्षण किया, विचार किया अथवा जानना चाहा, कि किसके उत्क्रान्त होजाने पर मैं उत्क्रान्त हो जाऊंगा, अथवा किसके प्रतिष्ठित रहने पर प्रतिष्ठित रहूँगा। वस्तुतः यह ईक्षण देह में निवास करने वाले जीवात्मा का है, ब्रह्म का नहीं। ब्रह्म का देह से अथवा किसी स्थान से उत्क्रमण नहीं होता, देह से उत्क्रमण [बाहर निकलजाना] केवल जीवात्मा का होता है। जीवात्मा चित्स्वरूप है, इसलिये उसमें ईक्षण संभव है। फलतः यहां भी ईक्षण गौण नहीं।

उपनिषद् के इस प्रसंग की व्याख्या के अवसर पर आचार्य शंकर ने इसे बहुत तूल दी है, बौद्ध तथा सांख्य के प्रत्याख्यान के लिये अप्रसंग प्रयास किया है। आचार्य अपनी बात को किसी बहाने कह देने के लिये बड़े व्यग्र रहते हैं; यदि कोई बहाना न मिले, तो स्वयं खड़ा कर लेते हैं। इस प्रसंग में यही बात है। छठे प्रश्न के प्रारम्भिक भाग का ऊपर उल्लेख कर दिया गया है। यहां प्रश्न षोडशकल पुरुष के विषय में है, वह जीवात्मा पुरुष है। देह में जीवात्मा के आने पर उन षोडशकलाओं का प्रादुर्भाव व उपयोग होता है, इसी कारण यह पुरुष 'षोडशकल' कहाजाता है। आत्मा के ईक्षण का

जो यहां प्रसंग है, उसका इतना ही तात्पर्य है, कि वे कौन सी स्थितियां हैं, जिनके देह में न रहने पर आत्मा के उत्क्रमण का बोध होता है, और जिनके रहने पर आत्मा का शरीर में प्रतिष्ठित रहना निश्चित होता है। षोडशकलाओं के द्वारा उन्हीं स्थितियों का वर्णन है। वे सोलह कला हैं—प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक, नाम।

इस वर्णन का प्रारम्भ करते हुए उपनिषद् का वाक्य है—'स प्राणमसृजत। प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च।' उसने प्राण का सर्जन किया। यहां प्राण का स्रष्टा वही ईक्षिता है, जिसने यह ईक्षण किया कि इस शरीर में किसके उत्क्रान्त होने पर मैं उत्क्रान्त हुआ जाना जाऊंगा, और किसके प्रतिष्ठित होने पर प्रतिष्ठित। निश्चित है, कि यह ईक्षिता आत्मा [जीव] है। इसलिये यहां प्राण का सर्जन ऐसा निर्माण नहीं है, जैसा कुलाल घट का निर्माण करता है। इसका केवल इतना तात्पर्य है, कि देह में आत्मा के रहने पर प्राण का प्रादुर्भाव संभव है; इसीको आत्मा के द्वारा प्राण की सृष्टि कहा गया है। देह की प्राणयुक्त अवस्था में वह श्रद्धाभाव प्रादुर्भूत होता है, जिससे मानव अथवा प्राणी अपने कल्याणकारी कार्यों की ओर प्रवृत्त हुआ करता है। श्रद्धा अन्तःकरण का एक भाव है, प्रस्तुत प्रसंग में यह अन्तःकरण को उपलक्षित करती है। इसके अनन्तर 'मन' पर्यन्त जिन कलाओं का निर्देश है, वह सब आत्मा के उस आवेष्टन की ओर संकेत करती हैं, जिसका शास्त्रों में सूक्ष्मशरीर के नाम से उल्लेख है। देह में प्राणादि के रहने पर यह ज्ञात होता है, कि आत्मा देह में प्रतिष्ठित है, प्राण आदि के न रहने पर देह से आत्मा की उत्क्रान्ति का बोध होजाता है। अगली 'अन्न' आदि कला पूर्वोक्त कलाओं की पुष्टि, आत्मा का कर्मानुष्ठान, उसके फलों की प्राप्ति आदि का निर्देश करती हैं। अन्न समस्त पूर्वोक्त देह एवं इन्द्रियादि करणों को पुष्ट करता है, उससे वीर्य, शक्ति का आधान होता है, जिससे प्रत्येक कार्य में प्रवृत्त होने का साहस बना रहता है। इससे 'तप' अर्थात् अन्तःकरण आदि की शुद्धि के लिये व्रत नियम आदि का अनुष्ठान तथा 'मन्त्र' वेदादि का अध्ययनाध्यापन एवं 'कर्म' अग्निहोत्रादि वर्णाश्रम धर्मों का पालन यथावत् संभव होपाता है। उन कर्मों के फलोपभोग के लिये लोक-लोकान्तरों की प्राप्ति होती है, एक देह को छोड़कर आत्मा [जीव] देहान्तरों में जाया करता है, तब पुनः वह पुरुष देवदत्त यज्ञदत्त आदि 'नाम' से व्यवहृत होता है। इसप्रकार पुरुषसम्बन्धी षोडश कलाओं द्वारा पुरुष का देह में प्रतिष्ठित होना और एक देह का परित्याग कर देहान्तर में उत्क्रान्त होकर वहां पुनः उसीप्रकार प्रतिष्ठित हो जीवनयात्रा चालू रखना स्पष्ट किया गया है। यह प्रसंग परिणामरूप में इस मान्यता को सिद्ध करता है, कि आत्मतत्त्व कलारूप में कहे गये प्राण आदि से भिन्न है, प्राण आदि को आत्मा समझना भ्रान्ति होगा, ये केवल देह में आत्मा के अस्तित्व के साधन हैं, आत्मज्ञान के लिये इनका

उपयोग है। उसी आत्मतत्त्व को जानने का प्रयत्न करना चाहिये।

इस प्रसंग में आशंका की जासकती है, कि प्रश्न उपनिषद् के प्रारम्भ में छह जिज्ञासुओं द्वारा पिप्पलाद ऋषि के पास आकर ब्रह्मज्ञान के लिये इच्छा प्रकट की गई है। जिज्ञासु ऋषियों के लिये वहां 'ब्रह्मपराः, ब्रह्मनिष्ठाः, परं ब्रह्मान्वेषमाणाः' आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। इससे स्पष्ट होता है, कि उपनिषद् में ब्रह्मविषयक प्रतिपादन होना चाहिये, पर यहां आत्मविषयक प्रतिपादन में उपनिषद् का निगमन कर दिया है, इसप्रकार उपक्रम और उपसंहार का सामञ्जस्य नहीं रहता। इसलिये यह उपयुक्त प्रतीत होता है, कि यहां किसी भी तरह ब्रह्म का प्रतिपादन होना माना जाना चाहिये; जैसाकि आचार्य शंकर आदि ने खींचतानकर इस प्रसंग में उसको प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

यह आशंका आपाततः युक्त प्रतीत होती है, पर गम्भीरतापूर्वक पूर्वापर का विचार करने पर उसकी असारता स्पष्ट होजाती है। यहां षोडशकल पुरुष के विषय में प्रश्न है, कि वह पुरुष कहां है ? ऋषि का उत्तर है—इसी देह के अन्दर वह पुरुष है, उसके यहां रहते ही षोडश कलाओं का प्रादुर्भाव होता है। इस स्थिति के स्पष्ट विवरण के लिये उपनिषत्कार विषय का प्रारम्भ करता है, कि उस आत्मा ने ईक्षण किया—कि मैं किसके उत्क्रान्त होने पर उत्क्रान्त होऊंगा, और किसके प्रतिष्ठित होने पर प्रतिष्ठित। आगे सोलह कलाओं का इसी आधार पर वर्णन है, जैसा ऊपर दिया गया है। देह से उत्क्रान्ति ब्रह्म में सम्भव नहीं, इसलिये यह वर्णन ब्रह्मविषयक नहीं होसकता। तब क्या उपनिषत्कार को यह असामञ्जस्य प्रतीत नहीं हुआ, कि ब्रह्मजिज्ञासा का उपक्रम किया और आत्मविषयक स्थिति का निश्चय कर उपसंहार कर दिया। वस्तुतः इसमें असामञ्जस्य कुछ नहीं है। छह ऋषियों के जो विशेषण प्रारम्भ में दिये गये हैं, उनसे उनकी ब्रह्मविषयक जिज्ञासा प्रकट होती है। ब्रह्म कोई ऐसा तत्त्व नहीं, जिसको पकड़ कर सामने प्रस्तुत कर दिया जाय। ब्रह्मजिज्ञासा के वास्तविक समाधान के लिये कुछ विधि हैं, कुछ उपाय हैं। उन विधियों एवं उपायों द्वारा ही कोई जिज्ञासु ब्रह्मज्ञान तक पहुंच पाता है। उनमें सर्वोत्तम उपाय है, प्रथम अपने आपको जानना, जिज्ञासु व्यक्ति को आत्मा का साक्षात्कार करना। आत्मा का साक्षात्कार होने पर ब्रह्मज्ञान अनायास होजाता है। आत्मज्ञान के लिये प्रथम उपनिषद् तथा अन्य अध्यात्म-शास्त्रों में बहुत बल दिया गया है। आत्मा चित्स्वरूप है, इसका साक्षात्कार होने पर चित्स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार अनायास ऐसे होजाता है, जैसे एक दीप के प्रज्वलित कर लेने पर अन्य दीप सरलता से प्रज्वलित कर लिये जाते हैं। तब सजातीय ब्रह्म के ज्ञान में कोई बाधा नहीं रहती।

प्रस्तुत प्रसंग में ऋषि ने इसीरूप में प्रकरण का उपसंहार किया है। वह आत्मा षोडशकल उपर्युक्त आधार पर कहा जाता है, पर वे कला आत्मा का स्वरूप नहीं

हैं, आत्मा स्वरूप से अकल व अमृत है, कला मरणधर्मा हैं, उत्पादविनाशशील हैं। उस पुरुष [आत्मा] को जा ने का यत्न करना चाहिये, उसे जानकर फिर कोई व्यथा नहीं रहती, ब्रह्मज्ञान का यही मार्ग है। इस विषय में मैं इतना ही जानता हूं। फलतः ईक्षण का यह प्रसंग आत्मा के साजात्य से ब्रह्म के चित्स्वरूप का बोधक है, यहां 'ईक्षति' का प्रयोग गौण नहीं, और न उपनिषद् के उपक्रम व उपसंहार में कोई असामञ्जस्य है।

'ईक्षति' के प्रयोग का एक प्रसंग छान्दोग्य के छठे अध्याय के प्रारम्भ में है। इस अध्याय के द्वितीय खण्ड के विषय में उपपादन कर दिया गया है, कि यहां इस क्रिया का प्रयोग गौणरूप में हुआ है, क्योंकि यह अचित्स्वरूप प्रकृति में ईक्षण का निर्देश है। उपनिषत्कार ने प्रकृतिमुख से जगत्सर्ग का निर्देश किया है, यह किसी विषय के वर्णन का एक प्रकार है। ऐसे प्रयोग से प्रकृति के चित्स्वरूप होने की आशंका करना सर्वथा निराधार होगा। कारण यह है, कि अचित्स्वरूप जगत् का उपादान चित्स्वरूप होना संभव नहीं। यह बात उस समय स्पष्ट होजाती है, जब द्वितीय खण्ड के ईक्षति-प्रयोग के स्वरूप में अन्य उन सब स्थलों के ईक्षति-प्रयोग के स्वरूप से एक विशेषता देखी जाती है, जो उपनिषदों में उपलब्ध हैं। ऐतरेय [२।१] और प्रश्न [६।३-४] उपनिषद् में ईक्षिता सृष्टि के कर्त्तारूप में निर्दिष्ट किया गया है, वहां 'असृजत' क्रियापद से अर्थ का निर्देश है, जिससे स्पष्ट होता है, कि वह ईक्षिता सर्जन का कर्त्ता है। परन्तु छान्दोग्य के छठे अध्याय के द्वितीय खण्ड ऐसा प्रयोग नहीं है, वहां ईक्षिता के स्वयं बहुभवन का निर्देश है, ऐसा निर्देश समस्त उपनिषदों में अन्यत्र कहीं नहीं है। इसीके आगे तृतीय खण्ड में भी अन्य उपनिषदों के समान प्रयोग है, द्वितीय खण्ड के समान नहीं।

वहां सन्दर्भ है—'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि इति।' उस [ब्रह्मरूप] देवता ने ईक्षण किया, मैं इन तीन देवताओं [तेज-अप्-अन्न से उपलक्षित रजस्-सत्त्व-तमस्] को इस जीवरूप आत्मा के प्रवेश के द्वारा अनुप्रविष्ट हुआ नाम-रूप से विस्तृत करूं। इस सन्दर्भ से स्पष्ट है, जो विस्तार करने वाली देवता है, वह अतिरिक्त है, और जिन तीन देवताओं का विस्तार किया जाता है, वे प्रथम देवता से भिन्न हैं। इससे यह भी स्पष्ट है, कि जीवात्मतत्त्व इन दोनों से अतिरिक्त हैं, इसीकारण 'अनेन जीवेनात्मना' यह प्रयोग संगत होसकता है। द्वितीय खण्ड में जड़सृष्टि का संकेत कर यहां तीन देवताओं के त्रिवृत्करण के साथ प्राणिसृष्टि का निर्देश है। उन तीन देवताओं के विस्तार उनके त्रिवृत्करण [अन्योन्यमिथुनवृत्तिता] द्वारा होता है, जिसका विवरण उपनिषद् के अगले भाग में दिया गया है। इस प्रसंग में ईक्षिता को विस्तार करने वाला कहा गया है, उसका स्वयं विस्तृत होना नहीं कहा गया। क्रियापदों के प्रयोग की इस विशेषता से यह स्पष्ट होता है, कि द्वितीय खण्ड में जो अर्थ प्रस्तुत किया गया है, वह ब्रह्मविषयक नहीं है। इसलिये वहां 'ईक्षति' का प्रयोग भले ही गौण हो; उसके आधार पर ब्रह्म के

चित्स्वरूप होने में कोई आशंका उपस्थित नहीं की जासकती।

इस प्रसंग में उपनिषद् के व्याख्याकारों ने द्वितीय खण्ड में कहे गये 'सत्' का तृतीय खण्ड के 'देवता' पद से जो सम्बन्ध जोड़ा है, वही यथार्थता को समझने में बाधक हुआ है। यदि द्वितीय खण्ड में 'सत्' पद का अभिप्राय 'ब्रह्म' से है, और वह तेज-अप्-अन्न के रूप में स्वयं बहुरूप होगया, जैसाकि अन्य व्याख्याकारों ने उस खण्ड की व्याख्या में स्वीकार किया है; तब वही सद्रूप अधिष्ठाता व कर्त्ता ब्रह्म तृतीय खण्ड के 'सेयं देवता' पद से कैसे परामर्श किया जासकता है, क्योंकि वह 'सत्' तो तेज आदि में परिणत होकर बहुरूप होगया है। इससे निश्चित है, कि ब्रह्म और जो तत्त्व तेज आदि में परिणत होकर बहुरूप हुआ है, वे दोनों एक नहीं होसकते। इसलिये न तो द्वितीय खण्ड के 'सत्' पद का प्रयोग ब्रह्म के लिये हुआ है, और न उसका तृतीय खण्ड के 'सेयं देवता' पद से परामर्श संभव है। वस्तुतः यहां परामर्श किसीका नहीं, स्वतन्त्ररूप से इन पदों द्वारा उस महती देवता का कथन है, जो अदृश्य अव्यवहार्य रहती हुई, इस विश्व का निर्माण करती है, 'सेयं' पद उसी भाव को प्रकट करते हैं, द्वितीय खण्ड के 'सत्' का परामर्श नहीं।

इसकी स्पष्टता के लिये यह समझना चाहिये, कि द्वितीय खण्ड के अन्य व्याख्याकारों के अनुसार जब 'सत्' तेज आदि में बहुरूप होगया, तो तृतीय खण्ड में पुनः तेज आदि के त्रिवृत्करण का कथन किस प्रयोजन के लिये हुआ है ? जब तेज आदि की रचना होगई, तब उनके त्रिवृत्करण का क्या अर्थ ? आचार्य शंकर आदि ने पहली अवस्था [द्वितीय खण्ड में वर्णित] को नामरूप से अव्याकृत कहा है, पर ऐसा कथन अपने कहे का व्याघात है। जब तेज आदि नामरूप से वह बहुरूप अवस्था है, तब उसे अव्याकृत कैसे माना जासकता है ? फिर द्वितीयखण्डवर्णित तेज-अप्-अन्न का व्याकृत तेज-अप्-अन्न से क्या अन्तर है, इसका प्रतिपादन अथवा स्पष्टीकरण आचार्य ने कहीं नहीं किया। केवल अव्याकृत तथा व्याकृत पदमात्र का प्रयोग करने से उनके स्वरूप का स्पष्टीकरण नहीं होपाता, जबकि वे दोनों अवस्थाओं में तेज-अप्-अन्न हैं।

एक बात और ध्यान देने की है, तृतीय खण्ड के आगे जहां तीन मूल उपादान-तत्त्वों के त्रिवृत्करण का विवरण दिया गया है, वहां उनके समस्त विकारों को परिणामी व नश्वर बताते हुए उन तीन मूलतत्त्वों को सत्य कहा है—'त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्'। क्या आचार्य शंकर उस रूप में तेज-अप्-अन्न को—चाहे वे अव्याकृत ही हों—'सत्य' मान सकेंगे ? मानने पर एकमात्र ब्रह्म की सत्यता का मन्तव्य धूलिसात् हो-जायगा। वस्तुतः इस प्रसंग का तात्पर्य व सामञ्जस्य उस व्याख्या के साथ संभव है, जिसका उद्भावन हमने किया है। उसके अनुसार तेज-अप्-अन्न से उपनिषत्कार का अभिप्राय रजस्-सत्त्व-तमस् से है। उन्हींके त्रिवृत्करणद्वारा जगन्निर्माण [जंगम स्थावर, जड़ व प्राणिजगत् के निर्माण] का वर्णन है। उसमें कार्य को परिणामी व नश्वर

कहकर तीन मूल उपादानतत्त्वों को 'सत्य' कहा है। आचार्य शंकर को अपनी मान्यताओं के अनुसार उपनिषद् का यह प्रतिपादन सह्य न था, उन्होंने मूल के आशय को बदल दिया, और मूलतत्त्वों के त्रिवृत्करण को भुठलाकर उसका सहारा ले एक सर्वथा अवैज्ञानिक एवं निराधार अप्रासंगिक पञ्चीकरण के सिद्धान्त को खड़ा कर दिया।

इस सब विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि उपनिषदों के सृष्टि-प्रकरणों में स्रष्टा के लिये 'ईक्षति' का जो प्रयोग हुआ है, वह स्रष्टा ब्रह्म के चित्स्वरूप का साधक है। इससे उन वादियों की मान्यताओं का प्रत्याख्यान होजाता है, जो जगत् के कारणों में चेतन की अपेक्षा नहीं समझते। इससे यह भी स्पष्ट होजाता है, कि जगन्निर्माण में चेतन ब्रह्म केवल स्रष्टा नियन्ता व अधिष्ठाता है, वह स्वयं जगत् के रूप में परिणत नहीं होता; क्योंकि ऐसी अवस्था में उसका चित्स्वरूप नष्ट होजाता है, शास्त्र को चेतन का परिणाम अभिमत नहीं है।

यह विचार स्पष्ट किया गया है, कि छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय के द्वितीय खण्ड में 'सत्' पद का प्रयोग ब्रह्म के लिये नहीं है। इसका यह अभिप्राय कदापि न समझना चाहिये, कि अन्यत्र भी इस पद का प्रयोग ब्रह्म के लिये न होगा। कहाँ पर किस पद का प्रयोग किस अर्थ को प्रकट करने के लिये किया गया है, इसका निश्चय पूर्वापर प्रसंग तथा उस वर्णन की विशेषता पर अवलम्बित रहता है। अन्य अनेक स्थलों में 'सत्' पद का प्रयोग ब्रह्म के लिये होना संभव है ॥६॥

ब्रह्म के चित्स्वरूप होने में सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥७॥

[तन्निष्ठस्य-तत्-निष्ठस्य] ब्रह्मनिष्ठ के [मोक्षोपदेशात्] मोक्ष उपदेश से (ब्रह्म का चित्स्वरूप होना सिद्ध होता है)। ब्रह्म में निष्ठा-पूर्ण आस्था वाले आत्मज्ञानी का मोक्ष होता है, ऐसा उपदेश शास्त्र में होने से निश्चित होता है, ब्रह्म चित्स्वरूप है।

'निष्ठा' पद का अर्थ है—स्थिति, आस्था, सर्वात्मना समर्पण। जो आत्मजिज्ञासु व्यक्ति इसप्रकार ब्रह्म में अपनी भावना रखते हैं, वे पूर्ण आत्मज्ञानी होकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं, ऐसा उपदेश शास्त्रों में देखा जाता है। ब्रह्म में निष्ठा एवं उसे जाने विना मोक्षपद प्राप्त नहीं होता। वेद में बताया—'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' [यजु० ३१।१८] उस ब्रह्मपुरुष को जानकर ही व्यक्ति जन्म-मरण के बन्धन को पार करता है, मोक्ष के लिये अन्य मार्ग नहीं है। इसीप्रकार अथर्ववेद में कहा है—'तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्' [१०।८।४४]। जो उसको जान लेता है, उसे मृत्यु भय नहीं रहता, वह ब्रह्म सर्वव्यापक अजर अमर एवं सर्वशक्तिमान् है।

आत्मा [जीवात्मा] चेतनतत्त्व है, यह अपने कर्मानुसार देहबन्धन में आता,

सुख-दुःख भोगता, जन्म-मरण के अनिश आवर्त्तमान प्रवाह में बहता रहता है। इसे क्लेश समझ जब उसे वैराग्य की भावना होती है, तब वह जन्म-मरण के क्लेशावह प्रवाह से बचने का संकल्प करता है, और उसके मार्ग को खोजने लगता है। शास्त्र उस मार्ग को बतलाता है, वह मार्ग है—जगत्स्रष्टा परमात्मा में आस्था। चेतन जीवात्मा जड़ में आस्था रखकर कभी अपने आपको दुःख से छुटकारा नहीं दिला सकता। जड़तत्त्व को अनृत परिणामी अन्धकाररूप कहा गया है। चेतन अपरिणामी प्रकाशरूप माना जाता है। चेतन जीवात्मा की निष्ठा ब्रह्म में होने पर जो शास्त्र ने मोक्ष का उपदेश किया है, उससे यह स्पष्ट होता , कि वह ब्रह्म सर्वोत्कृष्ट चेतनसत्ता होनी चाहिये। कठोपनिषद् में इस भाव को स्पष्ट किया है—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥

[५।१३]

नित्यों का नित्य चेतनों का चेतन एक ब्रह्म जो अनेकों [जीवात्माओं] की कामनाओं को जगदुत्पत्ति द्वारा सम्पन्न करता है, उस आत्मस्थ ब्रह्म को जो धीर देखपाते हैं, उन्हीं को शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है, अन्यों को नहीं। यहां आत्मस्थ ब्रह्म को चेतनों का चेतन अर्थात् उत्कृष्ट व श्रेष्ठ चेतन बताते हुए उसके ज्ञान से मोक्षप्राप्ति का वर्णन किया है। यद्यपि ब्रह्म के व्यापक होने से आत्मा सदा उससे सम्बद्ध है, पर अज्ञान अथवा अविवेक उसके दर्शन में बाधक रहता है। वैराग्य विवेक एवं समाधिलाभ से जब आत्मा का साक्षात्कार होता है, तभी आत्मस्थ ब्रह्म का वह आत्मा दर्शन करपाता है, यही अवस्था है, जब आत्मा ब्रह्मज्ञान होने से ब्रह्मानन्द का अनुभव करता हुआ मुक्त कहा जाता है। आत्मा चेतनतत्त्व है, वह उत्कृष्ट चेतन को पाकर ही मोक्ष पाता है। इससे ब्रह्म का चित्स्वरूप होना सिद्ध होता है। प्रस्तुत उपनिषद् वाक्य में ब्रह्म को स्पष्ट चेतन कहा है।

छान्दोग्य के छठे अध्याय के आठवें खण्ड से अध्याय की समाप्ति तक 'तत्त्वमसि' का उपदेश है। उद्दालक ऋषि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को इस प्रसंग में आत्मतत्त्व समझाने का प्रयत्न किया है। आचार्य शंकर ने इसी प्रसंग को प्रस्तुत सूत्र का विषय माना है। आचार्य ने पूर्वपक्ष उठाया, 'आत्मा' पद का प्रयोग अचेतन में भी होता है, इसलिये 'आत्मा' शब्द से सृष्टिप्रकरणों में 'ईक्षति' के प्रयोग को अगौण क्यों मानाजाय, इसका उत्तर देता है सूत्रकार—'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्'। 'स आत्मा' इन पदों से प्रकरणागत 'सत् अणिमा' को लक्ष्य कर 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इस रूप में चेतन श्वेतकेतु को—जो मोक्ष प्राप्त करना चाहता है—'सत्' में निष्ठा का उपदेश कर मोक्ष का कथन किया है। यदि इस प्रसंग में 'सत्' का अर्थ अचेतन प्रधान है, तो मुमुक्षु श्वेतकेतु को चेतन होते हुए—तू अचेतन है—ऐसा विपरीत कथन शास्त्र कैसे करेगा? तब वह अप्रमाण होजायगा।

ऐसी व्याख्या कर आचार्य ने यहां प्रधानवाद का खण्डन किया है। इस विषय में यहां और कुछ न कहकर केवल इसपर विचार करना अपेक्षित है, कि सामने जो श्वेतकेतु बैठा है, वहां चेतन क्या है? क्या वह शरीर चेतन है, अथवा उसमें अवस्थित आत्मा? निश्चित है, कि देहादि को कोई विचारशील चेतन न कहेगा, फलतः देहादि से अतिरिक्त उसमें निवास करने वाला एक अन्य तत्त्व है जो चेतन है, वही आत्मा है, ऐसा स्वीकार करना होगा। अब उपनिषद् के आठवें खण्ड पर विचार कीजिये। उद्दालक श्वेतकेतु को कहता है, कि यह जो देहरूप अंकुर [शुङ्ग] है, यह उत्पन्न हुआ है, इसका काई मूल अवश्य है। उपनिषद् में यहां 'शुंग' पद उत्पन्न होने वाले शरीर को लक्ष्य कर कहा है, चेतन आत्मा को नहीं। आगे इसी प्रकरण में शरीर के कारण की खोज करते हुए कार्यमात्र [जड़ जगत्] का कारण 'सत्' को बताया है। आगे आचार्य के अनुसार 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं' इन पदों के आधार पर जो कुछ यह जगत् दीखरहा है सब आत्मरूप ही है, ऐसा मानकर श्वेतकेतु को कहा—तू वही है [तत्त्वमसि]। ऐसे व्याख्यान में देह को सन्मूल कहकर और सब जड़ जगत् को सद्रूप बताकर, तथा उसीको श्वेतकेतु का आत्मा बताने से श्वेतकेतु को जड़रूप बताना, भाव प्रकट होता है। आचार्य ने कथनमात्र से जिस बात को हटाना चाहा, अपने प्रतिपादन से उसे प्रस्तुत कर दिया। यह बात बराबर याद रखने की है, कि यदि देह का मूल 'सत्' है, तो वह जड़ ही होगा, चेतन नहीं।

इस प्रकरण में 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं' ये पद विचारणीय हैं। इनके वास्तविक अर्थ तक न पहुंचने के कारण श्वेतकेतु को जड़रूप आत्मा बताया जारहा है, जो कदापि आत्मा नहीं है। इस पद का निर्वचन किया जाता है—'एष चासौ आत्मा इति एतदात्म, तदेव ऐतदात्म्यम्' इसके अनुसार 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं' का अर्थ किया जाता है—यह सब जगत् यह आत्मा ही है। निश्चित है, कि जगत् जड़ है, उसको आत्मा का रूप कहना अथवा उसके द्वारा आत्मा को उसके समान समझना, और श्वेतकेतु को वही आत्मा बताना, यह स्पष्ट करता है, कि उसे जगत् के समान जड़रूप आत्मा बताया जारहा है। आत्मा और जड़रूप होना यह परस्पर विरुद्ध हैं। यदि शास्त्र इस रूप में आत्मा का उपदेश करता है, तो वह अनर्थ के लिये ही होगा, यथार्थ को बताने वाला शास्त्र अपने पद से भ्रष्ट होजायगा। इस स्थिति को देखते हुए विचार होता है, कि 'ऐतदात्म्यं' पद का जो अर्थ समझा जाता है, उसमें कहीं न्यूनता है, व्यतिक्रम है।

इस पद के पूर्वोक्त निर्वचन की उपेक्षा कर यदि यह निर्वचन किया जाय, कि—'एतस्मै आत्मने इति एतदात्म, तदेव ऐतदात्म्यम्' तो समस्या का समाधान सरलतापूर्वक होजाता है। 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं' में 'इदं सर्वं' पदों से जिस वस्तुतत्त्व का निर्देश किया जारहा है, उसका विशेषण है—'ऐतदात्म्यं' पद। इनका अर्थ होगा—यह सब जगत् आत्मा के लिये है, जगत् का प्रयोजन ही यह है, कि वह आत्मा के लिये भोगापवर्ग को सिद्ध करे। संसार इसी प्रयोजन के लिये अस्तित्व में आता है, इसको

सब शास्त्रकार स्वीकार करते हैं। उपनिषद् में इन पदों के आगे पद हैं—'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'। पहले पदों के साथ मिलाकर इस सबका अर्थ होगा—यह सब जगत् आत्मा के लिये है, वह सत्य है; वह आत्मा है, जिसके लिये यह जगत् है, हे श्वेतकेतु ! तुम वही आत्मा हो। इस देह आदि के सौन्दर्य, दृढ़ता व साधारण जानकारी पर अभिमान करना व्यर्थ है। उपनिषद् के इस प्रसंग में अनेक विधियों से उस सूक्ष्म आत्मा को समझाने का प्रयत्न किया है, जो इस देह में चित्स्वरूप से अवस्थित है, तथा देहादि प्राकृतिक पदार्थों से सर्वथा अतिरिक्त तत्त्व है।

आत्मज्ञान मोक्ष का साधन है, आत्मा के स्वरूप व स्थिति को समझाने का प्रयास उपनिषद् के इस भाग में उद्दालक-श्वेतकेतु के संवादरूप से प्रस्तुत किया गया है। आत्मज्ञान होने पर ब्रह्मज्ञान अनायास सम्पन्न होजाता है। आत्मज्ञान की स्थिति तक पहुंचने के लिये ब्रह्म में सर्वात्मना आस्था अपेक्षित रहती है। चेतन आत्मा की ब्रह्मनिष्ठता से शास्त्र में मोक्ष का उपदेश ब्रह्म की चित्स्वरूपता को स्पष्ट करता है ॥७॥

ब्रह्म चित्स्वरूप है, इसकी पुष्टि के लिये सूत्रकार छान्दोग्य के उक्त प्रसंग के आधार पर अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

हेयत्वावचनाच्च ॥८॥

[हेयत्वावचनात्] हेयत्व के अकथन से [च] और। इस प्रकरण में आत्मतत्त्व को हेय-परित्याज्य नहीं कहा गया है, जड़रूप में विद्यमान समस्त जगत् को हेय बताकर उससे अतिरिक्त आत्मतत्त्व का निर्देश है। इससे हेय जगत् से भिन्न ब्रह्म का चित्स्वरूप होना स्पष्ट होता है। तथा उपक्रम वाक्यों के साथ सामञ्जस्य से भी इस अर्थ की पुष्टि होती है।

छान्दोग्य के छठे अध्याय के आठवें खण्ड से अध्याय की समाप्ति तक विभिन्न उदाहरणों द्वारा आत्मतत्त्व को समझाने का प्रयत्न किया गया है। उन उदाहरणों में स्थूल से सूक्ष्मपर्यन्त अवस्था का निर्देश कर आत्मतत्त्व को उससे भी सूक्ष्म कहा है। उन सभी प्रसंगों के अन्त में वाक्य है—'स य एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो' वह आत्मतत्त्व अति अणु है सूक्ष्म है, उस आत्मतत्त्व के लिये ही यह सब जगत् है, जगत् हेय है परिणामी है, पर वह सत्य है वह आत्मा है। जगत् आत्मा नहीं है, आत्मा व ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये इस प्रसंग में देहादि समस्त जगत् को—जो सर्वथा जड़तत्त्व है—भिन्न पक्ष में रखकर उससे अतिरिक्त तत्त्व को आत्मा बताया गया है, जो चेतनतत्त्व है। श्वेतकेतु को सम्बोधन कर कहा गया है—तुम वही आत्मा हो। उस आत्मा को जानने पर मोक्षप्राप्ति का कथन है। मोक्ष का स्वरूप है—जगत् के बन्धन से अलग होकर ब्रह्म को प्राप्त होना। यद्यपि आत्मा सदा ब्रह्म को प्राप्त है, पर अज्ञान [आत्मा का साक्षात् ज्ञान न होना] इसको उस स्थिति से

अलग रखता है, वह बन्ध की स्थिति है, आत्मज्ञान इस अवस्था को दूर कर देता है, यह मोक्षप्राप्ति का मुख्य आधार है। क्योंकि मोक्ष जीवात्मा द्वारा ब्रह्मानन्द का अनुभव करना है, जो उसको चेतन माने विना सम्भव नहीं; अतः चेतन आत्मा की यह अवस्था ब्रह्म के चित्स्वरूप को स्पष्ट करती है। आत्मज्ञान के मार्ग में जिस स्थूल-सूक्ष्म जड़ जगत् को त्याज्य बताकर उससे भिन्न चेतनतत्त्व को आत्मा बताया है, वहां ब्रह्म को जड़ के समान हेयपक्ष में न रक्खे जाने से वह चित्स्वरूप सिद्ध होता है।

इस प्रसंग में आत्मा के स्वरूप को समझाने के लिये जो उदाहरण दिये गये हैं, और जिस विधि से उनके द्वारा आत्मतत्त्व को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, उस पर ध्यान देना आवश्यक है। उद्दालक आरुणि ने सर्वप्रथम अपने पुत्र श्वेतकेतु को सुषुप्ति के विषय में बताया। जाग्रत अवस्था में सब देह इन्द्रियां आदि कार्यरत रहने से थक जाते हैं, थकावट को दूर करने के लिये जब ये अपने व्यापार को छोड़ देते हैं, मन भी विश्राम करता है, कभी न थकनेवाला एकमात्र प्राण उस अवस्था में जागता रहता है, जो देह में आत्मतत्त्व की विद्यमानता का मुख्य चिह्न है, वह अवस्था सुषुप्ति है। उस समय आत्मा स्वरूप में अवस्थित रहता है, उसकी सत्तामात्र से प्राण संचालित रहते हैं। यह स्थिति देहादि से अतिरिक्त आत्मतत्त्व का बोध कराती है।

देहादि सब पदार्थ परिणामी हैं। प्राणी को भूख प्यास लगती है, वह खाता पीता है, उसके रसादि परिणाम होकर देह इन्द्रिय आदि की पुष्टि होती है। निश्चित है, कि देहादि पदार्थ विकारी हैं, इनके मूलउपादान को खोजना चाहिये। उपनिषद् में कार्यकारण परम्परा का विचार करते हुए सबका मूलकारण 'सत्' नामक तत्त्व को बताया। वह 'सत्' मूलरूप में 'त्रिविध' है, पुरुष [चेतनतत्त्व] को प्राप्त होकर अर्थात् चेतनतत्त्व के सम्पर्क में वह मूलभूत प्रत्येक विधा एक-दूसरे में मिथुनीभूत होजाती है, तभी सर्ग का प्रारम्भ होता है। स्थूल देहादि से लेकर कारण की उस सद्रूप मूल अवस्था तक पहुंच जाने पर भी 'आत्मा' उस सीमा में नहीं आता। स्थूल से सूक्ष्म तक जितना सद्रूप जड़तत्त्व है, वह सब आत्मा के लिये है; आत्मा के भोग-अपवर्गरूप प्रयोजन को सिद्ध करता है। उससे भी कहीं सूक्ष्म है—आत्मतत्त्व। देहादि सब विकारी हैं, वह अविकारी है, सत्य है। वह आत्मा है। हे श्वेतकेतु! तुम वही आत्मा हो। यह देहादि और उनके मूलतत्त्व तक सब पदार्थ आत्मतत्त्व से भिन्न कोटि में हैं। आत्मरूप से वे सब हेय हैं त्याज्य हैं। वे आत्मा का रूप नहीं हैं।

मधुमक्खियां विविध पुष्परसों का सञ्चय करती हैं। मधु के रूप में आने पर उन विभिन्न पुष्परसों का विवेचन नहां होपाता। इसीप्रकार विविध देहादि कार्य जब **सद्रूप मूलकारण में** लीन होजाते हैं, तब देहादिरूप में इनका विवेक नहीं रहता, पर कार्यरूप से परिणत होने की अवस्था में पुनः उसीप्रकार मानव पशु पक्षी कृमि कीट सिंह व्याघ्र वराह आदि विभिन्न देह आदि के रूप में प्रकट होते रहते हैं। आत्मा इस

प्रणाली से सर्वथा अलग है। यह सब जगत् की कार्य-कारण परम्परा आत्म-प्रयोजन को सम्पन्न करने के लिये है, यह स्वयं आत्मा का रूप नहीं है। आत्मा इनसे भिन्न है; हे श्वेतकेतु ! तुम वही आत्मा हो।

किसी वृक्ष को तना शाखा या टहनी से काटा जाय, तो उसमें से रस प्रस्रवित होने लगता है। वह उस अवस्था में जीवात्मा से सम्पन्न हुआ, भूमि एवं वातावरण से रसों का आदान करता हुआ, प्रसन्नता के साथ लहराता खड़ा रहता है। जब जीवात्मा इसकी किसी एक शाखा को छोड़ देता है, वह सूख जाती है। जब दूसरी व तीसरी शाखा को छोड़ता है, वह भी सूख जाती है। यदि समस्त वृक्ष को छोड़ देता है, वह सारा वृक्ष सूख जाता है। यही अवस्था प्रत्येक मानव आदि देह की है। जीव से रहित होने पर यह देह मरजाता है; कार्यक्षम नहीं रहता, पर जीवात्मा कभी मरता नहीं, वह देहादि जड़तत्त्वों से सर्वथा पृथक् है, अतिसूक्ष्म है। यह समस्त जड़जगत् उस आत्मा के भोगापवर्गरूप प्रयोजन को सम्पन्न करने के लिये है। वह सत्य है वह आत्मा है, हे श्वेतकेतु ! तुम वही आत्मा हो। जिन देहादि का तुम्हें इतना गर्व है, ये सब नश्वर हैं, ये आत्मा का रूप नहीं हैं।

पीपल बड़ या गूलर के एक फल में सैकड़ों छोटे-छोटे बीज होते हैं। प्रत्येक बीज में उन विशाल वृक्षों के उत्पन्न होने का सामर्थ्य निहित रहता है। वह अदृश्य होने पर भी मानना पड़ता है, प्रत्येक व्यक्ति उस बीज से विशाल वृक्ष को उत्पन्न हुए जानता है। प्रत्यक्ष दीखता हुआ नमक का डला पानी में घुल जाने पर वैसा नहीं दिखाई देता, पर जल के प्रत्येक अंश के साथ वह विद्यमान रहता है। इसीप्रकार देहादि में रहता हुआ अदृश्य आत्मा देहादि के प्रत्येक कार्यकलाप का अधिष्ठाता है; देह के प्रत्येक अंश से देह में उसके अस्तित्व का बोध होता है, जब वह विद्यमान रहता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट किया गया, कि आत्मा देहादि पदार्थों से सर्वथा अतिरिक्त तत्त्व है। यद्यपि वह अदृश्य है अतिसूक्ष्म है, पर उसकी सत्ता का भान होता है। ये समस्त देहादि जड़ पदार्थ उसी आत्मा के लिये हैं, हे श्वेतकेतु ! तुम वही आत्मा हो।

एक मार्ग भूला हुआ बुद्धिमान् व्यक्ति किसी आप्त पुरुष के द्वारा बतलाये जाने पर धीरे-धीरे अपने लक्ष्यस्थान पर पहुंच जाता है। ऐसे ही आप्त उपदेष्टा के मिल जाने पर मेधावी आत्मजिज्ञासु आत्मा को जान लेता है। वह उस समय तक देहादि बन्धन में रहता है, जबतक आत्मज्ञान होकर मोक्ष न होजाये। मृत्युशय्या पर पड़े व्यक्ति का बन्धुबान्धव चारों ओर से घेरकर उसकी संज्ञा की जांच के लिये उससे पूछते हैं; मुझे पहचानते हो, मुझे जानते हो, इत्यादि। जब तक उस आत्मा का इन्द्रियादि से सम्बन्ध बना रहता है, तबतक वह सबको जानता पहचानता रहता है। पर आत्मा जब देह को छोड़ने लगता है, वाणी मन अपना कार्य बन्द कर देते हैं, प्राण भी रुद्ध होने लगता है, तब यह कुछ नहीं पहचान पाता। इन्द्रिय आदि के द्वारा जो आत्मा का बाह्य

से सम्बन्ध था, वह नहीं रहता, आत्मा देहादि को त्यागकर निकल जाता है। आत्मा अतिसूक्ष्म तत्त्व है, देहादि जड़ जगत् से सर्वथा अतिरिक्त। वह सत्य है अपरिणामी है। हे श्वेतकेतु ! तुम वही आत्मा हो।

नश्वर परिणामी जगत् में आसक्त हुआ व्यक्ति विविध प्रकार के द्वन्द्वों से संतप्त होता रहता है, पर जो सत्य आत्मा को जानलेता है, सांसारिक संताप उसपर कोई प्रभाव नहीं रखता। यह संसार तो उस आत्मा के भोगापवर्गरूप प्रयोजन को सम्पन्न करने के लिये है। संसार नश्वर परिणामी है, पर आत्मा सत्य है, उसमें कभी कोई विकार नहीं होता, इसीकारण वह चेतन है आत्मा का यह स्वरूप श्वेतकेतु ने समझा, और उस प्रतीक से प्रत्येक विचारशील व्यक्ति समझसकता है।

इन सब उदाहरणों के द्वारा अतिसूक्ष्म चेतन आत्मतत्त्व को समस्त स्थूल-सूक्ष्म प्राकृत पदार्थों से अतिरिक्त बताते हुए अनेक विधियों से उसके स्वरूप व स्थिति को समझाने का प्रयास किया गया है। आत्मस्वरूप की स्पष्टता के लिये अनात्मजगत् को उससे अतिरिक्त दिखाकर उसकी हेयता को विवृत किया है; परन्तु ब्रह्म की स्थिति आत्मा के अन्तिम ध्येय एवं परमलक्ष्य मोक्ष पद की प्राप्ति है। यदि ब्रह्म चेतन न हो, तो चेतन आत्मा के मोक्षात्मक परमलक्ष्य के रूप में शास्त्र उसका प्रतिपादन न करे। फलतः इस समस्त प्रसंग से हेयपक्ष में न कहे जाने के कारण ब्रह्म का चित्स्वरूप होना सिद्ध होता है।

सूत्र में 'च' पद प्रतिज्ञाविरोधरूप हेतु का समुच्चय करता है। छान्दोग्य के इस प्रसंग [अ० ६] के प्रारम्भ में चेतन आत्मतत्त्व व ब्रह्म के स्वरूप को बतलाने की प्रतिज्ञा की गई है। यदि वह अचेतन जगत् के रूप में हेयपक्ष में डाल दिया जाय, तो प्रतिज्ञा-विरोध होता है। चेतन आत्मा व ब्रह्म का स्वरूप बतलाने की प्रतिज्ञा करके उसका जड़ प्रकृति अथवा प्राकृत जगत् के रूप में वर्णन करना उसके स्वरूप को बतलाने के मार्ग से हट जाना है। इसलिये प्रतिज्ञाविरोध के भय से यह निश्चय होता है, कि ब्रह्म चित्स्वरूप है; प्रकृत्यादि के समान जड़ नहीं। इससे यह भी स्पष्ट होजाता है, कि यह जड़ जगत् चेतन ब्रह्म का परिणाम होना संभव नहीं ॥८॥

छान्दोग्य [६।८।१] में जीवात्मपुरुष को 'स्वपिति' नाम से कहा गया है। उसका निर्वचन किया गया है, कि वह सुषुप्ति अवस्था में अपने सद्रूप में स्थित रहता है, 'स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति।' 'अपि' उपसर्ग-पूर्वक 'इण्' धातु का अर्थ—लीन होना है; सुषुप्ति अवस्था में वह पुरुष अपने में 'अपीत' अर्थात् लीन होता है, इसकारण इसे 'स्वपिति' नाम से कहाजाता है। जाग्रत अवस्था में पुरुष का संपर्क इन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् से बराबर बना रहता है। स्वप्न अवस्था में भी आत्मा संस्कारों से प्रभावित रहता है। सुषुप्ति अवस्था में यह सब न रहने से

पुरुष को स्वरूप में अवस्थित कहाजाता है। जीवात्मपुरुष की इस अवस्था को मोक्ष की स्थिति के समान बताया गया है। उसमेंस मानता केवल इतनी है, कि वहां आत्मा का सम्बन्ध बाह्य एवं मानस सांस्कारिक जगत् के साथ नहीं रहता। मुक्त पुरुष केवल ब्रह्म में प्राप्त हुआ ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। जीवात्मपुरुष का चित्स्वरूप होना साधारणरूप से प्रत्येक व्यक्ति जानता " समझता है। सुषुप्तिदशा की आत्मस्थिति का मोक्ष के साथ समानता का प्रतिपादन इस बात को स्पष्ट करता है, कि चेतन आत्मा को वह आनन्दानुभूति जड़तत्त्व में होनी असंभव है, इसलिये उस आनन्द के स्वरूपभूत ब्रह्म का चित्स्वरूप होना आवश्यक है। इसी भाव को सूत्रकार ने अग्रिम सूत्र से स्पष्ट किया—

स्वाप्ययात् ।९।।

[स्वाप्ययात्—स्व-अप्ययात्] अपने में अप्यय-लय से, (स्पष्ट होता है, कि ब्रह्म चित्स्वरूप है)।

सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा को किसीप्रकार के वैषयिक सुख-दुःख आदि का अनुभव नहीं होता। जब गहरी नींद लेने के अनन्तर व्यक्ति जागता है, तब उसे यह अनुभव होता है, कि मैं सुखपूर्वक सोया, अच्छी नींद आई। उस अवस्था में क्लेश, राग, द्वेष, ईर्ष्या, असूया आदि भावों का उद्रेक न होने के कारण जागने पर ऐसी अनुभूति होती है। मोक्ष अवस्था में भी क्लेश, राग, द्वेष आदि भावनाओं का अस्तित्व नहीं रहता। इसके अतिरिक्त मुक्त पुरुष वहां ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है, जो आत्मा के लिये अतिशय अनुकूल स्थिति है। इन दोनों अवस्थाओं में उक्त साम्य होने पर भी एक बड़ा अन्तर यह है, कि सुषुप्ति अवस्था को 'तामस' माना गया है। कारण यह है, कि यहां क्लेश, द्वेष आदि का जो अभाव रहता है, वह अज्ञानमूलक होता है। आत्मा अपनी इस सदेह-बन्ध अवस्था में प्रत्येक ज्ञान इन्द्रियादि साधनों की सहायता से प्राप्त करपाता है। सुषुप्ति दशा में यह सहयोग नहीं रहता। इसकारण यह सबप्रकार के बाह्य ज्ञान से रहित हुआ अपने केवल चेतन स्वरूप में अवस्थित रहता है, पर उस स्थिति का साक्षात्कार उसे नहीं होता। मोक्ष अवस्था में वह आत्मज्ञानपूर्वक ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। चेतन जीवात्मपुरुष का इसप्रकार ब्रह्म को प्राप्त होकर उस आनन्द का अनुभव करना ब्रह्म की चित्स्वरूपता को सिद्ध करता है। क्योंकि चेतन आत्मा का जड़तत्त्वों के संपर्क में रहकर किसीप्रकार की अनुभूति करना उसकी बन्ध-अवस्था है, मुक्त-अवस्था नहीं। फलतः मुक्त-अवस्था में ब्रह्म-सम्बन्ध होने से ब्रह्म को चेतन मानना आवश्यक है।

इसप्रकार सुषुप्तिदशा में आत्मा का 'स्वाप्यय'–केवल अपने चेतनरूप में अवस्थित रहना, और उस स्थिति को मोक्षदशा के समझाने के लिये दृष्टान्तरूप में उपस्थित करना—इस बात को सिद्ध करता है, कि चेतन आत्मा की ब्रह्मप्राप्तिरूप मोक्षदशा ब्रह्म को चित्स्वरूप माने विना संभव नहीं। चेतन की अचेतन में प्राप्ति को मोक्ष का रूप

कहना व मानना सर्वथा असंभव एवं अशास्त्रीय है। इसलिये आत्मा का यह सुषुप्तिगत 'स्वाप्यय' मोक्षदशा की समानता में प्रस्तुत किया जाता हुआ, ब्रह्म के चित्स्वरूप होने को सिद्ध करता है ॥९॥

आशंका की जासकती है, कि आत्मा भले चित्स्वरूप रहे, वह जब अपने चित्स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है, तब वह एक अतिशय अनुकूलता-कैवल्य-का अनुभव करता है। इसीको मोक्ष अथवा आनन्द की प्राप्ति कहाजाता है। इसमें ब्रह्म को आत्मा जैसा चेतन माने जाने की आवश्यकता नहीं। सूत्रकार समाधान करता है—

गतिसामान्यात् ॥१०॥

[गतिसामान्यात्] गति—ज्ञान—चेतना के समान होने से। (ब्रह्म आत्मा जैसा चेतन है।)

शास्त्र में आत्मज्ञान को मोक्ष का साधन कहा है। आत्मज्ञान का तात्पर्य है—प्रकृति एवं प्राकृत जड़ जगत् से भिन्न चिद्रूप आत्मा का साक्षात्कार। किन्हीं दो वस्तुओं का भेद जानने के लिये आवश्यक है, कि उन वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को जाना जाय। आत्मज्ञान की अवस्था में अनात्मा जड़ जगत् की यथार्थता का भी साक्षात्कार होजाता है। तब अनुपादेय अथवा हेय जड़ जगत् से हटकर आत्मा अपने उपादेय चैतन्य-रूप की ओर आकृष्ट होता है। मोक्षरूप आनन्द की प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा होती है—आत्मा का साक्षात्कार न होना। यह आत्मा के बन्ध की अवस्था है, दो विजातीय तत्त्वों का विलक्षणसहयोगपूर्वक एक महान संघर्ष। पुरुष [जीवात्मतत्त्व] और प्रकृति, चेतन और अचेतन दोनों का यह एक अवश्यम्भावी परस्पर विलक्षण सहयोग है, पर इस सहयोग में एक महान संघर्ष अन्तर्निहित रहता है, जो समस्त विश्व की चालू परिस्थिति का परिचायक है। आत्मा के अन्तिम लक्ष्य की भावना से इस संघर्ष का परिणाम है—आत्मा का अपने आपको और अपने सहयोगी-विरोधी को पहचानना। जैसे ही वह इस स्थिति में आता है, आत्मा के लिये समस्त जड़ जगत् हेयपक्ष में चला जाता है, और अपने चिद्रूप का साक्षात्कार एकमात्र उपादेय रहता है।

चिद्रूप भी आत्मा अल्पज्ञ अल्पशक्ति है। आत्मज्ञान की दशा में उसका विजातीय तत्त्व से लगाव न रहकर सजातीय की ओर आकर्षण होता है। वह उस अतिशय को प्राप्त करना चाहता है, जो उसके पास नहीं है। वह प्राप्ति ही मोक्षदशा है। वेद [यजु० ३१।१८] में कहा—उस महान पुरुष [परमात्मा-ब्रह्म] को जाने विना मोक्ष पाना संभव नहीं। कठ उपनिषद् [१।३।१५] में कहा—'अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।' अनादि अनन्त उस नित्य ब्रह्म को जानकर मृत्युमुख से छुटकारा होजाता है। इसप्रकार आत्मज्ञान होजाने पर मोक्षप्राप्ति की समस्त बाधा हट जाती हैं, ब्रह्मज्ञान अनायास होजाता है। उपनिषद् [श्वेता० २।१५] में

कहा–'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।' आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार ऐसे ही होजाता है, जैसे एक दीप के प्रज्वलित हो-जाने पर अन्य दीप अनायास प्रज्वलित कर लिये जाते हैं। यह दृष्टान्त आत्मज्ञान से सजातीय अन्य तत्त्व का ज्ञान होजाने के द्वारा आत्मा के समान ब्रह्म के चित्स्वरूप होने को स्पष्ट करता है। इसी आशय को अन्य अनेक—'एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ' [श्वेता० १।१५] 'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः' [श्वेता० ६।१२] इत्यादि उपनिषद् वाक्य पुष्ट करते हैं।

अथवा सूत्र की योजना इसप्रकार भी कीजासकती है—गतिसामान्यात्, 'गति' पद का अर्थ अवगति-ज्ञान हैं। ब्रह्मकारणविषयक ज्ञान के समान होने से। सब शास्त्रों में समानरूप से यह जाना जाता है, कि इस जगत् का नियन्ता अधिष्ठाता कारण ब्रह्म है। किसी कार्य का ऐसा [नियन्ता आदि] कारण कभी अचेतन नहीं होता। ब्रह्म की ऐसी कारणता का वेदादि शास्त्रों में अनेकधा वर्णन है—'द्यावाभूमी जनयन् देव एकः' [ऋ० १०।८१।३], 'ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्। देवानां पूर्व्ये युगे' [ऋ० १०।७२।२], वह एकमात्र देव द्युलोक भूलोक आदि सब जगत् को उत्पन्न करता है। वह एक शिल्पी के समान इस सब भूत भौतिक जगत् का कर्त्ता है। जैसे कोई शिल्पी कारणसामग्री से वस्तुओं का उत्पादन करता है, ऐसे ही वह जगत्पति परब्रह्म प्रकृति-रूप कारणसामग्री को इस विश्व के रूप में परिणत करता है। उपनिषद् में बताया—

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः॥ श्वेता० ६।१६॥
एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा॥ श्वेता० ५।३॥
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः॥ श्वेता० ६।६॥
य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
य एवैक उद्भवे संभवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ श्वेता० ३।१॥

वह समस्त जगत् का उत्पादक सर्वज्ञ सबका रक्षक एवं अधीश है। वह देव प्रत्येक पदार्थ के एक-एक अवयव को अलग कर सबका संहार कर देता है, तथा फिर सबकी रचना कर सबका अधिपति रहता है। वह एकमात्र ईशिता समस्त विश्व के उत्पन्न करने एवं स्थित रखने में समर्थ है। उसको जानकर आत्मा अमर होजाता है। इस सब विवेचन के आधार पर समस्त विश्व का नियन्ता व अधिष्ठाता होने से ब्रह्म का चित्स्वरूप होना सिद्ध होता है। अचेतन तत्त्व ऐसा कारण कभी संभव नहीं॥१०॥

वेदादि सच्छास्त्रों में ब्रह्म का साक्षात् चेतन बताया गया है, इस आशय से

सूत्रकार ने कहा—

श्रुतत्वाच्च ॥११॥

[श्रुतत्वात्] श्रुत होने से—श्रुतिप्रतिपादित होने से [च] और; (ब्रह्म चित्स्वरूप है)।

वेद तथा अन्य वैदिक साहित्य में ब्रह्म को चेतन प्रतिपादित किया है। ऋग्वेद [१०।१२६।२] में बताया—'आनीदवातं स्वधया तदेकम्'। प्रलयकाल में स्वधा-प्रकृति के साथ वह [परमात्मा-ब्रह्म] एक चेतन विद्यमान रहता है।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता···॥' [श्वे० ३।१६]

वह बाह्य साधनों से रहित भी सबको देखता सुनता जानता है। वह सबका जानने वाला सर्वज्ञ है, इसरूप में उसका ज्ञाता अन्य कोई नहीं है। यह वर्णन स्पष्टरूप से ब्रह्म को चित्स्वरूप प्रमाणित करता है। अन्यत्र बताया—

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि [मुण्ड० २।२।७] ॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
[कठ० २।२।१३॥ श्वेता० ६।१३]
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च [श्वे० ६।११]
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। तै० उ० २।१॥

जो सर्वज्ञ है, सर्वान्तर्यामी है, लोक-लोकान्तरों की रचनारूप महिमा जिसकी सर्वत्र व्याप्त है। जो नित्य चेतनों का चेतन है। जो सबका साक्षी चेतन प्रकृति आदि से भिन्न है। वह सत्य ज्ञानस्वरूप ब्रह्म है। ऐसे अनेक प्रसंगों में ब्रह्म को चेतनस्वरूप प्रतिपादन किया गया है।

पांचवें सूत्र से ग्यारहवें सूत्र तक सात सूत्रों का यह वर्ग 'ईक्षत्यधिकरण' है। इससे पहले सूत्रों में अनुमान तथा शास्त्रप्रमाण के आधार पर ब्रह्म की सत्ता को सिद्ध किया गया है। ब्रह्मजिज्ञासा होने पर सर्वप्रथम यह स्पष्ट किया, कि ऐसे एक तत्त्व का सद्भाव अवश्य है, जो जगत् का उत्पादन व नियन्त्रण करता है। जगदुत्पत्ति के साथ उसने आत्मा के अभ्युदय व निःश्रेयस की सिद्धि के लिये वेदशास्त्र का उपदेश किया। उसकी सत्ता को शास्त्र स्वीकार करता है। उसकी इस उभयविध रचना में बराबर समन्वय पाया जाता है। इससे नामरूपात्मक जगत् का कर्त्ता नियन्ता होने से ब्रह्म के सद्भाव का निश्चय होता है। शास्त्र में ब्रह्म का स्वरूप 'सत्-चित्-आनन्द' बताया है। प्रथम सूत्रों से 'सत्स्वरूप' का निश्चय कर प्रस्तुत ईक्षत्यधिकरण में उसके 'चित्स्वरूप' का प्रतिपादन किया गया है।

मध्यकालिक व्याख्याकारों ने इस अधिकरण की व्याख्या में जगत् के उपादान-

कारण प्रकृति का प्रतिषेध करते हुए चेतन ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण बताने का प्रयास किया है, परन्तु इन सूत्रों का वैसा व्याख्यान सर्वथा निराधार अप्रासंगिक एवं शास्त्रमर्यादा से बहिर्भूत है। सर्वप्रथम आचार्य शंकर ने इन सूत्रों का वैसा व्याख्यान किया, और अनन्तरवर्त्ती आचार्यों ने उसका आंख मूंदकर अनुकरण किया। गम्भीरता-पूर्वक शांकरमत का विवेचन करने पर यह स्पष्ट होता है, कि उस मत के अनुसार चेतन ब्रह्म को जड़ जगत् का उपादानकारण नहीं माना जाना चाहिये। शांकरमत के ग्रन्थों में यह स्पष्ट किया गया है, कि जगत् ब्रह्म का 'विवर्त्त' और माया का 'परिणाम' है। शांकरमत के आचार्यों ने अपनी दुर्बलता को परदे में रखने के लिये एक पारिभाषिक 'विवर्त्त' पद की खोज कर डाली। विसदृश विकार को 'विवर्त्त' और सदृश विकार को 'परिणाम' बताया।[1] इस आधार पर जगत् ब्रह्म का विवर्त्त और माया का परिणाम है। जगत् जिसका परिणाम है, निश्चित है, वही उसका उपादानकारण होगा। वह ब्रह्म का परिणाम नहीं है। यद्यपि आचार्य शंकर ने भाष्य में दोनों बातों का उल्लेख किया है। कहीं जगत् को ब्रह्म का परिणाम लिखा है, और कहीं उसका प्रतिषेध किया[2] है। पर वस्तुतः आचार्य का ऐसा लेख यथार्थता को उलझन में डालता है। इससे यह प्रतीत होता है, आचार्य की अन्तरात्मा जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने में सन्तुष्ट नहीं है। जगत् को ब्रह्म का विवर्त्त बताने का तात्पर्य ही यह है, कि ब्रह्म जगत् का उपादान-कारण नहीं है।

ब्रह्म जगत् का कारण है, इसका कोई आस्तिक विद्वान् निषेध नहीं करता। परन्तु वह कैसा कारण है, इस सत्य को समझलेना आवश्यक है। कारणता के विचार का प्रसंग होने पर उपादानकारण जड़ प्रकृति की प्रतियोगिता में लाकर उसे खड़ा करना, उसके वास्तविक स्वरूप को मानने की ओर से उपेक्षा करना है। प्रत्येक कार्य के अनेक कारण होते हैं, प्रत्येक कारण अपनी जगह कार्य करता है, वे सब परस्पर सहयोगी होते हैं, प्रतिरोधक नहीं। प्रकृति का प्रतिषेध करके उसके स्थान पर ब्रह्म को लाकर खड़ा नहीं किया जासकता, तथा ब्रह्म को हटाकर केवल प्रकृति से यह कार्य नहीं चलाया जासकता। आचार्य शंकर ने जिस प्रकार इस प्रसंग में प्रकृति का प्रतिषेध किया है, वह सर्वथा निराधार है, प्रसंग के अनुकूल नहीं है, इसका उपपादन पांचवें सूत्र की

---

१. परिणामो नाम उपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः। विवर्त्तो नाम उपादानविषमसत्ताक-कार्यापत्तिः। प्रातिभासिकरजतं चाविद्यापेक्षया परिणामः, चैतन्यापेक्षया विवर्त्त इति चोच्यते। [वेदान्तपरिभाषा, १]। इस आधार पर ब्रह्म की उपादानता का स्वरूप बताया—'जगदाकारेण विपरिणममानमायाधिष्ठानत्वम्' [वेदान्तपरिभाषा, ७]।

२. देखें—सांख्यसिद्धान्त, पृ० ६—१४॥ तथा ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, २।१।४१॥ २।१।२४, २६॥२।१।६॥

व्याख्या में कर दिया गया है।

आचार्य आनन्दतीर्थ ने इस अधिकरण की व्याख्या में यह सिद्ध किया है, कि ब्रह्म अशब्द अर्थात् शब्दद्वारा अवाच्य नहीं है। आचार्य शंकर ने शुद्ध ब्रह्म को शब्द का वाच्य नहीं माना, किन्तु लक्ष्य माना है, पदद्वारा ब्रह्म का लक्षणावृत्ति से बोध होता है अभिधा से नहीं। इसके विपरीत आचार्य आनन्दतीर्थ का इस अधिकरणद्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास है, कि ब्रह्म वाच्य है, अभिधावृत्ति से जाना जाता है, केवल लक्षणा से नहीं। प्रस्तुत सूत्रों द्वारा इस आशय को प्रकट करने के लिये आचार्य ने उपनिषद् स्मृति एवं पुराण आदि के प्रमाण उपस्थित करने में बड़ा कौशल दिखाया है; पर आचार्य शंकर ने जैसे 'अशब्द' आदि पदों की व्याख्या करने में प्रकरणसंगति व शास्त्र-विरोध तक की अपेक्षा न कर मनमाना अर्थ करने के लिये खैंचातानी की है, ऐसी स्थिति आचार्य आनन्दतीर्थ की व्याख्या में भी जहां-तहां परिलक्षित होती है ।।११।।

गत अधिकरण से ब्रह्म के चित्स्वरूप का प्रतिपादन कर सूत्रकार अब उसके आनन्दस्वरूप का उपपादन करने के लिए सूत्र का अवतरण करता है—

आनन्दमयोऽभ्यासात् ।।१२।।

[आनन्दमयः] आनन्दमय [अभ्यासात्] बार-बार कहे जाने से। ब्रह्म आनन्द-स्वरूप है, क्योंकि विभिन्न प्रसंगों में उसे पुनः-पुनः आनन्दरूप बताया गया है।

तैत्तिरीय उपनिषद् के ब्रह्मवल्ली नामक द्वितीय अध्याय में पांच कोषों का वर्णन है। कोष का अर्थ आवेष्टन [खोल] है। अध्याय के प्रारम्भ में पद हैं—'ब्रह्मविदा-प्नोति परम्', ब्रह्म को जानलेने वाला व्यक्ति 'परम्' [उत्कृष्ट अवस्था] को प्राप्त कर लेता है। यह उत्कृष्ट अवस्था की प्राप्ति जीवात्मा को है, जीवात्मा जिस ऊंची से ऊंची अवस्था को प्राप्त कर सकता है, वही यह अवस्था है, जो आत्मज्ञान द्वारा ब्रह्मज्ञान हो-जाने पर प्राप्त होती है। इसीका नाम है ब्रह्म को प्राप्त होना अथवा मोक्ष। आगे उप-निषत्कार ने प्रमाणनिर्देशपूर्वक ब्रह्म का स्वरूप और उसके ज्ञान का फल बताया—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ।।

ब्रह्म सत्यस्वरूप है, अपरिणामी है, उसमें कभी किसीप्रकार का कोई विकार नहीं होता। वह ज्ञान अर्थात् चेतनस्वरूप है, अनन्त है–सर्वव्यापक है। जो जिज्ञासु परम गम्भीर हृदयाकाश में विराजमान उस ब्रह्म को जानलेता है, वह चेतनस्वरूप ब्रह्म के साथ रहता हुआ सब अभीष्ट कामनाओं का भोग करता है।

देहबन्धन में रहते हुए जीवात्मा के लिये ब्रह्मज्ञान का केन्द्र हृदयाकाश बताया गया है। यद्यपि ब्रह्म सर्वव्यापक है, पर उसके इस स्वरूप को जानते हुए उसका साक्षा-त्कार हृदयाकाश में ध्यान धारणा समाधि के द्वारा किया जाता है। उपनिषद् आदि में आत्मा का निवासस्थान हृदयदेश बताया है। यह हृदयदेश शरीर में कहां अवस्थित है,

इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है, पर गम्भीर विवेचन से यह निर्णय किया गया है, कि यह मस्तिष्कगत हृदयदेश है, रक्तप्रक्षेपक हृदय नहीं। वही देश आत्मा का निवास[1] है। वहां ध्यान आदि करने से आत्मा के साक्षात्कार के साथ ब्रह्म का साक्षात्कार हो-जाता है। उपनिषद् ने बताया, उस परम गंभीर गुहा में वह छिपा हुआ है, उसके दर्शन के लिये वही स्थान है। उसी गुहा में प्रवेश कराने के लिये यहां तैत्तिरीय उपनिषद् में पांच कोशों का वर्णन है। जहां अन्नमय स्थूलशरीर से आरम्भ कर उत्तरोत्तर सूक्ष्म में प्रवेश कराते हुए सबसे अन्त में परमसूक्ष्म आनन्दमय का उपदेश है। यह 'आनन्दमय' पद परमात्मा का निर्देश करता है। उसका ज्ञान या उसकी प्राप्ति होजाने पर जीवात्मा के लिये यह मोक्षस्थान है।

इन पांच कोशों में पहला कोश अर्थात् जीवात्मा का पहला बाह्य आवरण 'स्थूलशरीर' है, जिसे 'अन्नमय' कोश नाम दिया गया है। इसके आगे 'प्राणमय' और 'मनोमय' कोश आत्मा का वह आवरण है, जिसे शास्त्रों में 'सूक्ष्मशरीर' के नाम से वर्णित किया गया है। जब तक आत्मा इन आवरणों में आवेष्टित रहता है, उसकी बन्धस्थिति बनी रहती है। इन अवस्थाओं में रहते हुए ही आत्मा स्वज्ञान व ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करपाता है। आत्मज्ञान होजाने पर आत्मा की जो अवस्था रहती है, वह चौथे 'विज्ञानमय' कोश द्वारा प्रकट की गई है। यह वह स्थिति है, जहां आत्मा स्वरूप में अवस्थित रहता कैवल्य का अनुभव करता है। पांचवां कोश स्वतः मोक्षरूप है। इस अवस्था तक पहुंचना जीवात्मा के लिये सर्वोत्कृष्ट स्थिति का प्राप्त करना है। इसीको उपनिषद् ने प्रारम्भ में कहा—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' [तै० उ० २।१] परमोत्कृष्ट अवस्था के रूप में प्रस्तुत 'आनन्दमय' पद ब्रह्म का निर्देश करता है। माण्डूक्य उपनिषद् में इसीका वर्णन 'तुरीय' अवस्था के रूप में किया गया है।

तैत्तिरीय उपनिषद् के ब्रह्मवल्ली नामक द्वितीय अध्याय में पुनः-पुनः ब्रह्म को आनन्दरूप कहा है 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः' [२।५]। उस विज्ञानमय [जीवात्मा] से अन्य अन्तर-अतिसूक्ष्म आत्मा आनन्दमय है। यह जीवात्मा का लक्ष्यभूत आनन्दमय आत्मा ब्रह्म है। उस अतिशय आनन्द की प्राप्ति के लिये जीवात्मा उसे जानने को प्रयत्नशील रहता है। आगे [२।७ में] कहा—'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति।' वह रस है, रस को पाकर ही यह आत्मा [जीवात्मपुरुष] आनन्द से युक्त होजाता है। यहां ब्रह्म को 'रस' बतलाकर उसे आनन्दरूप कहा गया है, उसी आनन्द को प्राप्त कर यह जीवात्मा आनन्द से भर जाता है। कौन जीवित रहसकता है और कौन प्राण लेसकता है, यदि यह सर्वान्तर्यामी सर्व-

---

१. इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिये देखें—'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ ११७–१२४।

व्यापक आनन्दरूप ब्रह्म न हो। उसीके आश्रय से समस्त चराचर जगत् का अस्तित्व है। यही सबको आनन्दित करता है।

आगे पुनः [२।८ में] कहा—'सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति,···एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति।' वह यह आनन्द की मीमांसा होती है, आनन्दविषयक विचार प्रस्तुत किया जाता है, जीवात्मपुरुष इस आनन्दमय आत्मा [ब्रह्म] को उपसंक्रान्त होता है; प्राप्त होता है; उसके सामीप्य में आता है। आत्मज्ञान होजाने पर उस आनन्द का अनुभव करता है। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' [तै० २।६] जो ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला है, वह कहीं किसी से नहीं डरता। ब्रह्मानन्द की प्राप्ति सांसारिक भय से पार उतार देती है। प्रसंग के उपसंहार में [३।६] कहा—'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' ब्रह्म आनन्द है, यह जाना। इसप्रकार प्रस्तुत उपनिषद् के उपक्रम और उपसंहार से स्पष्ट होता है, कि उपनिषद् के इस प्रसंग का तात्पर्य[1] ब्रह्म की आनन्दरूपता के प्रतिपादन में है। यहां अनेक बार ब्रह्म को आनन्दरूप कहा है।

---

१. किसी प्रसंग के तात्पर्य के निश्चायक चिह्न निम्नलिखित माने गये हैं—उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये।' उपक्रम—विषय का आरम्भ। उपसंहार-समाप्ति। ये दोनों एक ही विषय का प्रतिपादन करते हैं। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' उपक्रम; 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' उपसंहार। अभ्यास—उसी अर्थ का बार-बार कहना, इस प्रसंग में 'आनन्द' पद का अभ्यास है। ब्रह्म को लक्ष्यकर उसे बार-बार आनन्दरूप कहा गया है। अपूर्वता—प्रतिपाद्य विषय का नया होना, जहां साधारण लौकिक बुद्धि का प्रवेश न हो, शास्त्रप्रवृत्ति की सफलता ऐसे ही अर्थ के प्रतिपादन में होती है। ब्रह्म ऐसा ही अर्थ है। फल—जिस विषय में प्रकरण का तात्पर्य है, उसके फल का बतलाया जाना; यहां जीवात्मा के लिये ब्रह्मज्ञान का फल बताया—'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' वह जीवात्मा आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होजाता है। यह ब्रह्म को जान लेने का फल है। अर्थवाद—स्तुति आदि। मुख्य प्रतिपाद्य अर्थ की महत्ता के सम्बन्ध में उपयुक्तवर्णन करना। जैसे प्रस्तुत प्रसंग में कहा—'भीषाऽस्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः'। तथा 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः'। इसमें ब्रह्म की महत्ता का दिग्दर्शन कराया गया है। उपपत्ति—युक्ति से उस विषय को प्रस्तुत करना; जैसे यहां कहा—'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' उस आनन्दस्वरूप ब्रह्म की प्रेरणा से ही यह सब चराचर जगत् प्रादुर्भूत होता है। यह आनन्दरूप ब्रह्म के अस्तित्व में उपपत्ति–युक्ति है। इन लिङ्गों के आधार पर तैत्तिरीय उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसंग का तात्पर्य आनन्दरूप ब्रह्म के प्रतिपादन में समझा जाता है।

अन्य उपनिषदों में भी ऐसा उल्लेख है। बृहदारण्यक उपनिषद् [३।६।२८] में बताया—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'। ब्रह्म चेतन है, आनन्द है। ऋग्वेद [४।३१।२] यजुर्वेद [३६।५], अथर्ववेद [२।१।५], मुण्डक उपनिषद् [३।१।७], बृहदारण्यक[४।३।३२], छान्दोग्य [७।२३।१] आदि अनेक प्रसंगों में ब्रह्म के आनन्दस्वरूप का प्रतिपादन हुआ है। यह दिग्दर्शनमात्र है। वैदिक साहित्य में ब्रह्म के इस स्वरूप का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है।

प्रस्तुत आनन्दमयाधिकरण में केवल ब्रह्म के आनन्दस्वरूप होने का प्रतिपादन किया गया है। आनन्द केवल चेतन का स्वरूप होना संभव है। ब्रह्म से अतिरिक्त चेतन-तत्त्व जीवात्मा हैं। उपनिषद् के जिस प्रसंग को आधार मानकर सूत्रकार ने इन सूत्रों से ब्रह्म की आनन्दरूपता को प्रस्तुत किया है, क्या वह प्रसंग चेतन जीवात्मपुरुषों की आनन्दरूपता का साधक होसकता है ? ऐसी आशंका उठाई जासकती है। पर वस्तुत: यह निराधार है। जीवात्माओं के चेतन होने पर भी वह आनन्दरूप नहीं हैं, यह शास्त्र द्वारा सर्वथा स्पष्ट है। जीवात्मा उस आनन्द की अनुभूति के लिये शम दम तितिक्षा त्याग तपस्या समाधि आदि द्वारा प्रयत्न करता है, और पूर्ण आत्मज्ञान की अवस्था को प्राप्त कर वह उस आनन्द का अनुभव करलेता है। आत्मा के चेतन होने का यह फल है, कि वह उस आनन्दानुभूति की अवस्था को प्राप्त करसकता है, पर वह स्वभावत: आनन्दरूप नहीं है। यदि ऐसा होता तो उसके लिये शम दम आदि तप व समाधिद्वारा उसे प्राप्त करने का प्रयत्न अपेक्षित न होता। फिर उसका स्वरूप आनन्द होने पर वह आनन्दहीन कभी न होता। क्योंकि इस अवस्था में स्वरूपहानि होने से वह विकारी हो-जाता। जैसे चेतनस्वरूप आत्मा का चैतन्य सदा अविकृत एकरूप बना रहता है, ऐसे ही आनन्दरूप भी बना रहता। उपनिषद् का यह प्रसंग स्पष्ट करता है, कि आनन्दमय ब्रह्म जीवात्मपुरुषों से सर्वथा अतिरिक्त है। उसका आनन्दरूप होना उसकी विशेषता है। यह उसीका रूप है अन्य का नहीं। इसलिये उपनिषद् के इस प्रसंग में 'आनन्दमय' पद से केवल ब्रह्म का निरूपण किया जाना संभव है, अन्य किसी का नहीं ॥१२॥

शिष्य आशंका करता है, तैत्तिरीय उपनिषद् के उक्त प्रसंग में 'आनन्दमय' पद ब्रह्म के लिये प्रयुक्त हुआ नहीं माना जाना चाहिये। कारण यह है, कि यह पद 'मयट्' प्रत्ययान्त है। शब्दशास्त्र [पा० ४।३।१४३-४४] के अनुसार यह प्रत्यय विकार अर्थ में होता है, जिस पद के आगे इसका प्रयोग होगा, उस पदार्थ के विकार का यह बोध करायेगा, यहां 'आनन्दमय' पद 'आनन्द' अर्थ के किसी विकार का बोध करा-सकता है, ब्रह्म का नहीं; क्योंकि ब्रह्म किसीका विकार नहीं है। उसे अविकारी अपरिणामी नित्य सत्य एवं शुद्ध बताया गया है।[1] लोक और वैदिक साहित्य में 'मयट्'

---

१. देखें—मुण्ड० २।२॥ तैत्ति० २।१॥ यजु० ४०।८॥ ऋ० १०।१२९।२॥

प्रत्यय का विकार अर्थ में प्रयोग प्रायः देखा जाता है। लोक में हिरण्मय-मृण्मय-दारुमय आदि पदों का अर्थ है—सुवर्ण का विकार, मिट्टी का विकार एवं लकड़ी का विकार। सोने आदि से बने पदार्थों को हिरण्मय आदि पदों से व्यवहृत किया जाता है। इसीप्रकार 'पर्णमयी जुहूः—शमीमयी स्रुक्—दर्भमयी रशना' आदि छान्दस प्रयोगों में 'मयट्' प्रत्यय प्रायः विकार अर्थ में देखा जाता है। पलाश [ढाक] के पत्तों से बनी हुई जुहू—एक यज्ञिय पात्र। शमी [छोंकरा—जंड] की लकड़ी से निर्मित स्रुवा और दाभ घास से बनी हुई मेखला: यही उक्त पदों के अर्थ हैं। फलतः 'मयट्' प्रत्यय का अधिकता से विकार अर्थ में प्रयोग माने जाने पर 'आनन्दमय' पद अविकारी ब्रह्म का निर्देशक नहीं माना जाना चाहिये। सूत्रकार उक्त आशंका का सूत्र में निर्देश करते हुए समाधान करता है—

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥१३॥

[विकार-शब्दात्] विकारवाचक शब्द से [न] नहीं (ब्रह्म) [इति] यह [चेत्] यदि (कहो, तो) [न] नहीं (ठीक), [प्राचुर्यात्] प्रचुर अर्थ होने से। उक्त 'आनन्दमय' पद में विकारवाचक 'मयट्' प्रत्यय होने से वहां ब्रह्म का निर्देश नहीं, यदि ऐसी आशंका करो; तो यह ठीक नहीं, क्योंकि वह प्रत्यय 'प्रचुर' अर्थ में भी होता है।

'मयट्' प्रत्यय विकार अर्थ में होता है, यह ठीक है; पर केवल विकार अर्थ में होता हो, ऐसा नहीं है। इसका प्रयोग प्रचुर अर्थ में भी होता है। 'अन्नमयो यज्ञः' इत्यादि प्रयोगों में 'मयट्' प्रत्यय विकार अर्थ को न कहकर प्रचुर अर्थ का वाचक है। उक्त पद का यह अर्थ नहीं, कि—यज्ञ अन्न का विकार है, प्रत्युत यह अर्थ है, कि यहां अन्न का प्रचुर उपयोग है। अर्थात् यह ऐसा यज्ञ है, जिसमें अन्न का अधिकता से उपयोग होता है। अतः शब्दशास्त्र [पा० ५।४।२१] के अनुसार 'मयट्' का प्रयोग प्रचुर अर्थ में होने से 'आनन्दमय' पद ब्रह्म का निर्देश करता है, इसमें कोई आशंका न होनी चाहिये।

तैत्तिरीय उपनिषद् [२।८] में आनन्द की मीमांसा प्रस्तुत की है; 'सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति'। आनन्दविषयक इस विचार में मनुष्य के साधारण आनन्द (अनुकूल अनुभूति) से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर शतगुण आनन्द का उल्लेख करते हुए ब्रह्मानन्द को निरतिशय निर्धारित किया गया है। इसलिये 'आनन्दमय' पद में आनन्द की प्रचुरता के भाव से यह न समझना चाहिये, कि उसमें किसी तरह की न्यूनता रह जाती है, अथवा वह किसी अन्य की अपेक्षा से केवल आनन्द की अधिकता बतलाता है। न वहां कमी है और न वह आपेक्षिक आनन्द है; वस्तुतः यहां आनन्द का प्राचुर्य आनन्द की असीमता का निर्देश करता है। इसप्रकार ब्रह्म असीम आनन्दरूप है, यह इससे स्पष्ट होता है। इसीलिये प्रकरण के उपसंहार में 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' कहकर उपनिषत्कार ने जीवात्मा का आनन्दमय आत्मा [ब्रह्म]

को प्राप्त होना मोक्षरूप फल निर्दिष्ट किया है।

शंका कीजासकती है, कि पांच कोशों में से 'अन्नमय' आदि कोशों में 'मयट्' प्रत्यय विकार अर्थ में मानकर केवल 'आनन्दमय' पद में उसे प्राचुर्य अर्थ में कैसे मान जासकता है ? विकार अर्थ के प्रवाह में होने से अन्तिम पद में भी 'मयट्' का अर्थ विकार माना जाना चाहिये, प्राचुर्य नहीं। अन्यथा यह अर्धजरतीयन्याय होगा, आधा तीतर आधा बटेर। ऐसी मान्यता शास्त्रसंगत नहीं कही जासकती।

विचारना चाहिये, कि 'अन्नमय' आदि पदों में 'मयट्' प्रत्यय वस्तुतः विकार अर्थ में है, अथवा वहां भी प्राचुर्य अर्थ की संभावना होसकती है। आत्मा का आवेष्टन अन्नमय कोश स्थूलशरीर माना गया है। 'अन्न' पद खाद्य पेय आदि आहार का उपलक्षक है। स्थूलशरीर की रचना अपने नियत कारणों से प्रारम्भ होती है, आहार आदि उसके पोषण संवर्धन संरक्षण आदि में सहायक होते हैं, शरीर विकार उन्हीं तत्त्वों का माना जाना चाहिये, जो उसकी रचना के आरम्भक हैं। अन्न आदि केवल उसके पोषण संवर्धन में सहयोगी हैं, इनका प्राचुर्य अथवा प्राधान्य शरीर के संरक्षण में अपेक्षित रहता है। देहारम्भक कारणों की अक्षमता में अन्नादि आहार के सहयोग पर भी देह अवस्थित नहीं रहता, देह का पात होजाता है। ऐसी स्थिति में यहां भी 'मयट्' प्रत्यय प्रचुर अर्थ में संभव है, विकार अर्थ में उसका प्रयोग माने जाने की आवश्यकता नहीं।

यदि 'अन्न' पद का अर्थ पृथ्वी माना जाता है, और उसे अन्य भूतों का उपलक्षण मानकर पांचभूतों से आरब्ध स्थूलशरीर को उनका विकार होने से 'अन्नमय' पद के 'मयट्' को विकार अर्थ में निश्चित समझा जाय, तो इसपर हमें विचार करना होगा, कि उपनिषद् के इस प्रसंग का स्वारस्य क्या है। उपनिषत्कार का तात्पर्य यहां स्थूलशरीर के कार्यकारणभाव का प्रकट करना नहीं है, प्रत्युत वह आत्मा की उन अवस्थाओं को स्पष्ट करना चाहता है, जो स्थूलदेह-बन्धन से लेकर मोक्षपर्यन्त संभव हैं। माण्डूक्य उपनिषद् में चार अवस्थाओं द्वारा जिस अर्थ को प्रस्तुत किया है, तैत्तिरीय में उसीका वर्णन पञ्चकोश अर्थात् आत्मा के पांच आवेष्टनों के रूप में है। स्थूलशरीर का आरम्भ किन्हीं भी कारणों से हो, अन्नादि आहार का सहयोग उसके संरक्षण आदि में उपयोगी है, इसलिये स्थूलदेह के प्रति अन्नादि आहार के प्राचुर्य अथवा प्राधान्य की कल्पना की जासकती है, जिससे यह देह अधिकाधिक काल तक कार्यक्षम बना रहसके।

इसके अतिरिक्त इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है, कि उपनिषद् में इस कोश के लिये 'अन्नरसमयः' पद का प्रयोग है, यह विशेषण है—'पुरुषः' इस विशेष्य पद का, वहां पाठ है—'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः'। यहां 'पुरुष' पद आत्मा का बोधक है। इसका यह अर्थ करना सर्वथा असंगत होगा, कि यह आत्मा अन्नरस का विकार है।

तब इसका यही अर्थ संभव है, कि अन्नरसप्रचुर अथवा अन्नरसप्रधान स्थूलशरीर आत्मा का एक आवेष्टन है। यदि यहां 'पुरुष' पद का अर्थ 'स्थूलशरीरविशिष्ट आत्मा' समझा जाय, और विशेषण [स्थूलशरीर] को अन्नरस का विकार मानकर 'मयट्' प्रत्यय के विकार अर्थ की पुष्टि की जाय, तो स्थूलदेह को आत्मा के आवेष्टन बतलाने की भावना गौण रहजाती है, जिसको प्रकट करना यहां उपनिषत्कार का मुख्य तात्पर्य है; तथा स्थूलशरीर की कारणता का निर्देश सामने आजाता है, जो केवल प्रासंगिक है। फिर अगले प्रसंगों में स्पष्ट ही 'आत्मा' पद का उल्लेख है। 'पुरुष' पद से निर्वचन [-पुरि शरीरे शेते] के आधार पर शरीर विशेषण की कल्पना चाहे होजाय; पर 'आत्मा' पद के प्रयोग में यह भावना नहीं उभरती। वहां पाठ है—'एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः'। इस अन्नरसमय आवेष्टन से आत्मा का अन्य सूक्ष्म आवेष्टन 'प्राणमय' है। इन्द्रियों अथवा समस्त करणों की साधारण वृत्ति प्राण हैं। 'प्राणमय' पद में 'प्राण' इन्द्रियों के उपलक्षण हैं। आत्मा की यह वह अवस्था है, जहां इन्द्रियां बाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध स्थापित करती हैं। स्थूलदेह केवल बाह्य आवेष्टन है, पर यह उससे सूक्ष्म अवस्था का दूसरा आवेष्टन बाह्य जगत् का आन्तर के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। इससे भी सूक्ष्म अगला आवेष्टन 'मनोमय' है। इसका सीधा सम्पर्क बाहर के साथ नहीं होता, इसका द्वार इन्द्रियां हैं। यदि मध्य में इन्द्रियां न हों, तो आन्तर का सम्बन्ध बाह्य से सर्वथा नष्ट होजाता है, इसलिये तृतीय आवेष्टन द्वितीय से सूक्ष्म है। इन दोनों की मिलित स्थिति आत्मा के 'सूक्ष्मशरीर' नामक आवेष्टन को प्रस्तुत करती है।

यहां भी 'प्राणमय' और 'मनोमय' पदों में 'मयट्' प्रत्यय विकार अर्थ में प्रयुक्त हुआ प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत प्राचुर्य अथवा प्राधान्य अर्थ को प्रकट करता प्रतीत होता है। 'प्राण' और 'मन' यथाक्रम बाह्यकरण और अन्तःकरण के उपलक्षण हैं। इन्हीं का प्राचुर्य अथवा प्राधान्य 'सूक्ष्मशरीर' नामक आवेष्टन में रहता है, यद्यपि उसके आधारभूत भाग की रचना सूक्ष्मभूत अथवा तन्मात्र तत्त्वों से होती है, जिनका—उपनिषद् के इस प्रसंग में प्रकृतिविकार को प्रकट करने की भावना के अनपेक्षित होने से—कोई संकेत नहीं है।

स्थूलशरीर के अन्दर सूक्ष्मशरीर, सूक्ष्मशरीर के अन्दर हृदय-गुहा में 'आत्मा' बैठा है। आत्मा की इस अवस्था को चतुर्थकोश द्वारा प्रकट किया गया है—'तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः'। यह विज्ञानमय स्वतः गुहा-स्थित केवल शुद्धरूप चेतन आत्मा है। यहीं आत्मा का साक्षात्कार होता है, और यहीं पर आनन्दमय ब्रह्म का ज्ञान। पांचवां आनन्दमय कोश इसी स्थिति को प्रकट करता है। आत्मज्ञान होजाने पर आत्मा को आनन्दानुभूति होना ब्रह्मज्ञान है। इसी गुहा में ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। इस अर्थ को तैत्तिरीय उपनिषद् के ब्रह्मवल्ली नामक

द्वितीय अध्याय की प्रारम्भिक पंक्तियों में अन्य वैदिक प्रमाण के आधार पर इसप्रकार प्रकट किया—

यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ।

अन्यत्र [कठ० १।२।१२] भी कहा—'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्'। 'सर्वभूत-गुहाशय:' [श्वेता० ३।११], 'आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तो:' [श्वेता० ३।२०], बहुत अन्दर छिपा हुआ वह नित्य ब्रह्म गुहा में बैठा रहता है। समस्त प्राणियों के आत्मनिवासरूप गुहा में उसका घर है। वह आत्मा [ब्रह्म] इस जन्तु-प्राणी [जीवात्मा] की गुहा में बैठा रहता है। और कहा [श्वेता० ४।१७]—

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्ट: ।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

यह जगद्रचयिता देव परमात्मा सदा प्राणियों के हृदय में समाविष्ट रहता है। विवेकबुद्धि से इसका साक्षात्कार होता है, जो इसको जान लेते हैं, वे अमृत होजाते हैं, मोक्षानन्द को प्राप्त करलेते हैं। मुण्डक उपनिषद् में कहा—

एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य । [२।१।१०]

गुहा में बैठे हुए इसको जो जानलेता है, वह अज्ञान की गांठ को खोल फेंकता है, उसके बन्धन से बाहर निकल जाता है। यह निश्चित है, इस शरीर के अन्दर रहता हुआ आत्मा स्व एवं ब्रह्म को साक्षात् करपाता है, इसके लिये अन्य कोई आधार संभव नहीं। इस अर्थ को मुण्डक उपनिषद् [३।१।५] में स्पष्ट किया—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतय: क्षीणदोषा: ॥

तप एवं ब्रह्मचर्यपूर्वक सत्य तत्त्वज्ञान से यह शुद्ध प्रकाशमय आत्मा शरीर के अन्दर जाना जाता है। दोषरहित संयमी जन इसको देखपाते हैं। पञ्चम कोश का यही स्वरूप है। उपनिषद् में कहा—'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय:'। इस विज्ञानमय से अन्य अन्तर आत्मा आनन्दमय है। शरीरप्रदेश में जहां विज्ञानमय आत्मा [जीवात्मा] निवास करता है, वहीं उससे भिन्न पर सूक्ष्म आनन्दमय आत्मा [ब्रह्म] विराजमान रहता है। उसकी सूक्ष्मता का तात्पर्य इसी में है, कि जब तक आत्मा विवेकी नहीं होता, अपने अतिसमीप विराजमान परमात्मा [ब्रह्म] को जान नहीं पाता। परन्तु ब्रह्म सदा ही इन सब स्थितियों को जानता है। आत्मा व ब्रह्म की पारस्परिक स्थूलता व सूक्ष्मता के विषय में तर्क करना केवल बुद्धि-मान्द्य का द्योतक है।

जीवात्मा भोगापवर्ग की सिद्धि के लिये शरीरबन्धन में आता है। शरीर में जहां आत्मा का निवास है, वह मस्तिष्कगत हृदयदेश है। आत्मज्ञान होने पर

ब्रह्म का साक्षात्कार इसी प्रदेश में होता है, शास्त्र के अनेक वाक्यों से यह तत्त्व प्रमाणित है। इसीकारण इसका एक अन्य नाम 'ब्रह्मगुहा' कहा जाता है। यद्यपि आत्मज्ञान की अवस्था में यहां अन्य कोई आवेष्टन आत्मा का नहीं रहता, पर यह एक स्थानविशेष होने से इसको 'कोश' नाम दिया गया है। प्रारम्भ के तीन कोश वास्तविकरूप में आत्मा के प्राकृत आवेष्टन हैं। इसप्रकार पांच कोशों के द्वारा अतिसंक्षिप्त वर्गों में विभाजित कर आत्मा की उन समस्त अवस्थाओं को प्रस्तुत किया है, जो शरीरबन्धन से लेकर मोक्षप्राप्तिपर्यन्त सम्भव हैं। यह अंतिम अवस्था आनन्दमय है। इससे 'आनन्दमय' पद का यह प्रयोग ब्रह्म के लिये होना निश्चित है, यह ब्रह्म की आनन्दरूपता का निश्चायक है।

तैत्तिरीय उपनिषद् के पञ्चकोशवर्णन के अवसर पर 'अन्नमय' आदि पदों में जो 'मयट्' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है, वह 'विकार' अर्थ में न होकर 'प्राचुर्य' अर्थ में हुआ है, यह उक्त वर्णन से स्पष्ट किया गया। इसकारण जिन व्याख्याकारों ने यह आपत्ति उठाई है—कि 'अन्नमय' आदि पदों में विकारार्थक 'मयट्' प्रत्यय के प्रवाह में केवल 'आनन्दमय' पद में 'मयट्' को प्राचुर्यार्थक नहीं समझा जासकता—उनका कथन निराधार रहजाता है। यदि किन्हीं विशिष्ट निमित्तों के आधार पर 'मयट्' का कहीं 'विकार' अर्थ निश्चित है तथा कहीं 'प्राचुर्य' अर्थ, तो उसको वैसा स्वीकार अवश्य किया जाना चाहिये, इसमें प्रवाह अपना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। इसकारण 'आनन्दमय' पद में 'मयट्' प्राचुर्यार्थक माना ही जाना चाहिये। इसके विशेष निमित्तों का निर्देश प्रथम कर दिया गया है।

'मयट्' प्रत्यय के प्राचुर्य अथवा विकार अर्थ में प्रयोग के आधार पर 'अन्नमयं हि सोम्य मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक्' [छा० ६।५।४] इत्यादि वाक्यों का भी विचार करना चाहिये। अनेक स्थलों पर उपनिषद् संदर्भों में कुछ रहस्यपूर्ण अर्थ निहित रहते हैं। पदों से जो अर्थ आपाततः प्रतीत होते हैं, उन्हीं को सन्दर्भ का अन्तिम तात्पर्य समझलेने पर भ्रान्ति की संभावना बनी रहती है। उक्त वाक्यों में 'मयट्' का प्रयोग ऐसे विकार अर्थ में नहीं है, जैसा 'हिरण्मयी जुहूः' इत्यादि वाक्यों में देखा जाता है। मन आदि तत्त्वों को अपने कार्यों में सक्षम बनाये रखने के लिये अन्न आदि का प्रयोग परम्परा से उपयोगी होता है, इतना ही तात्पर्य इन वाक्यों का समझना चाहिये।[1]

यह स्पष्ट है, कि पञ्चकोशों के वर्णन का प्रयोजन आत्मज्ञान के पथ को प्रशस्त करना है, इनकी अपनी विशेषताओं को बतलाना इस वर्णन का लक्ष्य नहीं है। जिज्ञासु के लिये यही अपेक्षित है, कि वह कोशस्वरूप से आत्मा की स्थिति को समझे, और उसके अनुसार आत्मज्ञान के पथ पर प्रयत्नशील रहे। पञ्चकोशों के सम्बन्ध में इसप्रकार की

---

१. इसके अधिक विवेचन के लिये देखें—'सांख्यसिद्धान्त' पृ० २६४—६७।

भावना अन्यत्र उपनिषदों में उपलब्ध होती है। मुण्डक उपनिषद् [२।२।७] में कहा है—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः।
मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति॥

जो सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी है, जिसकी महिमा का प्रकाश संसार में प्रकट होरहा है। वह आत्मा [ब्रह्म] दिव्य ब्रह्मपुर [ब्रह्मगुहा नामक प्रदेश] में प्रतिष्ठित है। जो मनोमय प्राण और शरीर का नेता है, अन्नमय शरीर के प्रदेश में बुद्धि को सन्निहितकर स्वयं प्रतिष्ठित है, धीर जिज्ञासु जन उस आत्मा के साक्षात् ज्ञान द्वारा प्रकाशमय अमृत आनन्द-रूप ब्रह्म का दर्शन करते हैं। इस सन्दर्भ में मनोमय, प्राणमय, अन्नमय, विज्ञानमय, आनन्दमय इन पांचों कोश अवस्थाओं का संकेत करते हुए उस विधिव्यवस्था के अनुसार आचरणद्वारा प्राप्त होने वाले मोक्षरूप फल का उल्लेख है। इससे स्पष्ट होता है, कि कोशों के वर्णन का तात्पर्य आत्मा की उन अवस्थाओं के प्रकट करने में है, जो तत्त्वज्ञान अथवा आत्म-विवेक में उपयोगी हैं॥१३॥

'आनन्दमय' पद में 'मयट्' प्राचुर्यार्थक है, इसकी पुष्टि के लिये सूत्रकार एक अन्य हेतु का निर्देश करता है—

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥१४॥

[तद्-हेतु-व्यपदेशात्] उसका हेतु कथन करने से [च] भी। ब्रह्म को आनन्द का कारण कहे जाने से भी।

तैत्तिरीय उपनिषद् [२।७] में कहा है—'एष ह्येवानन्दयाति'। यह आनन्दित करता है, निश्चितरूप से यह जीवात्माओं को आनन्द से युक्त करदेता है। जो प्रचुर आनन्द वाला है, वही दूसरों को आनन्द से युक्त करसकता है। जैसे लोक में देखा जाता है, कि जो धनद्वारा दूसरों को धनी बना देता है, वह स्वयं निश्चितरूप से प्रचुर धन-वाला होता है। इसीप्रकार जो दूसरों को विद्यादान द्वारा विद्यावाला बना देता है, वह स्वयं अवश्य प्रचुर विद्यावाला होता है। ऐसे ही जीवात्माओं को आनन्द देने वाला ब्रह्म अवश्य प्रचुर आनन्दवाला होना चाहिये। फलतः 'आनन्दमय' पद में 'मयट्' प्रत्यय प्रचुर अर्थ में समझना चाहिये। इसकारण यह पद प्रस्तुत प्रसंग में ब्रह्म का बोधक है, जो ब्रह्म की आनन्दरूपता को स्पष्ट करता है।

प्रकरण का उपसंहार करते हुए उपनिषद् [तै० २।८] में बताया—'एतमानन्द-मयमात्मानमुपसंक्रामति' आत्मसाक्षात्कार होजाने पर जीवात्मा आनन्दमय आत्मा में उपसंक्रान्त होजाता है। उस अवस्था के विषय में आगे उपनिषद् [तै० २।९] बताती है—'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, न बिभेति कुतश्चन' ब्रह्मानन्द को उपलब्ध ज्ञानी कहीं से

भयभीत नहीं होता। यहां आनन्दमय की प्राप्ति को ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है, कि ब्रह्म आनन्द का हेतु है। अन्यथा जीवात्मा को आनन्दप्राप्ति के लिये ब्रह्मसामीप्य की अपेक्षा न होती, ब्रह्म आनन्द का हेतु है, इसीलिये जीवात्मा साक्षात्कार द्वारा वहां पहुंचने का प्रयत्न करता है। फलतः ब्रह्म आनन्दरूप होने से असीम आनन्द का भण्डार है। इसीसे 'आनन्दमय' पद में 'मयट्' प्राचुर्यार्थक सिद्ध होता है ॥१४॥

ब्रह्म को 'आनन्दमय' पद से पञ्चम कोश के रूपमें वर्णन किया गया। यह अन्तिम कोश है; इसका तात्पर्य है, कि यह सबसे भीतर छिपकर बैठा है, वहां तक पहुंचने के लिये बाहर के स्तरों को पार करना पड़ता है। यदि मोटे तौर पर हम इसको देखें, तो यही समझना चाहिये, जैसे प्याज के छिलकों में अन्दर की गिरी छिपी रहती है। बाहर का खोल स्थूलशरीर 'अन्नमय' नामक कोश है। आगे प्राणमय, मनोमय कोश सूक्ष्मशरीर है, यह ब्रह्मरन्ध्रप्रदेश में आत्मा को आवेष्टित रखता है, उसके अन्दर ब्रह्म प्रतिष्ठित रहता है। पीछे अनेक प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट किया है, कि ब्रह्म का साक्षात्कार इसी प्रदेश में होता है, इसलिये उसको इस गुहा में प्रतिष्ठित कहा गया है। इस-प्रकार पञ्चम कोशरूप में वर्णित ब्रह्म को जो उपनिषद् में 'गुहाहित' कहा है, क्या ब्रह्म का ऐसा वर्णन वेद के अनुसार है? अथवा वैदिक वर्णन से अतिरिक्तरूप में ब्रह्म का ऐसा वर्णन किया गया है? शिष्य की यह आशंका होने पर सूत्रकार समाधान करता है—

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥१५॥

[मान्त्रवर्णिकम्] मन्त्रवर्ण में प्रतिपादित [एव] ही [च] और [गीयते] गाया जाता है। वेदमन्त्र के पदों में ऐसा कहा हुआ ही ब्रह्म उपनिषद् द्वारा गुहा में बैठा [गुहाहित] वर्णन किया गया है।

तैत्तिरीय उपनिषद् [२।५] में पञ्चम कोशरूप से सबसे भीतर गुहा में छिपे ब्रह्म का जो वर्णन है, वह वेद के अक्षरों में कहा गया है, उसीका गान उपनिषद् ने यहां किया है। वेद[1] में बताया—जिस ब्रह्म में यह समस्त विश्व एक घोंसले में रक्खी वस्तु के समान व्यवस्थित है, तथा उसमें ही यह जगत् का सर्ग-विसर्ग होता रहता है, जो ब्रह्म समस्त विश्व में ओत-प्रोत है; जिसके आधार पर संसार के सर्ग-स्थिति-प्रलय संभव हैं, सब काल जिसमें अन्तर्भूत हैं, जो सत्यज्ञान का आश्रय है; ऐसे सद्रूप गुहा-स्थित अमृत ब्रह्म को जो वेदज्ञ साक्षात्कृतधर्मा तत्त्वदर्शी जानलेता है, वह रक्षकों के भी रक्षक उस परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होजाता है।

इन मन्त्रपदों में यह संकेत किया गया है, कि कोई जिज्ञासु ब्रह्म का उसी समय

---

१. यजुर्वेद, ३२।८-९॥

जानपाता है, जब वह ब्रह्मरन्ध्ररूप गुहा में अवस्थित उसे देखने का प्रयत्न करता है। ब्रह्मज्ञान का उपाय यही है, कि उसे मस्तिष्कगत हृदयप्रदेश में आत्मा के अन्दर देखने का प्रयत्न किया जाय। इसी तत्त्व को उपनिषद् [२।५] में कहा है—'तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयात्, अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः'। यद्यपि आत्मा अतिसूक्ष्म निरवयव तत्त्व है, उसका भीतर-बाहर कुछ नहीं होता, पर हृदयप्रदेश में योगसमाधि आदि द्वारा आत्मज्ञान होजाने के अनन्तर ब्रह्मज्ञान होना संभव है, अन्यथा नहीं; इस वास्तविकता को लक्ष्यकर यह व्यवहार किया जाता है; मानो आत्मा के अन्दर परमात्मा बैठा हुआ है, जो आत्मज्ञान होजाने पर अनायास जानलिया जाता है। जब तक आत्मज्ञान न होगा, तब तक ब्रह्म का जानना संभव नहीं, मानो आत्मा ने अपने अन्दर ब्रह्म को छिपाया हुआ है। आत्मा के साक्षात् प्रकाश में आते ही वह प्रकाशित होजाता है। फलतः उपनिषद् में आनन्दमयरूप से अन्तिम कोश [गुहा] में स्थित जिस तत्त्व का निर्देश है, वह केवल ब्रह्म होसकता है, क्योंकि इसरूप में ब्रह्म का वर्णन मन्त्रवर्ण के अनुकूल है, उसके साथ सर्वात्मना सामञ्जस्य रखता है।

मन्त्रवर्णों में इस विषय का अनेकत्र वर्णन पाया जाता है। ऋग्वेद [१।२३।१४] का मन्त्र है—'पूषा राजानमाघृणिरपगूढं गुहाहितम्, अविन्दच्चित्रबर्हिषम्' जीवात्मा चेतनस्वरूप अन्तर्यामी हृदयस्थित विविध विश्व के रचयिता राजा परमात्मा को जानलेता है। यहां हृदयस्थित [गुहाहितं] परमात्मा को ध्येय-ज्ञेय बताया है। ऋग्वेद में अन्यत्र [६।९।५] कहा—'ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये' वह निश्चल चैतन्य ब्रह्म प्राणियों के हृदयदेश में बैठा हुआ है[1]। इस विषय में ऋग्वेद [१।६७।२-३] तथा अथर्ववेद [१०।८।४१] द्रष्टव्य हैं। इससे यह निश्चित होता है, कि उपनिषदों में प्रजापति परब्रह्म परमात्मा का हृदयगुहावस्थित होने का जो वर्णन है, वह मन्त्रवर्ण अर्थात् वेद के अनुकूल है ॥१५॥

शिष्य आशंका करता है, जीवात्मा को ही आनन्दरूप क्यों न माना जाय, वह चेतनस्वरूप है। पञ्चकोश का वर्णन जीवात्मा की अवस्थाओं को बतलाने के लिये है, आनन्दमय कोश भी जीवात्मा की एक अवस्था है, इसलिये 'आनन्दमय' पद का प्रयोग जीवात्मा के लिये माना जाना चाहिये, इससे ब्रह्म का निर्देश मानना प्रकरणानुकूल नहीं, फलतः ब्रह्म का स्वरूपलक्षण आनन्दरूप होना असिद्ध होजाता है। गुरु सूत्रकार इस आशंका का समाधान करता है—

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१६॥

[न] नहीं [इतरः] अन्य, दूसरा [अनुपपत्तेः] उपपादन न किये जाने से। ब्रह्म से अन्य, जीवात्मा आनन्दमय नहीं, क्योंकि उपपत्ति-युक्ति द्वारा इसका प्रतिपादन

१. पूरे मन्त्र की व्याख्या देखें—अ० सू० १।१।२४ के भाष्य में।

नहीं किया जासकता।

तैत्तिरीय उपनिषद् ब्रह्मवल्ली के प्रारम्भ में कहा गया है—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' ब्रह्म को जानने वाला परमपद-मोक्ष को प्राप्त करलेता है। वस्तुतः आनन्दरूप ब्रह्म का ज्ञान अर्थात् इसप्रकार की अनुभूति ही जीवात्मा के मोक्ष का स्वरूप है। उपक्रम में ब्रह्मज्ञान को मोक्षसाधन कहकर उपसंहार [२।८] में कहा—'अस्माल्लोकात्प्रेत्य··· एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' आत्मज्ञान होजाने पर सब प्रकार के शरीरबन्धन को छोड़ जीवात्मा आनन्दमय आत्मा [ब्रह्म] को प्राप्त होजाता है। आगे इसी अवस्था का स्वरूप बतलाते हुए कहा है—

यतो वाचो निवर्त्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, न बिभेति कुतश्चन ॥ इति ॥

मन सहित वाक् आदि समस्त इन्द्रियां जहां से निवृत्त होजाती हैं, अर्थात् जिसे कभी प्राप्त नहीं करपातीं, उस ब्रह्मानन्द को प्राप्त हुआ तत्त्वदर्शी आत्मज्ञानी भय दुःख आदि से परे चला जाता है; संसार दुःख से पार होजाता है। इसप्रकार जीवात्मा की आत्मज्ञान के अनन्तर आनन्दमयप्राप्ति को मोक्ष का स्वरूप बताया गया है। यदि जीवात्मा स्वभावतः आनन्दरूप है, और उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसंग में 'आनन्दमय' पद उसीका निर्देश करता है, तो आनन्दमय को प्राप्त होकर जीवात्मा का भय से परे होना बतलाना अनुपपन्न होगा। ऐसे जीवात्मा को आनन्द के लिये न किसी तरह के प्रयत्न करने की अपेक्षा है, न किसी अन्य आनन्दमय को प्राप्त करने की आवश्यकता।

प्रकरण के उपक्रम और उपसंहार के सामञ्जस्य से यह स्पष्ट होता है, कि उपक्रम में जिस ब्रह्म को जानकर परमपद की प्राप्ति बताई गई है, उपसंहार में उसीको 'आनन्दमय' कहा है, और उसकी प्राप्ति को मोक्षरूप में वर्णन किया है। इससे स्पष्ट, आनन्दमय पद प्रस्तुत प्रसंग में ब्रह्म के लिये प्रयुक्त हुआ है। उपनिषद् में ब्रह्म को जगत्स्रष्टा कहा है—'स···इदं सर्वमसृजत' [तै० २।६]। आनन्दमय परमात्मा ने इस सब जगत् को बनाया। इस प्रकरण में यदि 'आनन्दमय' पद जीवात्मा का निर्देशक माना जाय, तो उसके जगत्कर्त्ता होने का उपपादन नहीं किया जासकता। आगे स्वयं सूत्रकार ने स्वीकार किया है, कि जीवात्मा किसी अवस्था में जगत्स्रष्टा नहीं होसकता [४।४।१७]। फलतः 'आनन्दमय' पद ब्रह्म के लिये प्रयुक्त हुआ है, ऐसा मानना शास्त्रसंगत है॥१६॥

'आनन्दमय' पद जीवात्मा के लिये प्रस्तुत प्रकरण में प्रयुक्त नहीं है, इसकी पुष्टि के लिये सूत्रकार अन्य हेतु उपस्थित करता है—

भेदव्यपदेशाच्च ॥१७॥

[भेदव्यपदेशात्] भेद का कथन होने से [च] और। जीवात्मा तथा आनन्दमय ब्रह्म का इस प्रकरण में भेद बताया गया है, इसकारण भी जीवात्मा 'आनन्दमय' नहीं।

'आनन्दमय' को प्रस्तुत कर उपनिषद् [२।७] में कहा—'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'। वह आनन्दमय 'रस' है, असीम आनन्द का आश्रय एवं सार है, उस 'रस' को प्राप्त करके यह जीवात्मा आनन्दयुक्त होता है। यहां जीवात्मा और आनन्दमय ब्रह्म को स्पष्टरूप से परस्पर भिन्न बताया गया है। जीवात्मा आनन्द का लब्धा है, ब्रह्म लब्धव्य है। लाभ करने वाला स्वयं लब्धव्य कभी नहीं होता। इसके अतिरिक्त यदि जीवात्मा आनन्दमय होता, तो उसे अन्य से आनन्द का लाभ करने की आवश्यकता ही क्या रहती। ब्रह्म को आनन्द का देने वाला बताया है—'एष ह्येवा-नन्दयाति' [तै० २।७] स्वतः आनन्दमय जो हो, वही अन्य को आनन्द दे सकता है। इसलिये आनन्द का देने वाला ब्रह्म आनन्दमय है; जीवात्मा तो ब्रह्म को प्राप्त होकर उसके एक अंशमात्र का उपभोग करपाता है।

इसी प्रकरण में अन्यत्र स्पष्टरूप से जीवात्मा को आनन्दमय से भिन्न कहा है—'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' [तै० २।५], इस विज्ञानमय से भिन्न, और उसके भीतर एक आत्मा आनन्दमय है। यहां विज्ञानमय पद से जीवात्मा और उससे भिन्न तथा उसके भीतर आनन्दमय आत्मा [ब्रह्म] बताया है। उपनिषदों में अन्यत्र भी जीवात्मा को विज्ञानमय कहा गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।३।७] के जनक-याज्ञवल्क्यसंवाद में जनक ने प्रश्न किया—'कतम आत्मेति' वह आत्मा कौनसा है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' जो यह हृदय [मस्तिष्कगत ब्रह्मरन्ध्र]के अन्दर प्राणवृत्तिक इन्द्रियों के बीच घिरा हुआ विज्ञानमय ज्योतिः पुरुष है, चेतन आत्मा है। यहां स्पष्ट ही जीवात्मा के लिये विज्ञानमय पद का प्रयोग हुआ है। 'आनन्दमय' पद के समान यहां भी 'मयट्' प्रत्यय प्राचुर्य अथवा प्राधान्य अर्थ में है, यह सिद्ध किया जाचुका है [सू० १।१।१३]। अन्यत्र [मुण्ड० ३।२।७] भी कहा—'विज्ञानमयश्च आत्मा' विज्ञानमय आत्मा [जीवात्मा] है। केवल 'विज्ञान' पद का प्रयोग भी अनेकत्र [तै० २।५।। बृह० ३।७।२२] जीवात्मा के लिये हुआ है। विज्ञानमय-जीवात्मा को आनन्दमय ब्रह्म से यहां भिन्न बताया है। इस भेदव्यपदेश से जीवात्मा आनन्दमय नहीं कहा जासकता।

आत्मा के भीतर ब्रह्म के होने का तात्पर्य क्या है, इसका उल्लेख पहले किया जाचुका है [१।१।१३], इसतरह के वर्णन उपनिषद् में अनेकत्र पाये जाते हैं। बृहदा-रण्यक उपनिषद् के अन्तर्यामी ब्राह्मण [३।७।२२] में सन्दर्भ है—

'यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।'

जो विज्ञान [जीवात्मा] में ठहरा हुआ विज्ञान से भिन्न है, जिसको जीवात्मा नहीं जानता, जीवात्मा जिसका शरीर है, जो अन्दर रहकर आत्मा को नियम में रखता है, वह अन्तर्यामी अमृत आत्मा [ब्रह्म-परमात्मा] तेरे लिये ज्ञातव्य है। यहां जीवात्मा

के अन्दर अन्तर्यामी ब्रह्म का वर्णन किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् [१।१२ तथा ६।१२] में कहा—'एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्' तथा 'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः' नित्य ही आत्मा में स्थित यह ब्रह्म ज्ञातव्य है, उससे परे अन्य कोई जानने योग्य तत्त्व नहीं है; आत्मा में स्थित उस ब्रह्म को जो धीर पुरुष जान लेते हैं, उनको शाश्वत आनन्द का लाभ होता है। इसी अर्थ का प्रतिपादन कठ उपनिषद् [२।२।१२-१३] में किया गया है।

आचार्य शङ्कर ने विज्ञानमय आत्मा और आनन्दमय ब्रह्म के इस भेदव्यपदेश को अविद्याकृत माना है, वास्तविकरूप में उनको अभिन्न बताया है। यदि सूत्रकार को ऐसा भेदव्यपदेश स्वीकृत होता, तो यहां इस हेतु का निर्देश करना अनपेक्षित होता। आचार्य के विचार से अविद्याकृत भेद संसार अवस्था में कहाजाना उपयुक्त हो, पर आत्मज्ञान अथवा मोक्ष अवस्था प्राप्त होने पर अविद्या नहीं रहती, उस अवस्था में भेदव्यपदेश अविद्याकृत नहीं कहा जासकता। पञ्चकोशों में अन्तिम कोश द्वारा आत्मा की मोक्ष अवस्था का वर्णन है, वहां भेद का कथन अविद्याजन्य बताना शास्त्रसंगत नहीं है। सूत्रकार ने स्वयं अपनी रचना के अंतिम भाग [४।४।१७] में यह स्वीकार किया है कि मुक्त आत्मा ब्रह्मरूप नहीं होता। तब आत्मा और ब्रह्म के भेदव्यपदेश में यहां सूत्रकार का यह आशय नहीं समझा जाना चाहिये, कि यह भेदकथन अविद्याकृत है, जैसा कि आचार्य शङ्कर ने समझाने का प्रयास किया है ॥१७॥

तैत्तिरीय उपनिषद् के उक्त प्रकरण में 'आनन्दमय' पद से जीवात्मा का ग्रहण नहीं होता, इसकी पुष्टि के लिये सूत्रकार अन्य हेतु उपस्थित करता है—

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥१८॥

[कामात्] कामना से [च] भी [न] नहीं [अनुमानापेक्षा] अनुमान प्रमाण से जाने गये की अपेक्षा। आनन्दमय के प्रकरण में आनन्दमय की प्राप्ति से जीवात्मा को सब कामनाओं की पूर्त्ति होने का उल्लेख किया गया है, इसलिये शब्दद्वारा साक्षात् कहे गये अर्थ के सन्मुख, केवल अनुमान के आधार पर आनन्दमय पद से जीवात्मा के ग्रहण करने की अपेक्षा नहीं रहती।

जीवात्मा में आनन्द को प्राप्त करने की कामना-अभिलाषा बराबर देखी जाती है। कामना सदा अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की होती है। जीवात्मा में आनन्द-प्राप्ति की कामना तभी संभव है, जब यह स्वीकार किया जाता है, कि जीवात्मा आनन्द-रूप नहीं है। यदि वह स्वरूपतः आनन्दमय हो, तो उसे आनन्द की कामना कैसी ? पर जीवात्मा में आनन्दप्राप्ति की कामना रहती है, और उस आनन्दमय की प्राप्ति से उसकी समस्त कामनाओं की पूर्त्ति होने का उपनिषद् में उल्लेख है। तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मवल्ली के प्रारम्भ में कहा—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' ब्रह्म को जानने वाला व्यक्ति

सर्वोत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त करलेता है। आगे कहा—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ब्रह्म सत्य-स्वरूप है, चेतनस्वरूप है, अनन्त है। 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान्' जो व्यक्ति गुहा में बैठे उस ब्रह्म को जानलेता है, वह समस्त कामनाओं को प्राप्त करलेता है। इसी ब्रह्म को आगे प्रकरण में 'आनन्दमय' पद से निरूपित किया गया है।

आगे प्रकरण के अन्तिम भाग में पुनः बताया—जीवात्मा यदि ब्रह्म को जान-लेता है, उससे प्रमाद नहीं करता, तो शरीर में होने वाले सब दुःखों पापों से दूर होकर सब कामनाओं को प्राप्त करलेता है [२।५]। इसीके अनन्तर उस ब्रह्म को विज्ञानमय जीवात्मा के अन्दर 'आनन्दमय' पद द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। समस्त प्रकरण के अन्त में पुनः कहा—'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, न बिभेति कुतश्चन' ब्रह्मानन्द को जानने वाला अथवा प्राप्त करलेने वाला व्यक्ति किसी तरह भयभीत अथवा दुःखी नहीं रहता। इस सबके आधार पर निश्चित है, कि ब्रह्म को जानने वाला अथवा ब्रह्मानन्द को प्राप्त करने वाला व्यक्ति जीवात्मा है, इस अवस्था को प्राप्त कर वही अपनी कामनाओं को पूरा करता है। जीवात्मा की इस आनन्दप्राप्ति की कामना से निश्चय होता है, कि वह स्वतः आनन्दरूप नहीं है। वह आनन्दमय ब्रह्म की प्राप्ति से अपनी कामना को पूरा करता है। ऐसी अवस्था में जब शब्दप्रमाण ब्रह्म को साक्षात् आनन्दरूप प्रतिपादित कर रहा है, तब केवल अनुमान के आधार पर यह अनपेक्षित होता है, कि जीवात्मा चेतन होने से आनन्दरूप होना चाहिये। चेतन होने पर भी आनन्दरूपता जीवात्मा में प्रत्यक्ष-बाधित है। यह सर्वानुमोदित तथ्य है, कि जीवात्मा पदे-पदे दुःखानुभव करता है, प्रति-कूल वेदनाओं का वह क्षेत्र है। यह कहना भी निरर्थक है, कि वह अपने ज्ञानसामर्थ्य से ऐसे साधनों का सञ्चय करने में सफल होता है, जो उसके लिये अनुकूल अनुभूतियों के उभारने में सक्षम हैं। कारण यह है, कि साधनों का संचय स्वयं एक दुःखराशि से अतिरिक्त कुछ नहीं। जीवात्मा का ज्ञानसामर्थ्य भी अल्प है और ये ऐसे सब साधन अत्यल्पकालिक हैं। इनसे उस आनन्द की मात्रा का कण भी प्राप्त होना असंभव है। इस विषय में किसी कवि ने अच्छा कहा है—

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानाञ्च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् कष्टसंश्रयान्॥

जिन आधिभौतिक साधनों को हम आनन्ददायक समझे बैठे हैं, वस्तुतः वे सब कष्टों के आश्रय हैं। उन साधनों के अर्जन-रक्षण, आय-व्यय आदि में कष्ट ही कष्ट हैं। फलतः जीवात्मा आनन्दकामना से अभिभूत होने के कारण स्वतः आनन्दरूप नहीं है, यह स्थिर होता है।

इसके विपरीत ब्रह्म को शास्त्र ने 'अकाम' बताया है। 'अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः' [अथर्व० १०।८।४४]

वह ब्रह्म कामनारहित है, धीर, अमृत, स्वयंभू है; आनन्द से पूर्ण, किसी भी तरह न्यून नहीं। उसीको जानकर अथवा प्राप्तकर व्यक्ति मृत्यु से भयभीत नहीं होता। यहां ब्रह्म को 'अकाम' और 'रस' आनन्द से पूर्ण कहा गया है। इसी अर्थ को उपनिषद् [तै० २।७] में कहा—'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'। ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिये जीवात्मा की कामना का संकेत वेद में उपलब्ध होता है। ऋग्वेद [७।८६।२] का मन्त्र है—

उत स्वया तन्वा सं वदे तत् कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृडीकं सुमना अभिख्यम् ।।

कैसे मैं अपने शरीर से भगवान् के संपर्क में आऊं ? कब मैं उस वरणीय परमात्मा में अन्तर्भूत होजाऊं ? मेरी प्रार्थनाओं को दयालु भगवान् किसप्रकार सुनेगा? शुद्धमन होकर मैं कब उस आनन्ददाता परमात्मा को देख सकूंगा ? इस ऋचाद्वारा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिये जीवात्मा की कामना अभिलक्षित होती है।

शंका की जासकती है, कि उपनिषदों में ब्रह्म की कामना का भी उल्लेख हुआ है—'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेय' [तै० २।६]। उसने [ब्रह्म ने] कामना की, मैं बहुत होजाऊं, प्रजाओं को उत्पन्न करूं। यदि कामना होने के कारण जीवात्मा को आनन्दमय नहीं माना जासकता, तो ब्रह्म भी आनन्दमय न होना चाहिये, क्योंकि उसकी कामना का भी उपनिषदों में निर्देश उपलब्ध है।

वस्तुतः जीवात्मा की कामना की समानता ब्रह्म की इस कामना के साथ नहीं की जानी चाहिये। जीवात्मा की कामना अप्राप्त को प्राप्त करने की कामना है। जीवात्मा स्वरूपतः आनन्दमय नहीं है, वह अप्राप्त आनन्द को प्राप्त करना चाहता है, उसके लिये प्रयत्न करता है, आत्मज्ञान होजाने पर उस अवस्था का अनुभव करता है। ब्रह्म की सर्गविषयक कामना अप्राप्त को प्राप्त करने की कामना नहीं है, वह उसका सत्यसंकल्प है, जो अनादि अनन्त है। जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का वह अधिष्ठाता है, उसके इस भवचक्रसंचालन में कभी कोई अन्तर नहीं आता। यह क्रम अनादि अनन्त है। यहां अप्राप्त को प्राप्त करने का कोई प्रश्न या अवसर नहीं है। ब्रह्म के सर्गादिविषयक इसी सत्यसंकल्प का उपनिषदों में जहां-तहां कामनारूप से उल्लेख हुआ है। जीवात्मा की कामना के साथ इसको जोड़ना निराधार है। फलतः जीवात्मा में आनन्दप्राप्ति की कामना होने से निश्चित होता है, कि वह स्वतः आनन्दरूप नहीं है; इसलिये उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसंग में 'आनन्दमय' पद से जीवात्मा का ग्रहण नहीं किया जाना चाहिये ।।१८।।

आनन्दमय पद से तैत्तिरीय उपनिषद् के उक्त प्रसंग में जीवात्मा का ग्रहण नहीं होता, इस विषय में प्रकरण के उपसंहार के साथ सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥१९॥

[अस्मिन्] इसमें (आनन्दमय में) [अस्य] इसका (जीवात्मा का) [च] भी [तद्योगं] उसके साथ सम्बन्ध [शास्ति] बतलाता है। आनन्दमय ब्रह्म में जीवात्मा का आनन्दप्राप्तिरूप से सम्बन्ध भी शास्त्र बतलाता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् के उक्त प्रकरण [ब्रह्मवल्ली अध्याय] में जीवात्मा की अन्नमयादि सांसारिक अवस्थाओं को बतलाते हुए अन्त में मोक्षावस्था आनन्दमय ब्रह्म की प्राप्ति को बताया है। ब्रह्म में दृढ़ निष्ठा रखते हुए प्रयत्नपूर्वक समाधिद्वारा जब जीवात्मा आत्मसाक्षात्कार करलेता है, तब वह आनन्दमय ब्रह्म में प्रतिष्ठा का लाभ करता है। यह जीवात्मा की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है, इसीको मोक्ष कहा जाता है। इस स्थिति का निर्देश करते हुए उपनिषद् [तै० २।७] में कहा है—

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते।
अथ सोऽभयं गतो भवति।

निश्चय ही जब यह जीवात्मा इस आनन्दमय अदृश्य अशरीर अवर्णनीय निराधार ब्रह्म में अभय प्रतिष्ठा को प्राप्त करलेता है, तब कहा जाता है, कि यह जीवात्मा अभय [मोक्ष] को प्राप्त होगया है, इस अवस्था में उसे सांसारिक दुःख आदि का कोई भय नहीं रहता। पर आत्मज्ञान न होने की दशा में जीवात्मा अज्ञान के कारण ब्रह्म से दूर रहता है; उस अवस्था में उसे बराबर सांसारिक भय बना रहता है, दुःखमय जीवन-मरण के भंवरजाल में फंसा रहता है—'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति'।

यहां शास्त्र ने आत्मज्ञान होने पर जीवात्मा को आनन्दमय ब्रह्म में प्रतिष्ठित होने का उल्लेख किया है, और उस अवस्था को अभय बतलाया है। इससे स्पष्ट होता है, कि संसारदशा को पार करलेने के अनन्तर जब जीवात्मा अभय को प्राप्त करता है, वह उसकी ब्रह्मप्राप्ति की दशा है, उसीको 'आनन्दमय' कहागया है। यह तभी सम-ञ्जस होसकता है, जब आनन्दमय पद से परमात्मा का ग्रहण किया जाय। यदि जीवात्मा स्वयं आनन्दमय हो, तो अदृश्य अवर्णनीय ब्रह्म में प्रतिष्ठा को लाभकर जीवात्मा को अभय की प्राप्ति कहना निरर्थक व असंगत होगा।

ब्रह्म में जीवात्मा की प्राप्ति अथवा योग का संकेत वेद में उपलब्ध होता है। यजुर्वेद [३२।११] में कहा—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥

समस्त भूत लोक-लोकान्तर दिशा-प्रदिशाओं की यथार्थता को जानकर परमात्मा की प्रथम वाणी वेद के आदेशानुसार आचरण करता हुआ आत्मज्ञानी अपने आप

से परमात्मा में प्रवेश करजाता है, उसमें प्राप्त होजाता है।

ऋग्वेद [७।८६।२] में कहा—'कदा न्वन्तर्वरुणे भवानि' कब मैं वरणीय आनन्दमय आत्मा में अन्दर होऊं। परमात्मा में प्राप्त होने की अपनी आकांक्षा जीवात्मा प्रकट करता है। आत्मा का आनन्दमय ब्रह्म में प्राप्त होने का वैदिक वर्णन इस तथ्य को स्पष्ट करता है, कि ब्रह्म आनन्दरूप है।

शास्त्र के प्रारम्भ में प्रथम सूत्र से ब्रह्म की जिज्ञासा का उपक्रमकर आगे इन अठारह सूत्रों द्वारा सूत्रकार ने ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण किया है। शास्त्र में ब्रह्म को सत्-चित्-आनन्दस्वरूप बताया है। प्रथम तीन सूत्रों [२-४] के द्वारा सूत्रकार ने ब्रह्म के सत्स्वरूप को स्पष्ट किया, उसके अनन्तर सात सूत्रों [५-११] द्वारा चित्स्वरूप का निरूपण किया, तदनन्तर आठ सूत्र [१२-१९] ब्रह्म के आनन्दस्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। इसप्रकार उपक्रान्त ब्रह्मजिज्ञासा का समाधान ब्रह्म के सच्चिदानन्दरूप का उपपादन करके सम्पन्न होजाता है। ब्रह्म के इस स्वरूप का निरूपण करने के लिये सूत्रकारद्वारा सूत्ररचना में जिन शास्त्रवचनों का आश्रय लेना आचार्यों ने स्वीकार किया है, उनका यथायथ वर्णन उन-उन सूत्रों की व्याख्या में पूर्णरूप से करने का प्रयत्न किया गया है। इसका यही तात्पर्य है, कि प्राचीन साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने ब्रह्मस्वरूप के विषय में जो अपने विचार प्रकट किये हैं, सूत्रकार ने उनको प्रस्तुत दर्शन के रूप में सूत्रबद्ध कर दिया है। इस दर्शन का मुख्य विषय ब्रह्मस्वरूप का प्रस्तुत करना है।

ब्रह्मस्वरूपनिरूपण के लिये निबद्ध इन प्रारम्भिक सूत्रों में ईक्षत्यधिकरण [५-११] के द्वारा आचार्य शंकर ने जो सांख्य के प्रकृतिवाद का खण्डन किया है, वह प्रसंग से असंगत एवं उत्सूत्र व्याख्यान है। आचार्य ने इन सूत्रों के आधार पर जिन भावनाओं को उभारने का प्रयास किया है, उनके आधार वे शास्त्रवचन प्रतीत नहीं होते, जिनमें इस विषय की अपनी भावनाओं को अतिप्राचीन साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने निहित किया, तथा सूत्रकार ने अपने विचारों के लिये जिन्हें आश्रय माना, ऐसा स्वीकार किया जाता है। इसप्रकार का विवेचन यथापेक्षित सूत्रों के विवरण में प्रस्तुत कर दिया गया है।

आनन्दमयाधिकरण [१२-१९] की व्याख्या आचार्य शंकर ने प्रथम प्राचीन वृत्तिकारों के अनुसार की है, और 'आनन्दमय' से ब्रह्म का निर्देश माना है। परन्तु बाद में उसमें कुछ आपत्तियां प्रस्तुतकर 'आनन्दमय' से जीवात्मा का ग्रहण मान, 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' से ब्रह्म का निर्देश माना है, तथा इसीके अनुसार पुनः अधिकरण की व्याख्या की है। आचार्य का अभिप्राय है, कि उक्त वाक्य में ब्रह्म का निर्देश मुख्यरूप अथवा स्वप्रधानरूप में माना जाना चाहिये, अवयवरूप में नहीं, जैसाकि आपाततः ब्रह्म को पुच्छरूप बताये जाने से प्रतीत होता है। परन्तु आचार्य का यह कथन सूत्रकार के आशय के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। यदि सूत्रकार को यही वाक्य सूत्र का आधार मान सूत्र-

रचना अभिप्रेत होती, तो वह 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' यह रचना न कर 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठाऽभ्यासात्' ऐसी रचना करता। इससे स्पष्ट होता है, कि सूत्ररचना का आधार उक्त वाक्य न होकर वे वाक्य हैं जहां 'आनन्दमय' को मुख्य ब्रह्म बताया गया है, तथा उपनिषद् के उक्त प्रसंग में अनेकवार उसका उल्लेख हुआ है।

आचार्य ने भाष्य में अगले दो [१३-१४] सूत्रों की व्याख्या इसीके अनुसार और लिखी है। तेरहवें सूत्र के 'विकार' पद का अभिप्राय अवयव माना, और अर्थ किया—यदि यह कहो, कि ब्रह्म को पुच्छ कहे जाने से यह अवयव-कथन है, ब्रह्म का स्वप्रधान कथन नहीं; तो यह कहना ठीक न होगा; क्योंकि प्रचुरता से भी अवयव-कथन युक्त होसकता है, प्राचुर्य का अभिप्राय है—प्रायः अवयवरूप में कथन होना। अन्नमय आदि के सिर से पुच्छपर्यन्त अवयव कहकर, आनन्दमय के भी सिर आदि अन्य अवयव कहकर प्रायः अवयव-कथन के प्रसंग से 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' कहा गया है, मुख्यतया अवयव कहने की इच्छा से नहीं।

आचार्य ने इस व्याख्यान के करने में बहुत स्वतन्त्रता वर्त्ती है, प्रसंगानुकूल उपनिषद् वाक्यों की उपेक्षा की है। तेरहवें सूत्र में 'विकार' का प्रतिषेध कर 'प्राचुर्य' को स्वीकार किया है। यह स्पष्ट है, कि ये दोनों अर्थ 'मयट्' प्रत्यय के हैं, जिसका 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' वाक्य में सर्वथा अभाव है। इस प्रत्यय का प्रयोग 'आनन्दमय' पद में है। सूत्रकार के आशय के अनुसार उसीके अर्थ का विचार यहां होना चाहिये, जो सर्वथा स्वारस्यपूर्ण है। सूत्रकार के आशय के विपरीत आचार्य ने उस सबका त्यागकर 'विकार' पद का अर्थ अवयव और प्राचुर्य का प्रायोवचन लेकर सर्वथा उत्सूत्र व्याख्यान किया है, फलतः यह अग्राह्य है।

अगले चौदहवें सूत्र का अर्थ किया—आनन्दमयसहित समस्त विकारसमूह के कारणरूप से ब्रह्म का कथन किया जाता है—'इदं सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च' [तै० २।६], इस सबको रचा, जो कुछ यह है। यहां ब्रह्म को समस्त सृष्टि का कारण बताया है, वह आनन्दमय का भी कारण है। ऐसी अवस्था में अपने विकार आनन्दमय का अवयव वह मुख्यवृत्ति से नहीं माना जासकता, इसलिये यहां ब्रह्म को स्वप्रधानतया विवक्षित होना स्वीकार किया जाना चाहिये।

आचार्य की यह सूत्रार्थकल्पना अत्यन्त शिथिल है, प्रकरणसंगतिरहित भी। यदि सूत्रकार को यहां उक्त उपनिषद् वाक्य [तै० २।६] के आधार पर ब्रह्म को कारण बताना अभिप्रेत होता, तो 'हेतुव्यपदेशाच्च' इतना सूत्र पर्याप्त होता। 'तद्धेतु' कहने से 'तत्' पद पहले कहे हुए का परामर्श करता है, उसीका यहां ग्रहण होना चाहिये, और वह आनन्द है। इसलिये आनन्द का हेतु कहने से आनन्दमय ब्रह्म है, यही अर्थ संगत होता है। प्रकरण का उपक्रम 'आनन्दमय' पद से किया गया है—'आनन्दमयो ऽभ्यासात्'। उसीके विषय में यह हेतुव्यपदेश माना जाना चाहिये। ब्रह्म के कारणकथन में सूत्र को

लगाना उत्प्रकरण है।

आगे १५ से १९ तक पांच सूत्रों का आचार्य ने कोई व्याख्यान नहीं किया, केवल इतना कहकर छोड़ दिया है, कि अन्य सूत्रों को भी यथासंभव पुच्छवाक्यनिर्दिष्ट ब्रह्म के उपपादन में समझलेना चाहिये। यद्यपि शांकरभाष्य के व्याख्याकारों ने उन सूत्रों की व्याख्या भी आचार्य की भावना के अनुकूल की है; पर उसमें अर्थशैथिल्य उसीप्रकार है। ऐसे सूत्रार्थ की स्पष्ट असंगति को देखते हुए उनका यह भी कहना है, कि यदि सूत्र का श्रुति के साथ विरोध है, तो श्रुति को प्रधान मानते हुए 'गुणे त्वन्याय्य-कल्पना' न्याय के अनुसार गुणभूत सूत्रों की अन्य प्रकार से व्याख्या करलेने में कोई दोष नहीं माना जाना चाहिये। पर वस्तुतः श्रुति के साथ सूत्र का यह विरोध जानबूझकर निराधार खड़ा किया गया है। सूत्रकार ने जिस रूप में श्रुति के अभिप्राय को समझा, उसीके अनुसार उसने सूत्ररचना की। यह आचार्य का साहस है, जो उसने सूत्रकार के अभिप्राय के विपरीत उपनिषत्संदर्भ को सूत्रों का लक्ष्य कहकर सूत्रार्थ को अन्यथा करने का प्रयास किया, और श्रुति के साथ सूत्रों का मिथ्याविरोध खड़ा करने का आधार बनाया। इससे स्पष्ट है, कि इन सूत्रों के स्वारसिक एवं समुचित अर्थ को त्यागकर मनमाना अर्थ करने में खैंचातानी की गई है, जो सूत्रकार की भावना के विपरीत है।

आचार्य शंकर ने पूर्वव्याख्याकारों के अनुसार इन सूत्रों [१२–१९] का जो अर्थ पहले किया है, आचार्यद्वारा उन अर्थों के विषय में उठाई गई आपत्तियों का विवेचन करलेना उपयुक्त होगा।

(१) पहली आपत्ति है, कि अन्नमय, प्राणमय आदि पदों में विकारार्थक 'मयट्' के प्रवाह में पठित केवल 'आनन्दमय' पद में 'मयट्' का अर्थ प्राचुर्य नहीं माना जासकता, इसलिये यह पद ब्रह्म का वाचक नहीं है।

इस विषय में वक्तव्य है, कि 'अन्नमय' आदि पदों में 'मयट्' निश्चितरूप से विकारार्थक है, यह प्रमाणित नहीं है। प्रत्युत इसके विपरीत उन पदों में भी 'मयट्' प्राचुर्य अथवा प्रधान व मुख्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यह अधिक संगत एवं प्रमाण-मूलक है। इसका विस्तृत विवरण हमने तेरहवें सूत्र के व्याख्यान में करदिया है। व्याकरण की व्यवस्था के अनुसार 'आनन्दमय' पद में 'मयट्' के विकारार्थक होने की संभावना ही नहीं। पाणिनि [४।३।१५०] के अनुसार छन्द में दो स्वर [अच्] वाले पद से विकार अर्थ में 'मयट्' होता है, अन्य पदों से नहीं। 'विज्ञान' और 'आनन्द' पद दो स्वर वाले नहीं हैं, तीन स्वर वाले हैं। इसलिये इन पदों से छन्द में विकारार्थक 'मयट्' प्रत्यय होना संभव नहीं। यहां प्राचुर्यार्थक 'मयट्' माना जासकता है। दो स्वर वाले पदों से छन्द में 'मयट्' प्रत्यय अवश्य विकार अर्थ में हो, ऐसा निर्धारण नहीं है, यह बात अगले निषेधसूत्र [४।३।१५१] से अभिव्यञ्जित होती है। ऐसी दशा में 'अन्नमय' आदि पदों में प्राचुर्यार्थक 'मयट्' की संभावना आपत्तिजनक नहीं है।

(२) दूसरा आक्षेप है, कि 'आनन्दमय' के प्रिय, मोद, प्रमोद आदि अवयव कहे गये हैं। ब्रह्म निरवयव है, इसलिये 'आनन्दमय' विकारयुक्त आत्मा कहा जासकता है, ब्रह्म नहीं।

इस विषय में समझना चाहिये, कि असीम आनन्द का रूप अथवा स्थान ब्रह्म है। अन्य प्राणी [जीवात्मा] उसी आनन्द के अत्यल्प अंश का उपभोग करते हैं [बृह० ४।३।३२]। आनन्दमय के प्रकरण में कहा—कौन जीवित रहे और कौन प्राण धारण करे, यदि यह प्रकाशमान चेतन आनन्द [ब्रह्म] न हो, क्योंकि यही सब के [जीवात्माओं के] आनन्द का हेतु है [तै० २।७]। जब आनन्दरूप अथवा आनन्द का स्रोत केवल वही है, तो प्रिय, मोद, प्रमोद आदि को उसके अवयवरूप से वर्णन करने में कोई अनौचित्य नहीं है। पञ्चकोश का वर्णन जीवात्मा की सदेह अवस्था से लेकर मोक्षपर्यन्त स्थिति का विवरण देता है। अन्तिम कोश 'आनन्दमय' है, जहां जीवात्मा ब्रह्म में प्राप्त हो-जाता है। इसलिये यह पद ब्रह्म का बोधक है। प्रकरण के उपसंहार में [तै० २।८-८] जीवात्माद्वारा आनन्दमय आत्मा की प्राप्ति को ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है, कि जो आनन्दमय है वही ब्रह्म है। पञ्चकोशद्वारा सदेह जीवात्मा के जैसे अवयवों का वर्णन किया गया है, मोक्षावस्था में उनकी संभावना नहीं। वहां जीवात्मा के सब ओर आनन्द ही आनन्द है, इसलिये उस अवस्था में अवयवरूप से प्रिय, मोद, प्रमोद आदि का प्रकट करना आनन्दमय के वास्तविक अवयव का साधक नहीं है। सब ओर फैले आनन्द का ही इन पदोंद्वारा उल्लेख हुआ है। यहां उसके अवयव बताने की मुख्य भावना नहीं है। इसी रूप में यहां 'आनन्द' को आत्मा भोगता है। आत्मा को वहां सिवाय आनन्द के अन्य कोई अनुभूति नहीं। इस अवस्था का आधार केवल ब्रह्म है, यह बात अन्तिम वाक्य [ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा] से स्पष्ट की गई है। यहां ब्रह्म को पूंछ-अवयव बताने में उपनिषत्कार का सर्वथा तात्पर्य नहीं है। ऐसे वर्णन से सदेह आत्मा के समान 'आनन्दमय' के अवयवों की कल्पना करना निराधार है। अर्थ की वास्तविकता तक पहुंचने के लिये बोद्धा को ग्रन्थकार के अभिप्रेत की ओर ध्यान देना आवश्यक है। उपनिषद् के उक्त प्रसंग में 'आनन्दमय' अथवा ब्रह्म की अवयवावयविविषयक कल्पना में उपनिषत्कार का तात्पर्य न होकर आनन्द की असीमता को बतलाने में है।

(३) तीसरी आपत्ति आचार्य ने प्रस्तुत की है, कि यदि 'आनन्दमय' पद से ब्रह्म का ग्रहण किया जाय, तो उसीको 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्यद्वारा पुच्छ-अवयवरूप में कैसे माना जासकेगा। स्वयं आनन्दमय ब्रह्म का अपने ही पुच्छ-अवयवरूप में वर्णन हो, यह असंगत होगा। इसलिये 'आनन्दमय' पद से ब्रह्म का ग्रहण नहीं किया जाना चाहिये।

विचारणीय है, यदि 'आनन्दमय' पद से आचार्य के अनुसार जीवात्मा का ग्रहण

किया जाय, तो जीवात्मा के पुच्छ-अवयवरूप में ब्रह्म का वर्णन किया जाना और भी असंगत होगा। वस्तुतः इस प्रसंग में मुख्यतया अवयव-अवयवी की कोई कल्पना नहीं है। अन्नमय आदि कोशवर्णन में भी शिर आदि अवयवों का कथन जीवात्मा के अवयवों के रूप में मानना सर्वथा असंगत है। आत्मा के स्वरूप में कोई अवयव आदि की कल्पना नहीं कीजासकती। वह नित्य निरवयव तत्त्व है। अवयव कल्पना तत्सम्बन्धी शरीर में है, और वर्णन का मुख्य ध्येय आत्मा की विशिष्ट स्थितियों का वर्णन करना है। 'आनन्द-मय' को ब्रह्म मानने से यह स्पष्ट होता है, कि जीवात्मा के उस अवस्था में पहुंचने पर सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। शिर आदि सब आनन्दरूप में ही कल्पना किये गये हैं। प्रिय, मोद, प्रमोद, आनन्द, ब्रह्म सब आनन्दरूप हैं। इस समस्त आनन्द का आधार स्वयं 'आनन्द' है, इसी बात को 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' में, ब्रह्मपदनिर्देशद्वारा प्रकट किया है। 'पुच्छ' पद 'आश्रय' अर्थ को प्रकट करने के अभिप्राय से प्रयुक्त है, आचार्य ने स्वयं इसे स्वीकार किया है। इसलिये उक्त आपत्ति निराधार है।

(४) चौथी आपत्ति आचार्य ने कही—'असन्नेव स भवति, असद्ब्रह्मेति वेद चेत्।' [तै० २।६] इस श्लोक सन्दर्भ में 'आनन्दमय' का कोई सम्बन्ध न प्रकट करते हुए ब्रह्म की सत्ता और असत्ता के ज्ञान में गुण और दोष का कथन किया है। इससे प्रतीत होता है, उपनिषत्कार को उक्त प्रसंग में 'आनन्दमय' से ब्रह्म का ग्रहण अभिप्रेत नहीं है।

यहां श्लोक के पदों पर थोड़ा ध्यान देना चाहिये। उपनिषत्कार की लेखनप्रणाली से यह स्पष्ट होता है, कि वह श्लोक के प्रथम चरण से पूर्ववर्णित 'आनन्दमय' का अनुकर्षण मानरहा है, द्वितीय तृतीय चरण में 'ब्रह्म' पद का स्पष्ट निर्देश होने से वह इसके आधार पर 'आनन्दमय' और 'ब्रह्म' को एक कहना प्रमाणित करना चाहता है। जब दोनों पद एक अर्थ के बोधक हैं, तो श्लोक में जो पद संघटित हो, उसका प्रयोग समुचित है। इससे यह अभिप्राय नहीं निकाला जासकता, कि श्लोक में अप्रयुक्त 'आनन्दमय' पद ब्रह्म का बोधक नहीं है।

आचार्य के पूर्वोक्त तर्क के विपरीत—तैत्तिरीय उपनिषद् [२।८] में 'आनन्दमय-मात्मानमुपसंक्रामति' आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होता है, यह कहकर 'तदप्येष श्लोको भवति' उसी विषय में यह श्लोक प्रमाण है—कहा। आगे 'यतो वाचो निवर्तन्ते' आदि श्लोक [तै० २।९] उद्धृत किया है, जिसमें ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का उल्लेख है, जो स्पष्ट करता है, कि 'आनन्दमय' की प्राप्ति और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति एक बात है। इससे 'आनन्दमय' का ब्रह्म होना सिद्ध होता है।

(५) आचार्य का पांचवां आक्षेप है, यदि आनन्दमय को ब्रह्म माना जाय, तो प्रिय आदि अवयवों के सम्बन्ध से यहां सविशेष ब्रह्म को स्वीकार करना होगा, परन्तु वाक्यशेष में वाणी और मन के अविषय निर्विशेष ब्रह्म का वर्णन किया गया है—

'यतो वाचो निवर्तन्त, अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, न बिभेति कुतश्चन-इति।' [तै० २।९]

जहां से मनसहित वाणी आदि इन्द्रिय विना पहुंचे लौट आते हैं। उस ब्रह्मानन्द को प्राप्त होकर ज्ञानी कहीं से भय नहीं खाता, इस निर्विशेष ब्रह्म के वर्णन में प्रिय-शिरस्त्वादियुक्त [प्रिय सिर है, मोद दायां पंख, प्रमोद बायां पंख आदि] सविशेष 'आनन्दमय' का सामञ्जस्य नहीं होता। अतः 'आनन्दमय' से ब्रह्म का ग्रहण नहीं किया जाना चाहिये।

आचार्य के विचारानुसार जिस तत्त्व का वर्णन किया जाता है, वह निर्विशेष संभव नहीं। कोई वर्णन वर्णनीय तत्त्व के विषय में किसी विशेष अर्थ को प्रस्तुत करता है; इस रूप में वर्णनीय तत्त्व सविशेष ही संभव है। तब आचार्य का यह कथन विरुद्ध होजाता है, कि वाक्यशेष में निर्विशेष ब्रह्म वर्णित है। वस्तुतः किसी एक तत्व का सविशेष व निर्विशेषरूप में वर्णन किन्हीं भिन्न निमित्तों पर आधारित होता है; ऐसे वर्णन से वस्तुतत्त्व में कभी कोई अन्तर नहीं आता। ब्रह्मतत्त्व का वर्णन शास्त्र में विभिन्न निमित्तों के आधार पर अनेक पदों द्वारा हुआ है। इसप्रकार के वर्णन का नाम [सविशेष या निर्विशेष] हम कुछ भी रक्खें, इससे वस्तुतत्त्व के यथार्थस्वरूप में कभी कोई अन्तर नहीं आता। 'आनन्दमय' पद से वर्णन हो या 'ब्रह्म' पद से, वह तत्त्व सविशेष व निर्विशेषरूप में कभी भिन्न नहीं होता। तात्पर्य यह है, कि यह वर्णन तत्त्वस्वरूप का भेदक नहीं है।

अभी चौथे आक्षेप के विवेचन के अवसर पर 'आनन्दमय' की प्राप्ति, और 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते' के अनुसार ब्रह्म के आनन्द की प्राप्ति को एकरूप बताया गया है। ब्रह्म का स्वरूप ही 'आनन्द' है, उस तत्त्व को किसी भी पद से कहा जासकता है। यदि आचार्य 'आनन्दमय' से सविशेष और 'ब्रह्म' पद से निर्विशेष का वर्णन समझते हैं; तो तैत्तिरीय [२।८] के अन्तिम सन्दर्भ 'आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' और 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते' इस [२।९ के] प्रारम्भिक सन्दर्भ की समानार्थकता क्यों दिखाई है? इनकी समानार्थकता को इन दोनों सन्दर्भों के बीच का वाक्य 'तदप्येष श्लोको भवति' स्पष्ट करता है। इससे निश्चय होता है, कि 'आनन्दमय' पद से जिस तत्त्व का वर्णन है, उसीका वर्णन 'ब्रह्म' पद से हुआ है, इसमें सविशेष-निर्विशेष की कल्पना करना निराधार है।

यदि आचार्य के अनुसार इस वर्णन को यही मुख्यरूप दिया जाय, तो सविशेष 'आनन्दमय' के पुच्छ-अवयवरूप में निर्विशेष ब्रह्म को मानना होगा। तृतीय आपत्ति के विवेचन के अवसर पर स्पष्ट किया गया है, कि अवयव आदि की कल्पना उपनिषत्कार को यहां अभिप्रेत नहीं है; वह जीवात्मा की सर्वोत्कृष्ट अवस्था [मोक्ष] को—सब ओर आनन्द ही आनन्द है—इस रूप में प्रकट करना चाहता है, जो ब्रह्म का स्वरूप

है। आचार्य ने स्वयं इस वर्णन को मुख्य न मानकर आलंकारिक व औपचारिक माना है।[1] इस रूप में आनन्दमय का वर्णन भी निर्विशेष ब्रह्म का वर्णन है। अत: आचार्य की यह आपत्ति भी निराधार है।

(६) छठी आपत्ति आचार्य ने प्रस्तुत की, आनन्द की प्रचुरता कहने पर वहां दुःख की अल्पमात्रा का अस्तित्व संभव होता है; क्योंकि लोक में किसी वस्तु का कहीं प्राचुर्य बताने के लिये उसके प्रतिकूल वस्तु की अल्पता अपेक्षित होती है।

तैत्तिरीय उपनिषद् [२।८] के द्वारा ब्रह्म में आनन्द का अतिशय बताया गया है। आनन्दमात्र का वह कारण है। इस आधार पर आनन्द की प्रचुरता कहने का तात्पर्य ब्रह्म की असीम आनन्दरूपता को बताना है। इस विषय का विस्तृत विवेचन तेरहवें सूत्र की व्याख्या में कर दिया गया है।

(७) आचार्य का सातवां आक्षेप है, प्रिय मोद प्रमोद आदि प्रत्येक शरीर में भिन्न देखे जाते हैं, तब आनन्दमय के भी प्रिय मोद प्रमोद आदि भिन्न होने चाहियें। यदि आनन्दमय ब्रह्म है, तो उसमें भेद की कल्पना नहीं की जासकती; क्योंकि शास्त्र के अनुसार वह एकमात्र अनन्त सर्वव्यापी तत्त्व है [तै० २।१॥ श्वे० ६।११]।

प्रसंगवश यह अनेकवार कहा जाचुका है, कि अन्नमय आदि पञ्चकोशों द्वारा जीवात्मा की सदेह अवस्था से लेकर मोक्ष तक की स्थिति का वर्णन है। 'आनन्दमय' नाम से जो अन्तिम कोश कहा है, वह ब्रह्म का रूप है। उस अवस्था में आत्मा और आनन्द के अतिरिक्त अन्य कुछ अनुभव नहीं करता। प्रिय मोद प्रमोद आदि पदों से आनन्द का ही अभिलापन किया गया है, आनन्दमय के अवयवों की कल्पना यहां नहीं है। इसलिये प्रिय मोद आदि के आधार पर आनन्दमय में भेदमूलक विचार की अवतारणा निराधार है। मोक्षगत जीवात्मा की आनन्दानुभूति के नैरन्तर्य का इससे उपपादन होता है। इसीलिये आनन्दरूप ब्रह्म को आनन्दविचार के निगमन में आनन्द का हेतु बताया है–'एष ह्येवानन्दयाति' [तै० २।८]।

(८) आठवां आक्षेप आचार्य ने किया, शास्त्र में आनन्दमय का अभ्यास नहीं, केवल 'आनन्द' का अभ्यास है, [तै० २।७, ८, ६]। यदि 'आनन्दमय' को ब्रह्म मानना अपेक्षित होता, तो उक्त स्थलों में 'आनन्द' के बजाय 'आनन्दमय' का प्रयोग होता। पर

---

१. आचार्य का [१।१।१६ पर] इसी प्रसंग में लेख है—'पुच्छवत्पुच्छं, प्रतिष्ठा परायणमेकनीडं लौकिकस्यानन्दजातस्य ब्रह्मानन्द इत्येतदनेन विवक्ष्यते, नावयवत्त्वम्।' पक्षी के शरीर का पूंछ आधार होती है, इस समानता से 'ब्रह्म' को पुच्छ कहा गया है, वह प्रतिष्ठा-आधार एकमात्र स्थान है समस्त लोकानुभूत आनन्द का ब्रह्मानन्द, यही भाव 'पुच्छ' कहने से विवक्षित है, अवयव कहे जाने की कोई भावना यहां नहीं है।

क्योंकि प्रिय शिरस्त्वादि [प्रिय सिर है, मोद दक्खिन पंख आदि] के कारण आनन्दमय ब्रह्म नहीं, इसलिये उन स्थलों में केवल 'आनन्द' पद का प्रयोग हुआ है। केवल 'आनन्द' ब्रह्म संभव है, 'आनन्दमय' नहीं।

आचार्य का यह कथन सूत्रकार के आशय के विपरीत है, यह निश्चित है। सूत्रकार ने 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' कहा है, 'आनन्दोऽभ्यासात्' नहीं कहा। सूत्रकार का अभिप्राय 'आनन्दमय' को ब्रह्म बताने में निश्चित होता है। आनन्दमय के प्रकरण में केवल 'आनन्द' पद भी उसी अर्थ को प्रकट करता है। इन पदों का भिन्न अर्थ नहीं है। जो अतिशय आनन्दरूप है, वही 'आनन्द'रूप है। सूत्रकार के आशय के अनुसार 'आनन्दमय' को ब्रह्म कहते हुए केवल 'आनन्द' पद से उसका बोध होने में कोई बाधा नहीं है। लोक में देवदत्त को 'दत्त' और सत्यभामा को केवल 'भामा' कहकर प्रकाश व बोध कराया जाता है। शास्त्र में भी ऐसा व्यवहार सर्वसम्मत है। 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' प्रत्येक वसन्त में ज्योति यज्ञ करे, इस वाक्य में 'ज्योतिः' पद ज्योतिष्टोम यज्ञ का बोधक है। इसीप्रकार 'आनन्दमय' और 'आनन्द' पद एक ही अर्थ को प्रकट करते हैं। सूत्र में 'आनन्दमय' पद का पाठकर सूत्रकार ने यह अभिव्यक्त किया है, कि 'आनन्द' पद इसी में अन्तर्भूत है। इसलिये आचार्य का उक्त आक्षेप निराधार तथा सूत्रकार के आशय के विपरीत है।

उपनिषद् [तै० २।८] में आनन्दविचार का प्रारम्भकर अन्त में ब्रह्म के आनन्द को निरतिशय कहा गया है, 'स एको ब्रह्मण आनन्दः'। आनन्द की यह सर्वोत्कृष्ट स्थिति है। इसी को आगे 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' वाक्य में उपसंहृत किया है। आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होना ब्रह्मानन्द की प्राप्ति है। यदि 'आनन्दमय' ब्रह्म अपेक्षित न होता, तो आनन्दमय से और उत्कृष्ट अवस्था का उपनिषत्कार उल्लेख करता, पर 'आनन्दमय' की प्राप्ति पर इसको समाप्त कर दिया है, जो इस तथ्य का निश्चायक है, कि 'आनन्दमय' की प्राप्ति ब्रह्म की प्राप्ति है। इसलिये आचार्य का कथन उपनिषद् के इस प्रसंग के भी विपरीत है।

वस्तुत: आचार्य ने इस प्रसंग में अपने ऐसे विचारों को शास्त्रीय बल देने का निष्फल प्रयास किया है, जो यथार्थ में शास्त्रों व शास्त्रकारों के अभिप्राय के साथ सामञ्जस्य नहीं रखते। संभवत: आचार्य के ऐसे भ्रम का कारण रहा है, 'अन्नमय' आदि पदों में 'मयट्' का विकार अर्थ समझाजाना। इसका उपयुक्त विवेचन तेरहवें सूत्र के व्याख्यान में कर दिया है ॥१६॥

ब्रह्म के सच्चिदानन्दस्वरूप का उपपादनकर ब्रह्मविषयक जिज्ञासा का समाधान किया गया। उपनिषद् एवं अन्य वैदिक साहित्य में अनेक पदों से ब्रह्म का निर्देश है। वे पद लोक-वेद में अन्य अर्थों के वाचक भी रहते हैं। कहीं-कहीं ऐसे पदों का प्रयोग

सन्देह उत्पन्न करता है, कि वहां अमुक पद से ब्रह्म का निर्देश है, अथवा उसके अन्य किसी वाच्य का ? कहीं उपासनावर्णनों में भी ऐसा सन्देह होजाता है, कि यहां उपास्य ब्रह्म है, अथवा अन्य ? ऐसे स्थलों के विवेचन के लिये सूत्रकार ने प्रकरण का प्रारम्भ किया । उसमें 'अन्तः' पदनिर्देशवाले प्रसंग का सूत्रकार अवतरण करता है—

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥२०॥

[अन्तः] अन्दर [तद्धर्मोपदेशात्] उसके धर्मों का उपदेश होने से । 'अन्तः' पद के प्रसंग में अन्दर कहा गया उपास्य देव ब्रह्म होना चाहिये, क्योंकि वहां ब्रह्म की विशेषताओं का उपदेश किया गया है ।

छान्दोग्य उपनिषद् [१।६।६, ७] में कहा–'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रु हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः । तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद ।' यह जो आदित्य के अन्दर सुवर्णमय पुरुष दीखता है, जिसके दाढ़ी केश सुवर्णमय हैं, सोने की तरह चमकने वाले; जो नाखून के अग्र भाग तक सुनहरा ही सुनहरा है । उसकी आंखें खिले लाल कमल के समान हैं, उसका 'उत्' यह नाम है, वह सब पापों से ऊपर उठा हुआ है । जो तत्त्वज्ञानी इस रहस्य को जानलेता है, वह निश्चय सब पापों से ऊपर उठ जाता है ।

इसीप्रकार अगले सप्तम खण्ड [छा० १।७।५] में कहा–'अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते···तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं···यन्नाम तन्नाम,' यह जो आंख के अन्दर पुरुष दीखता है, इसका वही रूप है जो उसका [आदित्य पुरुष का], जो नाम है वह नाम है ।

यह अधिदैवत और अध्यात्म के रूप में उपास्य ब्रह्म का वर्णन है । अधिदैवत में आदित्य प्रतीक है और अध्यात्म में चक्षु । इससे पूर्व प्रणवरूप में ब्रह्म की उपासना का प्रसंग है । वैदिक साहित्य में ब्रह्म का मुख्य नाम 'ओम्' बताया गया है, उसके जप-द्वारा ब्रह्म की उपासना की जाती है । ऋग्ब्राह्मणों में इसको 'प्रणव' और सामब्राह्मण छान्दोग्य में इसे 'उद्गीथ' कहा जाता है । यह उद्गीथ-उपासना' का प्रसंग है ।

उक्त उपनिषत्संदर्भ के विषय में यह सन्देह होता है, कि आदित्य के अन्दर अथवा चक्षु के अन्दर जिस उपास्य का निर्देश किया गया, क्या वह ब्रह्म समझना चाहिये, अथवा कोई ऐश्वर्यादिप्राप्त जीवात्मा ? पूर्वपक्षरूप में कहा–आदित्यपुरुष अथवा अक्षिपुरुष कोई अतिशय को प्राप्त हुए जीवात्मा होने चाहियें ब्रह्म नहीं; कारण यह है, १–उक्त सन्दर्भ में उस पुरुष के रूप का वर्णन है, सुनहरी दाढ़ी केश नखपर्यन्त सब सुनहरा । अक्षिपुरुष का भी वही रूप बताया । जीवात्मा में सदेह अवस्था के आधार पर रूप-व्यवहार संभव है, ब्रह्म में नहीं । इसलिये इन्हें ब्रह्म नहीं माना जासकता, क्योंकि

वह अरूप है–'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' [कठ० १।३।१५]। २–फिर इन पुरुषों का अन्य आधार बताया गया है–आदित्य और चक्षु। वह आदित्य में स्थित है, वह चक्षु में। ब्रह्म किसी अन्य में आधारित नहीं रहता। उसके विषय में कहा गया है–'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति, स्वे महिम्नि' [छा० १।६।८] वह अपनी महिमा में प्रतिष्ठित रहता है, किसी अन्य एकदेशी वस्तु पर नहीं, वह सर्वत्र व्यापक है नित्य है। ३–इसके अतिरिक्त उक्त सन्दर्भ में आदित्यपुरुष और अक्षिपुरुष के ऐश्वर्य को मर्यादित बताया गया है। आदित्यपुरुष के ऐश्वर्य के विषय में कहा–यह उन सब लोकों का स्वामी है जो उस [आदित्य] से परे हैं, और देवों की कामनाओं का मालिक है [छा० १।६।८]। इसीप्रकार अक्षिपुरुष के विषय में कहा–यह [अक्षिपुरुष] उन लोकों का मालिक है जो उससे नीचे हैं और मनुष्य की कामनाओं का [छा० १।७।६]। इसके विपरीत ब्रह्म के ऐश्वर्य की कोई सीमा या मर्यादा नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।२२] में बताया–'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' यह सब का स्वामी है, समस्त भूतों का अधिपति, भूतमात्र का पालन करने वाला, यह सब लोकों का धारण करने वाला सेतु है, जिससे समस्त लोकों की मर्यादा छिन्नभिन्न न होजाय। इसप्रकार उक्त हेतुओं के आधार पर स्पष्ट होता है, कि छान्दोग्य के 'अन्तः' पदघटित सन्दर्भ में उपास्यरूप से ब्रह्म का ग्रहण नहीं होना चाहिये।

सिद्धान्तरूप से सूत्रकार ने इस विषय में विचार प्रस्तुत किया–आदित्य के अन्दर और चक्षु के अन्दर जो उक्त सन्दर्भद्वारा उपास्य पुरुष का निर्देश हुआ है, वहां केवल उपास्य ब्रह्म का निर्देश संभव है, अन्य किसी ऐश्वर्यादि प्राप्त जीवात्मा का नहीं; क्योंकि उन सन्दर्भों में ब्रह्म की विशेषताओं का उपदेश है।

१—आदित्यपुरुष का 'उत्' नाम कहकर उपनिषत्कार ने उसका निर्वचन किया–'स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' वह सब पापों से ऊपर उठा हुआ है, वहां तक किसी तरह के पाप की गति नहीं है। यह विशेषता केवल परब्रह्म परमात्मा में संभव है। किसी अवस्था में कितना भी ऐश्वर्यप्राप्त जीवात्मा हो, वह पापों से सर्वथा अछूता नहीं होता, कभी सदेह अवस्था में वह अवश्य पाप व अधर्म कर्म करता है, इसलिये वह सर्वपापोदित संभव नहीं। इसी नाम का अतिदेश उपनिषत्कार ने अक्षिपुरुष में किया–'यन्नाम तन्नाम,' इसप्रकार यह एक ही पुरुष का आदित्य और चक्षु में वर्णन है, जो समस्त पाप्माओं से सदा दूर है। यह स्थिति केवल ब्रह्म में संभव है, अन्यत्र नहीं।

आदित्य अधिदैवत का और अक्षि अध्यात्म का प्रतीक है। अपने से अतिरिक्त जितने लोक-लोकान्तर नभोमण्डल में विद्यमान हैं, उन सब में अन्तर्यामीरूप से परब्रह्म का अस्तित्व है। वह सबके अन्दर विराजमान समस्त लोकालोक का संचालन करता है। यह अधिदैवत में ब्रह्म की सत्ता का वर्णन है। वही ब्रह्म जो सर्वत्र व्याप्त है, मेरे अन्दर है; यह अध्यात्म में ब्रह्म की सत्ता को बताता है। छान्दोग्य उपनिषद् के प्रारम्भ

में उद्गीथ नाम से 'ओम्' की उपासना का निर्देश है। आगे [१।४–७] उपासना का विधिक्रम वर्णन किया है। उपासक 'ओम्' का विधिपूर्वक जप करते हुए उसके वाच्य ब्रह्म का सर्वात्मना ध्यान करता है। उपासक की भावना यह रहती है, कि अन्दर [अध्यात्म] और बाहर [अधिदैव] सर्वत्र केवल ब्रह्म व्याप्त होरहा है, लोक-लोकान्तरों की अनन्त सीमाओं तक ब्रह्मरूप प्रकाश ही प्रकाश भरा है, ऐसा वह ध्यान करता है, और इस भावना को दृढ़ बनाने के लिये निरन्तर अभ्यास करता है। उपासक जब इस स्थिति में पहुंच जाता है, कि सिवाय उस तेजोमय नित्य ब्रह्म के और कोई वस्तु उसकी भावना में अन्यथारूप से नहीं उभरती, यह उसकी आत्मज्ञान की अवस्था है। आदित्य में जो पुरुष है, वही अक्षि में है, इस कथन से ब्रह्म के अन्तर्यामी और सर्वव्यापक स्वरूप को उपासक के लिये स्पष्ट किया है। आदित्य और अक्षि में विभिन्न देवों की कल्पना निराधार है। तैत्तिरीय उपनिषद् [३।१०।४] में बताया–'स यश्चायं पुरुषे, यश्चासावादित्ये, स एकः' वह जो यह पुरुष में है और जो वह आदित्य में, वह एक है। इसप्रकार का सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी अपहतपाप्मा [छा० ८।७।१] एक पुरुष ब्रह्म हो सकता है, जो एकमात्र सबका उपास्य है।

२–आगे [छा० १।७।५] अक्षिपुरुष को लक्ष्यकर कहा गया है–'सैवर्क् तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म' वही ऋक् है वह साम है वह उक्थ [उपास्य] है वह यजु और ब्रह्म [अथर्व] है, यह कथन ब्रह्म के विषय में संभव है, क्योंकि मूलरूप से वेदज्ञान ब्रह्म से प्राप्त होता है, वह इसका कारण व प्रकाशक है। सूत्रकार ने 'शास्त्रयोनित्वात्' [१।१।३] सूत्र से स्वयं इस अर्थ को स्पष्ट किया है। इसलिये अक्षिपुरुष के विषय में यह कथन ब्रह्म के धर्मों का उपदेश करता है।

३–इसके अतिरिक्त आदित्यपुरुष को लक्ष्यकर पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, नक्षत्र और सूर्य की शुक्लदीप्ति ये पांच ऋक् कही हैं, और इसीके साथ यथाक्रम अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और आदित्य का अतिशय कृष्णरूप ये पांच साम। ये सब आदित्य पुरुष के गेष्ण–पर्व अर्थात् जोड़ हैं; तात्पर्य यह कि ये सब उसके एक अंश में एक कोने में पड़े हुए हैं [छा० १।६]। इसीप्रकार अध्यात्म में चार ऋक् बताईं–वाणी, नेत्र, श्रोत्र और चक्षु की शुक्लदीप्ति; और उसीके साथ यथाक्रम चार साम–प्राण, आत्मा, मन और चक्षु का अतिकृष्णरूप। यह वर्णन करके बताया, कि ये ऋक् और साम अक्षि-पुरुष के गेष्ण-पर्व-जोड़ हैं। अभिप्राय यह, कि ये सब उस पुरुष के एक अंश में अवस्थित हैं। हमारे इस देह से लेकर असीम लोक-लोकान्तरों में वही एकमात्र पुरुष परिपूर्ण है, यह समस्त विश्व उसके एक अंश में सिमटा हुआ है। इसप्रकार की सब विशेषता केवल ब्रह्म में सभव हैं; इसलिये ब्रह्मधर्मों का उपदेश होने से यहां उसीका ग्रहण होना चाहिये, अन्य का नहीं।

४–समस्त प्राणिलोक की कामनाओं का निर्बाध स्वामी, उनको सम्पन्न करने

के समस्त ऐश्वर्य एवं सामर्थ्य से युक्त केवल ब्रह्म होसकता है [छा० १।७।६–६]। उपनिषद् के इन सब वर्णनों से यह स्पष्ट होता है, कि आदित्यपुरुष व अक्षिपुरुष के रूप में जिसका अतिदेश किया गया है, वह ब्रह्म है।

अभी पहले कहा, कि छान्दोग्य [१।४–७] का यह प्रसंग उद्गीथ उपासना-विधि का वर्णन करता है। छान्दोग्य में 'उद्गीथ' पद प्रणव अथवा 'ओम्' के लिये प्रयुक्त है, जो ब्रह्म का मुख्य नाम एवं उपासना का अवलम्ब है। इस उपासना में ब्रह्म के जिस स्वरूप का ध्यान किया जाता है, उसीको आदित्य-अक्षि-पुरुष के वर्णनद्वारा समझाने का प्रयत्न किया गया है। वह सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापक तेजोमय रूप है। 'ओम्' के जप के साथ जिसका सतत ध्यान अपेक्षित होता है। उपनिषदों में अन्यत्र भी इसका उल्लेख हुआ है। कठ उपनिषद् [१।२।१५] में बताया—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

समस्त वेद जिसको प्राप्त करने योग्य बताते हैं, सम्पूर्ण तपआचरण जिसके अस्तित्व का कथन करते हैं, जिसकी चाहना से संयमी ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वह मैं तुम्हें संक्षेप से कहता हूं, यह 'ओम्' है, 'ओम्' पदवाच्य ब्रह्म है। यह मृत्यु ने नचिकेता को कहा है।

यदि 'अन्तरादित्ये' तथा 'अन्तरक्षिणि' आदि सन्दर्भ में आदित्य के एवं अक्षि के अन्दर वर्णित उपास्य देव ब्रह्म है, तो उसमें रूप आदि के कथन का क्या समाधान होगा ? ब्रह्म तो अरूप है। वस्तुतः आदित्य और चक्षु के प्रतीक से सर्वान्तर्यामी तेजोमय ब्रह्म को समझाने का प्रयास किया गया है। आदित्य एवं चक्षु प्रकाशस्वरूप पदार्थ हैं, हिरण्यश्मश्रु आदि पदों से रश्मिसमूह की ओर संकेत किया गया है। प्रत्येक रश्मि अपनी अन्तिम रेखा तक तेजोमय है। आदित्य आदि का नियन्त्रण जिस अचिन्त्यशक्ति द्वारा होता है, उसकी तेजस्विता की कल्पना नहीं की जासकती, वह असीम तेजस्वी प्रकाशस्वरूप तत्त्व है, इसी ओर उपनिषत्कार संकेत करना चाहता है। वह शक्ति ब्रह्म है, उसके दाढ़ी केश या अवयव कोई नहीं। उसकी यह आदित्य आदि अद्भुत रचना उसके स्वरूप की कल्पना कराती है। ऐसे विराट् पुरुषरूप की कल्पना में सूर्यादि कल्पित अंशों का वर्णन शास्त्र करता है। इसे यथाशब्द अर्थ की वास्तविक स्थिति नहीं कहा जासकता। कोई सुनहरी दाढ़ीकेशवाला हिरण्मय [सोने का बना] पुरुष आदित्य के अन्दर–अस्मदादिशरीरधारी पुरुष के समान–बैठा है, ऐसी कल्पना सर्वथा निराधार एवं अप्रामाणिक है।

'आदित्य में अथवा अक्षि में वह पुरुष अवस्थित है' ऐसे कथन का यह अभिप्राय नहीं है, कि आदित्य आदि उसके आधार हैं, और वह इनमें आश्रित रहता है। यह अर्थ के वर्णन करने की रीति है। इससे ब्रह्म की अन्तर्यामिता [अन्दर रहकर नियन्त्रण

करने की स्थिति] और सर्वव्यापकता स्पष्ट होती है। यदि आदित्य और अक्षि को उस पुरुष का ठीक आधार माना जाता है, तो यह कहना सर्वथा असंभव होगा, कि वहां [आदित्य और अक्षि में] पुरुष एक है। क्योंकि आदित्य और अक्षि का स्थान एकदेशी है, उसे पुरुष का सत्य आधार मानने पर आदित्य से अतिरिक्त स्थान में—आधार न रहने से–पुरुष का अस्तित्व न रहेगा । तब वही अक्षि में कैसे ? और अक्षिपुरुष आदित्य में कैसे ? इसलिये आदित्य व अक्षि को वस्तुतः पुरुष का आधार नहीं कहा जासकता। उसके नियन्तृत्व को स्पष्ट करने के लिये उक्त वाक्य हैं। यह स्थिति इस तथ्य को स्पष्ट करती है, कि अन्तर्यामी होने के कारण समस्त चराचर ब्रह्माण्ड का आश्रय वही तत्त्व है। परमात्मा के आधार पर विश्व का सञ्चालन होता है।

इसके अनुसार ब्रह्म के ऐश्वर्य की मर्यादा कहीं नहीं की जासकती। वह ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, देव, मानव आदि सभी का ईशिता है। ऐसा अमर्यादित ऐश्वर्य सिवाय ब्रह्म के अन्यत्र संभव नहीं। इसलिये उपनिषद् के उक्त सन्दर्भों में ब्रह्म का ग्रहण न किये जाने के लिये पूर्वपक्ष की ओर से जो हेतु प्रस्तुत किये गये, वे सद्धेतु नहीं हैं।

शिष्य आशंका करता है, क्या 'अन्तः' पदघटित अन्य सन्दर्भों में भी परमात्मा का ग्रहण होना चाहिये ? यदि ऐसा है, तो बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।२२] के निम्नलिखित सन्दर्भ के विषय में क्या निर्णय होगा, जहां जीवात्मा परमात्मा दोनों के धर्मों का उपदेश प्रतीत होता है। सन्दर्भ है—

'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः।'

इस सन्दर्भ में बताया–प्राणों [इन्द्रियों] से घिरा विज्ञानमय आत्मा हृदयान्तर्गत आकाश में निवास करता है, यह जीवात्मा का धर्म होसकता है। उसी विज्ञानमय को महान आत्मा सब का नियन्ता ईशिता और अधिपति कहा है, जो ब्रह्म में संभव है। पिछले आनन्दमयाधिकरण में तैत्तिरीय सन्दर्भों के आधार पर 'आनन्दमय' को ब्रह्म बताया गया है, और उससे पूर्व 'विज्ञानमय' को जीवात्मा। प्राणों से घिरा जीवात्मा होसकता है, तथा हृदयान्तर्गत आकाश में शयन-निवास भी जीवात्मा का संभव है, ब्रह्म का नहीं, क्योंकि वह सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापक है। पर सर्ववशित्वादि धर्म जीवात्मा में संभव नहीं, वे ब्रह्मधर्म हैं, अतः इस सन्दर्भ का निर्णय होना चाहिये।

आचार्य विवेचनापूर्वक निर्णय करते हुए समाधान करता है–यह सन्दर्भ भी प्रस्तुत सूत्र का विषयवाक्य है। बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण का प्रारम्भिक भाग [२१वीं कण्डिका तक] जीवात्मा का वर्णन करता है। यहां सर्वत्र याज्ञवल्क्य प्रवक्ता और जनक श्रोता है। जीवात्मसम्बन्धी समस्त वर्णन के अनन्तर जनक को स्वभावतः यह अभीष्ट होना चाहिये, कि अब ब्रह्मविषयक वर्णन किया जाय। जनक ने पहले उपदेशों के लिये गोदान आदि द्वारा याज्ञवल्क्य के प्रति कृतज्ञताप्रकाशन

के समान जीवात्म-वर्णन की समाप्ति पर भी सहस्र गोदान की घोषणाकर कृतज्ञता प्रकट की है—सोऽहं भगवते सहस्र ददामीति होवाच जनको वैदेहः' [४।४।७]। पर ब्रह्मविषयक वर्णन के अनन्तर जहां—'एष ब्रह्मलोकः सम्राडेनं प्रापितोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः' [४।४।२३] याज्ञवल्क्य ने कहा—यह ब्रह्मलोक है, हे सम्राट्! तू इसको [ब्रह्मविषयक उपदेश से ज्ञानप्राप्ति द्वारा, ब्रह्मलोक को] प्राप्त करादिया गया है। तब आचार्य के प्रति कृतज्ञताप्रकाशन के लिये जनक ने कहा—'सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चापि सह दास्याय, इति' ब्रह्मविषयक ज्ञान को प्राप्तकर मैं भगवान् आचार्य के लिये समस्त विदेह देशों को देता हूं और साथ ही अपने आपको भी आपके दासभाव के लिये। इससे स्पष्ट होता है, कि उपनिषद् के उक्त सन्दर्भ में ब्रह्म का वर्णन है।

अनेक ऐसे पद हैं, जिनका प्रयोग जीवात्मा व ब्रह्म दोनों के लिए होता है, तथा अन्य पदार्थों के लिये भी। उसके निर्णय के लिये प्रसंग तथा विशिष्ट धर्मों का सन्निवेश जानना अपेक्षित है। यद्यपि अन्यत्र [तै०उ० में] 'विज्ञानमय' पद जीवात्मा के लिये प्रयुक्त है, पर प्रस्तुत सन्दर्भ में वह ब्रह्म के लिये प्रयुक्त हुआ है, जो उसके चेतनस्वरूप को स्पष्ट करता है। प्राणों से घिरा जीवात्मा हृदयान्तर्गत[1] आकाश में निवास करता है। समाधि आदि द्वारा ब्रह्म का ज्ञान आत्मा को इसी प्रदेश में होता है, ब्रह्मज्ञान की इस विशेषता को बतलाने के लिये सन्दर्भ में उक्त वर्णन है। सन्दर्भ में 'महान्···आत्मा, सर्वस्य वशी, सर्वस्येशानः, सर्वस्याधिपतिः' ब्रह्म के स्पष्ट धर्म हैं।

इसके आगे उपनिषद् में कहा—'स न साधुना कर्मणा भूयान् नो एवासाधुना कनीयान्' वह न साधु कर्म से बड़ा होता है न ही असाधु से छोटा। वह शुभाशुभ कर्मफलों का भागी नहीं होता, क्योंकि न वह शरीरबन्धन में आता, न शुभाशुभ कर्मों को करता है। यह ब्रह्मधर्म है, जीवात्मा में ऐसा संभव नहीं। वह तो देहधारणकर शुभाशुभ कर्म करता और उनके सुख-दुःख आदि फलों को भोगता है। इन स्पष्ट ब्रह्मधर्मों के उपदेश से प्रस्तुत सन्दर्भ में ब्रह्म का वर्णन निश्चित होता है।

बाईसवीं [बृ० ४।४।२२] कण्डिका से पूर्व का वर्णन जीवात्मविषयक है। वहां प्रारम्भ [बृ० ४।४।१–५] में जीवात्मा की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णनकर [बृ० ४।४।६-७] सकाम कर्मों का फल बताते हुए, निष्कामकर्मपूर्वक आत्मज्ञान होजाने पर ब्रह्मप्राप्ति का उल्लेख है। ब्रह्म को प्राप्त होना जीवात्मा के लिये कहा जासकता है। वहां बताया—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' ब्रह्म के समान होता हुआ ब्रह्मानन्द में लीन होजाता है। यहां 'एव' पद निर्धारण अर्थ में न होकर 'इव' के अर्थ

---

१. यह हृदय मस्तिष्कगत हृदय समझना चाहिये। आत्मा का निवास वहीं है। वहीं पर विराजमान ब्रह्म का साक्षात्कार योगीजनों को होता है। इसके लिये देखें—'सांख्य-सिद्धान्त' पृष्ठ ११८–१२४।

में है। सादृश्य यहां तात्कालिक आत्मसाक्षात्काररूप समझना चाहिये। यदि यहां 'एव' पद का निर्धारण अर्थ उपनिषत्कार को अभीष्ट होता, तो इतना लम्बा वाक्य लिखना निरर्थक था। तब 'ब्रह्मैव भवति' इतना पर्याप्त था।

इस अर्थ की पुष्टि के लिये उपनिषद् में आगे अन्य ग्रन्थ का जो प्रमाण उपस्थित किया है, उससे यह सब अधिक स्पष्ट होजाता है। प्रमाण है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

जब इसके हृदय में आश्रित सब कामना छूट जाती हैं। तब मर्त्य [जीवन-मरण के बन्धन में आनेवाला आत्मा] अमृत [मुक्त] होजाता है, उस अवस्था में ब्रह्मानन्द का भोग करता है। इस सन्दर्भ के पूर्वार्द्ध में जीवात्मा का ब्रह्म के साथ सादृश्य अभिव्यक्त किया गया है। जब जीवात्मा कामनाओं से छूट जाता है, यह उसकी आत्मज्ञान अथवा आत्मसाक्षात्कार की स्थिति है। इसको प्राप्त करलेने के अनन्तर वह मुक्त होजाता है। वह अवस्था है—ब्रह्मानन्द का अनुभव करना। इस वर्णन से यह परिणाम निकलता है, कि जीवात्मा ब्रह्म से अतिरिक्त तत्त्व है। प्रयत्न के अनन्तर समाधि आदि द्वारा जब वह आत्मसाक्षात्कार करलेता है, तब अंशमात्र [कामनाराहित्य आदि] से ब्रह्म के सदृश होजाता है, वह ब्रह्म कभी नहीं होता। उसका यह फल है, कि वह ब्रह्मानन्द में लीन हो उसका अनुभव करता है, अथवा उसका भोग करता है। उस अवस्था का ऐसा वर्णन जीवब्रह्म के भेद का साधक है। इसलिए उक्त वाक्य में 'एव' का निर्धारण अर्थ न संभव है न संगत। इस समस्त विवेचन से परिणाम निकला, कि बृहदारण्यक [४।४।२२] सन्दर्भ ब्रह्म का वर्णन करता है, और वह इस सूत्र का विषयवाक्य संभव है ॥२०॥

शिष्य आशंका करता है, 'हिरण्यश्मश्रु' 'हिरण्यकेश' आदि पदों का ब्रह्म के वर्णन में आलंकारिक प्रयोग माना गया, अभिधावृत्ति का त्याग किया गया। परन्तु इसका त्याग वहीं होना चाहिये, जहां इससे अर्थ की संभावना न हो। प्रस्तुत प्रसंग में सूर्य एवं अक्षि का वर्णन मानने पर इन पदों के अर्थ के लिये अभिधावृत्ति का त्याग न करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त यहां कहा गया—'हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' सुनहरी पुरुष दीखता है। यह दीखना आदित्य आदि का घटित होता है। ब्रह्म के दीखने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि उसके विषय में कहा—'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्' [कठ० २।३।९] देखने के लिये न इसका रूप है, न चक्षु से कोई इसे देखता है। पर उक्त प्रसंग [छा० १।६।६] में 'दृश्यते' स्पष्ट कहा है। इसलिये यह वर्णन आदित्य का होना अधिक युक्त है, अन्तर्यामी ब्रह्म का नहीं। छान्दोग्य [८।६।५] में आत्मज्ञानियों के लिये इसे ब्रह्म का द्वार कहा है, जो अज्ञा-

नियों के लिये बन्द रहता है–'एतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम्।' इसी आधार पर आदित्य को 'सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' कहा जासकता है। यह सब लोकों का प्रकाशक है, इसलिये सबका ईशिता व अधिपति कहा गया। अक्षिपुरुष को जो ऋगादिरूप कहा गया है, उसका यह अभिप्राय है, कि जैसे ऋगादिशास्त्र परलोक व अध्यात्म के लिये पथप्रदर्शक हैं, ऐसे ही अक्षि इस लोक का पथप्रदर्शक है। इसलिये स्वारस्य इसमें है, कि छान्दोग्य के उक्त सन्दर्भ [१।६।६–८] में आदित्य व अक्षि का वर्णन युक्त माना जाय।

अथवा किसी अतिशयप्राप्त जीवात्मा के वर्णन का स्वारस्य भी उक्त प्रसंग में संभव है। जीवात्मा के विषय में देहसम्बन्ध से रूपादिवर्णन समुचित है। यहां भी अभिधावृत्ति का त्याग न होगा। ऐसी आशंका होने पर सूत्रकार समाधान करता है—

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥२१॥

[भेद-व्यपदेशात्] भेद का कथन करने से [च] तथा [अन्यः] अन्य है। आदित्य और अक्षि से यहां अन्तःपुरुष का भेद बताया है; अतः वह इनसे अन्य है।

छान्दोग्य के उक्त संदर्भ में 'य एषोऽन्तरादित्ये' जो यह आदित्य के अन्दर है, 'य एषोऽन्तरक्षिणि' जो यह अक्षि के अन्दर है, इसप्रकार कथन से आदित्य और अक्षि के अन्दर रहनेवाला पुरुष उन दोनों से भिन्न है, यह स्पष्ट होता है। इसलिये यह वर्णन आदित्य और अक्षि का नहीं माना जासकता। इनमें अन्तर्यामीरूप से रहने वाला ब्रह्म उपास्य बताया गया है। उद्गीथ उपासना के रूप में यहां ब्रह्म की उपासना का प्रसंग है। केवल 'हिरण्यश्मश्रु' आदि पदों के मुख्यार्थ का विचारकर यहां 'आदित्य' का वर्णन मानना युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसी अवस्था में 'सर्वस्य वशी, सर्वस्येशानः, सर्वस्याधिपतिः' आदि पदों के मुख्यार्थ को छोड़ना पड़ेगा। ये सब धर्म स्वतः आदित्य में संभव नहीं। आदित्य अधिदैवत का प्रतीक है, समस्त लोक-लोकान्तरों में ब्रह्म अन्तर्यामीरूप से अवस्थित रहता है, उसके विराट् रूप की कल्पना में आदित्य आदि के आधार पर उक्त वर्णन किया गया है। वस्तुतः उस अन्तर्यामी के ऐश्वर्य का यह प्रसार है, जो आदित्यादि लोक-लोकान्तर इस रूप में प्रकट होते हैं। इसलिये अधिदैवत व अध्यात्मद्वारा वर्णित इन सब में नियन्तारूप से रहनेवाला ब्रह्म उक्त प्रसंग में उपास्य बताया गया है।

'हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' इस वाक्य में 'दृश्यते' क्रिया के आधार पर दीखने वाला आदित्य यहां वर्णित होना चाहिये, यह कथन भी युक्त नहीं है। 'दृश्यते' का प्रयोग अन्तःकरणद्वारा जानने के अर्थ में भी होता है, 'दृश्यते त्वग्रचया बुद्धचा सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' [कठ० १।३।१२] आत्मज्ञानी योगी समाधिजन्य अतिशय को प्राप्त हुई सूक्ष्मबुद्धिद्वारा उसे देखते हैं, अर्थात् ब्रह्म को जानलेते हैं। आदित्यादि जगत् की

रचना से भी उसे जाना जाता है। उपास्यरूप से सर्वत्र एकमात्र ब्रह्म का वर्णन शास्त्र में है। चेतन आत्मा के लिये परमोत्कर्षप्राप्ति की भावना से जड़ को कहीं उपास्य नहीं माना गया। समस्त वेदों का परमतात्पर्य केवल ब्रह्म को उपास्य मानने में है।

अतिशयप्राप्त जीवात्मा का ग्रहण उक्तप्रसंग में संभव नहीं, क्योंकि जीवात्मा से भिन्न अन्तर्यामीरूप में परमात्मा का कथन अन्यत्र किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् [३।७।९] में पाठ है–'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' जो आदित्य में स्थित है, आदित्य से भिन्न है, आदित्य जिसको नहीं जानता, आदित्य जिसका शरीरतुल्य है, जो अन्दर रहता हुआ आदित्य का नियन्त्रण करता है, यह अमृत आत्मा तेरा अन्तर्यामी है, उपास्य है। यहां आदित्य से भिन्न अन्तर्यामी उपास्य आत्मा का स्पष्ट निर्देश है।

इसीप्रकार आगे [३।७।२२] कहा–'यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' इस सन्दर्भ में 'विज्ञान' पद का प्रयोग जीवात्मा के लिये हुआ है। आदित्य आदि के समान जीवात्मा में अवस्थित एवं कर्मफलादि दान द्वारा उसका नियन्त्रण करता हुआ अन्तर्यामी अमृत आत्मा [ब्रह्म] तेरे लिये उपास्य है।

माध्यन्दिनीय शतपथ ब्राह्मण [१४। ६। ७। ३०] में 'विज्ञान' पद का प्रयोग न होकर 'आत्मा' पद का स्पष्ट प्रयोग किया गया है। वहां पाठ है–'य आत्मनि तिष्ठन्, आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः' अर्थ पहले के समान है। यहां अन्तर्यामी अमृत आत्मा को 'आत्मनोऽन्तरः' कहकर जीवात्मा से स्पष्टरूप में भिन्न बताया है। वह उपासक है और अन्तर्यामी आत्मा उसके लिये उपास्य। प्रकरण के अनुसार याज्ञवल्क्य अन्य जिज्ञासुओं के लिये जनकसभा में अन्तर्यामी आत्मा [ब्रह्म] का वर्णन कररहा है। इससे स्पष्ट है, कि जीवात्मा से भिन्न ब्रह्म का उपास्यरूप में यहां वर्णन है।

'स वा एष महानज आत्मा' [बृ० ४।४।२२] सन्दर्भ में 'विज्ञानमय' पद से जीवात्मा का वर्णन इसकारण नहीं माना जासकता, क्योंकि आगे इस प्रसंग में 'विज्ञानमय' को सर्वेश्वर तथा भूताधिपति बताते हुए लिखा है–'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन, एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति' ब्रह्म की जिज्ञासा करने वाले वेदाध्ययन यज्ञ दान एवं विधिसंपन्न तप के द्वारा उसको [विज्ञानमय को] जानना चाहते हैं। जो उसे जान लेता है वह मुनि होता है। यहां 'विज्ञानमय' को जानने की इच्छा रखने वाले जीवात्मा स्पष्ट ही उस विज्ञानमय से भिन्न बताये गये हैं। इसी विज्ञानमय को आगे ब्रह्म अथवा ब्रह्मरूप लोक कहा है, जिसको प्राप्त करने की इच्छा से पूर्वकाल में विवेकीजन परमवैराग्य को प्राप्त हो

प्रव्रजित होते रहे हैं [बृ० ४।४।२२]। यह वर्णन विज्ञानमय ब्रह्म से जीवात्मा का भेद प्रतिपादित करता है। इस भेदव्यपदेश से 'विज्ञानमय' जीवात्मा से अन्य है।

इसके अतिरिक्त आगे [बृ० ४।४।२३] कहा—'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति' शान्त दान्त विरक्त सहनशील जिज्ञासु समाधि अवस्था को प्राप्त होकर अपने आत्मा में ही उस आत्मा [विज्ञानमय] को देखता है। जीवात्मा का देह में निवास मस्तिष्कगत हृदयप्रदेश है, उसी प्रदेश में आत्मा ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। इसी स्थिति का यहां वर्णन है। यह जीवात्मा का ब्रह्म से भिन्न होना स्पष्ट करता है। फलतः पूर्वनिर्दिष्ट विषयवाक्यों में आदित्य, अक्षि एवं जीवात्मा का वर्णन न मानकर ब्रह्म का वर्णन मानना समुचित है, क्योंकि ब्रह्म का निर्देश इन सबसे भिन्नरूप में किया गया है ॥२१॥

यह बात कही जाचुकी है, कि शास्त्र में ब्रह्म का वर्णन अनेक पदों द्वारा हुआ है। वे पद लोक व वेद में अन्य अर्थों के भी वाचक हैं। ऐसे पदों का प्रयोग कहां ब्रह्म का प्रतिपादक है, कहां नहीं; इसका विवेचन अगले ग्रन्थ से सूत्रकार प्रारम्भ करता है। इस दृष्टि से 'आकाश' पद का विवेचन प्रस्तुत किया—

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥२२॥

[आकाशः] आकाश (पद ब्रह्मवाचक है) [तल्लिङ्गात्] उसके लिङ्ग से। ब्रह्म का निश्चय करानेवाले चिह्न उन सन्दर्भों में हैं, इसलिये वहां 'आकाश' पद ब्रह्म-वाचक है।

छान्दोग्य उपनिषद् [१।९।१] में प्रसंग है—प्रवाहण जैवलि शिलक शालावत्य से कहता है—'अस्य लोकस्य का गतिरिति आकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति, आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्'। इस लोक की गति-आश्रय क्या है ? उत्तर मिला, आकाश है। ये सब भूत आकाश से ही उत्पन्न होते, आकाश में लीन होते हैं; क्योंकि आकाश ही इनसे ज्यायान है महान है, आकाश आधार है।

इस सन्दर्भ में 'आकाश' पद भूताकाश का वाचक है, या ब्रह्म का ? यह विवेचनीय है। आकाश पद लोक वेद में दोनों अर्थों का वाचक देखा जाता है। सूत्रकार कहता है, यहां 'आकाश' पद ब्रह्म का वाचक है, क्योंकि यहां उसके लिङ्ग-चिह्न अथवा गुण-धर्मों का वर्णन है। सब भूतों की उत्पत्ति का कारण ब्रह्म है, ब्रह्म की प्रेरणा के बिना जगत्-सृष्टि संभव नहीं होती। वही इसका धारणकर्त्ता और वही प्रलयकर्त्ता है। ये सब धर्म भूताकाश में संभव नहीं। तैत्तिरीय उपनिषद् [२।१] में उस ब्रह्म से आकाश की स्वतः उत्पत्ति बताई है, तब आकाश को सब जगत् का कारण कैसे कहा जासकता है, वह तो स्वयं कार्य है। तैत्तिरीय के उस प्रसंग में आकाश से

वायु की उत्पत्ति का जो उल्लेख है, वह केवल भूतोत्पत्ति के क्रम का निर्देश है। वायु की उत्पत्ति उससे मानने पर भी सब जगत् की उत्पत्ति तो उससे नहीं कही जासकती। पर ब्रह्म के विषय में ऐसा नहीं है। वह मूलकारण को जगदुत्पत्ति के लिये प्रेरितकर आद्य कार्य से लेकर पृथिवी तथा ओषध्यादिपर्यन्त कार्यमात्र में कारण रहता है। उसकी सत्ता के विना यह सब संभव नहीं। इसलिये ऐसे अध्यात्म प्रसंगों एवं सृष्टि-कर्त्तृत्वादि प्रसंगों में 'आकाश' पद ब्रह्म का वाचक होता है, अन्य का नहीं।

इसी आधार पर तैत्तिरीय उपनिषद् [२।७] में कहा—'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' यदि आनन्दरूप आकाश न हो, तो कौन जीवित रहसकता है ? समस्त जीवन और सबके अस्तित्व का आधार वही है। यहां भी आनन्दरूप ब्रह्म को 'आकाश' पद से कहा गया है। अन्यत्र [छा० ८।१४।१] कहा—आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' नामरूपात्मक जगत् का संचालन व नियन्त्रण करनेवाला 'आकाश' है। यहां भी 'आकाश' पद का वाच्य ब्रह्म है।

पूर्व सन्दर्भ में ब्रह्म का अन्य लिङ्ग बताया—'आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान्' आकाश ही इन सबसे ज्यायान्-महान है। आकाश की महत्ता इसी में है, कि वह सबकी उत्पत्ति आदि का कर्त्ता, सबका नियन्ता व प्रेरयिता है। ऐसा महान केवल ब्रह्म होसकता है। आगे छान्दोग्य [३।१४।३] में कहा—'एष म आत्माऽन्त-र्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाद् ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' यह आत्मा मेरे [जीवात्मा के] हृदय[1] के अन्दर विराजमान पृथिवी अन्तरिक्ष दिव् तथा समस्त लोक-लोकान्तरों से महान है। यह ब्रह्म की उपासना का प्रसंग है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' [छा० ३।१४।१] यह सब जगत् उसकी प्रेरणा से उत्पन्न होता, स्थिर रहता तथा कारण में लय को प्राप्त होता है, यह समझकर शान्त [दुनियावी झगड़े बखेड़ों से अलग रहता हुआ] जिज्ञासु ब्रह्म की उपासना करे।[2]

---

१. 'हृदय' पद यहां मस्तिष्कगत हृदय का वाचक है, जो जीवात्मा का निवास है। जीवात्मा की यह भावना है, कि मेरे हृदय के अन्दर जो अतिसूक्ष्म व अतिमहान आत्मा [ब्रह्म] विराजमान है, आत्मज्ञान होने पर देहत्याग के अनन्तर में उसी-को प्राप्त होनेवाला हूं। इससे यह स्पष्ट होता है, कि जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न है।

२. उपनिषद् के इस सन्दर्भ का आचार्य शंकर और उनके अनुयायी विद्वानों ने जो यह अर्थ समझा है, कि—यह सब ब्रह्म है, ठीक नहीं। वस्तुतः 'ब्रह्म' पद 'उपासीत' क्रिया का कर्म है, इसका अन्वय किया जाना चाहिये—'सर्वं खल्विदं तज्जलानिति शान्तः [सन् जिज्ञासुः] ब्रह्म उपासीत'। 'ब्रह्म' पद का सम्बन्ध 'सर्वं इदं' से नहीं होना चाहिये, क्योंकि यह उसका कार्य है, स्वयं ब्रह्म नहीं। सन्दर्भ की समुचित व्याख्या ऊपर करदी गई है।

इसी ब्रह्म को 'आकाशात्मा' [छा० १।१४।२] तथा 'आत्मा' [छा० १।१४।३] कहा है। उसीको आगे पुनः ब्रह्म बताया—'एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद्ब्रह्म, एतमितः प्रेत्याभिसंभावितास्मि' यह आत्मा जो मेरे [जीवात्मा के] हृदय के अन्दर विराजमान है, यह ब्रह्म है। यहां से शरीर का त्यागकर [प्रेत्य] इस ब्रह्म को प्राप्त होनेवाला हूं। यहां ब्रह्म के लिये 'आत्मा' व 'आकाशात्मा' पदों का प्रयोग हुआ है। उपासना का उपक्रम ब्रह्म से हुआ और निगमन भी ब्रह्म कहकर किया है। इसलिये मध्य में 'आत्मा' आदि पद ब्रह्म के वाचक निश्चित हैं, उसीको प्रथम अतिसूक्ष्म कहकर पृथिव्यादि से महान बताया गया है। फलतः पूर्वनिर्दिष्ट संदर्भ में 'ज्यायान्' ब्रह्म का लिङ्ग निर्धारित होता है।

प्रसंगवश यह कहदेना उपयुक्त होगा, कि यह वर्णन इस मन्तव्य का निरास करता है, कि जीवात्मा और ब्रह्म एक हैं अथवा अभिन्न हैं। जीवात्मा यह भावना करता है, कि यह उपास्य आत्मा मेरे हृदय के अन्दर विराजमान है। आत्मज्ञान होने पर यह आशंसा करता है, कि देहत्याग के अनन्तर मैं उसको प्राप्त होने वाला हूँ। यह वर्णन उपास्य और उपासक के भेद को स्पष्ट करता है। 'एष मे आत्माऽन्तर्हृदये' इन पदों में 'मे' का सम्बन्ध सन्दर्भपठित 'आत्मा' पद के साथ नहीं होसकता; क्योंकि यह सम्बन्धवाचक पद है, कहने वाला स्वयं अपने को अपना सम्बन्धी नहीं कहेगा। उपनिषत्कार का ऐसा आशय प्रतीत नहीं होता। यदि उसे यह अर्थ अभिप्रेत होता, तो वह 'मे' न कहकर उसकी जगह 'अहम्' कहता। तब 'एषोऽहमात्माऽन्तर्हृदये' ऐसा पाठ होता। निश्चित है, उपनिषत्कार इस अर्थ को कहना नहीं चाहता। वह 'मे' पद से जीवात्मा का संकेत कर उससे सम्बद्ध हृदय प्रदेश के अन्दर अन्य उपास्य आत्मा का निर्देश करना चाहता है। प्रकरण के उपक्रम-उपसंहार के अनुसार इस प्रसंग की आचार्य शंकरकृत व्याख्या अशास्त्रीय है।

पूर्वोक्त सन्दर्भ में ब्रह्म का अन्य चिह्न बताया—'आकाशः परायणम्' वह समस्त विश्व का सबसे बड़ा आधार है। यह केवल ब्रह्म में सम्भव है, जिसके लिये कहा—'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः' [बृ० ३।८।९] द्युलोक पृथिवीलोक सूर्यचन्द्र आदि सब उसीसे धारण किये हुए ठहरे हैं। तथा 'कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः' [श्वे० ६।११] वह सब कर्मों का अध्यक्ष और समस्त चराचर जगत् का अधिवास-आधार अथवा निवासस्थान है। बृहदारण्यक [३।९।२८] में कहा—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम्' वह चेतन आनन्दस्वरूप ब्रह्म दानादि धर्माचरण करनेवालों का उत्कृष्ट आधार है।

छान्दोग्य में आगे [१।९।२] कहा—'स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः' वह 'आकाश' परोवरीयान्, उद्गीथ और अनन्त है। ये ब्रह्म के चिह्न हैं, जो सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान से महान [परोवरीयान्] है। जिसके विषय में अन्यत्र [श्वेता० ३।९]

कहा—'यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्'। जिससे न कोई पर है न अपर, तथा जिससे न कोई सूक्ष्म है न महान। वेद में कहा—'त्वमस्य पारे रजसो व्योमन:' [ऋ० १।५२।१२], हे परमात्मन्! तुम इस आकाश में स्थित लोक लोकान्तरों से परे हो। किसी प्राणी के लिये सबसे समीप उसका अपना आत्मा है, या वह स्वयं आप है, पर ब्रह्म उसके भी अन्दर बैठा है—'य आत्मनि तिष्ठन्' [माध्य० शत० १४।६।७।३०], वह आत्मा के भी अन्दर विराजमान रहता है, इसलिये वह दूर से दूर और समीप से समीप है—'तद्दूरे तद्वन्तिके' [यजु० ४०।५]। वह उद्गीथ-उपास्य है। भूताकाश आदि जड़तत्त्व उपास्य नहीं होसकते। वह अनन्त है। ये सब ब्रह्म के लिङ्ग हैं। इसीलिए प्रस्तुत सन्दर्भ में 'आकाश' पद का वाच्य ब्रह्म समझना चाहिये।

आकाश के पर्यायवाची अन्य पदों का प्रयोग भी ब्रह्म के लिये शास्त्र में देखा जाता है। 'यो अस्याध्यक्ष: परमे व्योमन्' [ऋ० १०।१२९।७], 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदु:' [ऋ० १।१६४।३९], 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता' [तै०उ०३।६], 'ओं कं ब्रह्म खं ब्रह्म' [छा० ४।१०।५], 'ओं खं ब्रह्म' [यजु० ४०।१७], इत्यादि वेद तथा अन्य वैदिक साहित्य में 'व्योमन्' 'खम्' आदि आकाशपर्याय पदों का प्रयोग ब्रह्म के लिये हुआ है। यद्यपि प्रसिद्धिबल से 'आकाश' पद सर्वप्रथम भूताकाश का प्रत्यायक होजाता है, परन्तु प्रकरण में ब्रह्मधर्मों का वर्णन देखे जाने से वह भूताकाश का वाचक नहीं माना जासकता। फलत: अनेक प्रसंगों में 'आकाश' पद का प्रयोग ब्रह्म के लिये हुआ है, यह निश्चित होता है ॥२२॥

'आकाश' पद के सामान 'प्राण' पद भी अनेक स्थलों में ब्रह्म का वाचक है, सूत्रकार ने बताया—

अत एव प्राण: ॥२३॥

[अत:] इससे [एव] ही [प्राण:] प्राण। इस—पूर्वसूत्र में कहे गये 'तल्लिङ्ग'—हेतु से ही 'प्राण' पद ब्रह्मवाचक सिद्ध होता है।

छान्दोग्य उपनिषद् [१।१०।९; १।११।४-५] में प्रसंग है, उषस्ति चाक्रायण ने प्रस्तोता से पूछा—जिस 'प्रस्ताव' का तुम आरम्भ कर रहे हो, उसकी देवता क्या है? यदि देवता को विना जाने 'प्रस्ताव' [एक साम उपासनाविधि] का आरम्भ करोगे, तो तुम्हारी प्रतिष्ठा नष्ट हो जायगी। इसीप्रकार उसने उद्गाता से उद्गीथ की देवता के विषय में तथा प्रतिहर्त्ता से प्रतिहार की देवता के विषय में प्रश्न किया। वे सब चुप होगये, क्योंकि वे इसको नहीं जानते थे। तब प्रस्तोता ने उषस्ति से विनयपूर्वक पूछा—आप बताईये, वह कौनसी देवता है, जो 'प्रस्ताव' उपासना में अनुगत है 'या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता···कतमा सा देवतेति'। उषस्ति ने बताया—'प्राण इति···, सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता।'

वह देवता 'प्राण' है, समस्त चराचर जगत् [भूतानि] प्रलयकाल आने पर प्राण में लीन होजाता है, उत्पत्तिकाल में पुनः प्राण से प्रादुर्भूत होता है। यही देवता है, जो प्रस्ताव में अधिकृत है।

इस सन्दर्भ में 'प्राण' पद प्राणवायु का बोधक है, अथवा ब्रह्म का? यह विचारणीय है। सूत्रकार ने बताया, कि यहां 'प्राण' पद का वाच्य ब्रह्म है, क्योंकि इसमें—प्राण से जगत् की उत्पत्ति और प्रलय—ब्रह्मबोधक लिंग विद्यमान है। चेतन ब्रह्म की प्रेरणा के विना अचेतन उपादानों से जगत् का प्रादुर्भूत होना तथा उनमें लीन होना सम्भव नहीं। उपनिषद् में प्राण से जगदुत्पत्ति और प्राण में लय का कथन यह स्पष्ट करता है, कि यहां 'प्राण' पद का प्रयोग ब्रह्म के लिये हुआ है। चेतन नियन्ता के विना जगत् की उत्पत्ति या लय सम्भव नहीं, इसलिये उसके महत्त्व को प्रकट करने के लिये—'प्राण में लय तथा प्राण से उत्पत्ति'—ऐसा कहा है। इसका यह तात्पर्य नहीं है, कि 'प्राण' पदबोध्य चेतनतत्त्व स्वतः अचेतन जगद्रूप में परिणत होता और वह अचेतन परिणाम पुनः चेतनरूप में चला जाता है। जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का नियन्ता कहे जाने से उक्त सन्दर्भ में 'प्राण' पद ब्रह्म का वाचक सिद्ध है, प्राणवायु का ग्रहण यहां नहीं किया जाना चाहिए।

शिष्य आशंका करता है, जगत् का लय और प्रादुर्भाव ब्रह्मसम्बन्धी कार्य है, ऐसा नहीं; मुख्य प्राण में भी भूतों का लय और प्रादुर्भाव देखा जाता है। शतपथ ब्राह्मण [१०।३।३।६] में कहा है—'यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः; स यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्ते' जब पुरुष सोता है, वाणी प्राण में लीन होजाती है, चक्षु श्रोत्र मन सब प्राण में लीन होजाते हैं। निश्चित है, यहां प्राण का अर्थ ब्रह्म न होकर शरीरवर्त्ती मुख्य प्राण है। प्रत्येक व्यक्ति इस बात को प्रत्यक्ष से जानता है, कि सोते समय सब इन्द्रियां अपने व्यापार को छोड़ देती हैं, केवल प्राण का कार्य ठीक वैसा ही चलता रहता है, जैसा जाग्रत अवस्था में। सोने के अनन्तर जब पुरुष जागता है, तब इन्द्रियव्यापार पुनः प्रादुर्भूत होजाता है। इन्द्रियां भूतों से सूक्ष्म हैं, जब उनका लय मुख्य प्राण में होता है, तो अन्य भूतों का उसमें लय अनायास सम्भव है। इसीप्रकार पूर्वोक्त 'प्रस्ताव' सन्दर्भ में प्राण का वाच्य ब्रह्म नहीं समझना चाहिये; वहां शरीरवर्त्ती मुख्य प्राण वाच्य होसकता है। इसके अतिरिक्त एक और बात है, उक्त सन्दर्भ में 'प्रस्ताव' की देवता 'प्राण' बताकर उद्गीथ और प्रतिहार की देवता यथाक्रम 'आदित्य', और 'अन्न' बताया है, जिनका वाच्य ब्रह्म सम्भव नहीं। उनके समान 'प्राण' को भी ब्रह्म का वाचक नहीं माना जाना चाहिये।

आचार्य समाधान करता है, शतपथ ब्राह्मण के पूर्वोक्ति सन्दर्भ में केवल इन्द्रियों का लय प्राण में कहा है; परन्तु छान्दोग्य के 'प्रस्ताव' सन्दर्भ में 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते' कहा है। यहां समस्त भूतों—चराचर

ब्रह्माण्ड–का लय प्राण में बताया, और प्राण के आश्रय से समस्त भूतों का अभ्युदय-प्रादुर्भाव बताया। यह कार्य मुख्य प्राण का सम्भव नहीं, यह केवल परमेश्वर का कार्य है; इसलिये छान्दोग्य के उक्त सन्दर्भ में 'प्राण' का वाच्य केवल ब्रह्म होसकता है। एक और बात है, सोने के समय इन्द्रियां अपने कार्य से विरत रहती हैं, जिन कार्यों से विरत रहती हैं, वह इन्द्रियों का विशिष्ट अथवा असाधारण व्यापार कहाजाता है। 'प्राण' समस्त इन्द्रियों का सामान्य अथवा साधारण व्यापार है। स्वापकाल में इन्द्रियां अपने विशेष व्यापार से विरत होती हैं, सामान्यव्यापार प्राण तो निरन्तर प्रत्येक अवस्था में प्रवाहित रहता है। वस्तुस्थिति यह है, कि स्वापकाल में इन्द्रियों का लय कहीं नहीं होता, उनके विशेषव्यापार के न होने और सामान्यव्यापार प्राण के निरन्तर प्रवाहित रहने की स्थिति को आलंकारिकरूप से उसप्रकार वर्णन किया गया है, जैसा शतपथ ब्राह्मण में लिखा है। उसका तात्पर्य इन्द्रियों के वास्तविक लय में नहीं है, प्रत्युत उस अवस्था को इस रुचिकर रीति पर वर्णन कर दिया गया है।

छान्दोग्य के 'प्रस्ताव' सन्दर्भ में उद्गीथ और प्रतिहार की जो देवता कही हैं, उनके विषय में कोई ऐसा लिङ्ग वहां नहीं है, जिससे 'आदित्य' व 'अन्न' का वाच्य ब्रह्म समझा जासके। परन्तु 'प्रस्ताव' की देवता 'प्राण' के विषय में ऐसे चिह्न विद्यमान हैं, जिनसे यहां 'प्राण' पद का प्रयोग ब्रह्म के लिये मानना उपयुक्त है, क्योंकि यहां प्राण को समस्त भूतों का उत्पादक व प्रलयकर्त्ता बताया गया है।

ब्रह्म के लिये 'प्राण' पद का प्रयोग अन्य अनेक स्थलों में पाया जाता है। अथर्व-वेद [११।४।१] में मन्त्र है—

'प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

यह सब जगत् जिसके वश में है, जो सदा विद्यमान रहता हुआ सबका ईशिता है, जिसमें सब प्रतिष्ठित है, आश्रित है, उस 'प्राण' के लिये हमारा नमस्कार हो। आगे [अथर्व० ११।४।१५] और कहा–'प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्टितम्'। अतीत अनागत तथा अन्य सब प्राण में आश्रित है। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।१८] में कहा–'प्राणस्य प्राणम्' वह प्राण का प्राण है, अर्थात् वह संसार के समस्त जीवन का प्रदाता है। यहां द्वितीय 'प्राण' पद ब्रह्मवाचक है। छान्दोग्य [६।८।२] में कहा–'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' यहां ब्रह्मवर्णन के प्रकरण में ब्रह्मसंलग्न मन को प्राण में बंधा हुआ बताया है। इससे स्पष्ट होता है, यहां 'प्राण' पद का वाच्य ब्रह्म है। केन उपनिषद् [१।२] में बताया–'स उ प्राणस्य प्राणः' वह निश्चित प्राण का प्राण है। यहां द्वितीय 'प्राण' पद ब्रह्मवाचक है। कठ उपनिषद् [६।२, अथवा २।३।२] में कहा–'यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्' जो कुछ यह सब जगत् है, प्रादुर्भूत होकर प्राण के आधार पर गतिशील होरहा है। मुण्डक उपनिषद् [३।१।३]

में बताया–'प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति' यह प्राण ही है, जो सब भूतों [सांसारिक ऐश्वर्यों-विभूतियों] के द्वारा प्रकाशित होरहा है। ऐसे अध्यात्मप्रसंगों में 'प्राण' का अर्थ ब्रह्म समझना चाहिये।

ऋग्वेद [१०।१२१।७] में 'प्राण' के पर्याय 'असुः' पद से ब्रह्म का निर्देश किया है–'ततो देवानां समवर्त्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम', देवों के बीच एक प्रजापतिरूप असुः–प्राण सदा वर्त्तमान रहता है, उस आनन्दरूप देव के लिये हम हविद्वारा अनुष्ठान प्रस्तुत करते हैं। इस सब विवेचन से प्रमाणित होता है कि पूर्वोक्त 'प्रस्ताव' सन्दर्भ में 'प्राण' पद का वाच्य ब्रह्म कहना सर्वथा शास्त्रीय है ॥२३॥

वेद वैदिक साहित्य में 'ज्योतिः' पद का प्रयोग ब्रह्म के लिये देखा जाता है। किसी अर्थ को प्रकाशित करने वाले तत्त्व के लिये इस पद का प्रयोग होता है। उसमें भौतिक ज्योति का भी समावेश है। ऐसी स्थिति में 'ज्योतिः' पद कहां ब्रह्म का वाचक है, तथा कहां अन्य अर्थ का? इसका विवेचन करने के लिये सूत्रकार ने प्रस्तुत अधिकरण [२४-२७] का प्रारम्भ किया, जिसका प्रथम सूत्र है—

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥२४॥

[ज्योतिः] ज्योति (ब्रह्म है), [चरणाभिधानात्] चरण के कथन से। विशिष्ट प्रसंगों में 'ज्योति' पदवाच्य ब्रह्म समझना चाहिये, जगत् को उसका चरण (एक अंश) कहे जाने से।

छान्दोग्य उपनिषद् [३।१३।७] के गायत्रीविद्या प्रसंग में हृदय के पांच द्वारपालों का वर्णनकर आगे यह पाठ है–'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु, इदं वाव तद् यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः' अब जो इस द्युलोक से परे ज्योति प्रकाशित है, विश्व के पिछले भागों में, सबके पिछले भागों में, ऊंचे लोकों में और जिनसे ऊंचा कोई नहीं ऐसे लोकों में; वही यह ज्योति है जो इस पुरुष के अन्दर विराजमान है।

इस प्रसंग में 'ज्योति' पद से आदित्य आदि प्रकाशमान लोक का ग्रहण होना चाहिये, अथवा ब्रह्म का? पीछे अन्यार्थक आकाश आदि पदों की उन प्रसंगों में ब्रह्मद्योतक चिह्न होने से ब्रह्मवाचकता सिद्ध की है। यहां कोई ब्रह्मबोधक चिह्न है या नहीं, इसीका विचार करना है। यद्यपि 'ज्योति' पद आदित्य आदि प्रकाशमान पदार्थों का बोध कराने में प्रसिद्ध है, तथा सन्दर्भ में 'दीप्यते' क्रियापद आदित्य के चमकने को प्रकट करता है, क्योंकि अरूप ब्रह्म में चमक का क्या काम। फिर द्युलोक से परे कहकर उस ज्योति की मर्यादा प्रकट की जाने से कार्यरूप सीमित आदित्य का 'ज्योति' पद से ग्रहण होना आपाततः प्रतीत होता है; तथापि पूर्वापर प्रसंग के अनुसार यहां 'ज्योति' पद से

ब्रह्म का ग्रहण होना चाहिये। कारण यह है, कि पूर्ववाक्य में चतुष्पाद् ब्रह्म का निर्देश किया है। चतुष्पाद् कहने का तात्पर्य एक पूर्ण वस्तु का प्रतिपादन है। ब्रह्म के लिये यह कहाजाना उसकी पूर्णता का द्योतक है। उपनिषत्कार ने इस प्रसग [छा० ३।१२।६] में अपने प्रतिपाद्य अर्थ की पुष्टि के लिये पुरुष सूक्त का यह मन्त्र [ऋ० १०।६०।३॥ यजु० ३१।३ अथर्व० १६।६।३] उद्धृत किया है—

तावानस्य[1] महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

इतना जो संसार है, वह उस परब्रह्म की महिमा है। वह पुरुष इससे अति-महान है। यह समस्त चराचर जगत् उसके एक पाद (चरण अंश) में है, उसका अमृत त्रिपाद् द्यु में है। इसके ठीक अनन्तर उपनिषद् में कहा—'यद्वै तद्ब्रह्म इति' जो यह कहा वह ब्रह्म है, अर्थात् उक्त वर्णन ब्रह्मविषयक है। ये लोक-लोकान्तर अनन्त जैसे प्रतीत होते हैं, फिर भी ये ब्रह्म के एक अंशमात्र में अवस्थित हैं। यद्यपि ब्रह्म के कोई अंश या भाग कल्पना नहीं किये जासकते, तथापि यह वर्णन केवल उसकी असीम सत्ता को प्रकट करने के लिये इस रूप में किया गया है। ऐसा वर्णन इस दृश्यमान आदित्य के लिये संभव नहीं। यह स्वयं एक अतिसीमित लोक है, द्युलोक में सबसे परे इसका अस्तित्व बताना स्पष्टतः प्रत्यक्ष का विरोध है।

उक्त मन्त्र के चतुर्थ चरण में जिस अर्थ का संकेत है, 'द्यु' पद निर्देश के सम्बन्ध से उसीका उपक्षेप 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इस सन्दर्भ में है। इससे परिणाम निकलता है, कि मन्त्र में जिस अमृत ब्रह्म को द्यु में प्रसृत कहा है, उसीको यहां 'ज्योति' पदद्वारा सब लोकों में और उनसे परे व्याप्त बताया है। फलतः यहां 'ज्योति' पद सर्वान्तर्यामी ब्रह्म का वाचक समझना चाहिये, अतिसीमित आदित्य आदि का नहीं।

'दीप्यते' क्रियापद का प्रयोग इसमें बाधक नहीं है। प्रत्येक ऐसा तत्त्व 'ज्योतिः' पदवाच्य है, जो अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता हो। ब्रह्म चैतन्यरूप होने से समस्त जगत् को प्रकाश में लाने का कारण है, अतः ब्रह्म के लिये 'ज्योतिः' पद का प्रयोग सर्वथा उपपन्न है। आदित्य आदि समस्त प्रकाशमान लोकों का रचयिता ब्रह्म है, इन लोकों का यह स्वरूप ब्रह्म के कारण संपन्न होता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण [३।१२।६।७] में निर्देश है—'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' जिसके द्वारा तेज से दीप्त हुआ सूर्य तप रहा है, वह तत्त्व सर्वान्तर्यामी सर्वनियन्ता ब्रह्म है। मुण्डक उपनिषद् [२।२।१०] में कहा—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' उसीके प्रकाश से यह सब जगत् प्रकाशित है। बृहदार-

१. ऋग्वेद, यजुर्वेद में 'एतावानस्य महिमाऽतो' पाठ है, तथा 'सर्वा' पद के स्थान पर तीनों वेदों में 'विश्वा' पाठ है। अथर्ववेद में 'तावन्तो अस्य महिमानस्ततो' पाठ है।

ण्यक उपनिषद् [४।४।१६] में बताया–'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' ज्ञानी विद्वान् आयुपर्यन्त प्रकाशकों के भी प्रकाशक उस अमरणधर्मा ब्रह्म की उपासना करते हैं। सब ज्योतिर्मय जगत् का जो प्रकाशक है, ऐसे ब्रह्म के लिये 'दीप्यते' क्रिया का प्रयोग सर्वथा युक्त है।

'ज्योतिः' पद लोक में आदित्य आदि के लिये प्रसिद्ध होने पर भी ब्रह्मप्रतिपादक प्रकरण में बाधित होजाता है। ब्रह्मबोधक अन्य पदों का समावेश तथा प्रकरण का तात्पर्य इसके पोषक होते हैं। 'अतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' [छा० ३।१३।७] इन पदों में 'ज्योतिः' की दीप्ति को मर्यादित नहीं किया गया, प्रत्युत वाक्यशेष [प्रकरण के तात्पर्य] से उसका अमर्यादित होना स्पष्ट होता है। 'विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेषु' पद इस भावना को प्रकट करते हैं। दृश्यमान जगत् के अस्तित्व से उसका प्रकाशित होना स्पष्ट है, पर जो द्यु से परे अदृश्य जगत् है, वहां भी उसका प्रकाश विद्यमान है, यही भाव इस वाक्य का है। यदि 'द्यु से परे वह ज्योति प्रकाशित है' इसी रूप में उपनिषद्वाक्य का अर्थ किया जाय, तो भी 'ज्योतिः' पद से आदित्य का ग्रहण कदापि नहीं होसकता, क्योंकि यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, उसका प्रकाश, यहां तो है परन्तु परे का किसने जाना? ब्रह्मसत्ता का प्रकाश जिन कारणों से यहां जाना जाता है वही कारण द्यु से परे उसके प्रकाश का बोध कराते हैं। फलतः उक्त सन्दर्भ में अमर्यादित दीप्ति का प्रतिपादन है, यह उस वाक्य में ब्रह्म का चिह्न है।

वेदों में इसप्रकार के वर्णन उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद [१०।८२।५] में मन्त्र है–'परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।' वह द्युलोक और पृथ्वी से परे है, और जो समस्त आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक शक्तियों से परे है। यह ब्रह्मसत्ता का वर्णन है। अन्यत्र [ऋ० ७।९९।१] कहा–'परो मात्रया तन्वा वृधान न ते महित्वमन्वश्नुवन्ति' जो अपनी सार्वत्रिक सत्ता के द्वारा समस्त परिमित जगत् से परे बढ़ा हुआ है, अथवा मात्रा-मर्यादा से परे वर्त्तमान अपनी सत्ता द्वारा अर्थात् अमर्यादित सत्ताद्वारा जो सर्वत्र व्याप्त है, उसकी महिमा का कोई पार नहीं पाता। उसी महती आनन्दमयी चेतनसत्ता का 'ज्योतिः' पद से ऋग्वेद [६।९।४-५] में आकर्षक वर्णन है—

अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा वर्धमानः॥

यह सबसे पहला 'होता' है, संसार के सर्गरूप होम को इसने सर्वप्रथम प्रारम्भ किया। हे मनुष्यो! इसे देखो, जानो, मानव का सर्वोच्च ध्येय उसको जानलेना ही है। मरणशील-परिवर्त्तनशील संसार में वह 'ज्योतिः' अमृत है, अमरणधर्मा है, शरीरादिबन्धनों से सर्वथा रहित। यह निश्चल, सर्वत्र बैठा हुआ सर्वव्यापी [निषत्तः] अपनी सत्ताद्वारा [तन्वा] अन्तर्यामीरूप से सर्वत्र विद्यमान, अमर्त्य सदा बना रहता है। ऋग्वेद [७।९९।१] के 'तन्वा वृधान' और इस मन्त्र के 'तन्वा वर्धमानः' पदों की समा-

नता पर ध्यान देना चाहिये । ये पद परमात्मा की सार्वत्रिक अन्तर्यामी सत्ता की ओर संकेत करते हैं। अगली ऋचा है—

ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः ।
विश्वे देवाः समनसः सकेताः एकं क्रतुमभि वि यन्ति साधु ॥

[पतयत्सु-अन्तः] गतिशील प्राणियों के अन्दर उनके हृदयदेश में [मनो जविष्ठं] मन से भी अतिशय वेगयुक्त [ध्रुवं] निश्चल [ज्योतिः] चैतन्य ब्रह्म [निहितं] बैठा हुआ है। किसलिए ? [दृशये] देखे जाने के लिये। ब्रह्म का दर्शन-ज्ञान आत्मा के निवास हृदयप्रदेश में संभव है, यह भाव यहां ध्वनित होरहा है। वह ज्योतिः –ब्रह्म कैसे जाना जाता है, यह ऋचा के उत्तरार्द्ध से स्पष्ट किया–[विश्वे देवाः] अर्थों को प्रकाशित करने वाली समस्त इन्द्रियां [समनसः] मन के सहित [सकेताः] सचेष्ट हुई, सक्रिय हुई, [एकं क्रतुं] एक अद्वितीय सृष्टि आदि के कर्त्ता ब्रह्म की [साधु] विधिपूर्वक [अभिवियन्ति] उपासना में लग जाती हैं। जब मनसहित इन्द्रियां अपनी पूर्ण शक्ति के साथ ब्रह्म की उपासना में तत्पर रक्खी जाती हैं, तब अन्तरात्मा में ब्रह्म का दर्शन सुलभ होता है। वेद के इस प्रसंग में 'ज्योतिः' पद से ब्रह्म का निरूपण हुआ है। फलतः छान्दोग्य उपनिषद् [३।१३।७] के उक्त सन्दर्भ में सूत्रकारद्वारा 'ज्योतिः' पद का वाच्य ब्रह्म बताना अनागमिक नहीं है ॥२४॥

शिष्य आशंका करता है, छान्दोग्य उपनिषद् [३।१२।६] में पुरुष सूक्त के मन्त्र का जो उद्धरण दिया गया है, वह गायत्री छन्द की प्रशंसा में है, बारहवें खण्ड के प्रारम्भ में है–'गायत्री वा इदं सर्वम्' से उसीका वर्णन करते हुए आगे कहा–'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री ।' ठीक इसीके आगे वाक्य है–'तदेतदृचाऽभ्यनूक्तम्' और आगे वह मन्त्र उद्धृत है। इससे प्रतीत होता है, कि उक्त मन्त्र का छान्दोग्य के इस प्रसंग में उद्धरण गायत्री छन्द की प्रशंसा में है। ब्रह्म का यहां कोई संकेत नहीं। फिर अगले खण्ड के 'अथ यदतः परो दिवो दीप्यते' सन्दर्भ में इस मन्त्रप्रतिपाद्य अर्थ के उपक्षेप से ब्रह्म की पहचान कैसे कही जासकती है ? आचार्य सूत्रकार ने इस आशंका का उल्लेख-पूर्वक समाधान किया—

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात् तथा हि दर्शनम् ॥२५॥

[छन्दः-अभिधानात्] छन्द के कहे जाने से [न] नहीं (ब्रह्म), [इति-चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो), [न] नहीं (कहना ठीक नहीं), [तथा] उसप्रकार से [चेतः-अर्पणनिगदात्] चित्त का समर्पण कहे जाने के कारण, [तथा] वैसे [हि] क्योंकि अथवा निश्चयपूर्वक [दर्शनम्] दर्शन-ज्ञान (होता है)।

गायत्री छन्द का कथन होने से इस प्रकरण में ब्रह्म का निर्देश नहीं है, ऐसी आशंका करना ठीक नहीं। क्योंकि उसप्रकार गायत्री द्वारा चित्त के समर्पण-चित्त के समाधान [समाधिदशा प्राप्त करने के प्रयास] का वर्णन किया गया है। कारण यह है, कि ब्रह्म के दर्शन का प्रकार वही है। उसी विधि से ब्रह्म को जाना जासकता है।

छान्दोग्य उपनिषद् [३।१२।१] में जहां 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च' इत्यादि उपासनाप्रकरण प्रारम्भ किया है, वहां मुख्यरूप से गायत्री छन्द का वर्णन नहीं है, प्रत्युत गायत्री मन्त्र द्वारा ब्रह्म की उपासना में चित्त को सर्वथा समर्पण करदेना बताया है। सब ओर से अपनी चित्तवृत्तियों को हटाकर मन को केवल ब्रह्म में लगाना अभिप्रेत है। उस उपासना में गायत्री मन्त्र का जप किया जाता है। गायत्री का मुख्य प्रतिपाद्य अर्थ ब्रह्म है, अपनी भावनाओं की पवित्रता के लिये उससे प्रार्थना है। यही उपासना का रूप है। इसमें गायत्रीप्रतिपाद्य ब्रह्म को सीधा गायत्री पद से निर्दिष्ट कर दिया गया है। इसप्रकार उक्त वाक्य में 'गायत्री' पद गायत्रीप्रतिपाद्य ब्रह्म का निर्देश करता है। उसे सर्वरूप कहा गया है; वह सब जगत् का मुख्य कारण है, उसकी प्रेरणा विना जगद्रूप कार्य का होना असंभव है। अतः उसकी महत्ता को प्रकट करने के लिये उसे सर्वरूप कहा जासकता है। गायत्री छन्द तो कुछ वर्णों का विन्यासमात्र है, उसके लिये ऐसा वर्णन सर्वथा असमञ्जस होगा। फलतः गायत्रीपद द्वारा किया गया वर्णन ब्रह्म का वर्णन है, वर्णरचनामात्र छन्द का नहीं। उस ब्रह्म की महिमा को 'तावानस्य महिमा' इत्यादि मन्त्र के द्वारा स्पष्ट किया है। वेदों के पुरुषसूक्तों में इस मन्त्र का तात्पर्य ब्रह्म के प्रतिपादन में बताया गया है। मन्त्र में 'पुरुष' पद ब्रह्म का निर्देश करता है, गायत्री छन्द का नहीं।

मन्त्र का उल्लेखकर छान्दोग्य [३।१२।७] में 'यद्वै तद् ब्रह्म' यह स्पष्ट उल्लेख है। इससे निर्धारित होता है, कि मन्त्रद्वारा जिस अर्थ का प्रतिपादन किया गया, वह ब्रह्म है। इसीका परामर्श 'अथ यदतः परः' इत्यादि अगले खण्ड के सन्दर्भ में है, जो इस अधिकरण के मुख्य विषयवाक्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

यह पहले कहा गया, कि आत्मा ब्रह्म का साक्षात्कार मस्तिष्कगत हृदयदेश में करता है। इसको आलंकारिकरूप से उपनिषदों में 'स्वर्ग' कहा है। उक्त पुरुषसूक्त के मन्त्र को उद्धृत करने के अनन्तर छान्दोग्य के इस प्रकरण में पांच प्राणों को उस स्वर्ग का द्वारपाल बताया। द्वारपालों की अनुकूलता के विना उसके अन्दर प्रवेश नहीं पाया जासकता। इसका अभिप्राय है, प्राणों को वश में कर उस स्वर्ग में प्रवेश पाना। प्राणों को वश में करने का तात्पर्य है, समस्त इन्द्रियों को बाह्यवृत्तियों से हटाकर अन्तर्मुख करलेना, यह प्रसंग उपासनाद्वारा ब्रह्म में चित्त की समर्पणविधि को प्रस्तुत करता है। इन पांच प्राणों को वहां [छा० ३।१३।१] स्वर्गरूप हृदयदेश का 'देवसुषि—दिव्य द्वार' कहा है, तथा इनको 'ब्रह्मपुरुष' बताया गया है, और स्वर्गलोक के द्वारपाल। उस ब्रह्म-

भवन में पहुँचने के लिये इनको अनुकूल करना है। इनका उक्त नाम इस तथ्य को प्रकट करता है, कि इनको वश में कर ब्रह्म तक पहुंचा जासकता है, तथा यह प्रसंग प्रस्तुत उपासनाविधिद्वारा ब्रह्म तक पहुंचने का वर्णन करता है। उसी ब्रह्म का निरूपण 'अथ यदतः परो दिवो दीप्यते' इत्यादि सन्दर्भ द्वारा किया है, जो अन्दर और बाहर सर्वत्र विद्यमान है।

छान्दोग्य के इस प्रसंग में गायत्री के साथ जो उपासनाविधि बताई गई है, वह ब्रह्मज्ञान के लिये अत्युपयुक्त साधन है। ब्रह्म का दर्शन इसीके द्वारा होता है। फलतः छान्दोग्य के इस प्रसंग [३।१२-१३] में छन्द का वर्णन न होकर 'गायत्री' पदद्वारा 'ब्रह्म' का निरूपण हुआ है, ऐसा निश्चित समझना चाहिये ॥२५॥

सूत्रकार इस व्यवस्था की पुष्टि के लिये एक अन्य उपोद्बलक हेतु प्रस्तुत करता है—

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥२६॥

[भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेः] भूत आदि पादों का कथन युक्तियुक्त होने से [च] और [एवम्] ऐसा है। 'तावानस्य' इत्यादि मन्त्र के उद्धरण से पूर्व भूत आदि पादों का व्यपदेश उपपन्न-युक्तियुक्त होने से यह प्रसंग ब्रह्मविषयक है।

छान्दोग्य में जहां [३।१२।६] 'तावानस्य' इत्यादि पुरुषसूक्त के मन्त्र को उद्धृत किया है, उसके पूर्व गायत्री के 'भूत' आदि चार पादों [भूत, पृथिवी, शरीर, हृदय] का वर्णन है। ये पाद गायत्री छन्द के कल्पना किये जाने सर्वथा अनुपपन्न हैं। 'भूत' से अभिप्राय यहां समस्त विश्व का है, गायत्रीपदबोध्य ब्रह्म सम्पूर्ण संसार में अन्तर्यामीरूप से व्याप्त है। इसको ब्रह्म का एक पाद कहा गया। हमें ब्रह्म के उस पाद तक पहुंचना है, जहां उसका साक्षात्कार होता है। तब जिज्ञासु समस्त विश्व की उपेक्षा कर प्राणी के आधारभूत पृथिवी की ओर आकृष्ट होते हैं। 'पृथिवी' उसका दूसरा पाद है। पर यह पाद उसके साक्षात्कार का आधार नहीं है, इसकी भी उपेक्षा कर जिज्ञासु का आकर्षण शरीर में सीमित होजाता है। यह 'शरीर' गायत्रीवाच्य ब्रह्म का तीसरा पाद है। यह भी साक्षात्कार का आधार नहीं रहता। वह अन्तिम पाद 'हृदय' है, जहां ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। समस्त विश्व में व्याप्त ब्रह्म को हृदय में साक्षात् किया जाता है, यही भाव इस प्रसंग से प्रस्फुटित किया गया है। इसप्रकार चार पादों की यह कल्पना गायत्री छन्द के विषय में प्रमाणित नहीं की जासकती। अतः यहां ब्रह्म का वर्णन अभिमत है।

गायत्री छन्द चौबीस अक्षर का होता है। यदि छह अक्षरों के एक समूह को एक पाद माना जाय, तो गायत्री छन्द के चार पाद होते हैं, प्रत्येक पाद में छह अक्षर; इसप्रकार गायत्री 'चतुष्पदा, षड्विधा' होजाती है। रहस्यभूत अर्थ के प्रतिपादन में कुतूहली उपनिषत्कार गायत्री के इस बाह्यरूप को ब्रह्म में प्रतिफलित करता है, और

'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री' कहकर आगे 'तावानस्य महिमा' इत्यादि पुरुषसूक्त के मन्त्र का अवतरण करता है। यह केवल बाह्यरूप से चार पांव और छह विधाओं का साम्यप्रदर्शन है। वास्तविक रूप से उपनिषत्कार का तात्पर्य ब्रह्म की महत्ता को प्रकट करना है, तथा उसके उस महान अन्तर्यामीरूप का ध्यान करते हुए 'हृदय' देश में उसके साक्षात्कार के लिये जिज्ञासु को प्रेरित करना है, यही इस प्रसंग का मुख्य लक्ष्य है। ब्रह्म के चार पादों की षड्विधता का संकेत माण्डूक्य उपनिषद् में वर्णित जागरित, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय नामक स्थानों के स्वरूपनिर्देश तथा वैश्वानर आदि चार पादों के वर्णन के अवसर पर उपलब्ध होता है। प्रथमपाद की छह विधा हैं—जागरित-स्थान, बहिःप्रज्ञ, सप्ताङ्ग, एकोनविंशतिमुख, स्थूलभुक्, वैश्वानर। इसीप्रकार द्वितीय-पाद की विधा हैं—स्वप्नस्थान, अन्तःप्रज्ञ, सप्ताङ्ग, एकोनविंशतिमुख, प्रविविक्तभुक्, तैजस्। तृतीयपाद की विधा हैं—सुषुप्तस्थान, एकीभूत, प्रज्ञानघन, आनन्दभुक्, चेतो-मुख, प्राज्ञ। तुरीयपाद की विधा हैं—नान्तःप्रज्ञ-अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्चोपशम, शान्त, शिव, अद्वैत[1]।

दोनों स्थलों [छान्दोग्य-माण्डूक्य] के पादवर्णन का पारस्परिक सामञ्जस्य इसप्रकार समझना चाहिये। 'भूत' नामक पाद जागरितस्थान के रूप में तब है, जब समस्त विश्व में अन्तर्यामीरूप से विद्यमान ब्रह्म की संभावना की जाती है। स्वप्नस्थान, 'पृथिवी' लोक में आकर ब्रह्म की ओर रुचि होना है। मानव 'शरीर' प्राप्तकर ब्रह्म की जिज्ञासा में तत्पर होना, 'शरीर' पाद का सुषुप्तिस्थान के साथ सन्तुलन है। तुरीय अवस्था है, 'हृदय' देश में ब्रह्म का साक्षात्कार। 'ओ३म्' की व्याख्या के रूप में माण्डू-क्योपनिषद्वर्णित ब्रह्मोपासनाप्रक्रिया के चार पादों से उक्तप्रकार भूतादि चार पादों की तुलना की जासकती है, जिसके प्रत्येक पाद की छह विधाओं का यहां निर्देश है।

यद्यपि ब्रह्म सर्वथा अपाणिपाद है, पर गायत्रीद्वारा अथवा 'ओ३म्' जपद्वारा ब्रह्म की उपासनाविधि पर आधारित यह पादों की कल्पना है, जो केवल उपासना के अवसर पर उस अर्थ को भावित करने में सहायक होती है। गायत्री अथवा 'ओ३म्' का जप करते हुए उक्त रूपों में ब्रह्म का ध्यान किया जाता है। साधारणरूप से वह भावना व ध्यान इसी रूप में होते हैं, कि वह ब्रह्म प्रकाशस्वरूप चेतन सर्वान्तर्यामी सबका आधार अन्दर और बाहर समस्त विश्व में वही एकमात्र व्याप्त होरहा है। अपने अन्दर बाहर सब ओर केवल उसी चेतनरूप प्रकाश को देखने का प्रयास करना। ऐसे निरन्तर दृढ़ अभ्यास का फल होता है—ब्रह्मसाक्षात्कार।

ब्रह्म की ऐसी सर्वेश्वरता सर्वातिशायिता सर्वान्तर्यामिता आदि को पुरुषसूक्त [ऋ० १०।९०।४; यजु० ३१।४; अथर्व० १९।६।२] के 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादो-

१. स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक भाष्य।

ऽस्येहाभवत्पुनः। ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनाऽनशने अभि' इत्यादि वर्णनों से स्पष्ट किया है। पुरुष के तीन पाद ऊपर उठे हैं, अर्थात् संसार जितना अनन्त लोका-लोक तक फैला हुआ है, ब्रह्मपुरुष उससे भी अतिमहान है। यह समस्त विश्व उसका एक पैर होता है, जिसमें प्राणी अप्राणी सम्पूर्ण जगत् गति पाता है। यह सब वर्णन ब्रह्म की सर्वातिशायिता को स्पष्ट करता है। इस सबके यथाभूत होने पर भी हमारे व्यवहार तथा शास्त्रीय व्यवहार में उपनिषत्कार ने जो 'भूत' आदि पादों की कल्पना की है, वह केवल ब्रह्म के विषय में संभव होसकती है। फलतः भूतादि पादों के कथन की उपपत्तियुक्तता से यह सिद्ध होता है, कि इस प्रसंग में ब्रह्म का वर्णन है, गायत्री छन्द का नहीं। उसीका अतिदेश 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इस 'ज्योतिः' पदघटित सन्दर्भ में है, इसलिये चरण-पाद के कथन से यहां 'ज्योतिः' पद सर्वजगत्प्रकाशक ब्रह्म का बोधक है, यह निश्चित होता है ॥२६॥

शिष्य आशंका करता है, गुरुवर ! छान्दोग्य के इस प्रसंग के विषय में आपने जो समझाया, उसे ग्रहण करने का हमने प्रयास किया है। पर जहां [छा० ३।१२।६] पुरुषसूक्त के मन्त्र को उद्धृत किया है, वहां 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' पदों में 'दिवि' सप्तमी विभक्ति के निर्देशद्वारा द्यु को अमृत त्रिपाद् का आधार बताया है, पर आगे [छा० ३।१३।७] 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' सन्दर्भ में 'अतः परो दिवः' इस पञ्चमी विभक्ति के निर्देश से द्यु को मर्यादा-सीमा बताया है। यह उपदेशभेद शंका उत्पन्न करता है, कि 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' में प्रतिपाद्य अर्थ का 'अथ यदतः परः' सन्दर्भ में अतिदेश नहीं होना चाहिये। तब वहां ब्रह्म का वर्णन कैसे माना जायगा ? सूत्रकार ने शंका का निर्देश करते हुए समाधान किया—

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥२७॥

[उपदेशभेदात्] उपदेश भिन्न होने से [न] नहीं (अगले वाक्य में ब्रह्मवर्णन), [इति चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो), [न] नहीं (तुम्हारा कथन युक्त); [उभयस्मिन्] दोनों (उपदेशों) में [अपि] भी [अविरोधात्] विरोध न होने से।

पहले वाक्य में सप्तमी और अगले वाक्य में पञ्चमी विभक्तिद्वारा निर्देश के कारण उपदेश भिन्न होने से, प्रथम वाक्य के प्रतिपाद्य अर्थ का अगले वाक्य में अतिदेश नहीं होना चाहिये, ऐसी आशंका करना ठीक नहीं; क्योंकि विभक्तिभेद होने पर भी दोनों उपदेशों में परस्पर कोई विरोध नहीं है।

'त्रिपादस्यामृतं दिवि' यहां 'दिवि' द्यु पद का सप्तम्यन्तरूप है, पर यहां ... रूप से द्यु को अमृत का आधार बताना अभिप्रेत नहीं है। प्रत्युत इस निर्देश से अमृत ब्रह्म की अन्तर्यामिता का द्योतन किया गया है। वह ब्रह्म द्यु में अन्तर्यामी होकर विराजमान है। यहां द्यु और ब्रह्म के आधाराधेयभाव की कल्पना करना शास्त्रीय

मर्यादा के विपरीत है ।

अगले 'अथ यदतः परो दिवः' सन्दर्भ के पूर्व प्रसंग में हृदयस्थित ब्रह्म के पांच द्वारपालों का वर्णन है । ये पांच द्वारपाल पांच प्राण हैं। हृदयस्थित ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये उपासनाविधि में किसप्रकार इन प्राणरूप पांच द्वारपालों का उपयोग है, इसका विवेचन प्रकरण के पिछले सूत्र में कर दिया गया है। यहां तक हृदयस्थित ब्रह्म का उपदेश कर उपनिषत्कार उसके बाहर भी सर्वत्र ब्रह्म का अस्तित्व प्रकट करने के लिये 'अथ यदतः परः' इत्यादि संदर्भ द्वारा उपदेश करता है। जो ब्रह्म अन्तर्हृदय में विराजमान साक्षात् किया जाता है, वही ब्रह्म उसके बाहर जहां तक ये लोक-लोकान्तर विस्तृत हैं, तथा उसके परे भी व्याप्त होरहा है। इसी भावना को उपनिषत्कार इस प्रसंग से स्पष्ट करना चाहता है। संदर्भ के प्रारम्भिक प्रत्येक पद पर ध्यान देने से यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है ।

'अथ' हृदयस्थित ब्रह्म का निर्देश करने के अनन्तर कहते हैं, 'यत्' जो ज्योतिः 'अतः' इस हृदयदेश से 'परः' परे है–बाहर है, जहां तक ये चमकदार लोक-लोकान्तर फैले हुए हैं; तथा 'दिवः परः' द्युलोक से परे जो ज्योति प्रकाशमान है, वह वही ज्योति है, जो हृदयदेश में इस अन्तःपुरुष में विद्यमान है। इस विवेचन के अनुसार न यहां उस 'ज्योति' की मर्यादा-सीमा का कथन है, और न वहां आधार का । यह प्रसंग अन्दर बाहर सर्वत्र उस ज्योति की विद्यमानता को स्पष्ट करता है। ऐसा अन्तर्यामी तत्त्व ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य संभव नहीं; इसलिये यहां 'ज्योतिः' पद ब्रह्म का वाचक सिद्ध होता है।

इन उपदेशों में विभक्ति का भेद होने पर भी अर्थ के प्रतिपादन में कोई भेद नहीं है। लोक में ऐसा व्यवहार देखा जाता है । 'वृक्ष के अगले भाग पर पक्षी उड़रहा है', अथवा 'वृक्ष के परे पक्षी उड़रहा है' इन वाक्यों में विभक्तिनिर्देश भिन्न होने पर भी अर्थ के प्रतिपादन में कोई अन्तर नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग में ऐसा ही समझना चाहिये।

'अथ यदतः परो दिवः' का जो ऊपर अर्थ किया है, उसमें 'परः' पद का 'देहली-दीपकन्याय' से 'अतः' और 'दिवः' दोनों के साथ सम्बन्ध प्रकट किया है। यदि 'दिवः' पद को षष्ठ्यन्त मान लिया जाय, और इसप्रकार अर्थ किया जाय, कि 'अतः परः' हृदय से पर-बाहर सर्वत्र जो द्युसम्बन्धी ज्योति प्रकाशमान है, वह वही है जो अन्तः-पुरुष में है, तो भी मर्यादारूप अर्थ यहां अवभासित नहीं होता। तात्पर्य केवल इतना है, कि यहां अर्थप्रतिपादन सर्वथा एकरूप है, उसके बोधक वाक्य चाहे किसी रूप में कहे गये हों। इसलिये यहां केवल विभक्तिभेद से अर्थ में कोई विरोध न समझना चाहिये। फलतः छान्दोग्य के इस प्रकरण [३।१२-१३] में 'गायत्री' एवं 'ज्योतिः' पदों से ब्रह्म का वर्णन हुआ है, यह स्पष्ट होता है ॥२७॥

शिष्य आशंका करता है, विशेष स्थलों में 'प्राण' पद का प्रयोग वहां उल्लिखित

चिह्नों के आधार पर ब्रह्म का वाचक संभव है; जैसाकि पूर्वसूत्र [१।१।२३] द्वारा स्पष्ट किया गया। परन्तु ऐतरेय आरण्यक [२।२।३] में दिये गये आख्यान के अनुसार इन्द्र ने विश्वामित्र ऋषि को वर देने के लिये कहा, विश्वामित्र ने वर मांगा, कि मैं आपको जानूं। इन्द्र ने कहा–'प्राणो वा अहमस्मि ऋषे।' हे ऋषे ! मैं निश्चय से प्राण हूं। यहां सन्देह होता है, 'प्राण' पद से किसका ग्रहण होना चाहिये ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥२८॥

[प्राणः] प्राण, [तथा-ऽनुगमात्] वैसा अनुगत-संगत होने से। उक्त प्रसंग में 'प्राण' ब्रह्म का वाचक समझना चाहिये, क्योंकि पूर्वापर प्रकरण की संगति इसी अर्थ में संभव है।

ऐतरेयारण्यक के द्वितीय आरण्यक में ब्रह्म की उपासना का वर्णन है। उपासना दो प्रकार की कही जाती हैं, एक ब्रह्मोपासना दूसरी प्रतीकोपासना। पहली मुख्य और दूसरी गौण है। पहले पद में 'ब्रह्म की उपासना' ऐसा समास है। ऐसी उपासना में प्रकाशस्वरूप चेतनस्वरूप आनन्दस्वरूप परमात्मा साक्षात् ध्येय रहता है, इसलिये यह मुख्य है। दूसरे पद में समास है–प्रतीक के द्वारा अथवा प्रतीकरूप साधन से ब्रह्म की उपासना; उपासना यहां भी ब्रह्म की है, पर वह साक्षात् ध्येय न होकर प्रतीक द्वारा उपस्थित रहता है। प्रतीक के गौण रहने से इसप्रकार की उपासना गौण समझी जाती है। प्रतीकोपासना भी दो प्रकार की बताई गई है, एक यज्ञाङ्गरूप तथा दूसरी यज्ञ से बहिर्भूत। पहली वह है, जो एक यज्ञ के सम्पन्न होने पर अन्त में किसी प्रतीक को आधार मानकर यज्ञ के अङ्गरूप से की जाती हैं। यज्ञ के विना स्वतन्त्ररूप से सृष्टि अथवा सृष्टि के किसी तत्त्व को प्रतीक मानकर ब्रह्म की जो उपासना की जाती है, वह दूसरे प्रकार की प्रतीकोपासना है। इस वर्ग में वे सब उपासना आती हैं, जो शरीर, मन, इन्द्रिय, अन्न, प्राण आदि को प्रतीक मानकर की जाती हैं, जिनका वर्णन उपनिषद् एवं अन्य वैदिक साहित्य में उपलब्ध है।

ऐतरेयारण्यक के उक्त प्रसंग में 'प्राण' प्रतीक के आधार पर ब्रह्म की उपासना का निरूपण है। उसी प्रसंग में यह आख्यान है। 'महाव्रत' नामक कर्म में होतारूप से विद्यमान महर्षि विश्वामित्र ने जब स्तुति करना प्रारम्भ किया, तो अन्नार्थी इन्द्र वहां उपस्थित होगया। ऋषि ने उसके अभिप्राय को समझकर बृहती छन्द के सहस्र मन्त्रों से स्तुतिपूर्वक उस अनुष्ठान को सम्पन्न कर इन्द्र से कहा–ये मन्त्र ही तुम्हारा अन्न हैं। इस अनुष्ठान के फलस्वरूप ऋषि इन्द्र के प्रियधाम को प्राप्त होगया'। इन्द्र ने कहा–तुम मेरे प्रिय धाम को प्राप्त होगये हो, तुम्हें वर देता हूं। ऋषि ने कहा–मेरे लिये यही वर है, कि मैं तुमको निश्चितरूप से जानूं। तब इन्द्र ने ऋषि से कहा–

'प्राणो वा अहमस्मि ऋषे।' हे ऋषे! मैं निश्चितरूप से 'प्राण' हूं। आगे कहा– 'प्राणस्त्वं प्राणः सर्वाणि भूतानि प्राणो ह्येष य एष तपति, स एतेन रूपेण सर्वा दिशो विष्टोऽस्मि'। प्राण तुम हो, प्राण सब भूत हैं, प्राण है यह जो यह तपरहा है। वह मैं इस रूप से सब दिशाओं को व्याप्त किये हूं।

आरण्यक के इस समस्त प्रकरण में 'प्राण' की भावना से ब्रह्म की उपासना है। इन्द्र और विश्वामित्र का यह आख्यान, इतिहास नहीं है, प्रस्तुत उपासनाविधि को समझाने के लिये एक आख्यायिकामात्र है। ऋग्वेद की[1] ऋचाओं में प्राणरूप से ब्रह्म का वर्णन है। ब्रह्म सबका 'प्राण' अर्थात् जीवन है, यही उसका तात्पर्य है, प्रत्येक वस्तु की सत्ता ब्रह्म की सत्ता पर आधारित है। यहां इन्द्र उपदेष्टा गुरु, विश्वामित्र उपदेश्य शिष्य है, उनके अतिरिक्त समस्त विश्व है। गुरु शिष्य से कहता है–मेरा और तुम्हारा तथा हमसे अतिरिक्त इस समस्त विश्व का 'प्राण'-जीवन, [अस्तित्व का आधार] ब्रह्म है। ब्रह्म की सत्ता से उसके प्रकाश से यह सब प्रकाशित है, यह जो सूर्यादि लोक-लोकान्तर तपरहे हैं, उसी के प्रकाश से। ब्रह्म की इस 'प्राण' रूप उपासना में यही ध्यान करना होता है। इस भावना से किया निरन्तर ध्यानाभ्यास ब्रह्म के उस सर्वातिशायी स्वरूप के साक्षात्कार का साधन होता है। गुरुस्थानीय इन्द्र ने इस रूप में ब्रह्मसाक्षात्कार की स्थिति को प्राप्त किया है। उस भावना से उपासना करने का निर्देश वह शिष्यस्थानीय विश्वामित्र को कररहा है। गुरु-शिष्य व अन्य समस्त को 'प्राण' कहे जाने का आधार वही भावना है। इसप्रकार समस्त प्रकरण की प्रवृत्ति [अनुगम] इसी अर्थ के प्रतिपादन में होने से 'प्राण' पदद्वारा यहां ब्रह्म का निर्देश समझना चाहिये।

आगे इसका फल भी मोक्षप्राप्ति कहा है–'तस्य वा एतस्य बृहतीसहस्रस्य संपन्नस्य परस्तात् प्रज्ञामयो देवतामयो ब्रह्ममयोऽमृतमयः' इस बृहतीसहस्र उपासनानुष्ठान के सम्पन्न-सिद्ध होने के अनन्तर उपासक ज्ञानी दिव्य होजाता है, ब्रह्म को प्राप्त होकर अमृत-मोक्ष अवस्था का अनुभव करता है। ब्रह्मोपासना से ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर मोक्ष का प्राप्त होना शास्त्रीय है। प्राणोपासना का यह फलनिर्देश 'प्राण' रूप में ब्रह्म की उपासना का निश्चायक है, अतः यहां 'प्राण' ब्रह्म समझना चाहिये।

ऋषि ने सहस्रबृहती को इन्द्र का 'अन्न' कहा है। उक्त ऋचाओं में इन्द्र-ब्रह्म का 'प्राण' रूप में वर्णन है। उपासना में वह रूप ध्यातव्य है, उसीका ध्यान किया जाता है, इसीलिये वह इन्द्र का 'अन्न' है। वह प्रीतिजनक होने से 'मित्र' है। उस रूप में प्रीति-अनुकूलता होने पर उपासना संभव है, इसीलिये वह 'मित्र' है। उसे 'दक्षिण'

---

१. इसके लिये देखें—ऐतरेयारण्यक १।३।४॥ तथा ५।१।६॥ ऋ० सं० ३।५१।४॥ ६।३०।१॥ १०।५४।१॥ १०।१२०। १-३॥ इत्यादि।

कहा गया है, उन्नति-अभिवृद्धि का कारण होने से। उस रूप की उपा॰ ॑पासक को मोक्षपद प्राप्त कराती है, जो उपासक की उन्नति की चरमसीमा है। उसको 'वैश्वामित्र' इसलिये कहा गया, कि इस उपासनाविधि का विवरण विश्वामित्र को लक्ष्यकर किया गया है। तपते हुए सूर्यादि मण्डलों को 'प्राण' कहना, प्राणब्रह्म के तेजोमय होने को प्रकट करता है, तथा समस्त विश्व में उसकी व्यापकता का द्योतक है। इसी भाव को लेकर प्रकरण का निगमन करते हुए आरण्यक में कहा—'तस्य मेऽन्नं मित्रं दक्षिणं तद्वैश्वामित्रमेष तपन्नेवास्मीति' [२।२।३]।

शिष्य आशंका करता है, उक्त सन्दर्भ में इन्द्र ने अपने आपको 'प्राण' कहा है— 'प्राणो वा अहमस्मि' प्राण निश्चय से मैं हूं। अतः 'प्राण' पदवाच्य इन्द्र होना चाहिये, अथवा औपचारिक रीति पर उसके शक्तिरूप प्राण का ग्रहण किया जासकता है; ब्रह्म का ग्रहण इससे नहीं होना चाहिये। आचार्य सूत्रकार शंकानिर्देशपूर्वक समाधान करता है—

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥२९॥

[न] नहीं [वक्तुः] वक्ता का [आत्मोपदेशात्] अपने आपका उपदेश होने से [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो यह उपदेश इस प्रयोजन से है) [अध्यात्मसंबन्धभूमा] अध्यात्मसंबन्ध की प्रचुरता [हि] क्योंकि [अस्मिन्] इसमें। वक्ता इन्द्र का अपने आपका 'प्राण' पदद्वारा उपदेश होने से ब्रह्म का ग्रहण उचित नहीं, यदि ऐसा कहो, तो यह समझलेना चाहिये, कि ऐसा उपदेश इसलिये किया गया है, कि इस प्रकरण में अध्यात्म के साथ सम्बन्ध का बाहुल्य है।

ऐतरेय आरण्यक के प्रस्तुत प्रसंग में इन्द्र के द्वारा किये गये उपदेश का बाह्य-रूप जैसा है, उसमें यह आपाततः प्रतीत होता है, कि इन्द्र अपने आपको 'प्राण' कह-रहा है। पर वस्तुतः इस समस्त प्रकरण में अध्यात्म के साथ सम्बन्ध की बहुलता है। 'अध्यात्म' का अभिप्राय है—आत्मा में अधिष्ठित। आत्मा अर्थात् जीवात्मा चाहे किसी विशेष देवदेह में हो, अथवा साधारण मानव आदि देह में; सर्वत्र आत्माओं में ब्रह्म अधिष्ठित रहता है। जैसाकि बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्यामी ब्राह्मण में कहा है— 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' [३।७] यह अमृत आत्मा [ब्रह्म] तेरा अन्तर्यामी है। याज्ञवल्क्य उद्दालक से कहरहा है। इससे आत्मा में ब्रह्म की अवस्थिति स्पष्ट होती है। समस्त प्रकृति अथवा प्राकृत तत्त्व से जीवात्मा सूक्ष्मतत्त्व है चेतन है। जब वहां भी ब्रह्म अन्तर्यामी है, तब समस्त विश्व में अन्तर्यामीरूप से उसका व्यापक होना सन्देहरहित है। प्रतीकोपासनाओं में 'प्राण' रूप से ऐसे ब्रह्म की उपासना का विधान है। इसप्रकार सूत्र का 'अध्यात्म' पद अन्तर्यामी ब्रह्म का निर्देश करता है। समस्त प्रकरण में उसीके सम्बन्ध की बहुलता देखी जाती है। इन्द्र ने अपने आपको जो 'प्राण' कहा, वह अध्या-

त्मदृष्टि से कहा है। इन्द्र देवदेह में एक जीवात्मा माना जासकता है, जैसाकि पहले कहा गया, यह कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं है, उपासनाविधि को समझाने के लिये आख्यानमात्र है। इन्द्ररूप में उपदेष्टा जीवात्मा है, तथा विश्वामित्ररूप में उपदेश्य आत्मा। दोनों को 'प्राण' कहा है। यह आत्मा में अवस्थित ब्रह्म की 'प्राण' रूप से उपासना का निर्देश है।

'प्राण' की महत्ता का वर्णन उपनिषदों में तथा अन्य वैदिक साहित्य में प्रचुर-मात्रा से उपलब्ध है। प्रश्न उपनिषद् [२] में प्राण की महिमा गाई है। वहां कहा है—'प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्' [२।६] 'प्राण' में समस्त विश्व अवस्थित है। अथर्ववेद का प्राणसूक्त [११।४] देखिये। पहला मन्त्र है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

प्राण के लिये नमस्कार हो, जिसके वश में यह सब है। जो नित्यसिद्ध सबका ईश्वर है, जिसमें सब जगत् अवस्थित है। समस्त सूक्त में 'प्राण' का जो वर्णन है, वह 'प्राण' रूप से ब्रह्म के वर्णन का सुपुष्ट प्रमाण है। अन्यत्र [छा० १।११।४-५॥ बृ० ४।४।१८] भी उपनिषदों में प्राण की महिमा कही गई है।

इसीप्रकार ऐतरेयारण्यक के प्रस्तुत प्रसंग में कहा है—'सर्वं हीदं प्राणेनाऽऽवृतम्' [२।१।६]; यह सब विश्व प्राण से आवेष्टित है। इसीका मूलभूत अर्थप्रतिपादन ऋग्वेद [१।१६४।३१] में किया-'आवरीवर्त्ति भुवनेष्वन्तः' समस्त लोक-लोकान्तरों के अन्दर उन्हें घेरकर बैठा हुआ है। पुनः कहा—'स इदं सर्वं मध्यतो दधे यदिदं किञ्च' [ऐ० आ० २।२।१] वह प्राण' इस सबको—जो कुछ भी है—बीच में बैठकर धारण किये हुए है। फिर कहा—'स इदं सर्वमभिप्रागाद् यदिदं किञ्च' [ऐ० आ० २।२।२] वह 'प्राण' इस सबको प्राप्त हुआ—हुआ है जो कुछ यह है। इन सब वर्णनों से प्रस्तुत प्रसंग में 'प्राण' की 'अध्यात्म' स्थिति का स्पष्टीकरण होता है। इसी 'प्राण' के विषय में कहा—'अमृतंवैषा देवता' [ऐ० आ० २।१।८] यह [प्राणरूप] देवता अमरणधर्मा ही है। इसमें जरा-मरण आदि की कल्पना असम्भव है। अब यदि केवल एक व्यक्ति-विशेष को—चाहे वह देवता हो, अथवा शरीरान्तःसंचारी वायुविशेष—ऐसे प्रसंगों में 'प्राण' कहा जाय, तो यह सर्वथा अनुपयुक्त एवं अप्रामाणिक होगा। उक्त वर्णनों के साथ इस कथन का असामञ्जस्य निश्चित है।

इस सब विवेचन से यह स्पष्ट होता है, कि आरण्यक के प्रस्तुत प्रकरण में आत्मान्तर्वर्त्ती ब्रह्म [अध्यात्म] के सम्बन्ध का 'प्राण' प्रतीक के रूप में प्रायः वर्णन है। इसी भावना से इन्द्र ने अपने आपको एवं उपदेश्य शिष्य को 'प्राण' कहा है। तात्पर्य है, कि मुझमें, तुममें और समस्त विश्व में एक 'प्राण' की सत्ता है, उसीमें यह सब हम तुम प्रतिष्ठित हैं। इस भावना से उसकी उपासना अपेक्षित है। 'प्राण' रूप में कथित इस

प्रकार का वह उपास्य केवल ब्रह्म सम्भव है। फलतः यहां 'प्राण' पद का प्रयोग ब्रह्म के लिये समझना चाहिये ॥२९॥

शिष्य आशंका करता है, उक्त प्रकार से यदि आरण्यक के प्रस्तुत प्रकरण में 'प्राण' पद से ब्रह्म अभिधेय है, तो वक्ता इन्द्र ने अपने आपका इसरूप से उपदेश क्यों किया ? आचार्य सूत्रकार समाधान करता है—

शास्त्रदृष्टया तूपदेशो वामदेववत् ॥३०॥

[शास्त्रदृष्टया] शास्त्र की दृष्टि से [तु] तो [उपदेशः] उपदेश है, [वामदेववत्] वामदेव के समान। इन्द्र का वह उपदेश तो शास्त्रीय दृष्टि से है, लौकिक दृष्टि से नहीं; जैसे अन्यत्र वामदेवद्वारा किया गया उपदेश है।

आरण्यक में इन्द्र का उपदेश शास्त्रीय दृष्टि के आधार पर किया गया है। शास्त्र समस्त शक्तियों के प्रकाश का मूल आधार ब्रह्म को बताता है। केन उपनिषद् के प्रारम्भ में कहा—ये मन प्राण वाणी चक्षुः श्रोत्र आदि किसकी प्रेरणा प्राप्तकर अपने अस्तित्व में आते और विशिष्ट कार्यों के सम्पादन के लिये नियुक्त होते हैं ? जिसकी प्रेरणा से यह सब व्यवस्था है, वह ब्रह्म है; वह मन प्राण वाणी आदि सबसे ऊपर है, सबका नियन्ता है, पर इनमें से किसी की पहुंच ब्रह्म तक नहीं होती। जो उस ब्रह्मतत्त्व को जान लेता है, अमृतपद को प्राप्त करता है। अन्यत्र कहा—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' [कठ० २।२।१५], उसीके प्रकाश से यह विश्व प्रकाशित होता है। छान्दोग्य [६।३।२] तथा बृहदारण्यक [३।७] के प्रसंगों से स्पष्ट होता है, कि ब्रह्म आत्मा का भी आत्मा है, वह आत्मा में अन्तर्यामी होकर विद्यमान रहता है। विश्वामित्र के प्रति इन्द्रद्वारा किये गये उपदेश में तथा अन्यत्र भी इसप्रकार के उपदेशों में ब्रह्म की जिस उपासना का संकेत किया गया है, उसके अनुष्ठान के समय उपासक जीवात्मा उपास्य ब्रह्म में तादात्म्य की भावना को सन्मुख रखता है। उपासनाओं के विषय में यही शास्त्रीय दृष्टि है। इसीके अनुसार इन्द्र का उक्त उपदेश है।

बृहदारण्यक [१।४।१०] में वामदेव का एक आख्यान है। सृष्टिरचना से पूर्व नियन्ता व अधिष्ठाता के रूप में केवल ब्रह्म का अस्तित्व रहता है, वह जानता है अपने आपको, कि मैं ब्रह्म हूं, अनन्तर यह सब जगत् उसीके द्वारा किया जाता है। देवों ऋषियों या मनुष्यों में जिसने उसे जानलिया, वह उसी अमृत एवं आनन्द पद को प्राप्त करलेता है। ऋषि वामदेव ने उसका साक्षात्कार किया, और जानते हुए कहा—मैं मनु हुआ हूं और सूर्य—'तद्धैतत् पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति'।' इसप्रकार का कथन ब्रह्म में रमा हुआ साक्षात्कृतधर्मा आत्मज्ञानी कर सकता है। यह ज्ञान की प्रशंसा है, इन्द्र या अन्य किसी व्यक्तिविशेष की नहीं। फलतः ऐसे कथन केवल वस्तुचिन्तन की विशेष विधि को प्रकट करने के लिये एक शास्त्रीय व्यवहार है।

वामदेव का यह कथन, कि 'मैं मनु हुआ मैं सूर्य' लौकिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखता, अथवा लोकस्थिति की वास्तविकता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं समझना चाहिये। ऐसे प्रसग शास्त्रप्रतिपादित उपासना के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं।

उपासक का उपास्य के साथ उपासनाकाल में तादात्म्य या अभेद की भावना का निर्देश शास्त्र में उपलब्ध होता है। ऐतरेय आरण्यक [२।२।४] में ध्यान की विधि बताते हुए लिखा है–'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्' जो मैं हूं वह है, जो वह है मैं हूं। उपासनानुष्ठानकाल में उपासक अपने आपको उपास्य में इसप्रकार लीन हुआ समझता है, कि वह अपने अस्तित्व को पृथक् रूप में अनुभव न करे। इसका प्रयोजन यह है, कि उपास्य के विशिष्ट गुणों का उपासक आत्मा में उद्भावन होसके। उनमें सर्वोच्च गुण अनुकूलता अथवा आनन्द की अनुभूति है। उक्त भावना की चरम अवस्था में उपासक इसका अनुभव करता है। यह ऐसी अवस्था है, जिसमें पूर्वोक्त वामदेव के समान उद्गार फूट पड़ते हैं। इससे ब्रह्मज्ञान का महत्त्व द्योतित होता है।

ध्येय अथवा उपास्य तत्त्व समस्त विश्व में एकरूप से व्याप्त है, उपासक उसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित करता है, यह भावना ऋग्वेद [१।११५।१] की ऋचा से प्रस्फुटित होती है, जिसका प्रतिदिन सन्ध्या में स्मरण किया जाता है–'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'। सूर्यस्थिततेजोमय नियन्ता समस्त जंगम-स्थावर में व्याप्त है। अभिप्राय यह, कि सर्वत्र व्याप्त उस प्रकाशमय चेतनतत्त्व में उपासक अपने आपको सब ओर से आप्लावित अनुभव करता है। इसी भावना को एक अन्य ऋचा [ऋ० ८।९२।३२] में इसप्रकार प्रकट किया है–हे इन्द्र ! सर्वैश्वर्ययुक्त परमात्मन् ! तुझ सहायक के साथ विद्यमान हम उपासक अत्युग्र उत्कण्ठा के साथ यह कहते हैं, कि तू हमारा है, हम तेरे हैं। तेरी छाया में हम उस एकता के आनन्द का अनुभव करते हैं।

इस सब विवेचन से यह परिणाम स्पष्ट होता है, कि आरण्यक के उक्त प्रसंग में 'प्राण' पद ब्रह्म का निर्देश करता है। इन्द्र के द्वारा उसप्रकार का कथन शास्त्रीय उपासनाविधि को प्रकट करने के लिये है ॥३०॥

शिष्य आशंका करता है, उपासना की जो विधि बताई गई, वे ठीक हैं, पर आरण्यक के उक्त प्रसंग में जीव और मुख्यप्राण के स्पष्ट लिङ्ग विद्यमान हैं, तब वहां ब्रह्म का निर्देश कैसे माना जाय ? आरण्यक में उल्लेख है–विश्वामित्र इन्द्र के धाम [घर] पहुंचा; इन्द्र ने ऋषि से कहा–तुम मेरे प्रिय धाम में पहुंच गये हो। इन्द्र का कोई विशेष स्थान [घर] होना तथा विश्वामित्र का वहां पहुंचना, इनके जीव होने का लिंग [चिह्न] है। सर्वव्यापक ब्रह्म में कहीं विशिष्ट स्थान में रहने और एक स्थान को छोड़ अन्यत्र पहुंचने का प्रश्न ही नहीं उठता। इन्द्र ने दोनों [आप और विश्वामित्र] को 'प्राण' कहा, शक्तिमत्ता को प्रकट करने के लिये। प्रसंग में साक्षात् 'प्राण' पद का प्रयोग

मुख्यप्राण का लिंग कहा जासकता है। अभिधावृत्ति से 'प्राण' पद मुख्यप्राण का वाचक है। तात्पर्य यह है कि इस प्रसंग में 'प्राण' पद से ब्रह्म का निर्देश नहीं माना जाना चाहिये। आचार्य सूत्रकार शंकानिर्देशपूर्वक समाधान प्रस्तुत करता है—

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥३१॥

[जीव-मुख्यप्राण-लिङ्गात्] जीव और मुख्यप्राण के लिङ्ग से [न] नहीं (ब्रह्म, उस प्रसंग में), [इति] ऐसा [चेत्] यदि (कहो, तो यह) [न] नहीं; [उपासा त्रैविध्यात्] उपासना के तीन प्रकार होने से [आश्रितत्वात्] आश्रित होने से, [इह] यहां [तद्योगात्] उसके सम्बन्ध से।

यद्यपि उक्त प्रसंग में जीव और मुख्यप्राण के लिंग आपाततः प्रतीत होते हैं; पर उपासना तीन प्रकार की बताई गई हैं; अन्यत्र भी उपासनाप्रसंगों में उन प्रकारों का आश्रय लिया गया है, यहां उसीका सम्बन्ध है, इसलिये आरण्यक के प्रस्तुत प्रकरण में 'प्राण' पद से ब्रह्म का निर्देश मान्य समझना चाहिये।

उपासना के तीन प्रकारों का उल्लेख इसी अधिकरण में प्रथम किया गया है– ब्रह्मोपासना, यज्ञाङ्गप्रतीकोपासना, यज्ञबहिर्भूतप्रतीकोपासना। यद्यपि सब प्रकारों में उपासना ब्रह्म की होती है, पर जहां मुख्यरूप से साक्षात् या सीधी ब्रह्म की उपासना हो, वह पहला भेद है। 'ओम्' अथवा उद्गीथ [प्रणव, छा० १।४।१॥१।५।५] के आधार पर ब्रह्म की यह उपासना की जाती है। मुण्डक उपनिषद् [२।२।३] में इसे स्पष्ट किया गया है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

प्रणव [ओङ्कार] धनुष है, आत्मा बाण है, ब्रह्म लक्ष्य है। धनुषरूप प्रणव पर बाणरूप आत्मा को चढ़ाकर प्रमादरहित हो ब्रह्म–लक्ष्य की ओर छोड़ देना चाहिये। जैसे बाण अपने लक्ष्य में विंध जाता है, ऐसे आत्मा ब्रह्म में तन्मय होजाय। यह ब्रह्मोपासना है। इसमें एकाग्रचित्त होकर विशिष्ट विधि से प्रणव का जप और उसके अर्थ की भावना के साथ ब्रह्म का ध्यान किया जाता है। 'ओमिति ब्रह्म, ओमितीदं सर्वम्, ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति' [तै० उ० १।८]। प्रतीकोपासना में किसी बाह्य प्रतीक के आधार पर चित्त को एकाग्र करने का प्रयास करते हुए उस प्रतीक के पीछे छिपे प्रत्यायनीय तत्त्व का ध्यान किया जाता है। जब ऐसा अनुष्ठान किसी यज्ञ की पूर्त्ति पर यज्ञ के अङ्गरूप में किया जाय, तब यह उपासना का यज्ञाङ्गप्रतीकोपासना नामक दूसरा भेद है। ब्रह्म की जो उपासना यज्ञ से बहिर्भूत अवस्था में स्वतन्त्रता से मन, प्राण आदि आन्तर और आदित्य आदि बाह्य प्रतीक का आश्रय लेकर की जाती है, वह

उपासना का तीसरा प्रकार है। उपासनाविधि तीन प्रकार की होने से आरण्यक के उक्त प्रसंग में 'प्राण' प्रतीक से ब्रह्मोपासना का वर्णन है, अतः 'प्राण' प्रतीक से प्रत्यायनीय तत्त्व ब्रह्म ही अभिलक्षित होता है।

इसप्रकार की प्रतीकोपासना का अनेकत्र उपनिषदों में आश्रय लिया गया है। 'मनो ब्रह्मेति व्यजानात्' [तै० उ० ३।४] 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' [छा० ३।१८] 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' [छा० ३।१९], 'प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्' [तै० उ० ३।३] 'प्राणो वा आशाया भूयान् यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितम्' [छा० ७।१५।१]। उपनिषद् के इन स्थलों में मन, प्राण, आदित्य आदि को प्रतीक मानकर ब्रह्म की उपासना का निर्देश है। वैसे समस्त ब्रह्माण्ड ही ब्रह्म का प्रतीक है, पर उपासनाओं में अनुष्ठान की सुविधा के लिये अनुकूल प्रतीक का चयन ऋषियों ने उपनिषद् आदि में स्वीकार किया है [–आश्रितत्वात्]।

आरण्यक के उक्त प्रसंग में वैसी प्रतीक उपासना का सम्बन्ध समझना चाहिये। इन्द्र ने अपने आपको तथा विश्वामित्र शिष्य को 'प्राण' बताते हुए यह प्रकट किया है, कि इस भावना के साथ ब्रह्म की उपासना अमृतप्राप्ति का साधन है। आगे 'प्राणः सर्वाणि भूतानि' समस्त विश्व प्राण है, कहकर प्राण में ब्रह्मभावना का संकेत किया है। फलतः अन्यत्र उपनिषदों में वर्णन के समान यहां भी प्राण-प्रतीक से ब्रह्मोपासना का सम्बन्ध है [–इह तद्योगात्]। ऐसी स्थिति में यहां जीव अथवा मुख्यप्राण का लिंग आपाततः प्रतीयमान होने पर भी ब्रह्मोपासना का वर्णन समझना युक्तियुक्त है।

इस समस्त विवेचन का आशय यही है, कि जहां साक्षात् ब्रह्म की सीधी उपासना का वर्णन हो, वही ब्रह्मोपासना नहीं है, प्रत्युत वहां भी ब्रह्म की उपासना समझनी चाहिये, जहां मन, प्राण आदि प्रतीक के आधार पर उपासना का विधान है। क्योंकि यह भी उपासना का एक प्रकार है, और इसका आश्रय अनेकत्र उपनिषदों में लिया गया है; यहां [आरण्यक में अथवा ऐसे ही अन्यत्र प्रसंगों में] भी उसी उपासना का सम्बन्ध है। इसलिये उक्त प्रसंग में 'प्राण' पद ब्रह्म का द्योतक है, यह निश्चित है।

आचार्य शंकर ने इस सूत्र की व्याख्या दो प्रकार से की है। आचार्य ने इस अधिकरण का लक्ष्यप्रदेश कौषतकिब्राह्मणोपनिषद्वर्णित इन्द्र-प्रतर्दनोपाख्यान के प्रसंग को माना है। सूत्र की पहली व्याख्या के अनुसार आचार्य का कथन है, कि यदि ब्रह्मोपासना के इस प्रसंग में जीव और मुख्यप्राण के लिङ्ग देखकर उन दोनों की उपासना को भी स्वीकार किया जाय, तो यहां त्रिविध उपासना की प्रसक्ति होजायगी– जीवोपासना, मुख्यप्राणोपासना और ब्रह्मोपासना। एक वाक्य में ऐसा स्वीकार करना युक्त नहीं है। इसप्रकार आचार्य ने सूत्र के प्रथम हेतु का–'एवं सति त्रिविधमुपासनं प्रसज्येत' अर्थ किया।

आचार्य का यह अर्थ सूत्रकार के आशय के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। यदि सूत्रकार को त्रिविध उपासना की प्रसक्ति या आपत्ति का निर्देश करना अभीष्ट होता, तो सूत्रकार 'उपासात्रैविध्यात्' हेतु न देकर 'उपासात्रैविध्यप्रसक्तेः' अथवा 'उपासात्रैविध्यापत्तेः' इत्यादि रूप से हेतुनिर्देश करता। ऐसा नहीं किया, इससे स्पष्ट होता है, कि सूत्रकार को त्रिविध उपासना की प्रसक्ति या आपत्ति प्रकट करना अभिप्रेत नहीं है। इससे अतिरिक्त यह भी विचारणीय है, कि जीव और मुख्यप्राण की उपासना को बताना, वस्तुतः उपासना की तीन विधाओं को प्रस्तुत नहीं करता, इसमें तो उपासना का आश्रय अर्थात् उपास्य को भिन्न कर दिया गया है, यह उपासना के प्रकार का भेद नहीं कहा जासकता, यह उपास्य का भेद है। तब जीव मुख्यप्राण की उपासना को कहकर उपासना का त्रैविध्य कहां हुआ? इसलिये एक ब्रह्म की उपासना विभिन्न प्रकार से होती है, यही आशय सूत्रकार को अभिमत है। उपासना का त्रैविध्य ब्रह्म से अतिरिक्त तत्त्व का साधक है, कदाचित् इससे भीत होकर आचार्य ने सूत्र का अन्यथा अर्थ करने का प्रयास किया, पर आचार्य को स्वयं इससे सन्तोष न हुआ, तब दूसरे अर्थ का आश्रय लिया, जो संभवतः आचार्य से पहले व्याख्याकारों–और सूत्रकार के आशय–के अनुसार माना जाता रहा है। उस व्याख्या के अनुसार जीवधर्म, प्राणधर्म और स्वधर्म से ब्रह्म की उपासना का निर्देश कर उपासना की तीन विधाओं को स्वीकार किया गया है।

इसीप्रकार पहली व्याख्या में आचार्य ने सूत्र के 'आश्रितत्वात्' हेतु का जो अर्थ किया है, वह भी युक्त प्रतीत नहीं होता। आचार्य ने अर्थ किया–'अन्यत्रापि ब्रह्मलिंगवशात् प्राणशब्दस्य ब्रह्मणि प्रवृत्तेः' दूसरी जगह भी ब्रह्मलिंग के कारण प्राणशब्द की ब्रह्म में प्रवृत्ति देखी जाती है। ऐसा अभिप्राय तो सूत्रकार ने 'अतएव प्राणः' [१।१।२३] सूत्र में स्पष्ट कर दिया है, उसको पुनः यहां कहना अनपेक्षित था। फिर 'आश्रितत्वात्' हेतु से यह भाव प्रकट होता है, यह भी विचारणीय है। वस्तुतः यह हेतु प्रथम हेतु की पुष्टि में माना जाना चाहिये। आचार्य के प्रथम व्याख्यान के अनुसार पहले हेतु के अर्थ की इससे पुष्टि नहीं होती। प्रस्तुत प्रसंग में त्रिविध उपासना की प्रसक्ति का निवारण–अन्यत्र 'प्राण' पद के ब्रह्मलिंग के आधार पर ब्रह्मविषयक होने से–नहीं होता। अतः आचार्य की प्रथम व्याख्या में द्वितीय हेतु का अर्थ संगत है, इसमें सन्देह है।

प्रस्तुत प्रसंग में मुख्यप्राण का लिंग बताया–'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इस शरीर को सब ओर से सहारा देकर उठाता है; यह प्राण का कार्य है। आचार्य ने इसका समाधान करते हुए लिखा है–प्राण का व्यापार परमात्मा के अधीन है, इसलिये 'प्राण' पद का व्यवहार परमात्मा में किया जासकता है–[प्राणव्यापारस्यापि परमात्मायत्तत्वात् परमात्मन्युपचरितुं शक्यत्वात्]। आचार्य ने अपने इस कथन की पुष्टि में कठ उपनिषद् [२।५।५] का प्रमाण दिया है–'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ'। विचारणीय यह है, कि प्राण ना

व्यापार–क्रिया परमात्मा के अधीन कैसे है ? यह कहना संगत हो सकता है, कि जीवात्मा के साथ प्राणापान की स्थिति सर्वनियन्ता ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार है, पर प्राण आदि का व्यापार परमात्मा के अधीन है, यह विचारणीय है। देह में प्राणादि क्रिया जीवात्मा के अस्तित्व से होती है, उस क्रिया में परमात्मा का कोई सीधा सहयोग नहीं रहता। कठ उपनिषद् का जो सन्दर्भ दिया गया है, उसका यही तात्पर्य है, कि प्राण अपान जीवन नहीं है, जीवन अन्य तत्त्व है, जिसके आश्रय पर ये रहते हैं। देह में वह जीवनतत्त्व जीवात्मा से अतिरिक्त अन्य नहीं है। वह आत्मा जब देह से संबद्ध नहीं रहता, तब वहां से प्राणापान का अस्तित्व स्वतः विलीन होजाता है। वस्तुतः प्राण आदि देहस्थित करणों का सामान्यव्यापार है, जो देह में जीवात्मा की स्थिति पर संभव है। देह में प्राणापानरूप व्यापार वहां जीवात्मा की स्थिति का द्योतकमात्र है। जीवन का स्वरूप वही है, प्राणापान स्वयं जीवन नहीं। फलतः आचार्य का उक्त विवेचन सन्देह से परे नहीं है।

इस अधिकरण का लक्ष्यप्रदेश आचार्य ने कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् का सन्दर्भ माना है। इस विषय में एक बात विचारणीय है। ब्रह्मसूत्रों की रचना यदि वेदव्यास ने की, जिसका समय महाभारत युद्धकाल तथा उससे पूर्व है, तो यह देखना होगा, कि सूत्रकार के विचार में इसका लक्ष्यप्रदेश क्या रहा होगा ? मुख्य ब्राह्मणग्रन्थ और दस-ग्यारह उपनिषदों का प्रवचन व संकलन महाभारतयुद्ध से पूर्व होचुका था, ऐसा विश्वास होता है। पर इसमें सन्देह है, कि कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् का प्रवचन उस समय तक होचुका था। यदि सूत्रकार के समय में यह न था, तो इस रचना का कोई अंश सूत्रकार ने किसी सूत्र की रचना का आधार माना हो, यह संभव नहीं होसकता। प्रस्तुत व्याख्या में इस अधिकरण का लक्ष्यप्रदेश ऐतरेयारण्यक के एक आख्यान का सन्दर्भ लिया गया है। दोनों स्थलों के आख्यान में कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है। यदि किन्हीं सबल हेतुओं से कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् का प्रवचन सूत्रकार के समय से पूर्व होना निश्चित होजाता है, तो उस प्रसंग को भी अधिकरण का लक्ष्य मानने में कोई बाधा नहीं।

प्रतीत होता है, आचार्य शंकर ने सूत्ररचना की इन विशेषताओं पर उपयुक्त ध्यान नहीं दिया। आचार्य ने 'स्मृतेश्च' [१।२।६] तथा 'अपि च स्मर्यते' [१।३।२३] सूत्रों पर स्मृति का प्रमाण प्रस्तुत करते हुए भगवद्गीता के श्लोकों को उद्धृत किया है। भगवद्गीता का प्रवचन भारत-युद्ध के अनन्तर हुआ, पर सूत्ररचना वेदव्यासद्वारा युद्ध से पूर्व की जाचुकी थी, यह संभव है। तब सूत्रकारद्वारा स्मृति-प्रमाण के प्रसंग में भगवद्गीता को उद्धृत किया जाना युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। फिर गीता का श्लोकरूप प्रवचन स्वयं वेदव्यास का माना जाता है। तब अपने किसी कथन में अपनी ही अन्य उक्ति को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करना प्रभावोत्पादक नहीं कहा जासकता। यदि गीता-

वाक्य को कृष्णोक्ति समझकर उसकी प्रमाणता को प्रकट किया जाय, तो भी सूत्ररचना-काल में यह संभव रहा हो, यह विचारणीय है।

इति श्रीपूर्णसिंहतनूजेन तोफादेवीगर्भजेन, बलियामण्डलान्तर्गत'छाता'वासि-श्रीकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्धविद्योदयेन बुलन्दशहरमण्डलान्तर्गत –'बनैल'–ग्रामवास्तव्येन, विद्यावाचस्पतिना उदयवीर शास्त्रिणा समुद्भाविते वैयासकिब्रह्मसूत्राणां 'विद्योदय'भाष्ये प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

अथ प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः

शास्त्र के आरम्भ में ब्रह्मजिज्ञासा का उद्भावन कर प्रथम पाद के उन्नीसवें सूत्र तक सूत्रकार ने ब्रह्म के सत्-चित्-आनन्दस्वरूप का प्रमाणपूर्वक प्रतिपादन किया। अनन्तर पाद की समाप्ति तक कतिपय ऐसे पदों की ब्रह्मवाचकता का स्पष्टीकरण किया, जिन पदों का प्रयोग वेद लोकद्वारा अर्थान्तरों में भी किया जाता है। प्रसंगवश इन प्रतिपादनों में ब्रह्मतत्त्व के अतिरिक्त जीव, जगत् एवं उपासना आदि का वर्णन भी हुआ। प्रथमपाद के अन्तिम भाग में जैसे अर्थान्तरों में प्रसिद्ध कतिपय पदों की ब्रह्म-विषयता को स्पष्ट किया है, उसी प्रसंग को चालू रखते हुए सूत्रकार द्वितीय पाद का आरम्भ करता है—

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥१॥

[सर्वत्र] सब अध्यात्मस्थलों में [प्रसिद्धोपदेशात्] प्रसिद्ध-निश्चित उपदेश के कारण। शास्त्र में सब जगह उपास्यरूप से ब्रह्म का निश्चित उपदेश होने के कारण उपासनाप्रसंगों में वही ग्राह्य है।

छान्दोग्य [३।१४।१-२] में पहले से त्रिपाद् अमृत की उपासना का प्रकरण है। यहां चौदहवें खण्ड का प्रारम्भ इसप्रकार होता है—

> **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा-क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत। मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः'।**

यह सब जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता, उसीके द्वारा लय को प्राप्त होता और उसीमें आधारित रहता हुआ अपने अस्तित्व का लाभ करता है, ऐसा समझकर शान्त उपासक ब्रह्म की उपासना करे।[1] वह मनोमय है, प्राणशरीर है, भारूप है।

---

१. आचार्य शंकर ने इस सन्दर्भ के प्रथम वाक्य की योजना इसप्रकार की है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सब जगत् ब्रह्म है, ब्रह्म से उत्पन्न होता ब्रह्म में लीन होता, ब्रह्म में अभिप्राणित रहता है, शान्त हुआ उपासना करे। पदों की ऐसी योजना में यह अस्पष्ट रहजाता है, कि 'उपासीत' क्रिया का कर्म क्या है? उपासक किसकी उपासना करे? यदि यह सब जगत् ब्रह्म है, तो जगत् की उपासना करने में क्यों आपत्ति होसकती है? फिर सब जगत् को ब्रह्म मानकर उससे जगत् की उत्पत्ति

यद्यपि इस वाक्य में ब्रह्म की उपासना का स्पष्ट निर्देश है, पर आगे 'मनोमयः' आदि पद ऐसे प्रयुक्त हुए हैं, जिनके आधार पर सन्देह होजाता है, क्योंकि 'मनोमय' तथा 'प्राणशरीर' पद जीवात्मा की ओर संकेत करते हैं। मन आदि का सम्बन्ध जीवात्मा के साथ माना गया है। इन्द्रियादि करण और उनसे होने वाले कार्यों का अधिपति जीवात्मा है। ब्रह्म को तो 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' [मुण्ड० २।१।२] कहा है। मन प्राण आदि का सम्बन्ध ब्रह्म के साथ नहीं रहता। इसलिये सन्देह होता है, यहां उपास्य कौन माना जाय ?

आचार्य सूत्रकार ने निश्चय किया—यहां केवल ब्रह्म को उपास्य माना गया है, क्योंकि सर्वत्र अध्यात्म एवं उपासनाप्रसंगों में निश्चितरूप से उपास्य ब्रह्म का उपदेश है; अथवा प्रसिद्ध-ब्रह्म का उपदेश है। यहां भी '...ब्रह्म...उपासीत' ब्रह्म की उपासना करे, यह उपक्रम करके जीवात्मा की उपासना बतलाने में प्रकृतहानि और अप्रकृत की प्राप्तिरूप दोष उपस्थित होगा। इसलिये यह ब्रह्म की उपासना का विधान है। आगे जीवपुरुष के विषय में बताया—निश्चित ही यह पुरुष क्रतुमय होता है। 'क्रतु' का तात्पर्य है, यज्ञ, कर्मानुष्ठान, उपासना आदि। इस लोक में जैसे कर्म या उपासना करने वाला पुरुष होता है, शरीर त्यागकर परलोक [अन्य जन्म आदि] में

आदि का कथन निस्सार है। यदि यह जगत् ब्रह्म है, तो उसकी उत्पत्ति कैसी ? क्या ब्रह्म उत्पन्न होता है ? आचार्य ने पदों की उक्त योजना कर यथार्थ को सर्वथा धूमिल कर दिया है। वस्तुतः 'ब्रह्म' को 'उपासीत' क्रिया का कर्म समझना चाहिये। 'सर्वं खल्विदं' का सम्बन्ध 'तज्जलान्' के साथ है। 'सर्वं खल्विदं तज्जलानिति बुद्ध्वा शान्तः सन्नुपासकः ब्रह्म उपासीत' ऐसी पदयोजना होनी चाहिये।

प्रत्येक उपासक साधारणतया संसार में फंसा रहता है। वह अपने सुख के लिये संसार के ऐश्वर्यों को सर्वोपरि समझता है। ब्रह्मोपासना की ओर उसका झुकाव नहीं होता। इसी भावना से उपनिषत्कार ने कहा—जिस जगत् को तुम सर्वोपरि समझते हो, वह सब ब्रह्म से उत्पन्न होता है, इसलिये सर्वोपरि ब्रह्म है, ऐसा समझकर संसार की ओर से चित्त हटा, शान्त होकर ब्रह्म की उपासना करो। यह भाव यहां अभिमत है। इसी आधार पर गीता [१८।५३] में कहा—'विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पयते' काम क्रोध आदि का परित्याग कर ममताहीन हो उपासक ब्रह्मप्राप्ति के लिये समर्थ होता है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इस वाक्य में 'ब्रह्म' पद ब्रह्माण्ड' परक है। अन्यत्र [श्वेता० १।१।। मुण्ड० १।१।८, तथा १।१।६।। ऋ० १।४०।५ पर दयानन्दभाष्य] भी इस पद का प्रयोग उक्त अर्थ में हुआ है, [ब्रह्म मुनिभाष्य]।

वैसा उसे प्राप्त होता है, इसलिये वह पुरुष [जीवात्मा] उपासना आदि का अनुष्ठान करे। इतने सन्दर्भ में प्रथम ब्रह्म की उपासना का उपक्रम कर उपासक जीव की स्थिति को स्पष्ट किया है। इससे यह निश्चित होता है, कि यहां ब्रह्म उपास्य और जीव उपासक है।

इसके अनन्तर ब्रह्म के उस स्वरूप का निरूपण है, जिसका ध्यान उपासक को उपासनाकाल में करना अपेक्षित है। उस स्वरूप का वर्णन 'मनोमयः प्राणशरीरः' से प्रारम्भ होकर 'अवाक्यनादरः' पर पूर्ण होता है। इसके अनुसार वह ब्रह्म शुद्ध मनद्वारा ग्राह्य है, सर्वोत्कृष्ट चैतन्य उसका शरीर है, अर्थात् वह चेतनस्वरूप है। 'मनोमय' का अर्थ मन का विकार अथवा मन से विशिष्ट नहीं। 'प्राण' पद का अर्थ है—उत्कृष्ट चैतन्य, वही उसका शरीर अर्थात् स्वरूप है। अथवा 'प्राण' पद जीवात्मा का उपलक्षक है। वह जिसका शरीर है, अर्थात् उसमें भी वह व्याप्त रहता है। इस प्रकरण के अन्त [छा० ३।१४।३–४] में उपासक अपने हृदय के अन्दर उस आत्मा [ब्रह्म] के विराजमान होने की भावना करता है। वह ब्रह्म प्रकाशस्वरूप [भारूपः] है। सत्यसंकल्प, सर्वव्यापक, पूर्णकाम, सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा महान से महान है। ऐसे ब्रह्मस्वरूप का ध्यान करने के लिये उपासक की भावना होती है—'एष म आत्माऽन्तर्हृदये एतद् ब्रह्म' यह आत्मा [उक्तस्वरूप ब्रह्म] मेरे हृदय के अन्दर विराजमान है, यह ब्रह्म है। 'एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि' इस देह का त्याग करने के अनन्तर इसको [पूर्वोक्त आत्मा-ब्रह्म-को] प्राप्त होनेवाला हूं।

यहां उपास्य ब्रह्म और उपासक जीवपुरुष का स्पष्टरूप से पृथक् कथन है। उपासक कहे गये जीवात्मा को यहां उपास्य नहीं माना जासकता। अन्त में जीवात्मा के उपासनाद्वारा ब्रह्मप्राप्तिरूप फल का निर्देश किया गया है। इस कारण भी यहां ब्रह्म उपास्य माना जाना चाहिये ॥१॥

छान्दोग्य के उक्त प्रसंग में ब्रह्म को उपास्य बताया, इसके लिये उसी प्रकरण के आधार पर सूत्रकार अन्य हेतु उपस्थित करता है—

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥२॥

[विवक्षित-गुणोपपत्तेः] विवक्षित गुणों के उपपन्न होने से [च] भी। इस प्रकरण में आत्मा के जो गुण बताये गये हैं, वे केवल परमात्मा [ब्रह्म] में उपपन्न-युक्त होसकते हैं, इसकारण भी यहां ब्रह्म उपास्य है।

छान्दोग्य [३।१४।२–४] में आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए उसकी जो विशेषता बताई हैं, वे सब केवल ब्रह्म में संगत होसकती हैं। ब्रह्म के ऐसे गुणों का यहां वर्णन है, जिनको उपासना के समय ध्यान में लाना अपेक्षित होता है। वे सब गुण 'मनोमयः' से लगाकर 'अवाक्यनादरः' तक वर्णित हैं, यह पूर्वसूत्र के व्याख्यान में

निर्दिष्ट कर दिया गया है। वहां उपास्य आत्मा को सत्यसंकल्प बताया है, जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय में अप्रतिबद्धशक्ति होना सत्यसंकल्प का स्वरूप है। विश्व के सर्ग आदि में कोई उसे बांधने या रोकने वाला नहीं है। यह सत्यसंकल्परूप गुण ब्रह्म में संभव है, अन्यत्र नहीं। आगे 'आकाशात्मा' पद उस आत्मा की सर्वव्यापकता एवं सर्वान्तर्यामिता को प्रकट करता है, जो ब्रह्म के अतिरिक्त अन्यत्र संभव नहीं।

इसके अनन्तर हृदय के अन्दर विराजमान आत्मा को सूक्ष्म से सूक्ष्म बताकर 'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' वह पृथिवी अन्तरिक्ष द्यु तथा सब लोक-लोकान्तरों से बड़ा है, इत्यादि सन्दर्भद्वारा उसे महान से महान बताया है, तथा वही आत्मा उपासक के हृदय में विराजमान है। ऐसा उपास्य केवल ब्रह्म होसकता है। प्रकृत सन्दर्भ में 'मनोमयः' प्राणशरीरः' इत्यादि पद जीव के लिङ्ग न होकर ब्रह्म का बोध कराते हैं, यह प्रथम स्पष्ट कर दिया है ॥२॥

उक्त गुण ब्रह्म में संभव हैं, जीवात्मा में नहीं; सूत्रकार ने स्वयं कहा—

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥३॥

[अनुपपत्तेः] उपपन्न-युक्त न होने से [तु] तो [न] नहीं [शारीरः] जीवात्मा। उक्त गुण जीवात्मा में उपपन्न न होने के कारण यहां उसका वर्णन संभव नहीं।

पूर्वसूत्र के द्वारा सूत्रकार ने बताया, कि छान्दोग्य के उक्त प्रकरण में आत्मा की जो विशेषता कही गई हैं, वे ब्रह्म में उपपन्न होती हैं। इस सूत्र में बताया, कि वे जीवात्मा में नहीं घटतीं। जैसाकि पहले सूत्र में वर्णन किया, [illegible]त्यसंकल्पः, आकाशात्मा, ज्यायान् पृथिव्याः' इत्यादि पदों द्वारा वर्णित विशेषता [illegible] में संभव हैं; इसके विपरीत यह स्पष्ट है, कि जीवात्मा में इन विशेषताओं का अभाव है। आगे ब्रह्म को 'अवाकी, अनादरः' बताया है। वाणी का नाम 'वाक्' है, जिसके वाणी न हो, वह 'अवाकी' कहा जाता है। जीवात्मा को अवाकी कहना प्रत्यक्षविरुद्ध है। पूर्णकाम तथा आप्तकाम होने से जिसका किसी विषय में आदर-अभिरुचि न हो, वह 'अनादर' है। यह विशेषता जीवात्मा में संभव नहीं, क्योंकि उसका आदर विषयों में बराबर बना रहता है। इसलिये यहां उपास्य केवल ब्रह्म को समझना चाहिये। ऐसे ही उक्त सन्दर्भ में वर्णित अन्य विशेषताएँ भी जीव में संभव नहीं।

सूत्र में 'शारीर' पद जीवात्मा के लिये प्रयुक्त है। शरीरद्वारा जो जन्म-म[illegible] के बन्धन में आता है, वह शारीर है, यह जीवात्मा है। यद्यपि ब्रह्म भी शरीर में रहता है, पर वह केवल शरीर में रहता हो, ऐसा नहीं है। वह सर्वान्तर्यामी एवं सर्वव्यापक होने से सदा सर्वत्र विद्यमान रहता है, शरीर अथवा अन्य समस्त वस्तुओं में रहने पर उनके जन्म-मरण अथवा प्रादुर्भाव तिरोभाव से अन्तर्यामी ब्रह्म किसी रूप में प्रभावित नहीं होता। जीव ऐसा नहीं है, शरीर के साथ उसका सम्बन्ध जन्म-मरण व्यवहार तथा

सुख-दुःखादि भोग का प्रयोजक है। सूत्रकार ने जीवात्मा के लिये 'शारीर' पद का प्रयोग कर यहां इसी भावना को अभिव्यक्त किया है।

वेद[1], वैदिक[2] तथा अन्य साहित्य[3] में ब्रह्म के शरीर तथा शरीरांगों का जो वर्णन उपलब्ध होता है, वह केवल औपचारिक है, उसको यथाभूत समझना सर्वथा अप्रामाणिक है। ब्रह्म की उस रूप में कल्पना करना, ब्रह्म के वास्तविक अस्तित्व से नकार करना है। वेदादि के ये वर्णन ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता सर्वातिशायिता आदि विशेषताओं को अभिव्यक्त करने के लिये हैं। शारीर ब्रह्म सर्वजगदुत्पादक तथा सर्वान्तर्यामी आदि होना संभव नहीं। अतः उक्त वर्णनों को यथाभूत नहीं समझना चाहिये, वे औपचारिक-मात्र हैं ॥३॥

छान्दोग्य के उक्त प्रसंग में उपास्य जीवात्मा नहीं है, इसके लिये सूत्रकार अन्य हेतु उसी प्रसंग के आधार पर प्रस्तुत करता है—

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥४॥

[कर्म-कर्तृ-व्यपदेशात्] कर्म तथा कर्त्ता के कथन से [च] और अथवा भी। इसके अतिरिक्त कर्म एवं कर्त्ता के कथन से उक्त प्रसंग में न जीवात्मा उपास्य है, न उसके मनोमयत्वादि गुण हैं।

छान्दोग्य के इस प्रसंग के प्रारम्भ में वाक्य है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' यहां शान्त उपासक जीवात्मा उपासना का कर्त्ता है, और ब्रह्म कर्म है। 'उपासीत' क्रिया का कर्म होने से ब्रह्म उपास्य संभव है, कर्त्ता जीवात्मा नहीं।

इसीप्रकार प्रस्तुत प्रकरण के अन्त में वाक्य है—'एष म आत्माऽन्तर्हृदये, एतद् ब्रह्म, एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि' [छा० ३।१४।४] मेरे हृदय के अन्दर जो यह आत्मा विराजमान है, वह ब्रह्म है, यहां से शरीर का त्यागकर मैं इसी ब्रह्म को प्राप्त होने वाला हूं। एक उपासक जीवात्मा स्वसम्बन्धी हृदय में अन्य उपास्य आत्मा [ब्रह्म] को विराजमान कहता है, इससे स्पष्ट है, उपास्य और उपासक भिन्न हैं, तथा उपास्य को ब्रह्म बतला रहा है [-एतद् ब्रह्म]। उपासक अपनी आशा प्रकट करता है, कि शरीरत्याग के अनन्तर मैं उस उपास्य ब्रह्म को प्राप्त होने वाला हूं। यहां 'एतम्' यह कर्मपद प्रकृत ब्रह्मरूप उपास्य आत्मा को प्राप्तिक्रिया का कर्म निर्दिष्ट कर रहा है, और 'अभिसंभवितास्मि' यह क्रियापद उपासक जीवात्मा को प्राप्तिक्रिया के कर्त्तारूप

---

१. ऋ० १०।८१।३॥१०।९०।१॥ यजु० १७।१९॥३१।१॥ अथर्व० १३।२।२६॥ १९।६।१॥
२. तै० आ० ३।१२।१॥१०।१।३॥ तै० सं० ४।६।२।४॥ मुण्ड० २।१।४॥
३. भग० गी० ११।१०,१६॥१३।१३॥

में निर्देश करता है। जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त होने वाला प्राप्तिक्रिया का कर्त्ता है, तथा जिसको प्राप्त होता है, वह प्राप्ति का कर्म, जीवात्मा से अन्य उपास्य ब्रह्म है।

इसप्रकार यहां सत्यसंकल्पादिगुणयुक्त ब्रह्म को 'उपासीत' तथा 'अभिसंभविता-स्मि' क्रिया का कर्म बताकर स्पष्ट कर दिया है, कि इस प्रसंग में उपास्य एवं प्राप्य ब्रह्म है। जीवात्मा उपासना करने वाला और उसके फलस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होने वाला होने से उपासक एवं प्रापक है, उपासना तथा प्राप्ति का कर्त्ता। फलतः कर्म और कर्त्ता के रूप में उपास्य तथा उपासक को स्पष्टरूप से यहां भिन्न कहा है। उपासक व प्रापक स्वयं उपास्य या प्राप्य नहीं होसकता। इसलिए प्रकरण में वर्णित गुणों से युक्त ब्रह्म को उपास्य माना जाना युक्त है, अन्य को नहीं ।।४।।

मनोमय सत्यसंकल्प आदि गुणों वाला आत्मा, जीवात्मा से भिन्न है, और वही उक्त प्रसंग में उपास्यरूप से वर्णित है; इस अर्थ को पुष्ट करने के लिये सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

शब्दविशेषात् ।।५।।

[शब्द-विशेषात्] शब्दविशेष से, शब्द के भेद से। उपास्य और उपासक का निर्देश भिन्न विभक्ति वाले शब्दों से किया गया है; इसकारण जीवात्मा उपासक मनोमय आदि गुणों वाला नहीं।

छान्दोग्य के उक्त प्रसंग [३।१४।४] में कहा—'एष म आत्माऽन्तर्हृदये' यहां उपासक जीवात्मा का निर्देश 'मे' इस षष्ठी विभक्त्यन्त पद से किया है, और उपास्य का 'एष आत्मा' इन प्रथमाविभक्त्यन्त पदों से। इससे स्पष्ट होता है, कि उपासक जीवात्मा उपास्य ब्रह्म से भिन्न है। प्रकरण में मनोमय, सत्यसंकल्प आदि धर्म उसी उपास्य ब्रह्म के बताये गये हैं।

अन्यत्र भी ऐसा वर्णन है। शतपथ ब्राह्मण [१०।६।३।२] के इसीप्रकार के प्रसंग में पाठ है—'यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वा, एवमयमन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मयः' जैसे धान जौ सवां अथवा सवां का चावल छिलके एवं बारीक झिल्ली के अन्दर रहते हैं, ऐसे ही यह हिरण्मय पुरुष अन्तरात्मा में रहता है। इस वाक्य में 'अयं पुरुषो हिरण्मयः' में प्रथमाविभक्त्यन्त पद उपास्य ब्रह्म का निर्देश करते हैं, तथा 'अन्तरात्मन्'[1] यह सप्तमीविभक्त्यन्त पद उपासक जीवात्मा का निर्देश करता है। यहां बताया, कि वह हिरण्मय पुरुष [ब्रह्म] जीवात्मा के अन्दर इसप्रकार रहता है, जैसे धान आदि छिलके में। यह लौकिक दृष्टान्त केवल इतने अंश में अर्थ का प्रतिपादन

१. 'सुपां सुलुक्०' [पा० ७।१।३९] इत्यादि पाणिनीय नियम से यहां विभक्ति का लुक् होगया है। सूत्र [८।२।८] के अनुसार पदान्त में 'न' का लोप नहीं होता।

करता है, कि ब्रह्म जीवात्मा के अन्दर भी रहता है। इससे ब्रह्म की अन्तर्यामिता का निर्देश किया गया है। दृष्टान्त का और कोई भाव यहां अभिप्रेत नहीं। प्रकृत में इससे यह स्पष्ट किया गया, कि जीवात्मा और ब्रह्म का निर्देश शब्दभेद से हुआ है। 'अन्तरात्मा में हिरण्मय पुरुष है' यहां अन्तरात्मा जीवात्मा का सप्तमीविभक्ति तथा पुरुष [ब्रह्म] का प्रथमाविभक्ति से निर्देश है। यह शब्दभेद दोनों की भिन्नता का द्योतक है। फलतः छान्दोग्य के उक्त प्रसंग में उपासक से भिन्न उपास्य का निर्देश होने से ब्रह्म उपास्य संभव है, उसीके विशिष्ट धर्मों का वहां वर्णन है ॥५॥

जीवात्मा और परमात्मा के भेद को वैदिक साहित्य के आधार पर बताकर सूत्रकार स्मृति के आधार पर उस अर्थ को पुष्ट करता है—

स्मृतेश्च ॥६॥

[स्मृतेः] स्मृति से [च] भी। स्मृतिशास्त्र के आधार पर भी जीवात्मा-परमात्मा का भेद स्पष्ट है।

मनुस्मृति [८।९१] में न्यायाधीश के सन्मुख साक्षी देने वाले व्यक्ति के लिये कहा गया है—

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येषः पुण्यपापेक्षिता मुनिः॥

साक्षी के प्रति सच बोलने की प्रेरणा देते हुए कहा जारहा है – हे भलेमानस! जो तू अपने आपको यह समझता है, कि अकेला मैं ही हूं, मेरे किये जाने को और कोई नहीं जानता या देखता; ऐसा तू मत समझ। बुराई-भलाई का देखने वाला वह सर्वज्ञ परमात्मा सदा तेरे हृदय में अवस्थित रहता है। तेरे समस्त मनोगत भावों को वह जानता है, उसके विपरीत कुछ न कहना।

न्यायाधीश के सन्मुख साक्षी देनेवाला देहधारी जीवात्मा है। स्मृतिकार के कथनानुसार जीवात्मसम्बन्धी हृदयदेश में पुण्य-पाप का द्रष्टा सर्वज्ञ [मुनिः] परमात्मा सदा विद्यमान रहता है। साक्षी से कहा जारहा है, कि तू यह मत समझ, कि हृदयदेश में अवस्थित तू अकेला है। तेरी सब बुराई-भलाई को देखनेवाला सर्वज्ञ परमात्मा वहां सदा विद्यमान है। इससे स्पष्ट होता है, कि हृदयप्रदेश में स्थित जीवात्मा से अतिरिक्त परमात्मा है, यह स्मृतिकार को अभिमत है। इससे स्मृतिशास्त्र के आधार पर जीव-ब्रह्म का भेद सिद्ध होता है। इसके लिये मनुस्मृति [१२।१२५] का स्थल भी द्रष्टव्य है।

आचार्य शंकर ने वेदान्त [२।१।१] सूत्र के भाष्य में मनु के एक श्लोक के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है, कि ब्रह्मात्मतत्त्व से अतिरिक्त और कुछ नहीं है, समस्त विश्व ब्रह्मरूप है। मनु का वह श्लोक है—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
संप[1]श्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति[2] ॥

श्लोक के पूर्वार्द्ध में 'आत्मा' पद परमात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है, और उत्तरार्द्ध में जीवात्मा के लिये। 'आत्मयाजी' जीवात्मा है, आत्मा का–अपने आपका–यजन करने वाला, ब्रह्मार्पण बुद्धि से आत्मज्ञान के लिये सतत प्रयत्नशील। अथवा यहां भी 'आत्मा' परमात्मा समझा जाय, तो हानि नहीं। परमात्मा का यजन करने वाला, परमात्मा की प्राप्ति के लिये अनुष्ठान व उपासना आदि करने वाला जीवात्मा। 'सब भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को यथार्थरूप से देखनेवाला आत्मयाजी मोक्ष को प्राप्त होजाता है।' यह श्लोक का शब्दार्थ है। सब भूतों में परमात्मा की स्थिति को बताना उसकी अन्तर्यामिता को स्पष्ट करता है। वह समस्त विश्व का अन्तर्यामी है, उसमें प्रविष्ट हुआ सबका नियन्त्रण करता है। इसीप्रकार परमात्मा में सब भूतों को कहना परमात्मा की सर्वाधारता को अभिव्यक्त करता है, समस्त विश्व उसीमें आधारित है। उसीकी शक्ति से आधारित हुआ यह जगत् वर्त्तमानरूप में दृष्टिगोचर होरहा है। आत्मयाजी उपासक इसी भावना से ब्रह्म की उपासना करता है, कि वह सर्वनियन्ता एवं सर्वाधार है, मेरा भी नियन्ता व आधार वही है। इसरूप की उपासना द्वारा अपने आपको सर्वात्मना ब्रह्म में अर्पण कर आत्मयाजी मोक्ष को प्राप्त होता है।

यह स्पष्ट भाव मनु के उक्त श्लोक का है। इसमें–समस्त विश्व आत्मरूप अथवा ब्रह्मरूप है, यह अर्थ कहां भासित होता है? प्रत्युत इसके विपरीत स्वाराज्य [मोक्ष] की प्राप्ति और आत्मयाजी की वैसी भावना व स्थिति 'आत्मयाजी' को तथा

---

१. 'समं पश्यन्नात्मयाजी' मनुस्मृति में यह पाठ उपलब्ध है।

२. इस श्लोक को उद्धृत करने के पूर्व आचार्य शंकर ने मनु की प्रशंसा में तैत्तिरीय संहिता [२।२।१०।२] का वाक्य उद्धृत किया है—

'यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद्भेषजम्' मनु ने इस विषय में जो कहा है, वह भेषज है, औषध है। तैत्तिरीय संहिता में उक्त वाक्य चर्मरोगनिवृत्यर्थ अनुष्ठान के लिये उन ऋचाओं को 'धाय्या' बनाने के प्रसंग में है, जिन ऋचाओं का ऋषि मनु है। उन ऋचाओं का तैत्तिरीय संहिता में निर्देश है। वे ऋग्वेद [८।३१] सूक्त की अन्तिम चार या पांच ऋचा हैं। इनका ऋषि वैवस्वत मनु है। मनु-ऋषिक उन ऋचाओं को उक्त वाक्य में भेषज कहा गया है। वैवस्वत मनु का 'मनुस्मृति' नामक धर्मशास्त्र के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यह धर्मशास्त्र स्वायम्भुव-मनुप्रोक्त है, यह उसीसे स्पष्ट है, तथा अन्य तत्सम्बन्धी समस्त भारतीय शास्त्र इसका साक्षी है। आचार्य का इसप्रकार उद्धरण देना सर्वथा भ्रामक है। इस विषय में अधिक विवेचन के लिये देखें—'सांख्यदर्शन का इतिहास' [पृष्ठ १६–१९]।

'आत्मा' को परस्पर भिन्न सिद्ध करती हैं। आत्मयाजी-जीवात्मा उपासक है, तथा 'आत्मा' [ब्रह्म] उपास्य एवं प्राप्य है। इसकारण मनुस्मृति के विभिन्न वर्णनों में परस्पर विरोध की आशंका करना निराधार होगा।

इसी प्रसंग [२।१।१ सूत्र की व्याख्या] में आचार्य शंकर ने महाभारत के कतिपय श्लोक उद्धृत कर—सब कुछ ब्रह्म ही है—यह समझाने का प्रयास किया है। स्वाभिमत अर्थ की पुष्टि के लिये आचार्य ने ये श्लोक उद्धृत किये—

ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहसंस्थिताः।
सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित्क्वचित् ॥
विश्वमूर्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षिनासिकः।
एकश्चरति भूतेषु स्वैरचारी यथासुखम् ॥[1]

देह में अवस्थित मेरा अन्तरात्मा और तेरा अन्तरात्मा तथा अन्य जो देहों में अवस्थित है, उन सबका साक्षिभूत है वह परमात्मा [विश्वपुरुष], जो किसीसे कहीं ग्राह्य नहीं। विश्व उसकी मूर्धा है, विश्व भुजा हैं, विश्व पैर आंख और नाक हैं। वह एकमात्र समस्त तत्त्वों में विद्यमान है, स्वतन्त्र है, आनन्दरूप है।

आचार्य ने इन श्लोकों के आधार पर जगत् की ब्रह्मरूपता को सिद्ध किया, यह आश्चर्य है। यह एक संवाद का प्रसंग है। वक्ता श्रोता से कहरहा है, इस देह में यह मेरा अन्तरात्मा जो वक्ता के रूप में उपस्थित है, और तेरा अन्तरात्मा जो श्रोता के रूप में है, तथा इसीतरह अन्य जितने देहसंस्थित आत्मा [जीवात्मा] हैं उन सबका 'साक्षिभूत' है, वह परमात्मा। यहां उस विश्वपुरुष को 'साक्षिभूत' कहा है। इसका अर्थ है—साक्षात् द्रष्टा। परमात्मा समस्त विश्व का द्रष्टा है, वह सर्वज्ञ है। वह सबका द्रष्टा होने पर भी उसे साधारणरूप से जानलेना अशक्य है। इस उल्लेख से यह कहां भासित होता है, कि यह सब जगत् ब्रह्म का रूप है, अथवा ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य किसीका अस्तित्व नहीं। तब सर्वात्मत्वदर्शन की सिद्धि कैसे होगई? इसके विपरीत यह सब वर्णन जीवात्मा और परमात्मा के भेद को स्पष्ट प्रकट कररहा है। यह जिन सबका साक्षी है, द्रष्टा है; वे सब उससे भिन्न हैं, दृश्यरूप हैं।

आगे 'विश्वमूर्धा' आदि पदों से जो वर्णन है, वह केवल औपचारिक व काल्पनिक

---

१. म० भा०, १२।३५१।४-५॥ गोरखपुर संस्करण। महाभारत के इस प्रसंग में जनमेजय वैशम्पायन से प्रश्न करता है, पुरुष बहुत हैं, अथवा एक है? वैशम्पायन ने उत्तर देते हुए ब्रह्मा और रुद्र के संवाद के रूप में इस विषय को प्रस्तुत किया है। उपर्युक्त दो श्लोकों में ब्रह्मा वक्ता और रुद्र श्रोता है।

पहले श्लोक के द्वितीय चरण में 'देहसंस्थिताः' के स्थान पर गोरखपुर संस्करण में 'देहिसंज्ञिताः' पाठ है।

है। जीवात्मा का सम्बन्ध देह के साथ होता है, देहादि साधनों द्वारा यह कर्म करता फलों को भोगता और अपवर्ग की प्राप्ति के लिये प्रयास करता है। जीवात्मा का यह देह और उसके मूर्धा आदि अवयव सबके सामने हैं। इसके समान जब विश्वपुरुष के देह और उसके अवयवों की कल्पना की जाती है, तब उसके कोई वास्तविक देह तथा देहा-वयव न होने से समस्त विश्व को उसके देहादि के रूप में कल्पना कर लिया जाता है। उपर्युक्त जैसे वर्णनों का यही आधार है। जीवात्मा का देहादि से सम्बन्ध है, पर जीवात्मा स्वयं न कभी देहादिरूप है, और न ऐसा समझा जाता है। परमात्मा के ऐसे औप-चारिक वर्णनों में भी यही तत्त्व है। विश्व परमात्मा का स्वरूप नहीं है, और न पर-मात्मा विश्व का रूप है। देह से अतिरिक्त आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है, देहरूप ही आत्मा है, अथवा आत्मा देहरूप है, ऐसी मान्यता भारतीय दर्शन में चार्वाकदर्शन की है। यदि ब्रह्म विश्वरूप है, अथवा विश्व ब्रह्म का रूप है; विश्व से अतिरिक्त ब्रह्म अथवा ब्रह्म से अतिरिक्त विश्व नहीं; ऐसा माना जाता है, तो यह मान्यता चार्वाक-दर्शन में अन्तर्हित होजाती है, तब शंकर मत का प्रवेश चार्वाकदर्शन में होजाता है, केवल मूलउपादान का नाम आचार्य शंकर द्वारा 'चेतन' कहदेने से मूलतत्त्व के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं होता। फलतः जीवात्मा और देह को एक न मानने के समान ब्रह्म और विश्व को एक नहीं माना जासकता। इसीकारण महाभारत में इन श्लोकों से पूर्व विश्वपुरुष को गुणों [त्रिगुण] से अधिक–अतिरिक्त बताया है–'तथा तं पुरुषं विश्व-माख्यास्यामि गुणाधिकम्'। उसीका वह वर्णन है, जो ऊपर अभी किया गया। इससे वह सबका साक्षी-द्रष्टा सर्वज्ञ सर्वाधार एवं सर्वनियन्ता सिद्ध होता है, सर्वरूप नहीं। उसका विश्वरूपतावर्णन सर्वथा औपचारिक है, यह स्पष्ट करदिया गया है।

आचार्य शंकर ने प्रस्तुत सूत्र [१।२।६] की व्याख्या में जीवात्मा और पर-मात्मा का भेद सिद्ध करने के लिए स्मृति के रूप में भगवद्गीता का श्लोक [१८।६१] उद्धृत किया है। यद्यपि यह ठीक है, कि वहां ईश्वर और जीव के भेद को स्पष्ट किया है; परन्तु जब महाभारत और उसके अन्तर्गत गीता तथा इन ब्रह्मसूत्रों के रचयिता वेदव्यास को माना जाता है, तब स्वप्रतिपादित एक मन्तव्य की पुष्टि के लिये उसीकी रचना से स्मृतिरूप में प्रमाण उपस्थित करना समञ्जस प्रतीत नहीं होता। तात्पर्य यह है, कि 'स्मृतेश्च' सूत्र की रचना के समय वेदव्यास की भावना अपनी अन्य रचना को प्रमाणरूप में उपस्थित करनेकी रही हो, ऐसा युक्तियुक्त नहीं है। इसलिये यहां स्मृति के नाम पर आचार्य का गीता को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करना चिन्तनीय है।

आचार्य शंकर ने इस सूत्र के भाष्य में जीवात्मविषयक एक अतिरिक्त आशंका-रूप तर्क इसप्रकार उपस्थित किया है–यह परमात्मा से भिन्न जीवात्मा [शारीर] कौन है, जिसका 'अनुपपत्तेस्तु न शारीरः' इत्यादि सूत्रों के द्वारा छान्दोग्य के उक्त प्रकरण [३।१४।१] में ग्रहण करना प्रतिषिद्ध किया गया है? क्योंकि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा

नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' [बृह० ३।७।२३] इत्यादि सन्दर्भों में परमात्मा से अन्य किसी आत्मा का निवारण किया है। यहां बताया, न उस ब्रह्म से अतिरिक्त कोई द्रष्टा है न श्रोता। आचार्य ने इस आशंका का समाधान किया–वह परब्रह्म परमात्मा ही देह इन्द्रिय मन बुद्धि आदि उपाधियों से परिच्छिन्न हुआ 'शारीर' [जीवात्मा] इस नाम से व्यवहृत किया जाता है। उसकी अपेक्षा से कर्म-कर्त्ता आदि भेदव्यवहार में कोई विरोध नहीं आता। यह अवस्था उस समय तक रहती है, जब तक आत्मैकत्व का बोध न हो। आत्मा की एकता का बोध हो जाने पर बन्ध-मोक्ष आदि समस्त व्यवहार समाप्त होजाता है।

आचार्यद्वारा उत्थापित यह आशंका और समाधान दोनों विचारणीय हैं। आशंकाभाग में बृहदारण्यक उपनिषद् के आधार पर कहा गया, कि ब्रह्म से अन्य कोई द्रष्टा श्रोता नहीं है। बृहदारण्यक का उक्त वाक्य 'अन्तर्यामी ब्राह्मण' का है। याज्ञवल्क्य ने यहां ब्रह्म के अन्तर्यामी स्वरूप का निरूपण किया है, अनेक तत्त्वों का नाम लेकर उनमें अन्तर्यामी ब्रह्म का अस्तित्व बताया। 'अन्तर्यामी' पद का अर्थ है–अन्दर रहकर नियन्त्रण करना। जिन पदार्थों के नाम लिखे गये हैं, वे उपलक्षणमात्र हैं, याज्ञवल्क्य का आशय यह प्रकट करना है, कि समस्त विश्व में व्याप्त हुआ परमात्मा इसका नियन्त्रण करता है। इस प्रसंग के अन्त में याज्ञवल्क्य श्रोता के प्रति कहता है–'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' यह अमृत आत्मा तेरा अन्तर्यामी है। इसके ठीक अनन्तर कहा–'अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता' वह देखा नहीं जाता पर वह सबका द्रष्टा है, वह सुना नहीं जाता पर वह सबका श्रोता है, वह माना नहीं जाता पर वह सबका मन्ता है, वह जाना नहीं जाता पर वह सबका विज्ञाता है। इसके अनन्तर 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि वाक्य है। इसका यही अभिप्राय स्पष्ट होता है, कि ऐसे अन्तर्यामी से अन्य और कोई ऐसा द्रष्टा श्रोता नहीं है। यह वाक्य केवल अन्तर्यामी ब्रह्म की एकता का निरूपक है, ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई अन्तर्यामी 'अदृष्ट द्रष्टा' संभव नहीं। इस वाक्य में जीवात्मा के साथ ब्रह्म के अभेद का अंश भी नहीं है। प्रत्युत याज्ञवल्क्य प्रकरण के निगमन में प्रश्नकर्त्ता श्रोता के प्रति कहता है, जो ब्रह्म सब जगत् में अन्तर्यामी है, वही तुम्हारे आत्मा में अन्तर्यामी है। हृदयदेशस्थ आत्मा में विराजमान ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, इसी भावना से यह उपदेश है। फलतः आचार्यद्वारा ऐसी आशंका का उत्थापन यहां अप्रासंगिक एवं आधारहीन है।

आचार्यद्वारा किये गये उक्त आशंका के समाधान के विषय में इतना कहना पर्याप्त है, कि ब्रह्म ही देह इन्द्रिय मन बुद्धि आदि से परिच्छिन्न हुआ 'शारीर' [जीवात्मा] कहा जाता है; इस विषय में आचार्य ने कोई शास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया। यहां पर अपनी इच्छा से इसे सिद्धवत् मानकर कहदियागया है। शांकर विचार के वेदान्तसाहित्य में जिन वाक्यों के आधार पर इस अर्थ को उभारा गया है, वस्तुतः

उन वाक्यों के यथाभूत अर्थों का शीर्षासन कर दिया है । उन-उन प्रसंगों में ऐसे वाक्यों का यथायथ विवेचन विवेकशील पाठक अनेकत्र इस ग्रन्थ में देख सकेंगे। फलतः प्रस्तुत प्रसंग में 'शारीर' पद का सूत्रकार ने जीवात्मा के लिये प्रयोग किया है, और उसका अपना निरपेक्ष अस्तित्व है, वह सत्य है, केवल औपचारिक नहीं। यदि आचार्य के उक्त [शंका-समाधानरूप] विवेचन को यथार्थ माना जाता है, तो अगले आठवें सूत्र की कोई संगति संभव नहीं। इसलिये आचार्य का उक्त विचार सूत्रकार की भावना के अनुकूल नहीं है, यह स्पष्ट है। इस भावना से ग्यारह-बारह सूत्र भी द्रष्टव्य हैं ॥६॥

शिष्य आशंका करता है, छान्दोग्य के उक्त [३।१४।३] प्रसंग में आत्मा को 'अणीयान्' कहा है-'एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा' इत्यादि। यह आत्मा मेरे हृदय के अन्दर धान से छोटा है और जौ से छोटा है। इससे प्रतीत होता है कि यह वर्णन सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी ब्रह्म का नहीं है। जीवात्मा का संभव होसकता है। सूत्रकार ने शंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥७॥

[अर्भकौकस्त्वात्] अल्प अथवा छोटे घरवाला होने से [तद्व्यपदेशात्] उसका कथन किये जाने से [च] और [न] नहीं (उक्त वाक्य में ब्रह्मोपदेश), [इति, चेत्] ऐसा यदि कहो, (तो यह कथन) [न] नहीं (ठीक), [निचाय्यत्वात्-एवं] साक्षात्कार-योग्य होने से इसप्रकार [व्योमवत्] आकाश की तरह [च] ही।

अल्पस्थान [हृदयदेश] में निवास कहेजाने से छान्दोग्य के उक्त प्रसंग में ब्रह्म का उपदेश संभव नहीं; यह कथन युक्तियुक्त नहीं कहा जासकता, क्योंकि ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये उसप्रकार ब्रह्म का निवास हृदयदेश कहा है। जैसे विस्तृत आकाश का सीमितरूप में कथन होता है।

'अर्भक' पद का अर्थ-अल्प या छोटा है, 'ओकस्' घर अथवा निवासस्थान को कहते हैं। 'एष म आत्माऽन्तर्हृदये' यह आत्मा मेरे हृदय के अन्दर है, यह उपनिषद् का कथन अत्यल्प हृदयदेश को आत्मा का निवास बताता है। इसके अतिरिक्त आगे स्पष्ट उसे 'अणीयान्' कहा है, वह धान, जौ, सरसों या समां के दानों से भी अति सूक्ष्म है। इससे प्रतीत होता है, कि छान्दोग्य के इस प्रसंग में सर्वव्यापक ब्रह्म का उपदेश होना नहीं माना जासकता। सूत्रकार ने कहा-यह आशंका ठीक नहीं, कारण यह है, कि जीवात्मा के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार मस्तिष्कगत हृदयदेश में संभव है, अन्यत्र नहीं, क्योंकि जीवात्मा का वही निवास है। जीवात्मा ब्रह्म को उसी प्रदेश में साक्षात् कर-सकता है, इसी भावना से सर्वव्यापक ब्रह्म को हृदयदेश के अन्दर विराजमान बताया है। धान जौ सरसों समां आदि के दानों से 'अणीयान्' बताना [illegible] अतिसूक्ष्म

स्थिति को अभिव्यक्त करता है, उसकी एकदेशीयता को नहीं। इसी प्रसंग में उसको 'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक तथा समस्त लोक-लोकान्तरों से 'ज्यायान्' ज्येष्ठ महान बताया गया है। अन्यत्र भी उसे 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' [श्वे० ३।२०] कहा है। यजुर्वेद [४०।५-७] में भी इस भावना को निम्नप्रकार प्रकट किया है, कि वह सबके अन्दर और सबके बाहर है, समस्त विश्व उस आत्मा [ब्रह्म] में आधारित तथा आत्मा समस्त विश्व में सदा अनुप्राणित है। ज्ञानी आत्मा के इस स्वरूप को जानकर शोक मोह से पार होजाता है।

इस विवेचन के आधार पर स्पष्ट होता है, कि छान्दोग्य के उक्त प्रसंग में ब्रह्म का यथार्थरूप से हृदयदेश में सीमित होना नहीं बताया; प्रत्युत हृदयदेश में ब्रह्म का निवास जीवात्माद्वारा ब्रह्म का ज्ञान होसकने की भावना से कहा है। तथा 'अणीयान्' कथन उसकी अतिसूक्ष्मता को अभिव्यक्त करता है, इसलिये छान्दोग्य का वह प्रसंग उपास्यरूप से ब्रह्म का उपदेश करता है, यह निश्चित है। लोक में जाना जाता है, आकाशतत्त्व अतिविस्तृत है, समस्त स्थूल सूक्ष्म पदार्थों के अन्दर बाहर सब जगह फैला हुआ है। कहा जाता है-'देवदत्त मकान में बैठा है' दीवारों से घिरे हुए अवकाश का नाम 'मकान' है। यह निश्चित है, कि देवदत्त के बैठने को जो अवकाश प्राप्त है, वह आकाश के कारण है; पर व्यवहार में यह नहीं कहा जाता, कि 'देवदत्त आकाश में बैठा है' यद्यपि यह स्थिति यथार्थ है। इसका निमित्त है-लोकव्यवहार का यथायथरूप में चालू रहना। 'देवदत्त मकान में बैठा है' इस वाक्य को सुनकर श्रोता एक यथाभूत विशिष्ट अर्थ को समझ लेता है, और देवदत्त की स्थिति का निश्चय करलेता है। यदि उक्त वाक्य के स्थान पर कहाजाय, कि 'देवदत्त आकाश में बैठा है' तो श्रोता इससे यथाभूत अर्थ को समझने में अक्षम रहता है, और लोक-व्यवहार में अवरोध उत्पन्न होजाता है। फलतः जैसे विस्तृत आकाश का लोकव्यवहारनिमित्त से सीमितरूप में कथन किया जाता है; ऐसे ही सर्वव्यापक ब्रह्म को 'उसका ज्ञान होना' रूप निमित्त से हृदयदेश में विद्यमान कहा है। इसका यह तात्पर्य नहीं, कि वह उसी प्रदेश में सीमित है, अथवा अन्यत्र उसका अस्तित्व नहीं। किसी निमित्तविशेष से सीमित प्रदेश में उसकी विद्यमानता कहे जानेपर उसकी सर्वव्यापकता में कोई बाधा नहीं आती। ब्रह्मज्ञान अथवा प्राप्ति के लिये हृदयदेश में उसकी उपासना कीजाती है, यही बताना उपनिषद् के उक्त प्रसंग का लक्ष्य है ॥७॥

शिष्य आशंका करता है, देह में जीवात्मा का निवासस्थान मस्तिष्कगत हृदय बताया गया है, वह सुख-दुःख आदि का भोग वहीं बैठा किया करता है। उपास्य ब्रह्म की प्राप्ति का वही स्थान होने से ब्रह्म को भी सुख-दुःखादि भोग प्राप्त होना चाहिये। सूत्रकार आचार्य शंकानिर्देशपूर्वक समाधान करता है—

संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥८॥

[सम्भोगप्राप्तिः] सम्भोग की प्राप्ति (ब्रह्म को होनी चाहिये), [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो यह) [न] नहीं, [वैशेष्यात्] विशेष–अत्यन्त भेद होने से। सर्वगत ब्रह्म के हृदयदेश में रहने से ब्रह्म को सुख-दुःखादि भोग प्राप्त होना चाहिये, यह आशंका ठीक नहीं है; क्योंकि उन दोनों [ब्रह्म-जीवात्मा] में अत्यन्त भेद है।

यद्यपि ब्रह्म सर्वगत होने से हृदयदेश में रहता है, तथा वहीं पर निवास करनेवाला जीवात्मा सुख-दुःखादि भोग को प्राप्त करता है, परन्तु ब्रह्म को वह भोग प्राप्त नहीं होता। कारण यह है, कि इन दोनों में परस्पर अत्यन्त भेद है। जीवात्मा कर्त्ता भोक्ता है, धर्म, अधर्मरूप कर्मों को करता और उनके सुख-दुःखरूप फलों को भोगता है। वह कामना के वशीभूत होकर इन कर्मों में फंसा रहता है। ब्रह्म ऐसा नहीं है, वह इससे सर्वथा विपरीत है। वह अपहतपाप्मा व पूर्णकाम है। भोग अपने किये धर्माधर्मरूप कर्मों का परिणाम है। यह स्थिति केवल जीवात्मा की है, ब्रह्म की नहीं। उसके द्वारा जीवात्मा के समान कोई धर्माधर्म का अनुष्ठान नहीं होता, तब उसे भोगप्राप्ति की संभावना कहां? वह समस्त क्लेश कर्म तथा उनके परिणामों से अछूता रहता है, [योग० १।२४]। ऋग्वेद [१।१६४।२०] में जीवात्मा और ब्रह्म का यही भेद बताया—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

दो चेतनतत्त्व एक प्रकृतिरूप वृक्ष के साथ सम्बद्ध हैं, एक [जीवात्मा] भोक्तारूप में, तथा दूसरा [परमात्मा] अभोक्ता व नियन्तारूप में। चूल्हे या भट्टी में रहता भी आकाश जलता नहीं, क्योंकि उसमें जलने की योग्यता नहीं। ब्रह्म हृदयदेश में रहता भी भोक्ता नहीं, क्योंकि उसमें उसकी योग्यता नहीं। भोग की योग्यता धर्माधर्मरूप कर्मानुष्ठान से प्राप्त होती है, यह ब्रह्म में संभव नहीं। अतः ब्रह्म को भोग प्राप्त नहीं होता।

सूत्रकार के इस विवेचन से यह ध्वनित होता है, कि ब्रह्म कभी देहादिबन्धन में नहीं आता। वह 'अज' और 'एकपात्' है, अजन्मा तथा नित्यज्ञानयुक्त है [यजु० ३४।५३]। वह सर्वव्यापक एवं कायादि से रहित है [यजु० ४०।८]। यदि जीवात्मा के समान वह देहादिसम्बन्ध को प्राप्त होता, तो कर्मानुष्ठान और भोगप्राप्ति से उसे अलग रक्खा जाना संभव नहीं था। यह जीवात्मा और परमात्मा का भेद हृदयदेश में रहते भी परमात्मा को भोगप्राप्ति का बाधक है।

आचार्य शंकर ने लिखा है, कि सर्वगत ब्रह्म का समस्त प्राणियों के हृदय से सम्बन्ध होने, ब्रह्म के चेतन होने तथा जीवात्मा से अभिन्न होने के कारण ब्रह्म को

जीवात्मा के समान संभोग-प्राप्ति होनी चाहिये। संभोगप्राप्ति के इस अन्तिम तृतीय हेतु–अभेद अथवा एकत्व–का आचार्य ने विशेषरूप से उल्लेख किया है। यद्यपि इस विषय में पहले दो हेतु [१-सर्वगत ब्रह्म का समस्त प्राणिहृदय से सम्बन्ध, २- चेतन होना] अर्थ के प्रतिपादन में पूर्ण एवं युक्तियुक्त हैं, परन्तु आचार्य अपने अशास्त्रीय विचार को सर्वत्र कह देने में कभी चूकता नहीं, चाहे उस स्थान में वह उपयुक्त हो, या न हो।

जीव-ब्रह्म की एकता के आधार पर जीव के भोग की ब्रह्म में प्राप्ति की आशंका सूत्रकार के आशय के अनुकूल प्रतीत नहीं होती, यदि सूत्रकार को यह आधार अभिमत होता, तो इसके निवारण के लिये वह 'वैशेष्यात्' हेतु न देता। आचार्य ने पहले तो इस हेतुपद की व्याख्या सूत्रकार के आशय के अनुसार की है, पर उससे अपने विचार की बाधा होते देखकर पैंतरा बदल दिया है। आचार्य के उस व्याख्यान का आशय है, कि जीवात्मा को भोग मिथ्याज्ञान के कारण होता है, क्योंकि ब्रह्म मिथ्याज्ञान से रहित है, इसलिये भोग के साथ उसका संस्पर्श संभव नहीं। यदि सूत्रकार को यही अर्थ अभिमत होता, तो वह आचार्य के शब्दों के अनुसार 'मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्' अथवा 'मिथ्याज्ञानकल्पितत्वात्' ऐसा हेतु देता। पर ऐसा न कहकर सूत्रकार ने 'वैशेष्यात्' हेतु के द्वारा जीव और ब्रह्म के भेद को स्पष्टरूप में निर्दिष्ट किया है।

जब आचार्य के सन्मुख उसके मन्तव्य में यह आपत्ति प्रस्तुत की गई, कि यदि एकमात्र ब्रह्म की चेतनसत्ता के अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा नहीं है, तो जीव-चेतन का भोग ब्रह्मका ही भोग होगा; क्योंकि भोग चेतन को सभव है, और आपके मत में चेतन सत्ता ब्रह्म से अन्य है नहीं। यह आपत्ति सुनकर आचार्य झुंझला उठा है, और एक मोटी-सी गाली के साथ उस आपत्ति को हटाने का प्रयास प्रारम्भ किया है। आचार्य ने आपत्तिकर्त्ता पर उलटा प्रश्न किया, कि तुमने यह कैसे निश्चय किया, कि ब्रह्म से अन्य आत्मा का अभाव है?

वस्तुतः आचार्य का ऐसा प्रश्न करना सर्वथा अनुपयुक्त एवं असामञ्जस्यपूर्ण है। आपत्तिकर्त्ता अपना निश्चय यह कब बतलाता है, कि ब्रह्म से अन्य आत्मा नहीं है? वह तो ब्रह्म से अन्य आत्मा स्पष्टरूप में मानता है। अन्य आत्मा के अभाव की मान्यता तो स्वयं आचार्य की है, वह उस मान्यता पर आपत्ति करता है, पर आचार्य अपनी मान्यता को उसपर आरोपित करना चाहता है, और उस आरोपित अपने मत में कतिपय स्वेच्छासंकलित पोषक वाक्य प्रस्तुतकर जीवात्मा को भी भोग का निवारण करता है। यदि वास्तविकता ऐसी होती, तो सूत्रकार की यह सूत्ररचना व्यर्थ थी। जीवात्मा को भोगप्राप्ति वास्तविक है। सृष्टि की रचना जीवात्मा के भोग एवं अपवर्ग के लिये है। अपवर्ग को सत्य कहकर भोग को मिथ्या नहीं कहा जासकता। समस्त व्यवहार अपने रूप में वैसा ही सत्य है, जैसा कोई भी सत्य पदार्थ होसकता है। जिन उपनिषद् वाक्यों के आधार पर जीव-ब्रह्म की एकता को उभारा गया है, उन सन्दर्भों

में वास्तविकता अन्य ही है। प्रस्तुत भाष्य में यथाप्रसंग उन सबका ऊहापोहपूर्वक विवेचन किया गया है।

आचार्य ने इस सूत्र की व्याख्या में अपने कल्पित मत को बलपूर्वक प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, पर जब चेतन आत्मा केवल एक है, और भोग चेतन को ही होना संभव है, चाहे वह किसी निमित्त से हो, तो वह एकमात्र चेतनतत्त्व भोग से छुटकारा कैसे पासकता है? इस आपत्ति का कोई सच्चा समाधान नहीं किया। यह संभव है, कि आचार्य से पहले व्याख्याकारों ने इस आपत्ति के आधार पर जीव-ब्रह्म के भेद को पुष्ट किया होगा, और सूत्र के 'वैशेष्यात्' हेतु की इसरूप में अनुकूल व्याख्या की होगी। आचार्य शंकर ने उसको व्यर्थ धूमायित करने का प्रयास किया है। उक्त आपत्ति के समाधान में बुद्धि आदि का उपाधिरूप में प्रयोग और आकाश आदि के दृष्टान्त कोई सहारा नहीं लगाते। क्योंकि तथाकथित उपाधिमात्र से वस्तुतत्त्व की एकता टूट नहीं सकती। क्या घटाकाश कहने मात्र से आकाश का कोई अंश उससे अलग होजाता है? यदि घड़े में अनाज भरा है, और घटनामक मट्टी आदि की पतली पर्त्तों के मध्य अपनी स्थिति के लिये उसे अवकाश प्राप्त है, तो क्या घड़े को उस स्थान से सरका देने पर वह अवकाश भी क्या उन पर्त्तों के साथ सरक जायगा, जहां अनाज है? यह सर्वथा असंभव है। इसीप्रकार यदि चेतनतत्त्व एकमात्र है, तो देहों में बुद्धि आदि से उपहित उसे भले ही जीव या अन्य जो चाहें कहते रहिये, उसकी एकता टूट नहीं सकती, तब भोगप्राप्ति से एकमात्र आत्मतत्त्व [ब्रह्म] का छुटकारा नहीं होसकता। पर ऐसी स्थिति न शास्त्र को अभीष्ट है न आचार्य को। शास्त्र के अनुसार तो सूत्रकार ने सूत्ररचनाकर यह स्पष्ट कर दिया, कि जीवात्मा और ब्रह्म भिन्नतत्त्व हैं। आचार्य का एकताविषयक विचार इसके अनुकूल नहीं है। फलतः ब्रह्म को संभोग-प्राप्ति में आचार्य द्वारा जीव-ब्रह्म की एकता को कारण बताना निराधार है, तथा सूत्रकार एवं शास्त्रीय अभिमत के विपरीत है ॥८॥

शिष्य आशंका करता है, गत प्रकरण में निश्चय किया गया, कि ब्रह्म को संभोग की प्राप्ति नहीं होती। परन्तु कठ उपनिषद् में उसके ओदन [भात] का उल्लेख है, इसलिये वह अत्ता अथवा भोक्ता माना जाना चाहिये। पर वेद [ऋ० १।१६४।२०] में उसे 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' कहकर स्पष्ट अभोक्ता बताया है, तब इसका सामञ्जस्य कैसे होगा? सूत्रकार आचार्य ने समाधान किया—

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥६॥

[अत्ता] खानेवाला [चर-अचर-ग्रहणात्] चर और अचर के ग्रहण से। ब्रह्म को अत्ता इसकारण कहा गया है, कि वह चराचर–समस्त जंगम-स्थावर–जगत् को प्रलय आने पर ग्रहण कर लेता है, अपने कारण में लीन कर देता है।

कठ उपनिषद् [१।२।२५] में सन्दर्भ है—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत श्रोदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ।।

ब्राह्मण श्रौर क्षत्रिय दोनों जिसका भात-खाद्य है, श्रौर मृत्यु जिसका उपसेचन है। उसका क्या स्वरूप है, वह कहां रहता है, इसप्रकार उसे साधारण व्यक्ति कौन जान पाता है ? अर्थात् कोई नहीं, साक्षात्कृतधर्मा आत्मज्ञानी उसे जानसकते हैं ।

भात को खाते समय उसके ऊपर जो घी-बूरा आदि डाला जाता है, उसे 'उपसेचन' कहते हैं । ब्राह्मण-क्षत्रिय समाज में प्रधान होने से प्राणिमात्र का उपलक्षण हैं । प्राणी एक जीवित शक्ति है, वह भी जब किसी का खाद्य बन जाता है, तो अजीवित [जड़] जगत् का कहना ही क्या ? जीवित-अजीवित अथवा चर-अचर जितना जगत् है, वह सब प्रलय अवसर आने पर अपने कारण में लीन होजाता है। कारण में लय का नियन्ता ब्रह्म है, उसकी सत्ता व प्रेरणा के विना यह सब होना असंभव है । विश्व की उत्पत्ति स्थिति प्रलय का वह नियन्ता व अधिष्ठाता है। चराचर जगत् के प्रलय की इस अवस्था को ब्रह्म के खाद्यरूप में वर्णन किया गया है। यह स्थिति मृत्यु को उपसेचन बताने से स्पष्ट होती है, जैसे भात को घृत आदि का सहयोग अधिक ग्राह्य बनाता है, ऐसे ही जगद्रूप खाद्य मृत्यु द्वारा अपनी स्थिति को अधिक अनुकूल बनाता है। तात्पर्य यह है, कि प्रत्येक वस्तु की मौत उसका खाद्यरूप है। उत्पन्न वस्तु सदा स्थायी नहीं होती, जगत् भी उत्पन्न होता है, उसका विनाश आवश्यक है । यह विनाश [प्रलय] होना ब्रह्म के खाद्यरूप में वर्णित हुआ है ।

इस चराचर जगत् में जीवात्म-तत्त्व यद्यपि स्वरूप से न उत्पन्न होता, न मरता है। देहादि के साथ इसका सम्बन्ध होना तथा वियोग होना इसका जीना-मरना कहाजाता है, देह आदि पदार्थ स्वरूप से उत्पन्न व विनष्ट होते हैं; इसी आधार पर ब्रह्म-क्षत्र को विश्व का उपलक्षण मानकर इसे ब्रह्म का ओदन-खाद्य कहा है। यद्यपि कठवल्ली के उक्त सन्दर्भ में साक्षात् चर-अचर पदों का उल्लेख नहीं है, तथापि 'ब्रह्म' पद अध्यात्म का तथा 'क्षत्र' अधिभूत का उपलक्षण होने से समस्त चराचर की भावना इन पदों से ध्वनित होती है। मृत्यु को उपसेचन कहना इस बात का मुख्य चिह्न है, कि उपनिषत्कार यहां समस्त विश्व के प्रलय की ओर संकेत कर रहा है। इसप्रकार चराचर के ग्रहण-प्रलय के कारण ब्रह्म को अत्ता कहा गया है। अन्यत्र [ऋ० १।१६४। २०] जो ब्रह्म को अभोक्ता कहा है, वह धर्माधर्मरूप कर्मों के फलों का भोक्ता न होने के कारण है ।

इन्हीं आधारों पर कठवल्ली के उक्त सन्दर्भ में 'अत्ता' पद से जीवात्मा का ग्रहण नहीं किया जासकता । कारण यह है, कि जीवात्मा विश्व का प्रलयकर्त्ता संभव नहीं, वह तो अपने धर्माधर्मरूप कर्मों के फलों का भोक्ता या अत्ता होता है, जगत् का

प्रलयकर्त्ता अत्ता वही होसकता है, जो जगत् का उत्पादक हैं। अग्नि को भी कहीं [बृ० १।४।६] अत्ता कहा गया है–'अग्निरन्नादः'। अग्नि में जो डाला जाय वह जल-जाता है, इसी आधार पर उसे 'अन्नाद' कहा है। यद्यपि शास्त्रकारों के निर्देशानुसार प्रलय अवसर पर पृथिवी आदि तत्त्व 'अग्नि' में लय होते हैं, पर अग्नि भी तो अपने रूप में तब नहीं रहता, उसका भी लय अपने कारणों में होजाता है, इसलिये वह समस्त चराचर का अत्ता संभव नहीं। फलतः कठवल्ली के उक्त सन्दर्भ में 'अत्ता' रूप से ब्रह्म का वर्णन हुआ है, यह निश्चित होता है। ब्रह्म को जहां अभोक्ता कहा है, वहां धर्मा-धर्म-फलभोक्ता वह नहां है, यही तात्पर्य है। इसलिये इन वर्णनों में परस्पर कोई असामञ्जस्य नहीं है।

किसी अर्थ को वर्णन करने की यह एक रोचक व चमत्कारपूर्ण रीति है। वस्तुतः न ब्रह्म-क्षत्र अथवा उससे उपलक्षित विश्व किसी का खाद्य होता है, और न ब्रह्म ही वस्तुस्थिति में कुछ खाता है। कठ-सन्दर्भ में प्रलय के वर्णन द्वारा ब्रह्म की अचिन्त्य-शक्ति का संकेत किया गया है। इसलिये ब्रह्म को भोग की प्राप्ति तथा उसके अभो-क्तृत्ववर्णन के साथ असामञ्जस्य आदि का कोई अवसर नहीं रहता ॥९॥

सूत्रकार आचार्य इसी अर्थ की पुष्टि के लिये अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

प्रकरणाच्च ॥१०॥

[प्रकरणात्] प्रकरण से [च] और (अथवा-भी)। कठ उपनिषद् के उस प्रकरण से भी यह ज्ञात होता है, कि उक्त सन्दर्भ में 'अत्ता' पद से प्रलयादिकर्त्ता ब्रह्म का निर्देश है।

कठ उपनिषद् की प्रथमवल्ली में नचिकेता के द्वारा यमसे तीन वर मांगे जाने का उल्लेख है। तीसरे वर में नचिकेता ने आत्मा के विषय में जिज्ञासा प्रस्तुत की है। द्वितीयवल्ली में आत्मविषयक वर्णन है। 'आत्मा' पद जीवात्मा-परमात्मा दोनों के लिये प्रयुक्त होता है। इस प्रसंग में दोनों का यथावश्यक वर्णन है। द्वितीयवल्ली की बारहवीं कण्डिका से मुख्यरूप में परमात्मा का वर्णन है–'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्ट' इत्यादि। उस–कठिनता से जानने योग्य, इन्द्रियों से अग्राह्य, समस्त विश्व में अन्तर्यामी-रूप से विद्यमान, जीवात्मा के निवासस्थान मस्तिष्कगत हृदयदेश [गुहा] में बैठे हुए, अति गम्भीर, अत्यन्त दुर्ज्ञेय, नित्य सनातन देव–परमात्मा को अध्यात्मयोग द्वारा जानकर धीर पुरुष सुख-दुःख से छूट जाता है। इसप्रकार ब्रह्म का निर्देश कर यम कहता है–ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म विश्व के व्यवस्थापक ब्रह्म को जानकर मानव आनन्दित होजाता है। तुझ नचिकेता को मैं ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये उपयुक्त अधिकारी समझता हूं।

अपने विषय में इस आश्वासन को सुनकर नचिकेता कहता है–धर्म-अधर्म,

कृत-अकृत और भूत-भविष्यत् से जो अन्यत्र है, इनके सम्पर्क में जो नहीं आता, जिसका आपने साक्षात्कार किया है, उसका मुझे उपदेश कीजिये। यम ने तब उपास्य ब्रह्म का निरूपण करते हुए कहा–'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' [१।२।१५], समस्त वेद जिस प्राप्य ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं, सब तपश्चरण जिसे कहरहे हैं, जिसकी प्राप्ति की अभिलाषा से ब्रह्मचर्य आदि नियमों का पालन किया जाता है, उस प्राप्तव्य का संक्षेप से मैं तुम्हें उपदेश करता हूं–वह 'ओम्' इस नाम से कहाजाता है। अगले दो सन्दर्भों में उसी 'ओम्' पदवाच्य ब्रह्म की महिमा का वर्णन है।

यम के पूर्वोक्त प्रवचन में–'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये' [१।१।२०] तथा 'अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे' [१।२।६] इत्यादि वर्णन से जीवात्मा के विषय में यह संशय उत्पन्न होता है, कि यह कोई उत्पत्तिविनाशधर्मा तत्त्व है अथवा नित्यतत्त्व? यदि जीवात्मा उत्पत्तिविनाशधर्मा है, तो यही माना जायगा, कि देह के साथ वह जीता-मरता है। यदि ऐसी स्थिति है, तो ब्रह्मज्ञान के लिये ब्रह्म-चर्यादि पालन, उपासना व तपश्चरण आदि सब व्यर्थ है, क्योंकि जो जीवात्मा इन नियमों का अपने जीवनकाल में पालन करेगा, उसे देह के साथ नष्ट होजाना है, तब फिर यह सब निष्फल है। जीवात्मा के विषय में ऐसी आशंका नचिकेता अथवा अन्य किसी जिज्ञासु को न हो; इसी भावना से उपनिषद् के अगले दो [१।२।१८-१९] सन्दर्भों में जीवात्मा का वर्णन है–वह न जन्म लेता है, न मरता है, वह चेतनतत्त्व है, न उसका कोई कारण है, न वह किसी का कार्य है। वह अज है, नित्य है, अविकारी है, यह नित्य आत्मा [जीवात्मा] शरीर के नाश होजाने पर नष्ट नहीं होता। जो समझता है, कि मैंने आत्मा को मारदिया, तथा जो समझता है, कि मैं मरजाता हूं; वे दोनों आत्मा के यथार्थस्वरूप को नहीं पहचानते। न यह मरता है न माराजाता है।

यह जीवात्मा के स्वरूप के विषय में प्रसंगापेक्षित उल्लेख कर आगे पुनः उपास्य ब्रह्म का प्रतिपादन है–जो महान से महान परब्रह्म है, वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है; इस जीवात्मा के निवासस्थान गुहा [मस्तिष्कगत हृदयदेश] में वह छिपा बैठा रहता है। उस परब्रह्म की महिमा को वह पुरुष जानलेता है, जो सबप्रकार की कामनाओं से रहित होचुका है, तथा जिसपर परब्रह्म[1] का प्रसाद-अनुग्रह हो। आगे वल्ली की समाप्ति तक

---

१. उपनिषदों के बम्बई से प्रकाशित मूलसंस्करणों तथा अन्य संस्करणों में यहां 'धातुः प्रसादात्' पाठ है। 'धातुः' प्रयोग 'धातृ' पद का षष्ठी एकवचन है। 'धातृ' पद का अर्थ है–जगत् का धारण-पोषण करने वाला परब्रह्म। उसका प्रसाद-अनुग्रह यहां उसकी प्राप्ति में सहयोगी बताया है। इस विषय में ब्रह्म का अनुग्रह या उसकी अनुकूलता जिज्ञासु उपासक के धर्मपूर्वक योगानुष्ठान, तपश्चर्या एवं ज्ञानसाधन उपायों में तत्परता से संलग्न रहने की ओर संकेत करते हैं। भगवान् का अनुग्रह

ब्रह्म का वर्णन है। अन्तिम सन्दर्भ है–'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः' इस प्रकरण में पहले से ब्रह्म के भोजन या खाद्य आदि का कोई प्रसंग नहीं है। उसकी विविध महिमा का वर्णन है, उसकी प्राप्ति के लिये सांकेतिक विधियों का निर्देश है। फलतः प्रकरण इस तथ्य को स्पष्ट करता है, कि चराचर जगत् का प्रलयकर्त्ता होने से ब्रह्म को 'अत्ता' कहा गया है, भोगों की अनुभूति से नहीं।

इन सूत्रों से यह भाव प्रतिफलित होता है, कि ब्रह्म कभी देहधारण नहीं करता। जो चेतनतत्त्व देहधारण करता, एवं स्वकृत कर्मफलों को भोगता है, वह ब्रह्म होना सम्भव नहीं। वह अतिरिक्त चेतन है, जिसको साक्षात्कृतधर्मा शास्त्रकारों ने 'जीवात्मा' कहा है ॥१०॥

होने के ये प्रतीक हैं, इसमें उपासक के भक्त्यतिशय का प्रकाशन होता है। ऐसे वर्णन में जीवात्मा और परमात्मा के भेद की भावना निहित है।

आचार्य शंकर ने इस पाठ को बदल दिया प्रतीत होता है। शांकरभाष्ययुत उपनिषदों के संस्करण में 'धातुः' पद के विसर्ग को हटाकर उसे उकारान्त मानकर 'प्रसाद' पदके साथ समास द्वारा 'धातुप्रसादात्' ऐसा पाठ स्वीकार किया गया है। आचार्य ने अर्थ किया है–'मन आदीनि करणानि धातवः शरीरस्य धारणात् प्रसीदन्तीत्येषां धातूनां प्रसादात्' मन आदि करण-इन्द्रिय धातु हैं, शरीर का धारण करने से प्रसन्न होते हैं, इसलिये इन धातुओं की प्रसन्नता से परमात्मा की महिमा को जानलेता है। करणों की प्रसन्नता से यदि अन्तःकरण की शुद्धता से अभिप्राय है, तो यह भाव 'अक्रतुः' तथा 'वीतशोकः' आदि पदों से अभिव्यक्त होरहा है, दुबारा कहना अनावश्यक था। फिर अध्यात्ममार्ग पर चलनेवाले जिज्ञासु के लिये अन्तःकरण की शुद्धि आदि अतिप्राथमिक साधन है। उसको इतने महत्त्वपूर्ण ढंग से ब्रह्मज्ञान के लिये प्रस्तुत करना उपनिषत्कार का अभिप्राय कल्पना नहीं किया जासकता। उपनिषद् के 'धातुः प्रसादात्' इस वास्तविक पाठ में उपासक जीव और उपास्य ब्रह्म के भेद की स्थिति स्पष्ट निहित है, अतः कदाचित् आचार्य ने अपनी भावनाओं के अनुकूल बनाने के लिये मूलपाठ को बदल दिया है। मूलपाठ का जो भाव है, उसकी पुष्टि २३वीं कण्डिका के उत्तरार्द्ध से होती है–'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' यह जिसको वरण करता है, जिसपर अनुग्रह करता है, वह इसे प्राप्त करलेता है, परमात्मा अपने स्वरूप को उसके लिये प्रकट करदेता है। जिसपर ब्रह्म का अनुग्रह हो, वह ब्रह्म के स्वरूप को साक्षात् जानलेता है। आचार्य शंकर ने बृहदारण्यक [५।५।१] में भी पाठ का परिवर्त्तन किया है। वहां एक 'ब्रह्म' पद को उड़ा दिया है। इस सन्दर्भ की व्याख्या [१।१।४] सूत्रभाष्य के अन्तिम भाग में देखी जासकती है।

शिष्य ने आचार्य के सन्मुख जिज्ञासा प्रकट की, कठ उपनिषद् की द्वितीय वल्ली के प्रसंग का विवेचन गतसूत्रों में किया गया। उसके ठीक अनन्तर तृतीय वल्ली के प्रारम्भिक सन्दर्भ में 'ऋतं पिबन्तौ' 'गुहां प्रविष्टौ' आदि द्विवचनान्त पदों से किन्हीं दो तत्त्वों का निर्देश किया गया है। पहला प्रसंग ब्रह्मनिरूपण में सम्पन्न होरहा है। उसके अनन्तर वर्णित ये दो तत्त्व कौन होसकते हैं? सूत्रकार आचार्य समाधान करता है—

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥११॥

[गुहां] गुहा में [प्रविष्टौ] प्रविष्ट हुए [आत्मानौ] दो आत्मा हैं [हि] निश्चयपूर्वक [तद्-दर्शनात्] उनके देखेजाने से। मस्तिष्कगत हृदयदेशरूप गुहा (गुफा–प्रकोष्ठ) में प्रविष्ट दो आत्मा–जीवात्मा और परमात्मा हैं, निश्चितरूप से उनका दर्शन वहां होता है।

कठ उपनिषद् के प्रथम अध्याय की तीसरी वल्ली का प्रारम्भिक सन्दर्भ है—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥

इस सन्दर्भ में जिन दो का वर्णन है, वे जीवात्मा और परमात्मा हैं। वे ऋत का पान करने वाले हैं। 'ऋत' सत्य अथवा नियत व्यवस्था को कहते हैं। जीवात्मा अपने किये कर्मों का व्यवस्थापूर्वक फल भोगता, और आगे कर्मानुष्ठान में लगा रहता है। यही उसका ऋत-पान है। परमात्मा अपनी नियत व्यवस्थाओं के अनुसार विश्व के उत्पादन धारण एवं लय आदि में संलग्न रहता है, यह उसका ऋत-पान है। 'पान' का अर्थ जलादि के समान पीना अभिप्रेत न होकर यहां ज्ञानपूर्वक अपने नियत कार्य का सम्पन्न करना है। यह केवल चेतनतत्त्व के लिये सम्भव है। इसप्रकार ऋत का सम्पादन कहां होता है? यह बताया–'सुकृतस्य लोके' अच्छीतरह किये हुए के लोक में। सुष्ठु निर्मित यह देह है, इसके स्थान [–लोक] में अर्थात् शरीर में जीवात्मा अपने कार्यों का सम्पादन करता है तथा सुकृत विश्व में परमात्मा। जैसे जीवात्मा का कार्यक्षेत्र देहमात्र है, ऐसे ब्रह्म का समस्त विश्व है।

ये दोनों गुहा में प्रविष्ट हैं। उपनिषदों के अध्यात्म प्रकरणों में सर्वत्र 'गुहा' पद मस्तिष्कगत हृदयप्रदेश के लिये प्रयुक्त हुआ है। जीवात्मा का यह मुख्य निवासस्थान है। इसलिये उसका यहां प्रवेश अथवा विद्यमान होना निश्चित है। ब्रह्म यद्यपि सर्वव्यापक है, पर आत्माद्वारा उसका साक्षात्कार इस प्रदेश में होना सम्भव है, इसी भावना से उसका यहां प्रवेश अर्थात् विराजमान होना निर्दिष्ट किया गया है। इसी धारणा से इसे 'परम परार्ध' कहा है। यह पर–ब्रह्म का अर्ध–स्थान है, तथा परम-उत्कृष्ट स्थान है। कारण यह है, कि ब्रह्म के सर्वत्र विद्यमान रहते हुए भी हृदयदेश के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं उसका आत्माद्वारा साक्षात्कार सम्भव नहीं। केवल हृदयदेश में साक्षात्कार होता

है, यही इसकी उत्कृष्टता है। ब्रह्मज्ञानियों तथा अन्य समस्त विद्वान् आचार्यों ने इन दोनों को छाया और आतप के समान परस्पर विलक्षण बतलाया है। जीवात्मा इष्टानिष्ट कर्मों को करता उनके फलों को भोगता, देहादिसम्बन्ध से जन्म-मरण के चक्कर में आता है, ब्रह्म इन सबसे रहित है; यद्यपि चेतन दोनों हैं। इसप्रकार उक्त सन्दर्भ में जीवात्मा और परमात्मा इन दो का वर्णन है।

इसीके अनुसार अगले सन्दर्भ [कठ० १।३।२] में ब्रह्म का इस रूप में निरूपण किया गया—जो अविनाशी परब्रह्म संसार सागर से पार उतरने की इच्छा रखने वालों के लिये निर्भय स्थान है, और इसीकारण जो जीवनयज्ञ का अनुष्ठान करने वालों के लिये सेतु के समान है, क्योंकि उसीके साक्षात्कार और अनुग्रह से संसार सागर को पार किया जासकता है। कर्मानुष्ठानसम्पत्ति से अपने अन्तःकरणों को पवित्र कर हम उस परब्रह्म को प्राप्त करने में समर्थ हों।

इसके आगे दो सन्दर्भों [कठ० १।३।३-४] में भोक्ता जीवात्मा का स्पष्ट वर्णन है। इसप्रकार जिन दो का प्रथम सन्दर्भ में संकेत किया गया, उन दोनों का विवरण अगले तीन सन्दर्भों में यथाक्रम दिया है, स्पष्टरूप से वहां प्रथम ब्रह्म तथा आगे भोक्ता आत्मा का निर्देश है। इसके आगे प्रसंग की समाप्ति तक उपासक भोक्ता आत्माद्वारा उपास्य ब्रह्म को किन उपायों से प्राप्त किया जाना चाहिये, इसका प्रतिपादन है। इससे स्पष्ट होता है, कि प्रथम सन्दर्भ में द्विवचनान्त पदों से जिन दो तत्त्वों का संकेत है, वे जीवात्मा-परमात्मा हैं, अन्य किन्हीं दो के संकेत की यहां सम्भावना नहीं है।

प्रकरण के उपसंहार [कठ० १।३।८, ९] में उस 'पद' का उल्लेख है, उसे अध्वा का पार और विष्णु [ब्रह्म] के परम पद के रूप में निर्दिष्ट किया है। यह वही 'पद' है, जिसे प्रथम 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति' [कठ० १।२।१५] में स्मरण किया है, तथा उसे 'ओम्' बताया है। फलतः प्रकरण के उपक्रम-उपसंहार से यह निश्चित होता है, कि 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यादि सन्दर्भ में जीवात्मा-परमात्मा का निर्देश है।

ब्रह्मदर्शन की भावना से गुहा में अथवा हृदय के अन्दर ब्रह्म का विद्यमान होना अध्यात्म प्रकरणों में प्रायः सर्वत्र निर्दिष्ट किया है। इसके लिये देखें—कठ उपनिषद् [१।२।१२॥ १।२।२०], यजुर्वेद [३२।८], अथर्ववेद [१०।८।४३], छान्दोग्य उपनिषद् [८।३।३] आदि ॥११॥

सूत्रकार आचार्य पूर्वोक्त अर्थ की पुष्टि में अन्य हेतु उपस्थित करता है—

विशेषणाच्च ॥१२॥

[विशेषणात्] विशेषण-भेद करने से [च] भी। उपनिषद् के उक्त प्रसंग में दिये गये विशेषणों-भेदक पदों से भी यह निश्चय होता है, कि उक्त वाक्य में जीवात्मा और परमात्मा का निर्देश है।

कठ उपनिषद् के इस प्रकरण में उपक्रम से उपसंहार तक विभिन्न विशेषणों के साथ जीवात्मा और परमात्मा का प्रतिपादन किया गया है। नचिकेता तृतीय वर के द्वारा यम से आत्मा के विषय में जानना चाहता है। 'आत्मा' पद जीवात्मा और परमात्मा दोनों के लिये शास्त्र में प्रयुक्त होता है। उसके अनुरूप उपनिषत्कार ने इन्हीं दोनों का वर्णन उस प्रकरण में किया है। 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु, बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च' [कठ० १।३।३]। आत्मा को रथी समझ तथा शरीर को रथ; बुद्धि को सारथि और मन को रास जान। यहां जीवात्मा को शरीररूप रथ का स्वामी कल्पना किया है; बुद्धि और मन यथाक्रम सारथि एवं रास के रूप में रथ-संचालन के लिये साधन बताये हैं। शरीर, बुद्धि, मन आदि विशेषणों से निश्चित होता है, कि यह जीवात्मा का वर्णन है।

आगे [१।३।६ में] ज्ञेय तथा प्राप्तव्य ब्रह्म का प्रतिपादन है—'विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः। सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' जिस जिज्ञासु व्यक्ति का शुद्ध ज्ञानयुक्त बुद्धि सारथि है और शुद्ध मन रास है, वह अपने मार्ग के पार पहुंच जाता है, वह विष्णु [परमात्मा] का परम पद [स्वरूप] है। यहां गन्ता जीवात्मा के अतिरिक्त गन्तव्य-प्राप्तव्य [जीवात्मा के प्राप्त करने योग्य अन्तिम लक्ष्य] रूप में परमात्मा को बताया है। इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए उपनिषत्कार ने अन्त [कठ० १।३।१५] में कहा—जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस तथा नित्य अगन्ध है, अनादि अनन्त है, प्रकृति से परे शाश्वत तत्त्व है, उसको जानकर मृत्युमुख से छुटा जाता है। यहां 'अशब्द' आदि विशेषण ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं; तथा उसका साक्षात्कार होजाने पर मृत्युमुख से छूटने वाले जीवात्मा का संकेत करते हैं। जीवात्मा देहादिसम्बन्ध से जन्म-मरण आदि के बन्धन में आता है, जैसाकि अभी रथ-रथिरूपक से स्पष्ट किया गया। देहधारण कर सांसारिक भोगों के साथ ब्रह्मजिज्ञासा होने पर समाधि आदि द्वारा उसे जान मोक्ष को प्राप्त होना, यह सब कथन जीवात्मा के पृथक् अस्तित्व का साधक है। इसप्रकार 'ऋतं पिबन्तौ' सन्दर्भ में प्रतिपादित दो तत्त्व जीवात्मा-परमात्मा हैं, क्योंकि इसके आगे उपसंहार सन्दर्भों में इनके लिये जो विभिन्न विशेषण दिये गये हैं, उनसे यह स्पष्ट है।

इस सन्दर्भ से पूर्व उपक्रम में भी 'तं दुर्दर्शं' [कठ० १।२।१२], 'सर्वे वेदा यत्पदं' [कठ० १।२।१५], 'न जायते म्रियते' [कठ० १।२।१८] इत्यादि सन्दर्भों द्वारा परमात्मा और जीवात्मा का उनके बोधक विशिष्ट पदों के साथ स्पष्ट वर्णन है। फलतः 'ऋतं पिबन्तौ' सन्दर्भ में इन्हीं दोनों का वर्णन समझना चाहिये।

अध्यात्म प्रकरणों में अन्यत्र जहां इसप्रकार दो तत्त्वों का वर्णन हो, वहां भी जीवात्मा-परमात्मा का कथन समझना चाहिये। जैसे—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' [ऋ० १।१६४।२०॥ मुण्ड० ३।१।१॥ श्वेता० ४।६] में 'दो सुपर्ण' कोई दो पक्षी नहीं

समझने चाहियें। यहां आत्मविषयक प्रसंग है, किन्हीं पक्षियों का ग्रहण नहीं किया जा-सकता। आगे 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इन दोनों में से एक स्वादु फल को खाता है, इस भोगरूप लिंग से जीवात्मा का वर्णन स्पष्ट होता है। जीवात्मा स्वकृतकर्मफलों को देहबन्धन में आकर भोगा करता है। इसके विपरीत 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इस अन्तिम वाक्य में अनशन और चेतन लिंग से परमात्मा का वर्णन स्पष्ट होता है। भोग चेतन में होसकता है, अनशन-भोग का न होना जड़ में भी रहता है, इसलिये अभिचाकशीति' वह केवल अपने चेतनस्वरूप से प्रकाशित रहता है, यह लिंग अनशिता-अभोक्ता ब्रह्म का बोधक है। इसप्रकार उक्त मन्त्र में जीवात्मा-परमात्मा का वर्णन स्पष्ट है।

जहां उपनिषदों में इस मन्त्र का उल्लेख हुआ है, उसके आगे के सन्दर्भ [मुण्ड० ३।१।२॥ श्वेता० ४।७] में द्रष्टा और द्रष्टव्यभाव से यथाक्रम जीवात्मा-परमात्मा का विशिष्टरूप से वर्णन उपलब्ध होता है। ऐसा वर्णन उस अर्थ को पुष्ट करता है, जो 'ऋतं पिबन्तौ' के विषय में प्रथम प्रस्तुत किया गया।

पैङ्गिरहस्यब्राह्मण के अनुसार इस ऋचा [ऋ० १।१६४।२०] में बुद्धि और क्षेत्रज्ञ [जीवात्मा] का वर्णन समझना, उक्त उपनिषदों तथा मन्त्र की भावना से विपरीत है। आचार्य शंकर ने इस ब्राह्मण में की गई प्रस्तुत ऋचा [१।१६४।२०] की व्याख्या के अनुसार इसमें वर्णित दो तत्त्व—बुद्धि और जीवात्मा—माने जाने की पुष्टि की है। इस प्रसंग में आचार्य ने शंका उठाई, कि यदि यहां दो तत्त्व—बुद्धि और जीवात्मा हैं, तो 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' यह अचेतन बुद्धि में फल का भोग कैसे सम्भव होगा? क्योंकि भोग एक अनुभूति है, जो चेतन का धर्म है। तथा 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' यह कथन भी फलों का भोग करनेवाले जीवात्मा के लिये सम्भव नहीं होसकता। आचार्य ने इसका जो समाधान प्रस्तुत किया है, वह केवल अपने अशास्त्रीय विचार को इस ब्राह्मणकथन के आधार पर पुष्ट करने की भावना से लीपापोतीमात्र है। आचार्य का कहना है, कि बुद्धि में भोक्तृत्त्व का अध्यारोप है, और यह कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि और आत्मा के पारस्परिक स्वभाव को न जानने के कारण कल्पना कर लिया गया है। परमार्थ दृष्टि से तो कर्तृत्व-भोक्तृत्व न बुद्धि का होसकता, अचेतन होने से; और न क्षेत्रज्ञ [जीवात्मा] का होसकता, अविकारी होने से।

आचार्य का उक्त शंका के समाधान में यह कथन सर्वथा शिथिल है। कहीं किसी-का अध्यारोप उसी अवस्था में माना जाता है, जब अन्यत्र उसकी वास्तविक सत्ता हो। बुद्धि में भोक्तृत्व के आरोप के लिये भोक्तृत्व की वस्तुसत्ता कहीं अन्यत्र स्वीकार करनी होगी। वह केवल चेतन में सम्भव है, तब जीवात्मा के भोक्तृत्व को झुठलाया नहीं जा-सकता। इसलिये उक्त ऋचा के तृतीयचरण से अचेतन बुद्धि का संग्रह किया जाना अशक्य है। फिर बुद्धि और जीवात्मा के अन्योन्य स्वभाव को न पहचानने के कारण

कर्तृत्व-भोक्तृत्व की कल्पना का जो कथन है, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि किसी तत्त्व को यथार्थ जानना, अथवा अन्यथा जानना केवल चेतन का धर्म है, अचेतन बुद्धि के लिये ऐसा कथन असंगत है। यह समझना भी अशास्त्रीय एवं अतात्त्विक है, कि आत्मा को सुख-दुःख आदि की अनुभूति से उसमें कोई विकार होजाता है। वस्तुतः किसीकी अनुभूति करना आत्मा का स्वभाव है। किसी भी अनुभूति से आत्मा के चैतन्यस्वरूप की पुष्टि होती है, न कि उसमें किसी विकार की सम्भावना। हर्ष शोक आदि आत्मा के चैतन्यस्वरूप को विकृत नहीं करते। आत्मा वस्तुतः अविकारी अपरिणामी तत्त्व है। ऐसी स्थिति में आवश्यक है, कि सुखादि का अनुभव आत्मा को होना मानाजाय, तब ऋचा के चतुर्थचरण से सर्वथा अभोक्ता परमात्मा का निर्देश माना जासकता है, भोक्ता आत्मा का नहीं। उक्त ब्राह्मण के आधार पर आचार्य ने जीवात्मा-परमात्मा को एक समझने का निष्फल प्रयास किया है ॥१२॥

जीवात्मा के निवासस्थान मस्तिष्कगत हृदयदेश में साक्षात्कार की भावना से परमात्मा के प्रवेश के कथन की वास्तविकता को समझकर शिष्य जिज्ञासा करता है, शरीर के अन्य अंगों में निवास करते हुए भी उनसे भिन्न तत्त्व का 'अन्तर' पद के प्रयोग द्वारा जो निर्देश देखा जाता है, वह तत्त्व क्या होना चाहिये? क्या जीवात्मा अथवा परमात्मा? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अन्तर उपपत्तेः ॥१३॥

[अन्तरः] अन्तर–भिन्न (ब्रह्म है) [उपपत्तेः] उपपन्न-युक्तियुक्त होने से। निर्दिष्ट प्रसंगों में 'अन्तर' पदद्वारा कहा गया तत्त्व ब्रह्म है, क्योंकि वह प्रसंग ब्रह्म के वर्णन में उपपन्न होसकता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् [३।७।१६–२३] का वर्णन कतिपय देहाङ्गों में उस तत्त्व की स्थिति और उनसे उसका अन्तर–भेद बतलाता है–'यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः'। अन्तर्यामी तत्त्व को बतलाने के लिये यह प्रसंग है। याज्ञवल्क्य ने उद्दालक आरुणि से कहा–जो प्राण में ठहरा हुआ प्राण से भिन्न है, जिसको प्राण नहीं जानता, प्राण जिसका शरीर है, जो भिन्न रहता हुआ प्राण का नियमन करता है, वह अमृत आत्मा तेरा अन्तर्यामी है। इसीप्रकार आगे वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वक्, रेतस् में उस आत्मा की स्थिति बता, उनसे भिन्न और उनका नियमन करने वाला कहा है।

ऐसे ही छान्दोग्य उपनिषद् [४।१५।१] में 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच' यह जो आंख में पुरुष दीखता है, यह आत्मा है, यह कहा। बृहदारण्यक में चक्षु के साथ अन्य अंगों का उल्लेख है, यहाँ केवल चक्षु का। इस प्रसंग में यद्यपि 'अन्तर' पद का निर्देश नहीं है। सूत्ररचना के अनुसार इसका मुख्य लक्ष्य वही प्रसंग

होना चाहिये, जहां 'अन्तर' पदद्वारा ब्रह्म का संकेत हो; परन्तु छान्दोग्य के सन्दर्भ में 'अक्षिणि' पद सप्तम्यन्त है। इससे प्रकट होता है, कि उपनिषत्कार विशिष्ट अर्थ की प्रतिपत्ति के लिये चक्षु को पुरुष के अधिष्ठान अथवा शरीर के रूप में प्रस्तुत करना चाहता है, जैसाकि बृहदारण्यक में स्पष्ट चक्षु आदि को उस आत्मा का शरीर कहा है, यद्यपि पहला निर्देश वहां भी 'चक्षुषि तिष्ठन्' आदि सप्तमी विभक्ति के द्वारा हुआ है, एकप्रकार से उसीका विवरण है–'यस्य चक्षुः शरीरम्'। इस कथन का केवल इतना तात्पर्य है, कि वह आत्मा अथवा पुरुष वहां विराजमान है।

शिष्य की जिज्ञासा है, कि यहां यह आत्मा या पुरुष जीवात्मा समझना चाहिये अथवा परमात्मा ? सन्देह का कारण यह है, कि शरीर में अधिष्ठाता जीवात्मा है, चक्षु आदि इन्द्रियां अथवा शरीर के अन्य अंग उसीसे अधिष्ठित हैं और उसीसे नियन्त्रित। इसलिये इसे जीवात्मविषयक प्रसंग माना जासकता है। सूत्रकार ने कहा–ऐसा समझना ठीक नहीं, 'अन्तर' पदघटित अथवा उससे अभिलक्षित प्रसंग में ब्रह्म का वर्णन संभव है, क्योंकि उस समस्त प्रसंग को देखते हुए वर्णन ब्रह्मविषय में उपपन्न होसकता है, अन्यत्र नहीं।

बृहदारण्यक के उसी प्रसंग में देहांगों के अतिरिक्त सबसे प्रथम पृथिवी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्यु, आदित्य, दिशा, चन्द्र, तारका, आकाश, तमस्, तेजस् तथा सब भूतों में उस आत्मतत्त्व की स्थिति को बताया, और उसे सबका अन्तर्यामी नियन्ता कहा है। देहमात्र के अधिष्ठाता जीवात्मा की ऐसी स्थिति संभव नहीं, जो समस्त विश्व का अन्तर्यामी नियन्ता होसके। याज्ञवल्क्य उद्दालक आरुणि के सन्मुख उस सर्वान्तर्यामी को बतलाकर कह रहा है–'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' यह अमृत आत्मा तेरा अन्तर्यामी है। तेरे अन्दर बैठकर इसका नियन्त्रण कर रहा है। उद्दालक आरुणि प्रतीकमात्र है जीवात्मा का। अभिप्राय है, जो अमृत आत्मा समस्त विश्व में अन्तर्यामीरूप से विद्यमान है, वही समस्त जीवात्माओं में व्याप्त है, उनका भी अन्तर्यामी होने से अनन्त आत्माओं की व्यवस्था करने में समर्थ है। यह स्थिति केवल ब्रह्म में संभव है, अन्यत्र नहीं। फलतः उक्त प्रसंग में पृथिव्यादि समस्त भूत-भौतिक से भिन्न 'अन्तर' पदनिर्दिष्ट ब्रह्म समझना चाहिये, अन्य कोई तत्त्व नहीं।

जीवात्मा में अन्तर्यामीरूप से ब्रह्म विराजमान रहता है, यह तथ्य न केवल उद्दालक के प्रति 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' इस कथन से प्रकट होता है, अपितु स्पष्टरूप से इसी प्रसंग में इसका पृथक् निर्देश है। बृहदारण्यक [३।७।२२] में काण्वशाखा के अनुसार 'विज्ञान' पद से तथा माध्यन्दिनशाखा के अनुसार शतपथ ब्राह्मण [१४।६।७।३०] में 'आत्मा' पद से जीवात्मा का निर्देश कर उसमें ब्रह्म का अन्तर्यामीरूप से विद्यमान होना बताया है। इससे यह भी स्पष्ट होजाता है, कि जीवात्मतत्त्व ब्रह्म से सर्वथा भिन्न है। ऐसी स्थिति किसी अविद्या आदि के कारण नहीं होती, प्रत्युत

वास्तविक है।

छान्दोग्य [४।१५।१] में भी 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' कहकर उसे आत्मा बताया है, 'एष आत्मा इति।' आगे स्पष्ट किया, कि वह आत्मा कौन है ? कहा—'एतद् अमृतं अभयं एतद् ब्रह्म इति।' पुरुष पद से जिस आत्मा के विषय में कहा गया—यह अक्षि में दीखता है, वह आत्मा अमृत अभय ब्रह्म है। आंख में पानी या घृत आदि की बूंद डालीजाय, वह कोयों की ओर बह जाती है, अक्षिस्थान में चिपकी नहीं रहजाती, यह ऐसा निर्दोष स्थान है। यह स्थान ब्रह्म का बताये जाने से इतना तात्पर्य है, कि वह ब्रह्म निर्लेप निष्कलङ्क निरञ्जन है। आगे उस ब्रह्म को 'संयद्वाम' कहा, क्योंकि समस्त प्राप्तव्य उसको प्राप्त है, वह आप्तकाम अथवा पूर्णकाम है, अपहतपाप्मा है। उसे 'वामनीः' कहा, वह प्राणियों के लिये समस्त कर्मफलों का दाता है। वह 'भामनीः' कहा गया, क्योंकि वह समस्त लोक-लोकान्तरों में प्रकाशित है। उसीके प्रकाश से, उसीके अस्तित्व से समस्त विश्व का अस्तित्व है, 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' [कठ० २।२।१५; श्वे० ६।१४]। यह सब वर्णन ब्रह्म में संभव है, अतः इन प्रसंगों में उसीका वर्णन समझना चाहिये।

आचार्य शंकर ने इस सूत्र की व्याख्या में केवल छान्दोग्य [४।१५।१] सन्दर्भ को लक्ष्यदेश बताया है। पर इसी सन्दर्भ को आचार्य ने गत सूत्र [१।१।२०] का भी लक्ष्य कहा है। वस्तुतः प्रस्तुत सूत्र का मुख्य लक्ष्यप्रदेश बृहदारण्यक-सन्दर्भ है, अमुख्यतया छान्दोग्य सन्दर्भ भी। अगले सूत्रों की संगति दोनों को लक्ष्य मानने पर अधिक युक्त प्रतीत होती है। आचार्य ने स्वयं अगले सूत्र [१४] की व्याख्या बृहदारण्यक सन्दर्भ के आधार पर प्रस्तुत की है। यद्यपि जिस भावना से आचार्य ने उस सन्दर्भ का यहां उल्लेख किया है, वह भावना उससे प्रकट नहीं होती। आचार्य का दृष्टिकोण यह है, कि सर्वगत ब्रह्म का किसी एक विशिष्टस्थान में विद्यमान होने का कथन उसकी उपासना की भावना से किया जाता है, जैसाकि बृहदारण्यक के उक्त सन्दर्भ [३।७] में है। उसीके समान छान्दोग्य [४।१५।१] में सर्वगत ब्रह्म का अक्षि-स्थाननिर्देश है। वस्तुतः बृहदारण्यक के उक्त सन्दर्भ में किसी उपासना का प्रसंग नहीं है। वहां केवल समस्त विश्व से भिन्न एवं समस्त विश्व में अन्तर्यामी ब्रह्म का निरूपण है। प्रस्तुत सूत्र में उस सन्दर्भ का केवल इतना अंश लक्ष्यभूत है, कि ब्रह्म का समस्त विश्व से 'अन्तर' है, भेद है। उसे अन्तर्यामी बताये जाने वाले अंश का विवेचन अठारहवें सूत्र से प्रारम्भ होनेवाले अधिकरण में किया गया है। छान्दोग्य सन्दर्भ [४।१५।१] द्वारा अक्षि में स्थान बताने का तात्पर्य स्वयं आचार्य ने ब्रह्म की अपहतपाप्मता व निरञ्जनता प्रकट किया है। प्रसंग से भी यही बात स्पष्ट होती है। ब्रह्मस्वरूप के चिन्तन की भावना से भले ही उसे उपासना के लिये उपयोगी मानलिया जाय।

दोनों सूत्रों [१।१।२०, तथा १।२।१३] का लक्ष्यप्रदेश एक मानने पर सूत्रकार

ने भिन्न अधिकरणों की रचना क्यों की, इसका कोई समाधान नहीं होपाता। जैसाकि अभी ऊपर बताया, आचार्य ने स्वयं चौदहवें सूत्र के भाष्य में बृहदारण्यक सन्दर्भ का अवतरण किया है, तथा वहां सीधा 'अन्तरः' पदद्वारा विश्व से भिन्न ब्रह्म का निरूपण है, इसलिये प्रस्तुत सूत्र का लक्ष्य मुख्यतया बृहदारण्यक सन्दर्भ को मानना सूत्रकार की भावना के अधिक अनुकूल है ॥१३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, ब्रह्म का चक्षुस्थित अथवा अक्षिस्थितरूप में वर्णन करने का क्या प्रयोजन है ? सूत्रकार आचार्य ऐसे वर्णन का प्रयोजन बताने की भावना से उपनिषद् के उक्त सन्दर्भों में 'अन्तर' पदद्वारा ब्रह्म अभिलक्षित है, इसमें अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥१४॥

[स्थाना-ऽऽदिव्यपदेशात्] स्थान आदि में कथन किये जाने से [च] भी। चक्षु आदि देहांगों के अतिरिक्त पृथिवी आदि में भी स्थिति का कथन होने और उनसे भिन्न रहने का निरूपण होने से उपनिषद् के उक्त प्रसंग में वर्णनीय तत्त्व ब्रह्म है।

बृहदारण्यक उपनिषद् [३।७।१६–२३] में यद्यपि देहाङ्गों तथा जीवात्मा के अन्दर ब्रह्म की स्थिति और उनसे भिन्नता का वर्णन है, पर उसी प्रसंग के प्रारम्भ में पृथिव्यादि में ब्रह्म के अस्तित्व और उनसे ब्रह्म की भिन्नता का प्रतिपादन हुआ है। ऐसा वर्णन जीवात्मा आदि के विषय में होना संभव नहीं, इसलिये उक्त प्रसंग में 'अन्तर' पद से अभिलक्षित ब्रह्म समझना चाहिये। प्रथम सूत्र की व्याख्या में इस भावना को स्पष्ट कर दिया गया है।

उपनिषद् में जिन अनेकानेक पदार्थों का नाम लेकर उनमें ब्रह्म की स्थिति और उनसे ब्रह्म का भेद बतलाया है, वे पदार्थ दो प्रकार के हैं—एक निर्देश्य–इन्द्रियग्राह्य, दूसरे अनिर्देश्य–इन्द्रियातीत। इनमें पृथिवी, जल, अग्नि आदि पदार्थ पहले प्रकार के हैं, तथा आकाश, दिशा, आत्मा आदि दूसरे प्रकार के। सूत्र के 'स्थान' पद से पहले प्रकार के पदार्थों का तथा 'आदि' पद से दूसरे प्रकार के पदार्थों का संग्रह समझना चाहिये। सूत्र के 'स्थानादि' और 'व्यपदेश' पदों का षष्ठीसमास न समझकर सप्तमीसमास करना चाहिये। कारण यह है, कि उपनिषद् द्वारा विविध पदार्थों में ब्रह्म का व्यपदेश हुआ है, केवल स्थान का व्यपदेश कहना कोई विशिष्ट महत्त्व नहीं रखता, मुख्य प्रतिपाद्य तो समस्त स्थानों में ब्रह्म का व्यपदेश है। संभव है, किसी स्थल में ब्रह्मोपासना की दृष्टि से स्थानविशेष का निर्देश हो, पर सर्वत्र स्थाननिर्देश इसी भावना से है, यह कथन अशास्त्रीय है। उपासक अपनी भावना के अनुसार किन्हीं अनपेक्षित स्थानों की उपासना के लिये कल्पना करले, यह अलग बात है, पर उन सबको शास्त्रीयरूप देने का प्रयास व्यर्थ है।

प्रस्तुत प्रसंग विविध स्थानों में ब्रह्म की सत्ता का निरूपण कर समस्त विश्व में उसकी स्थिति और विश्व से भेद बतलाकर विश्व पर उसके नियन्त्रण का प्रतिपादन करता है। चक्षु आदि समस्त निर्देश्यानिर्देश्य पदार्थों में उसकी स्थिति आदि बतलाने का यही प्रयोजन है, कि उसके सर्वनियन्ता होने का भान होसके। उपासना में ब्रह्म का यह स्वरूप लक्ष्य एवं ध्येय रहता है। इसी रूप को लक्ष्य कर ब्रह्म की उपासना की जाती है, यही उक्तप्रकार के वर्णनों का प्रयोजन है, अन्ततः वह ब्रह्मस्वरूप का निश्चायक है ॥१४॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है, बृहदारण्यक के प्रसंग [३।७।३–२३] में स्थानादि व्यपदेश से ब्रह्म का वर्णन है, यह समझ लिया; पर छान्दोग्य में तो केवल 'अक्षि' में पुरुषसत्ता कही है, वहां उतने वर्णन [४।१५।१] में इस अर्थ के पोषक तत्त्व क्या हैं? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥१५॥

[सुखविशिष्टाऽभिधानात्] सुखविशिष्ट के कथन से [एव] ही [च] और, तथा। पहले कहे चिह्नों को छोड़कर सुखविशिष्ट कहेजाने से ही यह अर्थ पुष्ट होता है, कि छान्दोग्य के उक्त प्रसंग में 'पुरुष' पद से ब्रह्म का वर्णन है।

छान्दोग्य उपनिषद् [४।१५।१] में 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति' यह जो आंख में पुरुष दीखता है यह आत्मा है। इसके अनन्तर आगे 'ब्रह्म' पदनिर्देश के साथ उसे अमृत, अभय, निरञ्जन आदि बताकर तथा अन्य कतिपय आधारों पर यह स्पष्ट किया है, कि यह ब्रह्म का वर्णन है, उन आधारों को प्रस्तुत अधिकरण के प्रथम सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट कर दिया है। यहां 'पुरुषो दृश्यते' कहा है। दर्शनविषयक कथन बृहदारण्यक के प्रसंग में नहीं है। यह क्रियापद उपासना के फलभूत ब्रह्मदर्शन का निर्देश है। ब्रह्मदर्शन केवल उस अलौकिक आनन्दानुभूति का नाम है, जो ब्रह्म का स्वरूप है, और उपासना व समाधि आदि द्वारा जीवात्मा उसे प्राप्त करपाता है। यहां 'दर्शन' का और कोई अर्थ नहीं है। इसी भावना से उपनिषद् [तैत्ति० १] में अन्यत्र कहा—त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि' इत्यादि। यहां अक्षि का निर्देश उपासना की भावना के अतिरिक्त ब्रह्म की निर्लेप स्थिति को अधिक अभिव्यक्त करता है, जो समस्त विश्व में समाए हुए ब्रह्म की भिन्न सत्ता का द्योतक है। इसप्रकार यहां ब्रह्मवर्णन के निश्चायक कतिपय चिह्न स्पष्टरूप से निर्दिष्ट हैं।

इनके अतिरिक्त उक्त अर्थ की पुष्टि इस प्रसंग के पूर्वप्रकरण से होती है। सत्यकाम जाबालि के शिक्षाकेन्द्र में छात्र उपकोसल ने बारहवर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास किया। अग्निस्वरूप आचार्यों ने उसे उपदेश किया—'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति' प्राण [चेतनरूप] है ब्रह्म, कं [आनन्दरूप] है ब्रह्म, खं [व्यापकरूप] है ब्रह्म। ब्रह्म·

चारी उपकोसल ने कहा–प्राण अर्थात् चेतनस्वरूप है ब्रह्म, यह मैं जानता हूं; कं और खं को तो नहीं जानता। आचार्यों ने कहा–जिसको तुम चेतनस्वरूप ब्रह्म जानते हो, वही कं और खं है; जो कं है वही खं है और जो खं है वही कं है। एक ब्रह्म का स्वरूप ही इन पदों से अभिलाषित होता है [छा० ४।१०।५]। वह ब्रह्म चेतनस्वरूप आनन्द-स्वरूप और सर्वव्यापक है। उपासना में ब्रह्म का यह स्वरूप ध्येय माना गया है।

आगे आचार्यों ने उपकोसल को कहा–जो आत्मा आदित्य, चन्द्र और विद्युत् आदि में है, वह हमारे अन्दर है। इस भावना से उपासना करने वाला व्यक्ति आत्म-तत्त्व को जानलेने पर कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता। यह आत्मविद्या है, इससे प्राप्त होनेवाली गति [परिणाम अथवा फल] के विषय में प्रधानाचार्य स्वयं तुम्हें उपदेश देंगे। उपकोसल जब आचार्य के सन्मुख उपस्थित हुआ, आचार्य ने कहा–सोम्य ! तुम्हारी मुखाकृति एक ब्रह्मज्ञानी के समान प्रतीत होरही है, तुम्हें किसने उपदेश किया ? शिष्य ने सब घटना आचार्य को बता दी। आचार्य ने कहा–मैं तुम्हें वह तत्त्व सम-झाऊंगा, जैसे कमल का पत्ता पानी में रहता भी निर्लिप्त रहता है, वैसे ही जो उस तत्त्व को जानलेता है, वह सब पापकर्मों से निर्लिप्त रहता है, संसार में रहता भी सांसारिक प्रभावों से ऊपर बना रहता है। इसके आगे ही 'य एषोऽक्षिणि' इत्यादि सन्दर्भ द्वारा आचार्य ने उस तत्त्व का उपदेश किया। इस सब प्रसंग से निश्चित होता है–चेतन, आनन्द एवं व्यापकस्वरूप ब्रह्म का जो प्रथम उल्लेख हुआ, उसीका वर्णन प्रस्तुत [illegible] में किया गया है। फलतः यहां आनन्द [सुख] विशिष्ट आत्मा का कथन होने से यह [illegible] का वर्णन संभव है, जीवात्मा आदि का नहीं। वह तो अनेकबार दुःखादि से संत[illegible] जाता है ॥१५॥

अग्नि-आचार्यों ने उपकोसल को आत्मविद्या का उपदेश देकर कहा, इस विद्या की गति [फल] के विषय में आचार्य स्वयं बतायेंगे। आचार्य ने इस विषय में जो कहा, उसे प्रस्तुत प्रसंग के ब्रह्मविषयक वर्णन में हेतुरूप से उपस्थित करते हुए [illegible]कार ने इसप्रकार उपनिबद्ध किया—

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥१६॥

[श्रुतोपनिषत्क-गत्यभिधानात्] उपनिषद्–आत्मज्ञान के रहस्य को सुनने [जानने] वाले की गति के कथन से [च] भी। आत्मज्ञानी की जो गति क[illegible] है, उसी गति के यहां कहेजाने से यह ब्रह्मविषयक वर्णन समझना चाहिये।

आत्मज्ञानी अथवा ब्रह्मवेत्ता की जो गति उपनिषदों एवं अन्यत्र [illegible] गई है, उसको देवयानगति अथवा देवयानमार्ग कहाजाता है। प्रश्न उपनिषद् [१।१०] में इसका वर्णन है—

'अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्य [illegible]भिजयन्त

एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्त्तन्त इत्येष निरोधः।'

तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और ज्ञानद्वारा आत्मा को जानकर उत्तरमार्ग से जाता हुआ ज्ञानी आदित्यस्थिति को प्राप्त होता है। यह श्रेष्ठ जीवन का आधार है, यह अमृत अभय है, यह सर्वोत्कृष्ट गति है; इसको प्राप्त होकर आत्मा अनिश आवर्त्तमान जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आता। यह ब्रह्मवेत्ता की देहत्याग के अनन्तर गति का वर्णन है। ठीक ऐसा ही कथन छान्दोग्य के उक्त प्रसंग [४।१५।५] में है। वहां का सन्दर्भ है—

'अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षम्······तत् पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति, एष देवपथो ब्रह्मपथः। एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते।'

ब्रह्मवित् की गति का यह वर्णन है—देहत्याग के अनन्तर ब्रह्मवेत्ता का शव-संस्कार कियाजाय या न कियाजाय, वे आत्मा अर्चि आदि से अभिलक्षित मार्ग को पकड़कर ब्रह्म को प्राप्त होजाते हैं। उनकी इस गति में किसी मानव का सहयोग नहीं रहता, प्रत्युत वह अमानव पुरुष [ब्रह्म] का अनुग्रहमात्र है, जो ब्रह्मवेत्ताओं को ब्रह्म तक पहुंचाता है। गीता [८।२४] में ब्रह्मवित् की गति का ऐसा वर्णन है। छान्दोग्य में अक्षिपुरुष के वेत्ता की यही गति उक्त सन्दर्भद्वारा प्रकट की गई है। इसप्रकार आत्म-रहस्य को सुनने जानने वाले व्यक्ति की गति का यह कथन अक्षि-पुरुष के ब्रह्म होने का निश्चायक है। इस गति को 'देवपथ' अथवा 'ब्रह्मपथ' कहा है। देवों—आत्मज्ञानियों के द्वारा यह मार्ग ग्रहण किया जाता है, इसलिये यह 'देवपथ' तथा ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग होने से 'ब्रह्मपथ' है। इस रीति पर जो ब्रह्म को प्राप्त होजाते अर्थात् मोक्षस्थिति को पालेते हैं, वे इस मानव आवर्त्त में—फिर जन्म-मरण के निरन्तर चक्कर में—नहीं पड़ते। फलतः यह मार्ग ब्रह्मवेत्ताओं का है, इससे अक्षि-पुरुष का ब्रह्म होना निश्चित होता है।

ब्रह्म की प्राप्ति का मुख्य साधन ब्रह्मज्ञान है। तैत्तिरीय उपनिषद् [२।१] में कहा—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'। परमोत्कृष्ट अवस्था को जीवात्मा तभी प्राप्त करता है, जब ब्रह्म को साक्षात् करलेता है। अन्यत्र कहा—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' [बृ० ४।४।६] ब्रह्मानन्द का अनुभव करता हुआ ज्ञानी ब्रह्म को प्राप्त होता है। इस आधार पर ब्रह्म की प्राप्ति का कहीं भी कथन इस तथ्य को स्पष्ट करता है, कि यह ब्रह्मज्ञान के फल अथवा उसकी गति का उल्लेख है। जिस मार्ग को 'देवपथ' अथवा 'ब्रह्मपथ' कहा है, वह केवल ब्रह्मज्ञानी का मार्ग है। आचार्यद्वारा उसका वर्णन करने के लिये 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' यह अक्षिपुरुष के कथन के साथ प्रसंग का प्रारम्भ है। उपसंहार में ब्रह्म-ज्ञानी की गति का वर्णन होने से उपक्रम वाक्य में 'अक्षि-पुरुष' से ब्रह्म का ग्रहण करना वाञ्छनीय है॥१६॥

शिष्य आशंका करता है, ब्रह्मज्ञानी की गति के कथन से छान्दोग्य [४।१५।१]

में ब्रह्म का निर्देश रहो, पर बृहदारण्यक [३।७।१६–२३] में जो वर्णन है, वहां जीवात्मा का ग्रहण सम्भव है, क्योंकि प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र आदि देहांगों में जीवात्मा का अवस्थित होना समुचित प्रतीत होता है। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः ॥१७॥

[अनवस्थितेः] अवस्थिति–ठहरना न होने से [असम्भवात्] असम्भव होने से [च] और [न] नहीं [इतरः] अन्य जीवात्मा आदि। ब्रह्म से अन्य जीवात्मा या और कोई तत्त्व उक्त स्थानों में सदा अवस्थित नहीं रहता, तथा अभयत्वादि धर्म जीवात्मा में सम्भव नहीं; इसलिये उक्त प्रसंग में ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा आदि का ग्रहण अयुक्त है।

देह में जीवात्मा का निवास मस्तिष्कगत हृदयदेश है। 'हृदि ह्येष आत्मा' [प्रश्न० ३।६], 'स वा एष आत्मा हृदि' [छा० ८।३।३], 'एष म आत्माऽन्तर्हृदये' [छा० ३।१४।३]। इस विषय में [यजु० ३२।८; मुण्ड० २।१।१०; ३।१।७; तै० २।१] इत्यादि स्थल भी द्रष्टव्य हैं। समाधि आदि के अनन्तर उसी प्रदेश में आत्मा ब्रह्म का साक्षात् कर पाता है। बृहदारण्यक के उक्त प्रसंग [३।७।३–२३] में तो न केवल प्राण, वाक्, चक्षु आदि में उस आत्मा [परमात्मा] की स्थिति बताई है, प्रत्युत पृथिवी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्यु, आदित्य, चन्द्र, तारका आदि का नाम लेते हुए समस्त विश्व में उसके व्यापक होने का वर्णन किया है। जीवात्मा इसप्रकार समस्त विश्व में अवस्थित नहीं रहता; इसलिये उक्त प्रसंग में जीवात्मा का वर्णन समझना अयुक्त है।

जीवात्मा का ऐसा वर्णन सम्भव नहीं है, क्योंकि वह परिच्छिन्न, अल्पज्ञ अल्पशक्ति है। पृथिव्यादि समस्त लोक-लोकान्तरों में उसका व्यापकरूप से निवास असंभव है। फिर उद्दालक आरुणि ने पतञ्चल काप्य को उस सूत्रात्मा के साक्षात्कार का जो फल बताया—वह ब्रह्मवित् वह लोकवित् वह वेदवित् वह देववित् वह सर्ववित् है, इत्यादि—यह सब आत्मा का वर्णन मानने पर सम्भव नहीं। तथा उसके अभय व अनार्त्त [आनन्द] आदि धर्म भी जीवात्मा में सम्भव नहीं। फलतः यह सर्वव्यापी ब्रह्म का वर्णन है, ऐसा निश्चित होता है। इस वर्णन से जीवात्मा और परमात्मा का वस्तुभूत भेद स्पष्टरूप से जाना जाता है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने इस अधिकरण का लक्ष्यप्रदेश बृहदारण्यक उपनिषद् के इस सन्दर्भ को स्वीकार किया है—'यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व इति' [बृ० ३।५।१] जो ही साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो आत्मा सबसे अन्दर है, वह मुझे बतला। यहां आशंका यह है, क्या यह सबसे अन्दर आत्मा जीवात्मा है? जैसा पूर्ववाक्य [बृ० ३।४।१-२] में 'सर्वान्तर' को जीवात्मा बताया है। वहां भी इन्हीं शब्दों में प्रश्न किया गया है। इसका समाधान सूत्रकार ने किया—

'अन्तर उपपत्तेः'

यह सबसे अन्दर आत्मा परमात्मा है। क्योंकि यहां जो धर्म बतलाये हैं—'योऽश-नायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमेति' [बृ० ३।५।१] जो भूख, प्यास, शोक, मोह, बुढ़ापा और मृत्यु की पहुँच से परे है। ये धर्म केवल ब्रह्म में उपपन्न होसकते हैं। और 'यदेव' यह अवधारण भी ब्रह्म में सम्भव होसकता है, जीव में नहीं; क्योंकि ब्रह्म की अपेक्षा जीवात्मा अमुख्य चेतन है। 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः' [श० ब्रा० १४।६।७।३०] जो आत्मा में रहता हुआ आत्मा से अलग है, इत्यादि प्रमाणों के आधार पर जीवात्मा का एक और अन्तरात्मा सिद्ध है। इसलिये पूर्ववाक्य [बृ० ३।४।१-२] जो जीवात्मपरक है, उसमें केवल 'यत्' पद पढ़ा है, 'यदेव' नहीं। वहां 'यः प्राणेन प्राणिति' [बृ० ३।४।१] जो प्राण से सांस लेता है, यह जीवात्मा का चिह्न है। ब्रह्म में 'यदेव' यह अवधारण बनसकता है, क्योंकि ब्रह्म से अन्दर और कोई आत्मा नहीं। जैसा अन्यत्र कहा—'न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' [श्वेता० ६।९], इसका न कोई उत्पन्न करने वाला है, न मालिक। 'साक्षात् अपरोक्षात्' का अर्थ यहां अगौण और अलाक्षणिक है, इसलिये पूर्ववाक्य के साथ रचना के सादृश्य में कोई दोष नहीं।

स्थानादिव्यपदेशाच्च।

स्थान के कहने की उचितता से भी, उक्त वाक्य में 'अन्तर' परमात्मा है। पूर्व वाक्य में प्राण और इन्द्रियों का बोधक होने से जीवात्मा 'सर्वान्तिर' कहा है। उसके अनन्तर यह 'सर्वान्तिर' आत्मा पूर्वोपस्थित आत्मा से भी अन्दर है, यह प्रतीत होता है। सो यह उचित क्रम भी—अर्थात् प्राण और इन्द्रियों से अन्दर आत्मा, उसके भी अन्दर अन्य आत्मा का कहना—परमात्मा को सर्वान्तिर बताता है।

सुखविशिष्टाभिधानादेव च।

सुखविशिष्ट अर्थात् उत्तम सुख के कहने से भी यहां 'सर्वान्तिर' परमात्मा समझना चाहिये। 'योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमेति' [बृ० ३।५।१]; जो भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा और मृत्यु की पहुँच से परे है। इस सन्दर्भ के आधार पर शारीरिक और मानस दुःखों से रहित 'सुखविशेष' का कथन किया है। यह परमेश्वर में सम्भव होसकता है। यहां भूख आदि से रहित होना जो परमेश्वर का गुण है, उसकी प्रशंसा में 'सुख' शब्द का प्रयोग सूत्र में गौणरूप से किया गया है।

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च।

जिन्होंने उपनिषद् [आत्मरहस्य] को पूर्णतया सुन या जान लिया है, उनकी जो गति-प्रव्रज्या [संन्यास] है, उसका यहां वाक्यशेष में कथन है। इससे प्रकट होता है, यहां परमात्मा का ग्रहण अभिमत है। वाक्यशेष में कहा—'एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' [बृ० ३।५।१] इसी आत्मा को जानकर सच्चे ब्राह्मण पुत्रों की कामना से, धन का कामना से और लोकख्याति की कामना से ऊपर उठकर भिक्षावृत्ति का आचरण करते

हैं। आगे कहा–'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' [बृ० ३।५।१]; इसलिये ब्राह्मण पण्डिताई की उपेक्षा कर राग-द्वेष आदि रहित भावना से रहने की इच्छा करे। यह विवक्षित संन्यास की भावना जीवमात्र के ज्ञान से नहीं उभरती। जिसने उपनिषद्वर्णित रहस्य को समझा है, जो वेदान्त का पारदृश्वा है वही यहां ब्राह्मण शब्द का अभिप्राय है। अन्यथा उपनिषद्प्रतिपादित ब्रह्म के अज्ञान में पाण्डित्य की उपेक्षा नहीं होपाती। तथा 'स ब्राह्मणः केन स्यात्' वह ब्राह्मण किस साधन या आचरण से होवे ? इस प्रश्न का उत्तर वहीं दिया–'येन स्यात् तेनेदृश एव' [बृ० ३।५।१], जिस प्रकार से रहे, सर्वथा वह वैसा ही है; अधिक वा न्यून किसी प्रकार से नहीं होता। यह संन्यास की निरतिशय अवस्था का वर्णन परब्रह्म के ज्ञान में उपयुक्त होता है। इसलिये पूर्वोक्त संवादों में दो सर्वान्तिरात्मा जीव और ईश्वर आधाराधेयभाव से बतलाये हैं। एक ही आत्मा नहीं। इसमें [एक आत्मा मानने में] पुनरुक्ति भी आती है, और उत्तरवाक्य जो विवेचनापरक है, उसमें 'सर्वान्तिर' पद का संकोच भी करना पड़ता है।

आशंका होती है, यदि अन्तरात्मा [जीवात्मा] का और अन्तरात्मा मानते हो, तो उसका और अन्तरात्मा कल्पना करने में अनवस्था दोष आयेगा। उत्तर देते हैं—

अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः।

अनवस्था के आने से ईश्वर का और अन्तरात्मा सिद्ध नहीं होता। तथा 'यदेव' इस अवधारण के असम्भव होजाने की आपत्ति से भी और अन्तरात्मा सिद्ध नहीं होता। जीवात्मा का अन्तरात्मा तो परमेश्वर श्रुतिबल से प्रमाणसिद्ध है ॥१७॥

शिष्य आशंका करता है, बृहदारण्यक उपनिषद् के उक्त प्रसंग [३।७।३–२३] द्वारा पृथिव्यादि में रहने वाले तथा पृथिव्यादि से भिन्न जिस आत्मा का निर्देश किया है, वह पृथिव्यादि का अभिमानी देवता अथवा कोई योगसिद्धिप्राप्त जीवात्मा होसकता है; वहां अन्तर्यामीरूप से विद्यमान परमात्मा का वर्णन क्यों माना जाय ? सूत्रकार आचार्य समाधान करता है—

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥१८॥

[अन्तर्यामी] अन्तर्यामी (ब्रह्म है) [अधिदैवादिषु] अधिदैव आदि में [तद्धर्मव्यपदेशात्] उसके धर्मों का कथन किये जाने से। अधिदैव आदि में जिस अन्तर्यामी आत्मा का कथन है, वह ब्रह्म है; क्योंकि वहां ब्रह्म के धर्मों का कथन किया है।

गोतम गोत्र के उद्दालक आरुणि ने कहा–एक अन्तर्यामी आत्मा है, जो इस लोक परलोक और सब भूतों को उनसे भिन्न रहकर नियन्त्रित करता है। उस अन्तर्यामी आत्मा को जो जानलेता है, वह ब्रह्मवित्, देववित्, वेदवित्, भूतवित्, आत्मवित् एवं सर्ववित् होजाता है। याज्ञवल्क्य ! यदि तुम उसे जानते हो, तो बताओ [बृ० ३।७।१-२]।

याज्ञवल्क्य ने कहा—'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः [बृ० ३।७।३]। जो पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी से भिन्न है, जिसको पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है, जो अलग रहकर पृथिवी का नियमन करता है, अर्थात् जो पृथिवी का नियन्ता है, यह अमृत आत्मा तेरा अन्तर्यामी है। याज्ञवल्क्य उद्दालक आरुणि से कहरहा है। जैसे यह अमृत आत्मा पृथिवी से भिन्न रहता हुआ उसका नियन्त्रण करता और उसमें अन्तर्यामीरूप से व्याप्त है, ऐसे ही यह तुम्हारा अन्तर्यामी है, तुम में व्याप्त है

उपनिषद् [बृ० ३।७।३—१४] द्वारा पृथिवी से तेजस् तक अधिदैवत में नियन्ता अन्तर्यामीरूप से ब्रह्म का वर्णन है। इसके अनन्तर [बृ० ३।७।१५] अधिभूत में इसी-प्रकार का वर्णन है। तदनन्तर [बृ० ३।७।१६—२३] अध्यात्म में उक्तप्रकार ब्रह्म का नियन्ता व अन्तर्यामीरूप से वर्णन हुआ है। अधिदैवत में पृथिवी से लगाकर अध्यात्म में रेतस् तक ब्रह्म के वर्णन का प्रकार सर्वथा समान है। उपनिषद् के इस प्रसंग को लक्ष्य कर सूत्रकार ने कहा—अधिदैवत आदि में जो अन्तर्यामी का वर्णन किया गया है, वह ब्रह्म का वर्णन है। कारण यह है, कि यह वर्णन उसीके धर्मों का निर्देश करता है। पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, तारा, द्यु, अन्तरिक्ष, भूत-भौतिक आदि समस्त ब्रह्माण्ड और प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि पिण्ड तथा उसके अधिष्ठाता विज्ञान-आत्मा [जीवात्मा] में एवं अन्धकार प्रकाश आदि सब अवस्थाओं में जो आत्मा व्याप्त रहता हुआ इन सबका नियन्त्रण करता है, वह ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई होना सम्भव नहीं। पृथिवी आदि समस्त ब्रह्माण्ड एवं देहादि पिण्ड [जीवात्मासहित] में व्याप्त रहकर सबका नियन्त्रण करना, यह केवल ब्रह्म का धर्म है, इसलिये यहां 'अन्तर्यामी' ब्रह्म अभिमत होसकता है।

कोई जीवात्मा कितना भी सिद्धिप्राप्त हो, उसमें ऐसे धर्म की कल्पना सर्वथा असम्भव है। पृथिवी आदि के अभिमानी देवता के रूप में किसी ऐसे अतिरिक्त चेतन आत्मतत्त्व का अस्तित्व कल्पनामात्र है। जहां कहीं ऐसे उल्लेख साहित्य में उपलब्ध होते हैं, उनका तात्पर्य किसी विशेषता की अधिक अभिव्यक्ति के लिये ब्रह्म को एक सीमित अंश में वर्णन करना है; यह केवल किसी विशेष गुण-धर्म को प्रकट करने का प्रकारमात्र है। वस्तुतः इसप्रकार के किसी अभिमानी देवता का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। चेतनरूप में ब्रह्म और जीवात्मा के बीच किसी मन्त्रिपरिषद् या एजेंट की अपेक्षा नहीं रहती। समस्त विश्व का नियन्त्रण एक ब्रह्मद्वारा होता है, यही भाव उक्त उपनिषत्संदर्भ से अभिव्यक्त किया गया है। पृथक् लोकों अथवा विश्व के किसी सीमित अंश व विभागों के कोई अलग अध्यक्ष हों, यह सब अशास्त्रीय है, निराधार कल्पना-मात्र है। फलतः किसी पृथिव्यादि के अभिमानी देवता की कल्पना युक्ति-प्रमाण के अनुकूल नहीं है ॥१८॥

शिष्य आशंका करता है, कोई सिद्ध आत्मा ऐसा न हो, तथा पृथिव्यादि के अभिमानी देवता भी न हों; पर ऐसा वर्णन 'मन' के विषय में देखा जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् [३।१।६] में उल्लेख है–'याज्ञवल्क्येति होवाच, कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो देवताभिर्गोपायतीति; एकया इति; कतमा सैकेति ? मन एवेति; अनन्तं वै मनो ऽनन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति'। याज्ञवल्क्य ने कहा–ब्रह्मा ऋत्विक् दक्षिण आसन पर बैठा कितने देवताओं के साहाय्य से यज्ञ की रक्षा करता है ? उत्तर मिला, केवल एक देवता के द्वारा। यह कौन देवता है ? वह 'मन' है। मन अनन्त शक्ति वाला है, विश्वे देव उसीका रूप हैं। उसके द्वारा अनन्त लोकों को जीतता है। यह वर्णन 'मन' की अनन्त शक्ति और समस्त लोकों पर जय को प्रकट करता है। तब बृहदारण्यक उपनिषद् के उक्त सन्दर्भ से [३।७।३-२३] में अन्तर्यामी 'मन' समझा जासकता है। अन्यत्र 'मनो ब्रह्मे त्युपासीत' [छ० ३।१८।१] मन को ब्रह्मरूप मान उपासना का विधान किया गया है। आचार्य सूत्रकार ने इसका समाधान किया—

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात ॥१६॥

[न] नहीं [च] और [स्मार्तम्] स्मृति का साधन मन [अतद्धर्माभिलापात्] उसके जो धर्म नहीं हैं, उनका कथन होने से। तथा स्मृति का साधन मन, उपनिषद् के उक्त वर्णन में अन्तर्यामी नहीं माना जासकता; क्योंकि जो धर्म मन में संभव नहीं हैं, अन्तर्यामी के प्रसंग में उनका कथन है।

बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्यामी-प्रकरण में उस रूप से 'मन' का वर्णन माना जाना संगत नहीं। कारण यह है, कि वहां जिन धर्मों का उल्लेख हुआ है, वे धर्म मन के संभव नहीं। मन सदा लिङ्गशरीर का अंगभूत होकर जीवात्मा से संबद्ध रहता है। स्थूल देह में आत्मा के आने पर उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति को पहचाना जाता है। वह लिंगशरीर के अंगभाव एवं जीवात्मसम्बन्ध का परित्याग नहीं कर सकता। परन्तु अन्तर्यामी आत्मा के वर्णन में पृथिव्यादि समस्त लोक-लोकान्तरों को उस आत्मा का शरीर कहा है, और उन सबका नियन्ता बताया हैं। ये धर्म मन के नहीं हैं; इसलिये अन्तर्यामीरूप में आत्मा का वर्णन मन का नहीं कहा जासकता।

इसके अतिरिक्त प्राकृतिक होने से 'मन' अचेतन तत्त्व है, उसके द्वारा पृथिव्यादि लोकों का नियन्त्रण किया जाना संभव नहीं, यह चेतनधर्म है। इसी भाव को प्रकट करने के लिये संभवतः सूत्रकार ने 'स्मार्त्त' पदद्वारा इसका निर्देश किया है। मन केवल स्मृति आदि ज्ञान का साधनमात्र है, जो स्वतः जीवात्म-चेतन द्वारा नियन्त्रित होता है। मन की समस्त क्रिया जीवात्मा के सम्पर्क में संभव हैं, इस संपर्क से रहित होकर मन कुछ भी करने में असमर्थ रहता है। यही सब भाव प्रकट करने के लिये सूत्रकार ने उक्त पदद्वारा मन का निर्देश किया है।

बृहदारण्यक के एक प्रसंग [३।१।६] में 'मन' को जो अनन्त कहा है, उसका अपना अभिप्राय है। विदेह देशों के राजा जनक ने भारी दक्षिणावाले यज्ञ का अनुष्ठान किया। यज्ञ में अनेक ऋषि ब्रह्मज्ञानी आमन्त्रित थे। सहस्र गाय दान के लिये प्रस्तुत थीं, उनके सींग सोने से मढ़दिये गये थे। राजा ने कहा–हे ब्राह्मणो ! जो आप में ब्रह्मिष्ठ-ब्रह्मज्ञानी हो, गायों को ले जाये। ब्राह्मणों को गाय लेजाने का साहस न हुआ, तब याज्ञवल्क्य ने अपने ब्रह्मचारी को कहा, गायें हांकलो। कुरु और पञ्चाल देश के उपस्थित ब्राह्मणों में इस घटना से रोष की भावना जागृत होगई, उन्होंने याज्ञवल्क्य के ब्रह्मज्ञान की परीक्षा करने का संकल्प किया। राजा जनक के होता अश्वल ने सर्वप्रथम कहा–याज्ञवल्क्य ! आप ब्रह्मिष्ठ हो, ब्रह्मज्ञानी के लिये हम आदरभाव प्रकट करते हैं। आपसे एक प्रश्न है–जो कुछ यह सब है, मृत्यु का ग्रास होजाता है, आत्मज्ञानरूप यज्ञ का अनुष्ठाता यजमान इस मृत्यु से किस उपायद्वारा छुटकारा पासकता है ?

याज्ञवल्क्य ने कहा–आत्मज्ञानरूप यज्ञ के चार ऋत्विक् हैं, आत्मा [जीवात्मा] यजमान है। चार ऋत्विक् वाक्, चक्षुः, प्राण और मन हैं। इन चार ऋत्विजों द्वारा जब यज्ञ सम्पन्न होजाता है, तो यजमान [आत्मा] जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पा-जाता है। याज्ञवल्क्य का यह कथन एक रहस्यपूर्ण है, इसमें कुछ भाव अन्तर्निहित हैं। आत्मज्ञान की विधि को यज्ञ का रूप देकर चार ऋत्विजों की कल्पना की। आत्म-ज्ञान के लिये जिन विधियों का अनुष्ठान किया जाता है, उसके आधार वाक् आदि हैं, जो इस यज्ञ में ऋत्विक् रूप से कल्पना किये गये हैं। सर्वप्रथम कर्मेन्द्रियों का संयम आत्मज्ञान की दिशा में पग बढ़ाने के लिये आवश्यक है। दूसरा ऋत्विक् 'चक्षु' है, यह समस्त ज्ञानेन्द्रियों का उपलक्षण है। यह समस्त ज्ञानेन्द्रियों के संयत किये जाने की ओर संकेत करता है। तीसरा ऋत्विक् 'प्राण' है। समाधि अवस्था प्राप्त करने के लिये जिन यौगिक क्रियाओं का अनुष्ठान किया जाता है, उनमें मुख्य 'प्राणायाम' है। 'प्राण' ऋत्विक् इस सम्बन्ध के समस्त अनुष्ठानों का उद्बोधक है। चौथा ऋत्विक् मन है, वह अन्तःकरण का प्रतीक है, ऋत्विजों में यह ब्रह्मा का स्थान लिये है। आत्मज्ञान के लिये अन्तःकरण की शुद्धि और मन की एकाग्रता अन्तिम सीढ़ी है। इससे ऋत्विजों में मन की महत्ता स्पष्ट है। इसी भावना से उपनिषद् के उक्त प्रसंग में मन की प्रशंसा की गई है, उस सन्दर्भ [बृ० ३।१।६] का तात्पर्य इतने में पर्यवसित है। इससे अन्तर्यामी-प्रसंग का वर्णन [बृ० ३।७।३-२३] प्रभावित नहीं होता। अन्यत्र 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' [छा० ३।१८।१] जो कहा गया है, उसका यही तात्पर्य है, कि मन को सर्वात्मना ब्रह्म में संलग्न कर ब्रह्म की उपासना की जानी चाहिये। ब्रह्मोपासना के लिये मन इस रूप में प्रधान साधन है। वह इस यज्ञ के ऋत्विजों में ब्रह्मा बनकर बैठा है। मन की संलग्नता की यह मानो पराकाष्ठा है, कि वह अस्तित्व का विलोपकर ब्रह्मरूप होगया है।

आचार्य शंकर ने इस सूत्र की व्याख्या में 'स्मार्तम्' पद का अर्थ कापिल सांख्य

प्रतिपादित 'प्रधान' किया है। 'प्रधान' प्रकृति का पर्याय पद है, जो वहां जगत् का उपादान कारण माना गया है। आचार्य का कहना है, कि सांख्यस्मृतिपरिकल्पित होने से प्रधान 'स्मार्त' है। वस्तुतः यह आचार्य की अपनी कल्पना है। 'स्मार्त' पद से प्रकृति का ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है। फिर यह कहना, कि जगत् के जड़ उपादान कारण प्रकृति की केवल सांख्य में कल्पना की गई है, नितान्त निराधार है। जगत् के जड़ उपादान कारण का वर्णन वेद तथा अन्य वैदिक सत्यशास्त्रों में अनेकत्र[1] उपलब्ध है। तब प्रधान को केवल 'स्मार्त' कैसे कहा जासकता है? मुख्य बात यह है, कि आचार्य ने एक ऐसी शिथिल कल्पना को बलप्रदान करने का प्रयास किया है, जिसपर स्वयं आचार्य को भरोसा नहीं। जड़ जगत् का चेतन ब्रह्म को उपादान बताकर भी माया को जगत् का उपादान[2] मानलिया है। प्रधानकारणवाद इस तथ्य को दृढ़ता से प्रस्तुत करता है, कि जड़ जगत् का उपादान चेतनतत्त्व नहीं होसकता। आचार्य इससे भीत होकर मानो उपयुक्त-अनुपयुक्त अवसर का विचार न कर चाहे जहां प्रधानकारणवाद का प्रत्याख्यान करने के लिये प्रयास करता है।

अन्तर्यामी-ब्राह्मण के वर्णन में प्रधानविषयक आशंका का अवसर ही नहीं। अचेतन होने से न प्रधान नियन्ता होसकता है और न आत्मा [जीवात्मा] का अन्तर्यामी। वह तो आत्मा का भोग्य है। हमने 'स्मार्तम्' पद का अर्थ स्मृति–साधन होने से 'मन' समझा है। मनविषयक आशंका का आधार प्रथम कह दिया गया है। आत्मसंपर्क से मन में यथाकथंचित् नियन्तृत्व की कल्पना की जासकती है, जो आशंका का आधार बने। इसी सम्बन्ध से प्रस्तुत सूत्रद्वारा अन्तर्यामी-ब्राह्मण में मनोवर्णन का निषेधकर सूत्रकार ने अगले सूत्र से 'शारीर' के वर्णन का प्रतिषेध किया। यह क्रम भी स्पष्ट करता है, कि प्रस्तुत सूत्र में 'स्मार्तम्' पद का उपयुक्त अर्थ क्या होना चाहिये ॥१६॥

शिष्य आशंका करता है, यदि अचेतन और नियम्य होने से मन अन्तर्यामी-ब्राह्मण [बृ० ३।७] का वर्ण्य विषय नहीं, तो आत्मा [जीवात्मा] वर्ण्य संभव होसकता है। आत्मा चेतन है, अमृत है, इन्द्रियादि करणों तथा अनेक कार्यों का नियन्ता है। इसलिये शारीर आत्मा को अन्तर्यामी मानलेना उपयुक्त होगा। आचार्य सूत्रकार ने आशंका-निर्देशपूर्वक समाधान किया—

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥२०॥

[शारीरः] देही जीवात्मा [च] और [उभये] दोनों [अपि] भी [हि] क्योंकि [भेदेन] भेद से [एनम्] इसको-जीवात्मा को [अधीयते] पढ़ते हैं। और जीवात्मा अन्तर्यामी नहीं होसकता। क्योंकि दोनों शाखावाले इसको ब्रह्म से भिन्न करके पढ़ते हैं।

१. इसके लिये देखें हमारी रचना–'सांख्यसिद्धान्त' का चतुर्थ अध्याय।
२. देखें–'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ ७-१८ ॥

पूर्वसूत्र से इस सूत्र में 'न' की अनुवृत्ति आती है। बृहदारण्यक उपनिषद् [३।७।३-२३] में जो अन्तर्यामी आत्मा का वर्णन है, वह जीवात्मा का वर्णन नहीं कहा जासकता। कारण यह है, कि काण्व और माध्यन्दिन दोनों शाखाओं के प्रवक्ताओं ने उसी प्रसंग में जीवात्मा का उल्लेख ब्रह्म से भिन्न मानकर किया है, तथा ब्रह्म को स्पष्टरूप से जीवात्मा में अन्तर्यामी बताया है। काण्वशाखा के शतपथ ब्राह्मण में पाठ है—

'यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः'

वर्त्तमान बृहदारण्यक उपनिषद् काण्वशाखीय शतपथ ब्राह्मण के चतुर्दश काण्ड का भाग है। उक्त पाठ वहां [बृ० ३।७।२२] देखा जासकता है। यहां 'विज्ञान' पद का प्रयोग शारीर आत्मा [जीवात्मा] के लिये हुआ है। स्पष्ट ही यहां जीवात्मा को अन्तर्यामी आत्मा [ब्रह्म] से भिन्न कहा है, तथा इस आत्मा को जीवात्मा का अन्तर्यामी बताया है। ब्रह्म उसके अन्दर रहकर नियन्त्रण करने वाला है। इसलिये अन्तर्यामी आत्मा काव र्णन जीवात्मा का संभव नहीं।

माध्यन्दिनशाखीय शतपथ ब्राह्मण के इस प्रसंग में पाठ है—

'य आत्मनि तिष्ठन्, आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः। [श० ब्रा० १४।६।७।३०]।

इस पाठ में 'विज्ञान' के स्थान पर 'आत्मा' पद है, और कोई भेद नहीं। यह पद शारीर आत्मा [जीवात्मा] के लिये प्रयुक्त हुआ है। शेष सब अर्थ पूर्व के समान है। फलतः बृहदारण्यक उपनिषद् के उक्त प्रसंग में जीवात्मा अन्तर्यामी आत्मा नहीं माना जासकता, वह आत्मा केवल ब्रह्म है। यह सन्दर्भ जीवात्मा में ब्रह्म की स्थिति बताता है। वह जीवात्मा से भिन्न है [-आत्मनोऽन्तरः]। जीवात्मा अल्पज्ञ अल्पशक्ति होने से उसे नहीं जानपाता [-यमात्मा न वेद]। पर जीवात्मा जिसका शरीर है, अर्थात् जो ब्रह्म जीवात्मा में निवास करता है [-यस्यात्मा शरीरं]। तथा जो जीवात्मा से भिन्न रहता भी जीवात्माद्वारा किये पुण्यापुण्य कर्मों का फलप्रदाता होने से उसका नियन्ता है [-य आत्मानमन्तरो यमयति]। याज्ञवल्क्य उद्दालक आरुणि को लक्ष्य कर कहता है यह अमृत आत्मा तेरा अन्तर्यामी है [-एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः]। उद्दालक आरुणि समस्त जीवात्माओं का प्रतीक है। पृथिव्यादि समस्त लोक-लोकान्तर जड़ जगत् और जीवात्मरूप चेतन जगत् का अन्तर्यामी है—वह अमृत आत्मा। 'अन्तर्यामी' पद का यही अर्थ है, कि उनके अन्दर विद्यमान रहता हुआ वह उन सबका नियमन करता है। ऐसा अमृत आत्मा ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य संभव नहीं। शारीर आत्मा स्वयं उससे नियन्त्रित होता है, और उससे सर्वथा भिन्न है; इसलिये उक्त अन्तर्यामी वर्णन में शारीर जीवात्मा को अन्तर्यामी माना जाना सर्वथा अप्रामाणिक है।

आचार्य शंकर ने प्रस्तुत सूत्र के भाष्य में उपनिषद्वर्णित जीव-ब्रह्म के इस स्पष्ट

भेद को झुठलाने का प्रयास किया है। इस उपनिषद् प्रकरण के अन्तिम भाग में जो 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा प्रकृत अन्तर्यामी से अन्य द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता आत्मा का प्रतिषेध किया है, वह समस्त विश्व के अन्य किसी नियन्ता के माने जाने का प्रतिषेध है। उस एक अन्तर्यामी के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा आत्म-तत्त्व नहीं माना जासकता, जो समस्त विश्व का नियन्ता हो। इस कथन से शारीर आत्मा के अस्तित्व का प्रतिषेध नहीं होता। प्रस्तुत दो सूत्रों में सूत्रकार ने इसीका विवेचन किया है। आचार्य शंकर का यहां जीव-ब्रह्म के भेद का अपलाप करना उपनिषद् की भावना के प्रतिकूल है ॥२०॥

शिष्य आशंका करता है, शारीर अन्तर्यामी नहीं होसकता, यह प्रतिपादन किया गया, पर अन्तर्यामी-प्रसंग में ब्रह्म के शरीर का उल्लेख है। पृथिव्यादि समस्त लोक और जीवात्मा को उस अन्तर्यामी ब्रह्म का 'शरीर' बताया है [-यस्य पृथिवी शरीरं······यस्यात्मा शरीरं]। तब ब्रह्म को 'शारीर' क्यों नहीं माना जाता? इस आशंका को ध्यान में रखते हुए आचार्य ने समाधानभावना से सूत्र कहा—

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥२१॥

[अदृश्यत्वादि-गुणकः] अदृश्यत्व आदि गुणों वाला है (ब्रह्म), [धर्मोक्तेः] धर्मों के कहे जाने से। ब्रह्म सदा अदृश्यत्व आदि गुणों वाला है, अनेकत्र उसके ऐसे धर्मों का कथन हुआ है।

अन्तर्यामी के जिन पृथिव्यादि शरीरों का कथन किया है, वह केवल कल्पना के आधार पर एक रूपकमात्र है। समस्त विश्व में व्याप्त रहकर उसके नियन्त्रण का वह प्रतिपादन है। जीवात्मा के शरीर जैसा वह ब्रह्मशरीर का कथन नहीं है। जीवात्मा अपने पुण्यापुण्य के अनुसार जैसे प्राकृत देह को प्राप्त हो अनिश आवर्त्तमान जन्म-मरण के चक्र पर आरूढ़ रहता है, यह स्थिति ब्रह्म में सर्वथा असम्भव है, इसलिये 'शारीर' पद में उसका समावेश नहीं। वह सदा अदृश्यत्वादि गुणों वाला है, उसके ऐसे धर्मों का अनेक प्रसंगों में प्रवचन हुआ है।

मुण्डक उपनिषद् के प्रारम्भ में ब्रह्मा द्वारा अपने ज्येष्ठपुत्र अथर्व के लिये ब्रह्म-विद्या के उपदेश का उल्लेख है। ब्रह्मवेत्ताओं ने दो विद्या बताईं–अपरा और परा। 'परा' विद्या का स्वरूप कहा–'अथ परा–यया तदक्षरमधिगम्यते।' जिस विद्या के द्वारा वह अक्षर–अविनाशी तत्त्व जाना जाय, वह परा विद्या है। उपनिषद् में आगे उस अक्षरतत्त्व का वर्णन है—

'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' [मु० १।१।६]।

जो अदृश्य है ज्ञानेन्द्रियों का अविषय है, अग्राह्य है, कर्मेन्द्रियों से पकड़ा या ग्रहण

किया नहीं जाता, जिसका कोई गोत्र-वंश नहीं, न ब्राह्मणत्व आदि वर्ण है, न जिसके नेत्र, श्रोत्र, हाथ व पांव हैं, अर्थात् जो ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रियों से रहित है, सब जगह व्याप्त है, सबमें अन्तर्निविष्ट है, अतिसूक्ष्म है, अव्यय अपरिणामी है, जो सब भूतों का चराचर जगत् का कारण है, ऐसे अक्षरतत्त्व को धीर मेधावी जन देखते व जानते हैं। यह अविनाशी अपरिणामी ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन है।

इसमें आशंका कीजाती है, कि इन गुणों में अनेक ऐसे हैं, जो जीवात्मा और प्रकृति में संघटित होते हैं, तब इस वर्णन में उनका समावेश क्यों न माना जाय ? अदृश्य, नित्य, सूक्ष्म, अव्यय जीवात्मा है, जगत् के उपादानकारण प्रकृति में अदृश्य, नित्य, सूक्ष्म भूतयोनि गुण हैं। विशेषरूप से 'भूतयोनि' पद जगत् के उपादानकारण की ओर संकेत करता है, यह धर्म ब्रह्म का सम्भव नहीं। तब यहां केवल ब्रह्म का वर्णन है, ऐसा कहना उपयुक्त न होगा।

समाधाता ने कहा–यह ब्रह्मविद्या का प्रकरण है, जीवात्मविद्या अथवा प्रकृतिविद्या का नहीं। उपनिषद् के प्रारम्भ में कहा–'स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह' ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठपुत्र अथर्व के लिये सब विद्याओं में प्रतिष्ठित ब्रह्मविद्या का प्रवचन किया। आगे भी 'यद् ब्रह्मविदो वदन्ति' विद्याओं का द्वैविध्य ब्रह्मवेत्ताओं द्वारा कहा गया है। इससे सिद्ध है, यह प्रसंग ब्रह्मविषयक प्रवचन का है। 'यत्तदद्रेश्यम्' इत्यादि सन्दर्भ मे जो अक्षरतत्त्व का वर्णन किया, वह 'पराविद्या' का रूप है। ब्रह्मविद्या को पराविद्या कहना सर्वथा उपयुक्त है। प्रकृति आदि का विवेचन तो अपराविद्या में आता है, इसलिये उक्त वर्णन केवल ब्रह्मविषयक है, ऐसा कहना सर्वथा उपयुक्त है।

जीवात्मा यद्यपि अदृश्य, सूक्ष्म, नित्य और अव्यय–अपरिणामी है, पर वह 'अचक्षु-श्रोत्र' तथा 'अपाणिपाद' नहीं माना जाता। वह 'अगोत्र' और 'अवर्ण' भी नहीं है। सर्ग के आदिकाल से जीवात्मा के साथ इन्द्रियादि समस्त करणों का सम्पर्क बराबर रहता है, तथा देहधारण करने पर गोत्र [वंश] और वर्ण [ब्राह्मणत्व आदि] की रेखा पर होकर ही जीवात्मा का मार्ग है। इन सब आधारों पर निश्चित है, कि इस वर्णन में जीवात्मा का समावेश नहीं होना चाहिये। इससे एक यह भी परिणाम निकलता है, कि परमात्मा जीव के समान कभी देहबन्धन में नहीं आता। इससे न परमात्मा का अवतार कहना शास्त्रीय है और न उसे 'शारीर' समझना प्रामाणिक है।

उक्त वर्णन में 'भूतयोनि' एक ऐसा पद है, जो जगत् के उपादानकारण की ओर संकेत करता है। 'योनि' पद ऐसे भाव को प्रकट करता है, जहां से कोई वस्तु उत्पन्न हो अथवा प्रकाश में आवे; जैसे स्त्रीयोनि। जगत् क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न होता है, इसलिये सन्दर्भ में यह पद प्रकृति की ओर झुकाव के लिये बाध्य करता है। पर वस्तुतः ऐसी बात नहीं है, गम्भीर पर्यालोचन से यह स्पष्ट है, कि 'योनि' पद कारणमात्र का वाचक है,

केवल उपादानकारण का नहीं। लोक में जो 'स्त्रीयोनि' व्यवहार होता है, वहां भी 'योनि' वस्तुतः बालक का उपादानकारण नहीं है। नवजात शिशु क्या है? एक जीवात्मविशिष्ट लघुदेह। यहां जीवात्मा नित्य है, उत्पन्न होनेवाली वस्तु केवल देह है। उसके उपादान-कारण वे तत्त्व हैं, जिनसे देह का आरम्भ होता है। स्त्रीयोनि देह का उपादानकारण नहीं है, वह केवल गर्भाशय से देह के निस्सरण का मार्ग है। उसका समावेश अन्य किसी कारण में हो, पर निश्चित ही वह शिशुदेह का उपादानकारण नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है, कि 'योनि' पद का प्रयोग केवल उपादानकारण के लिये हो, यह असंगत है। फलतः सन्दर्भ में 'भूतयोनि' पद जगत् के उपादानकारण प्रकृति का निर्देशक नहीं माना जाना चाहिये।

यह प्रकृति का निर्देशक अर्थात् जगत् के उपादानकारण को कहनेवाला नहीं होसकता, इसकेलिये सन्दर्भ में ही एक प्रमाण है, वह है—उस अक्षर का 'अव्यय' होना। उक्त सन्दर्भ में अक्षर को 'अव्यय' कहा गया है। अन्य धर्मों के साथ उसका यह धर्म है। अव्यय का अर्थ है—'अपरिणामी'; जिसमें परिणाम न हो, किसी तरह का परिवर्त्तन न हो। प्रकृति में परिणाम होता है, वह कारणरूप से कार्यरूप में परिवर्त्तित होजाती है। जिस 'अक्षर' का धर्म 'अव्यय' है, उसीका 'भूतयोनि' है, दोनों धर्म एक तत्त्व के हैं; इसलिये 'भूतयोनि' पद यहां जगत् के ऐसे कारण का निर्देशक नहीं होसकता, जो परिणत होता हो; ऐसी अवस्था में यह प्रकृति [उपादानकारण] का बोधक नहीं है। 'अव्यय' पद का 'व्यय अर्थात् नाश या न्यून न होना' अर्थ समझना ठीक नहीं; क्योंकि किसी वस्तु का सर्वथा नाश कभी नहीं होता, न उसमें कमी आती है। वस्तु की ऐसी अवस्था में जिसे मोटे तौर पर 'नाश' या कमी कहाजाता है वहां केवल कुछ परिवर्त्तन होजाया करते हैं। जिनमें ऐसे परिवर्त्तन नहीं होते, वे पदार्थ 'अव्यय' कहे जाते हैं। इस पद के सहयोग से 'भूतयोनि' पद का केवल इतना अर्थ है, कि जो इस जगत् का कारण है। वह अक्षरतत्त्व ब्रह्म जगत् का निमित्तकारण, अधिष्ठाता, नियन्ता व प्रेरयितारूप में जाना जाता है। आगे उपनिषद् में इसको स्पष्ट किया है। फलतः प्रस्तुत 'भूतयोनि' पद ब्रह्म की उपादानकारणता का बोधक नहीं है।

'अक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्' [मु० १।१।७] इस वाक्य के आधार पर आचार्य शंकर ने अक्षर ब्रह्म को जायमान जगत् की प्रकृति [उपादानकारण] सिद्ध करने का प्रयास किया है। परन्तु ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति किसप्रकार होती है, इस विवरण को उपेक्षित करदिया है, जो उक्त सन्दर्भ में स्पष्ट किया गया है। पूरा सन्दर्भ है—

'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥'

जैसे चेतन आत्मा से अधिष्ठित मकड़ी के जड़शरीर से जाला बनता और शरीर में उपसंहृत होता है; पृथिवी आश्रय में ओषधि अपने विशिष्ट कारणों से उत्पन्न होती

हैं; और जैसे जीवित पुरुष के शरीर से केश-लोम की उत्पत्ति है; ऐसे ही उस अक्षर से यह विश्व प्रकाश में आता है। यहां 'यथा-तथा' पद ध्यान देने योग्य हैं। ये पद दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक की जिस समानता की ओर संकेत करते हैं, उसकी उपेक्षा करने से अर्थ का अनर्थ होगा। दृष्टान्त में सर्वत्र उपादान की स्थिति पृथक् है और अधिष्ठाता चेतन की पृथक्। यदि शरीर में चेतन आत्मा अधिष्ठाता नहीं है, तो केवल मकड़ीशरीर से जाला और मृत मानवदेह [शवमात्र] से केश-लोम उत्पन्न नहीं होसकते। इससे यह स्पष्ट होता है, कि चेतन नियन्ता के सहयोग से अचेतन कार्य अपने जड़ उपादानकारण से परिणत हुआ करता है। ठीक इसीप्रकार 'अक्षर ब्रह्म' से यह विश्व प्रकाश में आता है। ब्रह्म नियन्ता है, जड़ प्रकृति नियम्य है, जो कार्य–विश्व का उपादान है।

आचार्य शंकर ने इस स्थिति का समाधान करने की भावना से कहा–दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक में अत्यन्त साम्य नहीं हुआ करता, स्थूल पृथिव्यादि के दृष्टान्त से कारणतत्त्व को भी स्थूल मानलिया जाय यह सम्भव नहीं।[1] वस्तुतः यह कथन अत्यन्त शिथिल है। परिणाम सदा स्थूल से सूक्ष्म तथा सूक्ष्म से स्थूल हुआ करते हैं; यहां दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक में स्थूल-सूक्ष्म का प्रश्न नहीं है, प्रश्न है–उपादान और नियन्ता के भेद का, उपादान के जड़ तथा नियन्ता के चेतन होने का। 'अक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्' इस वाक्य से क्या आचार्य का यह तात्पर्य है, कि वह अक्षर [ब्रह्म] ही परिणत होकर स्वयं जगत् बनजाता है ? यदि ऐसा है, तो चेतनतत्त्व का जड़परिणाम मानने पर जड़तत्त्व के चेतनपरिणाम से भी नकार नहीं किया जासकता। ऐसी स्थिति में आचार्य शंकर और चार्वाक एक स्तर पर आखड़े होते हैं। कारण यह है, कि शंकर ने चेतन के अतिरिक्त उपादानतत्त्व को नहीं माना, एकमात्र चेतनतत्त्व से जड़-चेतन जगत् की उत्पत्ति को स्वीकार किया। चार्वाक ने नियन्ता चेतन को न मानकर केवल जड़ उपादानतत्त्व से जड़-चेतनरूप समस्त विश्व की उत्पत्ति को माना। दोनों के विचार से विश्व का मूलतत्त्व कोई एक पदार्थ है। एक ने उसको 'चेतन' माना दूसरे ने 'जड़'। उस तत्त्व के लिये यह केवल दो विरोधी पदों का प्रयोग किया गया। केवल शब्दों के भिन्न होने से एकमात्र मूलतत्त्व के स्वरूप में भेद की कल्पना नहीं की जासकती। इस रूप में दोनों आचार्य एक स्तर पर आजाते हैं। इसका अभिप्राय किसीकी निम्नता प्रकट करना नहीं है, केवल इतना है, कि आचार्य शंकर की यह घोषणा सर्वथा निरर्गल है, कि मूल में एकमात्र चेतनतत्त्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

'अक्षर' पद का मुख्य अर्थ 'अकार्य' है। जो तत्त्व किसीका कार्य न हो। इसके

---

१. **न हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरत्यन्तसाम्येन भवितव्यमिति नियमोऽस्ति। अपि च स्थूलाः पृथिव्यादयो दृष्टान्तत्वेनोपात्ता इति न स्थूल एव दार्ष्टान्तिको भूतयोनि-रभ्युपगम्यते [इसी सूत्र का शांकरभाष्य]।**

अनुसार 'अक्षर' पद का प्रयोग परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों के लिये होता है।[1] मुण्डक उपनिषद् के प्रस्तुत प्रकरण में ब्रह्म और प्रकृति दोनों के लिये पृथक् सन्दर्भों में इस पद का प्रयोग हुआ है। प्रारम्भ में [१।१।५, ७] यह पद ब्रह्म के लिये प्रयुक्त हैं। आगे [२, १।। २, २] प्रकृति के लिये इसका प्रयोग है। आचार्य शंकर ने इस विशेषता की उपेक्षा कर मुण्डक [२।१] के सन्दर्भ में 'अक्षर' पदवाच्य ब्रह्म माना है, जो प्रकरण के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। सन्दर्भ है—

'तदेतत्सत्यं-यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति।'

यह सत्य है–जैसे दहकती आग से सहस्रों समानरूप [आग के सदृश] चिनगारियां उत्पन्न होजाती हैं, वैसे ही 'अक्षर' तत्त्व से हे सोम्य ! समस्त कार्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं, और (प्रलयकाल आने पर) उसी में लीन होजाते हैं। यहां 'अक्षर' पद स्पष्ट प्रकृति का वाचक है। इस सन्दर्भ में 'सरूपाः' पद विशेष ध्यान देने योग्य है। 'अक्षर' पद का ब्रह्म अर्थ करने पर उसके कार्य जगत् की ब्रह्म के साथ समानरूपता कहां कही जासकती है ? फलतः 'अक्षर' पद यहां प्रकृति का वाचक है, जिसकी समानता कार्यजगत् के साथ स्पष्ट है।

उपनिषद् का अगला सन्दर्भ [मु० २।२] इस तथ्य को और स्पष्ट करता है, जहां ब्रह्म को दिव्य, अमूर्त्त, शुभ्र आदि बताते हुए 'अक्षरात्परतः परः' कहा है। यहां 'अक्षर' पद पूर्व सन्दर्भ में कहे अक्षर पद का अनुवाद है। उस 'अक्षर' से 'परतः पर' ब्रह्म को बताया है; जिसका तात्पर्य है–अक्षर-प्रकृति से पर जीवात्म-चेतन, और उससे भी पर ब्रह्म है। इसप्रकार मुण्डक के उक्त सन्दर्भों में 'अक्षर' पद का प्रयोग प्रकृति के लिये

---

१. गीता [८।२१] में ब्रह्म को 'अक्षर' कहा है। वहीं अन्यत्र [गी० १५।१६, १८] जगत् के उपादानकारण प्रकृति को 'अक्षर' बताया है। इनका शांकरभाष्य तथा आधुनिक लोकमान्य तिलक आदि का व्याख्यान द्रष्टव्य है। श्वेताश्वतर उपनिषद् [५।१] में कहा है–'द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।' दो 'अक्षर' तत्त्व हैं, जिनसे ब्रह्म परे है, उत्कृष्ट है। जहां चैतन्य-अचैतन्य गूढरूप से विद्यमान है। तात्पर्य यह, कि उन दो अक्षरों में एक चेतन दूसरा अचेतन है। अचेतन तत्त्व परिणामी है, और चेतन अपरिणामी। इन दोनों पर जो शासन करता है, वह इनसे अन्य है। वह तत्त्व ब्रह्म है। जिसे प्रारम्भ में उन दोनों 'अक्षर' तत्त्वों से परे बताया है। यहां जीवात्मा और प्रकृति को 'अक्षर' कहकर उनसे अतिरिक्त उत्कृष्ट सत्ता ब्रह्म की बताई है। प्रकृति किसीका कार्य न होने से 'अक्षर' है, पर इसका कार्यरूप 'क्षर' होने से लाक्षणिकरूप में इसे 'क्षर' भी कहा गया है [श्वे० १।१०]। श्वेताश्वतर के ये दोनों सन्दर्भ एक ही तात्पर्य को अभिव्यक्त करते हैं।

हुआ है, यह स्पष्ट होता है। इस सन्दर्भ के आधार पर चेतन ब्रह्म को जड़ जगत् का उपादान कहना, सन्दर्भ के आशय के सर्वथा विपरीत है। जगत् अथवा जागतिक पदार्थों का नाम लेकर जो अनेकत्र उनका कारण ब्रह्म को कहागया है, वह सब ब्रह्म के अधिष्ठाता नियन्ता एवं निमित्तकारण होने को प्रकट करता है।

इस सब विवेचन के आधार पर स्पष्ट होता है, कि अदृश्यत्व आदि गुण-धर्मों द्वारा जिस ब्रह्म का वर्णन किया गया है, वह न जीवात्मा के समान 'शारीर' कोटि में आता है, और न वह जगत् का उपादानकारण सम्भव है। वह सबका अधिष्ठाता व नियन्ता होने के कारण उसके शरीररूप में वर्णित अनादि प्रकृति से जगत् का निर्माण करता है। प्रकृति स्वतः अनादि सिद्ध है, उसको ब्रह्म के शरीररूप में कल्पना करके उससे जगत् की उत्पत्ति का वर्णन शास्त्रों में किया गया है। इसी आशय से मनु ने मानवधर्म-शास्त्र के प्रारम्भ [१।८] में कहा—

'सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः'

अभिध्यानपूर्वक ब्रह्म प्रजापति ने विविध प्रजाओं को अपने शरीर [प्रकृतिरूप] से सर्जन करने की इच्छा की।

इस भावना को जहां स्पष्ट लौकिकरूप में प्रस्तुत किया गया है, वहां प्रकृति ने 'योषित्' का रूप धारण कर लिया है। मुण्डक उपनिषद् [२।१।५] में सन्दर्भ है—पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्संप्रसूताः।' पुमान्—परमात्मा योषित्—प्रकृति में रेतःसिञ्चन करता है; इसप्रकार पुरुष से यह समस्त प्रजा प्रसूत हुई है। परमात्मा का रेतःसिञ्चन, जगत्सर्ग के लिये प्रकृति में प्रेरणा देना है। ऋग्वेद की एक ऋचा [१०।१२९।४] में इस भाव को अभिव्यक्त[1] किया है। फलतः मुण्डक सन्दर्भ [१।१।६] का 'भूतयोनि' पद ब्रह्म की उपादानकारणता का साधक नहीं है। परमेश्वर केवल निमित्तकारणरूप में 'भूतयोनि' है। प्रकृति एवं प्राकृत तत्त्वों को उसके शरीररूप में वर्णन किये जाने से ब्रह्म शारीर नहीं बनजाता ॥२१॥

मुण्डक उपनिषद् [१।१।६] के उक्त सन्दर्भ में अदृश्यत्वादि गुणों वाला केवल ब्रह्म है, जीवात्मा अथवा प्रकृति नहीं; इसकी पुष्टि के लिये सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याञ्च नेतरौ ॥२२॥

[विशेषण-भेदव्यपदेशाभ्याम्] विशेषण और भेदपूर्वक कथन से [च] भी [न] नहीं [इतरौ] दूसरे दोनों—जीवात्मा तथा प्रकृति। उपनिषद् के उक्त प्रसंग में दिये गये विशेषणों तथा जीवात्मा एवं प्रकृति का कथन ब्रह्म से भिन्नरूप में किये जाने के

---

१. देखें—'सांख्यसिद्धान्त' पृ० ३६१-६२।

कारण यहां जीवात्मा तथा प्रकृति का वर्णन नहीं है।

मुण्डक उपनिषद् के 'तदेतत्सत्यं–'यथा सुदीप्तात् पावकात्' [२।१।१] इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा अक्षर–प्रकृतिरूप उपादानकारण से जगत् की उत्पत्ति और उसी में उसके प्रलय का वर्णन कर अगले सन्दर्भ [२।१।२] में ब्रह्म का स्वरूप बताया—

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥

दिव्य–जो अपने प्रकाशमयरूप में सदा अवस्थित रहता है। अमूर्त्त–जो कभी किसी मूर्त्ति या आकार को धारण नहीं करता। बाह्य और आभ्यन्तर समस्त विश्व में व्याप्त है। अज–जो स्वरूप अथवा उपाधिद्वारा कभी जन्म नहीं लेता, देहादिबन्धन में नहीं आता; इसीकारण जो अप्राण–प्राणरहित तथा अमना–मन एवं इन्द्रियादिरहित है। शुभ्र–जो सर्वात्मना शुद्ध है, क्लेश कर्म एवं विपाक आदि से सर्वथा अछूता, ऐसा है–वह ब्रह्मपुरुष। दिव्य, अमूर्त्त आदि सब विशेषणों द्वारा जिस तत्त्व का अभिव्यञ्जन किया गया है, वह जीवात्मा या प्रकृति नहीं होसकते, क्योंकि उनमें ये सब विशेषता नहीं देखी जातीं। जीवात्मा सर्वव्यापक नहीं, देहादि द्वारा जन्म-मरण के बन्धन में आता है, इसीलिये वह न 'अप्राण' है न 'अमनाः'; तथा क्लेश-कर्मादि से अभिभूत रहता है। इसलिये जीवात्मा में ये विशेषण संभव नहीं। प्रकृति जड़ होने से सदा एक[illegible] नहीं रहती, उसमें विविध परिणाम हुआ करते हैं, इसलिये वह दिव्य नहीं। अमूर्त्त नहीं, यह स्पष्ट है। समस्त मूर्त्त विश्व उसीका परिणाम है। वह स्वतः अजा [अकार्य] [illegible] भी परिणामशीला है। जड़ होने से उसके 'अप्राण' और 'अमनाः' आदि होने का प्रश्न ही नहीं उठता। फलतः ये सब विशेषण इस तथ्य को प्रकट करते हैं, कि यह जीवात्मा अथवा प्रकृति का वर्णन नहीं है।

उक्त सन्दर्भ [२।१।२] का अन्तिम वाक्य है–'अक्षरात् परतः परः' यहां 'अक्षर' पद पहले सन्दर्भ [२।१।१] के समान प्रकृति का वाचक है। इस वाक्य का अर्थ है–अक्षर-प्रकृति से 'पर' [उत्कृष्ट अथवा भिन्न] जीवात्मा और उससे भी 'पर' वह 'अक्षर ब्रह्म' है, जिसके वर्णन के लिये प्रस्तुत प्रसंग का प्रारम्भ किया गया। इसप्रकार यहां प्रकृति और जीवात्मा का 'परतः परः' कहकर अक्षर ब्रह्म से भिन्नरूप में कथन है। फलतः उक्त सन्दर्भ [मु० १।१।६] में अदृश्यत्वादि गुणों वाला केवल ब्रह्म वर्णित समझना चाहिये, जीवात्मा अथवा प्रकृति नहीं।

आचार्य शंकर ने सन्दर्भ [१।१।६] के 'भूतयोनि' पद के आधार पर ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण सिद्ध करने का प्रयास किया है। ऐसा मानने पर ब्रह्म के 'दिव्य' 'अमूर्त्त' आदि विशेषणों की क्या गति होगी, यह समझना कठिन है। आचार्य एक ही सांस में परस्पर विरुद्ध बात कह जाते हैं, यह चिन्तनीय है। फिर आ[illegible] ने इसी सूत्र की व्याख्या में कहा–'यदि प्रधानमपि कल्प्यमानं श्रुत्यविरोधेनाव्य[illegible]दिशब्दवाच्यं

भूतसूक्ष्म परिकल्प्येत, परिकल्प्यताम् ।' यदि वेद की अनुकूलता से 'अव्याकृत' [अव्यक्त] आदि शब्दों द्वारा कहे जाने वाले प्रधान की कल्पना कीजाती है, तो भले ही करली जाय । प्रतीत होता है, आचार्य प्रकृति या प्रधान पद का नाम लेते घबड़ाता है। मूलउपादान के लिये 'अव्याकृत' या 'अव्यक्त' पद कहलेने में सन्तोष होता है। नाम कुछ भी रक्खा जाय; इससे यह स्पष्ट होजाता है, कि 'अव्याकृत' उपादान तत्त्व, ब्रह्म से अतिरिक्त है। यह तथ्य स्पष्ट कर दिया गया है [ब्र० सू० १।२।२१] कि 'भूतयोनि' पद से ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण बताने का तात्पर्य उपनिषद् का कदापि नहीं है, अन्यथा ब्रह्म के 'अव्यय' [मु० १।१।६] तथा 'अमूर्त्त' [मु० २।१।२] आदि विशेषण सर्वथा निरर्थक होंगे ।।२२।।

सूत्रकार पूर्वोक्त अर्थ को अधिक दृढ़ करने के लिये अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

रूपोपन्यासाच्च ।।२३।।

[रूपोपन्यासात्] रूप का कथन होने से [च] भी। इसी प्रसंग में आगे ब्रह्म के विराट् रूप का कथन होने से जीवात्मा अथवा प्रकृति अदृश्यत्वादि गुण वाले नहीं माने जाने चाहियें।

सूत्र का 'च' पद इस भाव को प्रकट करता है, कि गतसूत्र से जिस अर्थ के प्रतिपादन में हेतु दिया गया है; उसी अर्थ के प्रतिपादन में यह हेतु है। इक्कीसवें सूत्र के 'अदृश्यत्वादिगुणकः' एकवचनान्त पद का द्विवचनान्त पद में विपरिणाम कर गतसूत्र के 'नेतरौ' पदों के साथ अन्वय किया गया। इन दोनों पदों की इसी रूप में अनुवृत्ति प्रस्तुत सूत्र में है। इसके अनुसार सूत्र का अर्थ होगा—रूप का उपन्यास—कथन होने से भी जीवात्मा और प्रकृति मुण्डक के [१।१।६] सन्दर्भ में पठित अदृश्यत्वादि गुणों वाले नहीं माने जासकते।

'दिव्यो ह्यमूर्त्तः' [मु० २।१।२] इत्यादि सन्दर्भ के आधार पर गतसूत्र में कहा गया है, कि इन विशेषणों—तथा प्रकृति और जीवात्मा से भिन्न बताये जाने—के कारण इन दोनों से अतिरिक्त जिस तत्त्व का यहां वर्णन है, वही तत्त्व अदृश्यत्वादि गुणों वाला समझना चाहिये। इसके अनन्तर मुण्डक उपनिषद् में 'एतस्माज्जायते प्राणः, [२।१।३] इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा प्राण से पृथिवीपर्यन्त तत्त्वों की उसी प्रकरणागत अदृश्यत्वादि गुणों वाले से उत्पत्ति बताकर उसके रूप का इसप्रकार वर्णन किया है—

"अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा" [२।१।४]।

अग्नि [द्युलोक] इसका सिर है, सूर्य-चन्द्र नेत्र हैं, दिशाएं श्रोत्र हैं, प्रकाशित वेद उसकी वाणी है, वायु प्राण और विश्व हृदय है, पाओं का रूप पृथिवी है, क्योंकि यह समस्त विश्व का अन्तरात्मा है। यदि उपनिषद् के प्रस्तुत प्रकरण में अदृश्यत्वादि

गुणों वाला जीवात्मा या प्रकृति को माना जाय, तो उनके ऐसे रूप की कल्पना संभव नहीं। परब्रह्म परमेश्वर से अतिरिक्त अन्य किसीका ऐसा रूप कल्पना नहीं किया जासकता। कारण यह है, कि इसी सन्दर्भ के अन्त में उसे सब भूतों का–समस्त चेतन अचेतन जगत् का अन्तरात्मा कहा है। बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्यामी ब्राह्मण [३।७।३–२३] में भी उस ब्रह्मतत्त्व को समस्त प्राकृत-अप्राकृत जगत् का अन्तर्यामी कहा है। इसका विस्तृत व्याख्यान इसी पाद के गत सूत्रों [१।२।१८-२०] में कर दिया है। समस्त चेतन-अचेतन तत्त्वों का अन्तरात्मा अथवा अन्तर्यामी होना प्रकृति और जीवात्मा में संभव नहीं है। जब वह तत्त्व इन सब में अन्तर्व्याप्त है, तब जीवात्मा के परिच्छिन्न तथा प्रकृति के नियम्य होने से ये दोनों उसमें व्याप्त नहीं माने जासकते, इसलिये इन दोनों का 'सर्वभूतान्तरात्मा' होना संभव नहीं। फलतः ऐसे विराट् रूप की कल्पना केवल ब्रह्म के विषय में की जासकती है। प्रकरणानुसार वही अदृश्यत्वादि गुणों वाला है।

ब्रह्म के ऐसे रूप का वर्णन अन्यत्र उपलब्ध होता है। ऋग्वेद [१०।८१।३] में ऋचा है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥

उसके चक्षु, मुख, बाहु, और पैर सब ओर फैले हुए हैं। वह एकमात्र देव जीवात्माओं के पुण्यापुण्यों के अनुसार गतिशील अतिसूक्ष्म प्रकृतितत्त्वों से पृथिवी और द्युलोक आदि समस्त जगत् को उत्पन्न करता है। परमेश्वर के सर्वत्र फैले हुए चक्षु, मुख, बाहु आदि की कल्पना का कारण उसका 'सर्वान्तरात्मा' होना है, जो अन्यत्र कहीं संभव नहीं।

इसीप्रकार वेदों के पुरुषसूक्तों [ऋ० १०।९०; यजु० ३१; साम० पू० ६।४।३, पूर्णसंख्या ६१७; अथर्व० १९।६] में परब्रह्म परमेश्वर को परमेष्ठी प्रजापति के रूप में सहस्र सिर, नेत्र, पैरों आदि वाला कहकर उसके विराट् स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है। ये सब वर्णन जिस रीति पर किये गये हैं, उससे स्पष्ट होता है, कि परमेश्वर का यह रूपवर्णन केवल कल्पनामूलक है। उस कल्पना का आधार है–उसका सर्वान्तर्यामी एवं सर्वान्तरात्मा होना। इस रूपोपन्यास से इस बात पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता, कि ब्रह्म जगत् का उपादानकारण है, जैसाकि आचार्य शंकर ने प्रकट करने का प्रयास किया है।

अधिकरण के तीनों सूत्रों का तात्पर्य इस अर्थ का उपपादन करना है, कि ब्रह्म सदा अदृश्य, अशरीर, अमूर्त्त, अव्यय आदि स्वरूपवाला है, सब जगत् का उत्पादक है, नियन्ता है, ऐसे ही ब्रह्म का मुण्डक उपनिषद् के उक्त प्रसंग में वर्णन हुआ है ॥२३॥

ब्रह्म के वर्णित विराट् रूप की कल्पना से अभिभूत होकर शिष्य जिज्ञासा करता

है, छान्दोग्य उपनिषद् के पञ्चम अध्याय में वैश्वानर आत्मा और उसके शरीरावयवों का वर्णन है, क्या वह भी ब्रह्म के विराट् रूप का वर्णन समझना चाहिये, अथवा वह किसी अन्य तत्त्व का वर्णन है ? आचार्य सूत्रकार समाधान करता है—

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥२४॥

[वैश्वानरः] वैश्वानर, [साधारणशब्दविशेषात्] साधारण शब्द में विशेष से। छान्दोग्य के प्रसंग में 'वैश्वानर' ब्रह्म समझना चाहिये। यद्यपि वहां 'आत्मा' व 'वैश्वानर' पद साधारण हैं, तथापि इनका सहपाठ विशेष है, जिससे वैश्वानर ब्रह्म सिद्ध होता है।

छान्दोग्य उपनिषद् [५।११।१] में प्रसंग है,–प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल नामक पांच महाशाल [विशाल भवनों वाले] महाश्रोत्रिय [वेदों का नियमित स्वाध्याय करने वाले] जिज्ञासु इकट्ठे होकर विचार करने लगे–'को नु आत्मा किं ब्रह्म' आत्मा क्या है, ब्रह्म क्या है ? परन्तु विचार करते हुए वे किसी निश्चय पर नहीं पहुंचे। उनको ज्ञात हुआ, उद्दालक आरुणि इस समय 'वैश्वानर आत्मा' का अध्ययन करता है; हमें उसके समीप चलना चाहिये। ऐसा निश्चय कर वे उद्दालक आरुणि के पास पहुंचे [५।११।२]।

उद्दालक आरुणि ने 'वैश्वानर आत्मा' के इन जिज्ञासुओं को जांचकर समझ लिया, कि मैं इस विद्या का पूर्ण ज्ञाता नहीं हूं, इनका सन्तोष नहीं कर सकूंगा; उसने स्पष्ट कहा–केकय देशों का राजा अश्वपति इसका पूर्ण विशेषज्ञ है, हम सबको मिलकर उसके पास चलना चाहिये। वे छहों वहां पहुंचे [५।११।४]। अपना उद्देश्य बताया–राजन् ! आप इस काल में 'वैश्वानर आत्मा' के पूर्ण ज्ञाता हैं, इस विद्या का हमें उपदेश करें [५।११।६]।

अश्वपति ने उनके ज्ञान और उपासनाविधि की जानकारी के लिये यथाक्रम प्रत्येक से पूछा, कि आप किस 'वैश्वानर आत्मा' की उपासना करते हैं ? उन छहों जिज्ञासुओं ने यथाक्रम द्यौ, सूर्य, वायु, आकाश, जल और पृथिवी को अपना उपास्य वैश्वानर बताया। राजा ने उनकी उपासना में अपूर्णता दोष बताते हुए उसकी निन्दा की, और कहा, आप सब 'वैश्वानर आत्मा' के किसी एक अंग की उपासना कर रहे हैं; उसका आपको अनुकूल फल प्राप्त हुआ है। यह कह राजा ने वैश्वानर आत्मा के विषय में बताया—

> **"यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति। तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः, चक्षुर्विश्वरूपः, प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा, सन्देहो बहुलः, बस्तिरेव रयिः, पृथिव्येव पादौ, उर एव वेदिः, लोमानि बर्हिः, हृदयं गार्हपत्यः, मनोऽन्वाहार्यपचनः, आस्यमाहवनीयः" [५।१८।१-२]।**

जो उपासक वैश्वानर आत्मा की इस रूप में उपासना करता है, कि यह 'प्रादेशमात्र' और 'अभिविमान' है, वह सब लोकों [द्युलोक आदि] सब भूतों [स्थावर जंगम आदि] और सब आत्माओं में भोग को प्राप्त करता है। 'प्रादेशमात्र' पद ब्रह्म की सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्थिति को प्रकट करने के साथ यह द्योतित करता है, कि उसका साक्षात्कार मस्तिष्कगत हृदयप्रदेश [जीवात्मा के निवास] में होना संभव है। प्रदेश विशेष में साक्षात्कार की संभावना के कारण उसके लिये उक्त पद का प्रयोग हुआ है। 'अभिविमान' पद इस भाव को प्रकट करता है, कि ब्रह्म के साम्मुख्य में समस्त विश्व उसी में नप जाता है, अर्थात् उसी में सीमित है। इससे ब्रह्म के 'महतो महीयान्' स्वरूप का द्योतन होता है। उपासना में ब्रह्म के ऐसे स्वरूप का ध्यान किया जाता है।

उस स्वरूप की महत्ता को प्रकट करने के लिये अगला सन्दर्भ है, जिसमें बताया, कि वैश्वानर आत्मा का तेजस्वी लोकों से पूर्ण द्यौ केवल सिर है, सूर्य चक्षु है, वायु प्राण है, आकाश धड़ है, जल मूत्राशय, पृथिवी पैर हैं, छाती वेदि है, लोम कुशा हैं, हृदय गार्हपत्य अग्नि है, मन दक्षिणाग्नि है, मुख आहवनीय अग्नि है।

इस वर्णन में अनेक ऐसे साधारण चिह्न हैं, जो कई पदार्थों में देखे जाते हैं। फिर स्वयं 'वैश्वानर' पद अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, इन कारणों से यहां संशय उत्पन्न होजाता है, कि यह वर्णन किसका माना जाना चाहिये? 'वैश्वानर' पद का प्रयोग जाठर अग्नि, भौतिक अग्नि, सूर्य देवता, जीवात्मा और परमात्मा इन सब अर्थों में देखा जाता है। तब यहां किस अर्थ का वर्णन माना जाय? यह सन्देह स्वाभाविक है।

जाठर [उदरगत] अग्नि में इस पद का प्रयोग प्रसिद्ध है। 'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते' [बृ० ५।९।१]। यह वैश्वानर अग्नि है, जो यह पुरुष के अन्दर है, खाया हुआ अन्न जिसके द्वारा पचाया जाता है। यहां जाठर अग्नि को वैश्वानर कहा है। इसी अभिप्राय से छान्दोग्य के प्रस्तुत प्रसंग [५।१८।२] में वेदि कुशा आदि यज्ञिय अग्नि के समान वैश्वानर अग्नि के छाती लोम आदि अंग बताये हैं, वे देहांग होने से वैश्वानर अग्नि का देह में होने की ओर संकेत करते हैं। यह सभी मनुष्यों व प्राणियों के देह में रहता है, इसीलिये इसका 'वैश्वानर' नाम है। जैसे जाठराग्नि के लिये इस पद का प्रयोग है, वैसे भौतिक अग्नि के लिये। ऋग्वेद [१।९८।१–३] में भौतिक दृष्टि से वैश्वानर अग्नि का वर्णन है—'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः।' यह वैश्वानर [भौतिक] अग्नि हमारे अनुकूल रहे, हमें सुख देने वाला रहे, यह प्राणिजीवन का आधार है। सूर्य का वर्णन भी वैश्वानर पद द्वारा ऋग्वेद [१०।८८।१२] में उपलब्ध होता है—

'विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्।
आ यस्ततानोषसो विभातीरपो ऊर्णोति तमो अर्चिषा यन्॥'

देवों ने समस्त भुवनों के लिये दिनों का बोधक चिह्न वैश्वानर अग्नि [सूर्य]

को बनाया; जो चमकती हुई उषाओं का विस्तार करता है, प्रकट होता हुआ अन्धकार को दूर भगा देता है। यहां 'वैश्वानर' पद से सूर्य का वर्णन है।

उक्त अर्थों के समान 'वैश्वानर' पद का प्रयोग जीवात्मा के लिये देखा जाता है। कठ उपनिषद् के प्रारम्भ में सन्दर्भ है–'वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्' [१।७]। ब्राह्मण अतिथि घर में वैश्वानर अग्निरूप से प्रवेश करता है। यहां ब्राह्मणादि अतिथि जीवात्मा वैश्वानर अग्नि के रूप में संकल्पित है। भोक्ता होने से देह में जाठराग्नि के साथ उसका सान्निध्य है। छान्दोग्य के प्रस्तुत प्रसंग में कहा गया 'प्रादेशमात्र' पद जीवात्मा में अधिक उपयुक्त है, परिच्छिन्न होने से एक सीमित देश में निवास करता है। ये सब कारण हैं, जिनसे यह सन्देह होता है, कि छान्दोग्य के उक्त सन्दर्भ [५।१८।१-२] में किसका वर्णन माना जाय ?

सूत्रकार ने निश्चय किया, यहां ब्रह्म का वर्णन है। हेतु दिया–'साधारणशब्द-विशेषात्'। 'वैश्वानर' यद्यपि साधारण शब्द है, जाठराग्नि आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, पर उसको यहां 'आत्मा' पद से विशेषित कर दिया गया है। उसके विशेषणरूप में 'आत्मा' पद का यहां पाठ है। यदि केवल 'वैश्वानर' पद का प्रयोग होता, तो उक्त सन्देहों की संभावना थी। 'आत्मा' पद के साथ पढ़े जाने से स्पष्ट होजाता है, कि वैश्वानर सर्वव्यापक चेतनतत्त्व है, जो केवल ब्रह्म होसकता है।

इसके अतिरिक्त जब पांचों जिज्ञासु महात्माओं ने इस विषय में चर्चा प्रारम्भ की, उस समय के अपने वितर्क या सन्देह को उन्होंने इसरूप में प्रस्तुत किया–'को नु आत्मा किं ब्रह्म ? इति' आत्मा कौन है ? या आत्मा का क्या स्वरूप है ? वक्ताओं का तात्पर्य इस पद से सर्वव्यापक चेतनतत्त्व की जिज्ञासा में है। केवल 'आत्मा' पद के प्रयोग से जीवात्मविषयक सन्देह न हो, इसलिये तत्काल साथ ही 'किं ब्रह्म' निर्देश किया गया। अभिप्राय यह, कि 'आत्मा' पद द्वारा जो जिज्ञासा की गई है, वह ब्रह्मविषयक है। ब्रह्म के लिये 'परमात्मा' एवं 'आत्मा' दोनों पदों का प्रयोग अनेकत्र देखा जाता है, [तै० उ० २।१।। अथर्व० १०।८।४४]। इससे स्पष्ट है, यह प्रसंग ब्रह्म की जिज्ञासा से प्रारम्भ हुआ है, आगे उसीका वर्णन ठीक माना जासकता है।

अनन्तर 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः' [छा० ५।१८।२] इत्यादि जो वर्णन किया गया है, वह केवल ब्रह्म का संभव है। ऐसे ही वर्णन का निर्देश पूर्वसूत्र [१।२।२३] में किया है, जिसके विषय में यह निश्चय किया, कि यह ब्रह्म का वर्णन है। ऐसा रूप जाठराग्नि, भौतिक अग्नि, किसी देवतात्मा या जीवात्मा आदि का संभव नहीं।

इसके अतिरिक्त वैश्वानर आत्मा की उपासना का जो फल आगे बताया–'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' [छा० ५।२४।३]। जैसे सींक या कांस पर रुई के समान आया फूल आग के पास आते ही जल जाता है, ऐसे

ही उस उपासक के सब पाप नष्ट होजाते हैं। उपासना के ऐसे फल का सामञ्जस्य उसी अवस्था में संभव है, जब वैश्वानर आत्मा को ब्रह्म समझा जाता है।

एक बात और है, राजा अश्वपति ने छहों जिज्ञासुओं से उनके उपास्य के विषय में जब मालूम किया, तब उनके उत्तर को सुनकर राजा ने यही कहा, कि आपने वैश्वानर आत्मा के पूर्णरूप को खण्ड-खण्ड में कर दिया है। उन सबको सम्मिलित कर देने पर उसका अखण्डरूप सम्पन्न होता है। उसीका वर्णन 'मूर्धैव सुतेजाः' [छा० ५।१८।२] इत्यादि सन्दर्भद्वारा किया गया है। वैश्वानर आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करने की यह उपपत्ति, जाठराग्नि आदि अतितुच्छ भौतिक तत्त्वों तथा अल्पज्ञ अल्पशक्ति जीवात्मा आदि में संघटित नहीं होसकती। इस सब विवेचन से स्पष्ट होता है, कि छान्दोग्य के उक्त प्रसंग में उपास्य वैश्वानर आत्मा का वर्णन, ब्रह्म का वर्णन है ॥२४॥

छान्दोग्य [५।१८।२] वर्णित वैश्वानर आत्मा परब्रह्म परमात्मा है, इस अर्थ की पुष्टि के लिये आचार्य सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥२५॥

[स्मर्यमाणम्] स्मरण किया हुआ–पहचाना हुआ, [अनुमानम्] अनुमान-लिङ्ग [स्यात्] हो, [इति] इस हेतु से। अन्यत्र किये गये ब्रह्म के वर्णन के समान यह वर्णन पहचाने जाने से यहां उसीका वर्णन प्रमाणित होता है।

सूत्र का 'इति' पद हेतु के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'स्मर्यमाण' पद में 'स्मृति' का अर्थ यहां 'प्रत्यभिज्ञा' है। पहले देखे हुए अर्थ को किसी निमित्त से याद करना 'स्मृति' है, पहले देखे अर्थ को जब दुबारा स्मृतिपूर्वक देखा जाता है, उसका नाम 'प्रत्य-भिज्ञा' है। अचानक विश्वमित्र को सामने देखकर जब ऐसा ज्ञान हो, कि आप वही विश्वमित्र हैं, जिनको मैंने गतवर्ष प्रयाग में देखा है। ऐसा ज्ञान 'प्रत्यभिज्ञा' होता है। इसके अनुसार सूत्र के 'स्मर्यमाण' पद का अर्थ है–प्रत्यभिज्ञायमान, पहचाना हुआ।

परमात्मा के जैसे विराट्रूप का ज्ञान वेदादि अन्य शास्त्रों के वर्णन से होता है, छान्दोग्य के उक्त प्रसंग में वैश्वानर आत्मा का वही रूप पहचाना जाता है। यह स्थिति इस वास्तविकता को प्रमाणित करती है, कि वैश्वानर आत्मा परमात्मा होना चाहिये। वेद [अथर्व० १०।७।३२–३४] में ब्रह्म के उस विराट्रूप का वर्णन है—

यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

भूमि जिसका पैर है, अन्तरिक्ष पेट और द्यौ सिर है, उस सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म के लिये नमस्कार है। सूर्य तथा पुनः-पुनः नवीन होता चन्द्रमा जिसके नेत्र हैं; अग्नि को जिसने अपना मुख बनाया है, उस सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म के लिये नमस्कार है। वायु जिसके प्राण-अपान और समस्त प्रकाश चक्षु हुए; दिशाओं को जिसने व्यवहार साधन बनाया, उस सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म के लिये नमस्कार है। इसी के अनुसार मुण्डक उपनिषद् [२।१।४] में वर्णन है—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

तेजोमय द्युलोक जिसका सिर है, चन्द्र-सूर्य नेत्र हैं, दिशा श्रोत्र और विस्तृत वेद वाणी हैं, वायु प्राण एवं विश्व हृदय है, तथा पृथिवी पैर है; यह समस्त जगत् का अन्तरात्मा है। ये उल्लेख ब्रह्म के विराट्रूप और उसकी सर्वान्तर्यामिता का वर्णन करते हैं। उसी विराट्रूप को प्रत्येक जिज्ञासु 'मूर्धैव सुतेजाः' [छा० ५।१८।२] इत्यादि छान्दोग्य सन्दर्भ में देख पहचान सकता है। यह इस तथ्य को पुष्ट करता है, कि यहां वैश्वानर आत्मा का वर्णन ब्रह्म का वर्णन है।

आचार्य शंकर तथा अन्य कतिपय व्याख्याकारों ने 'स्मर्यमाण' पद का अर्थ 'स्मृतिप्रतिपाद्य' किया है। सूत्र की व्याख्या की है—स्मृतियों में परमेश्वर का जो विराट्-रूप वर्णन किया है, वह अपनी मूलभूत श्रुति का अनुमान कराता है, इसप्रकार यह 'वैश्वानर' पद के परमेश्वरवाचक होने में लिङ्ग है। आचार्य का यह व्याख्यान प्रसंग के अनुरूप प्रतीत नहीं होता; कारण यह है, कि स्मृतियों में किये गये परमात्मा के वर्णन से तन्मूलक श्रुति का अनुमान करने की यहां अपेक्षा नहीं है, जबकि वैसी श्रुति साक्षात् उपलब्ध है। फिर सूत्र का तात्पर्य श्रुति का अनुमान करना नहीं, प्रत्युत वैश्वानर आत्मा की ब्रह्मवाचकता में उसका सीधा तात्पर्य है। छान्दोग्य [५।२८।२] के वर्णन में 'वैश्वानर' पद ब्रह्म का वाचक है, इस तथ्य को सूत्रकार वैदिक साहित्य के ऐसे वर्णन की समानता से सिद्ध करना चाहता है, जहां इसी रूप में ब्रह्म का स्पष्ट वर्णन स्वीकार किया गया है। इससे सूत्र का आशय प्रकट होजाता है। छान्दोग्य के वैश्वानर-वर्णन और अन्यत्र के ब्रह्म-वर्णन की समानता 'वैश्वानर' पद के ब्रह्मवाचक होने में प्रमाण है।

यह आशंका की जासकती है, कि 'स्मर्यमाण' पद में 'स्मृति' का अर्थ 'प्रत्यभिज्ञा' कैसे कर लिया? सूत्रकार ने स्वयं [२।२।२५] 'अनुस्मृति' पद का प्रयोग 'प्रत्यभिज्ञा' के लिये किया है। नाम का एकदेश पदार्थ के बोधन कराने में समर्थ माना गया है; तब 'स्मृति' पद का यहां उक्त अर्थ अशास्त्रीय नहीं है। 'स्मृति' पद का यहां 'स्मृतिरूप ग्रन्थ' अर्थ करने पर असामञ्जस्य अभी स्पष्ट कर दिया गया है ॥२५॥

शिष्य आशंका करता है, छान्दोग्य उपनिषद् [५।१८।१-२] के जिस सन्दर्भ में उपास्य वैश्वानर का निर्देश है, वहां वैश्वानर पद से परमेश्वर का ग्रहण किये जाने में

कई बाधा हैं। पहली बाधा है–'वैश्वानर' शब्द, यह जाठराग्नि अथवा भौतिक अग्नि के अर्थ में प्रसिद्ध है। बृहदारण्यक उपनिषद् [५।९।१] में कहा–'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते'। यह अग्नि वैश्वानर है, जो यह अन्दर पुरुष-शरीर में विद्यमान है, खाया हुआ अन्न जिसके द्वारा पचाया जाता है। इसीप्रकार शतपथ ब्राह्मण [१०।६।१।११] में कहा–'स एषोऽग्निर्वैश्वानरः' वह यह अग्नि वैश्वानर है। इन प्रमाणों से 'वैश्वानर' शब्द जाठर अथवा भौतिक अग्नि में प्रसिद्ध होने से ईश्वर का वाचक नहीं माना जाना चाहिये।

दूसरा बाधा है, छान्दोग्य [५।१८।१] में वैश्वानर को प्रादेशमात्र बताना तथा उसके मूर्धा आदि अवयवों का उल्लेख करना [छा० ५।१८।२]। यह वर्णन किसी एकदेशी तत्त्व का संभव है, जो जाठर या भौतिक अग्नि को वैश्वानर मानने में अधिक उपयुक्त है; परमेश्वर में एकदेशी होना या अवयवों की कल्पना करना संभव नहीं।

तीसरी बाधा है, गार्हपत्य आदि तीन अग्नियों की कल्पना, तथा प्रथम आहार को प्राणाहुतिरूप में कल्पना करना [छा० ५।१८।२॥५।१९।१]। ये कल्पना जाठराग्नि में संभव हैं। गार्हपत्य आदि की कल्पना परमेश्वर में कैसे मानी जासकती है?

चौथी बाधा है, वैश्वानर को शरीर के अन्दर प्रतिष्ठित बताना। शतपथ ब्राह्मण में कहा–'पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद' [१०।६।१।११] पुरुष के अन्दर प्रतिष्ठित हुए वैश्वानर को जो जानता है। यहां वैश्वानर की स्थिति शरीर के अन्दर बताई है। यह बात जाठराग्नि में सुघटित है। अथवा अन्दर बाहर सर्वत्र विद्यमान सामान्य अग्नि का यह वर्णन संभव होसकता है, क्योंकि उसका द्युलोक आदि से सम्बन्ध वेद [ऋ० १०।८८।३] में वर्णन किया है। शिष्यद्वारा प्रस्तुत इन आशंकाओं को ध्यान में रखते हुए सूत्रकार आचार्य ने शंकानिर्देशपूर्वक समाधान के लिये सूत्र कहा—

शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न, तथादृष्ट्युपदेशादसंभवात् पुरुषमपि चैनमधीयते ॥२६॥

[शब्दादिभ्यः] शब्द आदि से [अन्तःप्रतिष्ठानात्] अन्दर स्थिति के कथन से [च] और [न] नहीं (-वैश्वानर पदवाच्य ब्रह्म), [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो); [न] नहीं; [तथादृष्ट्युपदेशात्] उसप्रकार दृष्टि के उपदेश से [असम्भवात्] सम्भव न होने से, [पुरुषम्] पुरुष [अपि] भी [च] और [एनम्] इसको (वैश्वानर को), [अधीयते] पढ़ते हैं।

शब्द–वैश्वानर पद तथा अन्य उपर्युक्त बाधाओं एवं शरीर के अन्दर प्रतिष्ठित होने के कथन से यदि यह माना जाय, कि वैश्वानर ब्रह्म नहीं है, तो यह मानना संगत न होगा, क्योंकि वैश्वानररूप में ब्रह्म का उपदेश किसी विशेष दृष्टि से किया गया है, जिससे वे बाधा तिरस्कृत हो जाती हैं। मूर्धा आदि अवयवों का जैसा वर्णन वहां है, वह

ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व में संभव नहीं, और फिर इस वैश्वानर को साक्षात् 'पुरुष' कहा गया है, जो जाठर अग्नि आदि के लिये नहीं कहा जासकता।

सूत्र के 'शब्दादिभ्यः' पद में 'शब्द' पद से पूर्वोक्त पहली बाधा का और 'आदि' पद से दूसरी तीसरी बाधा का समावेश सूत्रकार ने कर दिया है। चौथी बाधा का निर्देश सूत्रकार ने 'अन्तःप्रतिष्ठानात्' पद से किया है। इन सब आशंकाओं के समाधान के लिये सूत्रकार ने तीन हेतु प्रस्तुत किये—

१. तथादृष्टयुपदेशात्, २. असंभवात्, ३. पुरुषमपि चैनमधीयते।

१—वैसी दृष्टि के अनुसार उपदेश होने से पहली आशंका ठीक नहीं। कहा गया वैश्वानर पद जाठराग्नि में प्रसिद्ध है। पर जैसे यह जाठराग्नि अथवा भौतिक अग्नि का वाचक है, वैसे परमेश्वर का वाचक है। इसी बात का यहां विवेचन करना है, कि अनेक अर्थों का वाचक 'वैश्वानर' पद छान्दोग्य के उक्त सन्दर्भ [५।१८।१-२] में किस अर्थ को कहता है। अनेक हेतुओं से यह निश्चय किया गया, कि यहां 'वैश्वानर' पद ब्रह्म का वाचक है। वेदों में इस पद का प्रयोग परमेश्वर अर्थ में हुआ है। ऋग्वेद [१।९८।१] में ऋचा है—

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः।
इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण॥

निश्चय ही वह प्रकाशस्वरूप परमेश्वर समस्त लोक-लोकान्तरों का आश्रय एवं आनन्दस्वरूप है। सर्वदा एकरस विद्यमान वह प्रकृति से इस विश्व की रचना करता है। सूर्य आदि रचनाओं के द्वारा वह वैश्वानर प्रकट है, ऐसे वैश्वानर की सुमति में हम रहें; हमारे प्रति उसका अनुकूल भाव बना रहे। इस ऋचा में 'वैश्वानर' पद का प्रयोग परब्रह्म परमात्मा के लिये हुआ है। इसलिये अनेक स्थलों पर जाठर अग्नि अथवा साधारण भौतिक अग्नि में इस पद का प्रयोग, परमेश्वर अर्थ में इस पद के प्रयोग का बाधक नहीं, क्योंकि जहां 'वैश्वानर' पद के साथ 'आत्मा' आदि पद परमेश्वरबोधक चिह्न विद्यमान हैं, वहाँ यह ब्रह्म का वाचक होगा, अन्य अर्थ का नहीं।

२—इसी हेतु के द्वारा दूसरी बाधा का निराकरण होजाता है। इस तथ्य को अनेकत्र स्पष्ट किया गया है, कि जीवात्माद्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार मस्तिष्कगत हृदय-प्रदेश में उसका ध्यान व उपासना करने से होता है; वह प्रदेश शरीर में जीवात्मा का निवास है। इसप्रकार के ध्यान व उपासना की दृष्टि से सर्वान्तर्यामी परब्रह्म को छान्दोग्य के उक्त प्रसंग [५।१८।१] में प्रादेशमात्र आदि पदों से निर्दिष्ट किया है। अनन्तर [५।१८।२] उसके वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने के लिये उसकी सर्वान्तर्यामिता व सर्वशक्तिमत्ता को अभिव्यक्त करने की भावना के साथ 'मूर्धैव सुतेजाः' इत्यादि विराट्रूप का वर्णन है। द्युलोक आदि को वैश्वानर के मूर्धा आदि अवयव रूप में उल्लेख करना केवल उसके विराट् रूप की कल्पना है; ये उसके कोई वास्तविक अवयव नहीं हैं। उसके

ऐसे कल्पनामूलक विराट्देह की स्थिति का जीवात्मा के कर्मसम्बन्ध से प्राप्त देह के साथ संतुलन नहीं किया जाना चाहिये। इनकी स्थिति का कोई साम्य नहीं है, इनका आधार सर्वथा भिन्न है।

३—तीसरी बाधा के रूप में जो आशंका की गई है, उसका समाधान भी उक्त हेतुद्वारा होजाता है। वैश्वानर विद्या में उपासना को यज्ञ का रूप देकर उसमें गार्हपत्य आदि की कल्पना है। समस्त उपासना का आधार प्राण हैं—जीवनरूप में तथा उपासना की प्रक्रियाओं [प्राणायाम आदि] के रूप में भी। उपासना के लिये प्राणों का सुरक्षित व सबल रहना आवश्यक है। ऐसी दशा में प्रथम आहार को प्राणाहुति [प्राणों के लिये आहुति] रूप में कल्पना करना असामञ्जस्यपूर्ण नहीं है। यहां उपासना की दृष्टि से ऐसा उपदेश किया गया है।

४—चौथी आशंका का समाधान सूत्रकार ने 'असम्भवात्' हेतुद्वारा किया है। प्राणिशरीर में जाठर आदि अग्नि तथा जीवात्मा प्रतिष्ठित हैं, तथा उनके अन्दर 'वैश्वानर' प्रतिष्ठित है। इसी भावना को 'पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद' इत्यादि वाक्यों से प्रकट किया है। प्रथम [१।२।१८—२० सूत्रों में] अन्तर्यामी ब्राह्मण [बृह० ३।७।३—२३] की विवेचना के अवसर पर इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया गया है, कि जीवात्मा के अन्दर परमात्मा प्रतिष्ठित रहता है। जीवात्मा के विषय में अन्दर-बाहर व्यवहार सावयव वस्तुओं के समान नहीं समझना चाहिये। ऐसे व्यवहार में मानव-बुद्धि सावयव वस्तुओं तक सीमित रहती है। निरवयव तत्त्वों में उसका उपयोग अवाञ्छनीय एवं अशास्त्रीय है। जीवात्माओं में 'वैश्वानर' प्रतिष्ठित होने का कथन ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व के विषय में असम्भव है। फलतः छान्दोग्य के उक्त प्रसंग [५।१८।१-२] में वर्णित वैश्वानर ब्रह्म है, यह निश्चित होता है।

इन सबके अतिरिक्त इस विषय में एक बात और है, वाजसनेयि शाखा के आचार्यों ने वैश्वानरविद्या के वर्णन में 'वैश्वानर' को साक्षात् 'पुरुष' कहा है—'स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद' [श० ब्रा० १०।६।१।११]। ब्राह्मण के इस सन्दर्भ में वैश्वानर को 'पुरुष' तथा पुरुष [जीवात्मा] के अन्दर प्रतिष्ठित बताया है। वैश्वानर सर्वात्मना पूर्ण होने तथा समस्त विश्व में अन्तर्यामीरूप से विद्यमान होने के कारण 'पुरुष' कहा गया है, तथा जीवात्मा के अन्दर उसे प्रतिष्ठित कहा है। ये दोनों बातें केवल ब्रह्म में उपपन्न होसकती हैं, इसलिये भी यहां 'वैश्वानर' पद ब्रह्म के लिये प्रयुक्त हुआ समझना चाहिये ॥२६॥

शिष्य आशंका करता है, 'वैश्वानर' पदवाच्य जाठराग्नि न हो, पर सूर्य आदि देवता अथवा भूत-अग्नि अर्थ होसकता है। अथवा अन्य कोई ऐसी अधिष्ठात्री देवता हो, जिसका 'मूर्धैव सुतेजाः' इत्यादि वर्णन है। सूर्य को वेदों [ऋ० १।११५।४॥१०।८८।३] में स्पष्ट देवता माना है, इसकी सर्वव्यापकता भी प्रकाश के सर्वत्र विस्तृत होने से मानी

जासकती है। औष्ण्य के सर्वत्र अन्तर्हित होने से भूताग्नि की भी सर्वव्यापकता सम्भव है, इसलिये वैश्वानर ब्रह्म नहीं। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अत एव न देवता भूतञ्च ॥२७॥

[अतः, एव] इन्हीं पूर्वोक्त हेतुओं से [न] नहीं, [देवता] कोई अधिष्ठात्री देवता [भूतं] भूत-अग्नि [च] और। पूर्वोक्त हेतुओं से ही कोई देवता और भूत-अग्नि वैश्वानर पदवाच्य सम्भव नहीं।

पूर्वसूत्र में कहे हेतुओं से यह तथ्य स्पष्ट होजाता है, कि यहां 'वैश्वानर' पदवाच्य न कोई ऐसी देवता सम्भव है, जिसे इस रूप में ब्रह्म से अतिरिक्त स्वीकार किया जाय, और न भूत-अग्नि इसका अर्थ माना जासकता है। ब्रह्म और जीवात्माओं के अतिरिक्त कोई अन्य ऐसा चेतनतत्त्व नहीं है, जिसे 'अधिष्ठात्री देवता' का नाम दिया जासके। यदि ऐश्वर्यादि प्राप्त कोई जीवात्मा ऐसा हो, तो वह ऐश्वर्य सर्वथा आपेक्षिक होगा, सर्वान्तर्यामिता आदि का होना वहां असम्भव है। 'मूर्धैव सुतेजाः' आदि विराट्-रूपवर्णन न किसी जीवात्मा का होसकता है, चाहे वह कितना ही ऐश्वर्यप्राप्त हो; और न सूर्य अथवा भूत-अग्नि का ऐसा वर्णन संभव है।

सूर्य आदि का देव या देवतारूप में जो वर्णन है, वह उनके भौतिक गुणों के आधार पर है, जो 'देव' पद की अर्थव्यापकता के कारण सम्पन्न होता है। मुख्यरूप से उन वैदिक स्थलों में सूर्य आदि लोक-लोकान्तरों के नियन्ता परमेश्वर का वर्णन अभिप्रेत रहता है। इसके अतिरिक्त 'वैश्वानर' के विशेषणरूप में 'आत्मा' तथा 'ब्रह्म' पद का प्रयोग, 'वैश्वानर' पद के अन्य सभी अर्थों का उक्त प्रसंग में निवारण कर देता है। इस सब विवेचन से छान्दोग्य के उक्त [५।१८।१-२] प्रसंग में 'वैश्वानर' पदवाच्य ब्रह्म है, यह निश्चित होता है ॥२७॥

गत सूत्रों में—वैश्वानर पद के जाठराग्नि आदि अर्थों में प्रसिद्ध होने के कारण—'आत्मा' आदि विशेषण पदों के बल पर यह निश्चय किया कि 'वैश्वानर' पद ब्रह्म का वाचक है। अब सूत्रकार अन्य आचार्यों के विचारद्वारा यह प्रकट करना चाहता है, कि 'वैश्वानर' पद साक्षात् ब्रह्म का वाचक है, इसमें कोई विरोध नहीं। इसी आशय से सूत्रकार ने कहा—

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥२८॥

[साक्षात्] साक्षात् (सीधे वैश्वानर शब्दद्वारा) [अपि] भी [अविरोध] अविरोध मानता है [जैमिनिः] जैमिनि नामक आचार्य। आचार्य जैमिनि कहता है, कि 'वैश्वानर' पद सीधा ब्रह्म अर्थ का वाचक है, इसमें कोई विरोध नहीं।

कोई शब्द किसी अर्थ का बोध कराने में किसी निमित्त-विशेष के कारण प्रवृत्त

होता है; यह उस शब्द के निर्वचन से प्रकट होजाता है। निर्वचन के आधार पर 'वैश्वानर' पद का अभिधावृत्ति से 'परमात्मा' अर्थ स्पष्ट है। 'विश्वेषां नरो नेता इति विश्वानरः, विश्वानर एव वैश्वानरः' जो समस्त जड़ चेतन जगत् का नेता है, वह 'विश्वानर'; और विश्वानर ही 'वैश्वानर' कहा जाता है। यहां 'नरे संज्ञायाम्' [पा० ६।३।१२९] सूत्र से पूर्वपद के अन्त को दीर्घ होजाता है, 'विश्वानर' पद से स्वार्थ में तद्धित 'अण्' प्रत्यय होकर 'वैश्वानर' पद सिद्ध होता है, जिसका अर्थ होता है—समस्त जगत् का नेता व नियन्ता; यह भाव परब्रह्म के अतिरिक्त अन्यत्र सम्भव नहीं। समस्त प्राणी-अप्राणी जगत् का स्वामी होने से यह 'वैश्वानर' है। 'विश्वे चेमे नरा इति विश्वानराः, तेषामयं स्वामी इति वैश्वानरः'। 'तस्येदम्' [पा० ४।३।१२०] इस सूत्र से 'अण्' प्रत्यय कर उक्त शब्द सिद्ध होता है।

निरुक्तकार यास्क ने इस पद का निर्वचन किया है—'वैश्वानरः कस्मात्? विश्वान् नरान् नयति, विश्व एनं नरा नयन्तीति वा' [नि० ७।६।१] प्रकाशस्वरूप परमात्मा का 'वैश्वानर' नाम इसकारण है, कि वह समस्त प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों के फलों को उन्हें प्राप्त कराता है; अथवा समस्त प्राणी फलार्थी होने के कारण अपने शुभाशुभ कर्मों को उस तक पहुँचाते हैं। इसप्रकार समस्त विश्व का स्वामी होना और सबके शुभाशुभ कर्मफलों का प्रदाता होना सर्वान्तर्यामी ब्रह्म के अतिरिक्त अन्यत्र संभव नहीं; इसकारण 'वैश्वानर' पद का अभिधावृत्ति से 'परमात्मा' अर्थ स्पष्ट है। फलतः 'आत्मा' आदि विशेषणों के सहयोग के विना भी 'वैश्वानर' पद छान्दोग्य के उक्त प्रसंग में साक्षात् ब्रह्म का वाचक है, यह निश्चित होता है।

'वैश्वानर' पद का सीधा परब्रह्म अर्थ मानने पर उसके अन्तःप्रतिष्ठित होने के वर्णन के साथ, तथा उसे प्रादेशमात्र एवं अभिविमान कहे जाने के साथ कोई विरोध नहीं है। यद्यपि यह आपाततः युक्त प्रतीत होता है, कि जाठर अग्नि अथवा जीवात्मा आदि शरीर के अन्दर प्रतिष्ठित हैं, इस रूप से उक्त वर्णन इन्हीं में से किसीका होना चाहिये; पर इस तथ्य को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया गया है, कि परब्रह्म परमात्मा सर्वान्तर्यामी होने से उनके भी अन्दर प्रतिष्ठित है; इसलिये अन्तःप्रतिष्ठित होने का वर्णन ब्रह्म के विषय में सर्वथा उपयुक्त है। प्रादेशमात्र कथन के विषय में पर्याप्त प्रकाश डाला जा-चुका है। मूर्धा से चुबुक [ठोड़ी] पर्यन्त जो अंगों के वर्णन [श० १०।६।१।१०-११] का वैश्वानर में समन्वय किया गया है, वह ब्रह्म के साक्षात् करने की प्रक्रियाओं का संकेत करता है। समस्त ऐसी प्रक्रियाओं का सीधा सम्बन्ध इन अङ्ग-प्रदेशों के साथ रहता है, जो प्रादेशमात्र [बिलांयद भर] है। इसके केन्द्रभूत जीवात्मा के निवास मस्तिष्कगत हृदयप्रदेश में ब्रह्म का साक्षात्कार सम्भव होने से वैश्वानर को उक्त पदद्वारा वर्णित किया गया है।

'अभिविमान' पद सर्वज्ञस्वरूप को अभिव्यक्त करता हुआ सीधा ब्रह्म का

वाचक है। 'यः सर्वं जगत् आभिमुख्येन आपरोक्ष्येण विमिमीते विशेषण प्रतिपद्यते जानीते सः अभिविमानः, तं अभिविमानमात्मानम्'। जो प्रत्यक्षरूप से अपने सामने जैसा समस्त जगत् को विशेषरूप से सर्वात्मना जानने वाला है, वह 'अभिविमान' आत्मा है। ऐसा आत्मा परमात्मा के सिवाय अन्य सम्भव नहीं। परमात्मा के ऐसे स्वरूप का वेद [ऋ० ३।६२।९] में वर्णन किया—

'यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति। स नः पूषाविता भुवत्'॥

जो समस्त प्राणियों को अपने सामने जैसा देखता है, और जो समस्त भुवनों–लोक-लोकान्तरों को इसीप्रकार देखता है, वह पूषा–सबका पालन-पोषण करने वाला परब्रह्म परमात्मा सदा हमारी रक्षा करे। इस वर्णन में परमात्मा के 'सर्वज्ञ' भाव को प्रकट किया गया है; 'अभिविमान' पद इसी अर्थ का बोधक है। यह अर्थ मुण्डक उपनिषद् [१।१।९] में 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' कहकर प्रकट किया है। फलतः छान्दोग्य के उक्त प्रसंग [५।१८।१-२] में 'वैश्वानर' पद को साक्षात् ब्रह्म का वाचक मानने पर वहां के किसी वर्णन के साथ इसका विरोध नहीं है। इस विषय में उक्त अभिप्राय आचार्य जैमिनि प्रकट करता है।

इस सूत्र में तथा आगे के सूत्रों में अन्य आचार्यों का नाम लेकर सूत्रकार ने जो आशय प्रकट किया है; उसका सूत्रकार के आशय के साथ इस विषय में कोई भेद नहीं है। सूत्रकार ने इस विषय में प्रथम सूत्रों द्वारा अपना जो आशय प्रकट किया है, उसी को अंशतः अन्य आचार्यों के नाम से अभिव्यक्त किया है। इसमें सूत्रकार को अपने विचार में सम्मतिद्वारा उनकी प्रतिष्ठा निहित है। इन सूत्रों में केवल 'प्रादेशमात्र' कथन पर विवेचन प्रस्तुत किया गया है॥२८॥

पूर्वसूत्रों द्वारा इस तथ्य का प्रतिपादन कर दिया गया, कि छान्दोग्य [५।१८।१-२] में 'वैश्वानर' पद ब्रह्म का वाचक है। उस प्रसंग में 'वैश्वानर' को जो 'प्रादेशमात्र' कहा है, उतने अंश में विशेष विवेचना की भावना से सूत्रकार अन्य आचार्यों की सम्मति प्रथम प्रस्तुत करता है—

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥२९॥

[अभिव्यक्तेः] अभिव्यक्ति के कारण [इति] यह [आश्मरथ्यः] आश्मरथ्य नामक आचार्य कहता है। हृदयप्रदेश में वैश्वानर ब्रह्म अभिव्यक्त–प्रकाशित होता है, इसकारण उसे 'प्रादेशमात्र' कहा, यह आश्मरथ्य आचार्य का विचार है।

इस तथ्य को पहले पर्याप्त स्पष्ट कर दिया गया है। मोक्षप्राप्ति की भावना से उपासक अनन्यभक्ति के साथ शास्त्रीय विधि से भगवान् की उपासना करता है, तथा प्रकृति एवं प्राकृत तत्त्वों के प्रति आसक्ति को छोड़ ब्रह्मानन्द में लीन होने की उत्कट भावना रखता है। ऐसी स्थिति के विषय में मुण्डक उपनिषद् [२।२।४] ने बताया—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

प्रणव [ओंकार] रूप धनुष पर अपने 'आत्मा'रूप बाण को चढ़ाकर ब्रह्म को उसका लक्ष्य बना लेता है, तथा प्रमादरहित होकर सन्धान कर देता है, लक्ष्य को वेध देता है; उस समय जैसे बाण लक्ष्य में प्रविष्ट हो जाता है, ऐसे ही उपासक ब्रह्मानन्द में निमग्न होजाता है। दयासागर अन्तर्यामी भगवान् उपासक की ऐसी अवस्था में जीवात्मा के निवास मस्तिष्कगत हृदयदेश के अन्दर अपने आपको अभिव्यक्त कर देता है। इस स्थिति को मुण्डक उपनिषद् [३।२।३] में कहा—

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।'

यह परमात्मा जिसको वरण कर लेता, अपनी छाया से अच्छादित कर लेता है, समाधिलाभ की सफलता से जिस पर प्रसन्न होता है, वही इसका साक्षात्कार कर पाता है, ऐसे तपस्वी के लिये परमात्मा अपने स्वरूप को प्रकाशित कर देता है। उसके प्रकाशित होने अथवा उसकी अभिव्यक्ति का स्थान उक्त हृत्प्रदेश है, जिसका वर्णन वेद तथा उपनिषद् में अनेकत्र किया गया है—

'वेनस्तत् पश्यन् निहितं गुहा सद्' [यजु० ३२।८]
'एतद् यो वेद निहितं गुहायाम्' [मुण्ड० २।१।१०]
'पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्' [मुण्ड० ३।१।७]
'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्' [तै० २।१]
'एष म आत्माऽन्तर्हृदये' [छा० ३।१४।३]
'स वा एष आत्मा हृदि' [छा० ८।३।३]
'अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः' [श्वे ३।२०]।

ऐसे वर्णन अन्य अनेक स्थलों में द्रष्टव्य हैं। इन सभी स्थलों में हृदयगुहा को परब्रह्म का अभिव्यक्तिस्थान बताया है। भगवद्गीता में उल्लेख है–'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' [१८।६१]। इसप्रकार हृदयदेश में अभिव्यक्ति के कारण ब्रह्म को छान्दोग्य [५।१८।१] प्रसंग में 'प्रादेशमात्र' कहा है। सूत्रकार ने इस विषय में स्वयं आगे सूत्र [१।३।२५]द्वारा अभिमत का उपपादन किया है। यह सब आचार्य आश्मरथ्य के विचार से प्रस्तुत किया गया॥२६॥

अब आचार्य बादरि के विचारानुसार 'प्रादेशमात्र' कथन के विवरण को सूत्रकार प्रस्तुत करता है—

अनुस्मृतेर्बादरिः॥३०॥

[अनुस्मृतेः] अनुस्मरण से (प्रादेशमात्र कहा है), [बादरिः] यह बादरि आचार्य कहता है। वैश्वानर आत्मा (ब्रह्म) का अनुस्मरण-चिन्तन हृदयप्रदेश में किया

जाता है, इस कारण बादरि के विचार से वैश्वानर को प्रादेशमात्र कहा है।

उपनिषद् [बृ० २।४।५) में कहा–'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' आत्मा (परब्रह्म) के दर्शन के लिये शास्त्र तथा गुरुओं द्वारा सुनना अपेक्षित है, अनन्तर उसपर विचार करना, फिर प्राप्ति के लिये उपासना करना है। श्रवण के अनन्तर ब्रह्म का जो चिन्तन व उपासन करना है, इसीको सूत्र में 'अनुस्मृति' पद से कहा गया है। यह चिन्तन व उपासन सावधान शुद्ध अन्तःकरणद्वारा हृदय-प्रदेश में किया जाता है। कारण यह है, कि आत्मा के साथ अन्तःकरण का निवास वही है। ब्रह्म का यह अनुस्मरण-उपासन सीमाबद्ध हृदयप्रदेश में होने परिच्छिन्न अन्तःकरणद्वारा किये जाने के कारण उपास्य को 'प्रादेशमात्र' कह दियाग या है।

आश्मरथ्य के विचार से हृदयप्रदेश में ब्रह्म की अभिव्यक्ति के कारण 'प्रादेश-मात्र' कथन है, बादरि ऐसे कथन का कारण उस प्रदेश में ब्रह्म की उपासना होना बताता है। इन दोनों में कोई विशेष भेद नहीं है। दोनों कथन ठीक हैं, क्योंकि ब्रह्म की उपासना उसी प्रदेश में कीजाती है, और उसका साक्षात्कार भी वहीं होता है। यह केवल एक अर्थ को प्रतिपादन/करने की विभिन्न रीतिमात्र है। सूत्रकार आचार्य को अर्थ के इसप्रकार उपपादन में कोई आपत्ति नहीं है।

उपासना का मुख्य साधन शुद्ध अन्तःकरण है। उपनिषदों में अनेकत्र [श्वे० ४।२०।। ३।१३।। मु० ३।१।८।। कठ० २।३।६।। २।१।११।।] इसका उल्लेख है। कठ उपनिषद् [१।३।१२] का सन्दर्भ भी इस विषय में द्रष्टव्य है। मैत्रायणी उपनिषद् [४।३।६] में जीवन्मुक्त दशा की आनन्दानुभूति का वर्णन करते हुए बताया है, कि वह अन्तःकरणद्वारा ही संभव है ।।३०।।

इसी विषय में आचार्य सूत्रकार जैमिनि के विचार को प्रस्तुत करता है—

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति ।।३१।।

[सम्पत्तेः] सम्पत्ति से (उक्त कथन है), [इति] यह [जैमिनिः] जैमिनि कहता है; [तथाहि] उसीतरह [दर्शयति] दिखलाता है। जैमिनि कहता है, कि द्यु आदि का मूर्द्धा आदि में सम्पादन-सन्तुलन किये जाने से वैश्वानर को प्रादेशमात्र कहा; वह सब शास्त्र दिखलाता है।

वैश्वानर पद से ब्रह्म का उपपादन किया गया है। वह वैश्वानर समस्त लोक-लोकान्तरों पृथिवी द्यु आदि में व्याप्त है। उसकी ऐसी स्थिति को उपासक जीवात्मा के उपासनास्थान में सम्पन्न-सन्तुलित किया गया है। तात्पर्य है, कि अतिसीमित उपासनाप्रदेश में ब्रह्म के उस विश्वरूप अथवा विराट्रूप की सन्तुलना कर उपासना में उसीकी भावना की जाय। द्यु से लेकर पृथिवीपर्यन्त सब लोकों का वैश्वानर के अङ्गरूप में वर्णन किया है, वह वर्णन जीवात्मा-देह के मूर्द्धा से चुबुक [ठोड़ी] तक सीमित

है। शरीराङ्गों के साथ द्यु आदि के इस सन्तुलन को सूत्र में 'संपत्ति' पद से कहा गया है। वैश्वानर का द्यु से लेकर पृथिवी तक सर्वत्र व्याप्त होना, शरीराङ्गों में मूर्धा से चुबुक तक वर्णित होजाता है। ठोड़ी से मूर्धा तक यह एक बालिश्त भर प्रदेश है। इस आधार पर–सर्वत्र व्याप्त भी वैश्वानर को–'प्रादेशमात्र' कहा गया है।

ऐसे सम्पादन-सन्तुलन को शतपथ ब्राह्मण [१०।६।१।१०-११] में दिखलाया—
"प्रादेशमात्रमिव ह वै देवाः सुविदिता अभिसम्पन्नाः, तथा नु वः एतान् वक्ष्यामि, यथा प्रादेशमात्रमेवाभिसम्पादयिष्यामीति ॥१०॥ स होवाच। मूर्द्धानमुपदिशन्नुवाचैष वा अतिष्ठा वैश्वानर इति। चक्षुषी उपदिशन्नुवाचैष वै सुतेजा वैश्वानर इति। नासिके उपदिशन्नुवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानर इति। मुख्यमाकाशमुपदिशन्नुवाचैष वै बहुलो वैश्वानर इति। मुख्या अप उपदिशन्नुवाचैष वै रयिर्वैश्वानर इति। चुबुकमुपदिशन्नुवाचैष वै प्रतिष्ठा वैश्वानर इति।"

सर्वत्र व्याप्त परमात्मा को विद्वानों ने 'प्रादेशमात्र' जैसा जाना, उसके आधार सम्पत्ति–सन्तुलन को समझा। अश्वपति कैकेय उन जिज्ञासुओं को कहरहा है, जो वैश्वानरविद्या को समझने के लिये उसके पास आये। राजा ने कहा–वह सब मैं इन जिज्ञासुओं को कहूंगा। जिसप्रकार प्रादेशमात्र-सा वैश्वानर है, यह सम्पादन करूंगा, अर्थात् तुलना कर यह इन्हें बतलाऊंगा। यहां ब्रह्माण्ड को पिण्ड में दिखाने का प्रयास है। राजा अश्वपति ने द्यु आदि लोकों और जिज्ञासुओं के देहाङ्गों की ओर अंगुलि से संकेत करते हुए जब मूर्द्धा का उपदेश किया, तब कहा–यह द्युलोक सबसे ऊपर विद्यमान वैश्वानर है। जैसे देहाङ्गों में मूर्द्धा अन्य सब देहाङ्गों का अतिक्रमण कर ऊपर विद्यमान है, ऐसे ही यह द्युलोक वैश्वानर का मूर्द्धास्थानीय है। इसीप्रकार चक्षु की ओर संकेत करते हुए कहा–यह तेजस्वी सूर्य वैश्वानर है, अर्थात् सूर्य वैश्वानर का चक्षु-स्थानीय है। ऐसे ही वायु नासिकास्थानीय, आकाश मुखस्थानीय, जल धनस्थानीय, पृथिवी चुबुकस्थानीय है। यहां मूर्द्धा से चुबुक तक में वैश्वानर के काल्पनिक अधिदैवत अंगों का अध्यात्म में सम्पादन-सन्तुलन-सामञ्जस्य प्रकट किया है। यह मूर्द्धा से ठोड़ी तक का देहांग प्रादेशमात्र [बालिश्त भर] होने से तथा इतने में वैश्वानर को सम्पादित-सन्तुलित किये जाने से अपरिच्छिन्न वैश्वानर को प्रादेशमात्र कहा गया है।

इस विषय में आचार्य जैमिनि का तात्पर्य यह है–प्रथम राजा अश्वपति ने अपने पास आये छहों जिज्ञासुओं से पूछा, आप वैश्वानर की उपासना किस रूप में करते हैं। उन्होंने जो बताया, अश्वपति ने उसे अपूर्ण कहा; तथा उतने ही अंश में उसके फलों का उल्लेख किया [छा० ५।११–१७]। अनन्तर वैश्वानर के जिस पूर्णरूप का राजा ने उपदेश किया, वह वैसा ही विराट्रूप है, जिसका वेदों के पुरुष सूक्तों तथा अन्य अनेक प्रसंगों में वर्णन है। देहांगों में वैश्वानर के सम्पादन का अभिप्राय यह

है; कि जैसे मूर्द्धा आदि देह के एक अंश या अवयवमात्र हैं, कोई अंग पूरा देह नहीं है; इसीप्रकार जिज्ञासुओं ने जो अपना-अपना उपास्य वैश्वानर बताया, वह वैश्वानर विभूति का अंशमात्र है, उन सबको मिलाकर उससे भी अधिक वैश्वानर का पूर्णरूप है, तथा उसको दृश्य विश्व के आधाररूप में प्रकट किया जासकता है; विश्व के उन्हीं दृश्यों को देहांगों के साथ सन्तुलित कर उसके पूर्णरूप का आभास दिया गया है। यही सम्पादन या सन्तुलन उस विराट् सर्वत्र व्याप्त वैश्वानर को 'प्रादेशमात्र' कहे जाने का कारण है। इन्हीं भावनाओं को शतपथ ब्राह्मण के उक्त प्रसंग [१०।६।१।१०।११] में दिखलाया गया है।

ब्रह्म को 'प्रादेशमात्र' कहे जाने के समान कतिपय स्थलों में इसे 'अंगुष्ठमात्र' कहा गया है। देखें—कठ उपनिषद् [२।१।१२-१३] के सन्दर्भ। यहां जीवात्मा के मध्य में 'अंगुष्ठमात्र' कहकर ब्रह्म का अस्तित्व बताया है। उस प्रदेश में अभिव्यक्ति अथवा चिन्तन ही ब्रह्म के लिये इस पद [अंगुष्ठमात्र] के प्रयोग का कारण है ॥३१॥

आचार्य सूत्रकार ने इस सब प्रासंगिक चर्चा का निगमन करते हुए प्रकरण का अन्तिम सूत्र कहा—

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥३२॥

[आमनन्ति] बार-बार उल्लेख करते हैं (ऋषिजन) [च] भी [एनम्] इसको [अस्मिन्] इसमें—इस विषय में। वैश्वानर आत्मा की उपासना के विषय में आत्म-ज्ञान की इस विधि को अनेक प्रसंगों में बार-बार उल्लेख करते हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् के पञ्चम अध्यायगत आठ खण्डों [११—१८] में वर्णित 'वैश्वानर आत्मा' ब्रह्म है, इसका निर्णय सूत्रकार आचार्य ने पांच सूत्रों [२४—२८] द्वारा किया। अन्तिम चार सूत्रों द्वारा यह विवेचन किया गया, कि उस 'वैश्वानर आत्मा' को 'प्रादेशमात्र' कहे जाने के क्या कारण संभव होसकते हैं।

इस विषय में विभिन्न आचार्यों के जो विचार सूत्रकार ने प्रकट किये हैं, उन सब में कुछ सार है, बल है, और उनका शास्त्रीय आधार है। उन विचारों में परस्पर कोई विरोध नहीं है; वह किसी तथ्य को केवल एक दिशा से विचारने का मार्ग है। ब्रह्म की अभिव्यक्ति या साक्षात्कार हृदयप्रदेश में होता है; अथवा उसका अनुस्मरण—चिन्तन साक्षात्कार के लिये अन्तःकरण आदि साधनों द्वारा किया जाता है, तथा वह भी हृदयदेश में किया जाता है; अथवा उसके अधिदैवत विराट्रूप का सम्पादन अध्यात्म में किया गया है; ये सभी स्थितियां अपने-अपने रूप में अपरिच्छिन्न वैश्वानर आत्मा के प्रादेशमात्र कहे जाने के लिये निमित्त संभव हैं। ब्रह्मज्ञान के विषय में इन सबका उल्लेख ऋषिजनों ने किया है।

वैश्वानर ब्रह्म की अभिव्यक्ति जीवात्मा के निवासस्थान हृदयदेश में होती है,

इसका कथन ऋषियों द्वारा अनेक प्रसंगों में हुआ है। इस विषय में श्वेताश्वतर उपनिषद् के सन्दर्भ [१।१५।।३।२०।।४।२०।।६।५,६] द्रष्टव्य हैं। उनत्तीसवें सूत्र की व्याख्या में अनेक ऐसे स्थलों का उल्लेख किया गया है, जहां आत्मा के निवास हृदयदेश में ब्रह्म की अभिव्यक्ति होने का वर्णन है। इसके अतिरिक्त मुण्डक [२।२।६] तथा कठ उपनिषद् [१।३।१२] के सन्दर्भ द्रष्टव्य हैं। कठ उपनिषद् [२।१।१२] के एक अन्य सन्दर्भ में कहा है–यह अंगुष्ठमात्र पुरुष, आत्मा के मध्य में रहता है, यह भूत-भव्य का ईशिता है, वहां यह अपने आपको उससे छिपाकर नहीं रखना चाहता। यहां ब्रह्म को 'अंगुष्ठमात्र' कहा, आत्मा के मध्य अर्थात् जीवात्मा के अन्दर एवं उसके निवास-स्थान हृदयदेश में विद्यमान होने के कारण। वहां ब्रह्म अभिव्यक्त होता है, इस तथ्य को 'न ततो विजुगुप्सते' पदों से स्पष्ट किया गया है। वहां वह अपने आपको आत्मा से छिपाकर नहीं रखना चाहता। तात्पर्य यह, कि वहीं ब्रह्म की अभिव्यक्ति संभव है। यद्यपि यह विचार सूत्रकार ने आश्मरथ्य आचार्य के नाम से प्रस्तुत किया, पर स्वयं सूत्रकार को इसमें कोई आपत्ति नहीं है। इसीलिये यहां कहा, कि ब्रह्मोपासना के विषय में ब्रह्मज्ञान के लिये इस विधि का प्रतिपादन ऋषिजन करते हैं।

इसीप्रकार ब्रह्मविषयक अनुस्मृति-चिन्तन-उपासन परिच्छिन्न अन्तःकरणद्वारा किया जाता है, तथा यह सब अनुष्ठान आत्मा के निवास हृदयदेश में संभव है, इसलिये अपरिच्छिन्न वैश्वानर ब्रह्म को प्रादेशमात्र कहा गया है; यह बादरि आचार्य का विचार सूत्रकार को अनभिमत नहीं है। इसीलिये प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने कहा–ब्रह्मज्ञानविषयक प्रसंगों में इसप्रकार के चिन्तन व उपासनविधि का ऋषिजन अनेकत्र कथन करते हैं। तीसवें सूत्र की व्याख्या में ऐसे कतिपय स्थलों का उल्लेख किया है।

आचार्य जैमिनि के विचार से वैश्वानर ब्रह्म को 'प्रादेशमात्र' कहे जाने के कारणभूत 'सम्पत्ति' का प्रमाणपूर्वक विवेचन इकत्तीसवें सूत्र में कर दिया है। सर्वव्यापक वैश्वानर को 'प्रादेशमात्र' कहे जाने के ये सभी कारण आर्ष हैं। सूत्रकार ने इनकी यथार्थता में कोई आपत्ति नहीं उठाई है। प्रकरण का उपसंहार करते हुए प्रस्तुत सूत्रद्वारा इन सबको अभिमत माना है। कारण यह है, कि ब्रह्मज्ञान के विषय में इस विधि को ऋषियों ने सर्वत्र स्वीकार किया है, जैसाकि गतसूत्रों की व्याख्या में स्पष्ट कर दिया गया है।

आचार्य शंकर ने इस सूत्र का लक्ष्य या विवेच्य प्रदेश जाबालोपनिषद् का संदर्भ माना है। इस उपनिषद् की रचना का काल महाभारतकालीन व्यास [वेदव्यास अथवा बादरायण व्यास] से पर्याप्त अर्वाचीन है। ऐसी स्थिति में सूत्ररचना का आधार इस उपनिषद् का सन्दर्भ कैसे संभव होसकता है? आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या में इस व्यवस्था का कहीं ध्यान नहीं रक्खा, इससे सूत्ररचनाकाल सर्वथा व्यत्यस्त होगया है। इस दिशा में शंकर की व्याख्या ने भयावह त्रास उत्पन्न कर दिया है। विवेक-

शील विद्वानों को इस तथ्य पर गंभीरतापूर्वक ध्यान देना चाहिये । अन्यथा ब्रह्मसूत्रों का कर्त्ता महाभारतकालीन व्यास को मानना छोड़ देना चाहिये, जो भारतीय परम्परा के सर्वथा विपरीत है। इतिहास एवं अन्य शास्त्रीय प्रमाण भी इसको कोई बुद्धिगम्य सहायता नहीं देते, कि ये ब्रह्मसूत्र महाभारतकालीन वेदव्यास द्वारा रचित नहीं हैं। तब आचार्य शंकर के ऐसे व्याख्यान अवश्य चिन्तनीय हैं। यदि किन्हीं सुपुष्ट प्रमाणों से जाबालोपनिषद् का रचनाकाल महाभारतकाल से पूर्व सिद्ध होता है, तो आचार्य के व्याख्यान में कोई अधिक आपत्ति नहीं ।।३२।।

इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

अथ प्रथमाध्याये तृतीयः पादः

शिष्य जिज्ञासा करता है, शास्त्रकारों ने परब्रह्म परमात्मा के विराट्रूप की कल्पना की है, उसका वर्णन करते हुए, द्यु, पृथिवी आदि को परमात्मा का देहाङ्ग बताया, जैसा गत प्रकरण में उल्लेख हुआ है। क्या परमात्मा के देहांगों के रूप में वर्णित द्यु आदि के साथ परमात्मा का ऐसा ही सम्बन्ध है, जैसा जीवात्मा का अपने देह या देहांगों के साथ होता है, या उसमें कुछ विशेषता है ? जिज्ञासा का कारण यह है, कि देह में जीवात्मा का जब तक निवास रहता है, उस समय तक देह संचालित रहता है, जीवात्मा के निकल जाने पर देह में उन समस्त क्रियाओं का अभाव होजाता है, जो जीवात्मा के रहते हुआ करती हैं। यह एक ऐसी अवस्था है, जब जीव और उस देह का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसके विपरीत जगत् की कोई ऐसी अवस्था नहीं है, जब वह ब्रह्म की सत्ता को छोड़कर अथवा ब्रह्मसम्बन्ध से रहित होकर रहसके। जगत्सर्ग तथा जगत्प्रलय दोनों अवस्थाओं में जगत् की सत्ता ब्रह्म को छोड़कर संभव नहीं। द्यु आदि के परमात्म-देहांगों की कल्पना में यह संशय होता है, कि उनका परस्पर सम्बन्ध क्या है ? क्योंकि जीवात्मा और देहों के पारस्परिक सम्बन्ध से उसमें यह वैषम्य देखा जाता है। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥१॥

[द्युभ्वाद्यायतनं] द्युलोक तथा पृथिवीलोक आदि का आयतन, आधार व अधिष्ठाता है, [स्व-शब्दात्] स्व-आत्मा शब्द से। शास्त्र में ब्रह्म को द्यु आदि का आयतन एवं नियन्ता कहा है; क्योंकि यह सब 'एक आत्मा' शब्द के साथ बताया है।

मुण्डक उपनिषद् [२।२।५] में प्रसंग है – 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥' जिसमें द्यु, पृथिवी और अन्तरिक्ष तथा समस्त इन्द्रियों के साथ मन ओत हैं–पिरोये हुए हैं; उसी एक आत्मा को जानो, अन्य बातें छोड़ दो, यह अमृत का सेतु है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में बताया, कि ऐसा एक आत्मा ज्ञातव्य है, जिसमें द्यु, पृथिवी, अन्तरिक्ष आदि ओत हैं। 'ओत' पद का अर्थ है–प्राप्त होना, अपने अस्तित्व का लाभ करना, किसी जगह इसप्रकार गुथे रहना कि उससे अलग होना संभव न हो। द्यु आदि जिसमें सदा प्राप्त हैं, अपने अस्तित्व का लाभ करते हैं तथा ऐसे गुथे या सटे हैं, जिसे छोड़कर बाहर होजाना असंभव है; द्यु आदि का ऐसा सम्बन्ध केवल परमात्मा के

साथ संभव है। यह इनका परस्पर आधाराधेय एवं नियन्तृनियम्यभाव सम्बन्ध है। जगत् चाहे कार्यरूप है अथवा कारणरूप, उसका कोई ऐसा अंश नहीं, जो परमात्मा से व्याप्त न हो। सबका अन्तर्यामी परमात्मा विश्व का नियन्त्रण करता है, इस रूप में वह समस्त का आयतन है। जीवात्मा और देह का भोक्तृभोग्यभाव सम्बन्ध रहता है। जीवात्मा भोक्ता है, तथा देहादि भोग्य हैं। व्यवस्थित भोग सम्पन्न होजाने पर उस देह के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं रहता। पर विश्व और ब्रह्म का यह सम्बन्ध नहीं है। ब्रह्म वहां सदा नियन्ता है, तथा विश्व सदा नियम्य। विश्व में सदा एक नियत व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है, जबकि देह में जीवात्मा के भोगानुसार क्रिया हुआ करती हैं।

जगत् का नियम्य-नियन्तृभाव सम्बन्ध केवल ब्रह्म के साथ संभव होसकता है, यह बात उक्त सन्दर्भ में 'एक आत्मा' पद के कहे जाने से स्पष्ट होती है। जिसमें द्यु आदि सब लोक-लोकान्तर 'ओत' हैं, अधिष्ठित हैं, वह 'एक आत्मा' है। ऐसी सत्ता न जगत् का उपादानकारण प्रकृति है और न जीवात्मा। यद्यपि प्रकृति कार्यमात्र का उपादान होने से द्यु आदि का आश्रय सम्भव है, पर वह जड़ होने से जगत् का अधिष्ठाता व नियन्ता कभी सम्भव नहीं। जीवात्मा भी अल्पज्ञ अल्पशक्ति होने से द्यु आदि का अधिष्ठाता व नियन्ता नहीं माना जासकता। यह कहना ठीक है, कि द्यु आदि कार्य अपने उपादानकारण प्रकृति को छोड़कर नहीं रह सकते, न उसके बिना आत्मलाभ कर सकते हैं, इस रूप में वह कार्य का आधार भले रहो, पर इन सब स्थितियों का नियमन प्रकृति के अधीन नहीं है; वह जिस पर आधारित है, यहां वही 'आयतन' अपेक्षित है। प्रकृति और जीवात्मा ऐसे आयतन नहीं होसकते, सूत्रकार ने स्वयं इसका प्रतिपादन आगे किया है। जगत् का ऐसा आयतन या आधार उनके परस्पर नियम्य-नियन्तृभाव को स्पष्ट करता है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में न केवल 'आत्मा' पद इसका प्रयोजक है, प्रत्युत प्रसंग भी इस तथ्य को स्पष्ट करता है। यहां कहा गया—'ऐसे उस आत्मा को जानो'। उसे जानने का उपाय इससे पहले सन्दर्भ [२।२।४] में प्रस्तुत किया—प्रणव-रूप धनुष पर जीवात्मा-रूप बाण को चढ़ाकर ब्रह्म को लक्ष्य बना सावधानतापूर्वक छोड़ दो। जीवात्मा अपने लक्ष्य ब्रह्म में प्राप्त होजायगा। उसी ब्रह्म का अगले सन्दर्भ में वर्णन है। इसलिये जिसमें द्यु आदि ओत हैं, वह ब्रह्म निश्चित होता है, तथा जगत् से ब्रह्म का सम्बन्ध स्पष्ट होजाता है। ऐसे सभी प्रसंगों के विवरण प्रस्तुत करने से सूत्रकार का आशय ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट समझाना है, जिसकी जिज्ञासा ग्रन्थारम्भ में की गई है।

वेदों में द्यु आदि के आयतन, आधार व नियन्तारूप से परब्रह्म का अनेकत्र वर्णन है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का १५४वां सूक्त इस विषय का स्पष्ट वर्णन करता है—'य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा' त्रिगुणात्मक प्रकृति के परिणाम

पृथिवी, द्यु एवं समस्त विश्व को वह एकमात्र सर्वव्यापक परमात्मा धारण करता है। इस विषय की पुष्टि के लिये ऋग्वेद के ये [२।१२; २।१७।५; ३।३२।८; १०।१२१] स्थल द्रष्टव्य हैं। ऐसे वर्णन वेदों के अनेक स्थलों में हैं, यह दिग्दर्शनमात्र है ॥१॥

मुण्डक उपनिषद् [२।२।५] के उक्त सन्दर्भ में ब्रह्म को द्यु पृथिवी आदि का आयतन बताया, सूत्रकार उसकी पुष्टि के लिये अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥२॥

[मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्] जीवन्मुक्त पुरुषों के प्राप्तव्य कहे जाने से। उपनिषद् के उस प्रसंग में द्यु आदि के आयतन को जीवन्मुक्तों का उपसृप्य–प्राप्तव्य कहा गया है, इसकारण भी वह ब्रह्म होना चाहिये।

'तमेवैकं जानथ आत्मानं' [मु० २।२।५] इस वाक्य में ब्रह्म को जानने के लिये निर्देश है, ब्रह्म सबके लिये ज्ञातव्य है। जब जीवात्मा ब्रह्म को जानलेता है, उस अवस्था का वर्णन अगले सन्दर्भ [मु० २।२।८] में किया—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

उस सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी परब्रह्म के जानलेने पर जीवात्मा की हृदयग्रन्थि टूट जाती है, हृदय की गांठ खुल जाती है, सब संदेह छिन्न-भिन्न होजाते और कर्म क्षीण होजाते हैं। हृदय-गांठ का खुल जाना जीवात्मा के लिये एक विशेष स्थिति का संकेत करता है। जीवात्मा सर्गादिकाल से अपने कर्मानुसार एक प्राकृतिक आवेष्टन में घिरा रहता है। आत्मा का यह आवेष्टन सूक्ष्मशरीर है, जो अठारह अवयवों से घटित होता है। ये तेरह करण [दस इन्द्रियां, तीन अन्तःकरण–बुद्धि अहंकार मन] तथा पांच सूक्ष्मभूत [तन्मात्र] हैं। सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित जीवात्मा स्थूलशरीर के अन्दर मस्तिष्क के एक अति-लघु स्थान में निवास करता है; उसी स्थान को इस भाष्य में अनेकत्र 'मस्तिष्क-गत हृदय' कहा गया है। समस्त भारतीय आध्यात्मिक वाङ्मय में आत्मा के निवास का हृदय या हृदयगुहा के रूप में जो उल्लेख है, वह उसी स्थान का निर्देश करता है। आत्मा का यह आवेष्टन 'हृदयग्रन्थि' है। संसारदशा में जीवात्मा इसी गांठ में बंधा रहता है। यद्यपि प्रलयकाल में यह गांठ नहीं रहती, पर वह अवस्था आत्मा की घोर अज्ञानमय है, इसलिये उसे 'गांठ का खुल जाना' नहीं कहा जासकता। प्रलयदशा समाप्त होने और सर्ग का प्रारम्भ होने पर जीवात्मा कर्मानुसार फिर वैसे ही शरीर से आवेष्टित होजाता है; इस तरह यह गांठ बंधी रहती है, ब्रह्म का साक्षात्कार होजाने पर खुल जाती है। आत्मा की यह जीवन्मुक्त अवस्था है।

अनन्तर उपनिषद् में उस स्थान का वर्णन है, जो ऐसे जीवन्मुक्तों के लिये प्राप्तव्य कहा गया है। वहां का सन्दर्भ [मु० ३।२।५] है—

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥

पूर्णज्ञानी कृतात्मा वीतराग प्रशान्त धीर आत्मज्ञानी योगी ऋषि उस सर्वव्यापक परमात्मा को प्राप्त होकर पूर्ण आनन्द में डूबे रहते हैं । आगे पुनः कहा—'तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' [मु० ३।२।८] आत्मज्ञानी नामरूपात्मक संसार से छूटकर परब्रह्म [परात्परं पुरुषं] को प्राप्त होजाता है । इससे स्पष्ट होता है, कि प्रसंग के प्रारम्भ में जिसे द्यु आदि का आयतन कहा, उसका ही निगमन वाक्यों में जीवन्मुक्त के लिये प्राप्तव्य स्थान के रूप से उपदेश है । जीवन्मुक्त का प्राप्तव्य लक्ष्य परब्रह्म है; इसलिये द्यु आदि का आयतन परमात्मा निश्चित होता है ।

प्रस्तुत प्रसंग में उपादानोपादेयभाव अथवा प्रकृति-विकारभाव की दृष्टि से द्यु आदि के आयतन का प्रतिपादन अभीष्ट नहीं है, नियम्य-नियन्तृभाव से नियन्ता का आयतनरूप में वर्णन अभिप्रेत है; इसलिये जगत् के उपादानकारण प्रकृति को यहां द्यु आदि के आयतनरूप में समझना अप्रासंगिक होगा । जिस आयतन को प्रस्तुत प्रकरण में ज्ञेय तथा जीवन्मुक्त आत्माओं के लिये उपसृप्य-प्राप्तव्य बतलाया है, वह ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य संभव नहीं । अन्यत्र [बृ० ४।४।२१] भी उसे ज्ञेय कहा है—'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुध्यायाद्बहूञ्शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्' । बृहदारण्यक उपनिषद् में यह सन्दर्भ किसी प्राचीन ग्रन्थ से उद्धृत है । ब्रह्मजिज्ञासु धैर्य के साथ उस परब्रह्म को जानकर ज्ञान की सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त करे । अन्य शब्दों का चिन्तन व्यर्थ है, क्योंकि वह वाणी का श्रममात्र है । यहां विश्वकर्त्ता [बृ० ४।४।१३] ब्रह्म को ज्ञेय बताया है ।

माध्यन्दिनीय शतपथ ब्राह्मण [१४।७।२।२५] में कहा—'तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति, ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति' । उस लोकेश्वर लोकपाल सर्वभूताधिपति लोकों को विनाश से बचाने के लिये लोकों के धारण में बन्धनरूप परब्रह्म को वेदप्रतिपादित मार्ग से जानने की इच्छा रखते हैं । वह मार्ग है—ब्रह्मचर्य तप श्रद्धा और अनाशक यज्ञ । इन विधियों से उस ब्रह्म को जानकर मुनि होजाता है । ब्रह्म को यहां ज्ञेय अथवा प्राप्तव्य बताया है । मुण्डक उपनिषद् [२।२।५] में कहा—द्यु आदि का आयतन भी ज्ञेय होने से परमात्मा है ॥२॥

जगत् का उपादानकारण प्रकृति प्रस्तुत प्रसंग में 'आयतन' पद से ग्राह्य नहीं है, इसमें सूत्रकार आचार्य स्वयं हेतु प्रस्तुत करता है—

नानुमानमतच्छब्दात् ॥३॥

[न] नहीं [आनुमानं] अनुमानबोध्य-प्रधान [अतच्छब्दात्] उसका बोधक शब्द न होने से । कार्य से उपादानकारण का अनुमान होता है, प्रस्तुत प्रसंग में इसका प्रति-

पादक शब्द न होने से उपादानकारण यहां 'आयतन' अभिप्रेत नहीं।

कार्य जगत् जड़ परिणामी एवं त्रिगुणात्मक है, इससे उसके समान उपादान-कारण का अनुमान होता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है, कि जगत् का उपादान-प्रकृति केवल अनुमानप्रमाणबोध्य है, कोई शास्त्रीय प्रमाण उसका बोधक या प्रतिपादक नहीं, जैसाकि आचार्य शंकर आदि व्याख्याकारों ने समझा है। जड़ जगत् के उपादानकारण त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति का वेद तथा अन्य वैदिक-लौकिक साहित्य में अनेकत्र वर्णन[1] है। इसलिये इसका केवल इतना तात्पर्य है, कि कार्य के अनुसार उपादानकारण का अनुमान किया जाता है; जगत् का ऐसा कारण मुण्डक के उक्त प्रसंग में 'आयतन' पद से ग्राह्य नहीं है; क्योंकि प्रस्तुत प्रसंग में ऐसा कोई शब्द नहीं, जो उपादानकारण को 'आयतन' पद से ग्राह्य होने का बोधक हो। प्रत्युत इसके विपरीत-जिसमें द्यु आदि ओत हैं-ऐसे आयतन को ज्ञेय एवं अमृत का आधार कहा है [अमृतस्यैष सेतुः]। जड़ परिणामी प्रकृति अमृत का आधार संभव नहीं। उस आयतन के ज्ञान से आनन्दरूप अमृत का प्रकाश होना बताया है [मु० २।२।७]। जड़ प्रकृति में यह सब असंभव है। इसलिये जड़ उपादेय [कार्य] से अनुमित जड़ उपादान यहां 'आयतन' पदग्राह्य नहीं होसकता। समस्त विश्व का नियन्ता होने से यहां [मु० २।२।५] परब्रह्म वर्णित है, यही समझना चाहिये ॥३॥

शिष्य आशंका करता है, प्रकृति जड़ है यह ठीक है, वह आनन्दरूप अमृत के प्रकाश के लिये ज्ञेय नहीं कही जासकती; पर आत्मा जड़ नहीं है, चेतन है; और द्यु आदि लोकों की रचना जीवात्माओं के कर्मानुसार मानी गई है; जीवात्म-कर्म लोक-रचना में निमित्त हैं। इस सम्बन्ध से द्यु आदि का आयतन जीवात्म-चेतन को मान लेना चाहिये; परमात्मा तक दौड़ करना व्यर्थ है। आचार्य सूत्रकार इस आशंका का समाधान करता है—

प्राणभृच्च ॥४॥

[प्राणभृत्] प्राणधारण करने वाला [च] भी। प्राणवान् आत्मा भी द्यु आदि का आयतन संभव नहीं।

पूर्वसूत्र से इस सूत्र में 'न' पद की अनुवृत्ति आती है। इससे सूत्र का पूर्ण अर्थ होता है-प्राणी जीवात्मा द्यु आदि का आयतन नहीं। जीवात्मा स्वभावतः अल्पज्ञ अल्प-शक्ति व परिच्छिन्न है; उसके लिये किसी रूप में द्यु आदि का आयतन होना संभव नहीं। लोकरचना में जीवात्म-कर्म यद्यपि निमित्त होते हैं, पर वे जड़ होने से नियन्ता संभव नहीं। उनका नियमन परमात्माद्वारा होता है, इसलिये उस सम्बन्ध से जीवात्मा

---

१. देखें—सांख्यसिद्धान्त, चतुर्थ अध्याय।

को द्यु आदि का आयतन समझना अयुक्त होगा।

जीवात्मा स्थूलशरीर के साथ 'प्राणी' अथवा 'प्राणभृत्' कहा जाता है। प्राण करणों की सामान्यवृत्ति हैं। करण यद्यपि सूक्ष्मशरीररूप में आत्मा को आवेष्टित रखते हैं, पर उस अवस्था में करणों की वृत्ति का उद्भावन नहीं होता। तब आत्मा वस्तुतः प्राणवृत्तिवाला नहीं है। उस दशा में भी आत्मा द्यु आदि का आयतन नहीं, यह बात सूत्र के 'च' पद से बोधित होती है। तात्पर्य यह, कि जीवात्मा प्राण अथवा अप्राण दोनों अवस्थाओं में मुण्डक के उक्त सन्दर्भ [२।२।५] का वर्ण्य विषय नहीं होसकता ।।४।।

जीवात्मा द्यु आदि का आयतन नहीं, इस अर्थ की सिद्धि के लिये सूत्रकार हेतु प्रस्तुत करता है—

भेदव्यपदेशात् ।।५।।

[भेद-व्यपदेशात्] भेद का कथन होने से। उक्त प्रसंग में जीवात्मा का परमात्मा से भेद बताया गया है, इसलिये जीवात्मा द्यु आदि का आयतन संभव नहीं।

उपनिषद् के उस प्रसंग में कहा है—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' [मु० २।२।५]। उपनिषत्कार जीवात्माओं को लक्ष्य कर कहता है—हे जीवो ! उस एक आत्मा को जानो। वह एक—अद्वितीय आत्मा परमात्मा है, जिसे ज्ञेय कहा गया। जीवात्मा जानने वाला है, इसलिये ज्ञाता है। ज्ञाता तथा ज्ञेय का भेद स्पष्ट है। द्यु आदि के आयतन को ज्ञेय कहा और प्राणभृत् जीवात्मा को ज्ञाता; इसलिये ज्ञेय से भिन्न ज्ञाता जीवात्मा द्यु आदि का आयतन नहीं माना जासकता। जो ज्ञेय है, वही आयतन होसकता है ।।५।।

इसकी पुष्टि के लिये सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

प्रकरणात् ।।६।।

[प्रकरणात्] प्रकरण से। यह प्रकरण परमात्मा के प्रतिपादन का है, उसीमें द्यु आदि का आयतन उसे बताया। अतः ऐसा आयतन जीवात्मा नहीं होसकता।

उपनिषद् के प्रारम्भ में कहा—'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति' [मु० १।१।३]। महाशाल शौनक ने अंगिरस् से यह प्रश्न किया—भगवन् ! किसके जानलेने पर यह सब जाना हुआ होजाता है ? अङ्गिरस् ने इसका उत्तर देते हुए अपरा और परा विद्या का उल्लेख कर 'यत्तदद्रेश्यं' इत्यादि सन्दर्भ से उस तत्त्व का निर्देश किया। वह तत्त्व नित्य सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक अत्यन्त सूक्ष्म अपरिणामी सब जगत् को उत्पन्न करने वाला केवल परब्रह्म परमात्मा संभव है, उसके जानलेने पर अन्य किसीके जानने की अपेक्षा नहीं रहती। इसी प्रसंग में आगे उस तत्त्व को द्यु आदि का आयतन कहा है; इसलिये जीवात्मा ऐसा आयतन नहीं माना जासकता।

जिस सन्दर्भ [मु० २।२।५] में उस अद्वितीय आत्मा को द्यु आदि का आयतन

कहा, उससे ठीक पहले प्रसंग है—'यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च। तदेतदक्षरं ब्रह्म···' [२।२।२] जो प्रकाशस्वरूप सूक्ष्म से सूक्ष्म है, समस्त लोक और लोकों में निवास करनेवाले समस्त प्राणी जिसमें अवस्थित हैं, वह अविनाशी ब्रह्म है। आगे उसको जानने का उपाय बताकर [मु० २।२।३-४] पांचवीं कण्डिका में ज्ञेय तथा द्यु आदि का आयतन कहा है। अनन्तर [२।२।७] उसीका 'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि' इत्यादि वर्णन है। यह वर्णन अल्पज्ञ अल्पशक्ति जीवात्मा का नहीं होसकता; उसमें सर्वज्ञता सर्वव्यापिता एवं जागतिक महत्ता का होना संभव नहीं। अतः प्रकरण के अनुसार द्यु आदि का आयतन परमात्मा है, यह निश्चित होता है ॥६॥

शिष्य आशंका करता है, उस एक के जान लेने से अन्य के जानने की अपेक्षा नहीं रहती; इस आधार पर उक्त प्रसंग को ब्रह्म का प्रकरण कहा गया है। पर यह बात पूरी नहीं घटती, क्योंकि उपनिषद् के अन्य सन्दर्भ में जीवात्मा के जान लेने से भी सबके जान लेने का निर्देश है–'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्' [बृ० ४।५।६]। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहता है, आत्मा के जान लेने पर यह सब जाना हुआ होजाता है, अर्थात् इस सबका जानना अपेक्षित नहीं रहता। तब केवल ब्रह्म के जानने से अन्य के जानने की अपेक्षा नहीं रहती, यह बात संदिग्ध होजाती है। आचार्य सूत्रकार समाधान करता है—

स्थित्यदनाभ्याञ्च ॥७॥

[स्थित्यदनाभ्याम्] स्थिति और अदन (भोग) से [च] भी। परमात्मधर्म स्थिति तथा जीवात्मधर्म भोग से भी यह निश्चित होता है, कि ये दोनों भिन्न हैं, इनमें जीवात्मा ज्ञाता और परमात्मा ज्ञेय है, उसी ज्ञेय को द्यु आदि का आयतन कहा है।

द्यु आदि के आयतन परमात्मा का प्रतिपादन कर आगे [मु० ३।१।१] कहा–दो समान चेतनतत्त्व एक प्रकृतिरूप वृक्ष से संबद्ध हैं। उनमें से एक प्रकृति को न भोगता हुआ नियन्तामात्र होने से साक्षिरूप में अवस्थित है, दूसरा प्रकृतिसंपर्क में सुख-दुःख आदि को भोगता है। यहां भोक्ता एवं अभोक्तारूप में दोनों का भेद कहकर इनके ज्ञातृ-ज्ञेय भाव को बताया [मु० ३।१।२]—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

समष्टिरूप से वृक्ष प्रकृति है, व्यष्टिरूप में उसीका प्रतीक शरीर है। इसमें बैठा जीवात्मा असामर्थ्य के कारण संतप्त हुआ करता है, क्योंकि वह अविवेक से अभिभूत रहता है। जब पुण्यों का उदय होने पर उसे कोई परमकारुणिक आत्मज्ञानी गुरु अध्यात्ममार्ग का उपदेश करता है, और वह ब्रह्मचर्य अहिंसा विषयत्याग शम दम आदि का पालन करता हुआ समाधि अवस्था का लाभ करता है, तब वह आत्मज्ञानियों

से सेवित उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा को देखता है, इसकी महिमा का अनुभव करता हुआ दुःख शोकादि से रहित होजाता है। 'पश्यति' क्रिया के आधार पर यहां भोक्ता जीवात्मा को ज्ञाता और उससे अन्य ईश को ज्ञेय कहा है। यही ज्ञेय 'तमेवैकं जानथ आत्मानं' [मु० २।२।५] में प्रतिपादित है, उसीको वहां [मु० २।२।५] द्यु आदि का आयतन बताया गया है। इससे स्पष्ट है–जीवात्मा द्यु आदि का आयतन नहीं हो-सकता।

बृहदारण्यक उपनिषद् [४।५।६] के सन्दर्भ के आधार पर जो यह कहा, कि जीवात्मा के ज्ञान से सबका ज्ञान होजाता है, अर्थात् जीवात्मा के जान लेने पर अन्य किसीके ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती; यह इसी अभिप्राय से कहा गया है, कि ब्रह्मज्ञान के लिये जीवात्मा का साक्षात्कार होना आवश्यक है। आत्मसाक्षात्कार के विना ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता, उसके लिये प्रथम आत्मज्ञान आवश्यक है। पर उसके साथ यह निश्चित है, कि आत्मसाक्षात्कार होजाने पर अनायास ब्रह्मसाक्षात्कार अवश्यम्भावी है। जब आत्मज्ञान होजाता है, तब ब्रह्मज्ञान में कोई बाधा नहीं रहती। जो बात ब्रह्म-ज्ञान के लिये कही जानी चाहिये थी, वह बृहदारण्यक के उक्त प्रसंग में इसीकारण आत्मज्ञान के स्तर पर कहदी गई है। जिज्ञासु को समस्त प्रयत्न प्रथम आत्मज्ञान के लिये करना है। पहला प्रदीप प्रज्वलित करने में प्रयास अपेक्षित होता है। एक दीप प्रज्वलित होजाने पर दूसरा अनायास प्रज्वलित करलिया जाता है। 'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्, [श्वे० २।१५] आत्मतत्त्व के द्वारा ब्रह्मतत्त्व को ऐसे ही जान लिया जाता है, जैसे एक दीप के प्रज्वलित करलेने पर अन्य दीप अनायास प्रज्वलित करलिये जाते हैं। फलतः उक्त प्रसंग ब्रह्म के प्रतिपादन का प्रकरण है, इसमें सन्देह नहीं किया जाना चाहिये ॥७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, छान्दोग्य उपनिषद् [७ अध्याय] में 'प्राण' को सबसे महान अर्थात् भूमा बताया। 'प्राण' पद से वहां जीवात्मा उपलक्षित है। उसी प्रसंग [छा० ७।१५।२–४] में कहा–देह में जब प्राण रहता है, तब पिता, माता, बहन, भाई, आचार्य, ब्राह्मण आदि व्यवहार हुआ करता है। उस अवस्था में पिता, माता आदि को कोई अपशब्द कहा जाय, या कष्ट दिया जाय, तो ऐसा करने वाले व्यक्ति की सब पितृ-घाती मातृघाती आदि कहकर निन्दा करते हैं। प्राण निकल जाने पर तो देह को जला दिया जाय, अथवा जल में प्रवाह कर दिया जाय, उसे निन्दित न समझकर प्रशस्य ही कहा जाता है। कारण यह है, कि उस समय देह में आत्मा नहीं रहता। इससे स्पष्ट है, उस प्रसंग में 'प्राण' पद जीवात्मा का बोधक है। प्राण को वहां 'भूमा'–सबसे बड़ा बताया है। तब पूर्व अधिकरण के प्रसंग में जीवात्मा को द्यु आदि का आयतन मानने में क्या आपत्ति होसकती है ? सूत्रकार आचार्य ने इसका समाधान किया—

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥८॥

[भूमा] बहुत–महान–बड़ा (ब्रह्म) है, [सम्प्रसादात्] सम्प्रसाद–जीवात्मा से [अधि-उपदेशात्] ऊपर उपदेश के कारण। उस प्रकरण में जीवात्मा से और ऊपर सत्य का उपदेश होने से, सत्यरूप ब्रह्म वहां 'भूमा' पद से अभिप्रेत है।

छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय के प्रारम्भ में प्रसंग है, कि नारद समस्त वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी आत्मा को न जानने के कारण अपने आपको शोचनीय मानता हुआ ऋषि सनत्कुमार के समीप आया, और पूछने पर बताया, कि मैंने समस्त ऋग्वेद आदि शास्त्रों का अध्ययन किया है, पर मैं केवल मन्त्रवित् हूं, आत्मवित् नहीं। मैंने आपके सदृश साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों से सुना है, कि आत्मवित् शोकसागर से पार होजाता है। मैं शोक में डूबा हूं; भगवन्! आप मुझे शोकसागर से पार उतारें। सनत्कुमार ने कहा, तुमने जो अध्ययन किया है, वह सब केवल 'नाम' है; 'नाम' की उपासना करो, ऋग्वेदादि सब 'नाम' है; नाम ब्रह्म है। नारद ने पुनः प्रश्न किया, क्या नाम से बढ़कर कोई और है? सनत्कुमार ने उत्तर दिया–वाणी है। इसप्रकार नारद और सनत्कुमार के लम्बे प्रश्नोत्तर-क्रम में पन्द्रह पदार्थ एक-दूसरे से बढ़कर बतलाये गये। उपनिषद् में उनका क्रम है–(१) नाम, (२) वाणी, (३) मन, (४) संकल्प, (५) चित्त, (६) ध्यान, (७) विज्ञान, (८) बल, (९) अन्न, (१०) जल, (११) तेज, (१२) आकाश, (१३) स्मर-स्मृति, (१४) आशा, (१५) प्राण। नाम से लेकर आशापर्यन्त प्रत्येक को ब्रह्मरूप से उपासना किये जाने के उपदेश पर नारद ने बराबर प्रश्न किया, कि इससे बढ़कर कौन है; परन्तु प्राण पर पहुंचकर नारद ने आगे उससे बढ़कर अन्य कोई तत्त्व है, ऐसा प्रश्न नहीं किया।

'प्राण' के विषय में वहां उपनिषद् [छा० ७।१५।१–४] बतलाती है, जैसे पहिये की नाभ में अरा अर्पित रहते हैं, ऐसे ही इस प्राण में सब समर्पित है। प्राण अपने सामर्थ्य से गति करता है, यह स्वतन्त्र है, इसे किसी अन्य की प्रेरणा अपेक्षित नहीं। वह अपने लिये अपने आपको देता है। तात्पर्य--जो प्रयत्न वह करता है, अपने लिये करता है। प्राणस्वरूप का यह वर्णन स्पष्ट करता है, कि यहां 'प्राण' पदग्राह्य चेतनतत्त्व जीवात्मा है। आगे उसीका माता, पिता, बहन, भाई, आचार्य आदि के रूप में वर्णन किया है। क्योंकि जब तक देह में आत्मा का वास है, तब तक माता, पिता आदि व्यवहार है। नाभ में अरों के समान उसी में सबके समर्पण का तात्पर्य केवल इतना है, कि यह समस्त संसार का अस्तित्व आत्मा के भोग के लिये है। संसार भोग्य है और आत्मा इस का भोक्ता है। आत्मा के भोग के लिये समस्त संसार अपने आपको मानो अर्पण किये हुए है। इससे बढ़कर यहां और किसीका कथन नहीं किया गया। इस आत्मा को देखने विचारने और साक्षात् करने वाले व्यक्ति को 'अतिवादी' [–बढ़कर कहनेवाला अथवा बढ़े हुए को कहने वाला]

बताया है। ऐसे आत्मज्ञानी को यदि कोई कहे, कि तुम 'अतिवादी' हो, तो वह उसका अपलाप न करे; वह स्वीकार करे, कि हां ! मैं अतिवादी हूं। इसीको आगे 'भूमा' कहा है। शिष्य की आशंका का तात्पर्य यही है, कि जैसे यहां जीवात्मा में सबके समर्पण का कथन कर उसके 'भूमा' होने को स्पष्ट किया है, और उससे बढ़कर अन्य किसी तत्त्व का कथन नहीं हुआ, ऐसे ही गत अधिकरण में द्यु आदि का आयतन जीवात्मा को मान लेना चाहिये।

शिष्य द्वारा प्रस्तुत आशंका की इस पृष्ठभूमि पर सूत्रकार ने छान्दोग्य के इस प्रसंग का विवेचन प्रस्तुत किया, और उक्त शंका का समाधान करते हुए कहा, कि छान्दोग्य के उक्त प्रसंग में 'भूमा' पदग्राह्य जीवात्मा नहीं, प्रत्युत ब्रह्म है। यह ठीक है, कि नारद–सनत्कुमार के प्रश्नोत्तरक्रम में नारद ने 'प्राण' से बढ़कर किसी अन्य तत्त्व के विषय में प्रश्न नहीं किया; परन्तु शिष्य पर दयालु आचार्य सनत्कुमार ने इसके आगे [छा० ७।१६-२५] स्वयं एक और बात कही है। पहले प्राणरूप आत्मा के जाननेवाले को 'अतिवादी' कहकर प्रशंसा करके यहां कहा–'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इस वाक्य का 'तु' पद पहली बात को पीछे छोड़ता है, उसे एक ओर हटाकर कहता है, कि निश्चय से वास्तविक 'अतिवादी' वह है, जो 'सत्य' के द्वारा अतिवादी है, उस 'सत्य' का जानना आवश्यक है। नारद तत्काल कहता है–मैं उस 'सत्य' को जानना चाहता हूं। उपनिषद् में आगे 'सत्य' को जानने के लिये उपाय बताया–विज्ञान, मनन, श्रद्धा, निष्ठा, कृति-अनुष्ठान अर्थात् चित्त की एकाग्रता को अन्तिम स्तर तक पहुंचाना, उससे भावी सुखानुभूति की पूर्त्ति। उस सुख अथवा अलौकिक आनन्द का संकेत करते हुए उपनिषद् में कहा–'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति' [छा० ७।२३।१] जो भूमा है निश्चित वह सुख है; आनन्दस्वरूप तत्त्व है। अल्प में सुख नहीं है, अर्थात् जीवात्मा में आनन्द नहीं है। केवल भूमा आनन्दस्वरूप है। उस आनन्दरूप 'भूमा' को जानना चाहिये। सनत्कुमार का यह कथन सुनकर नारद तत्काल कहता है–मैं उस भूमा को जानना चाहता हूं।

आचार्य सनत्कुमार उस 'भूमा' का वर्णन करता है–जब जीवात्मा की समस्त वैषयिक चित्तवृत्तियां शान्त होजाती हैं, शुद्ध चेतन आत्मा प्रकृति-सम्पर्क से रहित होकर परब्रह्म से सम्बद्ध होजाता है, तब जीवात्मा के लिये न कुछ देखना शेष है, न सुनना और न जानना। जीवात्मा की यह स्थिति 'भूमा' की अनुभूति का द्योतन करती है। परन्तु जीवात्मा जिस अवस्था में ब्रह्म से अतिरिक्त सांसारिक वस्तुओं को देखता सुनता जानता है, वह उसका निरानन्द 'अल्प' रूप है। तात्पर्य यह, कि उस अवस्था में जीवात्मा वृत्तिसरूप रहता है, उस अलौकिक आनन्द का अनुभव नहीं करपाता, जो सबसे बढ़कर है। वह 'भूमा' अमृत–परब्रह्म है, और 'अल्प' मर्त्य जीवात्मा है। जीवात्मा को मर्त्य इसीलिये कहा गया, कि वह देहादि के द्वारा जन्म-मरण के बन्धन में आता है।

उस भूमा का और कोई प्रतिष्ठान नहीं है, वह अपने आप में प्रतिष्ठित रहता है, कारण यह, कि उससे बढ़कर और कोई तत्त्व नहीं।

जीवात्म-साक्षात्कार होने पर आत्मज्ञानी की 'अतिवादी' कहकर जो प्रशंसा की गई है, उसमें केवल इतना रहस्य है, कि वैसा आत्मज्ञान होजाने पर 'सत्य' रूप परब्रह्म का अनायास प्रतिभास होजाता है। उसके लिये पृथक् यत्न करना अपेक्षित नहीं होता। इसप्रकार आत्मज्ञान की प्रशंसा करते हुए जीवात्म-चेतनतत्त्व से बढ़कर सनत्कुमार ने जिसे अन्तिम ध्येय कहा, वह 'सत्य' स्वरूप 'भूमा' परब्रह्म होसकता है। नारद ने प्रसंग के प्रारम्भ में आत्मज्ञान के उपदेश के लिये जो सनत्कुमार से प्रार्थना की है; और सनत्कुमार ने प्रसंग का निगमन करते हुए जो आनन्दरूप सर्वोच्च भूमा का वर्णन किया है; उसके सामञ्जस्य से स्पष्ट होता है, कि उपक्रम के 'आत्मवित्' पद में 'आत्मा' का अर्थ परमात्मा है। उसीको अन्त में 'भूमा' पद से कहा गया है। ऐसी स्थिति में शिष्य की उक्त आशंका का आधार समाप्त होजाता है। क्योंकि यहां जीवात्मा से बढ़कर 'सत्य' रूप भूमा का उपदेश किया गया है; इसी अर्थ को सूत्रकार ने 'संप्रसादादध्युपदेशात्' इस कारणपद से स्पष्ट किया।

छान्दोग्य उपनिषद् [७।१-१५] की प्रश्नोत्तर परम्परा में 'भूमा' से पहले जो अन्तिम तत्त्व है, उसका 'प्राण' पद से निर्देश किया है; परन्तु सूत्रकार ने सूत्र में उस तत्त्व को 'सम्प्रसाद' पद से कहा है। उपनिषद् में 'प्राण' और सूत्र में 'सम्प्रसाद' ये दोनों पद जीवात्मा के लिये प्रयुक्त हैं। उपनिषद् के उस प्रसंग में 'प्राण' का वर्णन इस यथार्थता को स्पष्ट कर देता है। छान्दोग्य के आठवें अध्याय [८।१२।३] में स्पष्ट ही जीवात्मा के लिये 'सम्प्रसाद' पद का प्रयोग हुआ है—'एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।' इसीप्रकार यह 'सम्प्रसाद' इस शरीर से उठकर परमज्योति को प्राप्त हो अपने शुद्धरूप से बना रहता है। यह वर्णन जीवन्मुक्त का देहत्याग के अनन्तर ब्रह्म को प्राप्त होने की दशा का है। यहां 'सम्प्रसाद' पद का प्रयोग स्पष्ट रूप में जीवात्मा के लिये हुआ है। सूत्रकार ने इस पद का सूत्र में प्रयोग इसीकारण किया है, कि उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसंग में प्रयुक्त 'प्राण' पद करणों के वृत्तिरूप मुख्य प्राण का बोधक न समझा जाकर जीवात्मा का बोधक समझा जासके।

उपनिषद् के इस प्रसंग में उपक्रम [छा० ७।१।३] और उपसंहार [छा० ७।२६।२] के अवसर पर 'शोक' अथवा 'तमस्' से पार उतारे जाने का उल्लेख हुआ है। उपक्रम में नारद ऋषि सनत्कुमार से शोक के पार उतारे जाने का उपाय पूछता है, तथा उपसंहार में उपनिषत्कार अपनी ओर से कहता है—'तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः' जिज्ञासु नारद के रागद्वेष आदि दोष दूर होजाने पर उसके लिये भगवान् सनत्कुमार उस तत्त्व के दर्शन कराता है, जो 'तमस्' के पार है। उपक्रम में 'शोक' का तात्पर्य संसार में होनेवाले क्लेश आदि से है, यह सब प्रकृति अथवा प्राकृत

विकारों के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध होने पर सम्भव होता है। उसी स्थिति को उपसंहार में 'तमस्' पद से कहा गया है। 'तमस्' प्रकृति का स्वरूप है, वह जड़ एवं अन्धकारमय है। चेतन जीवात्मा का श्रेय चेतन के साथ रहने में है। प्रकृति से अतिरिक्त उसका नियन्ता अधिष्ठाता चेतनतत्त्व परब्रह्म है। वेद में 'तमस्' को प्रकृति कहा है– 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे' [ऋ० १०।१२६।३] सर्ग से पूर्व प्रकृति अन्धकार से ढकी थी। प्रकृति को पार उतर जाने का एकमात्र उपाय ब्रह्मज्ञान है। यजुर्वेद [३१।१८] में बताया–वह प्रकाशस्वरूप परमात्मा 'तमस्' से परे है। उसको जानकर ही इस परिणामस्वभाव प्रकृति के पार उतरा जासकता है, इसके लिये अन्य कोई मार्ग नहीं है।

सनत्कुमार ने नारद के लिये तथा नारद के प्रतीक से प्रत्येक पार-जिगमिषु जिज्ञासु के लिये उसी मार्ग का उपदेश किया है। वह परमात्मतत्त्व यहां 'भूमा' रूप में वर्णन किया गया है, जिसे सत्य व आनन्दस्वरूप बताया है। 'भूमा' पदवाच्य यदि ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व समझा जाता, तो यह सब उपदेश अवैदिक होजाता। 'नाम' से 'आशा' तक सब प्राकृत तत्त्व हैं, साधन के रूप में इनका उपयोग अपेक्षित रहता है। इससे अध्यात्मविवेचन में कोई बाधा नहीं आती। फलतः उक्त प्रसंग में 'भूमा' पद से परमात्मा का ग्रहण किया जाना प्रमाणित होता है ॥८॥

सूत्रकार उक्त अर्थ की पुष्टि के लिये अन्य उपपत्ति प्रस्तुत करता है—

धर्मोपपत्तेश्च ॥६॥

[धर्मोपपत्तेः] धर्मों के उपपन्न होने से [च] भी। यहां 'भूमा' के जो धर्म कहे गये हैं, वे परमात्मा में उपपन्न होते हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् के उक्त [७।१–२६] प्रकरण में प्रसंगवश 'भूमा' के जो धर्म बताये हैं, वे परब्रह्म परमात्मा में सम्भव हैं, अन्यत्र नहीं। वहां कहा–'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' [छा० ७।२४।१] जिसके देखलेने पर अन्य को नहीं देखता, जिसके सुनलेने पर अन्य को नहीं सुनता, जिसके जानलेने पर अन्य को नहीं जानता। जिज्ञासु ज्ञाता के लिये ऐसा सर्वोत्कृष्ट तत्त्व–जिसके देख-सुन-जानलेने पर अन्य किसीके देखने-सुनने-जानने की अपेक्षा नहीं रहती–केवल ब्रह्म है। इसलिये यहां जिन विशेषताओं [धर्मों] के साथ 'भूमा' का वर्णन किया गया है, वह केवल ब्रह्म के विषय में संघटित होसकता है। अतः भूमा ब्रह्म समझना चाहिये।

इसीप्रकार आगे छान्दोग्य [७।२५।१] में 'भूमा' को नीचे-ऊपर, पीछे-आगे, दक्षिण-उत्तर सब ओर अवस्थित बतलाया है। यह 'भूमा' की सर्वव्यापकता को स्पष्ट करता है। जब नारद ने पूछा, वह भूमा कहां प्रतिष्ठित है, सनत्कुमार ने उत्तर दिया– अपनी महिमा में। उसकी प्रतिष्ठा–आश्रय के लिये अन्य सत्ता की अपेक्षा नहीं होती–'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति, स्वे महिम्नि' [छा० ७।२४।१]। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य

कोई तत्त्व ऐसा नहीं, जो स्वप्रतिष्ठित हो। नित्य पदार्थ प्रकृति और जीवात्मा ब्रह्म के आधार पर अवस्थित रहते हैं। उनका समस्त व्यापार व व्यवहार ब्रह्म पर आधारित होता है; क्योंकि ब्रह्म सबका नियन्ता व अधिष्ठाता है। 'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्' [ऋ० १०।१२१।१], 'द्यावाभूमी जनयन् देव एकः' [ऋ० १०।८१।३], इस विषय का विस्तृत विवेचन गत अधिकरण में करदिया गया है। फलतः वह 'स्व' में प्रतिष्ठित है। वह 'स्व' अपने रूप में 'अहम्' है, इसके अनुसार उपनिषद् [छा० ७।२५।१] में कहा– मैं ही नीचे-ऊपर, आगे-पीछे, उत्तर-दक्षिण अर्थात् सब ओर हूं। 'अहम्' के रूप में वह 'स्व' सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी तत्त्व है। उसीको आगे [छा० ७।२५।२] 'आत्मा' पद से कहा गया है, जो परमात्मा के लिये प्रयुक्त है; अन्यत्र यह उपपादन सम्भव नहीं।

इसके अतिरिक्त यहां [छा० ७।२३।१] भूमा को सुख अर्थात् आनन्दरूप कहा है, तथा 'अमृत' [छा० ७।२४।१] बताया है। यह आनन्दरूपता ब्रह्म के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं। जीवात्मा उसीकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न किया करता है। नित्य जीवात्मा भोगापवर्ग की प्राप्ति के लिये देहादि बन्धन में आता, और जन्म-मरण के अनिश आवर्त्तमान चक्र में घूमा करता है, इसकारण उसे 'मर्त्य' कहा जाता है, 'अमृत' नहीं। 'भूमा' का यह वर्णन उसके ब्रह्म होने में साधक है। ब्रह्म की आनन्दरूपता को अन्यत्र [बृ० ४।३।३२] स्पष्ट किया–'एषोऽस्य परम आनन्दः, एतस्यैवानन्दस्यान्या[illegible]नि मात्रामुपजीवन्ति'। ज्ञानी जीवात्मा का परम आनन्द यह परमात्मा है, इसी आ[illegible]न्द की अल्पमात्रा का उपभोग प्राणी करते हैं। इसप्रकार आनन्दरूप 'भूमा' ब्रह्म हो[illegible]ता है, अन्य नहीं।

भूमा के सर्वाधारता, सर्वव्यापकता, आनन्दरूपता आदि जो धर्म यहां कहे गये हैं, वे सब वेद के अनुकूल हैं। ऋग्वेद [१०।१२१।१] में कहा–'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्'। उस प्रकाश एवं आनन्दरूप परमात्मा ने पृथिवी, द्यौ और इस जीव[illegible]रूप चिति-शक्ति को धारण किया हुआ है। क्योंकि वह इन सबका उत्पादक, फलप्रदाता एवं अधिष्ठाता है–'द्यावाभूमी जनयन् देव एकः' [ऋ० १०।८१।३] वह एकाकी दिव्यशक्ति परमात्मा द्यु भूमि आदि समस्त विश्व का उत्पादक है। अथर्ववेद के एक सूक्त [कां० १०, सू० ७] में 'स्कम्भ' रूप में परमात्मा का वर्णन है। 'स्कम्भ' पद आधारभाव को प्रकट करता है। वहां समस्त तत्त्वों को ब्रह्म के आश्रित बताया है। 'यत्र ऋषयः प्रथमजाः' [१०।७।१४], तथा 'यत्रामृतं च मृत्युश्च' [१०।७।१५] आ[illegible] मन्त्रों द्वारा ऋषिरूप अथवा अपरिणामी [अमृत] रूप में समस्त जीवात्मा एवं [illegible]रिणामी विश्व [मृत्युः] का उस सर्वाधार परमात्मा में आहित होना बताया है। वह प्रत्येक प्रकार के कष्ट व पाप से रहित है [अथर्व० १०।७।४०]। जो अतीत है, जो अनागत है, जो वर्त्तमान है, उस सबका वह अधिष्ठाता है। जिसका स्वरूप एकम[illegible]ानन्द है, उस सर्वोत्कृष्ट [भूमा-रूप] ब्रह्म के प्रति हम नमन करते हैं [१०।८।१

शिष्य जिज्ञासा करता है, द्यु आदि का आधार परमात्मा बताया गया, और वह भूमा है, महान है। पर बृहदारण्यक उपनिषद् के एक प्रसंग में कहा है, कि पृथिवी आदि समस्त पदार्थ 'अक्षर' में ओत-प्रोत एवं आश्रित हैं। 'अक्षर' अकारादि वर्णों का नाम है। उपनिषद् के इन विभिन्न प्रतिपादनों का क्या सामञ्जस्य होगा ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥१०॥

[अक्षरम्] अक्षर [अम्बरान्तधृतेः] आकाशपर्यन्त धारण करने से। सूत्रों में पहले से ब्रह्म का अधिकार है; अक्षर ब्रह्म है, क्योंकि वहां आकाशपर्यन्त पदार्थों के धारण किये जाने का वर्णन है।

बृहदारण्यक उपनिषद् [३।८] में गार्गी ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया—हे याज्ञवल्क्य ! जो द्युलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे और द्यु तथा पृथिवी के मध्य में है, जो अतीत है, जो वर्त्तमान है, जो अनागत है; वह सब किसमें ओत-प्रोत है, कहां आश्रित है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—वह सब आकाश में ओत-प्रोत है। गार्गी ने पुनः प्रश्न किया, वह आकाश कहां ओत-प्रोत है ? याज्ञवल्क्य ने इसका उत्तर दिया—'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्ति—अस्थूलम्, अनणु, अह्रस्वम्, अदीर्घम्, अलोहितम्, अस्नेहम्, अच्छायम्, अतमः, अवायु, अनाकाशम्, असङ्गम्, अरसम्, अगन्धम्, अचक्षुष्कम्, अश्रोत्रम्, अवाक्, अमनः, अतेजस्कम्, अप्राणम्, अमुखम्, अमात्रम्, अनन्तरम्, अबाह्यम्, न तदश्नाति किञ्चन, न तदश्नाति कश्चन' [बृ० ३।८।८]। हे गार्गि ! यह वह 'अक्षर' है, जिसमें आकाश आश्रित है। ब्रह्मज्ञानी महात्माओं ने उसके विषय में कहा है—वह न मोटा है, न छोटा है, न पतला है, न लम्बा है, न लाल है, न स्नेह गुणवाला है, न छायायुक्त है, न अन्धकार है, न वायु और आकाश है, न जुड़ा हुआ है, न रस-गन्धवाला है, न चक्षु श्रोत्र एवं वाणी से युक्त है; उसके विषय में कहा गया है—'पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' [श्वे० ३।१६], न मन है, न दाहक है, न प्राणयुक्त है, न मुखादि अंशों वाला है, न वह मांपने योग्य है, न अन्तर-छिद्रवाला है, न उसमें बाहर-भीतर व्यवहार होता है, न वह कुछ खाता है, न उसे कोई खाता है।

ब्रह्मज्ञानियों द्वारा वर्णित 'अक्षर' के स्वरूप का उपनिषत्कार ने यह उल्लेख किया; इसमें समस्त भूत-भौतिक एवं प्राकृत पदार्थों से अतिरिक्त तत्त्व 'अक्षर' बताया। इस वर्णन के अनुसार वह 'अक्षर' तत्त्व ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई संभव नहीं। फलतः द्यु आदि के आयतन और 'भूमा' रूप में जिस तत्त्व का निरूपण हुआ है, वही इस प्रसंग में 'अक्षर' पद से कहा गया है, अतः इन वर्णनों में परस्पर कोई असामञ्जस्य नहीं है। यद्यपि अकारादि वर्णमाला को व्यवहार में 'अक्षर' कहा जाता है, पर प्रस्तुत प्रसंग में उसका कोई संकेत नहीं है। पातञ्जल व्याकरण महाभाष्य के दूसरे आह्निक में 'अक्षर'

पद की व्याख्या की है, और 'अइउण्' आदि प्रत्याहार सूत्रों को 'अक्षरसमाम्नाय' पद से व्यवहृत किया है। प्राचीन आचार्यों अथवा अन्य वैयाकरणों ने वर्ण की 'अक्षर' संज्ञा मानी है। आह्निक के अन्त में भाष्यकार ने लिखा है—'सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः'। यहां 'अक्षर' पद का अर्थ निश्चितरूप से वर्ण है। पर उपनिषद् के उक्त प्रसंग में ऐसा नहीं है। वहां समस्त भूत-भौतिक से अतिरिक्त अविनाशी तत्त्व का यह बोधक है, जो ब्रह्म है। जो पद अनेक अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, उनका कोई विशिष्ट अर्थ प्रकरण के अनुसार समझा जाता है, प्रत्येक अर्थ प्रत्येक जगह संभव नहीं।

उपनिषद् में अनेकत्र 'ओम्' को 'अक्षर' कहा है। वहां भी प्रसंगानुसार इस पद का अर्थ समझना चाहिये। प्रश्न उपनिषद् [५।५] में कहा—'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' जो व्यक्ति उस परम पुरुष [ब्रह्म] का त्रिमात्र 'ओम्' इस अक्षर से ध्यान करता है। यहां 'अक्षर' पद 'ओम्' इस वर्णात्मक पद के लिये प्रयुक्त हुआ है, यह परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ नाम है, ऐसा शास्त्रों ने वर्णन किया है। इसीप्रकार छान्दोग्य के प्रारम्भ में 'ओम्' नाम द्वारा ब्रह्म की उपासना का विधान है। परन्तु माण्डूक्य उपनिषद् के प्रारम्भ में 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्' यह वाक्य अर्थ का निर्देश करता है, 'ओम्' इस पद का नहीं। 'ओम्' पदवाच्य अविनाशी तत्त्व सबका आश्रय है, यही इसका तात्पर्य है। मनुस्मृति [२।७८, ८३] में 'अक्षर' पद का प्रयोग 'ओम्' के लिये हुआ है। यह परमात्मा का मुख्य नाम है, इसके जप और अर्थ की भावना द्वारा ब्रह्म की उपासना का विधान है। छान्दोग्य उपनिषद् [२।२३] में वर्णन है, कि 'ओम्' समस्त वेदवाणी का सार है। यह वाङ्मात्र में व्याप्त है। यह वर्णन ध्वनित करता है, कि 'ओम्' पदवाच्य ब्रह्म समस्त विश्व में व्याप्त है, इसी आशय से वहां कहा है—'ओंकार एवेदं सर्वम्'। यह सब 'ओम्' है, अर्थात् ओम् पदवाच्य ब्रह्म से व्याप्त है। गीता [६।१३] में 'ओम्' द्वारा ब्रह्म की उपासना का उल्लेख हुआ है। इन सब वर्णनों से स्पष्ट होता है, कि जहां 'ओम्' द्वारा ब्रह्म की उपासना का वर्णन है, वहां 'अक्षर' पद का प्रयोग 'ओम्' इस वर्णसमुदाय के लिये हुआ है, अन्यत्र परमात्मा के स्वरूपवर्णन आदि में इसका प्रयोग साक्षात् ब्रह्म के लिये है। बृहदारण्यक उपनिषद् [३।८] का उक्त प्रसंग ऐसा ही है।

वेद में अनेकत्र 'अक्षर' पद का प्रयोग ब्रह्म के लिये हुआ है। ऋग्वेद [१।१६४।३९] में कहा है—ऋगादि सब ज्ञान और समस्त पृथ्वी सूर्य आदि लोक-लोकान्तर उस अविनाशी सर्वव्यापक परमात्मा में आधेयरूप से अवस्थित रहते हैं। जो उस परब्रह्म को नहीं जानता, केवल ऋचा का पाठ उसका क्या भला कर सकता है? जिन्होंने उसे जाना है, वे उस ब्रह्म को प्राप्त होते और आनन्द का लाभ करते हैं। यह प्रसंग तैत्तिरीय ब्राह्मण [३।१०।६।१४] तथा तैत्तिरीय आरण्यक [२।११।१] में भी द्रष्टव्य है। इन प्रसंगों में उस 'अक्षर' को समस्त दिव्य लोकों का आधार बताया गया है, जो केवल

ब्रह्म में संभव है।

उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसंग में पृथिवी आदि से आकाशपर्यन्त समस्त विश्व का धारण करने वाला 'अक्षर' बताया है। 'आकाश में यह सब ओत-प्रोत है' यह कहकर 'आकाश किस में ओत-प्रोत है' इस प्रश्नद्वारा आगे 'अक्षर' का उल्लेख है। 'हे गार्गि ! यह आकाश अक्षर में ओत-प्रोत है।' समस्त पृथिव्यादि लोक-लोकान्तरों का इसप्रकार धारण ब्रह्म से अन्यत्र संभव नहीं। इसलिये अविनाशी एवं सर्वान्तर्यामी होने से 'अक्षर' ब्रह्म है, अन्य कोई नहीं ॥१०॥

शिष्य आशंका करता है, बृहदारण्यक के उक्त प्रसंग में 'अक्षर' को पृथिव्यादि लोकों का धारण करनेवाला कहा है। इस विषय में कहा जासकता है, कि प्रत्येक कार्य अपने उपादानकारण में अवस्थित रहता है, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। तब समस्त जगत् के उपादानकारण प्रकृति को 'अक्षर' पदवाच्य क्यों न माना जाय ? वह समस्त विश्व का उपादान होने से निश्चित ही उसका आधार है। प्रकृति को अनेकत्र 'अक्षर' पद से व्यवहृत किया गया है। मुण्डक उपनिषद्' [२।१।१] में अक्षर-प्रकृति से समस्त कार्य जगत् की उत्पत्ति एवं उसमें प्रलय का उल्लेख कर आगे [२।१।२] उस दिव्य अमूर्त्त पुरुष का वर्णन करते हुए बताया है—'अक्षरात् परतः परः।' वह दिव्य पुरुष जगत् के उपादान अक्षर-प्रकृति से परे से भी और पर है। प्रकृति से पर जीवात्मा और उससे पर परमात्मा दिव्य पुरुष है। इस प्रसंग में 'अक्षर' पद प्रकृति के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसलिये बृहदारण्यक के उक्त प्रसंग में 'अक्षर' पदवाच्य प्रकृति को समझना अनुपयुक्त न होगा। सूत्रकार आचार्य ने समाधान किया—

सा च प्रशासनात् ॥११॥

[सा] वह [च] और [प्रशासनात्] प्रशासन के कारण। और वह पृथिवी से आकाशपर्यन्त धृति—इनको धारण करने की स्थिति—केवल ब्रह्म का कार्य है, क्योंकि यहां उसका प्रशासन कहा है।

बृहदारण्यक उपनिषद् [३।८।६] के इस प्रसंग में याज्ञवल्क्य ने गार्गी से कहा—'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।' हे गार्गि ! इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा धारण किये हुए ठहरते हैं। सूर्य और चन्द्रमा समस्त विश्व का उपलक्षण हैं। जो स्थिति यहां सूर्य-चन्द्र नाम लेकर कही, वह समस्त विश्व की है। 'प्रशासन' का अर्थ नियन्त्रण व व्यवस्था में चलाना है। यह चेतन का धर्म है। प्रशासन का कार्य जड़तत्त्व के द्वारा किया जाना असंभव है। इसलिये उक्त प्रसंग में पृथिव्यादि आकाशपर्यन्त लोकों का धारण करना उसके प्रशासक व संचालक का बोध कराता है। यह जगत् के उपादानकारण जड़प्रकृति में संभव नहीं है। इससे स्पष्ट होता है—उपनिषद् के इस प्रकरण में जगत् को धारण करना उपादानकारण

की भावना से नहीं, प्रत्युत प्रशासन की भावना से कहा गया है। यह स्थिति केवल ब्रह्म में संभव है, अन्यत्र नहीं। उसकी व्यवस्था से समस्त विश्व संचालित होता है। वैदिक साहित्य में परमात्मा की उस व्यवस्था का 'ऋत' नाम से वर्णन है। फलतः इस प्रसंग में 'अक्षर' के 'प्रशासन' का स्पष्ट उल्लेख होने से 'अक्षर' पदवाच्य केवल ब्रह्म होसकता है।

अन्य प्रसंगों में यदि कहीं 'अक्षर' पद का प्रयोग जगत् के उपादानकारण प्रकृति के लिये हुआ है, तो वह ठीक है, प्रकरण उसका नियामक है। जगत् के उपादान-कारण प्रकृति के नित्य होने से उसके लिये 'अक्षर' पद का प्रयोग अनुपयुक्त नहीं है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं, कि इस पद का प्रयोग सर्वत्र प्रकृति के लिये माना जाय। सर्वत्र ब्रह्म के लिये भी मान्य नहीं। इसलिये बृहदारण्यक के उक्त प्रसंग में 'अक्षर' पद-वाच्य प्रशासक चेतनतत्त्व जगत् का धारण करनेवाला संभव होसकता है, और वह ब्रह्म है। व्यवस्था करना चेतन का धर्म है ॥११॥

इसी अर्थ को पुष्ट करने के लिये सूत्रकार ने कहा—

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥१२॥

[अन्यभावव्यावृत्तेः] दूसरे भावों की व्यावृत्ति से [च] भी। इस प्रसंग में ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य तत्त्वों की व्यावृत्ति से भी यह निश्चय होता है, कि यहां 'अक्षर'-पदवाच्य ब्रह्म है।

बृहदारण्यक के उक्त प्रसंग में अक्षर-वर्णन के अवसर पर ब्रह्म से भिन्न समस्त तत्त्वों की व्यावृत्ति की गई है, अर्थात् उन्हें अक्षर-स्वरूप से अलग हटा दिया गया है। 'अस्थूलं' इत्यादि पदों से पृथिवी को, 'अलोहितं-अस्नेहं' से अग्नि और जल को 'अवाय्वनाकाशं' से वायु तथा आकाश को; 'अचक्षुष्कमश्रोत्रं' से जीव को अक्षर-स्वरूप से व्यावृत्त कर दिया गया है। इसीप्रकार 'अनन्तरमबाह्यं' से मूलउपादान प्रकृति की व्यावृत्ति की गई है। प्रकृति से उत्कृष्ट परमात्मा ['अक्षरात् परतः परः' मु० २।१।२] प्रकृति में भी अन्तर्यामीरूप से व्याप्त रहता है। परन्तु परमात्मा का कोई अन्तर्यामी अन्य तत्त्व नहीं है। इसप्रकार अक्षर के उक्त वर्णन से ब्रह्म के अति-रिक्त अन्य समस्त तत्त्वों–प्रकृति, प्राकृत जगत् तथा जीवों–को अलग कर दिया गया है, इससे स्पष्ट होता है–बृहदारण्यक के उक्त स्थल में 'अक्षर' पदवाच्य ब्रह्म है।

इसी प्रसंग में आगे [बृ० ३।८।१०] याज्ञवल्क्य ने गार्गी से कहा–'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वा-ऽस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः।' हे गार्गि! निश्चित ही जो पुरुष इस 'अक्षर' को जाने विना इस लोक से देह त्यागकर मृत्यु को प्राप्त होजाता है, वह कृपण है। दया का पात्र है, वह जन्म-मरण के अनिश आवर्त्तमान चक्र में फंसा रहता है। परन्तु हे

गार्गि ! जो पुरुष इस अक्षर को जानकर इसका साक्षात्कार कर देहत्याग करता है, वह 'ब्राह्मण' है, ब्रह्म को जाननेवाला है । अक्षर-ज्ञानी को ब्रह्मज्ञानी बतलाने से स्पष्ट होता है, कि यहां 'अक्षर' पदवाच्य ब्रह्म है । मानव-देह प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य ब्रह्म का साक्षात्कार करना है–'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' [केन० २।५] इस मानवदेह में रहते उस सत्यस्वरूप ब्रह्म को जानलिया तो ठीक है, अन्यथा महान विनाश ही समझना चाहिये । अणु-अणु में अन्तर्यामीरूप से व्याप्त ब्रह्म का साक्षात्कार कर धीर पुरुष देहत्याग के अनन्तर अमृतपद को प्राप्त करते हैं । इस-प्रकार जिसके न जानने से संसार की प्राप्ति होती है, और जिसके जानलेने से अमृत पद प्राप्त होता है, वह 'अक्षर' परब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई संभव नहीं ।

आगे याज्ञवल्क्य ने पुनः कहा–'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ, एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ।' [बृ० ३।८।११] हे गार्गि ! निश्चित ही यह वह 'अक्षर' है, जो अनायास किसी से देखा नहीं जाता, पर वह सबका द्रष्टा है; उसका सुना जाना कठिन है, पर वह सबका श्रोता है, उसका मन्ता एवं विज्ञाता कोई नहीं; पर वह समस्त विश्व का मन्ता एवं विज्ञाता है । उसके अतिरिक्त ऐसा द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता अन्य कोई संभव नहीं । हे गार्गि ! ऐसे ही उस अक्षर में 'आकाश' आदि समस्त तत्त्व ओत-प्रोत हैं । उससे बाहर किसी वस्तु का अस्तित्व संभव नहीं । ऐसा द्रष्टा विज्ञाता केवल ब्रह्म संभव है । अतः इस प्रसंग में 'अक्षर' पद का प्रयोग ब्रह्म के लिये हुआ है । इससे ब्रह्म के स्वरूप का स्पष्टीकरण होता है ।

'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' [बृ० ३।८।११] इत्यादि कथन के आधार पर यह समझना प्रसंग के अनुकूल न होगा, कि उस अक्षर-ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व का अस्तित्व ही नहीं है, प्रत्युत इसका केवल इतना तात्पर्य है, कि उस अक्षर-ब्रह्म जैसा अथवा उससे उत्कृष्ट कोई अन्य द्रष्टा आदि नहीं है । ब्रह्म की सर्वोत्कृष्टता का उल्लेख वेद व वैदिक साहित्य में प्रचुररूप से हुआ है । ऋग्वेद [४।३०।१] में कहा—

'नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन् !
नकिरेवा यथा त्वम् ।।'

हे सर्वैश्वर्य सर्वशक्तिमन् परमात्मन् ! तुमसे उत्कृष्ट कोई नहीं, तुमसे ज्येष्ठ कोई नहीं । न कोई ऐसा है, जैसे तुम हो । 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' [श्वे० ६।८], उसके समान या उससे अधिक कोई नहीं देखा जाता ।।१२।।

बृहदारण्यक उपनिषद् [३।८] के प्रसंग में 'अक्षर' पद का प्रयोग ब्रह्म के लिये हुआ है, यह गत अधिकरण से स्पष्ट किया गया । यह समझने के अनन्तर शिष्य

ने जिज्ञासा की–'पुरुष' पद परमात्मा-जीवात्मा दोनों के लिये प्रयुक्त होता है। 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' [ऋ० १०।६०।१], 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' [यजु० ३१।१८], 'यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा' [मुं० १।२।११], 'दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः' [मुं० २।१।२] इत्यादि स्थलों में 'पुरुष' पद का प्रयोग परमात्मा के लिये हुआ है। इसी-प्रकार जीवात्मा के लिये अनेकत्र पुरुष पद का प्रयोग देखा जाता है–'एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसः' [कठ० १।८], 'तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति' [प्रश्न० ४।२], 'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता···कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' [प्रश्न० ४।६], 'अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः' [छा० ३।१४।१] इत्यादि। प्रश्न उपनिषद् के पांचवें-छठे प्रश्न में 'पुरुष' पद से कौनसा पुरुष समझा जाना चाहिये? पांचवें प्रश्न में उसे पर-अपर रूप में कहा है, और छठे प्रश्न में षोडशकल बताया है? सूत्रकार आचार्य ने समाधान किया—

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः ॥१३॥

[ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्] ईक्षति का कर्म बतलाये जाने से अथवा उसके ईक्षति-रूप कर्म का कथन होने से [सः] वह। उक्त हेतु से वह पुरुष ब्रह्म होसकता है।

सूत्रों में ब्रह्म का प्रसंग चालू है। सूत्र के 'ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्' इस हेतुपद में दो तरह का समास संभव है, षष्ठी तत्पुरुष और कर्मधारय। पहले के अनुसार अर्थ होगा–ईक्षति के कर्मरूप में उस पुरुष का व्यपदेश-कथन होने से वह पुरुष ब्रह्म है। दूसरे के अनुसार अर्थ होगा–उस पुरुष के ईक्षतिरूप कर्म का व्यपदेश होने से वह पुरुष ब्रह्म होसकता है, अन्य कोई नहीं। पहले समास के अनुसार इस सूत्र का लक्ष्यस्थल है–प्रश्न उपनिषद् का पञ्चम प्रश्न, तथा दूसरे के अनुसार इसका विवेच्य प्रसंग छठा प्रश्न है।

पिप्पलाद ऋषि के पास ब्रह्मविषयक जानकारी के लिये छह शिष्य इकट्ठे होकर आये। सबके प्रश्नों का ऋषि ने सदुत्तर दिया। पांचवें जिज्ञासु सत्यकाम ने ऋषि से पूछा–'ओम्' का ध्यान करने से किस स्थान की प्राप्ति होती है? ऋषि ने कहा–'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' जो ध्यानी त्रिमा-त्रिक 'ओम्' इस पदद्वारा 'पर पुरुष' का ध्यान करता है; यहां 'पुरुष' पद का प्रयोग ध्येय के लिये है, आशंका है–वह ध्येय जीवात्मा समझा जाय, अथवा परमात्मा? ध्यानीद्वारा अपने आत्मा को जानने के लिये धारणा ध्यान व समाधि का उपयोग होता है, तथा परमात्मा को जानने के लिये भी। यदि कहा जाय, कि यहां पुरुष का 'पर' विशेषण दिया है, जिससे यह स्पष्ट होता है, कि जीवात्मा का ग्रहण यहां नहीं होना चाहिये; क्योंकि 'पर' पुरुष ब्रह्म होसकता है। ऐसा कहना ठीक न होगा, कारण यह है, कि जीवात्मा को जड़ प्रकृति से 'पर' कहा गया है [मु० २।१।२], उसके लिये

यह विशेषण दिया जासकता है।

सूत्र के पदों द्वारा इसका समाधान किया गया—'ईक्षति' क्रिया के कर्मरूप में आगे उस ध्येय पुरुष का कथन होने से वह पुरुष ब्रह्म है, यह निश्चित होता है। प्रश्न उपनिषद् की इसी [५।५] कण्डिका के उत्तरभाग में कहा—'स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते।' वह ध्यानी इस जीवघन पर पुरुष से और परे—शरीर में विद्यमान-पुरुष का ईक्षण करता है, साक्षात्कार करता है। ध्यानी जिज्ञासु व्यक्ति द्वारा जिस 'पर-पुरुष' के ध्यान किये जाने का निर्देश कण्डिका के प्रथम भाग में किया गया, उसी 'पर-पुरुष' का कण्डिका के अन्तिम भाग में साक्षात्कार किये जाने का निर्देश होना चाहिये। यहां उस 'पुरुष' का 'ईक्षति' क्रिया के कर्मरूप में [पुरुषम्-ईक्षते] कथन है। यही पुरुष ध्यान का लक्ष्य माना जासकता है। इसको कण्डिका के अन्तिम भाग में उस ध्याता एवं ईक्षिता जीवात्म-पुरुष से 'पर' बतलाया है। यह वर्णन इस तथ्य को स्पष्ट करता है, कि 'ध्यायति' और 'ईक्षति' क्रिया के कर्मरूप में जिस 'पुरुष' का उल्लेख है, वह जीवात्मा नहीं होसकता; क्योंकि 'ईक्षति' के कर्म पुरुष को उससे भिन्न कहा है—'जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते।' फलतः उक्त प्रसंग में ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व 'पुरुष' पदग्राह्य नहीं होसकता। इस वर्णन से जीवात्मा और परमात्मा का भेद स्पष्ट सिद्ध होजाता है।

सूत्र के द्वितीय समास के अनुसार इसका लक्ष्यप्रदेश उपनिषद् के छठे प्रश्न का विवरण है। जिज्ञासु सुकेशा भारद्वाज ने महर्षि पिप्पलाद से पूछा—भगवन्! एक बार कोसल देश के राजकुमार हिरण्यनाभ ने मुझसे प्रश्न किया, कि भारद्वाज! तुम षोडशकल पुरुष को जानते हो? [षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ!]। मैंने राजकुमार को उत्तर दिया, कि मैं यह सब नहीं जानता, यदि जानता होता तो अवश्य कहता। अब मैं आपसे पूछता हूं, कि वह पुरुष कहां है? [तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति]। महर्षि पिप्पलाद ने सुकेशा को कहा—'इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति' हे सोम्य! यहीं शरीर के अन्दर वह पुरुष है, जिसके आधार पर षोडश कलाओं का प्रादुर्भाव होता है।

इस कथन से संशय होता है, कि यह षोडशकल पुरुष जीवात्मा होना चाहिये, या परमात्मा? सन्देह का कारण है—यहीं शरीर के अन्दर उस पुरुष को विद्यमान बतलाना। सर्वव्यापक होने से परमात्मा शरीर के अन्दर विद्यमान रहता है, और शरीर का अभिमानी चेतन जीवात्मा तो वहां रहता ही है, प्रसंगानुसार शरीर के अन्दर पुरुष की विद्यमानता का कथन यह स्पष्ट करता है, कि यहां 'पुरुष' पदग्राह्य जीवात्मा होना चाहिये; परमात्मा तो सर्वत्र व्यापक रहता है, शरीर के अन्दर विद्यमानता का विशेष कथन जीवात्मा के विषय में अधिक उपयुक्त है। अगले वाक्य से इस अर्थ की पुष्टि होती है। आगे कहा—'कस्मिन्नुअहमुत्क्रान्ते

क्रा न्त भवष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ।' किसके उत्क्रमण करजाने पर मैं उत्क्रान्त होजाऊंगा, और किसके प्रतिष्ठित होने पर प्रतिष्ठित रहूँगा। यह उत्क्रान्ति और प्रतिष्ठा परिच्छिन्न जीवात्मा में संभव है, सर्वव्यापक परमात्मा में नहीं। एक देह को त्यागकर जीवात्मा देहान्तर में प्रतिष्ठित होता है। एक देह को त्यागना 'उत्क्रमण' और दूसरे में प्राप्त होना 'प्रतिष्ठा' है। तेरह करण तथा पांच तन्मात्र से निर्मित सूक्ष्मशरीर में परिवेष्टित जीवात्मा इनके साथ एक देह को छोड़ता और दूसरे को प्राप्त होता है।

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् [३।४] में कहा—'स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति,' वह जीवात्मा जब इस शरीर से बाहरनिकलता है, तब इन सब करणों के साथ ही निकलता है। इस बात को प्रकारान्तर से इसी सन्दर्भ में आगे बताया—'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' जो प्राण है वह प्रज्ञा—चेतना है, जो प्रज्ञा है वह प्राण है। ये दोनों साथ-साथ शरीर में निवास करते हैं, साथ निकल जाते हैं। प्राण समस्त करणों का व्यापार है, शरीर में प्राणों का रहना इन्द्रियों के साथ जीवात्मा के वहां विद्यमान होने का प्रमाण है, शरीर में चेतना के रहते ही प्राणों का रहना संभव है, इस अनिवार्य सह-अस्तित्व के आधार पर प्राण को प्रज्ञा तथा प्रज्ञा को प्राण कहा है। तात्पर्य यह, कि जीवात्मा का एक देह से उत्क्रमण तथा देहान्तर में प्रतिष्ठान करणों के साथ होता है। पुरुष के उत्क्रमण और प्रतिष्ठान के विषय में जो बात प्रश्न उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसंग में कही गई, वह उक्त विवरण के आधार पर जीवात्मा के विषय में घटित हो-सकती है; क्योंकि वह करणों का एक देह से उत्क्रमण होने पर उत्क्रान्त और देहान्तर में उनके प्रतिष्ठित होने पर प्रतिष्ठित होता है।

इसीप्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् [४।३।८] में जीवात्मा के उत्क्रमण का उल्लेख है—स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति।' जब यह जीवात्म-पुरुष शरीर से उत्क्रमण करता है, कहा जाता है—यह मर रहा है, तब पुण्य-पाप किये जाने के आश्रय देह तथा देहांगों को छोड़ देता है। इसी उपनिषद् में अन्यत्र [४।४।२] कहा—'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' समस्त इन्द्रियां अपने गोलकों से आहृत होकर जब आत्मा के निवास हृदयदेश में उपसंहृत होजाती हैं; तब केवल वह प्रदेश आत्मा से आलोकित रहता है; वहां से यह आत्मा चक्षु मूर्धा अथवा शरीर के अन्य किसी अंगद्वारा बाहर निकल जाता है। ये सब प्रसंग जीवात्मा के उत्क्रमण को स्पष्ट करते हैं। [illegible] प्रश्न उपनिषद् के उक्त प्रसग में 'पुरुष' पद का प्रयोग जीवात्मा के लिये समझा जाना चाहिये।

सूत्रकार ने इस जिज्ञासा का समाधान किया—उस पुरुष के ईक्षति-कर्म का कथन होने से यहां पुरुष, ब्रह्म होसकता है, अन्य नहीं। यहीं शरीर के अन्दर वह

पुरुष रहता है, जिसके आश्रय पर सोलह कलाओं का प्रादुर्भाव होता है; इस कथन के अनन्तर उपनिषद् में कहा–'स ईक्षाञ्चक्रे' [प्रश्न० ६।३], उसने ईक्षण किया, अथवा वह ईक्षण-संकल्प करता है, वह इसे जानता है, कि देह में किसकी प्रतिष्ठा होने पर मैं प्रतिष्ठित समझा जाता हूं, और देह से किसका उत्क्रमण होने पर मैं उत्क्रान्त समझा जाता हूं। देह में जब जीवात्मा प्रतिष्ठित रहता है, उसी समय परमात्मविषयक प्रतिष्ठान–चिन्तन–ध्यान आदि की देह के हृदयदेश में सम्भावना होती है, देह के बाहर अथवा मृत देह में नहीं। यह प्रक्रिया जीवात्मा के अभ्युदय निःश्रेयस का साधन है, इसीलिये परमात्मा देहपर्यन्त समस्त संसार की रचना करता है। इस भावना से वह सोलह कलाओं का सर्जन करता है, जिनमें समस्त विश्व का समावेश है।

वह पुरुष 'प्राण' का सर्जन करता है। प्राण की स्थिति तक सर्जन होने का अभिप्राय है, जीवात्मा अपने समस्त अध्यात्म साधनों के सहित देह में प्रतिष्ठित होचुका है, क्योंकि प्राण समस्त करणों का व्यापार है, प्राण की सृष्टि इस तथ्य को प्रकट करती है। अनन्त विश्व-विभूति को सामने बिखरा हुआ देख आत्मा में किसी दिव्यशक्ति के प्रति श्रद्धांकुर का प्रादुर्भाव होता है। इस स्थिति को उपनिषद् [प्रश्न० ६।४] में बताया–'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां'। वह विश्व-विभूति का विस्तार क्या है ? जिसका सर्जन उस 'पुरुष' ने किया ? इसीका विवरण आगे प्रस्तुत किया–'खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नम्' आकाश आदि समस्त भूतपर्यन्त बाह्य जगत् का सर्जन उस 'पुरुष' ने किया, आन्तर इन्द्रिय तथा मन का। जीवात्मा के भोग के लिये समस्त भोग्य [अन्नं] पदार्थों का उत्पादन किया। अन्नादि पदार्थों के उपयोग से देह इन्द्रिय आदि सशक्त रहते हैं, तथा मानव तपोनिष्ठ रहकर सक्रिय जीवन व्यतीत करपाता है। इसी बात को उपनिषद् में कहा–'अन्नाद्वीर्यं तपः'। मानव जीवन को सब दिशाओं में पूर्णता प्रदान करने के लिये उस 'पुरुष' ने वेदों का सर्जन किया, वे मनन की पराकाष्ठा हैं एवं ज्ञानपूर्ण हैं। उन्हीं के अनुसार समस्त कर्मों का विधान किया। उनका विचार्य क्षेत्र सम्पूर्ण लोक-लोकान्तर हैं, उनका भी सर्जन उस 'पुरुष' द्वारा हुआ। यह सब मानव का व्यवहार, 'नाम' अर्थात् 'शब्द' पर आधारित है, इस कला का सर्जन भी उस 'पुरुष' ने किया। इसप्रकार इन सोलह कलाओं [प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक, नाम] का स्रष्टा वह 'पुरुष' है। वह इनकी रचना का पहले ईक्षण-आलोचन करता है, पुनः इनका सर्जन। इसी ईक्षण व आलोचन को उपनिषदों में 'तपः' नाम से कथन किया है। 'स तपोऽतप्यत' [प्रश्न० १।४], 'तपसा चीयते ब्रह्म' [मुण्ड० १।१।८]। फलतः उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसंग में उस पुरुष के ईक्षति कर्म का व्यपदेश होने से वह ब्रह्म होसकता है, क्योंकि यह 'ईक्षति' एवं 'सृजति' कर्म केवल ब्रह्म का सम्भव है, इसलिये यहां 'पुरुष' पद से उसी-का ग्रहण है। सूत्र का 'ईक्षति' पद 'सृजति' का उपलक्षण होने से इस पदद्वारा दोनों

का बोध होता है। प्रश्न उपनिषद् के छठे प्रश्न की प्रथम चार कण्डिकाओं का यही अभिप्राय है।

आगे उसी 'पुरुष' के आश्रय पर समस्त विश्व के प्रलय का निर्देश है। जैसे वह पुरुष समस्त विश्व का षोडशकलारूप में सर्जन करता है, वैसे वह अपने नियमानुसार विश्व के प्रलय का कर्त्ता है। जगत् का सर्ग और प्रलय ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसीका कार्य नहीं। इसलिये जिस पुरुष को जगत् का स्रष्टा व प्रलयकर्त्ता यहां बताया, वह केवल ब्रह्म होसकता है, अन्य नहीं।

षोडश कलाओं के रूप में जगत् का स्रष्टा होने से परमात्मा को वेद में 'षोडशी' पद से निर्दिष्ट किया है। यजुर्वेद [८।३६] का मन्त्र है—

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥

जिससे उत्तम दूसरा और कोई नहीं है, जो समस्त विश्व में अन्तर्यामीरूप से व्याप्त होरहा है। समस्त संसार का पालक वह परमात्मा जगद्रचनाद्वारा प्राणीमात्र के लिये विविध ऐश्वर्यों का प्रदाता है, इस जगत् की–सोलह कलाओं के रूप में–उत्पत्ति के लिये तीन ज्योति–तीन मूलभूत तत्त्वों [सत्त्व-रजस्-तमस्] को परस्पर मिथुनीभूत कर देता है। प्रलय काल में प्रकृतिरूप ये तत्त्व पृथक्-पृथक् पड़े रहते हैं, प्रलय के अनन्तर जगद्रचना के लिये सर्वशक्तिमान् अन्तर्यामी परमात्मा अपनी प्रेरणा से इन्हें अन्योन्य-मिथुनीभूत कर देता है, जिससे संसार की रचना प्रारम्भ होजाती है, और सोलह कलाओं के रूप में यह विश्व प्रकाश में आता है, इसीकारण वह प्रजापति 'षोडशी' है। प्रश्न उपनिषद् [६।४] के उक्त प्रसंग में उन्हीं कलाओं का विवरण दिया गया है। अतः वहां षोडश कलाओं के आधारभूत जिस 'पुरुष' का प्रतिपादन है, वह केवल परमात्मा है, यह निश्चित होता है ॥१३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, गत प्रकरण में प्रश्न उपनिषद् के पांचवें-छठे प्रश्न में पठित 'पुरुष' पद का प्रयोग परमात्मा के लिये है, यह निश्चय किया गया। 'पुरुष' पद जीवात्मा के लिये भी प्रयुक्त होता है, और देह के अन्दर हृदयदेश जीवात्मा का निवास है, वहीं पर ब्रह्म के रहने व जानने के निर्देश शास्त्र में अनेकत्र उपलब्ध हैं। ऐसा एक निर्देश छान्दोग्य [८।१।१] में है। वहां बताया–हृदयदेश के अत्यल्प अवकाश में जिसका निवास है, उसको ढूंढ़ना व जानना चाहिये। जिज्ञासा है–यहां अन्वेष्य तथा ज्ञेय तत्त्व कौन है? क्या परिच्छिन्नरूप में वर्णन होने से जीवात्मा ज्ञेय है? यदि ब्रह्म ज्ञेय है, तो क्या वह जीवात्मा के समान परिच्छिन्न माना जायगा? क्योंकि उसका निवासस्थान 'दहर–आकाश' अर्थात् हृदयगत अत्यल्प अवकाश-प्रदेश बताया गया है। सूत्रकार आचार्य समाधान करता है—

दहर उत्तरेभ्यः ॥१४॥

[दहरः] दहर [उत्तरेभ्यः] आगे के वर्णनों तथा आगे कहे हेतुओं से। दहर अर्थात् अल्पस्थान में वर्णित तत्त्व ब्रह्म है; आगे के वर्णनों का इसी में सामञ्जस्य है तथा हेतु आगे कहे हैं।

ब्रह्म का अधिकार पहले प्रकरणों से बराबर चल रहा है। छान्दोग्य उपनिषद् [८।१।१] में कहा—'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्।' अब जो यह इस ब्रह्मपुर में कमल-आकृति छोटा घर है, उसमें अन्दर अत्यल्प अवकाश है, उसके अन्दर जो बैठा है, उसे ढूंढ़ना और उसे ही जानना चाहिये। साधारणतया 'ब्रह्मपुर' पद यहां स्थूलशरीर के लिये प्रयुक्त है। इस शरीर में छोटा-सा कमलाकृति घर है, यह मस्तिष्क के दो भागों की सन्धि में अवस्थित है। उसके मध्य में जो बहुत थोड़ा अवकाश है, वहां आत्मा का निवास है, और वहीं आत्माद्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। यहां 'ब्रह्मपुर' पद का अर्थ हृदयदेश समझा जाय, तो भी कोई आपत्ति नहीं। 'हृदय' पद से मस्तिष्कगत उस समस्त भाग का ग्रहण होजाता है, जो आत्मा का सुरक्षित निवास है। इसको ब्रह्मगुहा,[1] ब्रह्मयोनि, ब्रह्मपुर अथवा हृदय आदि अनेक पदों से व्यवहृत किया जाता है। उस हृदय देश में एक छोटा-सा घर है, यह निर्देश पीताभ आज्ञाकन्दों की स्थिति को स्पष्ट करता है। उन आज्ञाकन्दों के बीच जो अत्यल्प अवकाश है, उस अवकाश में जो बैठा है, वह तत्त्व अन्वेष्टव्य एवं ज्ञेय है।

जिज्ञासा है कि वह ज्ञेयतत्त्व कौन संभव है? जीवात्मा अथवा परमात्मा। एक देशविशेष में निवास बताये जाने के कारण वह जीवात्मा होसकता है, जीवात्मा परिच्छिन्न चेतनतत्त्व है, उसका अत्यल्प अवकाश में निवास प्रामाणिक कहा जासकता है। परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, जैसा अन्यत्र रहेगा, वैसा हृदयप्रदेश में। प्रदेशविशेष में उसके खोज करने व जानने का कथन कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। हृदयदेश से अन्यत्र जीवात्मा के रहने की सम्भावना नहीं, इसलिये 'दहर आकाश' में ज्ञेय तत्त्व जीवात्मा होना चाहिये। ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सूत्रकार ने समाधान किया—यहां 'दहर आकाश' में अवस्थित ज्ञेयतत्त्व परमात्मा समझना चाहिये, जीवात्मा नहीं। क्योंकि इस प्रसंग में आगे जो वर्णन है, उसका सामञ्जस्य तभी संभव है, जब यहां ब्रह्म को ज्ञेय माना जाय।

उपनिषद् में आगे [८।१।३] बताया—जो तत्त्व इस अतिरिक्त महान अवकाश में अवस्थित है, वही हृदयावकाश में है, पृथु-थिवी, अग्नि-वायु, सूर्य-चन्द्रमा, विद्युत्-

---

१. इसके विस्तृत विवरण के लिये देखें—'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ ११७–१२०।

नक्षत्र आदि जो हैं, और जो अब नहीं हैं, अर्थात् अतीत और अनागत सब उसी तत्त्व में समाहित हैं, उसी में आधारित हैं। आगे [८।१।५] कहा–यह आत्मा सब पापों से रहित है, यह बुढ़ापा और मौत से परे है, इसे कभी शोक आदि विकार नहीं होते, यह भूख-प्यास की इच्छा से परे है, सत्यकाम एवं सत्यसंकल्प है।

ये सब धर्म ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कहीं संभव नहीं। द्यु पृथिवी आदि का आधार जीवात्मा नहीं होसकता, उसका सम्बन्ध पापाचरण आदि के साथ बराबर रहता है। शरीर के साथ सम्बद्ध होने पर जरा-मरण आदि जीवात्मा के साथ लगे रहते हैं, शोक मोह भूख प्यास आदि भी जीवात्मा के साथ लगे रहते हैं; फलतः इन वर्णनों के आधार पर प्रथम कण्डिका में वर्णित ज्ञेयतत्त्व ब्रह्म होसकता है, अन्य नहीं।

कहा जासकता है–जीवात्मा नित्य चेतनतत्त्व है, स्वरूप से उसमें जरा-मरण, अथवा भय शोक आदि का कोई अस्तित्व नहीं रहता, पापाचरण आदि उसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं डालते, तब जीवात्मा को यहां ज्ञेयतत्त्व मानने में क्या बाधा है? इस विषय में सबसे पहली बात यह है, कि जीवात्मा द्यु आदि का आधार नहीं माना जासकता। फिर जीवात्मा का देह आदि के साथ सम्बन्ध अनिवार्य है, उस अवस्था में जरा-मरण आदि का उसके साथ रहना प्रत्यक्षसिद्ध है। स्वरूप से जीवात्मा का अवि-कारी होना ठीक है, पर शोक मोह आदि की अनुभूति और पापाचरण आदि का उससे निवारण नहीं होता। जीवात्मा की ऐसी स्थिति के कारण वेदों में उसकी निवृत्ति के लिये प्रार्थनाओं का निर्देश है। इसके लिये वेद के दिग्दर्शनमात्र कतिपय स्थल [ऋ० १।९९।१; ५।८२।५; यजु० ३०।३; ५।३६; अथर्व० ६।११५।१] द्रष्टव्य हैं। जीवात्मा अपने पापों की निवृत्ति के लिये इन मन्त्रों द्वारा परमेश्वर से प्रार्थना करता है। जीवात्मा के कर्मफल भोगने का उल्लेख वेद [ऋ० १।१६४।२०] में उपलब्ध होता है, इससे जीवात्मा का शोक या दुःख-सुख आदि से सम्पर्क स्पष्ट होता है। जीवात्मा की इन अवस्थाओं का वर्णन उपनिषदों [कठ० १।१३; १।१८; मु० ३।१।२; छा० ३।१७।१] में उपलब्ध है, और लोक में प्रत्यक्षसिद्ध है। ब्रह्म इन सब अवस्थाओं से रहित है, जैसाकि उपनिषद् [छा० ८।१।५] में वर्णन किया। इससे यह भी स्पष्ट होता है, कि ब्रह्म देहबन्धन में कभी नहीं आता, जैसे जीवात्मा आता है।

वेद तथा वैदिक साहित्य में ब्रह्म के पाप तथा जरा-मरण आदि से रहित होने का विस्तृत वर्णन है। इसके लिये अनेक स्थल [यजु० ४०।८; अथर्व० १०।७।४०; छा० १।६।७; बृ० ३।८।८; ४।४।२५; श्वे० ३।२१] द्रष्टव्य हैं। यहां प्रतिपादित वह ज्ञेयतत्त्व द्यु आदि का आधार इसीकारण है, कि वह इस सबका रचयिता है [ऋ० १०।१२९।४; ऐ० उ० १।१-२]। जीवात्मा में यह संभव नहीं। फिर उस ज्ञेय-तत्त्व के ज्ञान का जो फल इस प्रसग में बतलाया गया, कि उस ज्ञानी का सब लोकों में कामचार होजाता है [छा० ८।१।६; ८।२।१०], यह भी ज्ञेयतत्त्व को जीवात्मा

मानने पर संगत नहीं होता, इसकारण दहराकाश से अभिलक्षित ज्ञेयतत्त्व ब्रह्म समझना चाहिये।

सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी ब्रह्म को दहराकाश से उपलक्षित क्यों कहा गया? 'दहर' पद का अर्थ अल्प है, 'आकाश' का तात्पर्य अवकाश है। देह में यह जीवात्मा का घर है, इसके द्वारा ब्रह्म का कथन क्यों किया गया? यह स्पष्ट होना चाहिये। सूत्रकार ने इसका समाधान प्रस्तुत प्रकरण के अन्तिम [२१] सूत्र में किया है ॥१४॥

गतसूत्र में दहराकाशोपलक्षित ज्ञेयतत्त्व को ब्रह्म बताने के लिये 'उत्तरेभ्यः' हेतु दिया, जिसका अर्थ है—आगे कहे जाने वाले हेतुओं से। सूत्रकार आचार्य उन हेतुओं को यथाक्रम प्रस्तुत करता है—

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गञ्च ॥१५॥

[गतिशब्दाभ्यां] गति और शब्द से [तथाहि] जैसेकि [दृष्टं] देखा गया [लिङ्गं] लिङ्ग [च] और। उक्त प्रसंग में गति (गमन) और शब्द (ब्रह्मलोक) से यह सिद्ध होता है, कि दहराकाशोपलक्षित ज्ञेयतत्त्व ब्रह्म है; जैसाकि अन्यत्र अध्यात्मशास्त्र में देखा गया है, जो इसकी यथार्थता में लिङ्ग है, साधन है।

छान्दोग्य उपनिषद् [८।१।१] का यह प्रसंग देह के अत्यल्प प्रदेशविशेष में स्थित तत्त्व को ज्ञेय व उपास्य बताता है। यह ज्ञेयतत्त्व क्या है, इसका निर्णय आगे के वर्णन से स्पष्ट होजाता है। ज्ञानी अथवा साक्षात्कृतधर्मा आत्मा की अभिनन्दनीय स्थिति को प्रकट करते हुए उपनिषत्कार कहता है—'अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानास्तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढाः' [छा० ८।३।२], अब इस आत्मा के जो सम्बन्धी यहां जीवित हैं और जो मर गये हैं, तथा अन्य—वस्त्र अन्न पान एवं रत्न आदि—सामग्री, जिनको यह देखना या प्राप्त करना चाहता है, नहीं कर पाता; पर जब यह ब्रह्मसाक्षात्कार की अवस्था में पहुंच जाता है, तब वहां जाकर यह सब प्राप्त करलेता है। संसारी दशा में आत्मा की यथार्थ स्थिति अनृत-अज्ञान से ढकी रहती है। ब्रह्मज्ञान होजाने पर वह अज्ञान नहीं रहता। संसारी की ऐसी अवस्था होती है, जैसे खेत में भूमि के अन्दर गढ़े हुए खजाने को—उसे न जानने वाला—नहीं देखपाता, उसके ऊपर चक्कर काटता रहता है; जो उपायद्वारा उसे जानलेता है, वह उसे प्राप्त करलेता है। समस्त संसारी जीव प्रतिदिन उस दशा के समीप पहुंचते हैं, पर उसका अनुभव नहीं करपाते, कि यह ब्रह्म का स्वरूप है; क्योंकि उस अवस्था में वे अज्ञान से संचालित रहते हैं।

संसार में जीवात्मा की साधारणतया तीन अवस्था बताई गई हैं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति। तीसरी अवस्था गाढ़ निद्रा की होती है। गहरी नींद में जीवात्मा को सांसारिक

विषयों के साथ संपर्क का बोध नहीं रहता। कारण यह है, कि उस अवस्था में आत्मा के वैषयिक ज्ञान के साधन इन्द्रिय मन आदि तमस्–अज्ञान से अभिभूत रहते हैं, उनका किसी तरह का संपर्क बाह्य एवं आन्तर जगत् से नहीं रहता। इसीकारण सुषुप्ति को तामस माना जाता है। आत्मज्ञानी विषयों में विरक्ति के कारण इन्द्रियादि साधनों द्वारा सुख-दुःखादि के प्राप्त होने पर उनसे अभिभूत नहीं होता, इसलिये वे द्वन्द्व उसके लिये नहीं के बराबर हैं। संसारी की सुषुप्ति दशा में और आत्मज्ञानी की प्रत्येक दशा में सुख-दुःखादि का न होना दोनों जगह समान है, पर संसारी की वह दशा अज्ञानमूलक और आत्मज्ञानी की ज्ञानपूर्वक है। तात्पर्य यह, कि प्रत्येक आत्मा सुषुप्ति में सुख-दुःखादि के अनुभव न होने की स्थिति में पहुंचता है, और यही अवस्था ब्रह्म के अनुभव की है, पर वह सुषुप्ति में ब्रह्म का साक्षात् नहीं करपाता। यद्यपि आत्मा जिस 'दहर वेश्म' के अन्दर 'दहर आकाश' में अवस्थित है, वहां परमात्मा का भी निवास है; सुषुप्ति में बाह्यवृत्तियों के न रहने पर वहीं बैठा जीवात्मा वहीं उपस्थित परमात्मा को जान नहीं पाता; कारण यह है, कि उस दशा में वह अज्ञान से अभिभूत रहता है। आत्मा की यह अवस्था उपनिषत्कार ने खेत में गढ़े निधि के दृष्टान्त से प्रकट की है। निधि के ऊपर घूमता हुआ भी उसे न जानने वाला प्राप्त नहीं करपाता, ऐसे ही एक स्थान में रहता हुआ भी अज्ञानी जीवात्मा ब्रह्म को नहीं देखपाता। परन्तु जब ज्ञान की स्थिति में पहुंच जाता है, तो उसे पालेता है। इसप्रकार उपनिषद् [छा० ८।३।२] में 'अत्र गत्वा विन्दते' तथा 'अहरहर्गच्छन्त्यः' आदि पदों से उस ज्ञेयतत्त्व [छा० ८।१।१ में निर्दिष्ट] तक जीवात्मा की 'गति' का उल्लेख किया है। इसका अर्थ है–प्राप्ति, प्राप्त होना, वहां तक पहुंचना। यह चलकर जानेवाली 'गति' नहीं है, अज्ञान दूर कर ज्ञान की दशा में पहुंचना ही 'गति' है। इस वर्णन से यह स्पष्ट होजाता है, कि प्रथम सन्दर्भ [छा० ८।१।१] में निर्दिष्ट ज्ञेयतत्त्व जीवात्मा संभव नहीं, वह तो जिज्ञासु एवं उपासक है, ज्ञेय व उपास्य नहीं है।

इसी प्रसंग में आगे कहा–'अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, एष आत्मेति होवाच, एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति, तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति' [छा० ८।३।४]। अब जो यह ज्ञानी जीवात्मा [संप्रसादः] इस शरीर को छोड़कर परम ज्योति [परमात्मा] के समीप प्राप्त होकर अपने रूप से [जीवात्मरूप से] अभिनिष्पन्न रहता है, निश्चित ही अपने शुद्धरूप से अवस्थित होजाता है। अभी तक प्रकृति से अभिभूत हुआ वह संसारी के रूप में था, परमात्मा के अतिसमीप होते हुए भी उससे दूर था। अब ज्ञान प्राप्तकर वह आनन्दस्वरूप [परं ज्योतिः] ब्रह्म के समीप आगया है। जिसके समीप आगया है, वह सर्वव्यापक तत्त्व है, अमृत अभय है, वह ब्रह्म है, ब्रह्म सत्यस्वरूप है। इससे ज्ञाता-ज्ञेय तथा उपासक-उपास्य का भेद स्पष्ट है। जीवात्मा उस परम ज्योति को प्राप्त करनेवाला

है; वह ज्योति प्राप्य एवं ज्ञेय है। इसप्रकार ज्ञेयतत्त्व इस प्रसंग में ब्रह्म है, अन्य नहीं।

शब्द–साक्षात् शब्दद्वारा यह जाना जाता है, कि उक्त सन्दर्भ [छा० ८।१।१] में ज्ञेयतत्त्व ब्रह्म है। आगे [छा० ८।३।२] इसी प्रसंग में कहा–अज्ञानी जिसे प्राप्त नहीं करपाते, और ज्ञानी प्राप्त करलेते हैं, वह 'ब्रह्मलोक' है। इस पद का अर्थ है–ब्रह्मरूप लोक अथवा ब्रह्म ही लोक। प्राप्त होने की भावना से 'लोक' पद का प्रयोग किया। सारांश, उस ज्ञेयतत्त्व के लिये यहां साक्षात् 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग हुआ है, इसलिये उससे अतिरिक्त किसी ज्ञेयतत्त्व का प्रश्न ही नहीं उठता।

सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा की गति परब्रह्मविषयक होती है, ऐसे प्रसंग उपनिषदों में अन्यत्र देखे जाते हैं। प्रश्न उपनिषद् [४।४] में बताया–'स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति।' वह [उदान] इस यजमान [मन] को स्वप्नरूप वृत्ति से हटाकर प्रतिदिन सुषुप्ति अवस्था में सुखरूप ब्रह्मस्थिति तक लेजाता है। आगे इसी उपनिषद् [४।९] में कहा–'एष हि द्रष्टा···बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते।' यह द्रष्टा ज्ञाता कर्त्ता चेतनस्वरूप जीवात्म-पुरुष उस अविनाशी परमात्मा में संप्रतिष्ठित होता है। इसीप्रकार छान्दोग्य [६।८।१] में कहा–'यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य! तदा सम्पन्नो भवति।' जब जीवात्म-पुरुष सुषुप्ति अवस्था में होता है, उस समय सद्रूप ब्रह्म से युक्त होता है। गतिविषयक वर्णन के समान उस ज्ञेयतत्त्व का 'ब्रह्मलोक' शब्दद्वारा अन्यत्र भी कथन हुआ है। छान्दोग्य [८।१५।१] में बताया–'स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते।' वह निश्चित ही ऐसा आचरण करता हुआ 'ब्रह्मलोक' को प्राप्त होजाता है। ऐसे ही बृहदारण्यक उपनिषद् [४।३।३२] में कहा–'एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्यः, एषाऽस्य परमा गतिरेषाऽस्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः।' याज्ञवल्क्य ने राजा को बताया, हे सम्राट्! यह ब्रह्मलोक है, जीवात्मा की यह सर्वोत्कृष्ट गति है, सर्वश्रेष्ठ संपत्ति, सर्वोत्तम लोक तथा यही सबसे बड़ा आनन्द है। यदि छान्दोग्य के उक्त प्रसंग [८।१।१] में दहराकाश से उपलक्षित ज्ञेयतत्त्व परब्रह्म न हो, तो इसीप्रकार के समानविषयक उपनिषदों में ब्रह्म को लक्ष्य बताकर जीवात्मा की गति का जो वर्णन है, वह न होता, और न 'ब्रह्मलोक' शब्द का वहां प्रयोग होता। फलतः उपनिषदों में इस विषय के समानवर्णन सिद्ध करते हैं, कि छान्दोग्य के उक्त प्रसंग [८।१।१] में दहराकाशोपलक्षित ज्ञेयतत्त्व ब्रह्म है।

इस सूत्र की व्याख्या में प्राचीन और आधुनिक सभी व्याख्याकारों ने 'दहर' पद को ब्रह्मपर्याय माना है। आचार्य शंकर ने लिखा–'दहरः परमेश्वरः' तथा 'इतश्च परमेश्वर एव दहरः।' इससे पहले सूत्र की व्याख्या में जहां 'दहर' विषयक संशय प्रस्तुत किया है, लिखा–'तत्र योऽयं दहरे हृदयपुण्डरीके दहर आकाशः श्रुतः स किं भूताकाशः, अथवा विज्ञानात्मा, अथवा परमात्मेति संशय्यते।' जहां इस आशंका का समाधान

किया, वहां भी लिखा–'परमेश्वर एवात्र दहराकाशो भवितुमर्हति।' इससे स्पष्ट होता है, कि आचार्य शंकर 'दहर' पद अथवा 'दहराकाश' पद को ब्रह्म पद का पर्याय बतला रहे हैं। अन्य सभी प्राचीन नवीन व्याख्याकारों ने ऐसा ही लिखा है। पर यहां–'दहर' अथवा 'दहराकाश' पद से उपलक्षित ज्ञेयतत्त्व ब्रह्म है–ऐसा अर्थ किया है। कारण यह है, कि इस सूत्र का लक्ष्यप्रदेश जो उपनिषत्संदर्भ है, उसके आधार पर यह अर्थ स्पष्ट होता है। उपनिषद् [छा० ८।१।१] का पाठ है—

'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः, तस्मिन् यदन्तः, तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्।'

यहां शरीर के एक विशेष प्रदेश में 'दहर वेश्म' बताया, एक छोटा-सा घर; उसमें 'दहर आकाश' बताया; उसके अन्दर जो है, उसे ज्ञेयतत्त्व कहा। इससे स्पष्ट होता है, कि 'दहर वेश्म' एक छोटा-सा घेरा है; उसके बीच में 'दहर आकाश' अर्थात् अल्प अवकाश है, उसमें अवस्थित तत्त्व ज्ञेय है। उस ज्ञेय को उत्तर हेतुओं से ब्रह्म सिद्ध किया गया। इस कथन से 'दहर' अथवा 'दहराकाश' ब्रह्म है, यह नहीं जाना जाता; ये पद तो उस स्थान-विशेष के निर्देशक हैं, जहां ब्रह्म को जानने का प्रयास होता है, इस-लिये ये पद उस ज्ञेय के उपलक्षण कहे जासकते हैं, क्योंकि उसका ज्ञान उसी प्रदेश में होता है। इसका कारण है, ज्ञाता जीवात्मा का वहां रहना। जीवात्मा का वह निवास है, वह उसी देश में ज्ञेय ब्रह्म का साक्षात् करसकता है। सूत्रकार ने प्रकरण के अन्तिम [२१] सूत्र में इसे स्वयं स्पष्ट किया है॥१५॥

दहरपदोपलक्षित ज्ञेयतत्त्व ब्रह्म है, इस अर्थ की पुष्टि के लिये सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः॥१६॥

[धृतेः] धारण करने की [च] भी [महिम्नः] महिमा के [अस्य] इसके [अस्मिन्] इसमें [उपलब्धेः] उपलब्ध होने से–पाये जाने से। इस जगत् के धारण करने की महिमा इस ज्ञेयतत्त्व में पाई जाती है, इसलिये दहरपदोपलक्षित ज्ञेय ब्रह्म है।

छान्दोग्य [८।१।१] में दहरपदोपलक्षित ज्ञेयतत्त्व का निर्देश कर समस्त प्राणियों की गति अथवा ज्ञान की पराकाष्ठा उसीमें बताकर [८।३।२।४] आगे कहा–'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय' [८।४।१], यह जो सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी ज्ञेयतत्त्व है, वह इन सब लोकों का धारण करनेवाला सेतु है, बन्धन है; जिससे ये सब परस्पर टकराकर बिखर न जायें। समस्त विश्व को धारण व नियन्त्रण करने का यह सामर्थ्य परमेश्वर के अतिरिक्त अन्यत्र सम्भव नहीं है। इसलिये यहां दहरपदोपलक्षित ज्ञेयतत्त्व परमात्मा होसकता है, अन्य नहीं।

परब्रह्म परमेश्वर की ऐसी महिमा का वर्णन शास्त्र में अन्यत्र देखा जाता है।

ऋग्वेद [१०।८१।४] में कहा–'यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्' जो ब्रह्म समस्त भुवनों को धारण किये अधिष्ठित है। इसीप्रकार अन्यत्र [ऋ० १०।१२१।१] कहा–'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्' उसने विस्तृत द्युलोक और इस लोक को धारण किया हुआ है। ऐसे ही बृहदारण्यक उपनिषद् [३।८।९] में बताया–'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' हे गार्गि ! उस अविनाशी अपरिणामी परब्रह्म के प्रशासन-नियन्त्रण में सूर्य चन्द्र आदि लोक धारण किये हुए ठहरे हैं। इसी उपनिषद् [४।४।२२] में और कहा–'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय' यह परमात्मा सबका ईश्वर, अधिपति, रक्षा करने वाला तथा धारण करने वाला सेतु है, व्यवस्था में बांधने वाला है, जिससे ये लोक अनियन्त्रित हो परस्पर टकराकर छिन्न-भिन्न न हो जायें। ये सब प्रमाण इस तथ्य के निश्चायक हैं, कि समस्त लोक-लोकान्तरों को धारण करने उनको नियन्त्रण में रखने का सामर्थ्य उस ज्ञेयतत्त्व का कहा है, जिसको छान्दोग्य [८।१।१] में 'दहर' अथवा 'दहराकाश' पद से उपलक्षित कर निर्दिष्ट किया है। वह ज्ञेयतत्त्व ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य सम्भव नहीं ॥१६॥

इसी विषय में सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

प्रसिद्धेश्च ॥१७॥

[प्रसिद्धेः] प्रसिद्धि से [च] भी। यह तथ्य शास्त्र और लोक में प्रसिद्ध भी है, कि ज्ञेय अथवा उपास्य तत्त्व एकमात्र ब्रह्म है।

वेद और अन्य समस्त वैदिक साहित्य में विस्तार के साथ इस तथ्य का वर्णन है, कि सर्वोत्तम ज्ञेय अथवा उपास्य तत्त्व परमात्मा है। जीवात्मा उसके लिये जिज्ञासु होता है, और उपासना आदि उपायों के द्वारा उसके जानने का प्रयास करता है, इसलिये वह ज्ञाता व उपासक है; ज्ञेय एवं उपास्य तत्त्व अन्य कोई है, वह केवल ब्रह्म है। अथर्ववेद [१०।७।३६] में मन्त्र है—

यः श्रमात् तपसो जातो लोकान्त्सर्वान्त्समानशे।
सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

जो अपने पूर्ण एवं अद्वितीय सामर्थ्य से प्रसिद्ध हो सब लोक-लोकान्तरों में व्याप्त होरहा है, जो सुख-शान्तिदायक विश्व को अकेला बनाता है, उस सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म के लिये हम विनत होते हैं। आगे [१०।८।१] और कहा—

यो भूतं च भव्यञ्च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

जो अतीत अनागत और समस्त वर्त्तमान का अधिष्ठाता है, केवल जो आनन्द-स्वरूप है, उस सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म के सन्मुख हमारा विनीत नमन प्रस्तुत है। ऋग्वेद [१।१८९।१] तथा यजुर्वेद [३।३६; ७।४३] में बताया–'भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम'

हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! हम उपासक जीवात्मा आपके विषय में बहुत-बहुत विनय एवं उपासनाओं का अनुष्ठान करते हैं । तैत्तिरीय उपनिषद् के प्रारम्भ में कहा–'नमो ब्रह्मणे, नमस्ते वायो ! त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि' ब्रह्म के लिये नमन है, हे सर्वव्यापक परमात्मन् ! तुम्हारे लिये नमन है, तुम ही प्रत्यक्ष किये जाने योग्य ब्रह्म हो, सर्वोत्कृष्ट ज्ञेयतत्त्व तुम्हीं हो । इसप्रकार शास्त्र में सर्वोत्कृष्ट ज्ञेयतत्त्व के रूप से ब्रह्म की प्रसिद्धि है, ऐसा विस्तृत वर्णन शास्त्र में उपलब्ध है । लोक में भी आपामरजन प्रसिद्ध है, कि वह परमात्मा सबका उपास्य एवं ज्ञेय है । उसके जानने के प्रयास में लोक विविध उपायों का अनुष्ठान करता देखा जाता है । यह प्रसिद्धि इस बात का द्योतक है, कि दहराकाशोपलक्षित ज्ञेय अथवा जिज्ञास्य तत्त्व परमात्मा होना चाहिये ॥१७॥

इस विषय में अपने प्रतिपादित सिद्धान्त की अधिक दृढ़ता के लिये आचार्य सूत्रकार जिज्ञासु शिष्यद्वारा उपस्थापित आशंका का निर्देशपूर्वक समाधान करता है—

इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात् ॥१८॥

[इतरपरामर्शात्] अन्य के परामर्श से [सः] वह अन्य (जिज्ञास्य है) [इति चेत्] ऐसा यदि (कहा जाय, तो यह) [न] नहीं, [असम्भवात्] असम्भव होने से। अन्य अर्थात् जीवात्मा का यहां परामर्श है, वही दहराकाशोपलक्षित जिज्ञास्य तत्त्व होगा; ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उस जिज्ञास्य में कहे धर्म जीवात्मा में असंभव है।

गति आदि उक्त हेतुओं के आधार पर दहराकाशोपलक्षित जिज्ञास्य तत्त्व को ब्रह्म सिद्ध किया गया है; पर यह ठीक नहीं। कारण यह है, कि दहराकाशोपलक्षित तत्त्व का जिज्ञास्यरूप में निर्देश [८।१।१] कर आगे [८।३।२] गति आदि का जो उल्लेख है, वह जीवात्म-विषयक है। जगत् की विधृति आदि का उल्लेख उससे और आगे [८।४।१] है, जीवात्मा के गतिनिर्देश के अनन्तर पुनः जीवात्म-सम्बन्धी वर्णन उपनिषद् [८।३।४] में इसप्रकार उपलब्ध है–'अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाच'। इस सन्दर्भ में 'संप्रसाद' पद का प्रयोग जीवात्मा के लिये हुआ है। यद्यपि यह पद सीधा जीवात्मा का वाचक नहीं है, इसका प्रयोग सुषुप्ति अवस्था के लिए होता है–'स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा' [बृ० ४।३।१५] वह जीवात्मा इस सुषुप्त अवस्था में सुख का अनुभव कर, इत्यादि कथन में 'सम्प्रसाद' पद का प्रयोग सुषुप्ति अवस्था के लिये है, क्योंकि तब देह इन्द्रिय आदि द्वारा होने वाले बाह्य आघातों का अभाव रहता है, इसलिये इन सब कलुषताओं से रहित होने के कारण यह अवस्था 'सम्प्रसाद' कही जाती है। इसका जीवात्मा से सम्बन्ध होने के कारण जीवात्मा के लिये इस पद का प्रयोग उपयुक्त है, जैसे मञ्चस्थ पुरुष के लिये 'मञ्च' पद का प्रयोग देखा जाता है। इसके अनुसार जीवात्मा इस शरीर से उठकर परम ज्योति को प्राप्त होता है, तब अपने

रूप से अवस्थित रहता है, यह शरीर से उठना अर्थात् शरीर को छोड़कर अन्यत्र प्राप्त होना जीवात्मा में सम्भव है । इसलिये उपनिषद् के उक्त प्रसंग में जीवात्मा का सम्बन्ध होने से पूर्ववाक्य [८।१।१] में जिज्ञास्य तत्त्व जीवात्मा माना जाना चाहिये ।

इस आशंका का सूत्रकार ने समाधान किया, उक्त विषय में यह आशंका नहीं कीजानी चाहिये, कारण यह है, कि उस जिज्ञास्य तत्त्व के उपदेश के अनन्तर जो उसके धर्म बतलाये हैं [८।१।३-५], वे जीवात्मा में सम्भव नहीं । वहां समस्त लोक-लोकान्तरों का उसी जिज्ञास्य तत्त्व में स्थित होना तथा उसके अपहतपाप्मा आदि होने का जो वर्णन है, वह जीवात्मा में असम्भव है । इसलिये वह जिज्ञास्य तत्त्व जीवात्मा नहीं होसकता। आगे समस्त प्राणियों की उसी में प्राप्ति [८।३।२] और समस्त जगत् के विधारण करने का वर्णन [८।४।१] जीवात्मा के विषय में नहीं कहा जासकता। यह सब ब्रह्म के जिज्ञास्य माने जाने में साधक है ।

आशंका होती है, यदि यह प्रसंग ब्रह्म के वर्णन में संघटित है, तब बीच में जीवात्मा के वर्णन करने का क्या प्रयोजन ? इस आशंका का समाधान सूत्रकार ने स्वयं बीसवें सूत्र से प्रस्तुत किया है । फलतः उक्त प्रसंग के मध्य में जीवात्मा का परामर्श–सम्बन्ध होने पर भी दहराकाशोपलक्षित जिज्ञास्य तत्त्व ब्रह्म निश्चित होता है ॥१८॥

शिष्य आशंका करता है, अपहतपाप्मत्वादि धर्म केवल परमात्मा के हैं, ऐसा नहीं है । छान्दोग्य के उक्त प्रसंग में आगे [८।७।१, ३] प्रजापतिवाक्यद्वारा जीवात्मा के भी ये धर्म बताये गये हैं । तब इन धर्मों के आधार पर ब्रह्म को जिज्ञास्य तत्त्व क्यों माना जाय ? आचार्य सूत्रकार आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान प्रस्तुत करता है—

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥१९॥

[उत्तरात्] अगले से [चेत्] यदि; [आविर्भूतस्वरूपः] प्रत्यक्ष स्वरूप वाला [तु] तो । पिछले सूत्रों से यहां 'सः, इति, न' इन पदों की अनुवृत्ति है, आगे आने वाले सन्दर्भ के आधार पर, यदि कहो, कि दहरपदोपलक्षित जिज्ञास्य तत्त्व जीवात्मा है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि वहां तो प्रत्यक्ष अर्थात् साक्षात् किये गये स्वरूपवाले आत्मा का **वर्णन है ।**

छान्दोग्य उपनिषद् [८।७।१, ३] में 'दहर' प्रसंग के अनन्तर वर्णन आता है–'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ।' जो आत्मा पाप जरा मृत्यु शोक भूख प्यास से रहित है, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है, वह अन्वेष्य एवं जिज्ञास्य है । जो उस आत्मा को ढूंढ़ व प्राप्त कर जानलेता है, वह सब लोक एवं सब कामनाओं को प्राप्त करलेता है, यह प्रजापति ने कहा ।

'दहर' प्रकरण के अनन्तर यह प्रजापति का कथन है, इसमें जिस आत्मा का उल्लेख है, वह जीवात्मा है, और उसके वही अपहतपाप्मत्व आदि धर्म बतलाये हैं, जो दहर प्रकरण में परमात्मा के। तब इस दहर प्रकरण के साथ लगे हुए अगले [उत्तर] वाक्य के आधार पर पूर्वप्रकरण में जीवात्मा का वर्णन क्यों न माना जाय ? उत्तरवाक्य में जीवात्मा का वर्णन है, यह उसी प्रसंग से निश्चित है। इन्द्र और विरोचन प्रजापति के पास आत्म-जिज्ञासा से आते हैं। प्रजापति ने चार पर्यायों में आत्मा के स्वरूप को समझाया है। पहले तीन पर्यायों में यथाक्रम जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं के आधार पर आत्मा के स्वरूप को प्रस्तुत किया। विरोचन तो पहले पर्याय के प्रवचन को सुनकर वैसे आत्मस्वरूप से सन्तुष्ट हो चला जाता है, पर इन्द्र वैसे आत्मस्वरूप के विषय में सन्देह की निवृत्ति न होने से बार-बार वापस आता है। पहले तीन पर्यायों में–जाग्रत स्वप्न सुषुप्त–तीन अवस्थाओं के आधार पर आत्मा के स्वरूप को प्रकट करने का प्रयास इसलिये किया; क्योंकि ये तीनों अवस्था जीवात्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध होने पर सम्भव हैं, इसलिये चौथे पर्याय में सशरीर और अशरीररूप से आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। प्रत्येक अगले पर्याय में प्रजापति ने इन्द्र को कहा है, कि मैं पुनः उसी आत्मा के विषय में कथन करूंगा, जिसका प्रथम उपक्रम में किया है। शरीर और इन अवस्थाओं का सम्बन्ध जीवात्मा से होसकता है, इससे यह वर्णन जीवात्मा का स्पष्ट होता है।

इसके अतिरिक्त जिसप्रकार दहर प्रकरण में 'स वा एष आत्मा हृदि' [छा० ८।३।३] कहकर आगे [८।३।४] 'अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय' इत्यादि वर्णन है; ठीक ऐसा वर्णन प्रजापति के द्वारा चौथे पर्याय में अशरीर आत्मस्वरूप का कथन करने के अनन्तर है, वहां [छा० ८।१२।३] बताया–'एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय' इत्यादि। यह सम्प्रसाद–दुःख शोकादिरहित आत्मा इस शरीर से उठकर–इसका परित्याग कर–परम ज्योति को प्राप्त होता है। यह शरीर का त्याग करना–धर्म केवल जीवात्मा में सम्भव है। इसकारण प्रजापति-प्रवचन के इस प्रसंग में जैसे अपहतपाप्मा आदि रूप से जीवात्मा का वर्णन निश्चित होता है, ऐसे ही दहरप्रकरण में इन सब उक्त समानताओं के आधार पर जिज्ञास्य तत्त्व जीवात्मा क्यों न माना जाय ? दहर प्रकरण में अपहतपाप्मत्व आदि धर्म परमात्मा के लिये कहे गये कोई विशेषता नहीं रखते, क्योंकि उत्तरवाक्य में प्रजापति ने जीवात्मा में इन धर्मों का वर्णन किया है।

सूत्रकार ने इस आशंका का समाधान किया–**आविर्भूतस्वरूपस्तु**। उत्तर–अगले प्रकरण में वर्णन के आधार पर यह कहना ठीक नहीं, कि दहर प्रकरण में जिज्ञास्य तत्त्व ब्रह्म नहीं, जीवात्मा है। सूत्र का 'तु' पद आशंका की व्यावृत्ति का द्योतक है। उक्त आशंका निराधार है, क्योंकि उत्तर प्रकरण में 'आविर्भूतस्वरूप' आत्मा का वर्णन है। सशरीर आत्मा प्रकृति के सम्पर्क में अपने विशुद्धस्वरूप को भूला रहता है, इस अवस्था

में वह अनाविर्भूतस्वरूपा है। जब वह प्रकृति से सम्बन्ध छोड़कर केवल अपने शुद्धरूप से सम्पन्न होता है, यह उसकी आत्मज्ञान की अवस्था है। इस दशा में वह परब्रह्म परमेश्वर को साक्षात् करता हुआ मानो उसके स्वरूप–आनन्द का उपभोग करता ब्रह्म जैसा हो-जाता है। ब्रह्म के साथ समानता इतनी ही है, कि वह ब्रह्म के स्वरूप–आनन्द का उपभोग कररहा है। ब्रह्म सदा आनन्दस्वरूप है, पर जीवात्मा ने अभी उस आनन्द का उपभोग किया है। यही जीवात्मा का परमात्मा में अवस्थित होना, लीन होना, मग्न होना आदि पदों से व्यवहृत होता है। यह उसका 'आविर्भूतस्वरूप' कहा जाता है।

प्रजापति के वाक्य में जीवात्मा की इस आनन्दानुभूति के रूप से आविर्भूतस्वरूप का 'अपहतपाप्मा' आदि कथनद्वारा वर्णन है। उस दशा में ये धर्म जीवात्मा में सम्भव हैं। प्रजापति ने इन्द्र-प्रतीक द्वारा जीवात्मा के ऐसे स्वरूप को स्पष्ट कर जिज्ञासुमात्र के लिये आत्मस्वरूप का प्रतिपादन किया है। इस प्रसंग में आत्मा को जिज्ञास्य बताने का केवल इतना तात्पर्य है, कि आत्मा का साक्षात्कार होजाने पर ब्रह्म का साक्षात्कार अनायास होजाता है। इस ज्ञान से सब लोक और सब कामनाओं की प्राप्ति का वर्णन [छा० ८।७।१] इसी आधार पर है, कि आत्मज्ञान होजाने से अनायास ब्रह्मसाक्षात्कार होकर सबप्रकार की कामना व आकांक्षा समाप्त होजाती हैं, वह सर्वातिशायी आलोक–आनन्द को प्राप्त करलेता है, फिर किस लोक की आकांक्षा करे? वह आनन्द पाजाने पर उसे सब प्राप्त होजाता है। आत्मा के लिये यह सब परम ज्योति को प्राप्त करलेने पर [छा० ८।१२।३] सम्भव होता है।

कहा जासकता है, कि दहर प्रकरण में ऐसे आत्मा का वर्णन मानकर उसे ही वहां जिज्ञास्य क्यों न मानलिया जाय? पर ऐसा कथन उपयुक्त नहीं, कारण यह है, कि दहर प्रकरण में जिज्ञास्य तत्त्व को समस्त लोक-लोकान्तरों का आश्रय तथा विधारयिता बताया है, जिसका वर्णन गतसूत्रों [१५, १६] में कर दिया है। ये सब धर्म जीवात्मा में सम्भव नहीं, चाहे वह आविर्भूतस्वरूप हो। प्रस्तुत दर्शन के अन्तिम प्रकरण [४।४।१७] में इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया गया है। फलतः दहर प्रकरण में जिज्ञास्य तत्त्व ब्रह्म सम्भव है, जीवात्मा नहीं ॥१९॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, प्रजापतिवाक्य में जीवात्मा का वर्णन है, यह ठीक है; पर दहर प्रकरण में–जहां जिज्ञास्य परमात्मा का वर्णन है–जीवात्मा का परामर्श–सम्बन्ध क्यों प्रस्तुत किया है? सूत्रकार आचार्य समाधान करता है—

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥२०॥

[अन्यार्थः] अन्य के लिये [च] तो [परामर्शः] परामर्श। दहरप्रकरण में जीवात्मा का परामर्श तो अन्य [परमात्मा] का बोधन कराने के लिये है।

छान्दोग्य उपनिषद् [८।३।४] में दहर प्रकरण के अन्तर्गत जो यह वर्णन है, कि

जीवन्मुक्त [सम्प्रसादः] आत्मा शरीर को छोड़ परम ज्योति को प्राप्त हो अपने केवल शुद्धस्वरूप में अभिसम्पन्न होता है; यह परमात्मा का बोधन कराने के लिये है। वहां वाक्य है–'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' वह जीवात्मा 'परम ज्योति' को प्राप्त होकर अपने रूप अर्थात् केवल शुद्धरूप से अभिसम्पन्न रहता है, तब प्रकृति के साथ उसका कोई सम्पर्क नहीं होता, दुःख शोकादि कालुष्य से रहित रहता है। यह 'परम ज्योति' ही सर्वव्यापक तत्त्व है, यही अमृत अभय ब्रह्म है। इसी तथ्य को उपनिषद् [छा० ८।३।४] में कहा–'एष आत्मेति होवाच, एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति।' इसी 'परम ज्योति' को आगे [छा० ८।१२।३] उत्तमपुरुष बताया है। जीवात्मा जीवन्मुक्त होकर जिस परम ज्योति को प्राप्त होता है, दहर प्रकरण में उसीका जिज्ञास्यतत्त्व के रूप में वर्णन किया है। यहां जीवात्मा की प्राप्ति के अन्तिमलक्ष्य ब्रह्म का प्रतिपादन है, इसी प्रसंग से दहराकाशोपलक्षित जिज्ञास्यतत्त्व ब्रह्म के बर्णन में जीवात्मा का परामर्श है, अन्य किसी प्रयोजन से नहीं ॥२०॥

शिष्य आशंका करता है, परब्रह्म सर्वव्यापक एवं सर्वान्तर्यामी तत्त्व है, उसको अत्यल्प प्रदेश में जिज्ञास्य बताया जाना युक्त प्रतीत नहीं होता। उपनिषद् [छा० ८।१।१] में एक अल्प वेश्म बताया, उसके मध्य में एक अल्प अवकाश का निर्देश किया–'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः'। उसके अन्दर उस अन्वेष्य जिज्ञास्यतत्त्व को बताया–'तस्मिन यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्।' उस अत्यल्प अवकाश में जिज्ञास्यतत्त्व को बताना यह प्रकट करता है, कि वह तत्त्व परिच्छिन्न होना चाहिये, सर्वव्यापक नहीं। यह स्पष्ट होना चाहिये, कि सर्वव्यापक ब्रह्म को अत्यल्प अवकाश में जिज्ञास्य क्यों बताया गया? आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥२१॥

[अल्पश्रुतेः] अल्पविषयक उपनिषद्वाक्य से [इति] ऐसा (–दहर प्रकरणगत जिज्ञास्य ब्रह्म नहीं है ऐसा कहो) [चेत्] यदि, [तत्] वह [उक्तम्] कह दिया है।

छान्दोग्य उपनिषद् [८।१।१] में जो अत्यल्प प्रदेश में जिज्ञास्यतत्त्व का निर्देश है, उसके अनुसार परिच्छिन्न जीवात्मा जिज्ञास्य होसकता है, सर्वव्यापक परमात्मा नहीं; ऐसी आशंका करना उपयुक्त न होगा; कारण यह है, कि इस विषय में पहले कह दिया गया है। यह निश्चित है, कि जीवात्मा का निवास मस्तिष्कगत हृदय नामक अत्यल्प प्रदेश में है। ब्रह्म को जानने का प्रयास जीवात्मा करता है। जहां वह रहता है, वहीं उसकी प्राप्ति व जानने के लिये प्रयास सम्भव है। अतः ब्रह्मजिज्ञासु जीवात्मा के लिये जिज्ञास्य ब्रह्म का निर्देश उसी अत्यल्प प्रदेश में किया जासकता है। ब्रह्म सर्वव्यापक है, एक काल में अनेक जिज्ञासुजन अपने सम्बद्ध हृदयदेश में उसके जानने के लिये उपासना व ध्यान आदि करेगा। यद्यपि ध्यान आदि में ब्रह्म के सर्वव्यापक स्वरूप की भावना

होगी, पर उसप्रकार के ध्यान किये जाने का वही अत्यल्प प्रदेश होगा, जहां जीवात्मा का निवास है। इसीकारण सर्वव्यापक ब्रह्म को उस अल्प अवकाश में जिज्ञास्य कहा है। ऐसी उपासना आदि के विषय में सूत्रकार ने स्वयं 'अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च' [१।२।७] इत्यादि सूत्र द्वारा वर्णन किया है, उसीका प्रस्तुत सूत्र में 'तदुक्तम्' से निर्देश है।

इस प्रकरण में सभी प्राचीन नवीन व्याख्याकारों ने 'दहराकाश' पद को ब्रह्म का पर्यायवाचक समझकर व्याख्यान किया है। पर इन सूत्रों के लक्ष्यप्रदेश उपनिषद् सन्दर्भ के साथ उक्त अर्थ का सामञ्जस्य नहीं होता। उपनिषद् में 'दहराकाश' को जिज्ञास्य नहीं कहा, प्रत्युत उसके अन्दर जो विराजमान है, उसे जिज्ञास्य बताया है। अतः व्याख्या-कारों का ऐसा व्याख्यान चिन्तनीय है ॥२१॥

गतसूत्र में सूत्रकार ने 'तदुक्तम्' से जिस पूर्वोक्त अर्थ का संकेत किया है, सर्व-व्यापक ब्रह्म को अल्पप्रदेश में जिज्ञास्य बताये जाने की पुष्टि के लिये उस अर्थ का स्वयं सूत्रकार स्पष्टरूप से निर्देश करता है—

अनुकृतेस्तस्य च ॥२२॥

[अनुकृतेः] अनुकृति-अनुकरणरूप कारण से [तस्य] उसके [च] तथा। तथा उस परब्रह्म के अनुकरण-अनुष्ठानरूप कारण से सर्वव्यापक ब्रह्म को अल्पदेश में जिज्ञास्य बताया गया है।

सूत्र के 'अनुकृति' पद का 'कृ' धातु उन कर्मों व अनुष्ठानों की ओर निर्देश करता है, जिनके द्वारा जीवात्मा परब्रह्म को जानलेता व प्राप्त करलेता है। इसलिये 'अनुकरण' पद का अर्थ हुआ-अनुष्ठान, ब्रह्म की उपासना ध्यान आदि। सूत्रार्थ होगा-परब्रह्मविषयक अनुष्ठानों के कारण ब्रह्म को अल्पप्रदेश में जिज्ञास्य कहा है। ब्रह्म की प्राप्ति व ज्ञान के लिये जीवात्मा उपासना व ध्यान आदि का अनुष्ठान हृदयदेश के आश्रय से करपाता है, क्योंकि वही आत्मा का निवास है। उस उपासना व ध्यान में उपास्य एवं ध्येय परब्रह्म रहता है, शास्त्रद्वारा स्वभावतः उपास्य, ध्येय अथवा जिज्ञास्यरूप में परब्रह्म का निर्देश उसी प्रदेश में होगा, जहां उपासक जीवात्मा निवास करता हुआ इस अनुष्ठान को सम्पन्न करता है। फलतः जिज्ञास्य का अल्पप्रदेश में निर्देश इस बात का द्योतक नहीं कि वह परिच्छिन्न होना चाहिये। इसलिये दहर प्रकरण में जिज्ञास्यतत्त्व परब्रह्म है, यह निश्चित होता है।

कतिपय व्याख्याकारों ने सूत्र की व्याख्या की है, कि परब्रह्म का अनुकरण उस जैसा अथवा उसके समान होना है। उनके विचार से समानता इतने में पर्यवसित है, कि जीवात्मा सांसारिक शोक दुःख आदि समस्त कालुष्य से दूर हटकर परमात्मा के असीम आनन्द में निमग्न रहता है। यह जीवात्मा की मुक्त अवस्था है, इसको प्राप्त करलेना ब्रह्म के समान होना है। इसी भाव को उपनिषद् में 'निरञ्जनः परमं साम्य-

मुपैति' [मु० ३।१।३] इत्यादि सन्दर्भों द्वारा प्रकट किया है। इसप्रकार की व्याख्या में भी अनुष्ठान की भावना मुख्यरूप से अन्तर्निहित रहती है। क्योंकि मुक्तिप्राप्तिरूप अनुकरण की दशा उपासना ध्यान समाधि आदि के अनुष्ठान से सम्भव होसकती है; इसलिये अनुकृति में मुख्यभावना अनुष्ठान की है, उसकी उपेक्षा किया जाना शक्य नहीं। इसी आधार पर दहर प्रकरण में सर्वव्यापक परमात्मा को हृदयदेश में जिज्ञास्य बताया है, उसकी उपासना अथवा ध्यान इसी रूप में सम्भव है। ऐसे मुक्तिप्राप्त जीवात्मा के अपहतपाप्मत्वादि धर्म परमात्मा के अनुरूप बताये हैं। दहर प्रकरण में ये धर्म नित्य अवस्थित आनन्दस्वरूप ब्रह्म के कहे हैं, तथा प्रजापतिवाक्य [छा० ८।७।१] में समाधि आदि द्वारा परमज्योति की प्राप्ति के अनन्तर प्रकट हुए स्वरूपवाले जीवात्मा के कहे हैं। यह विवेचन दोनों प्रसंगों के सामञ्जस्य को स्पष्ट करता है ॥२२॥

सर्वव्यापक ब्रह्म के ध्यान उपासना आदि हृदयदेश में उपयुक्त हैं, इस तथ्य को सूत्रकार ने अन्य प्रकार से पुष्ट किया—

अपि च स्मर्यते ॥२३॥

[अपि च] और भी [स्मर्यते] स्मरण किया जाता है, अथवा स्मृति में भी यह प्रतिपादित है। ब्रह्म के स्मरण का यह विधान उपनिषदों में बताया है, इस तथ्य को स्मृतियों में भी स्वीकार किया है।

ब्रह्म के स्मरण व चिन्तन का जो विधान शास्त्र में बताया है, वह इस तथ्य को स्पष्ट करता है, कि वह हृदयदेश में किया जाना चाहिये। वेद में कहा—'ओं क्रतो स्मर' [यजु० ४०।१५] हे कर्मशील जीवात्मा! तू परब्रह्म का स्मरण कर। परब्रह्म के ऐसे स्मरण व चिन्तन की रीति का उपनिषदों में वर्णन है। श्वेताश्वतर [२।८] में कहा—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥

शरीर के कटि, उरस् और शिर तीनों अंगों को सीधा रख समानरूप से स्थापित करे, समस्त इन्द्रियों को मन के साथ हृदयदेश में एकाग्र करे, ऐसा उपासक ज्ञानी ब्रह्म-रूप साधन द्वारा सब भयों से पार होजाता है। यहां हृदयदेश में मन इन्द्रियों के संयम-पूर्वक अनुष्ठान से ब्रह्मज्ञान के होने का निर्देश है। इसीप्रकार आगे [श्वे० ४।२०] बताया—'हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुः' इसप्रकार हृदयस्थित इसको शुद्ध मनद्वारा जो जानलेते हैं, वे अमृत को प्राप्त करलेते हैं। मुण्डक उपनिषद् [२।२।६] में कहा—'हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।······तद्यदात्मविदो विदुः' दोषरहित निष्कल ब्रह्म को आत्मज्ञानी अतिसूक्ष्म हिरण्मय कोश [हृदयदेश] में जानलेते हैं। उपनिषद् के इन्हीं भावों के आधार पर गीता [८।१२,१३] में कहा है—

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्… …………।
…………………स याति परमां गतिम् ॥

सब इन्द्रियरूपी द्वारों का संयम कर और मनका हृदय में निरोध करके एवं मूर्धा में प्राण लेजाकर समाधियोग में स्थित होने वाला, तथा 'ओम्' इस एकमात्र अक्षर ब्रह्मनाम का जप एवं ब्रह्म का स्मरण करता हुआ व्यक्ति देहत्याग के अनन्तर उत्तम गति को प्राप्त होता है। इन सब वर्णनों के आधार पर मूर्धास्थित हृदयदेश में ब्रह्म के चिन्तन का विधान सिद्ध होता है।

साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों द्वारा बताये गये ब्रह्मचिन्तन के इन विधानों के अनुसार अनेकत्र स्मृतिग्रन्थों में ब्रह्म की स्थिति को स्पष्टरूप से हृदयदेश में निर्दिष्ट किया है। मनुस्मृति [८।९१] में कहा—

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येषः पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥

हे भद्र ! जो तू यह समझता है, कि इस देश में जीवात्मारूप अकेला मैं ही बैठा हूं; ऐसा कदापि मत समझ, क्योंकि सबके पुण्य और पापों को देखनेवाला यह सर्वज्ञ परमात्मा सदा तेरे हृदय में अवस्थित रहता है। ब्रह्म के ज्ञान अथवा साक्षात्कार होने की भावना से तथा इस भावना से–कि हृदय में आत्मा का निवास है, और उसके अन्दर परमात्मा का निवास रहता है–परमात्मा को अनेकत्र अणु से भी अणु कहा गया है, जो उसकी हृदयदेशस्थिति को स्पष्ट करता है। मनुस्मृति [१२।१२२] में इसीकारण 'अणीयांसमणोरपि' कहा है। उपनिषदों [कठ० १।२।२०; श्वे० ६।१२] में उसे 'अणोरणीयान्' तथा 'आत्मस्थं' बताया है। इसप्रकार सर्वव्यापक ब्रह्म की हृदयस्थिति का स्पष्टीकरण होजाता है। फलतः दहरप्रकरण का हृदयदेश में जिज्ञास्यरूप से ब्रह्म का कथन सर्वथा उपयुक्त है।

आचार्य शंकरद्वारा प्रस्तुत बाईस-तेईस सूत्र का व्याख्यान उत्प्रकरण प्रतीत होता है। कारण यह है, कि इन सूत्रों में उसी आशंका का समाधान है, जिसका निर्देश इक्कीसवें सूत्र में हुआ है, आगे चौबीसवें सूत्र में उसी विषय को चालू रक्खा गया है। चौबीस तथा पच्चीस सूत्र में इस अर्थ का प्रतिपादन है, कि सर्वव्यापक परब्रह्म का शास्त्र में 'प्रमित' अथवा परिमितरूप से वर्णन किन आधारों पर किया गया है। यह इक्कीसवें सूत्र में निर्दिष्ट आशंका का प्रकारान्तर से समाधान है। इसलिये बीच के दो सूत्रों [२२,२३] का व्याख्यान इसी प्रसंग के अनुसार होना चाहिये। आचार्य शंकर ने इस यथार्थता की उपेक्षा की है, जो चिन्तनीय है ॥२३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, छान्दोग्य उपनिषद् के दहरप्रकरण [८।१–७] में

सर्वव्यापक ब्रह्म को हृदयरूप एकदेश में जिज्ञास्य बताया। यह परिमित रूप से ब्रह्म की प्रतिष्ठा इस आधार पर स्वीकार कीगई, कि जीवात्मा द्वारा उसकी उपासना व साक्षात्कार इसी प्रदेश में संभव है। ऐसा मानने का आधार केवल यह तर्क है, अथवा अध्यात्मशास्त्र के अन्य वर्णनों से यह अर्थ प्रमाणित है? आचार्य सूत्रकार समाधान करता है—

शब्दादेव प्रमितः ।।२४।।

[शब्दात्] शब्द से [एव] ही [प्रमितः] परिमित। शब्द प्रमाण से ही सर्वव्यापक ब्रह्म परिमित रूप में प्रतिपादित है।

कठ उपनिषद् [२।१।१२, १३] में वर्णन है—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते, एतद्वै तत्॥
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः, एतद्वै तत्॥

समस्त विश्व में पूर्ण [पुरुषः] परब्रह्म परमात्मा अंगुष्ठमात्र हुआ आत्मा के मध्य में अवस्थित रहता है। वह भूत भविष्यत् एवं वर्तमान का नियन्ता है, ऐसा जान जिज्ञासु उसकी उपेक्षा करना नहीं चाहता, यह वही ब्रह्म है। वह अंगुष्ठमात्र पुरुष धूमरहित ज्योति के समान है, वह केवल आनन्दरूप होने से प्रकाशमय है, उसमें प्रभावीरूप से प्रकृति का कोई सम्पर्क नहीं। वह विश्व का सदा नियन्ता है, उसके ईशिता होने में कभी बाधा नहीं; यही वह परब्रह्म है।

यहां सर्वनियन्ता सर्वत्रपूर्ण परब्रह्म को 'अंगुष्ठमात्र' कहा है, अंगूठे से नापा जाने वाला। दोनों अंगूठों के ऊपर के भाग को आमने-सामने मिलाने से मध्य में जो अन्तर—अवकाश प्रतीत होता है, लगभग उसी ढंग की बनावट मस्तिष्कगत हृदयप्रदेश की है, जहां जीवात्मा का निवास है; क्योंकि परमात्मा का साक्षात्कार जीवात्मा को वहीं होता है, इसलिये परमात्मा अंगूठे जैसे नाप से परिमित समझा गया है। इसप्रकार सीधा शब्द द्वारा प्रमितरूप में उसका वर्णन है। निश्चित है, कि यह परब्रह्म का वर्णन है। यद्यपि जीवात्मा का वहां निवास है, पर वह विश्व का नियन्ता संभव नहीं, इसलिये उक्त वर्णन जीवात्मा का नहीं समझा जायगा। किसी ऐसे पद का प्रयोग होने पर—जो विभिन्न अर्थों का बोधक है—प्रसंग उसके अनुकूल अर्थ का निश्चायक होता है। समस्त विश्व का निर्बाध ईशिता होना, ब्रह्म के अतिरिक्त अन्यत्र संभव नहीं। इसलिये प्रस्तुत प्रसंग का 'अंगुष्ठमात्र' पद ब्रह्म के वर्णन में प्रयुक्त हुआ है, यह स्पष्ट है।

ब्रह्म समस्त विश्व का ईशिता व नियन्ता है, इस तथ्य का प्रतिपादन वेद तथा वैदिक साहित्य में विस्तार के साथ हुआ है। ऋग्वेद [१०।१२१।३] में कहा—

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।

य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः,…………………॥

जो चराचर जगत् और समस्त प्राणियों का एकमात्र नियन्ता व ईशिता है, उस परमात्मा की हम स्तुति करते हैं। इसीप्रकार अथर्ववेद [१०।८।१] में बताया–'यो भूतञ्च भव्यञ्च सर्वं यश्चाधितिष्ठति' वह समस्त भूत वर्तमान एवं भविष्यत् का अधिष्ठाता है। इस विषय में निम्नस्थल द्रष्टव्य हैं–अथर्ववेद [११।४।१], बृहदारण्यक उपनिषद् [२।५।१५; ४।४।२२; ५।६।१] आदि। इसलिये अंगुष्ठमात्र कहा गया समस्त जगत् का ईशिता परब्रह्म होसकता है, जीवात्मा नहीं।

'अंगुष्ठमात्र' पद का प्रयोग कहां परमात्मा और कहां जीवात्मा के लिये हुआ है, इसका निर्णय उस वर्णन एवं प्रसंग के आधार पर होजाता है। जैसे उक्त प्रसंग में भूत भव्य का ईशिता कहे जाने से परमात्मा का बोध होता है, ऐसे ही 'अथ सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशं गतम्। अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्' [महाभारत[1] ३।२९७।१७] इत्यादि स्थलों में 'अंगुष्ठमात्र' पद से जीवात्मा का बोध होता है। मृत्युसमय आने पर जीवात्मा शरीर से बाहर जाता है, सर्वव्यापक परमात्मा नहीं। श्वेताश्वतर [५।८] में पहले 'प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः' प्राणाधिप–जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार संचरण करता है, कहकर 'अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः।' इत्यादि कण्डिका द्वारा 'अंगुष्ठमात्र' पद से जीवात्मा का कथन है।

कठ उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसंग [४।१२] के समान आगे [६।१७] 'अंगुष्ठमात्र' पद का प्रयोग परब्रह्म के लिये हुआ है। वहां जीवात्माओं के हृदय में उसे सदा अन्दर उपस्थित रहनेवाला बताया है, और कहा है–उसे इस शरीरसम्बन्ध से सर्वथा पृथक्रूप में समझना चाहिये। हृदय में रहते हुए भी जीवात्मा के समान शरीर से उसका कोई लगाव नहीं रहता। तात्पर्य यह, कि जैसे जीवात्मा शारीरिक विकारों से अभिभूत होता है, परमात्मा वैसा नहीं होता। वह शुद्ध और अमृत है, यह वर्णन परमात्मा का संभव है। यहां उसे अंगुष्ठमात्र कहा है ॥२४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, सर्वव्यापक परब्रह्म को 'अंगुष्ठमात्र' रूप में वर्णन करने की आवश्यकता क्यों हुई? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥२५॥

[हृदि] हृदय में [अपेक्षया] अपेक्षा से [तु] तो [मनुष्याधिकारत्वात्] मनुष्यमात्र का अधिकार होने से। परमात्मा का अंगुष्ठमात्ररूप से शास्त्रीय वर्णन हृदय में जीवात्माद्वारा उसके साक्षात्कार होने की अपेक्षा से है, स्वतन्त्ररूप से नहीं; क्योंकि

---

१. महावीर प्रिंटिंग प्रेस, लाहौर से विक्रम संवत् १९९३, में प्रकाशित संस्करण के आधार पर।

शास्त्रवर्णित साक्षात्कार में मनुष्यमात्र का अधिकार है।

शास्त्र मनुष्यमात्र के लिये है। केवल मानव का शास्त्र में अधिकार है, अन्य प्राणियों का नहीं। मानव एकमात्र ऐसी योनि है, जिसके लिये शास्त्र का प्रवचन है। परमात्मा को जानने के लिये जीवात्मा इसी योनि को प्राप्त कर समर्थ होता है। जीवात्माओं के कल्याण के लिये वेदादि शास्त्रों का उपदेश हुआ है, परन्तु उनके अध्ययन और समझने में जीवात्मा मनुष्ययोनि को प्राप्त होकर अधिकारी होता है, अन्य योनियों में यह योग्यता नहीं रहती, वे केवल भोग योनियां हैं. यह सृष्टिक्रम की एक व्यवस्था है।

मानवदेह को प्राप्तकर जीवात्मा देह के जिस भाग में निवास करता है, उसका नाम 'हृदय' अथवा 'हृद्' है। बाह्यविषयों के समस्त ज्ञान का आहरण इसी प्रदेश में होता है, इस निमित्त से इस भाग का यह नाम है। ज्ञानों का आहरण यहां इसी कारण होता है, क्योंकि यहां चेतन आत्मा का निवास है, और ज्ञान का सम्बन्ध चेतनतत्त्व से रहता है। जब चेतन जीवात्मा को परब्रह्म की जिज्ञासा होती है, वह अपने निवास–हृदय-देश में उसे जानने में समर्थ होता है, और कहीं जानने का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि परिच्छिन्न जीवात्मा जहां विद्यमान है, उससे अन्यत्र स्थान में ब्रह्म का जानना संभव नहीं। इसलिये जीवात्मा के अवस्थान उस हृदय की अपेक्षा से सर्वव्यापक परमात्मा का शास्त्र में 'अंगुष्ठमात्र' रूप से वर्णन है। सूत्र का 'तु' पद इस अर्थ का बोधक है, कि सर्वव्यापक परब्रह्म का ऐसा वर्णन स्वतन्त्ररूप से अर्थात् निरपेक्ष अपने निजीरूप से नहीं किया जासकता। शास्त्र में केवल मनुष्य का अधिकार होने के कारण मनुष्य-हृदय की अपेक्षा से वैसा वर्णन है, यह स्पष्ट होता है ॥२५॥

शिष्य आशंका करता है, ब्रह्म को सर्वव्यापक मानकर अंगुष्ठमात्ररूप में उसके वर्णन की उपपत्ति के लिये कहा गया, कि यह जीवात्माद्वारा की जाने वाली ब्रह्म की उपासना तथा उसके साक्षात्कार होने की अपेक्षा से किया गया है। तब इससे यही परिणाम निकलता है, कि जीवात्मा का ब्रह्म से सम्बन्ध इसी रूप में होसकता है, फिर ब्रह्म को मुख्यरूप से अंगुष्ठमात्र क्यों न मान लिया जाय? जीवात्मा के समान ब्रह्म की अवस्थिति भी हृदयदेश में रहे? आचार्य सूत्रकार इसका समाधान प्रस्तुत करता है—

तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ॥२६॥

[तदुपरि] उससे ऊपर [अपि] भी [बादरायणः] बादरायण आचार्य [सम्भवात्] सम्भव होने से। सूत्रकार आचार्य व्यास कहता है, कि हृदय से बाहर भी परब्रह्म उसी रूप में विद्यमान रहता है, कारण यह है, कि ब्रह्म के विषय में यही स्थिति संभव है।

सूत्र के 'तत्' पद से पूर्वसूत्रगत 'हृत्' पद का परामर्श होता है, हृदय के अन्दर और उसके बाहर भी परब्रह्म विद्यमान रहता है, क्योंकि उसके अस्तित्व के विषय में यही स्थिति संभव होसकती है। इस तथ्य को सूत्रकार ने अपना नाम देकर प्रकट किया।

प्राचीन आचार्यों में यह प्रथा रही है, कि अपनी रचना में जहां वे किसी प्रस्ताव्य अर्थ पर अधिक बल देना चाहते हैं, तो उसको अपने नाम से प्रस्तुत करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है, कि सूत्रकार परब्रह्म की अंगुष्ठमात्र रूप में अथवा हृदयदेश में अवस्थिति के वर्णन को मुख्य न मानकर नैमित्तिक मानता है। किन निमित्तों के आधार पर ऐसा वर्णन हुआ है, यह अभी पीछे स्पष्ट कर दिया गया है। स्वरूप से ब्रह्म सर्वत्र एक समान व्याप्त रहता है, यही वास्तविक स्थिति है। इस विषय में अन्य किसी स्थिति की संभावना नहीं की जासकती।

यदि हृदयदेश में ब्रह्म के वर्णन के आधार पर यह समझा जाय, कि वह हृदयदेश में परिच्छिन्न है, तो शास्त्र के प्रारम्भ में जगत् के जन्म आदि का हेतु मानकर ब्रह्म का जो उपपादन किया है, वह अनुपपन्न होगा; क्योंकि कोई परिच्छिन्नतत्त्व अनन्त जगत् का निर्माण करने में सर्वथा अक्षम रहता है। जगत् की रचनाप्रक्रिया को समझने वाले आचार्यों ने निश्चितरूप से परब्रह्म को जगत् का हेतु माना है; इसलिये ऐसा ब्रह्म स्वरूप से परिच्छिन्न अथवा एकदेशी नहीं होसकता। फिर उसके परिच्छिन्न होने में यह भी आपत्ति है, कि उसको अनेक मानना होगा। उपासक अनेक जीवात्मा के समान प्रत्येक हृदय में उपास्य अथवा जिज्ञास्यतत्त्व परमात्मा को अलग मानने पर वह भी अनेक होगा। अनेक परमात्मा मानना उपनिषद् में दुःख का कारण बताया है–'मृत्योः स मृत्युंगच्छति य इह नानेव पश्यति' [कठ० ४।१०]। इसलिये वह ब्रह्म एकमात्र है, और समानरूप से सर्वत्र व्याप्त रहता है। अन्दर और बाहर सब जगह उसकी व्याप्ति का वर्णन वेद [यजु० ४०।५] में किया–'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।'

आचार्य शंकरद्वारा की गई इस सूत्र की व्याख्या प्रसंग के अनुकूल नहीं है। उपासना आदि की दृष्टि से ब्रह्म की अंगुष्ठमात्रता अथवा हृदयदेश में अवस्थिति का प्रतिपादन कर स्वरूप से उसकी सर्वव्यापकता का प्रस्तुत सूत्र में उपपादन किया है। परन्तु आचार्य शंकर ने गतसूत्र के 'मनुष्याधिकारत्वात्' इस समस्त एक हेतुपद के आधे भाग 'मनुष्य' का परामर्श प्रस्तुत सूत्र के 'तत्' पद से मानकर सूत्र का अर्थ किया–मनुष्यों से जो ऊपर देवता हैं उनका भी ब्रह्मविद्या में अधिकार है।

आचार्य के इस व्याख्यान में अनेक दोष हैं। प्रथम एक समस्तपद के अंश का 'तत्' सर्वनाम से परामर्श अशास्त्रीय है। फिर दूसरे अंश 'अधिकारत्वात्' की विभक्ति और प्रत्यय की उपेक्षा कर केवल 'अधिकार' पद का अनुवर्त्तन मानकर प्रस्तुत सूत्रमें उसका उपयोग किया है, जो वाक्ययोजना के विषय में आचार्य का बलात्कार कहा जासकता है। तीसरी बात है, 'तदुपरि' पद को 'मनुष्योपरि' मानकर उसका अर्थ–'देवताओं का' कैसे कर लिया? पदान्तर का अध्याहार किये बिना ऐसा अर्थ न होगा। अध्याहार तभी अपेक्षित होता है, जब वर्त्तमान पद पूर्ण एवं उपयुक्त अर्थ को प्रकट करने में असमर्थ हों। चौथी आपत्ति–जो अधिक महत्त्वपूर्ण एवं विचारणीय है–यह है, कि आचार्य

के सन्मुख देवता का स्वरूप स्पष्ट है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। अगले सूत्र की व्याख्या में इसका उपयुक्त विवेचन प्रस्तुत है। समस्त वेदादि शास्त्र मानव के लिये हैं, किन्हीं कल्पित अदृश्य देवों के लिये नहीं। पांचवां दोष है, प्रसंग के विना आचार्य ने इस विषय को यहां बलात् उभार लिया है। आगे कतिपय सूत्रों तक अभी यही प्रसंग चालू है, कि ब्रह्म की अंगुष्ठमात्रता और सर्वव्यापकता के वर्णन की परिस्थिति क्या है? शास्त्र का मुख्य उद्देश्य ब्रह्म के स्वरूप का उपपादन करना व उसे समझाना है। ब्रह्मविद्या में अधिकार किसका है? यह बात प्रस्तुत प्रसंग से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। ब्रह्मविद्या में अधिकार होने की चर्चा का उपयुक्त स्थान शास्त्र के प्रारम्भ में होसकता था, यदि इस विषय की चर्चा सूत्रकार को अपेक्षित होती। यह प्रसंग यहां पर बलात् उभारा गया है, जो वस्तुतः उत्प्रकरण है ॥२६॥

शिष्य आशंका करता है, गत प्रसंग में परमात्मा को स्वरूप से सर्वव्यापक तथा जीवात्माद्वारा उसकी उपासना के लिये उपास्य एवं साक्षात्करण की भावना से हृदय-प्रदेशस्थित अंगुष्ठमात्र माना गया है। जीवों के प्रति ब्रह्म की इन दोनों स्थितियों में विभिन्न प्रकार से विरोध आता है। यदि सर्वव्यापक ब्रह्म हृदयदेश में अवस्थित होने से अंगुष्ठमात्र है, तो जगत् के रचनारूप कर्म में विरोध होता है, क्योंकि अंगुष्ठमात्र ब्रह्म-द्वारा जगत् की रचना उपपन्न नहीं होसकती। यदि ब्रह्म स्वरूप से सर्वव्यापक अपेक्षित है, तो सर्ग के आदिकाल में जो वह किन्हीं जीवात्माओंद्वारा वेद का प्रादुर्भाव करता है, उसमें विरोध होगा; क्योंकि जीवात्माओं में शब्दरूप वेदज्ञान का संक्रमण हृदयदेश में संभव है, जिसका ब्रह्म की सर्वव्यापक स्थिति से विरोध होगा। उक्तरूप से ब्रह्म की स्थिति के वर्णन में कर्मविषयक तथा शब्दविषयक विरोध प्रतीत होता है। आचार्य सूत्र-कार इस आशंका का समाधान यथाक्रम आशंकानिर्देशपूर्वक अगले दो सूत्रों से प्रस्तुत करता है। उनमें पहला सूत्र है—

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥२७॥

[विरोधः] विरोध [कर्मणि] कर्म में [इति चेत्] यह यदि (कहो, तो) [न] नहीं, [अनेकप्रतिपत्तेः] अनेक प्रतिपत्ति–सिद्धि-शक्ति के [दर्शनात्] देखे जाने से। ब्रह्म के उक्त द्विविध वर्णन में कर्मविषयक विरोध यदि कहो, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म की अनेक-अनन्त शक्ति देखी जाती हैं।

गत प्रसंग में सर्वव्यापक ब्रह्म को उपासना व साक्षात्कार की दृष्टि से अंगुष्ठमात्र बताये जाने का उपपादन किया। इस आधार पर जिज्ञासु शिष्य ने आशंका प्रस्तुत की, कि अंगुष्ठमात्र ब्रह्म अपने जगद्रचनारूप कर्म में असमर्थ होगा, यदि ब्रह्म अंगुष्ठमात्र है, तो उसके द्वारा यह जगद्रचनारूप कार्य संपन्न नहीं किया जासकता। यदि यह माना जाता है, कि जगद्रचनारूप कार्य उसीके द्वारा होता है, तो उपनिषदों में उसका अंगुष्ठ-

मात्र-रूप में वर्णन असमञ्जस कहा जायगा। वह अंगुष्ठमात्र माना जाय, और जगत् का रचयिता भी; यह परस्पर विरुद्ध है।

आशंका के स्वारस्य को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने समाधान किया, कि उपनिषदों में ब्रह्म के अंगुष्ठमात्रवर्णन से उसके सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान् रूप में कोई अन्तर नहीं आता। उसका अंगुष्ठमात्र-वर्णन किसी विशेष निमित्त से हुआ है। जिसका उपपादन गत प्रसंग में है। इसका यह अभिप्राय नहीं, कि उसके अनन्तशक्ति स्वरूप में कोई अन्तर होजाता है। उसकी अनन्तशक्तियों का उसीप्रकार तब भी दर्शन होता है। यदि विचारक की दृष्टि में इस स्थिति का थोड़ा आभास हो, कि ब्रह्म जगत् की रचना कैसे करता है; तो उसका अंगुष्ठमात्र-वर्णन उसके जगद्रचनाकर्म में किसी विचारक को विचलित व व्यथित नहीं करपाता। अनन्तशक्ति सर्वव्यापक ब्रह्म जगत् के उपादान प्रकृति-तत्त्व में प्रेरणा कर उसे जगद्रूप में परिणत करता है। ब्रह्म उस प्रेरणा का मूलस्रोत है। उसके नैमित्तिक अंगुष्ठमात्र वर्णन के साथ इस स्वरूपस्थिति का कोई विरोध नहीं है। अंगुष्ठमात्र-वर्णन के प्रसंग में जिज्ञासु को यह तथ्य भुलाना नहीं चाहिये।

सर्वव्यापक परब्रह्म मानने पर भी जगद्रचनारूप कर्म में विरोध संभव है। समस्त जगत् प्रकृति का परिणाम है, प्रकृति जड़ है, उसमें जब तक क्रिया उत्पन्न न की जाय, उसका परिणाम संभव नहीं। सर्वव्यापक ब्रह्म चेतन होता हुआ भी स्वयं निष्क्रिय होने से प्रकृति में क्रिया का उत्पादक नहीं माना जाना चाहिये। कोई सक्रिय ही निष्क्रिय पदार्थ में क्रिया का उत्पादक देखा जाता है। सक्रिय अश्व निष्क्रिय रथ आदि यान में क्रिया का उत्पादक होता है। निष्क्रिय रथ स्वयं अपने में अथवा अन्यत्र क्रिया का उत्पादक नहीं होता। सर्वव्यापक ब्रह्म निष्क्रिय है, यह शास्त्र में वर्णित है–'अनेजदेकम्' [यजु० ४०।४], वह एकमात्र ब्रह्म 'अनेजत्' है, क्रियारहित है। श्वेताश्वतर उपनिषद् [६।१९] में कहा–'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' वह ब्रह्म अवयव व क्रिया से रहित शान्त है। इसलिये सर्वव्यापक ब्रह्म निष्क्रिय होने से प्रकृति में क्रिया का उत्पादक नहीं होना चाहिये। तब प्रकृति का परिणाम न होगा, जगत् की रचना न होगी। इसप्रकार ब्रह्म के उक्त स्वरूप के वर्णन से जगद्रचनारूप कर्म में विरोध आता है, जबकि शास्त्र के प्रारम्भ में बताया गया, कि वह जगत् के जन्मादि का हेतु है।

ऐसी आशंका का समाधान सूत्रकार ने सूत्रगत हेतुपदों से प्रस्तुत किया। अनेक शक्तिसम्पन्न होने से सर्वव्यापक ब्रह्म प्रकृति में क्रिया उत्पन्न करने के लिये समर्थ रहता है। सर्वव्यापक ब्रह्म में एकदेश से देशान्तर में प्राप्तिरूप क्रिया के होने का प्रश्न नहीं उठता, इस दृष्टि से निष्क्रिय होते हुए भी ब्रह्म चेतन होने से प्रकृति में क्रिया उत्पन्न करने के लिये समर्थ है, जिसके विषय में कहा गया–'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' [श्वे० ६।८], उस परब्रह्म की असीम शक्ति विविध प्रकार की सुनी जाती है, उसकी ज्ञानरूप शक्ति ही क्रिया है। चेतन होने से वह अनन्त-

शक्ति परमात्मा प्रकृति को प्रेरित करता है, उससे साम्य अवस्था का त्यागकर विषम अवस्था को प्राप्त प्रकृति जगत् के रूप में परिणत होजाती है। परब्रह्म के अनन्तशक्तिरूप का वर्णन वेदों में देखा जाता है। ऋग्वेद [१।१५४।१] में कहा—

'विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि'

उस सर्वव्यापक ब्रह्म की शक्तियों का कैसे कथन करूं, जिसने पृथिव्यादि समस्त लोक-लोकान्तरों की रचना की है। यही ऋचा यजुर्वेद [५।१८] तथा अथर्ववेद [७।२६।१] में उपलब्ध है। इसीप्रकार ऋग्वेद [६।४७।१८] में अन्यत्र कहा—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥

विश्व में जितनी अन्तर्निविष्ट दिव्यशक्तियां कार्य करती हैं, वह सब परब्रह्म परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने के लिये हैं। वह सर्वशक्ति परमात्मा अपनी विविध शक्तियों से सर्वत्र व्याप्त है, उसका सामर्थ्य अपरिमित है। इसी भाव को अन्यत्र ऋग्वेद [८।२४।२१] में स्पष्ट कहा—'यस्यामितानि वीर्या, जिसके वीर्य अमित हैं, जिसकी शक्तियां अपरिमित हैं, ऐसा वह सर्वैश्वर्ययुक्त परब्रह्म है। रचना के लिये प्रकृति को प्रेरित करने वाले चेतनतत्त्व का सर्वव्यापक होना अत्यावश्यक है। परिच्छिन्नतत्त्व सर्वत्र विस्तृत प्रकृतितत्त्वों को जगद्रचना के लिये प्रेरित करने में अक्षम रहेगा। वह अनन्त विश्व में फैले हुए सूक्ष्मातिसूक्ष्म उपादानतत्त्वों में अन्तर्निविष्ट हुआ समस्त विश्व का नियन्त्रण व संचालन करता है। सर्वव्यापक होने के कारण वह जगद्रचना में समर्थ होता है, इसलिये जगद्रचनारूप कर्म में ब्रह्म का उक्त स्वरूप मानने से किसी प्रकार के विरोध की संभावना नहीं होसकती। इसी भावना से बृहदारण्यक उपनिषद् [३।७।१] के अन्तर्यामी ब्राह्मण में प्रतिपादन किया—

'य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयति।'

जो इस लोक परलोक और समस्त भूतों को उनमें अन्तर्निविष्ट हुआ उनका नियमन करता है, वह अन्तर्यामी तत्त्व परब्रह्म है। उसको जानलेने पर सब कुछ जान-लिया जाता है। फिर अन्य किसी को जानने की अपेक्षा नहीं रहती। विश्व में अन्तर्निविष्ट होकर सब का नियमन करना सर्वव्यापक व सर्वशक्ति होने के विना असंभव है। इसलिये ब्रह्म का उक्त स्वरूप स्पष्ट होने पर जगद्रचनाकर्म में किसी प्रकार के विरोध की आशंका नहीं होनी चाहिये।

आचार्य शंकर ने छब्बीसवें सूत्र की व्याख्या की है—मनुष्यों से ऊपर देवताओं का भी शास्त्र में अधिकार है। पहले देवों के अधिकार का विषय सामान्यरूप से 'शास्त्र' कहकर फिर उसे केवल 'ब्रह्मज्ञान' अथवा 'ब्रह्मविद्या' विषय में सीमित कर दिया है। देवों को देहधारी व्यक्ति माना है। उनके उपनयन और वेदाध्ययन आदि नहीं होते, क्योंकि वेद उन्हें स्वयं प्रतिभात रहते हैं। इसप्रकार 'ब्रह्मविद्या' में देवों का अधिकार

अबाध है।

इसके अनुसार आचार्य शंकर ने सत्ताईसवें सूत्र की व्याख्या की–देहधारी देवों का ब्रह्मविद्या में अधिकार मानने पर यागादि कर्मों में भी उनका सहयोग माना जाय; तब यज्ञों में ऋत्विक् आदि के समान इन्द्र आदि देव भी अङ्गभाव से उपस्थित हों। ऐसा मानने पर कर्म में विरोध होगा, क्योंकि इन्द्र आदि स्वरूप से कहीं यज्ञादि में उपस्थित नहीं देखे जाते; और न यह सम्भव है, एकसाथ होनेवाले बहुतसे यागों में स्वरूप से एक इन्द्र की उपस्थिति अनुपपन्न होगी। इस पूर्वपक्ष का समाधान आचार्य ने सूत्र के उत्तर भाग के आधार पर किया–एक ही देव एकसाथ अनेक स्वरूपों को प्राप्त होसकता है, ऐसा देखा जाता है। स्मृति नाम से दो श्लोक प्रमाण देकर आचार्य ने स्पष्ट किया, कि अणिमादि ऐश्वर्य को प्राप्त योगी अपने अनेक शरीरों की रचना करसकता है, फिर जो स्वभावतः सिद्ध देव हैं, उनके अनेक शरीर एकसाथ धारण करलेने के विषय में कहना ही क्या। वे तो अनायास ऐसा करसकते हैं, और एकसाथ अनेक यागों में उपस्थित होसकते हैं।

इन सूत्रों की तथा इन्हीं के अनुसार अगले कतिपय सूत्रों की आचार्यद्वारा की गई व्याख्या चिन्तनीय है। इस व्याख्या में अनेक विप्रतिपत्ति उभरकर सामने आती हैं–

१—इसका निर्देश प्रथम [सू० २६] करदिया गया है, कि छब्बीसवें सूत्र के 'तत्' पद से 'मनुष्य' पद का परामर्श अशास्त्रीय है। इसप्रकार आचार्यद्वारा किये गये अर्थ की आधारशिला ही शिथिल है।

२—देवों का अधिकार केवल 'ब्रह्मविद्या' में बताया गया, तब उसके आधार पर यागादि कर्म में विरोध की आशंका उठाना अप्रासंगिक है। आचार्य के अनुसार ब्रह्मविद्या का यागादि से कोई सम्बन्ध नहीं, दोनों का क्षेत्र सर्वथा विभिन्न है, ब्रह्मविद्या में अधिकारी देव का कर्मक्षेत्र से क्या सम्बन्ध ? इसके अनुसार छब्बीसवें सूत्र की संगति सत्ताईसवें सूत्र के साथ कोई नहीं होती। फिर यागादि कर्म एक अनुष्ठानमात्र हैं, इनके कर्त्ता के साथ इनका सीधा सम्बन्ध है। देवतावादियों के विचार से भी यागादि में ऋत्विक् आदि के समान देहधारी देवों का सक्रिय सहयोग देना अभिवाञ्छित नहीं होता।

३—आचार्य को सूत्र के हेतुपदों का उक्त अर्थ करने में स्वयं सन्तोष नहीं हुआ, तब उसने इन पदों की दूसरी व्याख्या प्रस्तुत की है। स्पष्ट है, सूत्रकार का आशय ऐसी व्याख्या में नहीं है। उसका लक्ष्य ब्रह्मस्वरूप का विवेचन प्रस्तुत करना है। फलतः आदि के सूत्रों [२, ३] में जो ब्रह्मस्वरूप का निर्देश है–उपनिषद् के अंगुष्ठमात्र वर्णन से–उसमें जो विप्रतिपत्ति प्रतीत हुई; उन्हीं का समाधान इन सूत्रों [२७, २८] में प्रस्तुत किया गया है। आचार्य की व्याख्या सूत्रों में निहित इस स्वारस्य से दूर जापड़ी है।

४—इस प्रसंग में सबसे महत्त्वपूर्ण बात देवताओं के विषय में जानने की है। ऐसा प्रतीत होता है, कि आचार्य ने इस विषय में कल्पनामूलक परम्परा का अनुसरण

किया है, देवस्वरूप की वास्तविकता की ओर ध्यान नहीं दिया। देवताओं का आकार-विषयक चिन्तन व वर्णन विभिन्न शास्त्रों में अनेकत्र उपलब्ध होता है। उसका आलोडन कर तथ्य पर पहुंचना विचारक का कार्य एवं लक्ष्य है।

देवतावादी आचार्य ऐसा मानते हैं, कि जैसे हमारे शरीर का स्वामी एक जीवात्मा है, ऐसे ही सूर्य, चन्द्र आदि का अधिष्ठाता एक जीवात्मा है, जिसने उपासना के बल से इस पद को प्राप्त किया है। जैसे एक मानव देह पर उसके अभिमानी जीवात्मा का पूरा अधिकार है, ऐसे ही सूर्य आदि में उसके अभिमानी अधिष्ठाता जीवात्मा का उसपर पूर्ण अधिकार है। यही 'सूर्यदेवता' कहाजाता है। इसीप्रकार पृथिवी तथा नक्षत्र आदि लोक-लोकान्तरों में प्रत्येक पिण्ड का एक अभिमानी अधिष्ठाता जीवात्मा माना गया है। इन्द्र आदि कोई ऐसे ही देवता हैं। ये सब देवता उस परब्रह्म परमात्मा के शासन में रहते हैं, जिसने इनको इस अधिकार पर नियुक्त किया है, वह इनका एकमात्र अधिपति महादेव है। इन देवताओं को कर्म में अधिकार नहीं, पर ब्रह्म का साक्षात्कार करना इनके लिये अभी शेष है। ब्रह्मसाक्षात्कार होजाने पर ये अपने अधिकार को सर्ग-कालपर्यन्त निभाते हैं, सर्गसमाप्ति पर मुक्ति में चलेजाते हैं। सर्गान्तर में ऐसे अन्य जीवात्मा उस अधिकार पर नियुक्त करदिये जाते हैं। इन देवताओं की विभिन्न श्रेणी हैं, इनमें सर्वोच्च देवता 'हिरण्यगर्भ' नामक है।

देवताविषयक यह वर्णन प्रस्तुत प्रसंग के आचार्य शंकर के भाष्य तथा अन्य वर्णनों के आधार पर अतिसंक्षेप से प्रस्तुत किया है। इसपर विचार करना चाहिये, इसमें वास्तविकता क्या है? ऐसे देवों को देहधारी मानने पर यह समस्या सामने आती है, कि इनके देह का आकार क्या होता है? जिस पिण्ड का जो जीवात्मा अभिमानी अधि-ष्ठाता है और देवतारूप में प्रतिष्ठित है, वह पिण्ड ही उसका देह है, अथवा उससे अतिरिक्त कोई भिन्न आकार का देह है? यदि यह दूसरे प्रकार का देह माना जाता है, तो उसके अस्तित्व और आकार के विषय में कोई प्रमाण अभीतक ज्ञात नहीं होसका। कल्पना कुछ भी कीजाय, पर आजतक विद्वानों ने उस विषय में निर्णय कुछ नहीं किया। फिर उन देहों के भौतिक अथवा अभौतिक होने का तथा देवों की एकप्रकार की श्रेणी व कोई वर्ग मानेजाने पर उनके देहों की समानता एवं विषमता आदि के विकल्पों और उनके कारणों का उपपादन करना अशक्य होगा। तब उन देवों को देहधारी माननेवालों के लिये सीधा मार्ग यही है, कि उन पिण्डों को ही उनका देह माना जाय। ऐसी अवस्था में उन देहों के मानवदेह के समान हाथ, पैर या सिर आदि अंगों की कल्पना निराधार होगी। पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि पिण्डों में मानवदेहावयवों के समान अवयवों की कल्पना का कोई आधार दिखाई नहीं देता। औपचारिकरूप में कल्पना कर कवि के शब्दों में ऐसा वर्णन भले होजाय, पर उसका वस्तुसत्ता से कोई सम्पर्क नहीं रहता। ऐसी स्थिति में ऐसे देवों की और उनके देहों की कल्पना अत्यन्त चिन्तनीय है।

इन्द्र और वरुण आदि देवों के विषय में भी यही स्थिति है। इन्द्र और वरुण आदि कौनसे लोक के देवता हैं, यह निश्चय नहीं है। आचार्यों ने उन्हीं के नाम से लोकों की कल्पना करली है–इन्द्रलोक, वरुणलोक आदि। पर यह जिज्ञासा होने पर कि ये लोक कहां हैं? अनन्त ब्रह्माण्ड में कहीं भी इनकी स्थिति मानली जाती है, पर केवल ऐसा मानलेना वस्तुसत्ता के विचार से कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। फिर इन्द्र आदि के देह वे लोक-पिण्ड आदि ही हैं, तो उनमें हाथ, पैर आदि अवयवों की कल्पना का कोई आधार प्रतीत नहीं होता; पर शास्त्र में ऐसा वर्णन उपलब्ध होता है–'वज्रहस्तः पुरन्दरः'[1] हाथ में वज्र उठानेवाला इन्द्र। यदि ऐसे वर्णनों की तथ्यता को स्वीकार किया जाता है, तो निश्चित ही लोक-पिण्डों को देवों का देह मानने का कोई आधार नहीं रहता। फिर आचार्य शंकर ने उपनिषदों से स्वयं ऐसे उल्लेख प्रस्तुत किये हैं, जिनमें इन्द्र का ब्रह्मचर्य पालन करने तथा भृगु का अपने पिता वरुण के पास ब्रह्मविद्या की शिक्षा के लिये जाने का वर्णन है[2]। इससे स्पष्ट है, कि ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये मानव के समान देवों को भी ब्रह्मचर्यपालन आदि साधनों का अनुष्ठान अपेक्षित माना जाता रहा है, जो पृथिवी, सूर्य आदि पिण्डों के अभिमानी जीवात्माओं की उनके अधिष्ठातारूप और देवरूप में कल्पना करने पर सर्वथा असम्भव है। वरुण और उसके पुत्र भृगु के वर्णन से यह भी स्पष्ट होता है, कि मानव के समान देवों में सदृश सन्तति-प्रजनन की मान्यता को उपनिषत्कार ऋषियों ने स्वीकार किया है। यह स्थिति भी 'पृथिवी-देवता' और 'सूर्य-देवता' आदि के रूप में सर्वथा असम्भव है।

इस विवेचन से स्पष्ट परिणाम सन्मुख आजाता है, कि मानवसमाज के समान देवों का कोई समाज है। आचार्य शंकर ने 'इन्द्र' आदि पदों को 'सेनापति' आदि पदों के समान किन्हीं निमित्तविशेषों से प्रयुक्त माना है[3]। जैसे 'सेनापति' पद का प्रयोग प्रत्येक उस व्यक्ति के लिये किया जाता है, जो सेना के संचालन व व्यवस्थापन आदि कार्य के लिये एक विशिष्ट पद पर नियुक्त किया गया हो; 'इन्द्र' आदि पद भी इसीप्रकार के हैं। इससे स्पष्ट है, कि देवों का समाज मानवसमाज का ही एक अंग है, जो किन्हीं विशेष कारणों से उस पद पर पहुंचता है। उनमें भी विशिष्ट गुणों से श्रेष्ठ व्यक्ति 'इन्द्र' कहाजाता है, जो देवों के समाज में प्रधानरूप से वर्णित किया गया है। उस स्तर की एक सीमा कल्पना करली गई है, जो देव और मानवसमाज का विश्लेषण करती है। उन्हीं गुणों के आधार पर औपचारिकरूप से मानव अथवा विशिष्ट मानव वर्ग को देव अथवा

---

१. तुलना करें, ऋग्वेद २।१२।१३॥
२. देखें—ब्र० स० १।३।२६ का शांकरभाष्य। तथा छान्दोग्य उपनिषद् [८।११।३] एवं तैत्तिरीय उपनिषद् [३।१]।
३. देखें—ब्र० सू० १।३।२८ का शांकरभाष्य।

देवों के समाज के रूप में वर्णन किया जाता है। ऐसी स्थिति में समस्त शास्त्र अथवा ब्रह्मविद्या के लिये जो अधिकार मानव का है वही देवों का है, उसके लिये अतिरिक्त विवेचन अनपेक्षित है। फिर मूलसूत्रों में इसप्रकार देवताओं के अधिकार विवेचन का कोई संकेत नहीं है।

यहां इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिये, कि वैदिक 'इन्द्र' आदि देवों का इस प्रसंग से कोई सम्पर्क नहीं है। साधारणरूप से वेदों में 'इन्द्र' आदि पद परब्रह्म परमात्मा के लिये प्रयुक्त हुए हैं। विश्व-संचालन के वैविध्य में उसकी अनन्तशक्तियों का वर्णन 'ऋत' के रूप में किया जाता है। जिन नियमों व व्यवस्थाओं से संसार संचालित है, संक्षेप में उन सबका नाम 'ऋत' है। उन विशिष्ट प्रवृत्तिनिमित्तों के आधार पर उस 'ऋत' के स्वामी के अनेकानेक नाम हैं। ऋषियों ने ऐसे कितने नामों का अनेकत्र वर्णन किया है। वेद में 'इन्द्र' आदि नाम ऐसे ही हैं।

इसके अतिरिक्त मानव जब इस परिस्थिति के सम्पर्क में आता है, तब न केवल मानव अपितु प्राणीमात्र के जीवन-पोषण में उपयोगी उन तत्त्वों को पहचानने का प्रयास करता है, जो 'ऋत' के कारण वस्तुमात्र में अन्तर्निहित हैं। ये तत्त्व प्राणी अथवा मानव के लिये कितने उपयोगी हैं, इस रहस्य को अन्तर्द्रष्टा ऋषियों ने पहचाना। वे प्राकृत शक्तियां प्राणीमात्र के चहुं ओर फैले वातावरण में ओषधि वनस्पतियों में पृथिवी जल आदि में अन्तर्निविष्ट हुई व्याप्त हैं। अपने विशिष्ट गुणों के आधार पर उनके विशिष्ट नाम हैं—इन्द्र, सोम, अग्नि, वरुण आदि। ऋत अर्थात् ब्राह्मी व्यवस्था के अनुसार वे सब अपने नियत कार्य पर सन्नद्ध हैं। सर्वोच्च प्राणी मानव उनकी परिस्थिति की वास्तविकता को समझकर अपने लाभ के लिये उनके कार्य में सहयोग प्रदान करता है। ऋषियों ने इस सहयोग को यज्ञादि के रूप में प्रस्तुत किया है। अग्नि में आहुत द्रव्य के विशिष्ट गुण सूक्ष्म होकर समस्त वातावरण ओषधि वनस्पति एवं जलादि में उन तत्त्वों को प्रभावित करते हैं, जो मानवजीवन के पोषण के लिये अत्युपयोगी हैं। खाद्य, पेय, श्वास तथा बाह्य आवरण के सम्पर्क आदि द्वारा मानव उसका उपयोग करता है। मानवद्वारा यज्ञादि अनुष्ठान न करने पर भी प्राकृतिक शक्तियां अपना कार्य किया करती हैं, पर यज्ञादि से वे अधिक पुष्ट व शक्तिसम्पन्न होकर मानव के आयुष्य एवं सफल सुखमयजीवन का कारण होती हैं। 'अग्नये, सोमाय, इन्द्राय, प्रजापतये, वरुणाय, जातवेदसे' आदि पदों का उच्चारण कर अग्नि में द्रव्य का जो प्रक्षेप किया जाता है, यह उन्हीं प्राकृत शक्तियों की पुष्टि के लिये है। यह परस्पर का आदान-प्रदान मानवजीवन की प्रत्येक प्रकार की अभिवृद्धि के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसी भावना से गीता [३।१०—१२] में कहा—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥

सर्ग के आदिकाल में यज्ञ के साथ प्रजाओं को उत्पन्न कर प्रजापति ने उनसे कहा, इस यज्ञ के द्वारा तुम अपनी वृद्धि करो, उन्नति करो। यह यज्ञ तुम्हारे इष्ट के लिये कामधेनु के समान होवे। तुम इस यज्ञ से देवों को सन्तुष्ट करते रहो, और वे देव तुम्हें सन्तुष्ट करते रहें। इसप्रकार एक दूसरे को सन्तुष्ट करते हुए आप सब परम कल्याण को प्राप्त करें। क्योंकि यज्ञ से सन्तुष्ट होकर देव आपके [समस्त प्रजाओं के] लिये सब अभिलषित भोगों को प्रदान करेंगे। 'उनके द्वारा दिया हुआ उन्हें वापस न देकर जो व्यक्ति केवल स्वयं उपभोग करता है, वह चोर ही समझना चाहिये। मानव का देवों के साथ यह एक अटूट सम्बन्ध है। अग्नि, सोम, इन्द्र, वरुण आदिरूप में देव प्राकृत तत्त्वों में अन्तर्निविष्ट रहते हैं, जिनका उपभोग मानव की प्रत्येक प्रकार की अभिवृद्धि के लिये अपेक्षित है।

परब्रह्म परमात्मा इसप्रकार के अनुष्ठानों से स्वतः भावित होता है। जो महान यज्ञ प्राणीमात्र की कल्याण कामना से उसकी प्रेरणाद्वारा संचालित है, मानव का उसमें अनुकूल सहयोग परब्रह्म के प्रति मानव के अभ्युदय की दिशा को अनुकूल बनाता है। इस मार्ग से शुद्धान्तःकरण होकर मानव अभीष्ट फल को प्राप्त करता है। उक्त पंक्तियों द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है, कि वैदिक 'इन्द्र' आदि देवों की वास्तविक स्थिति क्या है।

लोकों के अभिमानी जीवात्माओं तथा प्राकृत शक्तियों को देवों के रूप में सामने रखते हुए, ब्रह्मविद्या में उनके अधिकार का कोई प्रश्न नहीं उठता। लोकों के अभिमानी जीवात्माओं के लिये ब्रह्मसाक्षात्कार के क्या उपाय हैं, इसका किसी शास्त्र में वर्णन नहीं है, तब उनको ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, यह कैसे जानाजाय? वस्तुतः यह सब कल्पनामात्र है, और किसी तथ्य को वर्णन करने का एक प्रकार है। स्थिति यह है, कि न वहां कोई अभिमानी अधिष्ठाता जीवात्मा हैं, न उनके ब्रह्मज्ञान का प्रश्न उठता है, न उनके मोक्ष का। समस्त विश्व का एकमात्र अधिष्ठाता परब्रह्म परमात्मा है। वह अनन्तशक्ति है। उसका कोई दरबारी व अमला नहीं है। उसके अनन्तसामर्थ्य का उक्तरूप में वर्णन सम्भव होसकता है; उसको रोचक बनाने के लिये आचार्यों ने मानवस्वभावोचित परिस्थितियों से परिष्कृत करने का प्रयास किया है। उसको उतनी ही सीमा तक समझना श्रेयस्कर है। फलतः इस प्रसंग का आचार्य शंकरकृत व्याख्यान उत्सूत्र होगया है ॥२७॥

जगद्रचनाकर्म में विरोध के समान शब्द में विरोध की आशंका का उद्भावन

कर सूत्रकार आचार्य समाधान प्रस्तुत करता है–

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥२८॥

[शब्दे] शब्द में [इति चेत्] यह यदि (कहो, तो) [न] नहीं, [अतः] उससे [प्रभवात्] उत्पन्न होने से [प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्] प्रत्यक्ष और अनुमान से। पहले सूत्र से 'विरोधः' पद की यहां अनुवृत्ति है, शब्द में–वेदविषयक रचना में–विरोध है, यदि ऐसा कहो, तो यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि वेद का प्रभव–प्रादुर्भाव उस सर्वव्यापक ब्रह्म से होता है; यह बात प्रत्यक्ष और अनुमान से प्रमाणित है।

पहले सूत्र में उपपादन के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप मानने पर चाहे जगद्रचनारूप कर्म में विरोध न हो, पर शब्दरूप वेद के प्रादुर्भाव में यह विरोध प्रसक्त होगा। कारण यह है, कि वेद शब्दराशिरूप है, शब्द का उच्चारण कण्ठ तालु आदि में कोष्ठ्य वायु के आघात के बिना नहीं होता। ब्रह्म का सर्वव्यापक आदि उक्त स्वरूप मानने पर यह सब असम्भव होगा। पर आचार्य सूत्रकार ने स्वयं पहले [१।१।३] वेदशास्त्र का कारण परब्रह्म को बतलाया है, तथा अन्य समस्त ऋषियों ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है। यह स्थिति स्पष्ट ही शब्दप्रादुर्भावविषयक विरोध को प्रकट करती है। शब्दरूप वेद का उच्चारण अशरीर ब्रह्म के द्वारा सम्भव नहीं, सर्वव्यापक ब्रह्म के किसी ऐसे शरीर की कल्पना तक नहीं की जासकती, जहां शब्दोच्चारण की सम्भावना होसके। धर्माधर्म आदि कारणों से परिच्छिन्न चेतन जीवात्मा को शरीर का लाभ होता है, ब्रह्म में यह सम्भव नहीं। इसलिये शब्दरूप वेद के प्रादुर्भाव में ब्रह्म का सर्वव्यापक आदि स्वरूप मानने पर विरोध स्पष्ट है।

आचार्य सूत्रकार ने इस आशंका का समाधान किया, कि सर्वव्यापक ब्रह्म मानने पर शब्दरूप वेद के प्रादुर्भाव में कोई विरोध नहीं है। कारण यह है, कि नामरूपात्मक समस्त जगत् का प्रभव ब्रह्म से है, यह एक निश्चित सिद्धान्त है। रूपात्मक जगत् पृथिव्यादि वस्तुभूत है और नामात्मक जगत् वेदशब्दरूप है। इस सबके प्रादुर्भाव का मुख्य हेतु ब्रह्म है। सर्वव्यापक ब्रह्म सर्वत्र अन्तर्यामीरूप से विद्यमान रहता है। जैसे पृथिव्यादि जगत् के प्रादुर्भाव के लिये जगत् के उपादान प्रकृति को वह प्रेरित करता है, ऐसे ही मनुष्यमात्र के अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि के लिये सर्गादिकाल में उसीकी व्यवस्था से सर्वप्रथम प्रादुर्भूत ऋषियों के मस्तिष्क में सार्थक शब्दोच्चारण की भावना को वह उद्भावित कर देता है। उसी प्रेरणा से नित्यानुपूर्वीयुक्त वेदशब्द ऋषियों के मस्तिष्क में परिस्फुट होते हैं। वे अर्थों को जानते हुए उस शब्दराशि का ऐसे ही उच्चारण करने लगते हैं, जैसे कोई व्यक्ति गतदिन के अभ्यस्त वाक्यों का रात्रिशयन के अनन्तर उद्बुद्ध होकर उच्चारण करता है। जीवात्मा का निवास मस्तिष्कगत हृदयप्रदेश है, वहीं जीवात्मा को यह प्रेरणा प्राप्त होती है, तथा उसके आधार पर शरीरद्वारा

साध्य समस्त शाब्दिक व्यवहार की प्रक्रियाओं का संचालन होता है, इसीरूप में शब्द [नामात्मक जगत्] के प्रादुर्भाव का हेतु ब्रह्म माना गया है। वह स्वयं शब्दों का उच्चारण कर उपदेश करे, इसकी आवश्यकता नहीं होती। इस समस्त प्रक्रिया का आधार क्योंकि जीवात्मा का निवास हृदयदेश है और वहीं ब्राह्मी शक्ति से यह प्रेरणा प्राप्त होती है; इसीलिये सर्वव्यापक ब्रह्म को ऋषियों ने 'अंगुष्ठमात्र' रूप में वर्णन कर इस स्थिति की विशेषता को प्रकट किया है।

नामात्मक जगत् के प्रादुर्भाव का हेतु ब्रह्म है, यह तथ्य प्रत्यक्ष और अनुमान से प्रमाणित होता है। सूत्र में 'प्रत्यक्ष' पद श्रुति और 'अनुमान' पद स्मृति के लिये प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि श्रुति अपने प्रामाण्य एवं अर्थ की सत्यता के प्रतिपादन में निरपेक्ष है, और स्मृति ऋषि-मुनियों द्वारा किये गये अपने ज्ञान का वह प्रवचन है, जो उन्होंने बाह्य साधन तथा अपने अनुभव से प्राप्त किया। उक्त अर्थ में इन पदों का प्रयोग सभी व्याख्याकारों को अभिमत है। फलतः शब्दराशि वेद के प्रादुर्भाव का हेतु ब्रह्म है, यह तथ्य स्वयं वेद और तदनुकूल स्मृति से प्रमाणित होता है। ज्ञानप्रतिपादन की भावना से वाणी को लक्ष्य कर ऋग्वेद [१०।७१।३] में बताया—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते॥

वाणी के मार्ग को 'यज्ञ' से प्राप्त किया गया, सर्वप्रथम वह वाणी ऋषियों में प्रविष्ट हुई पाई जाती है। वहां से उसका आहरण कर अनेक स्थलों में उसका विस्तार किया जाता है, अर्थात् अनेक सुपात्रों को उसका अध्ययन कराया जाता है, उस वाणी के ध्वनिसूचक सात स्थान हैं जहां वह संगत होती है, यथावत् रूप में उच्चरित होती है। ऋचा में 'यज्ञ' पद ब्रह्म का निर्देश करता है। 'ऋषियों में प्रविष्ट वाणी' के कथन से यह अभिप्राय प्रकट होता है, कि ब्राह्मी शक्तिद्वारा ऋषियों के मस्तिष्क में वाणी के प्रादुर्भाव की प्रेरणा की गई। उनके द्वारा वेदवाणी के उच्चरित होने पर उसका यथावत् अध्यापन आदि द्वारा विस्तार किया जाता है। ध्वनि के सूचक कण्ठ आदि सात स्थान हैं, जिनके आधार पर शुद्ध वाणी का यथावत् उच्चारण सम्भव होता है। ऋचा के 'यज्ञ' पद की ओर ध्यान देना अपेक्षित है। 'यज्ञ' से ऋग्वेद आदि के प्रादुर्भाव का वर्णन अन्यत्र [ऋ० १०।९०।९] उपलब्ध होता है—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

उस 'यज्ञ' से ऋक्, साम, छन्द [अथर्व] और यजु का प्रादुर्भाव होता है। मन्त्र में 'यज्ञ' पद का एक विशेषण 'सर्वहुत्' है। वह यज्ञ ऐसा है जिसमें सब प्राप्त है, सब अन्तर्हित है, उससे बाहर कुछ नहीं है। ऐसा 'यज्ञ' ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सम्भव नहीं। उससे ऋग्वेदादि वाणी का प्रादुर्भाव होता है, यह स्वयं वेद से प्रमाणित है। स्मृतियों

में भी इस विषय का वर्णन है। मनुस्मृति [१।२।३] में कहा है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥

सर्गादिकाल में ब्रह्मा ने अग्नि वायु तथा आदित्य नामक ऋषियों से ऋगादि वेदों का ग्रहण किया, अध्ययन किया। ये ऋषि वही हैं, जिनके मस्तिष्क में परमात्मा ने वेदज्ञान को शब्दराशिरूप में उच्चरित करने की प्रेरणा दी। वेदों का अध्ययन 'यज्ञ' सिद्धि के लिये हुआ, जिससे मानवमात्र वेदप्रतिपादित मार्ग से 'यज्ञ' को प्राप्त कर सके। ध्यान देने की बात है, कि यहां उसी 'यज्ञ' पद का प्रयोग हुआ है, जिसे वेद में ऋगादि का प्रादुर्भाव करने वाला कहा है। उस 'यज्ञ' की सिद्धि—प्राप्ति के लिये वेद की शिक्षा है। 'यज्ञ' का केवल उतना ही अर्थ नहीं, जो साधारण रूप से अग्नि आदि में द्रव्यदान द्वारा प्रकट किया जाता है। वह एक गौण अर्थ है। वेद का मुख्य प्रयोजन मानवमात्र के लिये अभ्युदय एवं निःश्रेयस के मार्ग का स्पष्ट करना है, जो भाव 'यज्ञसिद्धि' पद में अन्तर्निहित है। अभ्युदयलाभ के द्वारा निःश्रेयस प्राप्त करने के मार्ग को वेद प्रशस्त करता है। ऋषियों ने किसप्रकार वेदों को प्राप्त किया, यह अन्यत्र मनुस्मृति [११।२४३] में बताया—

प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत् प्रभुः।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे॥

जिसप्रकार प्रभु प्रजापति—स्वायम्भुव मनु ने तपस्यापूर्वक इस शास्त्र का निर्माण किया, ऐसे ही ऋषियों ने तपस्याद्वारा वेदों को प्राप्त किया। बनाया नहीं, केवल प्राप्त किया। अन्यत्र भी इस अर्थ का स्मरण किया गया है—

अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥[1]

सर्गादिकाल में नित्य एवं दिव्य इस वेदमयी वाणी को स्वयम्भू परमात्मा ने प्रकट किया, जिसके द्वारा मानवमात्र के समस्त व्यवहार सम्भव होते हैं। श्रुति और स्मृति के इन प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट होता है, कि पृथिव्यादि रूपात्मक जगत् के समान वेदमय नामात्मक जगत् ब्रह्मद्वारा प्रादुर्भूत है, एवं ब्रह्म के सर्वव्यापक आदि स्वरूप स्वीकार किये जाने पर भी आदि-ऋषियों के मस्तिष्कगत हृदय के अन्दर उन विशिष्ट जीवात्माओं को शब्दराशिमय वेदज्ञान के प्रकट करने में किसी प्रकार के विरोध की आशंका नहीं है। हृदयदेश में वेदादि उपदेश के निमित्त से सर्वव्यापक भी ब्रह्म साक्षात्कृतधर्मा उपनिषत्कार आचार्यों द्वारा अंगुष्ठमात्ररूप में वर्णित किया गया है, इसमें किसी प्रकार के विरोध का प्रश्न नहीं उठता।

---

१. तुलना करें, महाभारत—१२।२३२।२४—२६॥ गोरखपुर संस्करण।

आचार्य शंकर ने प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में देवों को देहधारी समझते हुए शब्दविषयक विरोध की आशंका को उठाया है। इसके अनुसार 'अतः प्रभवात्' पदों का अर्थ किया है—वैदिक शब्द से देवादिक जगत् उत्पन्न होता है [—अत एव हि वैदिकाच्छब्दात् देवादिकं जगत् प्रभवति]। आगे आशंका प्रस्तुत की—प्रथम ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति कहकर [जन्माद्यस्य यतः १।१।२] यहां शब्द से देवादि जगत् की उत्पत्ति का कथन पहले से विरुद्ध होजाता है। इस आशंका का अन्तिम समाधान आचार्य ने किया, कि शब्द से जगदुत्पत्ति उपादानकारण के अभिप्राय से नहीं कही जारही, अपितु शब्द-अर्थ का नित्य सम्बन्ध होने पर शब्द से व्यवहारयोग्य अर्थ का अभिव्यञ्जन होता है, अथवा शब्दप्रयोग से योग्य अर्थ की अभिव्यक्ति होजाती है, इसी भाव को लेकर शब्द से जगत् की उत्पत्ति का कथन किया गया है।

यदि शब्द से जगत् की उत्पत्ति के कथन का व्यवहारमात्र की सिद्धि अभिप्राय है, तो शब्द में विरोध की आशंका का प्रश्न ही नहीं उठता। देवों का देह भले अनित्य हो, संसार के अन्य व्यवहार्य पदार्थ भी अनित्य हैं। अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये शब्द-द्वारा व्यवहार में अर्थ की नित्यता या अनित्यता कोई महत्त्व नहीं रखती; इसलिये जब शब्द में विरोध की आशंका का आधार ही नहीं रहता, तब आचार्य का उक्त रूप में सूत्रार्थ प्रस्तुत करना अप्रासंगिक होजाता है। वस्तुतः इस प्रसंग में देवों का अथवा देवों के देहधारी होने का वर्णन सूत्रकार के आशय के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। आचार्य शंकर ने इस विषय को यहां बलात् आरोपित करने का प्रयास किया है। जितने प्रमाण आचार्य ने शब्द से जगदुत्पत्ति में प्रस्तुत किये हैं, उन सबका अभिप्राय शब्द-प्रयोग से अर्थाभिव्यक्तिद्वारा लोकव्यवहार की सिद्धि में पर्यवसित है। फिर आचार्य ने इस सूत्र के अपने भाष्य में कहीं—शब्द से केवल देवादिक जगत् की उत्पत्ति होने का उल्लेख किया है, और कहीं साधारण जगत् की, [कथं पुनरवगम्यते शब्दात् प्रभवति जगदिति]। आगे वैदिक साहित्य के किसी ग्रन्थ का जो सन्दर्भ [अनुपलब्ध] श्रुति के नाम से प्रस्तुत किया गया है ['एत इति वै प्रजापतिः' इत्यादि], उसमें भी केवल देवों की सृष्टि का उल्लेख हो, ऐसी बात नहीं है। देवों के अतिरिक्त मनुष्य, ग्रह तथा अन्य सब प्रकार की प्रजा के सर्जन का उल्लेख है। इससे आचार्य का इस विषय में अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता, कि सूत्र के 'अतः प्रभवात्' पदों के स्वाभिमत अर्थ में आचार्य शब्द से केवल देवादिक जगत् का प्रादुर्भाव कहना चाहता है, अथवा साधारण समस्त जगत् का? यदि आचार्य का अभिप्राय प्रथम विकल्प से है, तो श्रुति के नाम से दिया सन्दर्भ [एत इति वै प्रजापतिः···इत्यादि] अप्रासंगिक होजाता है। यदि द्वितीय विकल्प में तात्पर्य है, तो देवों अथवा देवों के देहधारी होने के आधार पर प्रस्तुत सूत्र का अर्थ करना असंगत होता है, क्योंकि इस अवस्था में शब्दप्रयोग से प्रत्येक व्यवहार्य पदार्थ की अभिव्यक्ति का होना मान्य होगा; यह व्यवस्था केवल देवों के विषय में हो, यह बात

नहीं रहेगी। फलतः आचार्य की उक्तप्रकार की व्याख्या प्रसंग और सूत्रकार के आशय से दूर चली गई प्रतीत होती है।

इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है, कि आचार्य के द्वारा उद्भावित देवों के अधिकार की बात कहां तक सम्भव है। आचार्य की दृष्टि से विचार करने वाले विद्वान् क्या इसपर प्रकाश डाल सकते हैं? कि वे देव कौन हैं, और कहां रहते हैं? जिनके लिये शास्त्र तथा ब्रह्मविद्या में अधिकार की चर्चा को यहां उभारा गया है। भूलोक में ये देव किस रूप में कहां निवास करते हैं? यदि कहीं अन्य लोक में रहते हैं, तो इस लोक के निवासियों के साथ उनका कैसा सम्बन्ध है? क्या अन्य लोक में निवास करते हुए उनके लिये यहीं के शास्त्र नियम तथा विधि विधान लागू होते हैं? वस्तुतः भूलोक की ये ऐसी वास्तविकताएँ हैं, जिनको यथार्थरूप में समझने के लिये मध्यकालिक आचार्यों द्वारा उपयुक्त प्रयास नहीं किया गया। काल्पनिक भ्रान्त धारणाओं पर अविचारित विश्वास किया जाता रहा है। प्रस्तुत प्रसंग में देवविषयक चर्चा की यही स्थिति है॥२८॥

आचार्य सूत्रकार प्रसंगानुसार वेद के विषय में निर्देश करता है—

अत एव च नित्यत्वम् ॥२६॥

[अतः] इस कारण से [एव] ही [च] और [नित्यत्वम्] नित्यता। और इस कारण से ही वेद की नित्यता है।

प्रसंग के प्रारम्भ में ब्रह्म के सर्वव्यापक आदि स्वरूप का प्रतिपादन करने पर कर्मविषयक तथा शब्दविषयक विरोध की जो आशंका की गई, उसका निवारण कर दिया गया। गतसूत्र में शब्दविषयक विरोध के परिहार के लिये हेतु दिया—'अतः प्रभवात्।' उसी हेतु का प्रस्तुत सूत्र के 'अतः' पद से परामर्श किया गया है। ब्रह्म से प्रभव अर्थात् प्रादुर्भाव होने के कारण वेदरूप शब्दराशि नित्य है, यह समझना चाहिये।

ब्रह्म समस्त विश्व का अध्यक्ष है। जिस विश्व का वह अध्यक्ष है, वह जीवात्मा और प्रकृतिरूप में विद्यमान है। चेतनतत्त्व जीवात्मा शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता और उनके फलों का भोक्ता है। जड़ प्रकृति अपने अनन्त विकारों के साथ जीवात्माओं का भोज्य है। इनपर ब्रह्म की अध्यक्षता तात्कालिक न होकर सार्वदिक है, नित्य है। स्पष्ट है, कि जीवात्मा और प्रकृति नित्य पदार्थ हैं, अन्यथा अध्यक्षता तात्कालिक होगी। तब जीवात्माओं को अपने हिताहित मार्ग में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के लिये शासन भी नित्य होना चाहिये। विश्वसंचालन का शासन ईश्वरीय है। वह सर्गादिकाल में वेदरूप से परमेश्वरद्वारा प्रकट किया जाता है, क्योंकि वह नित्य परमेश्वर का शासन है, उसके द्वारा मानव कल्याण के लिये प्रकट होता है; इसलिये उस वेदरूप शासन को नित्य मानना सर्वथा उपयुक्त है। उपनिषद् [श्वे० ६।१८] में कहा—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।' जो ब्रह्मा को प्रथम उत्पन्न करता और उसके लिये

वेदों का प्रदान करता है। अन्यत्र बताया—'अनादिनिधना[1] नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।' आदि सर्गकाल में स्वयम्भु परमात्मा आदि-अन्तरहित नित्य दिव्य वेदमयी वाणी का उपदेश करता है, जिससे संसार की समस्त सामाजिक प्रवृत्तियां चालू होती हैं ॥२९॥

शिष्य आशंका करता है, वेद का नित्य माना जाना स्पष्ट नहीं है, इसीप्रकार प्राकृत जगत् का भी। प्रलय के अनन्तर सर्गादि काल में वेद का प्रादुर्भाव बताया गया, प्रादुर्भूत वस्तु का विनाश आवश्यक है। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि प्राकृत जगत् प्रादुर्भूत होता है, ऐसी अवस्था में इन्हें नित्य माना जाना प्रामाणिक नहीं कहा जासकता, क्योंकि वस्तुस्थिति के साथ इसका विरोध है। सूत्रकार आचार्य ने समाधान किया—

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ॥३०॥

[समाननामरूपत्वात्] समान नाम तथा समान रूप होने से [च] और [आवृत्तौ] आवृत्ति में [अपि] भी [अविरोधः] विरोध नहीं। [दर्शनात्] श्रुति से [स्मृतेः] स्मृति से [च] और। प्रलय के अनन्तर सर्ग की पुनः आवृत्ति में भी वेद और प्राकृत जगत् के समान नाम और समान रूप होने से कोई विरोध इस स्थिति में नहीं है; क्योंकि श्रुति और स्मृति में समान नाम-रूप वाली पुनः उत्पत्ति को स्वीकार किया गया है।

एक सर्गकाल में शब्दराशिमय वेद अथवा व्यवहार में शब्द-अर्थ का जो स्वाभाविक सम्बन्ध देखा जाता है, तथा जो दृश्य-अदृश्य अवस्था में प्राकृत जगत् रहता है; उस सबका महाप्रलय आने पर विनाश होजाता है; तब गत सूत्र में वेदों की और प्राकृत जगत् की नित्यता का जो प्रतिपादन किया गया, वह संगत नहीं कहा जासकता। इस आशंका का समाधान सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र से किया। महाप्रलय के अनन्तर जब पुनः सर्ग की आवृत्ति होती है, पुनः सृष्टिरचना होती है; तो वह पहली सृष्टि के समान होती है। शब्दराशि वेद की आनुपूर्वी में कोई अन्तर नहीं होता, जिन शब्दों के जो अर्थ गत सृष्टि में वेदद्वारा प्रतिपादित किये गये, वर्त्तमान सृष्टि में भी उसी तरह किये जाते हैं। सर्गादिकाल में वेदज्ञान और वेदोच्चारण की प्रेरणा ऋषियों के मस्तिष्क में परब्रह्मद्वारा प्राप्त होती है, इस ब्राह्मी प्रेरणा में किसी प्रकार के अन्तर की संभावना नहीं होती। ब्रह्म का ज्ञान नित्य है। जगत् की सृष्टि जीवात्माओं के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार होती है, तब वह उसी रूप में होनी चाहिये, जिस रूप में जीवात्माओं ने धर्माधर्म का अनुष्ठान किया है; इसलिये गत सृष्टि और वर्त्तमान सृष्टि में समानता का होना अनिवार्य है। इसीके अनुसार आगे आनेवाली सृष्टियों की व्यवस्था है। इसलिये वेदादि के नित्य होने में किसीप्रकार का विरोध न समझना चाहिये।

---

१. तुलना करें—महाभारत, १२।२३२।२४-२६ ॥ गोरखपुर संस्करण।

प्रत्येक सर्ग में समान नाम-रूप वाली सृष्टि का होना श्रुति स्मृति से प्रमाणित है। ऋग्वेद [१०।१९०।३] में कहा—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्, दिवञ्च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः।' जगत् के रचयिता परमात्मा ने पहली सृष्टि के अनुरूप सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, पृथिवीलोक और अन्तरिक्ष आदि को बनाया। इसीप्रकार मनुस्मृति [१।२८] में कहा—

यं तु कर्मणि यस्मिन् स न्ययुंक्त प्रथमं प्रभुः।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः॥

प्रभु परमात्मा ने प्रथम जिसको जिस कर्म में नियुक्त किया, बार-बार सृष्टि होने पर वह उसीको प्राप्त होता रहता है। तात्पर्य यह, कि सृष्टिरचना के प्रकार और क्रम में कभी कोई अन्तर नहीं होता; प्रत्येक सर्ग में सृष्टि समानरूप से होती रहती है। अन्यत्र स्मृति [म० भा० १२।२३२।१६] में कहा—

तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥

पूर्वकल्प की सृष्टि में किये गये जैसे कर्म प्राणियों के होते हैं, आगे होनेवाले कल्पों की सृष्टि में प्राणियों का प्रादुर्भाव उसीके अनुसार हुआ करता है।

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः।
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥[1] [म० भा० १२।२३२।२५–२७]
यथर्त्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु॥[2]

प्रलय का अन्त होने पर जब नई सृष्टि का प्रारम्भ होता है, तब उत्पन्न होने वाले ऋषियों के नाम और वेदविषयक जो नित्य विचार हैं, उन्हीं को परमात्मा पुनः उन ऋषियों के लिये प्रदान करता है। जैसे ऋतु बदलने पर आनेवाले ऋतु में पहले के उसी ऋतु के समान सब चिह्न दिखाई देने लगते हैं, ऐसे ही सर्ग के आदि में समस्त पदार्थ पहले सर्गों के समान प्रकट हुआ करते हैं। इन सब श्रुति-स्मृतिगत प्रमाणों से स्पष्ट होता है, कि सर्ग के आदिकाल में वेदों का प्रादुर्भाव होने पर भी वेदों की नित्यता में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि उनका नाम—ऋक् यजुः आदि और रूप—'अग्निमीडे पुरोहितम्, तथा 'इषे त्वोर्जे त्वा' इत्यादि सदा समान बना रहता है।

इसीप्रकार पृथिवी सूर्य आदि प्राकृत सृष्टि की रूप-रेखा सदा समान रहती है।

---

१. महाभारत के ये उद्धरण गोरखपुर संस्करण के अनुसार हैं।

२. म० भा० १२।२१०।१७॥ तथा १२।२३४।२०॥ गोरखपुर संस्करण। चतुर्थ चरण का पाठ वहां 'तथा ब्रह्महरादिषु' कर दिया गया है। इस आशय का श्लोक मनुस्मृति [१।३०] में द्रष्टव्य है।

सब सृष्टियों में सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि की ऐसी ही रचना होती है, जैसी चालू सृष्टि में है। इनमें व्यक्तिभेद होने पर भी रचना आदि में कोई अन्तर नहीं रहता, इसलिये सृष्टिक्रम को प्रवाह से नित्य माना जाता है। ब्रह्म एवं उसका ज्ञान जैसे अपरिणामी नित्य हैं, वैसे पृथिवी सूर्य आदि की सदा इसीप्रकार की रचना होने से उनके परिणामी होने के कारण अविरत प्रवाहरूप से उनकी नित्यता मानी जाती है।

ब्रह्म के सर्वव्यापक और अंगुष्ठमात्रस्वरूपवर्णन के प्रसंग से कर्म और शब्द-विषयक विरोध का परिहार कर शब्द एवं रचना की नित्यता का यहां तक उपपादन किया गया। वह प्रसंग यहां तक पूर्ण होता है। ब्रह्म के अंगुष्ठमात्रस्वरूपवर्णन में शास्त्र-विषयक मनुष्य के अधिकार का उल्लेख हुआ, और उस आधार पर ब्रह्म की अंगुष्ठ-मात्रता का प्रतिपादन किया गया। उस अधिकार व अनधिकार के विषय में अवशिष्ट चर्चा अगले सूत्रों में प्रस्तुत की गई है ॥३०॥

उपनिषदों में सर्वव्यापक सर्वनियन्ता परब्रह्म परमात्मा को हृदिस्थ अथवा अंगुष्ठमात्र क्यों कहा गया? इसका समाधान सूत्रकार ने गत सूत्र [१।३।२५] से किया। वहां बताया, कि ब्रह्मविद्या आदि में मनुष्यमात्र का अधिकार है, वह हृदयदेश में ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है, इसी भावना से ब्रह्म को 'हृदिस्थ' आदि कहा है। इसीके अनुसार उपपादन किया कि ब्रह्मविषयक उक्त कथन से जगत् अथवा वेद आदि की रचना में किसीप्रकार का विरोध नहीं। इस पृष्ठभूमि पर ब्रह्मविद्या आदि में मनुष्यमात्र के अधिकार को दृढ़ करने की भावना से सूत्रकार ने प्रकारान्तर का आश्रय ले अपने शिष्य जैमिनि के मुख से पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—

मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः ॥३१॥

[मध्वादिषु] मधु आदि में [असंभवात्] संभव न होने से [अनधिकारं] अधि-कार न होने को [जैमिनिः] जैमिनि आचार्य कहता है। मधुच्छन्दा आदि वेदद्रष्टा ऋषियों में किसी शूद्रद्रष्टा के संभव न होने से शास्त्र एवं ब्रह्मविद्या आदि में मनुष्य-मात्र का अधिकार नहीं माना जाना चाहिये, यह जैमिनि आचार्य कहता है।

सूत्र में 'मधु' पद 'मधुच्छन्दा' पूरे नाम का निर्देश करता है। यह व्यवहार सर्व-मान्य है, कि नाम का आधा भाग पूरे नाम के लिये प्रयुक्त होजाता है। देवदत्त को दत्त, विष्णुमित्र को विष्णु, सत्यभामा को सत्या अथवा भामा आदि नामपद के अर्द्धभाग से पुकारा जाता है। पूर्वपक्ष का आशय है, कि मधुच्छन्दा प्रभृति वेदद्रष्टा ऋषियों में किसी शूद्र ऋषि का संभव—अस्तित्व नहीं है। इससे ज्ञात होता है, कि शास्त्र अथवा ब्रह्म-विद्या में मनुष्यमात्र का अधिकार नहीं मानना चाहिये। यदि ऐसा होता, तो यह संभव नहीं था, कि वेदद्रष्टा ऋषियों की इतनी लम्बी परम्परा में कोई शूद्र ऋषि न होता। यह उसी अवस्था में संभव है, जब यह स्वीकार किया जाय, कि ब्रह्मविद्या एवं शास्त्र

आदि में मनुष्यमात्र का अधिकार नहीं है। मनुष्यों में से वेदादि शास्त्रों के अध्ययन ज्ञान आदि की प्रवृत्ति के लिये वह अनधिकृत वर्ग वञ्चित रह जाता है, इसीकारण कोई वेदद्रष्टा ऋषि उस वर्ग का उपलब्ध नहीं है। अतः मानना चाहिये, कि वेदादिशास्त्र एवं ब्रह्मविद्या में मनुष्यमात्र का अधिकार नहीं। तब गत सूत्र [१।३।२५] में-मनुष्याधिकार होने से ब्रह्म को हृदिस्थ आदि कहा जाता है-कथन निराधार होगा।

कहा जासकता है, कि उक्त सूत्र में 'मनुष्य' पद उन्हींका बोधक है, जो शास्त्र आदि में अधिकृत है। उतना मानने पर उपनिषदों में ब्रह्मविषयक 'हृदिस्थ' आदि कथन का सामञ्जस्य होसकता है। परन्तु इस विषय में विचारणीय है, कि सूत्रकार को यदि यह अभिमत होता, तो वह सन्देह में डालने वाले साधारण 'मनुष्य' पद का निर्देश न कर असंदिग्ध द्विज, त्रैवर्णिक, अशूद्रजन आदि पदों का प्रयोग करसकता था। साधारण 'मनुष्य' पद का निर्देश होने से सूत्रकार का यह अभिमत प्रकट होता है, कि वह ब्रह्मविद्या आदि में मनुष्यमात्र का अधिकार बताना चाहता है। ऐसी दशा में इस कथन की यथार्थता उस समय विचारणीय होजाती है, जब वेदद्रष्टा ऋषियों में किसी विशिष्ट वर्ग के ऋषि का पता नहीं लगता। जब वेदों [ऋ० १०।९०।१२, यजु० ३१।११; १८।४८; ३०।५; अथर्व० १९।६।६, तै० आ० ३।१२।५] में चारों वर्णों का उल्लेख है, तो चतुर्थ वर्ण का कोई ऋषि वेदद्रष्टा क्यों नहीं? इसका कारण होना चाहिये। वह कारण है-इनके अध्ययन आदि में मनुष्यमात्र का अधिकार न होकर विशिष्ट वर्ग का अधिकार होना ॥३१॥

उक्त पूर्वपक्ष की पुष्टि के लिये सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

ज्योतिषि भावाच्च ॥३२॥

[ज्योतिषि] ज्योति में [भावात्] होने से [च] भी। 'ज्योतिः' पदयुक्त मन्त्र में ब्राह्मण आदि तीन वर्णों का वेदवाक् से सम्बन्ध होना बताये जाने के कारण भी ब्रह्मविद्या आदि में मनुष्यमात्र का अधिकार प्रतीत नहीं होता।

सूत्र में 'ज्योतिष्' पद, 'ज्योतिष्' पदयुक्त मन्त्र का बोधक है। जैसे 'पवमान' पदयुक्त मन्त्र को 'पवमान' कहा जाता है, तथा लोक में जैसे 'महिम्नः पारं ते' इत्यादि 'महिम्न' पदघटित स्तोत्र को 'महिम्न' पद से व्यवहृत किया जाता है, ऐसे 'ज्योतिष्' पद यहां 'ज्योतिष्' पदघटित मन्त्र का संकेत करता है। सूत्रकार ने एक अन्य सूत्र [ब्र० सू० ४।३।१५] में इसीप्रकार 'तत्क्रतुः' पद का प्रयोग 'तत्क्रतु' पद से युक्त श्रुति के लिये माना है। वह मन्त्र है-'यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया सं रराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी' [यजु० ८।३६] वह नित्य सर्वान्तर्यामी जगत्कर्त्ता प्रजापति परमात्मा प्रजा के लिये विश्वरूप फलों का प्रदान करनेवाला तीन [-ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य] को वेदवाणीरूप ज्योति से युक्त करता है।

'ज्योतिः' पद वेदवाक् का निर्देशक है–'वाचैवायं ज्योतिषास्ते' [बृ० ४।३।५]। इस मन्त्र में त्रैवर्णिकों का वेदवाणी से संपर्क बताया है। तब शास्त्र एवं ब्रह्मविद्या में मनुष्य-मात्र का अधिकार मानना श्रुतिविरुद्ध होगा।

अन्यत्र मन्त्र में भी वरदा पवित्र करनेवाली वेदमाता को द्विजों के लिये प्रेरित की गई बताया है–'स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्' [अथर्व० १९।७१।१]। 'द्विज' ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को कहा जाता है। जब वेद में त्रैवर्णिक को अधिकार है, तो ब्रह्मविद्या में भी उन्हीं का प्रवेश होगा। तब इनमें मनुष्यमात्र का अधिकार बताना वेदानुमोदित प्रतीत नहीं होता ॥३२॥

आचार्य सूत्रकार इस पूर्वपक्ष का समाधान करता है—

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥३३॥

[भावं] होने को [तु] तो [बादरायणः] बादरायण [अस्ति] है [हि] क्योंकि। बादरायण तो मनुष्यमात्र का अधिकार होने को मानता है, क्योंकि अधिकार बना रहता है।

सूत्र में 'तु' पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है। शास्त्र अथवा ब्रह्मविद्या में मनुष्यमात्र का अधिकार नहीं है, इसकी सिद्धि के लिये पूर्वपक्ष में दो युक्ति दी गई हैं। पहली है–मधुच्छन्दा आदि वेदद्रष्टा ऋषियों की सूची में कोई शूद्र वेदद्रष्टा नहीं है; इसलिये वेदादि में शूद्र का अनधिकृत होना सिद्ध होता है, तब मनुष्यमात्र का वेद व ब्रह्मविद्या आदि में अधिकार बताना संगत नहीं। पर इस प्रसंग में विचारणीय है, कि वेदद्रष्टा शूद्र कैसे होसकता है? जो वेदद्रष्टा है, उसे शूद्र कैसे कहा जायगा? यह ध्यान रखना चाहिये, कि 'ब्राह्मण' आदि पद गुणशब्द हैं, किन्हीं विशिष्ट गुणादि के कारण इन पदों का प्रयोग समाज के विभिन्न वर्गों के लिये होता है। जो बालक गुरु व आचार्य के समीप जाकर उपनीत हो वेदादि के अध्ययन में सफल नहीं होता, प्रत्येक प्रयास किये जाने पर भी अपने अध्ययनक्रम को पूरा नहीं करपाता, वह शूद्र कहा जाता है। आगे जीवन में निर्वाह के लिये उसका कार्य केवल शारीरिक परिश्रम रहजाता है। समाज में ऐसा वर्ग शूद्र है। यह कोई उपेक्षणीय वर्ग नहीं; यह समाज का उतना ही आवश्यक एवं प्रतिष्ठित अंग है जैसे अन्य। यदि ऐसा व्यक्ति वेदद्रष्टा नहीं होसकता, तो इससे वेदादि में उसका अधिकार नष्ट नहीं होता, वह बराबर बना रहता है [अस्ति हि] यदि आगे जीवन में उसके ऐसे कोई प्रबल संस्कार उद्बुद्ध होजाते हैं, तो वह वेदादि का अध्ययन कर सकता है, और ब्रह्मविद्या में प्रवृत्ति भी। यदि वेद का अध्ययन न हो, तो भी ऐसा व्यक्ति ब्रह्मजिज्ञासा की उत्कट भावना होने पर उस दिशा में पूर्ण अधिकारी है। ऐसी स्थिति में वेदद्रष्टा ऋषियों की सूची में शूद्र के होने का प्रश्न ही नहीं उठता, न उसकी संभावना होसकती है।

कतिपय[1] व्याख्याकारों ने ऐतरेय ब्राह्मण के एक प्रसंग के आधार पर वेदद्रष्टा ऋषियों की सूची में एक नाम सुझाया है और उसे शूद्र बताने का प्रयास किया है। उस प्रसंग का विचार करना आवश्यक है। ऐतरेय ब्राह्मण [२।३।१] में पाठ है—

ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत। ते कवषमैलूषं सोमादनयन्, दास्याः पुत्रः कितवोऽब्राह्मणः कथं नो मध्ये दीक्षिष्टेति। तं बहिर्धन्वोदवहन्, अत्रैनं पिपासा हन्तु, सरस्वत्या उदकं मा पादिति। स बहिर्धन्वोदूढः पिपासया वित्त एतदपोनप्त्रीयमपश्यत्।

ऋषि सरस्वती प्रदेश में सत्र करने के लिये एकत्रित हुए। उन्होंने कवष ऐलूष को सोम से यह कहकर अलग कर दिया, कि यह दासी का पुत्र जुआरी अब्राह्मण हमारे बीच में कैसे दीक्षित होसकता है। उसे प्रदेश से बाहर मरुभूमि में छोड़ दिया गया, यह सोचकर कि यहां इसको प्यास मार डाले, सरस्वती का जल यह न पिये। प्रदेश से बाहर मरुभूमि में लेजाया गया वह [कवष ऐलूष] प्यास से व्याकुल होगया, उसने इस अपोनप्त्रीय को देखा, अर्थात् अपोनपात् देवता के सूक्त का वह द्रष्टा बना।

ब्राह्मण के उक्त सन्दर्भ में 'दास्याः पुत्रः कितवोऽब्राह्मणः' तथा 'एतदपोनप्त्रीयमपश्यत्' ये पद ध्यान देने के हैं। पहले पदों से कवष ऐलूष को दासी का पुत्र और अब्राह्मण कहा गया है। केवल अब्राह्मण कहने से उसके क्षत्रिय या वैश्य होने की संभावना होसकती थी, पर 'दास्याः पुत्रः' पद से उक्त[1] व्याख्याकारों ने उसे दासी का पुत्र होने के कारण शूद्र निश्चय किया। यह तो स्पष्ट है, कि वह वेद के सूक्तों [ऋ० १०।३०–३४] का द्रष्टा है। इसलिये वेदद्रष्टा ऋषियों की सूची में एक ऋषि शूद्र है, ऐसा उन व्याख्याकारों ने सिद्ध करने का प्रयत्न कर वेदादि में शूद्र के अधिकार का निश्चय किया।

ऐतरेय ब्राह्मण के उक्त सन्दर्भ का ऐसा व्याख्यान अशास्त्रीय होने के कारण चिन्तनीय है। ब्राह्मणसन्दर्भ के 'कितव' पद की ओर उक्त व्याख्याकारों ने विशेष ध्यान नहीं दिया, ऐसा प्रतीत होता है। कवष ऐलूष वेदज्ञ होता हुआ भी जुआरी था, यह उसमें एक भारी दुर्गुण था। इसी कारण ऋषियों ने 'दास्याः पुत्रः' कहकर उसकी तर्जना की, निन्दा की। पाणिनीय नियम [अष्टा० ६।३।२२] के अनुसार 'दास्याः पुत्रः' का अर्थ 'दासी का पुत्र' न होकर केवल निन्दा का द्योतक है। एक प्रकार से संस्कृत में यह पद गाली जैसा है। जैसे लोक में किसी को 'हराम जादा, गोला या बदजात' कह दिया जाता है, केवल उसके किसी दुर्गुण को देखकर। ऐसा ही यह संस्कृत का प्रयोग है। जब यथार्थ में 'दासी का पुत्र' अर्थ कहना हो, तब इन पदों का समास होकर 'दासीपुत्रः' ऐसा प्रयोग होसकता है। यद्यपि यह प्रयोग आक्रोश अर्थ में भी होसकेगा; परन्तु अस-

---

१. **वेदान्तसूत्र वैदिकवृत्ति के रचयिता श्री पण्डित स्वामी हरिप्रसाद वैदिकमुनि; तथा वेदान्तदर्शन 'ब्रह्ममुनिभाष्य' के रचयिता श्री स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक।**

मस्त 'दास्याः पुत्रः' पद का प्रयोग 'दासी का पुत्र' इस अर्थ में नहीं होसकता। इसलिये ब्राह्मण सन्दर्भ में इस पद के प्रयोग से कवष ऐलूष को दासी का पुत्र समझकर शूद्र सिद्ध करना सर्वथा अशास्त्रीय है।

उसे 'अब्राह्मण' इसी विचार से कहा गया, कि उसमें द्यूतक्रीड़ा का महान दुर्गुण पैदा होगया था। अन्त में इस घटना से अपने आचरण पर उसे बहुत पश्चात्ताप हुआ प्रतीत होता है। ऋग्वेद के जिन पांच [१०।३०-३४] सूक्तों का वह द्रष्टा व व्याख्याता है, उनमें से अन्तिम सूक्त में द्यूत की निन्दा की गई है। उसने मनन व दर्शन के लिये ऐसे सूक्तों को चुना, जो उसकी तात्कालिक स्थिति के लिये उपयुक्त थे। उस तिरस्कार से प्रेरणा प्राप्त कर वह अपने आपको उत्पथ से सत्पथ पर लासका; यही ब्राह्मणग्रन्थ के कथानक का तात्पर्य है। ऐसी स्थिति में नहीं कहा जासकता, कि कवष ऐलूष शूद्र था।

फिर 'दास्याः पुत्रः' पद का प्रयोग लोक में गाली या निन्दा की भावना से तिर्यक् प्राणियों के लिये किया गया देखा जाता है। भासकविकृत 'स्वप्नवासवदत्त' नाटक के प्रथम अंक में राजा उदयन और विदूषक संवाद के अवसर पर विदूषक की उक्ति है– 'दास्याः पुत्रैर्मधुकरैः पीडितोऽस्मि' यहां भौंरों के लिये 'दास्याः पुत्रैः' प्रयोग किया गया है। जिसका अर्थ 'दासी के पुत्र' किया जाना सर्वथा असंभव है। आगे चलने में विदूषक को भौंरे काट रहे या तंग कर रहे थे, इसी भावना से यह प्रयोग किया गया; जिसका अर्थ है, कि ये दुष्ट भौंरे मुझे कष्ट देरहे हैं, पीड़ित कर रहे हैं। इन पदों का समास-रहित प्रयोग ऐसे ही अर्थ में होता है। ऐतरेय ब्राह्मण के 'दास्याः पुत्रः' का अर्थ 'दासी का पुत्र' न होकर केवल दुष्ट अथवा दुर्गुणी है, उसी दुर्गुण को आगे 'कितवः' पद से स्पष्ट कर दिया है। इसी आधार पर उसे 'अब्राह्मण' कहा है।

ब्रह्मविद्या आदि में मनुष्यमात्र के अधिकृत होने का दूसरा बाधक हेतु प्रस्तुत किया गया, कि 'ज्योतिष्' पदघटित मन्त्र में त्रैवर्णिक व्यक्ति के साथ वेदवाणी का सम्बन्ध प्रकट कर यह अभिव्यक्त किया है, कि वेदादिशास्त्र में मनुष्यमात्र का अधिकार नहीं। परन्तु उक्त मन्त्र के आधार पर ऐसा भाव प्रकट करना चिन्तनीय है। मन्त्र में तीन ज्योति–अग्नि विद्युत् और सूर्य बताये हैं। वहां 'त्रीणि' पद का 'त्रैवर्णिक व्यक्ति' अर्थ समझने का कोई आधार नहीं है। 'त्रीणि' पद 'ज्योतींषि' का विशेषण है, जो स्पष्ट तीन उक्त प्रकाशक तत्त्वों का निर्देश करता है। यदि वेदमन्त्र में कथञ्चित् वैसी भावना को मानलिया जाता है, तो उसका केवल तीन वर्णों के प्रशस्त होने में तात्पर्य समझा जासकता है, जो वास्तविक है। इससे यह परिणाम नहीं निकलता, कि त्रैवर्णिक से अतिरिक्त मनुष्यों का वेदादि में अधिकार या सम्बन्ध निषिद्ध है। वेद तो सब के प्रिय कल्याण को देखने का आदेश देता है–'प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये'। [अथर्व० १९।६२।१] चाहे शूद्र हो अथवा आर्य सबका प्रिय--आनुकूल्य देखो, ऐसा आदेश कर

स्वयं वेद किसी मानववर्ग को अपने में अनधिकृत बतावे, यह संभव नहीं।

यजुर्वेद में अन्यत्र [२६।२] 'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्म-राजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय' कहकर इस तथ्य को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है, कि वेदादि के अध्ययन व जानकारी में सब मनुष्यों का अधिकार है, मानव-समाज का कोई वर्ग उससे वञ्चित नहीं किया गया। वहां स्पष्ट 'शूद्र' आदि पदों का निर्देश है। ऐसे स्थलों में यह ध्यान रखना चाहिये, कि जब ब्राह्मण आदि के लिये वेदों के अध्ययन का उल्लेख होता है, तब 'ब्राह्मण' आदि पदों का अर्थ ब्राह्मण आदि की बाल-सन्तान होता है। वे बालक सन्तान चाहे जिस वर्ण की हों, उन्हें वेदादि के अध्ययन में समान अधिकार है। इसलिये वेद एवं ब्रह्मविद्या आदि में मनुष्यमात्र का अधिकार किसीप्रकार बाधित नहीं है।

अथर्ववेद [१६।७१।१] का जो मन्त्र इस आशय से प्रस्तुत किया गया, कि वहां वेदमाता को द्विजों के लिये बताया है, इसलिये त्रैवर्णिक वेद में अधिकारी हैं, इस विषय में यह जानलेना आवश्यक है, कि बालक गुरु के पास जा उपनीत होकर 'द्विज' कहा जाता है। गुरु के समीप जा इसप्रकार अध्ययन करने में किसीके लिये प्रतिबन्ध नहीं है। इसलिये शास्त्र एवं ब्रह्मविद्या आदि में मनुष्यमात्र का अधिकार है, यह निश्चित होता है। इसी आधार पर सर्वव्यापक ब्रह्म को उपासना प्रसंगों में 'हृदिस्थ' अथवा 'अंगुष्ठमात्र' कहा गया है, क्योंकि मानव देह को प्राप्त कर आत्मा अंगुष्ठाकृति हृदय-देश में ब्रह्म का साक्षात्कार करपाता है ॥३३॥

प्रकारान्तर से शिष्य आशंका करता है, शास्त्र अथवा ब्रह्मविद्या आदि में गत-सूत्रों [१।३।२५–३३] के द्वारा मनुष्यमात्र का अधिकार निश्चित किया गया। परन्तु छान्दोग्य के एक प्रसंग से प्रतीत होता है, कि शास्त्र आदि में शूद्र का अधिकार नहीं होना चाहिये। छान्दोग्य [४।१।१-२] में एक आख्यानक है–जानश्रुति पौत्रायण नामक व्यक्ति रैक्व नामक ऋषि के पास आता है, और उसे बहुत-सा धन गौ आदि देकर ब्रह्म-विद्या की शिक्षा के लिये प्रार्थना करता है। ऋषि रैक्व उसे दुत्कार देता है, और कहता है–अरे शूद्र ! यह गौ धन आदि अपने ही पास रख, मुझे इसकी आवश्यकता नहीं, चला जा। इस प्रसंग से प्रतीत होता है, कि शूद्र को विद्या का अधिकार नहीं है। अन्यथा ऋषि उसे शूद्र कहकर क्यों दुत्कार देता। आचार्य सूत्रकार इस आशंका का समाधान करता है—

शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदाद्रवणात् सूच्यते हि ॥३४॥

[शुक्] शोक [अस्य] इसको [तद्-अनादर-श्रवणात्] उनसे अनादर सुनने के कारण [तदाद्रवणात्] उसको (शोक को) प्राप्त होने से अथवा उससे दौड़ा आने से [सूच्यते] सूचित होता है [हि] निश्चयपूर्वक। जाने वालों से अपना अनादर सुनने के

कारण जानश्रुति को शोक हुआ; निश्चयपूर्वक यह सूचित होता है, कि उसको शोक प्राप्त होने से अथवा शोक के कारण रैक्व के पास दौड़ा आने से जानश्रुति को शूद्र कहा गया।

छान्दोग्य [४।१।१-२] में आलंकारिक रीति पर कथाद्वारा यह वर्णन है, कि जानश्रुति पौत्रायण नामक राजा के महल के ऊपर से रात में हंसों की पंक्ति उड़ी जारही थी। एक हंस ने दूसरों को कहा, इस प्रदेश से सावधान होकर चलना, यहां अत्यन्त धार्मिक दानी प्रजाप्रिय जानश्रुति का तेज सूर्य के समान विस्तृत है, कहीं हमें जला न डाले। दूसरे हंस ने इसके उत्तर में कहा–अरे तू यह सयुग्वा रैक्व के समान किसकी बात कहरहा है ? उस सयुग्वा [गाड़िया] रैक्व के समान अन्य तेजस्वी कौन है ?

कहनेवालों ने इस कथन के द्वारा रैक्व की बराबरी में जानश्रुति को नीचा बताया। जब यह बात जानश्रुति के कान में पड़ी, तो इससे उसे अपनी अज्ञानता की स्थिति पर शोक हुआ। उसने सयुग्वा रैक्व ऋषि का पता लगवाया और धनादि दक्षिणा लेकर उसकी सेवा में उपस्थित हो निवेदन किया, कि यह धन संपत्ति दक्षिणारूप आपकी सेवा में प्रस्तुत है, आप जिस देवता की उपासना करते है, उसका उपदेश देने की कृपा करें। रैक्व ने कहा–अरे शूद्र ! यह धन संपत्ति अपने पास रख, मुझे इसकी अपेक्षा नहीं। जानश्रुति वापस जाकर और अधिक धन संपत्ति लाता है, उसे ऋषि की सेवा में अर्पित कर पुनः उपदेश के लिये प्रार्थना करता है। रैक्व उस संपत्ति को स्वीकार कर जानश्रुति को विद्या का उपदेश देता है। इस बार भी रैक्व ने जानश्रुति को 'शूद्र' कहकर सम्बोधन किया है।

सूत्रकार का तात्पर्य है, कि इस प्रसंग में जानश्रुति को 'शूद्र' इसकारण कहा गया, कि वह अपना अनादर सुनकर शोक को प्राप्त हुआ, अथवा शोक के कारण वह रैक्व ऋषि के पास दौड़ा आया। इसप्रकार–'शुचमभिदुद्राव, अथवा शुचा रैक्वमभिदुद्राव' इस निर्वचन के अनुसार जानश्रुति को ऋषि ने शूद्र कहा, इस भाव को प्रकट करने के लिये कि ऋषि ने उसकी मनःस्थिति को पहले ही जानलिया है। यहां पर शूद्र-वर्ण का कोई प्रसंग नहीं है। इससे विद्या में शूद्रवर्ण के अधिकार के लिये किसीप्रकार की बाधा नहीं आती। विद्या में मनुष्यमात्र का अधिकार है, इस तथ्य को सूत्रकार ने प्रथम [१।३।२५] निश्चित कर दिया है। फलतः उपनिषद् के संवर्गविद्याप्रसंग में जानश्रुति के लिये सम्बोधनरूप से 'शूद्र' पद का प्रयोग, इसके लिये सर्वथा अप्रमाण है, कि शूद्रवर्ण में उत्पन्न व्यक्ति को विद्या में अधिकार नहीं। शूद्रा में उत्पन्न विदुर तथा अन्य मातंग आदि व्यक्तियों के वेदादि अध्ययन का उल्लेख इतिहास में मिलता है।

'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' [तै० सं० ७।१।१।६] इत्यादि प्रसंग ऐसे व्यक्तियों के लिये है, जो प्रयत्न करने पर भी वेदादि का अध्ययन नहीं करपाये। इसीकारण मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते, पर यज्ञों के अवसर पर मन्त्रों के अनाप-शनाप उच्चारण

के दुस्साहस का प्रयास करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को मन्त्रोच्चारयिता के रूप में यज्ञों में भाग लेना निषिद्ध किया गया है। यह निषेध शूद्रवर्ण के विद्यानधिकार का प्रयोजक नहीं है। विद्याध्ययन आदि के लिये प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण अवसर दिया जाना शास्त्र-संमत है। यदि ऐसा कोई व्यक्ति ब्रह्मविद्याविषयक उपदेश चाहता है, तो वह लेसकता है, इसमें किसीप्रकार की शास्त्रीय बाधा नहीं है। जो व्यक्ति यह समझते हैं, कि शूद्र के विद्याध्ययन का शास्त्र निषेध करता है, वे भ्रान्ति में हैं। इन सब स्थितियों का स्पष्ट विवेचन इसी प्रकरण के अगले सूत्रों में किया है। फलतः संवर्गविद्या में 'शूद्र' पद का प्रयोग एक विशिष्ट प्रवृत्तिनिमित्त से हुआ है, जिसका उल्लेख प्रथम कर दिया है; यह प्रयोग शूद्रवर्ण की भावना से नहीं है। यदि ऐसा हो, तो इससे शूद्र का अधिकार निश्चित होता है, क्योंकि रैक्वद्वारा जानश्रुति को यहां विद्या का उपदेश दिया जाना स्पष्ट है। उपनिषद् के अनुसार प्रथम जैसे 'शूद्र' कहकर उपदेश देने से नकार किया, ऐसे ही पुनः 'शूद्र' कहकर उपदेश दिया। तब ब्रह्मविद्या आदि में शूद्र के अनधिकार का प्रश्न ही नहीं उठता। वैदिक साहित्य में कोई ऐसा उल्लेख उपलब्ध नहीं, जिससे मनुष्य के किसी निर्धारित वर्गविशेष को विद्या आदि में अनधिकार सूचित होता हो। इस विषय में सूत्रकार का जो आशय है, वह प्रथम स्पष्ट कर दिया गया है ॥३४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, इसमें क्या प्रमाण है, कि संवर्गविद्या के प्रसंग में 'शूद्र' पद का प्रयोग शूद्रवर्ण के लिये न होने से जानश्रुति क्षत्रिय है, शूद्र नहीं? आचार्य सूत्र-कार ने समाधान किया—

क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥३५॥

[क्षत्रियत्वगतेः] क्षत्रिय होने के ज्ञान से [च] और [उत्तरत्र] आगे [चैत्ररथेन] चैत्ररथ के साथ [लिङ्गात्] चिह्न से। उपनिषद्वर्णित रीति से जानश्रुति का क्षत्रिय होना ज्ञात होता है, और आगे चैत्ररथ के साथ समान विद्या में पढ़े जाने लिंग से जान-श्रुति का क्षत्रिय होना प्रकट है।

संवर्गविद्या के प्रकरण में जहां जानश्रुति पौत्रायण का उल्लेख है, वहां अगले खण्ड [छा० ४।३।५] में शौनक कापेय और अभिप्रतारी काक्षसेनि का उल्लेख है। इनमें कापेय का चित्ररथ नामक राजा के साथ सम्बन्ध ताण्ड्यमहाब्राह्मण [२०।१२।५] के आधार पर पता लगता । वहां लिखा है—'एतेन वै चित्ररथं कापेया अयाजयन्' इस यज्ञ से कापेयों ने चित्ररथ को यजन कराय ।। संवर्गविद्या के प्रसंग में कापेय के साथ अभिप्रतारी का उल्लेख है। समान वंश वालों के याजक प्रायः समान वंश वाले होते हैं, इससे संभव है, यह अभिप्रतारी चित्ररथ का वंशज हो। पर प्रस्तुत प्रसंग में चित्ररथ को यजन कराने वाला होने से सूत्र में 'चैत्ररथ' पद से 'कापेय' का संकेत किया गया है। भले ही चित्ररथ को यजन कराने वाला यही कापेय हो, अथवा इस गोत्र का अन्य कोई

व्यक्ति; पर इससे इतना निश्चित है, कि चित्ररथ आदि राजवंश्य क्षत्रियों को यजन कराने वाले कापेय अवश्य उच्चवंशीय पुरोहित हैं। उपनिषद्वर्णित यह कापेय उसी वंश का होने से एक उच्चकुलोंका पुरोहित है।

अभिप्रतारी का क्षत्रिय होना ताण्ड्यमहाब्राह्मण [१०।५।७; १४।१।१२] के अन्य वर्णन से सिद्ध है। ब्राह्मण के अन्तिम प्रसंग [१४।१।१२] में अभिप्रतारी के लिये स्पष्ट 'राजन्' संबोधन किया है। वहां पाठ है–'दृत ऐन्द्रोत प्रति होवाच अभिप्रतारी काक्षसेनिः–ये महावृक्षस्याग्रं गच्छन्ति क्व ते ततो भवन्ति ? प्र राजन् पक्षिणः पतन्त्यवाऽपक्षाः पद्यन्ते' अभिप्रतारी काक्षसेनि ने कहा–हे इन्द्रोत के पुत्र दृत ! महावृक्ष के आगे जो चले जाते हैं, उसके अनन्तर वे कहां होते हैं ? दृत ने उत्तर दिया, हे राजन् ! जो विद्वान् (पक्षिणः) हैं वे उड़ जाते हैं (प्रपतन्ति), अर्थात् अभिलषित स्थान को प्राप्त होजाते हैं; जो अविद्वान् (अपक्षाः) हैं वे नीचे गिर पड़ते हैं (अवपद्यन्ते), अर्थात् जन्म-मरण चक्र में फंसे रहते हैं। इसके अनुसार क्षत्रिय अभिप्रतारी के साथ तथा चित्ररथ के याजक कापेय (चैत्ररथेन) के साथ समान विद्या में पढ़े जाने लिंग से शासक जानश्रुति का क्षत्रिय होना सिद्ध होता है। ऋषि रैक्व ने क्षत्रिय जानश्रुति को संवर्ग विद्या का उपदेश किया, शूद्र को नहीं; यह इस प्रसंग से प्रमाणित होता है।

आचार्य शंकरद्वारा किये गये सूत्र के 'चैत्ररथेन' पद का अर्थ संदिग्ध प्रतीत होता है। संवर्गविद्या के प्रसंग में पठित अभिप्रतारी काक्षसेनि चित्ररथवंश का क्षत्रिय है, यह निश्चितरूप से नहीं कहा जासकता। समान वंश के ब्राह्मण विभिन्नवंशीय व्यक्तियों के याजक होसकते हैं। ताण्ड्यब्राह्मण के चित्ररथ प्रसंग [२०।१२।५] में अभिप्रतारी काक्षसेनि का कोई संकेत नहीं है। आचार्य ने ताण्ड्यब्राह्मण के इस प्रसंग का जो पाठ भाष्य में उद्धृत किया है, वह उपलब्ध ब्राह्मणपाठ से कुछ भिन्न है। आचार्य का पाठ है–'तस्माच्चैत्ररथिर्नामैकः क्षत्रपतिरजायत' चैत्ररथि नाम का एक क्षत्रपति हुआ। ब्राह्मण का उपलब्ध पाठ है–'तस्माच्चैत्ररथीनामेकः क्षत्रपतिर्जायते नुलम्ब इव द्वितीयः' वहां प्रसंग है–कपिवंशज महर्षियों ने द्विरात्र ऋतु से चित्ररथ को यजन कराया। उस अकेले को अन्नाद्य का अध्यक्ष कर दिया [–तमेकाकिनमन्नाद्यस्याध्यक्षमकुर्वन्]। इसीके आगे उक्त पंक्ति है, इसकारण चैत्ररथियों में अर्थात् चित्ररथ के वंशजों एवं साधारण क्षत्रियवंशों में एक ज्येष्ठपुत्र क्षत्रपति–समस्त संपत्ति राज्य सेनाकोष आदि का अधिपति–होता है; दूसरा अनुचर [नुलम्ब] के समान आज्ञाकारी बनकर रहता है। ब्राह्मण सन्दर्भ एक विशेष व्यवस्था का निर्देश करता है, यह भावना भाष्यकार के पाठ में लुप्तप्राय होगई है।

ताण्ड्यमहाब्राह्मण में कापेय [कपिगोत्रज] महर्षियों द्वारा चित्ररथ को यजन कराने का जो वर्णन है, उसमें अभिप्रतारी के साथी उपनिषद्वर्णित शौनक का कोई संकेत नहीं, केवल वहां के 'कापेय' पद प्रयोग से शौनक की कल्पना कर उसके साथी

अभिप्रतारी का चित्ररथ से सम्बन्ध जोड़ने के लिये कोई आधार नहीं। 'कापेय' गोत्रपद है, शौनक के अतिरिक्त अन्य अनेक ऋषि उस समय अथवा पूर्वापर काल में इस गोत्र के होसकते हैं। चित्ररथ को यजन कराने वाले 'कापेय' किस नाम के ऋषि थे, इसका निश्चायक प्रमाण कोई उपलब्ध नहीं है। फलतः आचार्य शंकरद्वारा किया गया उक्त पद का अर्थ चिन्तनीय है।

कतिपय आधुनिक[1] व्याख्याकारों ने सूत्रार्थ इसप्रकार किया है—जानश्रुति पौत्रायण रैक्व ऋषि के पास अश्वतरीरथ लेकर आया, जिस रथ में अश्वतरी [खच्चर] जुते हों, उसका नाम चित्ररथ है। चित्ररथ ही चैत्ररथ कहा जाता है। चैत्ररथपर आनेके कारण जानश्रुति का उस समय क्षत्रिय होना निश्चित होता है। महाभारत[2] [वन० १९२।५१] के एक प्रसंग से ज्ञात होता है, कि ऐसा रथ केवल क्षत्रिय का वाहन है। यद्यपि पहले जानश्रुति शूद्र रहा, पर अब उसने क्षत्रियत्व प्राप्त कर लिया था। इन व्याख्याकारों के अनुसार सूत्रपदों का अर्थ होगा—अनन्तरकाल में [—उत्तरत्र] क्षत्रियत्व की प्राप्ति से [—क्षत्रियत्वगतेः] शूद्र का विद्या में अधिकार जाना जाता है, जानश्रुति का उस समय क्षत्रिय होना चैत्ररथद्वारा आगमनरूप लिङ्ग से ज्ञात होता है [—चैत्ररथेन लिङ्गात्]। इन व्याख्याकारों का तात्पर्य है, कि जानश्रुति प्रथम शूद्र था, पुनः गुण कर्म से क्षत्रियत्व को प्राप्त होगया। इससे प्रकट होता है, कि शूद्रकुल में उत्पन्न व्यक्ति का विद्या में अधिकार है। यद्यपि उपनिषद् के इस प्रसंग [छा० ४।२।३, ५] में 'शूद्र' पद का प्रयोग शूद्रवर्ण के लिये न होकर वह केवल एक गुणपद के रूप में है। किसी तात्कालिक निमित्तविशेष से उसे शूद्र कहा गया, जिसका निर्देश गतसूत्र [१।३।३४] में हुआ है। आचार्य शंकर और इन व्याख्याकारों के अर्थ में यह ध्यान देने की बात है, कि आचार्य ने सूत्र के 'उत्तरत्र' पद का सम्बन्ध 'चैत्ररथेन लिङ्गात्' के साथ जोड़ा है, तथा इन व्याख्याकारों ने 'क्षत्रियत्वगतेः' के साथ।

इन व्याख्याकारों के सूत्रार्थ में कुछ आपत्ति सामने आती हैं। प्रथम तो इसमें कोई प्रमाण नहीं, कि अश्वतरीयुक्त रथ का नाम 'चित्ररथ' है। यदि विजातीय रज वीर्य से उत्पन्न अश्वतरी [खच्चर] को प्रतीकरूप से 'चित्र' समझकर उनसे युक्त रथ को 'चित्ररथ' मान लिया जाय; तो भी किसीतरह प्रमाणित नहीं होता, कि ऐसा वाहन केवल क्षत्रिय का संभव है। इसके लिये इन व्याख्याकारों ने महाभारत के जिस प्रसंग का निर्देश किया है, वहां का लेख इसप्रकार है—

चत्वारस्त्वां गर्दभाः संवहन्तु श्रेष्ठाश्वतर्यो हरयो वातरंहाः।
तैस्त्वं याहि क्षत्रियस्यैष वाहो ममैव वाम्यौ न वैतौ हि विद्धि॥

---

१. **श्री स्वामी हरिप्रसाद जी वैदिकमुनि, तथा श्री स्वामी ब्रह्ममुनि।**

२. **गोरखपुर-संस्करण। पूना, भण्डारकर संस्करण, वन० १९०।६३॥**

इस प्रसंग की कथा का सार है–एक राजा अपने रथ में आखेट को जाता है, वहां एक हरिण को घायल कर देता है, पर उसके घोड़े हरिण को पकड़ न सके। सारथि से राजा को ज्ञात हुआ, कि समीप एक आश्रम में ऋषि के पास घोड़े हैं; यदि वे मिल जायें, तो हरिण पकड़ा जासकता है। राजा ने ऋषि से वे अश्व यह कहकर मांगे, कि यह कार्य होजाने पर तुम्हें वापस कर दूंगा। पर राजा उन अश्वों पर इतना मुग्ध होगया, कि ऋषि के मांगने पर उसने देने से नकार कर दिया। यही बात उक्त श्लोक में राजा कहरहा है–तुम चार गधों पर सवारी करो, श्रेष्ठ अश्वतरी तथा वायु समान वेगवाले घोड़े लेसकते हो। तुम उन्हीं के द्वारा यात्रा करो, यह वाह [सवारी] क्षत्रिय का है, यह समझे रक्खो, कि अब ये वामी (घोड़ियां) मेरे हैं तुम्हारे नहीं। इस लेख से यह किसीप्रकार सिद्ध नहीं होता, कि अश्वतरीरथ केवल क्षत्रिय का वाहन है। इस श्लोक का केवल इतना तात्पर्य है, कि वह उन पशुओं को क्षत्रिय के योग्य वाहन बतला रहा है, जो उसने ऋषि से मांगकर लिये हैं। ऐसे बढ़िया पशु तुम्हारे किस काम के, यह तो मेरे जैसे क्षत्रिय के लिये उपयुक्त हैं। इसलिये अब इन्हें तुमको न दूंगा। फिर साथ ही वह यह भी कहरहा है, कि तुम दूसरे श्रेष्ठ अश्वतरी लेसकते हो। जब वह ऋषि भी अन्य श्रेष्ठ अश्वतरी लेकर उनसे युक्त रथ रखसकता है, तो यह बात कहां रह जाती है, कि अश्वतरीरथ केवल क्षत्रिय का वाहन है ? इसके अतिरिक्त छान्दोग्य के एक अन्य स्थल [५।१३।२] में अक्षत्रिय के अश्वतरीरथ रक्खे जाने का उल्लेख है। ऐसी स्थिति में अश्वतरीयुक्त रथ द्वारा आगमन के कारण जानश्रुति का क्षत्रिय होना सिद्ध होता है, यह कथन सर्वथा निराधार एवं अप्रामाणिक है। इन सब प्रसंगों से केवल इतना निश्चित होता है, कि ऐसी सवारी का रखना उस समय प्रतिष्ठा का द्योतक था, और कोई भी ऐश्वर्यशाली व्यक्ति उसे रखसकता था।

इस विवेचन के आधार पर प्रमाणित होता है, जानश्रुति पौत्रायण क्षत्रिय था। जिन व्याख्याकारों ने उसे शूद्रकुल में उत्पन्न मानकर अनन्तर क्षत्रियत्व का प्राप्त होना माना है, उनके विचार से भी यह विद्या का उपदेश क्षत्रिय को दिया गया सिद्ध होता है। यद्यपि जानश्रुति पौत्रायण के शूद्रकुल में उत्पन्न होने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। किसी कुल में उत्पन्न होना विद्या के उपदेश के लिये बाधक नहीं। प्रस्तुत प्रसंग में केवल उपनिषद् के 'शूद्र' पद प्रयोग का विवेचन है। जानश्रुति यद्यपि शूद्र नहीं था, पर उपनिषद् के उस प्रसंग से यह सिद्ध नहीं होता, कि उपयुक्त अधिकारी होने पर शूद्र को विद्या का उपदेश न दिया जाय।

उपनिषद् [छा० ४।१।५–८] के उक्त वर्णन के अनुसार क्षत्ता आदि अपने सेवकों को भेजकर रैक्व ऋषि का पता लगाना, तथा उसके लिये इतनी अधिक संपत्ति का प्रदान करना भी जानश्रुति के राजा होने का प्रमाण है ॥३५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, (१) यदि जानश्रुति शूद्र नहीं था, तो उपदेश से पूर्व

रैक्व ऋषि ने उसका उपनयन संस्कार क्यों नहीं कराया ? (२) इसके अतिरिक्त यह ज्ञातव्य है, कि जानश्रुति ने ब्रह्मविद्या प्राप्त करने के लिये रैक्व ऋषि को जो धन और कन्या प्रदान की, क्या इसीकारण ऋषि ने उपदेश दिया ? अथवा अन्य कोई कारण था ? आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में कहा—

संस्कारपरामर्शात् तदभावाभिलापाच्च ॥३६॥

[संस्कार-परामर्शात्] संस्कार के परामर्श से [तदभावाभिलापात्] उसके अभाव में कथन करने से [च] और। शास्त्र में विद्याग्रहण से पूर्व संस्कार का संबन्ध देखा जाता है; और उसके अभाव में विद्या का कथन है, अर्थात् अनेकत्र संस्कार के विना विद्या के उपदेश का वर्णन है। रैक्व ने जानश्रुति को संस्कारपरिज्ञान से तथा दोषों के अभाव के प्रकट होने से विद्या का उपदेश किया।

(१) शास्त्र में विधान है, कि जब बालक आचार्य के पास विद्याध्ययन के लिये आता है, तब उसका उपनयन संस्कार आवश्यक है। विद्याध्ययन में उसके अधिकारी होने की परीक्षा करके आचार्य उसका उपनयन कराता है। यह तथ्य सूत्रकार ने अगले सूत्र [३७] में स्पष्ट किया है। जब किन्हीं विशेष विद्याओं का ग्रहण करने वाले बालक नहीं होते; वहां उपनयन संस्कार की अपेक्षा नहीं रहती। वह संस्कार उनका निर्धारित अवस्था में होचुका होता है। ऐसे अनेक प्रसंग शास्त्र में उपलब्ध हैं।

प्रश्न [१।१] उपनिषद् के प्रारम्भ में वर्णन है, सुकेशा भारद्वाज आदि छह जिज्ञासु पिप्पलाद ऋषि के पास ब्रह्मविषयक जानकारी के लिये जाते हैं। ये सभी ब्रह्म में परम आस्था रखने वाले, अधीतशास्त्र हैं। इनके अध्ययन की गम्भीरता का उन प्रश्नों से पता लगता है, जो उन्होंने यथाक्रम पिप्पलाद ऋषि के सन्मुख प्रस्तुत किये। जब हाथ में समिधा लेकर ऋषि के सन्मुख ये जिज्ञासु उपस्थित हुए, तब इनके उपनयन संस्कार का वहां कोई उल्लेख नहीं है। ऋषि उनसे केवल यह कहता है, कि आप सब यहां आश्रम में ब्रह्मचर्यपूर्वक तपस्वी बनकर श्रद्धा के साथ एक वर्ष तक निवास करें, उसके अनन्तर आपके प्रश्नों का यथामति उत्तर दिया जायगा। ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास के लिये ऋषि का आदेश यह स्पष्ट करता है, कि ये सब गृहस्थ थे। स्पष्ट है, कि इनका उपनयन संस्कार यथावसर होचुका होगा। उसकी अब आवश्यकता न थी, न ऋषि ने ऐसा किया। समित्पाणि होकर आना इस व्यवस्था का प्रतीक है, कि आचार्य के पास रिक्तपाणि न जाय। समित्पाणि होकर जाना जिज्ञासुभाव को प्रकट करता है। यह स्थिति पर निर्भर है, कि आचार्य उपनयन संस्कार की आवश्यकता का अनुभव करता या नहीं। इस प्रसंग में उपनयन का कोई उल्लेख नहीं, पर ऋषि ने सबको ब्रह्मविद्या का उपदेश किया है।

ऐसा एक प्रसंग छान्दोग्य [७।१।१] में है। नारद सनत्कुमार ऋषि के समीप

ब्रह्मविद्या की शिक्षा के लिये पहुंचता है, और कहता है, कि मैं 'आत्मज्ञान' के लिये आपके पास आया हूं। सनत्कुमार ने कहा–तुम क्या पढ़े हो, कहां तक जानते हो, बताओ; आगे मैं तुम्हें बताऊंगा। नारद ने समस्त वेद वेदाङ्ग और अन्य अनेक विद्याओं को गिनाया, कि मैं यह पढ़ा हूं। इस प्रसंग में भी सनत्कुमारद्वारा नारद के उपनयन संस्कार का कोई उल्लेख नहीं है। स्पष्ट है, वेदादि अध्ययन के पूर्व यथावसर नारद का उपनयन होचुका है। सनत्कुमार ने इस अवसर पर उसकी कोई उपयोगिता नहीं समझी, उपनयन के विना ब्रह्मविद्या का उपदेश किया।

इसीप्रकार का एक प्रसंग छान्दोग्य [५।११।७] में और है। प्राचीनशाल आदि पांच जिज्ञासु–जो बड़े सम्पत्तिशाली और वेदाध्यायी थे–उद्दालक आरुणि के पास ब्रह्म [वैश्वानर] विद्या की प्राप्ति के लिये जाते हैं। उद्दालक ने विचार किया, कदाचित् मैं इनकी जिज्ञासाओं का समाधान न कर सकूं, किसी अन्य ब्रह्मवेत्ता के समीप जाने को इन्हें प्रेरित करना चाहिये। उद्दालक ने उन्हें केकय देश के राजा अश्वपति के पास जाने का सुझाव दिया। वे सब वहां पहुंचे–'ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे तान् हानुपनीयैव एतदुवाच'। वे सब समित्पाणि होकर एक निश्चित दिन प्रातःकाल अश्वपति के पास पहुंचे, उसने विना उपनयन संस्कार के ही उन्हें विद्या का उपदेश दिया। समित्पाणि होकर आने पर भी उनके उपनयन संस्कार की आवश्यकता न थी; वे संपत्तिशाली गृहाश्रमी जिज्ञासु थे, यह संस्कार उनका उपयुक्त आयु में होचुका था। समित्पाणि होकर आने का तात्पर्य अपने आपको शिष्य अथवा शिक्षार्थी के रूप में उपस्थित करना है। ये सब महानुभाव केकयराज के समीप शिष्यरूप से उपस्थित हुए, पर शिक्षा प्रदान के पूर्व इनका उपनयन नहीं कराया गया।

ऐसा एक अन्य प्रसंग छान्दोग्य के अन्तिम अध्याय [८।७।२] में आता है। अपहतपाप्मा अजर अमर सत्यकाम सत्यसंकल्प आत्मा को जानने की अभिलाषा देव और असुरों में उत्पन्न हुई। देवों ने इन्द्र को और असुरों ने विरोचन को प्रजापति के पास आत्मविद्या सीखने के लिये भेजा। दोनों परस्पर संवाद न करते हुए समित्पाणि होकर प्रजापति के आश्रम में पहुंचे। ब्रह्मचर्यपूर्वक कुछ काल निवास करने के अनन्तर प्रजापति ने उनके आगमन का कारण पूछा, और उनकी इच्छा के अनुसार आत्मविद्या का उपदेश किया। इस प्रसंग में भी इन्द्र-विरोचन के समित्पाणि होकर आने का उल्लेख है–'तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः'। पर उनका उपनयन किये विना ही विद्या का उपदेश किया गया है।

इन सब प्रसंगों से स्पष्ट होता है, कि बड़ी आयु में किसी विशिष्ट विद्या को सीखने के लिये जब कोई जिज्ञासु उस विद्या के विशेषज्ञ आचार्य के पास जाता है, तो उसके उपनयन संस्कार की आवश्यकता नहीं होती। संस्कार का परामर्श–सम्बन्ध विद्याभ्यास के साथ तभी अपेक्षित है, जब बाल्यकाल में सर्वप्रथम विद्याभ्यास का

आरम्भ किया जाता है। उक्त प्रसंगों में स्पष्ट है, कि तात्कालिक उपनयन संस्कार के न किये जाने पर विद्या का कथन किया गया है। क्योंकि उन व्यक्तियों का यह संस्कार उपयुक्त अवस्था में होचुका है, यहां अनपेक्षित है। ऐसी अवस्था जानश्रुति के प्रसंग में है। जानश्रुति सद्गृहस्थ धर्मात्मा दानी अधीतशास्त्र है, उसके उपनयन आदि संस्कार यथावसर होचुके हैं, इसीकारण उपनिषद् के उक्त प्रसंग में जानश्रुति के उपनयन संस्कार का कोई प्रश्न नहीं उठता।

(२) रैक्व ऋषि ने जानश्रुति को अध्यात्मविद्या का जो उपदेश दिया, उसका कारण धन सम्पत्ति तथा कन्या की प्राप्ति नहीं है। वह ऋषि त्यागी तपस्वी और वीतराग था, उसे सम्पत्ति आदि की कोई आवश्यकता न थी। वह जिस विद्या का विशेषज्ञ था, वह किसी अयोग्यपात्र व अनधिकारी के पास नहीं जानी चाहिये, इसे वह समझता था। जानश्रुति के दुबारा आने पर यह स्पष्ट होगया, कि वह विद्याप्राप्ति के लिये गहरी उत्सुकता रखता है। वह एक संस्कारी, श्रद्धालु, प्रजारञ्जन में रत, दानी, धर्मात्मा एवं ईर्ष्या असूया आदि से रहित निरभिमान व्यक्ति है; इस रूप में वह सर्वथा योग्य पात्र व विद्या का अधिकारी है, यह समझकर रैक्व ने उसे उपदेश दिया। यदि उसे धन आदि की अभिलाषा होती, तो ऐसे कल्याणकारी संयमी विद्वान् के लिये सम्पत्ति का प्राप्त करना कठिन नहीं होसकता था। तात्पर्य यह, कि उसने विद्या का दान जानश्रुति को उपयुक्त पात्र समझकर दिया, धनादि का लाभ तो आनुषंगिक है। विद्याप्राप्ति के अवसर पर शिष्य अपनी शक्ति के अनुसार आचार्य को धन आदि दिया करता है, यह एक साधारण प्रथा है।

इस प्रसंग में दुबारा भी रैक्व ने जानश्रुति को 'शूद्र' सम्बोधनद्वारा स्मरण किया है। जानश्रुति का इसप्रकार सम्पत्ति व कन्या को लाकर विद्याग्रहण के लिये ऋषि के सम्मुख प्रस्तुत करना कोई अभिनन्दनीय आचरण नहीं है; पर इससे विद्याप्राप्ति के प्रति उसकी दृढ़ एवं अत्युग्र उत्सुकता का पता लगता है। ऐसी स्थिति को समझकर ऋषि ने निश्चय किया, कि इस विद्या को न जानने के कारण इसके हृदय में जो गहरी शोक की भावना का उद्रेक हुआ है, उसमें कोई कमी नहीं आई। प्रथम तिरस्कारपूर्वक निषेध किये जाने पर भी यह पुनः उपस्थित हुआ है, इसने मेरे निषेध का कोई बुरा नहीं माना, इसे विद्या का उपदेश दिया ही जाना चाहिये, ऐसी स्थिति में ऋषि ने उपदेश किया। कन्या के मुख को ऊपर उठाकर ऋषि के द्वारा कहे गये शब्द जो उपनिषद् में हैं, उनमें एक व्यङ्ग्य की भावना अन्तर्निहित है। क्या इस मुख के द्वारा तू मुझे बुलवा रहा है? मेरे लिये ये सब नगण्य हैं, पर तू ले आया है, अच्छा किया। फलतः इस उपहार को विद्या के उपदेश में निमित्त माना जाना आवश्यक नहीं है। उपदेश के लिये ऋषि के द्वारा प्रथम निषेध करने पर कदाचित् जानश्रुति ने यह समझा, कि ऋषि और अधिक सम्पत्ति आदि भेंट में चाहता है। उसकी ऐसी भावना श्रेष्ठ

जनोचित नहीं थी। इस वास्तविकता को समझते हुए ऋषि ने उस अवसर पर भी जानश्रुति को 'शूद्र' पद से सम्बोधन किया, यह समुचित माना जासकता है।

शतपथ ब्राह्मण [११।५।३।१३] में 'तं ह उपनिन्ये' वाक्य ऐसे प्रसंग का है, जहां उपनयन की अपेक्षा है। शौचेय प्राचीनयोग्य, उद्दालक आरुणि के पास विद्याप्राप्ति के लिये आता है। उद्दालक अनेक प्रश्न कर उसकी परीक्षा लेते हैं; उसके उत्तरों से सन्तुष्ट होकर उन्होंने विद्या सिखाना स्वीकार किया, और उसका उपनयन करा ब्रह्मचर्य की दीक्षा दी। इससे मनुष्यमात्र के विद्याप्राप्ति के अधिकार में कोई बाधा नहीं आती॥३६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यह ठीक है, कि ब्रह्मविद्या के उपदेश से पूर्व जानश्रुति के उपनयन का उल्लेख न होने से उसका शूद्र होना सिद्ध नहीं होता; फिर वे कौनसी बातें हैं, जो विद्याभ्यास में बाधक होती हैं, तथा उनके अभाव में ही विद्याभ्यास के लिये शास्त्र की आज्ञा है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥३७॥

[तदभावनिर्धारणे] उनके अभाव का निश्चय होजाने पर [च] ही [प्रवृत्तेः] प्रवृत्ति से। विद्याभ्यास में बाधक कुछ दोष होते हैं, छात्र में उनके अभाव का गुरु को निश्चय होजाने पर ही विद्याभ्यास में प्रवृत्ति देखी जाती है।

अनुभवी शास्त्रकारों ने कतिपय ऐसे दोषों का निर्देश किया है, जो विद्याभ्यास में बाधक होते हैं; उन दोषों से रहित बालक विद्याग्रहण के लिये अधिकारी होते हैं। ईर्ष्या, असूया, चपलता, मद, मोह, गुट बनाना, उद्दण्डता, असत्यभाषण, अध्ययन में अरुचि आदि इसप्रकार के दोष हैं, जो सदा विद्याग्रहण में बाधक रहते हैं। जिन बालकों में ये बुराईयां प्रयत्न करने पर भी नहीं निकल पातीं, वे विद्याग्रहण में अक्षम रहते हैं। आचार्य अपने अनुभव के आधार पर विद्याप्राप्ति के लिये आये बालक की परीक्षा करता है, विद्याग्रहण के लिये उसकी योग्यता का निश्चय करने के अनन्तर उसे शिष्यरूप में प्रस्तुत होने की अनुमति देता है।

छान्दोग्य उपनिषद् [४।४।१-५] में ऐसा एक प्रसंग है, जिससे उक्त तथ्य पर प्रकाश पड़ता है। बालक सत्यकाम ने अपनी माता जबाला से कहा—माता! ब्रह्मचर्य-व्रतपूर्वक विद्याभ्यास का मेरा समय है, गुरु गोत्र पूछेगा, क्या बताऊँ? माता ने कहा—प्रिय पुत्र! मैं नहीं जानती, तुम्हारा गोत्र क्या है। युवावस्था में बहुत घूमती हुई परिचर्या में तल्लीन मैंने तुम्हें प्राप्त किया था, इसकारण तुम्हारे गोत्र के विषय में मैं नहीं जानती। ऐसा करो, आचार्य के सम्मुख जानेपर यह सब वृत्तान्त कहकर बताना—मेरा नाम सत्यकाम है, मैं जबाला का पुत्र हूं, इसलिये सत्यकाम जाबाल हूं। सत्यकाम ने आचार्य गौतम के पास जाकर यही निवेदन किया, और कहा मैं आपके चरणों में बैठ विद्याभ्यास करना चाहता हूं। गौतम ने उसकी माता के सत्यभाषण तथा सत्यकाम

के सत्याचरण सरलभाव गुरु में श्रद्धा विद्याध्ययन में अभिरुचि आदि गुणों को जांचकर उसे वेदाभ्यास का अधिकारी समझा तथा उपनयनसंस्कारपूर्वक वेदाध्ययन कराया।

उपनिषद् के अनुसार सत्यकाम के इस आचरण पर आचार्य ने ये शब्द कहे– 'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति, समिधं सोम्याहर, उप त्वा नेष्ये, न सत्यादगाः'। ब्रह्मविद्या के अभ्यास में बाधक दुर्गुणों से युक्त व्यक्ति ऐसा स्पष्ट कथन करने की क्षमता नहीं रखता, मैं तुम्हें वेदाध्ययन कराऊँगा, तुमने सचाई को नहीं छोड़ा। विद्याविरोधी दुर्गुणों के अभाव का निश्चय कर लेने पर आचार्य गौतम ने सत्यकाम को वेदविद्या के अध्ययन में अधिकारी समझा। यही स्थिति रैक्व के द्वारा जानश्रुति को ब्रह्मविद्या का उपदेश देने के विषय में है। ब्रह्मविद्या जानने के लिये जानश्रुति की उत्कट अभिलाषा, उसके निर-भिमान श्रद्धा सरलता सेवा आदि गुणों को देख तथा उद्दण्डता उपेक्षा आदि दुर्गुणों के अभाव को उसमें जांचकर रैक्व उसे विद्या का उपदेश करने के लिये प्रवृत्त हुआ। मनुस्मृति [२।११३] में कहा है—

विद्ययैव समं कामं मर्त्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥

ब्रह्मवादी वेदाध्यापक भले ही विद्या को अपने साथ लेकर मर जाय, पर घोर विपत्ति में भी ऊसर में इसे न बोये; अर्थात् अयोग्य पात्र में इसका वितरण न करे। उक्त दुर्गुणों में डूबे हुए अनधिकारी को अध्ययन न करावे।

छान्दोग्य उपनिषद् [४।४।५] के इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है, कि आचार्य गौतम ने सत्यकाम को विद्याध्ययन प्रारम्भ कराने से पूर्व उपनयन संस्कार संपन्न करने के लिये समिधाहरण का आदेश दिया है। बालक सत्यकाम के लिये आचार्य के समीप विद्याभ्यास प्रारम्भ करने का यह सर्वप्रथम अवसर है, इसलिये आचार्यद्वारा उसका उपनयन संस्कार कराया जाना आवश्यक है, जैसाकि पहले स्पष्ट किया गया। बड़ी आयु में ब्रह्मविद्या के विशिष्ट अंशों की जानकारी के लिये किसी विशेषज्ञ गुरु के पास जाने पर उपनयन संस्कार अनपेक्षित होता है, इस विषय के अनेक प्रसंगों का उल्लेख गतसूत्र में किया गया। इसीकारण जानश्रुति के प्रसंग में उपनयन का उल्लेख न होने से यह परिणाम निकालना अयुक्त है, कि उसे शूद्र समझा जाने के कारण ऐसा हुआ। रैक्व के द्वारा उसके लिये 'शूद्र' सम्बोधन किये जाने का कारण स्वयं सूत्रकार ने निर्दिष्ट कर दिया है। सभी आधारों पर उसका क्षत्रिय राजा होना स्पष्ट है।

वस्तुतः चालू प्रसंग में शूद्र के उपनयन-अनुपनयन का कोई प्रश्न नहीं है। शास्त्र में तीन वर्णों के नाम से जो उपनयन का उल्लेख है, वह आचार्यद्वारा बालक की परीक्षा के परिणामस्वरूप है। आचार्य इस बात की परीक्षा करता है, कि बालक में किन गुणों के विकास की योग्यता है, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य के रूप में उन्हीं के विकास के लिये वह प्रयास करता है, उसीका प्रकट व्यावहारिकरूप उपनयन है। समाज में शूद्र वही

तत्त्व है, जिसमें ऐसा प्रयास करने पर भी विद्योपयोगी गुणों का विकास नहीं होपाता, ऐसा वर्ग समाज में केवल शारीरिक श्रम के लिये उपयुक्त समझाजाता है। उसके लिये उपनयन अथवा ब्रह्मविद्या का प्रश्न नहीं उठता। यदि इस वर्ग में कोई विशिष्ट संस्कारी आत्मा किन्हीं निमित्तों से विद्योपयुक्त गुणों के उद्भावन में सफल होजाता है, तो अभिलषित ब्रह्मविद्या आदि के लिये वह पूर्ण अधिकारी होता है, उस दशा में उपनयन का होना न होना उसमें बाधक नहीं है। यह भी ध्यान देने योग्य है, कि शूद्र ब्राह्मण आदि पद गुणवाचक हैं, इनमें जाति अथवा जन्म प्रवृत्तिनिमित्त नहीं। सत्यकाम को उसके विशिष्ट गुणों के कारण वेदादि के अध्ययन में अधिकारी माना गया है, जन्म के कारण नहीं ॥३७॥

शिष्यद्वारा प्रस्तुत पूर्वोक्त जिज्ञासा की शान्ति के लिये आचार्य सूत्रकार गतसूत्र में प्रतिपादित अर्थ को प्रकारान्तर से दृढ़ करता है—

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च ॥३८॥

[श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्] श्रवण, अध्ययन और अर्थ के प्रतिषेध से [स्मृतेः] स्मृति से [च] तथा। पूर्वोक्त सत्य, सरलता, ब्रह्मचर्य आदि गुणों के न होने पर उस व्यक्ति के लिये वेदादि का सुनना, पढ़ना तथा उसके द्वारा अनुष्ठान का प्रतिषेध है, तथा स्मृति प्रमाण से यह विदित होता है।

जिन व्यक्तियों में ईर्ष्या, असूया, ब्रह्मचर्य का अभाव, उद्दण्डता, अध्ययन में अरुचि आदि दोष विद्यमान हैं, उनके लिये वेदादि के श्रवण अध्ययन और अर्थ का प्रतिषेध होने से वेदविद्या में उनका अधिकार नहीं होता। अन्य के द्वारा पढ़े जाने पर दूसरे व्यक्तियों द्वारा जो उसे सुनना है, वह 'श्रवण' कहाता है। गुरुमुख से स्वयं पढ़ना 'अध्ययन'' है। अधीत के अनुसार यज्ञादि विहित कर्मों का अनुष्ठान करना 'अर्थ' है; अथवा वह भी अर्थ है जो अध्ययन के अनन्तर वेदादि के मनन से उसके सार एवं रहस्य को समझना है। ब्रह्मविद्या के श्रवण आदि का उन व्यक्तियों के लिये निषेध है, जिनमें ईर्ष्या आदि पूर्वोक्त दोष विद्यमान हों। ऐसे व्यक्तियों को विद्या का दान समाज के लिये अभ्युदय का हेतु न होकर अनर्थ का हेतु होसकता है। निरुक्त [२।१।४] में उद्धृत एक सन्दर्भ से यह भाव स्पष्ट होता है—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥

विद्या वेदज्ञ ब्राह्मण के पास आई, उसने कहा–मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारा खज़ाना [शेवधि–निधि] हूं। असूया करनेवाले, उद्दण्ड एवं असंयमी के लिये मुझे मत कहो, जिससे मैं बलवती हो सकूं। स्पष्ट है, ऐसे व्यक्तियों को विद्या देना उसे दुर्बल बनाना है, वे इसका दुरुपयोग कर राष्ट्र को हानि पहुंचाने के कारण बन सकते हैं। इसी

भाव को स्मृति [मनु० २।११४] में कहा है—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥

विद्या ने ब्राह्मण [वेदवेत्ता] के पास आकर कहा—मैं तेरी निधि हूं, मेरी रक्षा कर। असूया करने वाले को मुझे मत दे, मेरी शक्तिमत्ता एवं सफलता इसीमें निहित है। इसीप्रकार गीता [१८।६७] में कहा—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

यह अध्यात्मविषयक ज्ञान ऐसे व्यक्ति को कभी उपदिष्ट नहीं किया जाना चाहिये, जो तपस्वी न हो, विद्या के प्रति भक्ति न रखता हो, आचार्य की सेवा करने के लिये उत्सुक न हो, उसकी अनुकूलता का ध्यान न रखता हो, तथा जो ईश्वर के प्रति आस्तिक बुद्धि रखनेवाला न हो।

अन्य उपनिषदादि वैदिक साहित्य में इस अर्थ का प्रतिपादन हुआ है। श्वेताश्वतर उपनिषद् [६।२२] में बताया—'नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः' अध्यात्मशास्त्रों में अति प्राचीनकाल से प्रतिपादित यह परम रहस्य ऐसे व्यक्ति को न देना चाहिये, जो शान्त न हो, उद्दण्ड हो; जो आज्ञाकारी न हो, असंयत हो तथा जो श्रद्धा न रखता हो। इसी भाव को मुण्डक उपनिषद् [३।२।१०-११] में कहा—'क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षि श्रद्धयन्तः। तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्॥ तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच-नैतदचीर्णव्रतोऽधीते।' वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान करनेवाले, श्रद्धापूर्वक वेद का अध्ययन करनेवाले, ब्रह्म में उत्कृष्ट आस्था रखनेवाले, एकमात्र परमात्मतत्त्व में अपने आपको श्रद्धापूर्वक समर्पण करदेने वाले, विधिपूर्वक अध्यात्ममार्ग के नियमों पर आचरण करनेवाले व्यक्तियों को ही इस ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया जाना चाहिये। उस सत्य-पुरुष तत्त्व का उपदेश अङ्गिरा ऋषि ने दिया। जो व्यक्ति अध्यात्मविषयक नियमों पर आचरण नहीं करता, उसे इस विद्या के अध्ययन में अधिकार नहीं है।

'शब्दादेव प्रमितः' [१।३।२४] आदि सूत्रों से ब्रह्म के 'अंगुष्ठमात्र' रूप में वर्णन का आधार—हृदयदेश में उसका साक्षात्कार होना—बताया। प्राणीमात्र में ब्रह्म का जिज्ञासु केवल मानव होता है, उसके हृदयदेश की अपेक्षा से उपास्य ब्रह्म को 'अंगुष्ठमात्र' कहा है। ब्रह्मजिज्ञासा के साथ शास्त्र के अध्ययन श्रवण में भी मनुष्यमात्र का अधिकार होने से प्रसंगवश इस विषय का विवेचन गतसूत्रों में किया। इसका तात्पर्य केवल यह बताना है, कि मनुष्यमात्र में से शास्त्र के अध्ययन श्रवण में कौन व्यक्ति अधिकारी है, कौन नहीं। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं, कि शूद्र के घर में उत्पन्न बालक शास्त्र के अध्ययन श्रवण में अनधिकारी है। कौन व्यक्ति अधिकारी हैं, इसका

विवरण गतसूत्रों में दे दिया गया है। पच्चीसवें [१।३।२५] सूत्र में स्पष्ट 'मनुष्य' पद का निर्देश होने से सूत्रकार का तात्पर्य मनुष्यमात्र को विद्या में अधिकारी मानना है, अन्यथा वहां 'ब्राह्मण' अथवा 'द्विज' आदि पदों में से किसीका निर्देश किया जासकता था। सूत्रकार ने जहां अधिकारी-क्षेत्र को सीमित किया है, उसमें शूद्रकुलोत्पन्न व्यक्ति का कोई संकेत नहीं। इसरूप में सूत्रार्थ समझना सूत्रकार के आशय के अनुरूप है ॥३८॥

पूर्वप्रकरण में ब्रह्म के 'अंगुष्ठमात्र' कथन प्रसंग से कतिपय अधिकार संबन्धी आनुषंगिक विषयों का विचार किया गया। ब्रह्मस्वरूप को स्पष्ट करने के लिये सूत्रकार ने–अध्यात्म प्रसंगों में 'आकाश' आदि पदों का प्रयोग प्रकरणानुसार ब्रह्म का निर्देश करता है–यह स्पष्ट किया। उसी क्रम को चालू रखते हुए, 'प्राण' पद के प्रयोगविषयक संदेह का सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—

प्राणः कम्पनात् ॥३९॥

[प्राणः] प्राण [कम्पनात्] कम्पन–कंपाने से। 'प्राण' पद ब्रह्म का वाचक है, क्योंकि वहां 'प्राण' को जगत् का कंपाने वाला कहा है।

कठ उपनिषद् [२।३।२] में कहा–'यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।' जो कुछ यह समस्त जगत् बाहर निकला हुआ प्राण में कांप रहा है। जो इस महद्भय उठे हुए वज्र को जानलेते हैं, वे अमृत हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में 'प्राण' पद का प्रयोग ब्रह्म के लिये हुआ है। यद्यपि 'प्राण' पद का साधारण प्रयोग शरीरवर्ती पांच वृत्तियों वाले वायु के लिये होता है, जो लोक व शास्त्र में प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान नामों से प्रसिद्ध है। परन्तु उपनिषद् के उक्त सन्दर्भ में 'प्राण' पद का यह अर्थ संभव नहीं; कारण यह है, कि उपनिषद् वाक्य में इस प्राण की तीन विशेषताओं का उल्लेख है। १–समस्त विश्व इस 'प्राण' के आधार पर एजन-कम्पन-गति करता है। २–यह महान उद्यत वज्र के समान भयावह है। ३–इसके जानलेने से अमृत की प्राप्ति होती है। ये तीनों बातें शरीरगत प्राण, अथवा विश्वगत भौतिक वायु में घट नहीं सकतीं। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्यत्र इनका सामञ्जस्य असंभव है।

'एजन' या कम्पन साधारण गति अथवा सत्ता का द्योतक है। समस्त विश्व में एक 'गति' है; सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु से लेकर महान से महान सूर्यादि लोक-लोकान्तर तक प्रत्येक तत्त्व गतिशील है। ऐसा यह जगत् अपने किसी मूलकारण से निकलकर परिणत होकर इस रूप में प्रकट होरहा है। समस्त चेतन अचेतन पदार्थ इस गति से ओत-प्रोत हैं। प्रत्येक तत्त्व अपने व्यापार में नियमपूर्वक प्रवृत्त होरहा है, यह इनके गतिशील होने का प्रयोजक है। चेतन में गति प्रत्यक्ष है, यह तथ्य किसी से छिपा नहीं, कि गति का प्रेरक सदा चेतनतत्त्व रहता है। जैसे समस्त प्राणी अथवा जन्तु-जगत् में–जहां जीवात्म-चेतन विद्यमान रहता है–गति प्रत्यक्षसिद्ध है; ऐसे सूर्य चन्द्र पृथिवी

अग्नि वायु आदि समस्त अचेतनतत्त्व गतिशील जाने जाते हैं। जैसे देहादि, प्राण से अनुप्राणित होते हैं, ऐसे सूर्यादि-परमाणुपर्यन्त विश्व किसी प्राण से अनुप्राणित है। विश्व में गति व प्रेरणा को करनेवाला जो तत्त्व है, उक्त उपनिषद् सन्दर्भ में उसीको 'प्राण' कहा है। उसीके आधार पर अथवा उसीसे प्रेरित होकर यह विश्व गतिशील है—'एजति'—कांप रहा है, निरन्तर गति कररहा है, यह संसार का गतिशील अस्तित्व उस 'प्राण' पर निर्भर है। ऐसा 'प्राण' केवल ब्रह्म संभव है, अन्य कोई तत्त्व नहीं।

वह महान उद्यत वज्र के समान भयावह है, यह कथन उसके अनन्य शासक-भाव को प्रकट करता है। जैसे लोक में प्रत्येक व्यक्ति राजा आदि के भय से शासन-व्यवस्था में रहने का प्रयास करता है; यदि वह शासन के अनुकूल आचरण न करे, तो उसके सिर पर शासनदण्ड का प्रहार होसकता है, यह भय उसे बना रहता है। इसीप्रकार समस्त संसार जो किसी नियम व व्यवस्था के अनुसार संचरण कररहा है, यह सब मानो उस 'प्राण' के भय से होरहा है। वह इसका अनन्य संचालक है। इस रूप से 'प्राण-ब्रह्म' का वर्णन उपनिषद् के अगले सन्दर्भ [कठ० २।३।३] में किया—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

अग्नि और सूर्य उसी 'प्राण' के भय से तप रहे हैं। इन्द्र और वायु का अस्तित्व उसीके आधार पर है। लोकों का अवसान वही करता है। उपनिषद् में अन्यत्र [तै० २।८।१।] भी ऐसा वर्णन है—'भीषाऽस्माद् वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च, मृत्युर्धावति पञ्चमः ।।' वायु आदि समस्त तत्त्व प्रशास्ता परब्रह्म के भय से मानो अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्त रहते हैं। नियन्ता का नियन्त्रण उन्हें एक व्यवस्था में कसकर रखता है, इसी भाव को प्रशास्ता के भयहेतुकरूप में उपनिषत्कार ने वर्णन किया। सर्वान्तर्यामी ब्रह्म ही लोकों का प्रशास्ता संभव है, इसकारण उक्त सन्दर्भ में 'प्राण' पद का प्रयोग ब्रह्म के लिये निश्चित होता है।

यहां 'प्राण' पद के ब्रह्मवाचक होने में तीसरा कारण है, प्राण के ज्ञान से अमृत-फल की प्राप्ति। उपनिषद् में कहा—'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।' शास्त्र में सर्वत्र ब्रह्म-ज्ञान से अमृत—मोक्ष की प्राप्ति बताई है। यजुर्वेद [३१।१८] में कहा—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

उस स्वप्रकाश परब्रह्म चेतनतत्त्व को मैं जानूं, जो अज्ञान—अन्धकार से परे है, अचेतन प्रकृति एवं प्राकृत जगत् से परमोत्कृष्ट है, उसका नियन्ता है। क्योंकि उसको जानकर ही जीव मृत्यु-दुःख से पार पासकता है, मोक्ष को प्राप्त होपाता है; उस आनन्द की प्राप्ति के लिये अन्य कोई मार्ग नहीं है। मोक्ष का एकमात्र साधन ब्रह्मज्ञान है; तथा उपनिषत् संदर्भ में 'प्राण' के जानने से अमृतप्राप्ति का वर्णन है, इसलिये 'प्राण' पद

यहां ब्रह्म का बोधक है, यह निश्चय होता है। उपनिषद् के उक्त सन्दर्भ के पूर्वापर प्रसंग से भी यह अर्थ पुष्ट होता है। इसके प्रारम्भिक 'तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृत-मुच्यते। तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे' [कठ० २।३।१] इत्यादि सन्दर्भ में ब्रह्म का वर्णन है। वही आगे चालू है। अतः अगले सन्दर्भ में 'प्राण' पद से ब्रह्म का ग्रहण अभीष्ट है।

उपनिषद् वाक्य में प्रयुक्त 'प्राण' पद की ब्रह्मवाचकता के जिन लिंगों—एजन, भय आदि—का निर्देश हुआ है, वह सब वेदमूलक समझना चाहिये। संहिताओं में ब्रह्म-विषयक ऐसे वर्णन उपलब्ध होते हैं। वस्तुमात्र के एजन—गतिशील होने में परब्रह्म हेतु है, ऐसा संकेत अथर्ववेद [१३।३।३] के एक मन्त्रांश से प्रकट है—'यो मारयति प्राण-यति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा' जो मारता है और जीवन देता है—गति देता है; जिससे समस्त लोक-लोकान्तर जीवन पाते हैं; निरन्तर गति पाते हैं। वह तत्त्व ब्रह्म है, जगत् के प्रलय सर्ग एवं स्थिति का नियन्ता। भयरूप में ब्रह्म का वर्णन ऋग्वेद [१।१००।१२] की एक ऋचा में किया—'स वज्रभद् दस्युहा भीम उग्रः सहस्रचेताः शतनीथ ऋभ्वा।' वह सर्वशक्तिमान् परमात्मा दुष्कर्मों के दण्डरूप वज्र को धारण करने-वाला है, वह ऐश्वरी व्यवस्थाओं को बिगाड़ने वालों का घातक है, उन्हें उचित दण्ड देकर सुमार्ग पर लाता है, इसीलिये वह भीम है, उग्र है। वह अनन्तज्ञान का भण्डार है, सबका उपास्य एवं महान है। व्यवस्था के संचालक और दुष्कर्मों के दण्ड-प्रदाता के रूप में परब्रह्म को भीम व उग्र कहा है। अमृतप्राप्ति में ब्रह्मज्ञान की हेतुता का निर्देशक यजुर्मन्त्र प्रथम दे दिया है। फलतः उपनिषद् के प्रस्तुत सन्दर्भ में 'प्राण' पद ब्रह्म का बोधक है, यह निश्चित होता है।

यदि अध्यात्मशास्त्र में कहीं किसी नामपद का निर्देश कर उस तत्त्व के ज्ञान से अमृतप्राप्ति आदि का उल्लेख है; तो उस वर्णन में दो बातों का ध्यान रखना चाहिये। प्रथम—वह पद कहीं ब्रह्म के लिये तो प्रयुक्त नहीं हुआ? यदि ऐसा है, तो उसमें किसी असामञ्जस्य की आशंका नहीं। दूसरे—यदि यह निश्चय है, कि वह पद उस स्थल में ब्रह्म के लिये प्रयुक्त नहीं; तो वह वर्णन औपचारिक अथवा आपेक्षिक समझना चाहिये। 'वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिः, अप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद' [श० ब्रा० १४।६।३।२॥ बृ० ३।३।२] इत्यादि प्रसंग ऐसे ही हैं।

अनेक व्याख्याग्रन्थों में प्रस्तुत सूत्र का पाठ 'कम्पनात्' इतना है। यह केवल हेतुपद है, लक्ष्यपद का निर्देश नहीं। पर अगले सूत्रों में 'ज्योतिः' और 'आकाशः' लक्ष्यपद देकर हेतुपद का निर्देश है। यहां सूत्ररचना में इस क्रम का आदर करते हुए प्रस्तुत सूत्र में 'प्राणः' लक्ष्यपद रख दिया गया है। संभव है, किसी अज्ञात कारणविशेष से यह पद कभी खण्डित होगया हो ॥३९॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, अध्यात्मशास्त्र में अनेकत्र 'ज्योतिः' पद का प्रयोग देखा जाता है, क्या उसे ब्रह्म के अर्थ में समझना चाहिये, अथवा साधारण भौतिक

प्रकाश या चमक के अर्थ में ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

ज्योतिर्दर्शनात् ।।४०।।

[ज्योतिः] ज्योति ब्रह्म है [दर्शनात्] दर्शन से । इन प्रसंगों में प्रारम्भ से 'ब्रह्म' पद अधिकृत चला आरहा है; 'ज्योतिः' पद उन-उन प्रसंगों में ब्रह्म का वाचक है, क्योंकि वह सबका दर्शन—प्रकाशन करनेवाला है, और उसीका अन्तिमरूप से दर्शन-ज्ञान अपेक्षित होता है ।

यद्यपि प्रथम [१।१।२४] 'ज्योतिः' पद की ब्रह्मवाचकता का निश्चय किया गया है, पर उस प्रसंग में 'ज्योतिः' पद का प्रयोग ब्रह्म के लिये होने में जो निमित्त प्रस्तुत किया गया है, वह अन्य अनेक प्रसंगों में लागू नहीं होता । ऐसे प्रसंगों में अन्य प्रवृत्ति-निमित्त के आधार पर 'ज्योतिः' पद का प्रयोग ब्रह्म के लिये हुआ है, यह इस सूत्रद्वारा प्रतिपादित किया है। उपनिषदों में ऐसे प्रसंग अनेक स्थलों में हैं। मुण्डक उपनिषद् [२।२।६—१०] में कहा—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ।।
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम् ।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।

बुद्धि-विज्ञान को प्रकट करनेवाले हिरण्मय [स्वर्णाभ] अतिसूक्ष्म कोश में निर्दोष निरवयव ब्रह्म देखा व जाना जाता है। वह शुद्ध प्रकाशस्वरूप ज्योतियों का ज्योति है, आत्मज्ञानी उसे जानते हैं। वह ज्योतियों का ज्योति कैसे है ? इसी अर्थ को अगले सन्दर्भ में स्पष्ट किया, सूर्य यद्यपि अन्य सब जड़ जगत् का प्रकाशक है, पर ब्रह्म के प्रकाशन में सर्वथा असमर्थ है। ऐसे ही चांद तारे विद्युत् और अग्नि आदि से ब्रह्म प्रकाशित नहीं होता; प्रत्युत उसके प्रकाश से ये सब पदार्थ प्रकाशित हैं। कारण यह है, कि सूर्यादि पदार्थों की इसप्रकार की रचना ब्रह्म के विना असंभव है; इनको यह स्वरूप अथवा अस्तित्व ब्रह्म की प्रेरणा द्वारा प्राप्त होता है। इसलिये इनका प्रकाशित होना ब्रह्म के अस्तित्व पर निर्भर है। उसके प्रकाशन से ये प्रकाशित हैं; इसीकारण वह ज्योतियों का 'ज्योति' है। यहां पर 'ज्योतिः' पद ब्रह्म का वाचक है। आत्म-ज्ञानियों द्वारा उस 'ज्योतिः' को जानने के कथन से भी उसका ब्रह्म होना स्पष्ट होता है। ब्रह्म का साक्षात्कार क्योंकि मस्तिष्कगत हृदयप्रदेश में होता है, उसीको यहां 'हिरण्मय कोश' पदों से कहा है, जो अतिसूक्ष्म है। इसका विवेचन प्रथम [१।३।२४-२५] अंगुष्ठमात्र प्रसंग में कर दिया गया है ।

'ज्योतिः' पदविषयक एक अन्य प्रसंग छान्दोग्य उपनिषद् [८।१२।३] में है—

'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिसंपद्यते स उत्तमपुरुषः।' यह जीवात्मा–जिसने ब्रह्म का साक्षात्कार करलिया है–शरीरसे छूटकर परम ज्योति को प्राप्त होकर अपने केवल चेतनरूप से अभिसम्पन्न रहता है; जिस परम ज्योति को प्राप्त होता है, वह उत्तम पुरुष है, सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म है। आत्मज्ञानी के लिये यह प्रत्यक्ष होता है, कि वह प्रकृति से सर्वथा अतिरिक्त चेतनतत्त्व है। आत्मज्ञान से पूर्व वह प्रकृति से सम्बद्ध रहता है और कर्मानुरूप सुख-दुःख आदि का भोग किया करता है। तब उसे प्रकृति से अतिरिक्त अपने आपका बोध नहीं होता। आत्मबोध होजाने पर वह प्रकृति से उठ जाता है, उसके सम्पर्क में नहीं रहता, आनन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होजाता है। इसी स्थिति को उपनिषद् में कहा–'परं ज्योतिरुप-संपद्य'। यहां 'ज्योतिः' पद का प्रयोग परब्रह्म के लिये है। ब्रह्म को प्राप्त होकर जीवात्मा अपने कैवल्यरूप से विद्यमान रहता है 'स्वेन रूपेणाभिसंपद्यते'। अभिप्राय है, कि प्रकृति के साथ तब उसका संपर्क नहीं रहता।

ऐसा एक प्रसंग बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।१६] में है–'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्'। देव–ज्ञानी ज्योतियों के ज्योति उस अमरणधर्मा तत्त्व की 'आयु' रूप में उसके शाश्वतरूप में उसकी उपासना करते हैं। उपासक के लिये अमरण-धर्मा ज्योतियों का ज्योति तत्त्व ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य संभव नहीं। अतः यहां 'ज्योतिः' पद का प्रयोग ब्रह्म के लिये है, यह निश्चित है। सूर्यादि लोक उसी अप्रतिम तेज से प्रकाशित रहते हैं, ऐसा वर्णन तैत्तिरीय ब्राह्मण [३।१२।६] में उपलब्ध होता है–'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः'। जिस तेज से दीप्त हुआ सूर्य तपता है, वह परब्रह्मरूप तेज है। उपनिषदों के उक्त प्रसंगों में 'ज्योतिः' पद से उसीका वर्णन हुआ है। उन प्रसंगों में 'ज्योतिः' को निरवयव, निर्दोष, अमृत, जिज्ञास्य, उत्तम पुरुष, अन्तिम दर्श-नीय ध्येय बताया है। ये सब स्थिति ब्रह्म में संभव है; इसकारण उन प्रसंगों में 'ज्योतिः' पद से ब्रह्म का वर्णन मान्य है ॥४०॥

'ज्योतिः' पद के प्रसंग से सूत्रकार आचार्य 'आकाश' पद की ब्रह्मवाचकता में अन्य निमित्त का निर्देश करता है—

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥४१॥

[आकाशः] आकाश [अर्थान्तरत्वादि-व्यपदेशात्] भिन्न पदार्थ होने आदि कथन से। आकाश पद का वाच्य ब्रह्म है, क्योंकि नामरूपात्मक जगत् से उसे भिन्न आदि बताया है।

छान्दोग्य उपनिषद् [८।१४।१] में पाठ है–'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा।' नामरूपात्मक जगत् का निर्वहण–उत्पादन, व्यवस्थापन, संहार–करनेवाला 'आकाश' नामक तत्त्व है, नामरूपात्मक जगत् जिससे

भिन्न है, वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वह आत्मा है। उपनिषद् सन्दर्भ में 'अन्तरा' पद-द्वारा नामरूपात्मक जगत् से ब्रह्म के भिन्न होने का निर्देश है। 'अन्तरा' पदद्वारा इस अर्थ का कथन दो प्रकार से होता है। 'अन्तरा' पद का अर्थ 'मध्य' है, समस्त नामरूपात्मक जगत् जिसके मध्य में है, ऐसा है वह 'आकाश'। जगत् हमारी दृष्टि से चाहे कितना ही विस्तृत है, हम उस विस्तार को अतिमहान अथवा किसी भी तरह न नाप सकने के कारण अनन्त भी कहदेते हैं, पर वह उस 'आकाश' तत्त्व के अन्तराल में सीमित रहता है, जो 'आकाश' तत्त्व उसका निर्वहिता अर्थात् नियन्ता है। यह निश्चित है, कि नियन्ता और नियम्य तथा सीमित व असीमित में भेद होना आवश्यक है। दूसरे प्रकार से उपनिषद् पद का अर्थ है—नामरूपात्मक समस्त जगत् के अन्दर वह 'आकाश' तत्त्व व्याप्त है; इसीलिये उसे 'सर्वान्तर्यामी' कहाजाता है, वस्तुमात्र के अन्दर व्याप्त होकर वह सबका नियन्त्रण करता है। बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्यामी ब्राह्मण [३।७] में इसका यथायथ वर्णन है। इसप्रकार नियन्ता व नियम्य तथा व्याप्य एवं व्यापक का परस्पर भेद निश्चित है। फलतः नामरूपात्मक जगत् से भिन्न ऐसा 'आकाश' नामक तत्त्व केवल ब्रह्म होसकता है, इसलिये प्रस्तुत सन्दर्भ में 'आकाश' नाम ब्रह्म के लिये प्रयुक्त है, यह निश्चित होता है।

यद्यपि 'आकाश' पद साधारणतया भूताकाश के लिये प्रसिद्ध है, पर उसमें नामरूपात्मक जगत् का निर्वहण असंभव है, वह जगत् का नियन्ता नहीं होसकता। आगे सन्दर्भ में इसीकारण स्वतः उस 'आकाश' को 'ब्रह्म' बताया है, उसीको आगे 'अमृत' कहा है तथा 'आत्मा' कहा है, 'आत्मा' पद से सर्वान्तर्यामीरूप अर्थ प्रकट होता है। ये सब धर्म भूताकाश में संभव नहीं। अतः यहां 'आकाश' पद ब्रह्म का वाचक है, क्योंकि उसे यहां समस्त जगत् से भिन्न कहा है। सूत्र में पठित 'आदि' पद से 'आकाश' के नियन्तृत्व तथा 'ब्रह्म' एवं 'आत्मा' पद से—साक्षात् निर्देश किये जाने—का ग्रहण होता है। इन कारणों से प्रस्तुत सन्दर्भ में 'आकाश' पद का वाच्य ब्रह्म है, यह निर्णीत होता है।

चेतन होने से यद्यपि जीवात्मा किसी अंश में जगत् का निर्वोढा—व्यवस्थापक कहा जासकता है, पर उसके अल्पज्ञ अल्पशक्ति होने से जगत् की उत्पत्ति आदि के नियमन में वह सर्वथा असमर्थ रहता है। मुक्त जीवात्माओं में भी वैसा सामर्थ्य असंभव है। फिर उपनिषद् के उक्त सन्दर्भ में 'आकाश' को जो नामरूपात्मक समस्त जगत् का निर्वोढा कहा है, उसमें ऐसा कोई संकेत नहीं है, जिससे नाम-रूप के किसी अंश-मात्र में निर्वहण की कल्पना के आधार पर 'आकाश' पद का प्रयोग जीवात्मा के लिये माने जाने का अवसर ढूंढा जासके।

प्रस्तुत उपनिषद् सन्दर्भ में आकाशपदवाच्य ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये जो उसके व्यापक व सर्वान्तर्यामीरूप का उपपादन किया, वह अध्यात्मशास्त्र

के अन्य अनेक प्रसंगों में वर्णित है। यजुर्वेद [३२।८] में कहा–'स ओतश्च प्रोतश्च विभूः प्रजासु' वह सर्वान्तर्यामी परमात्मा समस्त प्रजाओं में ओतप्रोत है, व्याप्त है। श्वेताश्वतर उपनिषद् [३।२१[में बताया–'वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।' उस नित्य अजर अमर तत्त्व को हमें जानना चाहिये, जो सर्वव्यापक होने से सर्वान्तिर्यामी और सबका साक्षी है।

अध्यात्म प्रसंगों में 'आकाश' पद का प्रयोग ब्रह्म के लिये हुआ है, इसका विवेचन यद्यपि प्रथम [१।१।२२] कर दिया गया है। पर अभी पहले [३९, ४०] सूत्रों में 'प्राण' तथा 'ज्योतिः' ऐसे पदों का विवेचन प्रस्तुत किया, जिनपर पहले [प्राण–१।१।२८; ज्योतिः–१।१।२४] विचार किया जाचुका है। यहां पर पुनः इन पदों पर विवेचन प्रस्तुत करने का विशेष कारण है–इन पदों का प्रवृत्तिनिमित्तभेद, जो उन-उन सूत्रों में निर्दिष्ट हेतुपदों से स्पष्ट है। प्राण, ज्योतिः तथा आकाश पदों का प्रयोग उपनिषदों में एकाधिक बार ब्रह्म के लिये हुआ है; वहां विभिन्न स्थलों में इन पदों के उक्त अर्थ में प्रयोग के लिये प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न हैं, इसकारण पुनः इन पदों के विषय में यहां विवेचन प्रस्तुत किया। 'आकाश' पद के पुनर्विवेचन के अवसर पर जो हेतु इसकी ब्रह्मवाचकता में प्रस्तुत किया गया, उससे यह स्पष्ट होजाता है, कि ब्रह्म जगत् से सर्वथा भिन्न है। जगद्रूप में ब्रह्म को देखना व समझना सर्वथा अज्ञानमूलक है। भले ही ब्रह्म जगत् का कारण है, पर वह इसका नियन्ता है, स्वरूप नहीं। जो विचारक ऐसा समझते हैं, कि जगत् ब्रह्म से अभिन्न है, अथवा यह ब्रह्म का स्वरूप है, उन्हें इस सूत्र के स्वारस्य पर ध्यान देना चाहिये ॥४१॥

शिष्य आशंका करता है, जगत् ब्रह्म से भिन्न रहो, जगत् जड़ है, यह जड़तत्त्व का विकार या परिणाम सम्भव है; पर जीवात्मा तो चेतनतत्त्व है, ब्रह्म से उसका अभेद क्यों नहीं? छान्दोग्य उपनिषद् [६।६-७] के 'एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इत्यादि सन्दर्भ से जीव-ब्रह्म का अभिन्न होना प्रतीत होता है। यदि यह तथ्य है, तो गतसूत्र के विवेचन में नाम-रूप का निर्वहिता जीवात्मा भी हो-सकता है। इस आशंका के समाधान के लिये सूत्रकार ने जीव और ब्रह्म के भेद को स्पष्ट करते हुए कहा—

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥४२॥

[सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः] सुषुप्ति और उत्क्रान्ति में [भेदेन] भेद से। प्रथम सूत्र से 'व्यपदेशात्' की अनुवृत्ति यहां अभीष्ट है, सुषुप्ति और उत्क्रान्ति में भेद से व्यपदेश-कथन होने के कारण जीव और ब्रह्म का भेद है, अभेद नहीं।

जीवात्मा की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और उत्क्रान्ति नामक अवस्थाओं में पहली दो अवस्था ऐसी हैं, जिनमें जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट प्रतीत होता है। जीवात्मा

इन अवस्थाओं में सांसारिक सुख-दुःख आदि वैषयिक भोगों को अनुभव करता हुआ देखा जाता है। शास्त्रकारों के अनुसार ब्रह्म कभी देहादि बन्धन में आकर वैषयिक सुख-दुःख आदि का भोक्ता नहीं माना गया। इसलिये इन अवस्थाओं के आधार पर जीव-ब्रह्म का भेद स्पष्ट होने पर भी जीवात्मा की सुषुप्ति अवस्था ऐसी है, जहां जीव ब्रह्म का ऐक्य होजाना सम्भव है। प्रश्न उपनिषद् के चौथे प्रश्न की पांचवीं कण्डिका में स्वप्न अवस्था का वर्णन कर छठी कण्डिका में जीवात्मा की सुषुप्ति अवस्था का वर्णन है। वहां बताया कि जीवात्मा उस अवस्था में प्रकाशमय परमात्मतत्त्व से अभिभूत होजाता है, तब वह स्वप्न नहीं देखता, तब इस शरीर में सुख होताहै। यह वर्णन सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा का ब्रह्म के साथ एकाकार होना स्पष्ट करता है। माण्डूक्य उपनिषद् [११] में सुषुप्ति अवस्था को 'प्राज्ञ' स्वरूप माना है। 'प्राज्ञ' पद परमात्मा के लिये प्रयुक्त है। इसलिये सुषुप्ति में ब्रह्म के साथ जीवात्मा की एकता होना प्रतीत होता है, यह स्थिति गतसूत्र-द्वारा प्रतिपादित अर्थ में शिष्यद्वारा उत्थापित आशंका को पुष्ट करती है। सूत्रकार ने इसका समाधान किया।

सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा का ब्रह्म से भेद शास्त्रकारों ने कथन किया है। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।३।२१] में कहा–'तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्, एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्'। यह सन्दर्भ उपनिषद् में सुषुप्ति अवस्था के वर्णन का है। इसमें 'पुरुष' पद जीवात्मा तथा 'प्राज्ञ' पद परब्रह्म के लिये प्रयुक्त हुआ है। अभी ऊपर की पंक्तियों में माण्डूक्य उपनिषद् के आधार पर सुषुप्ति अवस्था को प्राज्ञस्वरूप कहा गया। बृहदारण्यक के प्रस्तुत सन्दर्भ में बताया–जैसे अनुकूल भार्या से सम्बद्ध कोई पुरुष उस अवसर पर बाह्य आन्तर का कोई अन्य ज्ञान नहीं रखता, ऐसे ही यह पुरुष [जीवात्मा] सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ आत्मा [परमात्मा] के साथ सम्बद्ध हुआ [-संपरिष्वक्तः] किसी अन्य बाह्य एवं आन्तर विषय को नहीं जानता। यहां शारीर आत्मा [जीवात्मा] का प्राज्ञ-परब्रह्म से स्पष्टरूप में भेद का कथन है। अन्यथा इनके सम्बन्ध [संपरिष्वजन] का निर्देश नहीं किया जासकता था। तथा बाह्य और आन्तर का न जानना जीवात्मा की उस अवस्था में पृथक् स्थिति का निर्देश करता है। ब्रह्म सर्वज्ञ है, उसका नित्य प्रज्ञा से कभी वियोग होना सम्भव नहीं। इसप्रकार सुषुप्ति का यह वर्णन उस अवस्था में जीवात्मा और ब्रह्म के भेद को स्पष्ट करता है, अभेद को नहीं।

प्रश्न उपनिषद् [४।६] के उक्त प्रसंग से सुषुप्ति में जीव-ब्रह्म का अभेद सिद्ध नहीं होता। वहां उस अवस्था में जीवात्मा को स्वप्न आदि न होने के कारण स्व[illegible] में होनेवाली पतिकूल वेदनाओं का अभाव सुखरूप में वर्णन किया है। सुषुप्ति के ऐसे वर्णन-द्वारा उस अनुकूल अनुभूति की एक झलक–एक आभासमात्र दिखाने के लिये शास्त्रकारों का यह प्रयास है, जो मोक्ष अवस्था में सम्भव है। वहां जीवात्मा का ब्रह्म से अभेद नहीं

होता, क्योंकि–'अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' [छा० ८।१२।३] इस शरीर से उठकर जीवात्मा परमज्योति को प्राप्त होकर अपने रूप से अभिनिष्पन्न रहता है, उसका अपना रूप सिद्ध रहता है।

जीवात्मा की उत्क्रान्ति अवस्था के वर्णन में जीव-ब्रह्म के भेद का व्यपदेश है। बृहदारण्यक उपनिषद् में आगे [८।३।३५] बताया–'तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद् यायात्, एवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन् याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति।' जिसप्रकार एक गाड़ी उपयुक्त भार को लादकर गाड़ीवानद्वारा चलाई जाकर चर्रमर्र करती हुई चल पड़ती है; इसीप्रकार यह शारीर जीवात्मा कर्मफलप्रदाता परब्रह्म से ऋतव्यवस्थानुसार संचालित हुआ अन्त समय में श्वास ऊपर को उखड़ने की स्थिति आने पर अवश हुआ शरीर एवं सम्बन्धियों के त्याग की वेदना का अनुभव करता कराहता चला जाता है। शरीर को छोड़ परलोक जाने की स्थिति का नाम उत्क्रान्ति है। बृहदारण्यक के प्रस्तुत सन्दर्भ में उसीका वर्णन है। यहां शारीर आत्मा जीवात्मा है और प्राज्ञ परब्रह्म परमात्मा। शरीर छोड़कर जानेवाला जीवात्मा कर्मफलप्रदाता विश्व के अधिष्ठाता ब्रह्म से भिन्न है, यह इस वर्णन से स्पष्ट होता है। इसीके अनुसार शारीर आत्मा का प्रथमा विभक्तिद्वारा तथा प्राज्ञ परब्रह्म का तृतीया विभक्तिद्वारा निर्देश हुआ है।

जैसे सुषुप्ति एवं उत्क्रान्ति अवस्थाओं में ब्रह्म से जीवात्मा के भेद का वर्णन किया गया, ऐसे अन्य सब अवस्थाओं में जीवात्मा का ब्रह्म से भेद निश्चित है। इसलिये किसी अवस्था में जीवात्मा विश्वात्मक समस्त नाम-रूप का निर्वोढा–व्यवस्थापक सम्भव नहीं। छान्दोग्य उपनिषद् [६।६-७] के सन्दर्भों का विवेचन पहले [ब्र० सू० १।१।१३] कर दिया गया है ॥४२॥

जीवात्मा परब्रह्म से भिन्न है, इस सिद्धान्त का वर्णन प्रकारान्तर से भी शास्त्रकारों ने किया है, इस अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने बताया–

पत्यादिशब्देभ्यः ॥४३॥

[पत्यादि-शब्देभ्यः] पति आदि शब्दों से। शास्त्रों में ब्रह्म के लिये निर्दिष्ट 'पति' आदि शब्दों से जीव-ब्रह्म के भेद का निश्चय होता है।

अध्यात्मशास्त्रों में जहां ब्रह्म का वर्णन है, वहां ब्रह्म को समस्त जगत् का पति अधिपति ईशान ईश्वर आदि पदों से स्मरण किया है। सूत्रपठित 'आदि' पद से अधिपति ईशान आदि पदों का ग्रहण है। समस्त जगत् के पति या पालक आदि होने के रूप में केवल ब्रह्म का वर्णन होता है, जीवात्मा का नहीं। इससे स्पष्ट है, कि जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न है। यदि ब्रह्म और जीवात्मा का अभेद होता, तो ब्रह्म के समान जीवात्मा के लिये सर्वजगत्पति, विश्वाधिपति, सर्वेशान आदि पदों का प्रयोग देखा जाता। ऐसा प्रयोग कहीं

न होने से निश्चित है, कि जीव और ब्रह्म दोनों का परस्पर तात्त्विक भेद है।

परब्रह्म परमात्मा के लिये इन पदों का प्रयोग सर्वत्र वेद उपनिषद् आदि में देखा जाता है। ऋग्वेद [१।१०१।५] में बताया—'यो विश्वस्य जगतः प्राणतस्पतिः' जो समस्त चराचर सक्रिय जगत् का 'पति' है। यह समग्र ऐश्वर्ययुक्त परमात्मा का वर्णन है। ऐसे ही ऋग्वेद आदि [१०।१२१।३।। यजु० २३।३, तथा २५।११।। अथर्व० ४।२।२] में वर्णन है—'यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव, य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः।' ऋग्वेद के इस सूक्त का देवता 'प्रजापति' है, समस्त कार्याकार्य का स्वामी अथवा पालक। वह परब्रह्म से अन्य सम्भव नहीं। उसीके विषय में कहा—जो अपने माहात्म्य के कारण इस समस्त जीवित अजीवित क्रियाशील जगत् का एकमात्र राजा है, तथा जो समग्र प्राणियों का ईश है, सब पर नियन्त्रण करता है। बृहदारण्यक [२।५।१५] में कहा—'स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा।' वह यह सर्वव्यापक परब्रह्म सब भूतों का अधिपति है, सब भूतों का राजा है। बृहदारण्यक में अन्यत्र [४।४।२२] कहा—'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपालः' वह महान नित्य सर्वव्यापक परमेश्वर सबका ईश्वर-ईशिता-नियन्ता है, भूतों का अधिपति है, भूतों का पालक व स्वामी है। इसी उपनिषद् [बृ० ५।६।१] में और कहा—'सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च'। जो कुछ यह विश्व है, उस सबका यह परब्रह्म अधिपति एवं प्रशासक है। 'पति' आदि शब्दों द्वारा ऐसा वर्णन जीवात्मा का कहीं उपलब्ध नहीं होता, इसलिये यह निश्चित है, कि जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न है ॥४३॥

इति प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः।

अथ प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः

शास्त्र के प्रारम्भ में ब्रह्म की जिज्ञासा का उपक्रम किया है। जिज्ञासा की पूर्ति के लिये ब्रह्म के स्वरूप का उपपादन आवश्यक है, जो गत तीन पादों में किया गया। पहले ब्रह्म के तटस्थ और स्वरूपलक्षणों का व्याख्यान है। अनन्तर अध्यात्मशास्त्रों के अनेक ऐसे सन्दर्भों के विषय में विवेचन है, जिनमें ब्रह्मस्वरूप को समझने के लिये स्पष्ट अथवा अस्पष्ट संकेत हैं। अध्यात्मशास्त्रों में कतिपय ऐसे वचन उपलब्ध हैं, जो ब्रह्म की जगत्कारणता पर प्रकाश डालते हैं, पर उनमें कुछ सन्देह के अवसर हैं। प्रस्तुत शास्त्र के प्रारम्भ में ब्रह्म की जगत्कारणता का उल्लेख हुआ है; उसी अर्थ की पुष्टि के लिये इस पाद का आरम्भ है। उस प्रसंग में आचार्य सूत्रकार ने कहा—

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपक-
विन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥१॥

[आनुमानिकम्] अनुमान से बोधित [अपि] भी [एकेषाम्] कतिपय शास्त्र-प्रवक्ताओं के [इति] यह [चेत्] यदि (कहा जाय, तो ठीक) [न] नहीं; [शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः] शरीरदृष्टान्त से कथन किये गये के ग्रहण से, [दर्शयति] दिखाता है–प्रतिपादन करता है [च] और। यदि ऐसा कहा जाय, कि कतिपय शास्त्रप्रवक्ताओं ने अनुमानबोधित तत्त्व को ब्रह्म के समान जगत् का कारण माना है, तो ऐसा कहना ठीक न होगा। कारण यह है, कि शास्त्र ऐसे प्रसंग में ब्रह्म के शरीरदृष्टान्त से कथन किये गये तत्त्व का ग्रहण करता है, और उसीका प्रतिपादन करता है।

सूत्र के 'आनुमानिकम्' पद का अर्थ है–अनुमानद्वारा विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया गया तत्त्व। यहां 'अनुमान' का अर्थ तर्क, युक्ति अथवा केवल प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव वाक्यसमूह अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि जहां अध्यात्मशास्त्र में उस तत्त्व का प्रतिपादन है, वहां पञ्चावयव आदि का कोई निर्देश व सम्पर्क नहीं, पर प्रस्तुत सूत्र का विवेचनीय लक्ष्यप्रदेश शास्त्र का वही सन्दर्भ है; इसलिये 'अनुमान' पद का यहां अर्थ है–ऋषियों द्वारा किया गया स्मरण अथवा मनन। उपनिषद्-प्रवक्ता ऋषियों ने उन सन्दर्भों में उस तत्त्व का मननपूर्वक स्मरण किया है, इसकारण सूत्रकार ने उस तत्त्व को यहां 'आनुमानिक' पदद्वारा निर्दिष्ट किया। आथर्वणिक प्रवक्ता आचार्यों ने मुण्डक उपनिषद् [२।१।१] में उस तत्त्व का इसप्रकार वर्णन किया है—

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥

जैसे अच्छीतरह जलती हुई आग से सहस्रों समानरूप चिनगारियां प्रकट होती हैं; हे सोम्य! ऐसे ही अक्षर [तत्त्व] से विविध प्रकार के पदार्थ प्रकट होजाते हैं, और अवसर आने पर उसीमें लीन होजाते हैं। यहां स्पष्टरूप से 'अक्षरतत्त्व' को जगत् के जन्म आदि का स्वतन्त्ररूप में कारण बताया है। यह 'अक्षर' तत्त्व शास्त्रपरम्परा में प्रकृति, प्रधान तथा माया आदि पदों से व्यवहृत किया जाता है। यहां पर 'यया तदक्षरमधिगम्यते' [मुण्ड० १।१।५] 'तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्' [मुण्ड० १।१।७] इत्यादि के समान 'अक्षर' पद से ब्रह्म का ग्रहण नहीं किया जासकता, क्योंकि यहां अक्षरतत्त्व से समानरूप पदार्थों की उत्पत्ति का कथन है। यह 'अक्षर' पद का 'प्रकृति' अर्थ मानने पर संभव है, जड़ जगत् के समान इसका कारण 'अक्षर' तत्त्व जड़ होना चाहिये। अन्यथा सन्दर्भ में पठित 'सरूपाः' पद असंगत होजायगा, इसलिये यहां 'अक्षर' पद चेतन ब्रह्म का वाचक न होकर प्रकृति का वाचक है। इसके अतिरिक्त अगले [मुण्ड० २।१।२] सन्दर्भ में ब्रह्म को 'अक्षरात् परतः परः' कहा है। यहां 'अक्षर' पद से वही अर्थ अभिप्रेत है, जो पहले सन्दर्भ में है। 'अक्षर' पद का प्रकृति अर्थ मानकर इस वाक्य की संगति संभव है। अक्षर-प्रकृति से 'पर' जीवात्मा और उससे 'पर' ब्रह्म है। ब्रह्म सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है, वही ध्येय व उपास्य है, यही इसका तात्पर्य है।

इससे यह परिणाम निकलता है, कि आथर्वणिक प्रवक्ता आचार्यों ने 'अक्षर' पद-वाच्य प्रकृति को जगत् का स्वतन्त्र कारण माना है; ठीक ऐसा ही कारण, जैसा अन्यत्र ब्रह्म को बताया गया है, जिसका विवेचन सूत्रकार ने 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्रद्वारा प्रस्तुत किया है। मुण्डक उपनिषद् के इस सन्दर्भ के आधार पर वह विवेचन असंगत होजाता है। ब्रह्म के समान प्रकृति को जगत् का कारण मान लेने पर ब्रह्म की जगत्कारणता निर्बाध नहीं रहती। यहां पूर्वपक्षरूप से प्रस्तुत सूत्रकार का आशय ब्रह्म के स्थान पर प्रकृति को जगत् का कारण बताना है। यह अभिप्राय सूत्र के 'अपि' पद से प्रकट होता है, आनुमानिक–प्रकृति भी जगत् का कारण है, अर्थात् जैसा ब्रह्म कारण है, वैसा प्रकृति को भी उपनिषद् में कारण बताया है, तब इस मान्यता में बाधा व विरोध उपस्थित होजाते हैं, कि जगत् का कारण ब्रह्म है। इसप्रकार की आशंका का समाधान सूत्रकार ने सूत्र के उत्तरार्द्धभाग से किया।

उक्त आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसंग में ब्रह्म के शरीर-रूप से प्रकृति का विन्यास-कथन है, उसी का यहां ग्रहण किया गया है। अक्षर से विश्व का प्रादुर्भाव होता है [मुण्ड० २।१।१], इस तथ्य को बताये जाने से पूर्व [मुण्ड० १।१।७] विश्वरचना के विषय में उपनिषत्कार ने वर्णन किया—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वम्॥

जैसे शरीरवाला मकड़ी नामक कीड़ा अपने शरीरावयवों से तन्तुजाल को बनाता और समेट लेता है, जैसे अपने-अपने बीजों के अनुरूप आधारभूत पृथिवी में से गेहूं धान आम शीशम आदि ओषधि वनस्पतियों का प्रादुर्भाव होता है, और जैसे जीवित पुरुषदेह से केश लोम नख आदि प्रकट होते–उभरते रहते हैं; वैसे ही उस 'अक्षर' से–अर्थात् उसके शरीरभूत अथवा शरीरस्थानीय प्रकृति से यह विश्व प्रकट होता है। इस उपनिषत्सन्दर्भ में दिये उदाहरणों से यह स्पष्ट है, कि जगत् के उपादान-तत्त्व प्रकृति को ब्रह्म के शरीररूप में कथन किया गया है, उसीका आगे सन्दर्भ [२।१।१] में ग्रहण है। इसलिये प्रकृति नामक तत्त्व को स्वतन्त्ररूप से जगत् का कारण कल्पना करना युक्त नहीं है। ब्रह्म के शरीररूप कथन से जगत् के जन्म आदि का कारण होती हुई प्रकृति ब्रह्म की जगत्कारणता का विरोध नहीं करती। समान विषय में विरोध की आपत्ति कही जासकती है, भिन्न विषय में नहीं। ब्रह्म और प्रकृति की कारणता का क्षेत्र भिन्न है। ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है और प्रकृति उपादान। यह तथ्य उक्त उपनिषत् सन्दर्भ में दिये गये दृष्टान्तों से स्पष्ट है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रकृति की स्वतन्त्र कारणता का प्रतिषेध किया गया है। विचारणीय है, कि यहां स्वतन्त्रता का स्वरूप क्या है? आचार्य शंकर तथा अन्य वेदान्त के व्याख्या-कार आचार्यों ने इस पद का सहारा लेकर कपिलप्रतिपादित प्रकृतिवाद के प्रत्याख्यान में

बहुत प्रयास किया है। क्या प्रकृति की स्वतन्त्रता का यह अभिप्राय है, कि चेतननिरपेक्ष प्रकृति जगत् को उत्पन्न करदेती है? अर्थात् किसी चेतनतत्त्व की प्रेरणा आदि के विना यह स्वयं अपने परिणत होने में प्रवृत्त रहती है? अथवा स्वातन्त्र्य का यह तात्पर्य है, कि जगत् की उपादानकारणता में प्रकृति के साथ अन्य किसीकी साझेदारी नहीं है।

यदि पहले विकल्प को स्वीकार किया जाता है, तो यह कहना सर्वथा निराधार है, कि कापिल सांख्य में प्रकृति को जगत् का स्वतन्त्र कारण कहा है, और उसीका सूत्र में प्रतिषेध है। कापिल सांख्य प्रकृति के अधिष्ठाता चेतनतत्त्व परमेश्वर को मानता है। वहां यह कहीं प्रतिपादित नहीं किया गया, कि चेतननिरपेक्ष अथवा चेतन से अनधिष्ठित प्रकृति स्वतः परिणाम के लिये प्रवृत्त हुआ करती है।[1] ऐसी स्थिति में इस सहारे को लेकर वेदान्त के व्याख्याकारों ने यहां सांख्यप्रतिपादित प्रकृति की कारणता के प्रतिषेध के लिये जो आडम्बरपूर्ण प्रयास किया है, वह सर्वथा निराधार व्यर्थ उत्सूत्र एवं उत्प्रकरण है। ब्रह्म से भिन्न प्रकृति अथवा माया नामक तत्त्व की उपादानकारणता को आचार्य शंकर भी इतना महान प्रयास करने के अतिरिक्त हटा न पाया। आचार्य ने 'परिणाम' के साथ एक कल्पनामूलक 'विवर्त्त' पद को खड़ाकर इस तथ्य पर परदा डालने का व्यर्थ प्रयास अवश्य किया है।

यदि प्रकृति के स्वातन्त्र्य का दूसरा रूप माना जाता है, तो उसमें न किसीको आपत्ति है, और न उसका यहां या अन्यत्र कहीं प्रतिषेध किया गया है। वेदान्त के समस्त साम्प्रदायिक व्याख्याकार आचार्यों ने यद्यपि ऐकमत्य से इसको स्वीकार नहीं किया, पर जिन्होंने ब्रह्म को जगत् का उपादान किसी रूप में भी कहा है, उन्होंने वस्तुस्थिति में उपादानतत्त्व की साझेदारी से ब्रह्म को अलग रखने के लिये गहरा प्रयास किया है, और इसके लिये प्रकारान्तर से हाथ-पैर पटकने में कोई कसर नहीं रक्खी। फलतः वेदान्तसूत्रों के इस प्रकरण में ब्रह्म की जगत्कारणता को स्पष्ट किया गया है, कि वह कारणता किसप्रकार की है, और उसमें ब्रह्म तथा प्रकृति का अपना-अपना स्थान कहां है।

इस सूत्र का अन्य लक्ष्यप्रदेश कठ उपनिषद् [१।३।१०-११] में द्रष्टव्य है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥

इन्द्रियों से अर्थ पर हैं, अर्थों से पर मन, मन से बुद्धि और बुद्धि से महान आत्मा

---

१. इसके विस्तृत विवेचन के लिये देखें हमारी रचना–'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ ४१–६३। तथा 'सांख्यदर्शनविद्योदयभाष्य' पृष्ठ ४२–४७॥ तथा सांख्यषडध्यायी सूत्र [३।५५–५७] एवं [५।२–१२]।

पर है। महत् से पर अव्यक्त और अव्यक्त से पर पुरुष है। पुरुष से परे कुछ नहीं, वह सीमा है, वह परागति है, अन्तिम लक्ष्य है। इन सन्दर्भों में 'पर' का अर्थ यथायथ प्रयोजन, कारण, सूक्ष्म अथवा उत्कृष्ट है। साधारणरूप से इसका भाव 'महत्त्वपूर्ण' कहा जासकता है। यहां 'अव्यक्त' पर्यन्त पदार्थों की कार्यकारणपरम्परा का निर्देश है। स्थूल अर्थ एवं इन्द्रियों से लेकर महत् पर्यन्त कार्यों का मूलकारण 'अव्यक्त' तत्त्व है। जिस मूलउपादान को मुण्डक उपनिषद् में 'अक्षर' पद से कहा है, उसीके लिये यहां 'अव्यक्त' पद का प्रयोग है। उससे पुरुष का पर होना पुरुष के चेतन व नियन्ता होने के कारण है। इस कार्यकारणपरम्परा के आधार पर स्थूल पदार्थों से लेकर अतिसूक्ष्म अवस्था तक के समस्त पदार्थों का मूलकारण 'अव्यक्त' तत्त्व है, यह इससे स्पष्ट होता है। वह अव्यक्त तत्त्व प्रधान अथवा प्रकृति है। यह स्थिति–ब्रह्म जगत् का कारण है–इसमें बाधा उपस्थित करती है। प्रकृति को जगत् का कारण कहे जाने पर 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि सूत्रों से जो ब्रह्म को जगत् का कारण बताया गया है, वह संगत नहीं कहा जासकता।

सूत्रकार ने समाधान किया, पूर्वोक्त आशंका ठीक नहीं, क्योंकि यहां प्रथम सशरीर जीवात्मा का वर्णन है। शरीर को जीवात्मा का रथ कहा है, बुद्धि मन इन्द्रिय आदि समस्त पदार्थ साधनरूप से उसके सहयोगी हैं। रथ में जुते दुष्ट घोड़ों के समान जब इन्द्रियां आत्मा के वश में नहीं रहतीं; तब दुष्ट घोड़ा जैसे रथ में सवार व्यक्ति को कहीं गढ़े आदि में जा पटकता है, ऐसे ही ये अवश इन्द्रियां आत्मा को संसार व जन्म-मरण के बन्धन में घसीटे फिरती हैं, उस अवस्था में यह जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप को न समझता हुआ अज्ञानी बना रहता है। पर इन्द्रियां जिसके वश में रहती हैं, वह मनोयोगपूर्वक सद्बुद्धि से प्रयत्न करता हुआ स्वरूप को जानने में समर्थ होता है, और विष्णु–सर्वव्यापक ब्रह्म के आनन्दमय परम पद को प्राप्त होजाता है। इसीके आगे 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इत्यादि प्रसंग है। जीवात्मा को परम पद की प्राप्ति के लिये इस दिशा में जिनका सहयोग प्राप्त करते हुए उन्हें लांघ जाना है, उन तत्त्वों का यथाक्रम यहां वर्णन है। यह क्रम यथायथ प्रयोजन, कार्यकारणभाव तथा उत्कृष्टता आदि के आधार पर है। इन्द्रियों से अर्थों का पर होना प्रयोजन पर आधारित है। इन्द्रियों का प्रयोजन अर्थों–विषयों का ग्रहण करना है। विषयग्रहण आत्मा के सुखादि फल का रूप है, इसलिये अर्थों को इन्द्रियों से 'पर' कहा। विषयों में इन्द्रियों के प्रवृत्त होनेपर यदि मन का उनके साथ सहयोग न हो, तो विषयग्रहण संभव नहीं, इसलिये अर्थों से 'पर' मन बताया गया। मन इन्द्रियां अर्थ आदि सब तत्त्व बुद्धि से यथाक्रम उत्पन्न होते हैं, तथा बुद्धि ही गृहीत समस्त विषयों को आत्मा के लिये समर्पित करती है, इसलिये इन सबसे 'पर' बुद्धि को बताया गया। बुद्धि 'अव्यक्त' का कार्य है, पर अव्यक्त के बुद्धिरूप में परिणत होने से पूर्व अन्तराल में एक और अवस्था रहती है, जिसको सृष्टिविज्ञानवेत्ताओं ने 'अनिर्देश्य-

स्वरूप' लिखा है[1]। मूल उपादान तत्त्व 'अव्यक्त' है, निर्देश्यस्वरूप उसका प्रथम कार्य बुद्धि है। अन्तराल में जो कारण की अवस्था रहती है, विशिष्ट कार्यरूप से उसका निर्देश न होसकने के कारण उसे 'अनिर्देश्यस्वरूप' कहा। उसीका यहां 'महान् आत्मा' पद से उल्लेख हुआ है। उसे 'महान्' इसलिये कहा गया, कि आगे उस अवस्था से बुद्धि अपर नाम वाला 'महत्' तत्त्व परिणत होना है। विशिष्ट कार्य की दृष्टि से उसकी प्रथम अवस्था को कार्यनाम से व्यवहृत किया गया, क्योंकि वह अनिर्देश्यस्वरूप अवस्था है। इसे 'आत्मा' इसलिये कहा गया, कि यह अवस्था मूलतत्त्वों की तरह अभी सर्वत्र एक-समान रहती है। विशिष्ट व्यक्तित्व का इसमें उभार नहीं आता, समानरूप से सर्वत्र व्याप्त रहने के कारण इसके अभिलापन के लिये 'आत्मा' पद का प्रयोग किया गया। यह 'महान् आत्मा' पद से व्यवहृत अवस्था बुद्धि से 'पर' है, क्योंकि बुद्धि की यह कारण अवस्था है। उससे पर 'अव्यक्त' है, वह कारणरूप से मूलअवस्था है। जब अव्यक्त परि-णत होने लगता है, तब बुद्धितत्त्व के प्रादुर्भाव होनेसे पूर्व यह 'अनिर्देश्यस्वरूप' अवस्था उभार में आती है। अचेतन जगत् की कार्यकारणपरम्परा यहां समाप्त होजाती है। इससे 'पर' चेतनतत्त्व है, जो इस सबका नियन्ता है। वह परत्व की काष्ठा है सीमा है। वह परम गति है। इस परम्परा में जीवात्मा का उल्लेख नहीं, क्योंकि वह इस मार्ग पर चलने वाला रथी [भोक्ता] है, स्वयं मार्ग का न वह अंश है न परमगति है; परम-गति को उसने प्राप्त करना है। परमगति [कठ० १।३।११] विष्णु का पद [कठ० १।३।६] है। जीवात्मा का वह गन्तव्य स्थान है स्वरूप नहीं।

सशरीर जीवात्मा का वर्णन ऊपर किया गया। जीवात्मा जैसे शरीर में नियन्ता-रूप से अवस्थित है, इसीप्रकार 'अव्यक्त' तत्त्व यहां ब्रह्म के शरीररूप में कल्पना कर कथन किया गया है। मुण्डक उपनिषद् [१।१।७ तथा २।१।१] के समान उसी स्थिति को यहां दर्शाया गया है। 'अव्यक्त' तत्त्व के ब्रह्मशरीररूप में वर्णित होने से ब्रह्म की कारणता में किसीप्रकार की बाधा या असामञ्जस्य नहीं है। ब्रह्म चेतन होने से उस शरीर का नियन्ता व अधिष्ठाता है। 'अव्यक्त'रूप शरीर कार्यरूप में परिणत तभी होसकता है, जब उसका नियन्ता अधिष्ठाता उसे प्रेरित करता है। इसप्रकार 'अव्यक्त' को जगद्रूप में परिणत होने के लिये ब्रह्म के प्रेरयिता होने के कारण ब्रह्म की कारणता अक्षुण्ण बनी रहती है। 'अव्यक्त' जगत् का उपादानकारण है, ब्रह्म उसका प्रेरयिता होने से निमित्तकारण है। स्वयं चेतनतत्त्व का परिणाम असम्भव है, शिष्टजनों से अननु-मोदित है।[2]

---

१. देखें—युक्तिदीपिका, [सांख्यकारिका की एक प्राचीन व्याख्या] पृ० १०८, तथा हमारी रचना 'सांख्यसिद्धान्त' पृ० १५८ तथा पृ० ४३७ टिप्पणी।

२. इसके लिये देखें—'सांख्यसिद्धान्त' पृ० ४३४–४३८।

आचार्य शंकर ने उपनिषद् के 'अव्यक्त' पद से यहां जीवात्मा के स्थूलशरीर को ग्रहण करने का जिसप्रकार उपपादन किया है, वह केवल एक तुक भिड़ाने के समान है। न सूत्र न उपनिषद् के उस प्रकरण से इसका समन्वय है। स्थूलशरीर का 'अव्यक्त' पद से बोध कराने का प्रयास यथार्थ का सर्वथा शीर्षासन करा देने के समान है। 'महान् आत्मा' पद का अर्थ आचार्यद्वारा उपयुक्त नहीं हुआ है। आचार्य ने स्वयं एक अर्थ से असन्तुष्ट होकर दूसरा अर्थ प्रस्तुत किया, पर वह भी उत्सूत्र उत्प्रकरण एवं कल्पना-मूलक है। वैदिक साहित्य में 'हिरण्यगर्भ' पद किस अर्थतत्त्व का बोध कराता है, यह अभी गम्भीरतापूर्वक विवेचनीय है। इस विषय में इतना जानलेना आवश्यक है, कि अध्यात्मशास्त्रों में 'हिरण्यगर्भ' पद का प्रयोग मुख्यरूप से परब्रह्म के लिये है, औपचारिक रूप में अन्य अर्थों का बोधक संभव है। प्रस्तुत प्रसंग में उसका कोई सामञ्जस्य नहीं है।

उपनिषद् आदि में यदि कहीं ऐसे लेख हैं, जिनसे यथाकथञ्चित् ब्रह्म के जगदुपादान होने का आभास होता हो, तो ऐसे उल्लेखों का व्याख्यान प्रकृति को ब्रह्म के शरीररूप में कल्पना कर किया जाना चाहिये। स्वतः चेतनतत्त्व कभी किसीरूप में परिणत नहीं होता, यह शास्त्र का परम सिद्धान्त है ॥१॥

शिष्य आशंका करता है, जगत् का उपादानकारण प्रधान यदि ब्रह्म के शरीर-रूप में कल्पना कर वर्णित किया गया है, तो क्या वह हमारे शरीरों की तरह स्थूल है? यदि स्थूल है, तो कार्य होने से वह समस्त विश्व का उपादान नहीं होसकता। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥२॥

[सूक्ष्म] सूक्ष्म है [तु] तो [तद्-अर्हत्वात्] उसके योग्य होने से। सूत्र में 'तु' पद प्रधान की स्थूलता का निवारण करता है, प्रधान सूक्ष्म है, स्थूल नहीं; कारण यह है, कि कार्यमात्र के उपादान के लिये ऐसा होना योग्य है।

कार्यमात्र का उपादानकारण जो तत्त्व माना जाता है, उसका सब कार्यों की अपेक्षा सूक्ष्म होना आवश्यक है। इस प्रसंग में स्थूल व सूक्ष्म पदों का अर्थ यथाक्रम सावयव व निरवयव समझना चाहिये। जो पदार्थ सावयव है, वह निश्चितरूप से कार्य होगा, चाहे वह किसी भी तरह इन्द्रियों से न जाना जासकता हो और अपेक्षाकृत कितना भी सूक्ष्म हो, उसे सावयव एवं कार्य होने के कारण स्थूल ही समझा जायगा। उपादानता की दृष्टि से जो तत्त्व किसीका कार्य नहीं है, अतएव निरवयव है, वही तत्त्व कार्यमात्र का उपादान होसकता है और वह सूक्ष्म है। इसी तथ्य को तन्त्रान्तर में कहा है—'मूले मूलाभावादमूलं मूलम्' [सां० सू० १।३२][1]; मूलप्रकृति के विषय में अन्य

१. **यह सूत्रसंख्या हमारे संस्करण के अनुसार दीगई है। इसमें ३५ संख्या जोड़कर किसी भी अन्य संस्करण में इस सूत्र को देखा जासकता है।**

किसी मूलउपादानकारण के न होने से जगत् का मूलउपादान प्रकृति अमूल है, अर्थात् उपादानकारणरहित है। इससे स्पष्ट है, कार्यमात्र की अपेक्षा जगत् का मूलउपादान प्रधान सूक्ष्मतत्त्व है। उसे ब्रह्म के शरीररूप में मानाजाना केवल एक कल्पना है। जीवात्मा के सुख-दुःख आदि भोग का आधार शरीर स्थूल है, केवल इस कारण उसे स्थूल नहीं माना जासकता। यह शरीर कार्य है, सावयव है; प्रकृति की अपनी स्वरूपतः जो स्थिति है, शरीरकल्पनामात्र से उसे अन्यथा किया जाना शक्य नहीं।

अध्यात्मविषयक अनेक शास्त्रीय प्रसंगों में मूलउपादान प्रधान का 'सूक्ष्म' पद से निर्देश हुआ है। मुण्डक उपनिषद् [३।१।७] में ब्रह्म की अतिशय सूक्ष्मता को प्रकट करने के लिये एक वाक्य कहा—'सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति'। यहां पञ्चम्यन्त 'सूक्ष्म' पद प्रधान का निर्देश करता है, ब्रह्म सूक्ष्मप्रधान से भी अतिसूक्ष्म है। बृहदारण्यक उपनिषद् [३।७।३—२२] के अन्तर्यामी ब्राह्मण में समस्त विश्व को ब्रह्म के शरीररूप में कल्पनाकर वर्णन किया है। जगत् की अव्याकृत अवस्था मूलप्रकृति का रूप है, वह ब्रह्म से अधिष्ठित व नियन्त्रित है; उसकी ब्रह्म के शरीररूप में कल्पना अशास्त्रीय एवं असमञ्जस नहीं है। फलतः उसके सूक्ष्म होने में इससे कोई बाधा नहीं आती ॥२॥

शिष्य आशंका करता है, यदि जगत् का मूलउपादानकारण प्रधान है, और ब्रह्म के शरीररूप में उसका वर्णन केवल कल्पनामूलक है; तब उसको स्वतन्त्ररूप से जगत् का कारण क्यों नहीं मान लिया जाता? उसके साथ ब्रह्म को कारण मानने की क्या आवश्यकता है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तदधीनत्वादर्थवत् ॥३॥

[तद्-अधीनत्वात्] उसके अधीन होने से [अर्थवत्] अर्थ वाला—प्रयोजन वाला—सफल है (प्रधान)। ब्रह्म के अधीन होने से प्रधान सफल होता है, कार्यरूप में परिणत होता तथा अन्य प्रयोजन के लिये समर्थ होता है।

प्रधान के जगद्रूप परिणाम का फल है—जीवात्माओं के भोग व अपवर्ग को सिद्ध करना। इस प्रयोजन को सम्पन्न करने के लिये प्रधान स्वतः अथवा स्वतन्त्ररूप से प्रवृत्त होकर परिणत होसके, ऐसा संभव नहीं है। कारण यह है, कि प्रधान जड़तत्त्व है, जड़ में स्वतः प्रवृत्ति असंभव है। साक्षात्कृतधर्मा ऋषियोंने इस तथ्य को जाना, और शास्त्रों द्वारा प्रकट किया, कि चेतन की प्रेरणा के विना जड़ में प्रवृत्ति का होना संभव नहीं होता। जगत् के उपादानकारण प्रधान को परिणाम के लिये प्रेरित करने वाला चेतनतत्त्व ब्रह्म है। ब्रह्म के अधीन रहकर प्रधान जगद्रूप में परिणत होता और जीवात्माओं के भोग-अपवर्ग की सिद्धिरूप प्रयोजन को पूरा करने के लिये समर्थ होता है। ब्रह्म की अधीनता में प्रधान की सफलता है, स्वतन्त्र प्रधान कुछ भी करने में असमर्थ है। यह बात प्रथम स्पष्ट की जाचुकी है, कि यदि कहीं प्रधान की स्वतन्त्रता का उल्लेख

हुआ है, तो उसका इतना ही अभिप्राय है, कि जगत् की उपादानकारणता में प्रधान के साथ किसी की साझेदारी नहीं। जगत् का उपादान केवलमात्र प्रधान है। इतने से ब्रह्म की कारणता को उपेक्षित नहीं किया जासकता, क्योंकि ब्रह्म के सहयोग के बिना केवल प्रधान कुछ नहीं करसकता। ब्रह्म का सहयोग प्रेरणा व्यवस्था व अधिष्ठातृत्वरूप है।

ऐसी अवस्था में यह कहना यथार्थ नहीं है, कि यदि ब्रह्म के सहयोग के बिना प्रधान कुछ नहीं करसकता, तो प्रधान को कारण मानने की आवश्यकता क्या है, ब्रह्म को सबप्रकार का कारण क्यों न मान लिया जाय? इस विषय में अनेक बार कहा जाचुका है-और स्वयंसूत्रकार ने आगे [२।२।३३] इसका उपपादन किया है, कि चेतन ब्रह्म स्वयं जड़जगत् के रूप में परिणत हुआ नहीं माना जासकता। समस्त शास्त्रों में ब्रह्म को अपरिणामी तत्त्व माना है, इसलिये उसका परिणाम जगत् नहीं है, वह केवल जगत् का कर्त्ता अधिष्ठाता व्यवस्थापक एवं सबमें व्याप्त होकर नियन्त्रण करने वाला है। यह जगत् परिणाम प्रधान का है। उस प्रधान का वर्णन अध्यात्मशास्त्रों में ब्रह्म के शरीररूप से किया गया है, वह [प्रधान] अपना कार्य करने के लिये ब्रह्म की अधीनता में रहता हुआ समर्थ होता है। लोक में देखा जाता है, और शास्त्र में यह मान्य है, कि मट्टी अथवा अन्य उपादानतत्त्व घड़ा अथवा अन्य यन्त्र आदि कार्यों को स्वतः बनाने या उसरूप में परिणत होने के लिये सर्वथा असमर्थ रहते हैं, जबतक चेतन का सहयोग न हो। चेतन शिल्पी उन उपादानतत्त्वों को कार्यरूप में परिणत करते हैं। यही व्यवस्था सृष्टिक्रम में निर्बाधरूप से मान्य है। ऋग्वेद की एक ऋचा [१०।७२।२] में कहा—

ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत॥

आदि सृष्टि में विश्वरूप सकल दिव्य पदार्थों की उत्पत्ति अनन्त ब्रह्माण्ड के पालक अध्यक्ष परमात्मा ने इसीप्रकार की, जैसे एक शिल्पी विविध कार्यों की रचना किया करता है। इसप्रकार यह जगत् कारण की अव्यक्त-अव्याकृत अवस्था से व्यक्त-कार्यरूप अवस्था में आजाता है। जगत् के कर्त्ता अधिष्ठाता नियन्ता आदि रूप में ब्रह्म की कारणता सदा निर्बाध है, उसे चुनौती देना शक्य नहीं॥३॥

ब्रह्म के अधीन रहता हुआ प्रधान जगत् का उपादान है, इस अर्थ को दृढ़ करने के लिये सूत्रकार अन्य हेतु उपस्थित करता है—

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥४॥

[ज्ञेयत्व-अवचनात्] ज्ञेयत्व-ज्ञातव्य होना-न कहने से [च] भी। प्रधान को ज्ञेय न कहेजाने से भी निश्चय होता है, कि प्रधान ब्रह्म के अधीन रहता है।

प्रधान को यदि जगत् का स्वतन्त्र कारण मानाजाता है, तो प्रधान के स्वातन्त्र्य

से जगत् के जन्मादि के प्रति उसकी श्रेष्ठता प्रतिष्ठापित होती है, तब सर्वोच्च ज्ञेय के रूप में उसका कथन शास्त्रद्वारा होना चाहिये। परन्तु अध्यात्मशास्त्र में सर्वत्र केवल ब्रह्म को ज्ञेयरूप में वर्णन किया गया है। ब्रह्म की श्रेष्ठता चेतन, समस्त विश्व का अधिष्ठाता व नियन्ता होने से सिद्ध है। अचिन्त्यरचनारूप जगत् के निर्माण में ब्रह्म अन्य किसी चेतन का सहयोग नहीं लेता, वह एकमात्र इसकी रचना में समर्थ है, यही उसका स्वातन्त्र्य है, यह केवल चेतनतत्त्व में संभव है। जगत् का उपादान होते हुए भी प्रधान को ज्ञेय न कहना, तथा ब्रह्म को ज्ञेय कहना यह प्रमाणित करता है, कि प्रधान ब्रह्म के अधीन रहता है, ब्रह्म उसका अध्यक्ष है, उसे ज्ञेय कहना उपयुक्त है। अध्यात्मशास्त्र में अनेक स्थलों पर ब्रह्म को ज्ञेय कहा है। यजुर्वेद [३१।१८] में कहा–'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' उस परमात्मा को केवल जानकर मृत्यु से पार जासकता है। तैत्तिरीय उपनिषद् [२।१] में बताया–'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' परमपद मोक्ष को ब्रह्मज्ञानी पाता है। इसी उपनिषद् में अन्यत्र [३।१] कहा–'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म।' जो इस जगत् को उत्पन्न करता, स्थित रखता एवं प्रलय करता है, उसे जानने की इच्छा करो, वह ब्रह्म है। इसीप्रकार माण्डूक्य उपनिषद् [७] में ब्रह्मस्वरूप का वर्णन कर आगे बताया–'स आत्मा स विज्ञेयः' वह सर्वव्यापक परब्रह्म विशेषरूप से जाननेयोग्य है। इत्यादि वाक्यों में अनेकशः ब्रह्म को ज्ञेय बताया गया है, प्रधान को नहीं।

इसके अतिरिक्त श्वेताश्वतर उपनिषद् [१।९, १२] में ब्रह्म को सबका 'ईश' और 'प्रेरिता' बताया गया है। यह वर्णन इस तथ्य को स्पष्ट करता है, कि ब्रह्म के ईशिता होने से प्रधान उसके अधीन रहता है। ऐसे ही आधारों पर उसे ब्रह्म के शरीररूप में वर्णन किया गया है। वहीं उस ईशिता व प्रेरिता के विषय में बताया–'एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।' सदा जीवात्मा में संस्थित वह ब्रह्म ज्ञेय है, उससे परे और कुछ ज्ञातव्य नहीं है। इन सब वर्णनों से स्पष्ट होता है, कि जगत् की उत्पत्ति आदि का उपादानकारण प्रधान, ईशिता व प्रेरिता ब्रह्म के अधीन रहता है; यही कारण है, कि प्रधान को ज्ञेय नहीं कहा गया ॥४॥

शिष्य आशंका करता है, अध्यात्मशास्त्र में एक स्थल पर प्रधान को ज्ञेय कहा गया प्रतीत होता है। यदि यह ठीक है, तो प्रधान को ज्ञेय न कहने की बात असंगत हो-जाती है। सूत्रकार आचार्य ने शंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥५॥

[वदति] कहता है [इति] यह [चेत्] यदि (कहो, तो) [न] नहीं; [प्राज्ञः] परमात्मा [हि] क्योंकि [प्रकरणात्] प्रकरण से। यदि यह कहो, कि शास्त्र प्रधान को ज्ञेय कहता है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि प्रकरण से वह ज्ञेय परमात्मा है।

सूत्र में पूर्वपक्षरूप से उपस्थित की गई आशंका का अभिप्राय है, कि शास्त्र में प्रधान को ज्ञेय कहा गया है। कठ उपनिषद् [१।३।१५] में सन्दर्भ है–'अशब्दमस्पर्शम-रूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।' यहां शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से रहित अनादि अनन्त नित्य तथा महत्तत्त्व से पर 'अव्यय' तत्त्व को जानकर मृत्युमुख से छुट जाने का उल्लेख है। यह 'महत्' से पर 'अव्यय' प्रधान होसकता है। वह शब्दादि से रहित होता है, कारण अवस्था में शब्दादि प्रधान में प्रादुर्भूत नहीं होते, वह अनादि अनन्त और नित्य है, क्योंकि वह कार्यमात्र जगत् का कारण है, उसका कारण और कोई नहीं है। कठ उपनिषद् में अन्यत्र [१।३।११] 'महत्' से पर अव्यक्त को स्पष्टरूप में बताया है–'महतः परम-व्यक्तम्।' जो निश्चित रूप से प्रधान तत्त्व है। इसलिये इसी प्रसंग में आगे–'महतः परं ध्रुवं अव्ययं निचाय्य' पदों द्वारा महत् से पर 'अव्यय' को प्रधान समझना सर्वथा संगत है, तथा उसके ज्ञान से यहां मोक्ष का उल्लेख है। ऐसी अवस्था में प्रथमसूत्रद्वारा जो यह बताया गया, कि अध्यात्मशास्त्र में प्रधान को ज्ञेय नहीं कहा, वह असंगत हो-जाता है।

सूत्रकार ने समाधान किया–कठ उपनिषद् के उक्त सन्दर्भ [१।३।१५] के आधार पर ऐसी आशंका करना युक्त नहीं, क्योंकि वहां प्रकरण से–पूर्वापर प्रसंग से–यह निश्चय होता है, कि 'अशब्दमस्पर्श' [कठ० १।३।१५] इत्यादि सन्दर्भ में महतः परम्' पदों से परब्रह्म परमात्मा का निर्देश है। ग्यारहवीं कण्डिका से पहले के सन्दर्भों में बताया कि कर्मफलों का प्रदाता, तथा संसार से पार जाने की इच्छा रखने वालों के लिये अभयस्थान परब्रह्म है, उसे हमें जानना है [२]। इसी विषय का वर्णन करते हुए आगे बताया, जो उस परब्रह्म को जानलेता है, वह उस विष्णु–सर्वव्यापक ब्रह्म के परम पद को प्राप्त होता है [६], उसी पुरुष-ब्रह्म को आगे सर्वापेक्षया 'पर' बताया [११]। अनन्तर योगसम्पन्न एकाग्रबुद्धिद्वारा उसीको जानने का उल्लेख है [१२], तब संयमद्वारा बुद्धि की एकाग्रता का और इस अध्यात्ममार्ग की कठिनता का वर्णन कर [१३-१४] अशब्दादिस्वरूप उस परब्रह्म के ज्ञानद्वारा मृत्युमुख से छुटकारे का उल्लेख है। यह सब ब्रह्मविषयक प्रकरण है। उसीको यहां ज्ञेय कहना संगत है, ब्रह्म के प्रकरण में अन्य किसीको ज्ञेय बताये जाने का प्रश्न नहीं उठता।

'महतः परं' पदों से यहां प्रधान की कल्पना करना उपयुक्त नहीं। ग्यारहवीं कण्डिका में 'महत्' पद का 'महत्तत्त्व' अर्थ सम्भव है, क्योंकि वहां अन्य इन्द्रियादि प्राकृत तत्त्वों का क्रमिक उल्लेख है। वहां भी वस्तुतः 'महत्' पद महत्तत्त्व की पूर्ववर्ती कारण अवस्थाओं का निर्देश करता है। अतः कार्यकारण परम्परा आदि का वर्णन होने से वहां 'महत्' पद पारिभाषिक होसकता है; पर पन्द्रहवीं कण्डिका [कठ० १।३।१५] में ऐसा कुछ नहीं है। यहां 'महत्' पद अनन्त कार्य-कारणरूप समस्त जड़ जगत् का

निर्देशक है। उससे 'पर'-उत्कृष्ट सर्वनियन्ता ब्रह्म को ज्ञेय बताया है।

यदि सुजनतोषन्याय से यहां 'महत्' पद महत्तत्त्व अथवा उसकी कारणावस्था का द्योतक माना जाय; तो भी 'महतः परं' से प्रधान का ग्रहण नहीं किया जासकता। कारण यह है, कि सन्दर्भ में 'महतः परं ध्रुवं' पद हैं। यह 'ध्रुवं' पद 'परता' की विशेषता को प्रकट करता है। महत् से पर जिस तत्त्व को ज्ञेय कहा जारहा है, वह 'ध्रुव पर' अर्थात् असीम पर होना चाहिये; अन्तिम पर, जिससे 'पर' और कोई न हो। ऐसा 'परतत्त्व' ग्यारहवीं कण्डिका में बताया गया है-'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः'। महत् से 'ध्रुव पर'-तत्त्व वह ब्रह्मपुरुष ही है, उसीका उक्त पदों द्वारा पन्द्रहवीं कण्डिका में निर्देश है।

आचार्य शंकर ने इस प्रसंग में सांख्याभिमत जगत् के उपादानकारण प्रकृति के प्रत्याख्यान का प्रयास किया है, तथा प्रस्तुत सूत्र में पूर्वपक्षरूप से सांख्यमतानुसार ब्रह्म के स्थान पर प्रकृति को ज्ञेय बताया है। सांख्य पर यह आक्षेप सांख्यविचार से प्रकृति को स्वतन्त्र समझकर किया गया है। परन्तु आचार्य का सांख्य के विषय में ऐसा कथन सांख्य के अनुसार नहीं है। सांख्यशास्त्र में चेतननिरपेक्ष प्रकृति से जगत् का उत्पन्न होना कहीं नहीं माना। प्रकृति का सांख्य में तथाकथित स्वातन्त्र्य क्या है? इसका निरूपण प्रथम कर दिया गया है [ब्र० सू० १।४।१]। प्रकृति का स्वातन्त्र्य सांख्य को केवल इतना अभिमत है, कि जगत् की उपादानकारणता में प्रकृति के साथ किसी की साझेदारी नहीं है। प्रकृति से अन्य कोई चेतनतत्त्व जगत् का उपादान असम्भव है। ब्रह्म के स्थान पर प्रकृति को ज्ञेय सांख्य में कहीं नहीं बताया। चेतन-अचेतन अथवा पुरुष-प्रकृति के भेद को ज्ञेय अवश्य कहा है और उसे मोक्षोपयोगी बताया है। पुरुष और प्रकृति के भेद अर्थात् विवेक का ज्ञान न होना मोह अथवा अज्ञान की अवस्था है। ऐसी अवस्था को साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने मोक्षोपयोगी नहीं माना। पुरुष मोक्षभावना से अध्यात्मदिशा में तभी प्रवृत्त होता है, जब वह प्रकृति की जड़ता परिणामिता आदि को गहराई के साथ समझने लगता है। चेतन-अचेतन का ऐसा विवेकज्ञान ब्रह्मज्ञान के लिये सर्वोच्च सीढ़ी है। ऐहिक ऐश्वर्यादि प्राप्ति के लिये तो प्रकृति का साक्षात्कार अत्यन्त आवश्यक है ही, पर यह अध्यात्ममार्ग में भी अत्युपयोगी है; इसी दृष्टि से सांख्य में प्रकृति को ज्ञेय कहा गया; ब्रह्म को हटाकर उसकी जगह प्रकृति को नहीं माना गया। शास्त्रों में ब्रह्म को केवल अध्यात्मदृष्टि एवं मोक्षभावना से ज्ञेय कहा है। यह आचार्य शंकर ने उल्टी गंगा बहाई है, कि ब्रह्म को प्रकृति के स्थान पर लापटका है। यदि जगत् का उपादान-प्रकृति ब्रह्म है; तो ब्रह्म को ज्ञेय कहना या प्रकृति को ज्ञेय कहना, इसमें अन्तर क्या है? यदि ऐसे ब्रह्म को आचार्य शंकर ज्ञेय बताता है, तो सांख्य ने प्रकृति को ज्ञेय बताकर क्या अपराध किया? वस्तुतः आचार्य का ब्रह्म को प्रकृति मानने का उद्घोष सर्वथा निराधार है, प्रकृति अपनी जगह है, ब्रह्म अपनी जगह!

इनको एक समझना अविवेकमूलक है ॥५॥

कठ उपनिषद् के उक्त [१।३।१५] सन्दर्भ में परब्रह्म को ज्ञेय कहा है, प्रधान को नहीं; इस विषय में आचार्य सूत्रकार उपनिषद् के उसी प्रसंग से अन्य प्रमाण उपस्थित करता है—

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥६॥

[त्रयाणां] तीन का [एव] ही [च] और [एवम्] इसप्रकार [उपन्यासः] वर्णन [प्रश्नः] प्रश्न [च] और। और इसप्रकार कठ उपनिषद् में तीन का ही वर्णन है, और प्रश्न इसीके अनुसार संगत होता है।

कठ उपनिषद् में वरप्रदानरूप से तीन का कथन है–पिता का सौमनस्य, अग्नि और आत्मा। पिता की आज्ञा से यम के घर जाकर नचिकेता तीन दिन तक व्रतपूर्वक निवास करता है। बाहर से घर वापस आने पर यम ने देखा, कि एक ब्रह्मचारी तीन दिन से व्रतोपवासपूर्वक घर ठहरा हुआ है। उसकी निष्ठा से प्रसन्न होकर यम ने उससे तीन वर मांगने के लिये कहा। नचिकेता ने पहला वर अपने पिता के सौमनस्य के विषय में मांगा। घर से चलते समय नचिकेता ने यह अनुभव किया था, कि पिता कुछ अशान्त अप्रसन्न और मेरे प्रति मन्यु से अभिभूत हैं। पिता के इस कष्ट का अनुभव कर उसके सौमनस्य–प्रसन्नता के लिये पहला वर मांगा [१।१।१०]।

दूसरा वर मांगते हुए नचिकेता ने स्वर्ग्य अग्नि को जानने के लिये कहा। उसके पिता ने स्वर्ग की कामना से एक यज्ञ किया, वहां एक ऐसा प्रसंग उपस्थित होगया, जिसके कारण नचिकेता यम के घर आया है। प्रत्येक ऐसा यज्ञ अग्नि में द्रव्याहुति आदि देकर किया जाता है, नचिकेता इन विधियों से अनभिज्ञ है। उसे यह उत्सुकता थी, कि पिता ने ऐसे प्रसंग में एक साधारण घटना के कारण मुझे यहां भेज दिया, उस रहस्य को अवश्य जानना चाहिये। यम को इसका विशेषज्ञ जानकर दूसरा वर स्वर्ग्य अग्नि को जानने के विषय में मांगा। यम ने उसका वर्णन करने के अनन्तर तीसरे वर के लिये नचिकेता को कहा [१।१।१९]। तीसरे वर के रूप में नचिकेता ने मांगा, कि आत्मा के विषय में सन्देह किया जाता है–कोई कहता है–आत्मा है, कोई कहता है–नहीं है। आपके उपदेशद्वारा मैं आत्मतत्त्व को जानना चाहता हूं। मेरे लिये यही तीसरा वर प्रदान करें। कठ उपनिषद् में इसप्रकार वरों के रूप में तीन का उपन्यास–कथन है।

इन वरों में तीसरा वर आत्मविषयक है। यद्यपि मूल प्रश्न [१।१।२०] में जीवात्मविषयक जिज्ञासा प्रकट कीगई है। परन्तु जब यम ने आत्मा का वर्णन प्रारम्भ करते हुए कहा–'एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य। स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये' [कठ० १।२।१३] इस आत्मविषयक

उपदेश को सुनकर तथा धारणकर मनुष्य जब धर्म्य अणु आत्मतत्त्व को प्रकृति से अलग कर प्राप्त कर लेता है, तब वह निश्चित आनन्द देने वाले तत्त्व को प्राप्त कर आनन्द पाता है; नचिकेता को उसके लिये मैं खुला द्वार मानता हूं। इस सन्दर्भ में अणु आत्मा की प्राप्ति के अनन्तर आनन्दस्वरूप ब्रह्म का लाभ बतलाने तथा उसके लिये नचिकेता को खुला द्वार कहने से ब्रह्मविषयक प्रश्न का अवसर नचिकेता को दे दिया है। यहां ज्ञातव्य है, कि 'आत्मा' पद जीवात्मा-परमात्मा दोनों के लिये प्रयुक्त होता है। 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये' [कठ० १।१।२०] इत्यादि सन्दर्भ में 'आत्मा' पद पठित नहीं है, पर सन्देह प्रकट करने की रीति से यह स्पष्ट है, कि वह जिज्ञासा जीवात्मविषयक है। यम इस तथ्य को जानता है, कि केवल उतना उपदेश देने से आत्मविषयक शिक्षा पूर्ण नहीं होती। इसलिये आत्मा का वर्णन प्रारम्भ करते समय नचिकेता को ऐसा अवसर दिया, जिससे ब्रह्मविषयक प्रश्न करने में उसे प्रोत्साहन मिला, तब उसने उपनिषत्कार के शब्दों में कहा—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत् पश्यसि तद्वद॥ [१।२।१४]

जो शास्त्रप्रतिपादित तथा शास्त्रविरुद्ध अनुष्ठानों से अलग है, जो कृत-अकृत अर्थात् जगद्रूप कार्य और उसके उपादानकारण से अलग है, तथा जो भूत और भविष्यत् से अलग है, अर्थात् जो सदा एकरूप वर्त्तमान रहता है, ऐसे तत्त्व का आपने साक्षात्कार किया है, उसकी शिक्षा मुझे दें। नचिकेता का यह ब्रह्म के विषय में प्रश्न है। यम ने नचिकेता को तीन वर मांगने के लिये कहा। उसने प्रथम दो वरों से यथाक्रम पिता का सौमनस्य और स्वर्ग्य अग्नि के ज्ञान की याचना की, तीसरे वर से आत्मज्ञान के लिये। प्रथम सन्दर्भ [१।१।२०] में जीवात्मविषयक शिक्षा के लिये प्रार्थना है। उसी प्रस्ताव में अगले सन्दर्भ [१।२।१४] से ब्रह्मज्ञानविषयक प्रश्न उपस्थित किया है। यदि उपनिषत्कार जीवात्मा और ब्रह्म को अभिन्न मानता होता, तो इस प्रश्न का अलग प्रस्तुत करना अनुपयुक्त था। जैसा कि अभी कहा गया—केवल जीवात्मा के वर्णन से आत्मविषयक शिक्षा पूरी न होती, इसलिये नचिकेता को ब्रह्मज्ञानविषयक प्रश्न प्रस्तुत करने का अवसर दिया गया। इस प्रश्न का सामञ्जस्य अथवा संगत होना उसी अवस्था में युक्त माना जासकता है, जब यमद्वारा दिये गये तीन वरों में इसका समावेश हो।

तीसरे वर में इस प्रश्न के समावेश का रहस्य यही है, कि आत्मविषयक जिज्ञासा होने पर जीवात्मा और परमात्मा दोनों का वर्णन हो जाना चाहिये। कठ उपनिषद् के इस विषय के समस्त भाग में विविध प्रकार से जीवात्मा और ब्रह्म का इसी आधार पर वर्णन है। फलतः मुख्यरूप से इन्हीं दो चेतनतत्त्वों का वर्णन उपनिषद् के इस अंश में है, जगत् के उपादान प्रधान तत्त्व का नहीं। इसके अनुसार उक्त [१।३।१५] सन्दर्भ में ब्रह्म को ज्ञेय बताया है, प्रधान को नहीं। यहां 'अव्यय' पद अपरिणामी ब्रह्म के लिये

प्रयुक्त है। इसी प्रसंग के जिन सन्दर्भों [१।३।११] में 'अव्यय' पद प्रधान के लिये प्रयुक्त हुआ है, वहां जगत् के उपादानकारण प्रधान और उसके कार्य बुद्धि मन इन्द्रिय एवं अर्थों से ब्रह्मपुरुष को सर्वोत्कृष्ट बताने के लिये उनका उल्लेख है–'अव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः।' इससे स्पष्ट है, ब्रह्म के स्थान पर प्रधान को ज्ञेय नहीं माना गया। प्रधान का क्योंकि उक्त तीन वरों में कहीं समावेश नहीं, इसलिये यहां मुख्यरूप से उसका वर्णन नहीं है। प्रासंगिक वर्णन अवश्य है, जो ब्रह्म के स्थान में उसे ज्ञेय माने जाने का साधक नहीं ॥६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि [१।३।१५] सन्दर्भ में 'अव्यय' पद का अर्थ अपरिणामी ब्रह्म है, तो उससे पूर्व [१।३।११] सन्दर्भ में 'अव्यय' पद का अर्थ प्रधान किसतरह मान लिया गया ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

महद्वच्च ॥७॥

[महद्वत्] महत् के समान [च] और। जैसे 'महत्' का महत्तत्व की पूर्वावस्था अर्थ है, उसीतरह वहां 'अव्यय' का प्रधान अर्थ है।

अध्यात्मशास्त्रों में 'महत्' पद का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। 'वेदाऽहमेतं पुरुषं महान्तम्' [यजु० ३१।१८] इस मन्त्रभाग में 'महत्' पद का प्रयोग परमात्मा के लिये है। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' [कठ० १।२।२०] इस सन्दर्भ में 'महत्' पद का प्रयोग अतिविशाल लोक-लोकान्तरों के लिये हुआ है। 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' [कठ० २।३।२] वाक्य में 'महत्' पद 'अधिक' अर्थ को कहता है। 'महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' [कठ० १।२।२२] इस उपनिषद् वाक्य में 'महत्' पद का प्रयोग सर्वव्यापक परमात्मा के लिये है। विविध अर्थों में 'महत्' पद का प्रयोग होने पर कठ उपनिषद् [१।३।१०, ११] के सन्दर्भ में इसका प्रयोग महत्तत्व की पूर्वावस्था का बोध कराने के लिये हुआ है। सूत्रकार का आशय है, कि किसी पद का प्रयोग वहां किस अर्थ का बोध कराता है, यह उस प्रकरण और सन्दर्भ की अर्थसंगति से निश्चित होता है। एक ही पद का प्रयोग अनेक अर्थों में प्रकरणानुसार हुआ करता है। इसीप्रकार 'महत्' पद का जैसे अन्य अनेक अर्थों में प्रयोग होते हुए कठ उपनिषद [१।३।१०, ११] के सन्दर्भ में महत्तत्व की पूर्वावस्था का बोधक है, ऐसे यहां 'अव्यक्त' पद प्रधान का। इस सन्दर्भ में प्रधान और उसके कार्यों का उल्लेख कर उनसे उत्कृष्ट ब्रह्मपुरुष को बताया है। ब्रह्म की श्रेष्ठता प्रतिपादन करने के लिये यह वर्णन है।

सूत्र में 'च' पद से इसी सन्दर्भ में उन पदों की ओर संकेत है, जिनका अन्यत्र अन्य अर्थों में प्रयोग हुआ है, और यहां वह पद किसी विशिष्ट अर्थ को कहता है। 'बुद्धि' पद का अन्यत्र साधारण ज्ञान अर्थ होते हुए भी यहां उसका प्रयोग सांख्याभिमत महत्तत्व के लिये है। इसीप्रकार उक्त सन्दर्भ में 'अर्थ' पद भी पारिभाषिक है। जैसे इन पदों के

यहां विशिष्ट अर्थ अभिप्रेत हैं, उसीके अनुसार 'अव्यय' पद का अर्थ यहां प्रधान अथवा प्रकृति है, जिसका उपपादन विशेषरूप से सांख्यतन्त्र में किया गया है। कठ [१।३।१५] के सन्दर्भ में 'अव्यय' पद का 'अपरिणामी परमात्मा' अर्थ होने से पूर्वसन्दर्भ [१।३।११] में 'अव्यय' पद का प्रधान अर्थ होने में कोई बाधा नहीं है। ब्रह्मवर्णन के प्रसंग में प्रकृति का वर्णन ब्रह्म की सर्वोत्कृष्टता के प्रतिपादन के लिये होने से आनुषंगिक है, केवल प्रासंगिक। फलतः चतुर्थपाद के इन प्रारम्भिक सूत्रों से स्पष्ट किया गया, कि जगत् का उपादानकारण त्रिगुणात्मक प्रकृति के होने पर ब्रह्म की जगत्कारणता में इससे कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि ब्रह्म जगत् का निमित्तकारण कर्त्ता नियन्ता व अधिष्ठाता है ॥७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, श्वेताश्वतर उपनिषद् [४।५] में 'अजा' नाम से केवल त्रिगुणात्मक प्रकृति को जगत् के बनानेवाली कहा है। 'अज' पद से बद्ध और मुक्त जीव का उल्लेख है, जगद्रचना में ब्रह्म का कोई निर्देश नहीं है। इससे ब्रह्म की जगत्कारणता में सन्देह उत्पन्न होता है। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

चमसवदविशेषात् ॥८॥

[चमसवत्] चमस की तरह [अविशेषात्] अविशेष से–साधारण कथन से। जैसे बृहदारण्यक उपनिषद् [२।२।३] में 'चमस' का साधारण कथन है, उसका विशेष निश्चय अगले वाक्यों से होता है, ऐसे यहां [श्वे० ४।५] उपनिषद् वाक्य के अन्तिम चरण से ब्रह्म का साधारण कथन है, उसका विशेष निश्चय अगले वाक्यों द्वारा होता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् [४।५] में सन्दर्भ है–

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

'अजा' प्रकृति का नाम है, क्योंकि वह सब जगत् का उपादानकारण है, उसका कोई कारण नहीं, इसलिये वह 'अजा' है–'न जायत इत्यजा' जो कभी उत्पन्न न हो। वह एक है; यह विशेषण इस भाव को प्रकट करता है, कि वह जगत् की एकमात्र उपादान-कारण है, उसकी उपादानकारणता में अन्य किसीकी साझेदारी नहीं है। वह लोहित-शुक्लकृष्णरूपा है। लोहित-रजस्, शुक्ल-सत्त्व, कृष्ण-तमस्; इसप्रकार वह त्रिगुणात्मिका है। वह विविधप्रकार की समानरूप प्रजाओं का अर्थात् अपने समान त्रिगुणात्मक जड़रूप कार्यों का सर्जन करती है। एक 'अज' इससे सम्बद्ध रहता हुआ इसके साथ शयन करता है। अर्थात् इसके सम्पर्क में शुभाशुभ कर्मों का अनुष्ठान करता और उनके फलों को भोगा करता है। यह 'अज' जीवात्मा है। यह कभी उत्पन्न नहीं होता, नित्य चेतनतत्त्व है। इसलिये यह 'अज' है। इसका 'एक' विशेषण प्रकट करता है, कि केवल जीवात्म-तत्त्व प्रकृति से सम्बद्ध रहकर शुभाशुभ कर्मों को करता और फलों को भोगता है, अन्य चेतन नहीं। सन्दर्भ के चतुर्थ चरण में कहा–अन्य अज भुक्तभोगा प्रकृति को छोड़देता है।

यह वाक्य मुक्त जीवात्मा का कथन करता है, जिसने प्रकृति से सम्बद्ध रहकर भोगों को भोग लिया है, तथा चेतन-अचेतन के साक्षात्कार से मोक्ष प्राप्त कर लिया है, प्रकृति से अब सम्बन्ध नहीं रहा।

इस उपनिषत्संदर्भ में प्रकृति और जीवात्मा का उल्लेख है, परब्रह्म का कोई संकेत नहीं। इसके अतिरिक्त 'अजा' के विशेषण 'सृजमाना' पद से यह भाव ध्वनित होता है, कि प्रकृति स्वतः समानरूप विविध प्रजाओं का सर्जन किया करती है। यह पद व्याकरण के अनुसार कर्त्ता अर्थ में 'सृज' धातु से 'शानच्' प्रत्यय कर निष्पन्न होता है। इसका अभिप्राय है–प्रकृति प्रजाओं–कार्यों के उत्पन्न करने में स्वतन्त्र है। इससे ब्रह्म के कर्तृत्व की उपेक्षा कीगई है, ऐसा प्रतीत होता है। तब यह सन्देह होजाता है, कि क्या यहां ब्रह्म को जगत् का कारण नहीं माना गया? यहां यह भी भासित होता है, मानो प्रकृति को ब्रह्म के स्थान पर कारण मानलिया गया हो, अर्थात् जगत् की रचना में जो प्रेरणा व नियन्तृत्वरूप कार्य ब्रह्म का है, वह प्रकृति स्वयं कर लेती है। लगभग ऐसी आशंका प्रकारान्तर से प्रस्तुत पाद के प्रथम सूत्र में उठाई गई है। जगत् के प्रति ब्रह्म और प्रकृति की कारणता को स्पष्ट तथा दृढ़ करने की भावना से सूत्रकार ने अन्य वाक्य के आधार पर उस प्रसंग को पुनः उठाकर उसका इसप्रकार समाधान किया।

श्वेताश्वतर उपनिषद् [४।५] सन्दर्भ के चतुर्थ चरण में साधारणरूप से ब्रह्म का संकेत है, इस तथ्य का निश्चय अगले [४।६] सन्दर्भ से होता है। जगत् के जिस उपादान-तत्त्व का प्रथम सन्दर्भ [४।५] में 'अजा' पद से निर्देश है, उसी तत्त्व को अगले सन्दर्भ [४।६] में 'वृक्ष' पद से कहा गया है, तथा जिन दो चेतनतत्त्वों का निर्देश प्रथम सन्दर्भ में 'अज' पद से है, उन्हीं का निर्देश अगले सन्दर्भ में 'सुपर्ण' पद से किया है। उन दोनों चेतनतत्त्वों के विषय में वहां विवरण प्रस्तुत किया–'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।' उनमें से एक उस वृक्ष के स्वादु फलों का उपभोग करता है, तथा दूसरा विना उपभोग किये प्रकाशित रहता है। यहां प्रथम चेतनतत्त्व जीवात्मा और दूसरा परब्रह्म है। दूसरे स्थान पर मुक्तजीव का ग्रहण यहां नहीं किया जासकता; क्योंकि मुक्त जीवात्मा उस वृक्ष के स्वादु फलों का कभी आस्वादन नहीं करता, यह कहना असंभव है। उसने मुक्त अवस्था से पूर्व आस्वादन किया है, आगे भी सम्भावना होसकती है। यहां उसी चेतनतत्त्व का ग्रहण सम्भव है, जो कभी वृक्षफल का उपभोग नहीं करता। ऐसा चेतनतत्त्व केवल ब्रह्म है। प्रकृतिरूप वृक्ष के फलों का भोग जीवात्मा के प्रकृति-सम्पर्क में रहने पर स्वकृत शुभाशुभ कर्मों के फलों का भोगना है। इस स्थिति में ब्रह्म कभी नहीं आता, इसलिये वृक्षफलों को न भोगता हुआ वह सदा प्रकाशित रहता है, यह कथन सर्वथा युक्त है। इसप्रकार यहां दो चेतनतत्त्व जीवात्मा और परमात्मा वर्णित हैं। इसीके अनुसार प्रथम सन्दर्भ [४।५] में 'अज' पदों से जिन दो चेतनतत्त्वों का निर्देश है, वे यथाक्रम जीवात्मा और परमात्मा समझने चाहियें। इससे प्रकट होता है, कि प्रथम

सन्दर्भ [४।५] के चतुर्थ चरण में साधारणरूप से [अविशेषात्] ब्रह्म का संकेत है।

वहां पर कहे गये–'जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' ये पद आपाततः ऐसा बोध कराते हैं, कि कदाचित् यहां मुक्तजीव का वर्णन किया गया हो; क्योंकि 'भुक्तभोगा' पद यह स्पष्ट करता है, कि वह अज 'अजा' के सम्पर्क से भोगों को भोगचुका है। पर गम्भीरता से इन पदों पर विचार किया जाय, तो इनका यह रहस्य प्रकाश में आजाता है, कि अजा 'भुक्तभोगा' बद्ध जीवात्मा के लिये भी उसीतरह है, जिसतरह मुक्त के लिये। जो जीवात्मा प्रकृतिसम्पर्क में रहता उसका भोग कर रहा है, वह भी न जाने कितने लम्बे काल से प्रकृति को भोग चुका है; भोग के प्रारम्भ रहते जैसे प्रकृति उसके लिये भोग्या है, वैसे वह 'भुक्ता' भी है। इसलिये यहां 'भुक्तभोगा' पद 'जहाति' क्रिया के साथ इस भावना को ध्वनित करता है, कि जिसने इस प्रकृति को भोगी हुई के समान सदा छोड़ा हुआ है, अर्थात् जो भोग के लिये इसके सम्पर्क में कभी नहीं आता; अथवा जीवात्माओं द्वारा 'भुक्तभोगा' अजा से इस रूप में सदा असम्पृक्त रहता है; वह दूसरा 'अज' परब्रह्म है, जो पहले अज से भिन्न है। ऐसा 'अज' केवल ब्रह्म होसकता है, मुक्त जीवात्मा नहीं। इसप्रकार उक्त [श्वे० ४।५] सन्दर्भ में ब्रह्म का संकेत स्पष्ट होता है।

सन्दर्भ के 'सृजमाना' पद के आधार पर जो भाव प्रकट किया गया है, उससे ब्रह्म के जगत्कारण माने जाने की उपेक्षा प्रतीत नहीं होती। यहां कर्त्ता अर्थ में प्रत्यय होने पर भी प्रयोज्यकर्तृत्व विवक्षित है। सृजमाना–सर्जन करती हुई–का अभिप्राय होता है–सृष्टि के रूप में परिणत होती हुई। प्रकृति में यह परिणतिक्रिया अन्य चेतन-तत्त्व की प्रेरणा से होती है, वह इसका प्रयोजक व प्रेरक है। ब्रह्म प्रकृति का प्रेरक है, यह प्रथम [श्वे० १।१२] स्पष्ट करदिया गया है। श्वेताश्वतर के इस प्रसंग के अगले सन्दर्भों में अजा–प्रकृति को 'अनीशा' बताया है, जो ईशा–स्वतन्त्र नहीं है। 'अनीशया शोचति मुह्यमानः' [श्वे० ४।७]। बद्ध जीवात्मा इस वृक्षरूप प्रकृति में डूबा रहता है, इस अनीशा–परतन्त्रा प्रकृति के साथ सम्पर्क से अज्ञान में पड़ा हुआ दुःखी होता है; जब प्रकृति के नियन्ता ईश का साक्षात्कार करता और उसके महत्त्व को जानलेता है, तब शोक से दूर होजाता है। इससे स्पष्ट होता है, कि जगद्रचना में प्रकृति एकमात्र निरपेक्ष कारण नहीं है, प्रत्युत 'अनीशा' है। 'सृजमाना' पद के अर्थ को इसी तात्पर्य की छाया में समझना चाहिये।

इसी प्रसंग में आगे स्पष्ट बताया–प्रकृति का अधिष्ठाता वह महेश्वर परब्रह्म समस्त विश्व की रचना करता है, और जीवात्मा उस प्रकृति में बंधा रहता है–'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः' [श्वे० ४।९]। 'मायी' माया प्रकृति का अधिष्ठाता परमेश्वर है। अगले सन्दर्भ में इसको स्पष्ट किया–'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' [श्वे० ४।१०]। माया पद का अर्थ प्रकृति है, और उसका स्वामी–अधिष्ठाता मायी–परब्रह्म है। वह परब्रह्म प्रकृति से समस्त विश्व की रचना

करता है। इन सब वाक्यशेषगत वर्णनों से स्पष्ट होता है, कि 'अजा' सन्दर्भ में साधारण-रूप से परब्रह्म का संकेत है, जो अगले प्रसंगों के अनुसार स्पष्ट होता है। प्रकृति उसकी प्रेरणा से जगद्रूप में परिणत हुआ करती है। इस प्रसंग में प्रतिपादित अर्थ की पुष्टि के लिये सूत्रकार ने उदाहरण दिया है–'चमसवत्।'

बृहदारण्यक उपनिषद् [२।२।३] में प्रसंग है–'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः।' यहां 'चमस' पद साधारणरूप से चमचे का निर्देशक कहा जासकता है, जिसका खुला खालीभाग नीचे और तला ऊपर है, ऐसा कोई चमचा या कटोरा आदि सोमपात्र अथवा अन्य कोई पात्र होसकता है, इसका कोई विशेष अर्थ यहां मन्त्रोच्चारित पदमात्र से प्रतीत नहीं होता। उपनिषद् के अगले व्याख्याभूत सन्दर्भ से इसका निश्चय होता है, कि यहां 'चमस' पद का अर्थ 'सिर' है। इसकी बनावट चमचा या कटोरे की तरह है। तला ऊपर और मुखरूप बिल [खुलाभाग] नीचे की ओर है। यह अर्थ अगले सन्दर्भ से स्पष्ट होता है। इसीप्रकार 'अजा' मन्त्र में 'अजा' पद का अर्थ प्रकृति अथवा प्रधान है, इसके साथ एक 'अज' जीवात्मारूप चेतनतत्त्व तथा दूसरा 'अज' परब्रह्म का निर्देश है, इसका निश्चय अगले सन्दर्भ से होजाता है। यद्यपि 'अज' मन्त्र में यह कथन साधारणरूप से है, पर आगे इसका विशेषरूप से स्पष्टीकरण है, जो सूत्र की व्याख्या में निरूपित कर दिया गया है ॥८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यहां [श्वे० ४।५] वर्णित लोहित-शुक्ल-कृष्णरूपा अजा' प्रकृति परमेश्वराधीन रहती जगद्रूप में परिणत हुआ करती है; यह निश्चय किया गया। क्या इसकी पुष्टि अध्यात्मशास्त्र के किसी अन्य प्रसंग से होती है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥९॥

[ज्योतिरुपक्रमा] ज्योति–तेज आदिक [तु] ही [तथाहि] जैसा कि [अधीयते] पढ़ते हैं [एके] कतिपय। तेज आदिक पदों से अजा-प्रकृति का ही वर्णन है; जैसा कि कतिपय ऋषि अन्यत्र पढ़ते हैं–कथन करते हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् [६।४।१–७] में तेज-अप्-अन्न पदों द्वारा उनको रोहित-शुक्ल-कृष्णरूप बताते हुए यथाक्रम रजस्-सत्त्व-तमस् का वर्णन किया गया है, जो जगत् के मूलउपादानतत्त्व हैं, इन्हीं की सम-अवस्था को अजा प्रकृति, प्रधान एवं अव्यक्त आदि पदों द्वारा प्रकट किया जाता है। उपनिषत्कार ने पढ़ा–'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' [छा० ६।४।१] अग्नि का जो रोहित-लोहित-रूप है वह 'तेज' का, जो शुक्ल है वह 'अप्' का; जो कृष्ण है वह 'अन्न' का है। इस वाक्य में अग्नि की विशेषताओं से उसके उपादानतत्त्वों का निर्देश है। अग्निगत लौहित्य तेज का, शौक्ल्य अप का और कार्ष्ण्य अन्न का बोधक है। यह निश्चित है, कि

'तेज' आदि पदों से यहां स्थूल भौतिक तेज (अग्नि), जल और अन्न (पृथिवी) का ग्रहण अपेक्षित नहीं है। यदि ऐसा हो, तो उपनिषद् का कथन असंगत होगा; क्योंकि अग्नि में रोहित-शुक्ल-कृष्णरूपों को अग्नि-जल-पृथिवी इन स्थूलभूतों का बताना सम्भव नहीं। न अग्नि में इनका इसप्रकार [काला, लाल, सफेद] होना सम्भव है। वस्तुतः उपनिषत्कार ने यहां 'तेजस्-अप्-अन्न' पदों द्वारा यथाक्रम 'रजस्-सत्त्व-तमस्' का निर्देश किया है। 'रोहित' आदि यथासंख्य उनके अप्रीति, प्रीति तथा विषादस्वरूप के बोधक हैं। रोहित-लोहित अर्थात् लालरंग क्रोध, द्वेष अथवा अप्रीति की भावना को प्रकट करता है; इसीप्रकार शुक्ल प्रीति और कृष्ण विषाद का द्योतक है। अप्रीति आदि यथाक्रम रजस् आदि त्रिगुण के स्वरूप हैं। इसी त्रिगुणात्मक उपादानतत्त्व का जैसे श्वेताश्वतर [४।५] में लोहित आदि पदों द्वारा 'अजा' रूप में उल्लेख हुआ है, वैसे छान्दोग्य [६।४।१] के प्रसंग में है।[1]

यहां छान्दोग्य के 'तेज' आदि पदों से यथाक्रम 'रजस्' आदि त्रिगुण का वर्णन है, इसमें उपनिषद् का यही प्रसंग प्रबल प्रमाण है, जबकि अग्नि आदित्य चन्द्रमा विद्युत् आदि तत्त्वों की रचना में इन तीनों के अस्तित्व का उपपादन किया गया है। यह समस्त विश्व की रचना का उपलक्षण है। संसार त्रिगुणात्मक मूलउपादान से परिणत होता है। नियन्ता के संकल्प को यहां प्रस्तुत किया—'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति' [छा० ६।३।३] इन तीनों देवताओं में से एक-एक को त्रिवृत-त्रिवृत कर दूं। तीनों को प्रत्येक में मिला दूं; जगत् के उपादानभूत तीनों गुणों को अन्योन्यमिथुनवृत्ति कर दूं। जब इसप्रकार जगद्रचना का कार्य प्रारम्भ होचुका है, उस स्थिति का वर्णन उपनिषत्कार ने किया—'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्' [छा० ६।३] उनमें से प्रत्येक देवता को तिकड़ी में सन्निवेशित कर दिया। तीनों एक दूसरे में अन्योन्यमिथुनवृत्ति होकर जगद्रचना में प्रवृत्त कर दिये गये। आगे पुनः उपनिषत्कार आरुणि के मुख से श्वेतकेतु के प्रति कहलवाता है—'यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति' [छा० ६।३।४] हे सोम्य! जिसप्रकार ये तीनों देवता प्रत्येक एक-दूसरे में मिलकर अर्थात् अन्योन्यमिथुनवृत्ति होकर त्रिवृत् होजाता है, वह मुझसे समझो। इसी-के आगे चतुर्थ खण्ड [छा० ६।४] में 'यदग्ने रोहितं रूपं' इत्यादि वर्णन है। जहां उन तीनों के 'रोहित' आदि स्वरूप को बतलाते हुए विविध पदार्थों में से प्रत्येक में उन तीनों के अस्तित्व का उपपादन किया है।

सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र से स्पष्ट किया, कि श्वेताश्वतर उपनिषद् [४।५] में जिस 'अजा' तत्त्व का 'लोहित' आदि पदों द्वारा त्रिगुणात्मकरूप में वर्णन है। उसी तत्त्व

---

१. इसके विशद विवेचन के लिये देखें हमारी रचना—'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ ४८–५०; १४६–१५६ तथा ३०५–३०७।

का ज्योति–'तेज' पद से प्रारम्भकर उनके 'रोहित' आदि स्वरूप के निर्देशपूर्वक छान्दोग्य में उपपादन किया है । यहां [छा० ६।३।२] ईक्षण करनेवाली देवता ब्रह्म है, उसने जिन अन्य तीन देवताओं को नामरूपात्मक जगत् के आकार में परिणत व विस्तृत किया, वे 'रोहित' आदि पदों से निर्दिष्ट 'रजस्, सत्त्व, तमस्' हैं । ब्रह्म ने ईक्षणपूर्वक उन तीन देवताओं का जगद्रूप में विस्तार किया, इस कथन से यह स्पष्ट होजाता है, कि वह त्रिगुणात्मिका देवता 'प्रकृति–अजा' ब्रह्म की प्रेरणा से विश्व के रूप में परिणत हुआ करती है । इसप्रकार श्वेताश्वतर का कथन छान्दोग्य के वर्णनों से पुष्ट होता है ॥९॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जगत् का मूलउपादानकारण त्रिगुणात्मक प्रकृति है, इस उपादानता में अन्य किसी की साझेदारी नहीं । ब्रह्म केवल जगदुत्पत्ति आदि के लिये प्रकृति का प्रेरक व नियन्ता है, तब ब्रह्म के शरीररूप में प्रकृति का वर्णन क्यों किया गया है ? उसका ब्रह्म के समान स्वतन्त्ररूप से वर्णन होना चाहिये; अन्यथा ऐसे कथन में विरोध की आशंका होगी । जब प्रकृति एकमात्र जगत् का उपादान है, तो उसे किसी अन्य के शरीररूप में क्यों वर्णन किया जाय ? इसके अतिरिक्त यह भी जिज्ञासा है, कि अध्यात्मशास्त्र में अनेक स्थलों पर प्रकृति को अक्षर व अव्यक्त कहा है, परन्तु पूर्वोक्त 'अजा-मन्त्र' में उसका वर्णन लोहित-शुक्ल-कृष्णरूप में है, जो अव्यक्त अवस्था के विरुद्ध प्रतीत होता है । ऐसा वर्णन किस आधार पर किया गया ? आचार्य सूत्रकार उक्त जिज्ञासाओं का एकरूप में समाधान करता है—

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥१०॥

[कल्पनोपदेशात्] कल्पना से उपदेश होने से [च] और [मध्वादिवत्] मधु आदि की तरह [अविरोधः] विरोध नहीं । अजा–प्रकृति का ब्रह्म के शरीररूप में कल्पनामूलक उपदेश होने से यहां कोई विरोध नहीं है; जैसे आदित्य को कल्पना से मधु कहा गया है ।

छान्दोग्य उपनिषद् [३।१।१] में आदित्य को देवों का मधु कहा है–'असौ वा आदित्यो देवमधु ।' आदित्य स्वरूप से मधु नहीं है, उसे मधु केवल कल्पना के आधार पर कहा है, उसका विवरण उसी प्रसंग में आगे है । इसीप्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् [५।८।१] में वाणी को धेनुरूप में कल्पना कर लिया गया है–'वाचं धेनुमुपासीत' वाणी की धेनुरूप में उपासना करे । ऐसी कल्पना के आधार का विवरण उपनिषद् के उस प्रसंग में आगे वर्णित है । अमधु आदित्य को मधुरूप में तथा अधेनु वाणी को धेनुरूप में जैसे कल्पना कर लिया गया है; ऐसे ही अस्मदादि प्राणियों की तरह ब्रह्म का शरीर प्रकृति न होने पर भी उसका शरीररूप में कल्पनामूलक उपदेश है । जैसे प्राणिशरीर का नियन्ता व अधिष्ठाता चेतनतत्त्व जीवात्मा है, ऐसे जगत् के उपादान अचेतन प्रकृति का नियन्ता व अधिष्ठाता ब्रह्म है, ऐसे साम्य के आधार पर प्रकृति–अजा

को ब्रह्म के शरीररूप में कल्पना कर अध्यात्मशास्त्र के कतिपय प्रसंगों में वर्णन किया है। जीवात्माओं के भोग्याधार वास्तविक देहों की तरह प्रकृति ब्रह्म का शरीर नहीं है।

ब्रह्म सबका नियन्ता चेतनतत्त्व है, प्रकृति अचेतन है, जगत् का एकमात्र उपादान होने पर भी ब्रह्म के साम्मुख्य में उसकी प्रधानता नहीं मानी जाती; पर शास्त्रीय वर्णनों में दोनों का उल्लेख इस सामञ्जस्य के साथ निर्बाधरूप में होता रहा है। वेद [ऋ० १।१६४।२०; १०।७२।२; १०।१२६।२] तथा उपनिषदों [श्वे० १।१०; ४।७।। मुण्ड० २।१।१-२; २।२।६] में ऐसे वर्णन अनेकत्र उपलब्ध हैं। वेदों के पुरुषसूक्तों [ऋ० १०।६०।। यजु० ३१।। साम० पू० ६।४ (६१७)।। अथर्व० १६।६] में विश्व का ब्रह्म के देहांगों के रूप से जो वर्णन है, वह ब्रह्म के अतिशय विराट्रूप का द्योतक है। इतना अतिविशाल समस्त विश्व उसकी तुलना में अत्यन्त क्षुद्र है, ऐसी भावनाओं को प्रकट करने में उन वर्णनों का तात्पर्य है। स्पष्ट है, कि ये वर्णन कल्पना पर आधारित हैं। फलतः ऐसे वर्णनों में किसी तरह का विरोध नहीं। ब्रह्म के शरीररूप में—वर्णनगत चमत्कार व सौष्ठव की भावना से—कल्पना किये जाने पर भी प्रकृति की केवलमात्र उपादानता निर्बाध बनी रहती है। शरीरकल्पना से प्रकृति ब्रह्म का स्वरूप नहीं बन जाती, उसकी स्वरूपसत्ता अक्षुण्ण रहती है।

'अजामन्त्र' में लोहित-शुक्ल-कृष्ण पद उपादान के व्यक्त अथवा कार्यरूप को प्रकट नहीं करते। इन पदों द्वारा त्रिगुण के स्वभाव—क्रिया, प्रकाश और आवरण का बोध होता है, जो यथाक्रम रजस्, सत्त्व, तमस् के द्योतक हैं। इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया गया है, कि ये पद—रजस्, सत्त्व, तमस्—के यथासंख्य अप्रीति, प्रीति और विषाद स्वरूप को प्रकट करते हैं। त्रिगुणविषयक इन विशेषताओं को अभिव्यक्त करने के लिये त्रिगुणात्मक 'अजा' का इस रूप में वर्णन हुआ है। कार्य-कारण की अपेक्षित समानता के अनुरूप कार्य से कारण की कल्पना के आधार पर यह उपदेश है। प्रवक्ता ऋषि के ऊपर यह नियम—नियोग आरोपित नहीं किया जासकता, कि उसने सीधा 'रजस्-सत्त्व-तमस्' पदों का प्रयोग क्यों नहीं किया ? इस आधार पर प्रयोगों के वास्तविक स्वारस्यपूर्ण अर्थ को समझने का यदि प्रयास न किया जाय, तो अध्यात्मशास्त्रों में अनेक पदों द्वारा ब्रह्म के वर्णन का समाधान किया जाना अशक्य होगा। वहां भी सर्वत्र 'ब्रह्म' पद का प्रयोग क्यों नहीं कर दिया गया ? स्पष्ट है, इस विवरण के अनुसार 'अजामन्त्र' में 'लोहित' आदि पद किन्हीं विशिष्टताओं का संकेत करते हुए 'रजस्' आदि त्रिगुणात्मक अव्यक्त 'अजा' का बोध कराते हैं; अन्यथा 'बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः' का उल्लेख असमंजस होता। इसलिये सन्दर्भ के प्रथमचरण में अव्यक्त अजा का वर्णन होने से अन्यत्र प्रकृति के अव्यक्त वर्णनों के साथ इसका कोई विरोध नहीं है।

इस प्रसंग में आचार्य शकर ने श्वेताश्वतर उपनिषद् [४।५] के 'अजा' एवं 'अज' पदों का बकरा व बकरी आदि अर्थ कर जहां विद्वत्ता की पराकाष्ठा का द्योतन

किया है, वहां किसी भी सत्य या असत्य बात को स्वीकार कर उसके लिये हठपूर्वक दुराग्रह का भी यह एक अनूठा नमूना है। सूत्रों के प्रासंगिक अर्थों की उपेक्षा कर अनर्थ का ही प्रसार किया है ॥१०॥

शिष्य आशंका करता है, 'अजामन्त्र' में ब्रह्म की कारणता के संकेत का गत सूत्रों से जो उद्भावन किया गया, वह युक्त प्रतीत नहीं होता। कारण यह है, कि उक्त सन्दर्भ में 'अजामेकां' यह अजा के साथ एकत्व संख्या का स्पष्ट निर्देश है, जो इस भाव को प्रकट करता है, कि जगत् का सर्जन करनेवाली एकमात्र अजा–प्रकृति है, अन्य कोई कारण उसके साथ अपेक्षित नहीं होना चाहिये। अन्यथा एकत्व संख्या का निर्देश असंगत कहा जायगा। ऐसी दशा में ब्रह्म की जगत्कारणता सन्दिग्ध है, तब आरम्भ से ब्रह्मस्वरूप का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र का उद्देश्य धूमिल होजाता है। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥११॥

[न] नहीं [संख्योपसंग्रहात्] संख्या के उपसंग्रह से [अपि] भी [नानाभावात्] नाना होने से [अतिरेकात्] अतिरेक–अधिक होने से [च] और। उपनिषत्सन्दर्भ में अजा के साथ एक संख्या के पढ़े जाने से भी अकेली अजा का कारण होना सिद्ध नहीं होता, कारणों के नाना होने से और प्रकृति से अतिरिक्त ब्रह्मकारण के कहे जाने से।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के 'अजामेकां' [४।५] सन्दर्भ में 'अजा' पद को 'एक' विशेषण किस प्रयोजन से दिया गया है, इसका विवरण गतसूत्र [१।४।८] की व्याख्या में देख लेना चाहिये। यह पद केवल इतने अर्थ को प्रकट करता है, कि जगत् का उपादान-कारण अकेली अजा–प्रकृति है, यह उक्त सन्दर्भ के द्वितीय चरण से स्पष्ट है। इसका यह तात्पर्य नहीं, कि यदि उपादान अकेली प्रकृति है, तो अन्य किसी कारण का अस्तित्व नहीं। निश्चित है, उक्त कथन से अन्य कारण का प्रतिषेध नहीं होता। यह एक नियत व्यवस्था है, कि किसी कार्य के कारण अनेक हुआ करते हैं। यदि कहीं किसी एक कारण का निर्देश हो, तो उससे कारणान्तरों का प्रतिरोध नहीं होजाता। 'अजा' सन्दर्भ के चतुर्थचरण में प्रथमवर्णित अजा और अज से स्पष्टतया उस अज को 'अन्य' बताकर आगे उसीको विश्वस्रष्टा कहा है [४।६]। यह कथन कारणों के नाना–अनेक होने से संभव हो-सकता है। इसलिये उक्त सन्दर्भ में 'अजा' पद के साथ या समीप 'एक' पद के संग्रह अर्थात् पढ़े जाने से भी यह आशय प्रकट नहीं होता, कि प्रकृति के अतिरिक्त जगत् का अन्य कोई किसी तरह का कारण नहीं है।

फिर अन्यत्र समस्त प्रकृति और उसके कार्यों से अतिरिक्त–अधिक बताते हुए ब्रह्म को जगत्कारण कहा है। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।१७] में उल्लेख है–'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्'

जिसमें पांच पञ्चजन और आकाश–अव्यक्त प्रकृति प्रतिष्ठित हैं, उसीको सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी परब्रह्म मानता हूं। उस अमृत ब्रह्म को जो जानलेता है, वह अमृत होजाता है, मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है। यह सन्दर्भ स्पष्ट करता है, कि आकाशपदवाच्य प्रकृति और उसके कार्य सब ब्रह्म में प्रतिष्ठित रहते हैं। प्रकृति आदि का ब्रह्म में प्रतिष्ठित होना प्रकट करता है, कि ब्रह्म इन सबका आधार, अधिष्ठाता व नियन्ता है, उसकी प्रेरणा के अनुसार इन सबका अस्तित्व है। इसप्रकार ब्रह्म में प्रकृति आदि का प्रतिष्ठित रहना प्रकृति से ब्रह्म के 'अतिरेक'–उत्कृष्टता–अधिकता–विशेषता को स्पष्ट करता है। इसकारण यह कथन अमान्य होजाता है, कि अकेली प्रकृति चेतन की अपेक्षा के विना जगत् की रचना किया करती है। प्रकृतिद्वारा समस्त रचना ब्रह्म के नियन्त्रण में होती है, इसलिये ब्रह्म की जगत्कारणता अक्षुण्ण है, उसको चुनौती दिया जाना किसी प्रकार शक्य नहीं।

बृहदारण्यक उपनिषद् के सन्दर्भ में पठित 'आकाश' पद अव्यक्त प्रकृति के लिये प्रयुक्त है, वही अर्थ ऊपर लिखा गया है, इससे चौंकने की आवश्यकता नहीं। आचार्य शंकर ने स्वयं इस पद का यहां 'अव्याकृत तत्त्व' अर्थ किया है। यह वही तत्त्व संभव है, जिसका परिणाम जगत् है। जगद्रूप में विस्तृत समस्त तन्तुजाल उस अव्यक्त–अव्याकृत तत्त्व में ओत-प्रोत है, और वह तत्त्व ब्रह्म में प्रतिष्ठित है, ब्रह्म उसके इस समस्त प्रकार का नियन्ता होने से आधार है। उपनिषदों में अन्यत्र भी प्रकृति के अर्थ में 'आकाश' पद का प्रयोग हुआ है। बृहदारण्यक [३।८।११] में पाठ है–'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति।' गार्गी ने याज्ञवल्क्य से पहला प्रश्न किया–यह द्युलोक, पृथिवीलोक, इसके परे और अंतराल में जो कुछ है, तथा जो कुछ होचुका है, है और आगे होगा; यह सब किसमें प्रतिष्ठित है? किसमें ओत-प्रोत है? [३।८।३] याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, यह सब आकाश में ओत-प्रोत है, आकाश में प्रतिष्ठित है। गार्गी ने आगे प्रश्न किया, आकाश किसमें प्रतिष्ठित है? [३।८।७] याज्ञवल्क्य ने उस परब्रह्म का वर्णन करते हुए उत्तर दिया–हे गार्गि! इसप्रकार के 'अक्षर' तत्त्व में वह आकाश प्रतिष्ठित है। प्रथम प्रश्न में समस्त कार्यजगत् का प्रतिष्ठान पूछा गया, वह प्रतिष्ठान–जिसका यह जगत् परिणाम है। उत्तर में वह 'आकाश' बताया गया। स्पष्ट है, कि यहां 'आकाश' पद जगत् के उपादानतत्त्व प्रकृति का वाचक है। इस समस्त कार्य को अपने अन्दर लपेटे हुए प्रकृति का आधार सबका नियन्ता होने के कारण 'अक्षर' पदवाच्य ब्रह्म को बताया है। इससे यह भी स्पष्ट होजाता है, कि 'आकाश' पदवाच्य प्रकृति और 'अक्षर' पदवाच्य ब्रह्म दोनों परस्पर भिन्न तत्त्व हैं, तभी नियन्तृ–नियम्यभाव आदि का वर्णन यथार्थ कहा जासकता है।

इसप्रकार यह 'अतिरेक' हेतु इस सचाई को सिद्ध करता है, कि ब्रह्म के नियन्त्रण के विना अकेली प्रकृति जगत् का सर्जन नहीं करती। प्रकृति का नियन्ता ब्रह्म

जगत् का सर्वोत्कृष्ट कारण है, क्योंकि उसकी प्रेरणा विना प्रकृति रचना में सर्वथा असमर्थ रहती है। फलतः शास्त्र के आरम्भ से 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि प्रसंगद्वारा ब्रह्म-स्वरूप का जो उपपादन किया गया है, वह अधिक स्पष्ट होजाता है ॥११॥

शिष्य आशंका करता है, गतसूत्र के 'अतिरेकात्' हेतु की व्याख्या करते हुए बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।१७] का जो सन्दर्भ प्रस्तुत किया गया, उसमें 'पञ्चजनाः' पद का अर्थ 'कार्यजगत्' किसप्रकार होसकता है? वैदिक साहित्य [ऋ० ५।३२।११॥ ८।६३।७॥ ६।६६।२०] में इस पद का प्रयोग पांच प्रकार की जनता–चार वर्ण और पांचवां निषाद अथवा अन्त्यज, एवं देव, पितर, गन्धर्व, असुर, राक्षस तथा पांच प्राण आदि के अर्थों में सुना गया है। तब उपनिषत्संदर्भ में इस पद का अर्थ–कार्य जगत्–किस आधार पर किया जाता है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥१२॥

[प्राणादयः] प्राण आदि [वाक्यशेषात्] वाक्यशेष से। उक्त सन्दर्भ [४।४।१७] के अगले वाक्य से यह प्रमाणित होता है, कि यहां 'पञ्चजनाः' पद का अर्थ उस वाक्य में कहे गये 'प्राण' आदि हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।१७] के सन्दर्भ में पठित 'पञ्च पञ्चजनाः' पद का अर्थ इस सन्दर्भ से अगले वाक्य में–ब्रह्मस्वरूप का निरूपण करने की भावना से–पांच प्राण आदि पदार्थ बताये हैं। 'पञ्चजन' पद के मनुज–विशेषों में रूढ़ि होने पर भी वाक्यशेष [अगले सन्निहित वाक्य] से मनुजसम्बन्धी प्राण आदि अर्थों में उक्त पद का प्रयोग युक्तियुक्त माना जासकता है। मनुष्यशरीर की अपेक्षा सूक्ष्म प्राण आदि पदार्थ प्रकृति के अधिक समीप हैं, इसलिये यहां 'पञ्चजन' पद से उनका कथन अभिवाञ्छित प्रतीत होता है। माध्यन्दिनशाखा के उपनिषद् में उस सन्दर्भ का पाठ इसप्रकार है—

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं
मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम्।

प्राण के प्राण, चक्षु के चक्षु, श्रोत्र के श्रोत्र, अन्न के अन्न और मन के मन को जिन्होंने जाना है, उन्होंने सर्वोत्कृष्ट नित्य ब्रह्म को ठीक समझा है। तात्पर्य यह, कि ब्रह्म प्राण का भी प्राण आदि है, अर्थात् प्राण आदि का अस्तित्व उसीकी व्यवस्था पर अवलम्बित है, उससे नियन्त्रित समस्त विश्व ठीक व्यवस्थानुसार संचालित रहता है, उसीके अनुसार प्राण आदि का होना संभव है; क्योंकि ब्रह्म सबका ईशिता है। इस सन्दर्भ में द्वितीयान्त प्राण आदि सब पद परब्रह्म का निर्देश करते हैं। अध्यात्मशास्त्र में इन पदों द्वारा ब्रह्म का निर्देश उपलब्ध होता है। वेद [अथर्व० ११।४।१] में कहा–'प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्।' उस प्राण के लिये नमस्कार है, जिसके वश में यह सब जगत् है। जो

सबका ईशिता सिद्ध है, जिसमें सब प्रतिष्ठित है। यहां 'प्राण' पद से परब्रह्म का निर्देश है। इसीप्रकार केन उपनिषद् [१।२] में कहा—'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।' श्रोत्र के श्रोत्र आदि को जानकर धीर पुरुष देहपात के अनन्तर इस लोक से अमृतलोक को प्राप्त होते हैं। अमृत अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति का उल्लेख होने से 'श्रोत्र' आदि पद यहां ब्रह्म का निर्देश करते हैं, यह स्पष्ट किया। आगे पुनः इसी प्रसंग [१।५–९] में कहा है, कि वाणी, प्राण आदि जिसकी व्यवस्था से संचालित रहते हैं, उसीको ब्रह्म समझना चाहिये, वह ब्रह्म नहीं है जो उपासना करता है। उपासना करनेवाला देह इन्द्रिय आदि से युक्त जीवात्मा होता है, उसे ब्रह्म समझना अशास्त्रीय है। इस सब जागतिक व्यवस्था का संचालन करनेवाला ब्रह्म है।

इसप्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।१८] के सन्दर्भ में 'प्राण' आदि द्वितीयान्त पद ब्रह्म का निर्देश करते हुए उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। सन्दर्भ में 'प्राणस्य' आदि षष्ठयन्त पदों से बोधित वे तत्त्व हैं, जो प्रकृति से परिणत होकर भोगापवर्ग के साधनरूप में उपासक जीवात्मा से सम्बद्ध रहते हैं। पहले सन्दर्भ [बृ० ४।४।१७] में 'पञ्चजन' पद से इन्हीं पांच—प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न, मन—का ग्रहण होता है, अन्य किसी अर्थ का नहीं। वाक्य का सान्निध्य इसमें प्रयोजक है। पहले सन्दर्भ के 'पञ्चजन' पद का विवरण अगले सन्दर्भ में है, इसलिये यह प्रथम सन्दर्भ का अंश है। फलतः इसको वाक्यशेष कहना उपयुक्त है। सूत्रकार ने इसी आधार पर हेतुरूप में इसका उल्लेख किया है।

इस [बृ० ४।४।१८] वाक्य को पहले [४।४।१७] का शेष माने जाने में कारण यह है, कि उत्तरवाक्य में 'प्राण' आदि संज्ञावाचक पद हैं, वे करणों—साधनों का निर्देश करते हैं। वे करण [प्राण, चक्षु, वाक् आदि] अपने व्यापार से ज्ञानरूप अथवा क्रियारूप कार्य आत्मा के लिये प्रस्तुत करते हैं, वे आत्मा के लिये ज्ञान आदि के उद्भावन में करण हैं, साधन हैं; उन करणों के लिये अन्य किन्हीं करणों की अपेक्षा नहीं होसकती, तब 'प्राणस्य प्राणम्' का अर्थ क्या होगा? 'प्राण करण का अन्य कोई प्राणसंज्ञक करण' ऐसा अर्थ करना तो असंगत होगा, क्योंकि वह प्रत्यक्ष आदि से बाधित है। प्राण या चक्षु आदि किसी करण का अन्य कोई करण नहीं देखा जाना जाता। फिर उपनिषत्कार ने परब्रह्म के स्वरूप व माहात्म्य का वर्णन करने की जिस भावना से इस वाक्य का उल्लेख किया है, वह व्यर्थ होजाता है; इसलिये वाक्यसंगति एवं पद के अर्थ का निर्वाह करते हुए पञ्चजन-सन्दर्भ [बृ० ४।४।१७] में इस पद का अर्थ 'प्राण' आदि स्वीकार करना आवश्यक है। तब 'पञ्चजन' पद का अर्थ होगा—बुद्धि की पांच प्रकार की वृत्तियों को उत्पन्न करने वाले तत्त्व—'बुद्धेः पञ्चवृत्तीर्जनयन्तीति पञ्चजनाः प्राणादयः' बुद्धि की पांच वृत्तियां हैं—निश्चय, संशय, विपर्यास, स्मृति और स्वाप। इन वृत्तियों के प्रादुर्भाव के

लिये प्राण आदि यथायथ साधन होते हैं, पर इनकी यह कार्यक्षमता परब्रह्म की व्यवस्था पर अवलम्बित है। ऐसा मानने पर समस्त प्रवृत्तियों का आधार होने से परब्रह्म के माहात्म्य का यह वर्णन संगत होता है, और 'पञ्चजन' पद का अर्थ प्राण आदि निश्चित होता है।

'प्राण' पद लोक-शास्त्रव्यवहार में मुख्यप्राण का वाचक है, वह वायुरूप है, अतः कारणसामान्य से प्राणपदद्वारा यहां त्वक् इन्द्रिय, प्राणसहभावी घ्राण इन्द्रिय तथा अन्य सब प्राणों का ग्रहण होजाता है। रसना अन्न में प्रतिष्ठित रहती है, अन्न की सदा आकांक्षा रखने वाली; इसलिये यह पद रसना का बोधक है। काण्वशाखा वाले यहां 'अन्न' पद न पढ़कर पूर्ववाक्य से 'ज्योतिः पद का सम्बन्ध करते हैं, ज्योति तेज है, वाक् तेजोमयी कही गई है, अतः यह वाणी का बोधक है। इसप्रकार इन प्राण आदि में समस्त करणों का समावेश है, इसलिये इनका पांच कहा जाना [पञ्च पञ्चजनाः] बाधित नहीं होता। आत्मा के लिये साधनरूप से उपस्थित ये प्राकृत तत्त्व अन्य समस्त कार्यमात्र के उपलक्षण हैं, जो भोग्य जगत् के रूप में परब्रह्मद्वारा संचालित है। इस विवरण के अनुसार 'पञ्चजन' पदबोधित प्राण आदि जगद्रूप समस्त कार्य का बोध कराते हैं। फलतः 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः' [बृ० ४।४।१७] इस सन्दर्भ में 'आकाश' पदवाच्य प्रकृति और 'पञ्चजन' पदबोधित 'प्राण' आदि से उपलक्षित समस्त कार्य जगत् परब्रह्म में प्रतिष्ठित हैं, उसी पर आधारित हैं, यह अर्थ स्पष्ट होता है। 'पञ्चजन'-सन्दर्भ में इस पद का अन्य कोई अर्थ अभीष्ट नहीं माना जासकता।

आचार्य शंकर ने इस पद से सांख्यवर्णित पच्चीस पदार्थों की निराधाररूप से कल्पना कर उसके प्रत्याख्यान का इन सूत्रोंद्वारा व्यर्थ प्रयास किया है। सांख्यग्रन्थों में इस अर्थ का कहीं संकेत उपलब्ध नहीं होता, कि उपनिषद् के इस सन्दर्भ [बृ० ४।४।१७] के आधार पर सांख्यवर्णित पच्चीस पदार्थों को सिद्ध किया गया हो। जब सांख्य की न ऐसी स्थापना है न संभावना, तब सूत्रों द्वारा उसके प्रत्याख्यान को बलात् उभारना केवल हवाई कल्पना है। आचार्य ने चेतन ब्रह्म की जगदुपादानता को यथाकथञ्चित् सिद्ध करने के प्रयास में यह कल्पना-जंजाल खड़ा किया है, फिर भी आचार्य जगत् के उपादान स्थान से 'माया' को हटाने में सफल नहीं होसका। प्रकृतिपर्याय इस पद की विलक्षण व्याख्या के साथ इसे विद्यमान रखना पड़ा है। प्रसंग का उद्देश्य गतसूत्र [१।४।११] के 'अतिरेकात्' हेतुपद की व्याख्या में प्रस्तुत उपनिषद् सन्दर्भ [बृ० ४।४।१७] के 'पञ्चजन' पद का अर्थ स्पष्ट करना और उसे ब्रह्म में प्रतिष्ठित बताना है। वे कितने हैं, इससे कोई प्रयोजन नहीं। यद्यपि यहां स्पष्ट उन्हें 'पञ्च' कहा है, पर वे चाहे जितने हों, तात्पर्य केवल इतना है, कि वे सब और उनका कारण ब्रह्म में प्रतिष्ठित हैं। अधिक होने पर भी ब्रह्म की सत्ता से उन्हें निरपेक्ष नहीं कहा जासकता। तब पच्चीस-छब्बीस या न्यूनाधिक की बहस निरर्थक है। यद्यपि प्रस्तुत उपनिषद् सन्दर्भ में 'आकाश

पद से प्रकृति का निर्देश है। पर इसके बिना भी जड़ जगत् के उपादानकारण त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति का चेतन ब्रह्म से अतिरिक्त अस्तित्व अशास्त्रीय एवं अवैदिक नहीं है[1]। गतसूत्र [१।४।११] का 'अतिरेकात्' हेतु स्वतः इसका पोषक है ॥१२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, माध्यन्दिन शाखा वालों के अनुसार 'पञ्चजन' पद-वाच्य प्राण आदि पांच संभव हैं, परन्तु इस प्रसंग में काण्वशाखा वालों ने 'अन्न' पद नहीं पढ़ा; वहां 'प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन' इन चार का उल्लेख है; तब उस शाखा के अनुसार 'पञ्च पञ्चजनाः' की संगति क्या होगी? यहां तो 'पञ्चजन' चार हैं पांच नहीं। आचार्य सूत्रकार ने समाधान लिया—

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥१३॥

[ज्योतिषा] ज्योति द्वारा [एकेषाम्] किन्हीं के [असति] न होने पर [अन्ने] अन्न। किन्हीं के शाखापाठ में 'अन्न' पद के न होने पर 'ज्योतिः' पदद्वारा संख्यापूर्ति होजाती है।

काण्व और माध्यन्दिन दोनों शाखाओं में 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इत्यादि सन्दर्भ समानरूप से पठित है; परन्तु काण्वशाखा के अगले सन्दर्भ [बृ० ४।४।१८] में 'अन्न' पद नहीं पढ़ा गया। तब पहले सन्दर्भ [४।४।१७] के 'पञ्चजनाः' पद का उत्तरसन्दर्भगत 'प्राण' आदि अर्थ करने पर वे चार रहजाते हैं, पांच पूरे नहीं होते। सूत्रकार ने इसविषय में कहा, 'ज्योतिः' पदद्वारा यह संख्या पूरी करली जाती है। 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इससे पहले सन्दर्भ में ब्रह्मस्वरूप का निरूपण करने के लिये कहा—'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' [बृ० ४।४।१६] देव ज्योतियों के ज्योति अमृत को आयुरूप में उपासना करते हैं। काण्वशाखा में जहां 'प्राणस्य प्राणम्' इत्यादि सन्दर्भगत 'अन्न' पद का पाठ नहीं है, वहां पूर्वसन्दर्भ [४।४।१६] से 'ज्योतिषां ज्योतिः' का अनुवर्त्तन कर पांच संख्या की पूर्त्ति करली जाती है, अन्यथा पूर्वसन्दर्भगत 'पञ्च' संख्या का निर्देश असंगत होजायगा।

इस विषय में आशंका की जासकती है, कि जब दोनों शाखाओं में 'पञ्चजन'-सन्दर्भ समानरूप से पठित है, और उससे पूर्वसन्दर्भ में दोनों शाखाओं का 'ज्योतिषां ज्योतिः' पाठ समान है; तब एक शाखा में इसका उत्तरवाक्य में अनुवर्त्तन मानाजाय और दूसरी में न मानाजाय, यह युक्त प्रतीत नहीं होता, इसका कुछ नियामक कारण होना चाहिये। यह आशंका युक्त नहीं, क्योंकि इसका नियामक कारण 'अपेक्षा' स्पष्ट है। माध्यन्दिनशाखा के उत्तरवाक्य में 'अन्न' पद के पाठ से पांच संख्या पूरी होजाने के कारण अनुवर्त्तन की अपेक्षा नहीं। काण्वशाखा में ऐसा न होने से अनुवर्त्तन की अपेक्षा

१. इसके विस्तृत विवरण के लिये देखें—'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ ३३६–३८३।

है। अन्य सन्दर्भ समान होने पर भी एक शाखा के उत्तरवाक्य में पांच संख्या की पूर्त्ति अपेक्षित है, इसलिये वहां अनुवर्त्तन आवश्यक है, अन्यत्र नहीं।

यह आशंका भी उपयुक्त नहीं, कि एक शाखा में पांच संख्या की पूर्त्ति 'अन्न' को अन्तर्गत मानकर की गई है और दूसरी शाखा में 'ज्योति' को। ऐसी अवस्था में इन दोनों का सामञ्जस्य कैसे होगा ? कारण यह है, कि जो तत्त्व जिस शाखा में कहे गये हैं; कार्यजगत् का निर्देश करने के लिये उपलक्षणमात्र हैं; वहां किन्हीं भी कार्यतत्त्वों का उल्लेख हो, उससे उनके कार्यमात्र के उपलक्षण होने में कोई अन्तर नहीं आता। जो कार्य गिन दिये गये, वे समस्त कार्यजगत् का निर्देश करने की भावना से कहे हैं। उनमें कहीं किसी का नाम लिया गया हो, या कहीं किसी का न लिया गया हो, इससे मूल अभीष्ट अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता ॥१३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, गतसूत्रों में यह निर्णय किया गया, कि जगत् का कारण अकेली जड़ प्रकृति नहीं है, उसका नियन्ता चेतन परब्रह्म है। चेतन ब्रह्म प्रकृति–उपादान से जगत् को परिणत करता है। परन्तु अध्यात्मशास्त्र के अनेक प्रसंगों में ऐसा निर्देश है, कि यह सब जगत् असत् से ही होजाता है [तै० २।७॥ छा० ६।२।१॥ बृ० १।४।७]। न वहां ब्रह्म का निर्देश है न प्रकृति का। इसके अतिरिक्त सृष्टि का कोई एक क्रम प्रमाणित नहीं होता। ब्रह्म प्रकृति से किस क्रम में जगत् का सर्जन करता है, इस विषय में कोई एक सम्मति अध्यात्मशास्त्रों की उपलब्ध नहीं होती। कहीं [तै० २।१] आकाश आदि क्रम से सृष्टि कही है, तो कहीं [छा० ६।२।३] तेज आदि क्रम से। कहीं [प्रश्न० ६।४] प्राण आदि क्रम से, तो कहीं [ऐत० ४।१।२] विना ही क्रम के सृष्टि का उल्लेख है। इससे जगत् कारण के विषय में जो निश्चय किया गया, वह अस्पष्ट रहजाता है। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्ते ॥१४॥

[कारणत्वेन] कारणरूप से [च] तो [आकाशादिषु] आकाश आदि के विषय में [यथाव्यपदिष्टोक्तेः] व्यपदेश के अनुसार कहेजाने से। आकाश आदि सर्ग के क्रम-विषयक विरोध में कारणतत्त्वों का कारणरूप से कथन ठीक है, क्योंकि वह सर्वत्र अन्य व्यपदेशों–कथनों के अनुसार हुआ है।

शिष्य की जिज्ञासा में दो भावना हैं–विना ब्रह्म व प्रकृति के जगत्सर्ग का निर्देश, तथा विभिन्न प्रकार से सर्ग का कथन। ऐसा कथन ब्रह्मद्वारा जगत् की उत्पत्ति में सन्देह का जनक है। आचार्य ने द्वितीय भावना का समाधान इस सूत्र से प्रस्तुत किया है। तैत्तिरीय उपनिषद् [२।१] में 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः।' उस परब्रह्म परमात्मा से प्रथम आकाश प्रादुर्भूत हुआ, आकाश से वायु; इसप्रकार सृष्टिक्रम का निर्देश है। छान्दोग्य [६।२।३] में 'तत्तेजोऽसृजत' उसने

तेज का सर्जन किया, इसप्रकार प्रथम तेज का प्रादुर्भाव बताया है। प्रश्न उपनिषद् [६।४] में 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः' उसने प्राण का सर्जन किया, प्राण से श्रद्धा, तब आकाश आदि भूतों को उत्पन्न किया; इसप्रकार प्राण आदि सृष्टि के अनन्तर आकाश आदि की सृष्टि का उल्लेख है। ऐतरेय उपनिषद् [१।२] में विना क्रम के सृष्टि का निर्देश हुआ है–'स इमाँल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापः' उसने लोकों का सर्जन किया, अम्भ, मरीची, मर और आपस्। यहां उपनिषद् में ही इन पदों की व्याख्या की, द्यु से परे के लोक–अम्भस्, अन्तरिक्ष–मरीची, पृथिवी–मर और इससे नीचे के लोक–आपस्। अन्यत्र सृष्टिक्रम के जो संकेत उपलब्ध होते हैं, वहां किसी ऐसे क्रम का निर्देश नहीं है। सृष्टिविषयक इन विभिन्न उल्लेखों के कारण यह स्पष्ट नहीं होता, कि ब्रह्म जगत् की रचना किस क्रम अथवा किस रूप में करता है। सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म का कार्य अत्यन्त व्यवस्थित होना चाहिये। इससे यह सन्देह किया जासकता है, कि ब्रह्म वस्तुतः जगत् की रचना करता भी है, या नहीं? इस विप्रतिपत्तिमूलक जिज्ञासा का समाधान सूत्रकार करता है—

आकाश आदि तत्त्वो की सृष्टि के विषय में जो विभिन्न निर्देश अध्यात्मशास्त्रों में उपलब्ध होते हैं, उन सब में कारणभाव से जो तत्त्व बतलाये गये हैं, वे उन कथनों अथवा निर्देशों के अनुसार हैं, जो उनसे अन्यत्र व्यपदिष्ट हुए हैं। अभिप्राय यह है, कि अध्यात्मशास्त्र के उन समस्त कथनों का तात्पर्य सृष्टि के किसी क्रमविशेष का निर्देश करना नहीं है, प्रत्युत उन तत्त्वों की ओर संकेत करना है, जो जगत् के कारण हैं। कारण-भाव से उन तत्त्वों का सर्वत्र समानरूप से निर्देश हुआ है, इसलिये उक्त स्थलों में किसी प्रकार के विभेद या विरोध की कल्पना निराधार है। सभी उल्लेखों में जगत् के प्रति ब्रह्म की कारणता का स्पष्ट निर्देश है। 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' [मुण्ड० १।१।७] 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' [ऋ० १।१६४।२०॥ श्वे० ४।६] 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्' [श्वे० ४।९] 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' [छा० ६।२।३] 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति' [छा० ६।३।२] इत्यादि अनेक स्थलों में उस उपादानतत्त्व का ब्रह्म के साथ निर्देश किया गया है, जो चेतन ब्रह्म की प्रेरणा व व्यवस्था के अनुसार इस जड़ जगत् के रूप में परिणत होता है। फलतः अध्यात्मशास्त्र के सृष्टिविषयक प्रसंगों का कारणमात्र के निर्देश में तात्पर्य होने से इस निश्चय में कोई अन्तर नहीं आता, कि इस जगत् का नियन्ता चेतन ब्रह्म है, वह त्रिगुणात्मक प्रकृति को इस दृश्यादृश्य जगत् के रूप में परिणत किया करता है। सर्ग का उल्लेख किसी भी रूप में कहीं हुआ हो, उसके कारणभूत ये तत्त्व निश्चित हैं, इसमें कोई वैपरीत्य नहीं।

बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय के चौथे खण्ड में सृष्टि की उत्पत्ति का बड़ा रोचक प्रसंग है। उसी क्रम में कहा–'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव

व्याक्रियत' [बृ० १।४।७] यह जगत् सर्ग के पहले 'अव्याकृत' था, वह नाम और रूप से व्याकृत–स्पष्ट–खुलासा किया गया। जगत् का 'अव्याकृत' होना कारणरूप में अवस्थित होना है। वही 'प्रकृति' का रूप है। वह जब कार्यरूप में परिणत किया जाता है, तब उस कार्य का कुछ 'नाम' और कुछ 'रूप' होता है। कारणअवस्था में कार्यात्मक जगत् का कोई 'नाम' या 'रूप' नहीं है। उस कारणतत्त्व का 'नाम' व 'रूप' में परिणत होना ही जगदात्मक कार्य है। कारणतत्त्व को अव्याकृत अवस्था से व्याकृत अवस्था में परिणत करनेवाला ब्रह्म है। अध्यात्मशास्त्र के अन्य अनेक प्रसंगों [ऋ० १०।७२, तथा १२६ आदि] के अनुसार बृहदारण्यक के इस प्रसंग में 'अव्याकृत' पद से जगत् के उपादान-तत्त्व प्रकृति का तथा उसको व्याकृत करने वाले उसके नियन्ता व व्यवस्थापक ब्रह्मतत्त्व का बड़ा रुचिपूर्ण वर्णन है। अनन्त जगत् 'नाम' और 'रूप' की परिभाषा में समाविष्ट है, ये 'नाम' और 'रूप' जगत् की 'अव्याकृत' अर्थात् कारणअवस्था में अन्तर्हित रहते हैं। कारण के अतिरिक्त तब अन्य कुछ नहीं रहता। यह सर्ग से पहली अवस्था का वर्णन है। सर्गप्रक्रिया के समस्त प्रसंगों में उन कारणतत्त्वों का बराबर उल्लेख हुआ है, इसमें किसी विप्रतिपत्ति का अवकाश नहीं है ॥१४॥

असत् से सद्रूप जगत् के प्रादुर्भाव का जो निर्देश किया गया, और उसके आधार पर ब्रह्म एवं प्रकृतिरूप कारण के विना जगदुत्पत्ति होजाने से शास्त्रीय वर्णनों में विरोध की उद्भावना प्रकट की गई, सूत्रकार ने उसका समाधान किया—

समाकर्षात् ॥१५॥

[समाकर्षात्] समाकर्षण से–खींचने से–अनुवर्त्तन से। जहां असत् से सर्ग का निर्देश है, वहां पूर्वनिर्दिष्ट ब्रह्म का समाकर्षण अर्थात् अनुवर्त्तन है। 'ब्रह्म' पद वहां से खींचकर यहां संबद्ध कर लिया जाना चाहिये।

असत् से सत् जगत् के प्रादुर्भाव होने की संभावना जिन औपनिषदिक संदर्भों के आधार पर प्रकट की गई है, उनका विवेचन प्रस्तुत सूत्र की छाया में इसप्रकार समझना चाहिये। प्रथम प्रसंग तैत्तिरीय उपनिषद् [२।७] का है–'असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत' यह पहले असत् था उससे ही सत् होगया। यहां 'असत्' पद से सृष्टि के किसी ऐसे कारण का निर्देश नहीं है, जो निर्वस्तुक अथवा अभावरूप हो। यदि ऐसा माना जाय, तो सृष्टिविषयक शास्त्रीय प्रतिपादन में तथा 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि शास्त्र-द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मस्वरूप के विषय में विरोध या विघात की संभावना की जा सकती है। पर तैत्तिरीय उपनिषद् के ब्रह्मवल्ली अध्याय का प्रारम्भ 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस वाक्य से हुआ है, ब्रह्मज्ञानी परम पद को प्राप्त करता है। आगे पञ्चम अनुवाक में 'एतस्मात् विज्ञानमयात्, अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः' वाक्यपर्यन्त प्रकृति और पुरुष में अन्तर्यामीरूप से विद्यमान आनन्दस्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादन है और उसे समस्त विश्व

की प्रतिष्ठा–आधार बताया है। उसीके विषय में आगे कहा–'असन्नेव स भवति, असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद, सन्तमेनं ततो विदुः' जो ब्रह्म को असद्रूप जानता है, वह यथार्थ का ज्ञाता नहीं है। यथार्थ का ज्ञाता उसीको कहा गया है, जो ब्रह्म को सद्रूप जानता है। यहां कारणतत्त्व ब्रह्म के असत् कहे जाने की निन्दा कर उसे सद्रूप निर्धारित किया है।

उसीके संकल्प का आगे उल्लेख हुआ–'सोऽकामयत, बहु स्यां प्रजायेय···स··· इदं सर्वमसृजत, यदिदं किञ्च' [तै० २।६] उसने संकल्प किया, जगत् को उत्पन्न करूं इसके साथ बहुत होजाऊं। कारणतत्त्व से इस सब जगत् का उसने सर्जन किया, जो कुछ यह है। इसप्रकार समस्त विश्व की उत्पत्ति का कारण बताकर उसके विषय में कहा–'तत् सत्यमित्याचक्षते' वह 'सत्य' है यह कहाजाता है। उसी प्रकृत विषय में प्रमाणरूप से यह श्लोक उद्धृत किया है–'असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत' [तै० २।७] सृष्टि से पूर्व केवल कारणतत्त्व विद्यमान रहता है, यह कार्यरूप में दृष्टि-गोचर होनेवाला समस्त जगत् उस समय नहीं रहता, कारणतत्त्व से सर्जन किये जाने पर यह इस रूप में आता है। इसप्रकार यह 'असत्' पद जगत् के नियन्ता कारणतत्त्व ब्रह्म का समाकर्षण करता है, क्योंकि ब्रह्मस्वरूप का प्रतिपादन किये जाने के प्रकरण में इसका निर्देश है। प्रस्तुत सन्दर्भ में 'असत्' पद से ब्रह्म का समाकर्षण [कार्यद्वारा कारण को खींचकर ले आना] है, इस तथ्य को उक्त सन्दर्भ का उत्तरार्द्ध दृढ़ करता है। वहां कहा–'तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात्तत् सुकृतमुच्यते' [तै० २।७] उसने अपने आपको स्वयं किया, इसलिये वह 'सुकृत' कहाजाता है। अपने आपको स्वयं किये जाने का तात्पर्य है–उसका बनानेवाला अन्य कोई कारण नहीं, वह स्वयम्भू है, अनादि तत्त्व है। मूल-कारण का कारण कोई नहीं होता। अन्यथा वह मूलकारण नहीं होसकता। इसीलिये कहा गया, उसकी सत्ता स्वयं है। कार्य विना कारण के नहीं होसकता; सर्ग के पहले कार्यरूप से कार्य का असत्त्व अपने कारण के अस्तित्व का बोध कराता है। इसप्रकार प्रस्तुत सन्दर्भ का 'असत्' पद अपने सद्रूप कारण का समाकर्षक है। फलतः यह प्रकृत ब्रह्म का बोधक है, किसी निरात्मक कारण अथवा अभाव का नहीं। सर्ग से पहले–यह नाम-रूप से परिणत अखिल जगत्–प्रकृति में इसीप्रकार लीन रहता है, जैसे गंगा आदि नदियां समुद्र में जाकर लीन होजाती हैं। स्वरूप से तत्त्वों के रहने पर भी नाम-रूप के न रहने की अपेक्षा से सद्रूप पदार्थ में 'असत्' का उपचार किया जासकता है; इसलिये 'असत्' पद से सत्कारण के समाकर्षण में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

असत् से सत् के प्रादुर्भाव का सृष्टिविषयक अन्य प्रसंग छान्दोग्य में है। वहां कहा–'असदेवेदमग्र आसीत्' [छा० ३।१९।१] यह सामने विस्तृत जगत् सर्ग से पहले असत् ही था। यहां भी 'असत्' पद किसी निरात्मक निर्वस्तुक अथवा अभावरूप कारण का निर्देश नहीं करता। इस वाक्य के ठीक पहले वाक्य है–'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः'

जैसे आदित्य प्रकाश एवं ऊष्मा आदि द्वारा जागतिक व्यवहारों का निमित्त है, ऐसे ही ब्रह्म अखिल विश्व का–नियन्त्रण व व्यवस्थापन आदि द्वारा–निमित्त है। उसकी प्रेरणा के विना यह विश्व अपने उपादान प्रकृति से इस रूप में नहीं आसकता। उत्तरवाक्य में 'असत्' पद इसी ब्रह्म का समाकर्षक है। यदि 'असत्' पद यहां अभाव को कहता, तो इसके ठीक आगे उपनिषत्कार 'तत्सदासीत्' यह न पढ़ता। प्रथम 'असत्' कहकर उसी-को 'सत्' कहना असंगत होता। इसलिये उत्तरवाक्य के सामञ्जस्य से प्रथमवाक्य में 'असत्' पद सद्रूप कारण का समाकर्षक है, यही समझना चाहिये। प्रलय अवस्था में कारणतत्त्व अव्याकृत–नामरूप रहता है, अर्थात् नाम व रूप में उसका परिणाम नहीं होता, कार्यरूप में परिणत नहीं होता, इसी भावना से औपचारिकरूप में उसे 'असत्' कह दिया जाता है। ब्रह्म और उसकी व्यवस्था के अनुसार कारणतत्त्व उस दशा में निरन्तर विद्यमान रहते हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् के अन्य स्थल [६।२।१] में जो 'असदेवेदमग्र आसीत्' पहले यह असत् ही था–कहा गया है, यह किन्हीं विचारकों के विभिन्न विचार को प्रकट करने के लिये है। आगे [छा० ६।२।२] स्वयं इसका प्रतिवाद किया है। यदि कोई कहे, कि असत् से सत् की उत्पत्ति होजाती है, तो वह सर्वथा असंगत है। 'कथमसतः सज्जायेत' असत् से सत् कैसे हो? किसी को असत् से सत् की उत्पत्ति का भ्रम न होजाय, इसीको स्पष्ट करने के लिये यह कहा है। इस प्रसंग में कारण के सद्रूप होने का स्पष्ट उप-पादन है। बृहदारण्यक उपनिषद् [१।४।७] के सन्दर्भ की विवेचना गतसूत्र में कर दी गई है। फलतः असत् से सत् के प्रादुर्भाव के तथाकथित निर्देशों के आधार पर जो सर्ग-विषयक शास्त्रीय प्रसंगों में विरोध की उद्भावना प्रकट की गई, वह निराधार है।

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' [तै० २।१] ब्रह्मज्ञानी परमपद–मोक्ष को प्राप्त होता है; 'तरति शोकमात्मवित्' [छा० ७।१।३] परब्रह्म परमात्मा को जाननेवाला शोक–संसाररूप दुःख को पार कर जाता है; 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति' [श्वे० ३।८॥ यजु० ३१।१८] प्रकृति से परे उस आनन्दस्वरूप आत्मा को जानकर ही मृत्यु को लांघ जाता है, इत्यादि वाक्यों द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार का फल मोक्षप्राप्ति बताया है। यह ब्रह्म की सर्वोत्कृष्टता समस्त विश्व का नियन्ता होने के कारण है, उपादानकारण माने जाने से नहीं। कार्य के द्वारा उभयविध कारण का बोध होना सर्वथा संभव है। कारण निमित्त हो या उपादान, दोनों की सत्ता का बोध कराने में कार्य समर्थ होता है। किसी एक कारण के न होने पर कार्य का होना संभव नहीं, अतः जगत् के निमित्त और उपादान उभयविध कारणों की सत्ता स्वीकार करना आवश्यक है। शास्त्र एवं लोक में कोई ऐसा उल्लेख व दृष्टान्त उपलब्ध नहीं, जिससे निमित्त और उपादान दोनों कारणों का एक होना स्पष्ट किया जासके। जगत्सर्गविषयक शास्त्रीय विवेचन इसी तथ्य को प्रकट करते हैं। फलतः जगत् के कारणतत्त्वों का अस्तित्व निश्चित होता है, उन्हें असत् या अभाव-

रूप नहीं कहा जासकता। इसीलिये कारणरूप से चेतन ब्रह्म की उपेक्षा किया जाना अशक्य है। इसीका उपपादन 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि शास्त्रारम्भ से बराबर चालू है ॥१५॥

आचार्य सूत्रकार ने अध्यात्मशास्त्र के ब्रह्मस्वरूपनिरूपणविषयक एक अन्य प्रसंग की विवेचना को ध्यान में रखते हुए सूत्र कहा—

जगद्वाचित्वात् ॥१६॥

[जगद्वाचित्वात्] जगत् का वाचक होने से। तथाकथित प्रसंग में वह पद जगत् का वाचक है, इसलिये वहां उसके कारणतत्त्व का निर्देश है, ऐसा समझना चाहिये।

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् [४।१–२०] में गर्गगोत्रीय विद्वान् बालाकि और काशी के राजा अजातशत्रु के परस्पर संवाद का उल्लेख है। गर्वीले बालाकि ने अजातशत्रु के समीप पहुंचकर कहा–'ब्रह्म ते ब्रवाणि' मैं तुम्हारे लिए ब्रह्मविषयक उपदेश करना चाहता हूं। तब अजातशत्रु ने कहा–ऐसा करने पर मैं आपको एक सहस्र गौ दान दूंगा। बालाकि ने 'य एवैष आदित्ये पुरुषः' [कौ० ४।२] इत्यादि से प्रारम्भ कर 'य एवैष सव्येऽक्षन् पुरुषः' [कौ० ४।१७] तक आदित्य आदि में पुरुष को ब्रह्मरूप से उपास्य बताया। उसका तात्पर्य है, कि आदित्य आदि में जो शक्ति विभिन्नरूप से कार्य कर रही है, उसीकी ब्रह्मरूप से मैं उपासना करता हूं। आदित्य से प्रारम्भ कर सव्य अक्षि-पर्यन्त सोलह पदार्थों का कथन बालाकि ने किया। राजा अजातशत्रु ने प्रत्येक के विषय में कहा–यह परिच्छिन्न होने से ब्रह्म नहीं है। इनकी उपासना सीमित फल देती है। ब्रह्मरूप में इनका निरूपण कर तुमने मिथ्या कहा, कि 'मैं तुम्हारे लिये ब्रह्म का उपदेश करूंगा'।

राजा अजातशत्रु का यह प्रतिवचन सुनकर बालाकि लज्जित-सा होकर चुप होगया, फिर शिष्यभाव से स्वयं इस विषय में राजा से जिज्ञासा की। तब अजातशत्रु ने कहा–'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्य इति' [कौ० ४।१८] हे बालाकि! इन सब आदित्य आदि पुरुषों [पदार्थों] का जो कर्त्ता है, अथवा जिसका यह सब कर्म है, उसे ही जानना चाहिये।

यहां यह समझलेना आवश्यक है, कि इस प्रसंग के 'आदित्ये' आदि पदों में सप्तमी का प्रयोग प्रथमा विभक्ति के अर्थ में हुआ है। इसप्रकार 'आदित्यपुरुष' आदि को ब्रह्मरूप में बालाकिद्वारा उपास्य बताये जाकर अजातशत्रु ने उसका प्रतिवाद किया है। आदित्यादि पुरुष परिच्छिन्न होने से ब्रह्मरूप नहीं हैं। पदों में सप्तमी विभक्ति इन सबकी विभिन्नता को प्रकट करती है, आदित्यपुरुष, चन्द्रपुरुष, विद्युत्पुरुष आदि। यहां 'पुरुष' पद आदित्य आदि जागतिक पदार्थों का वाचक है। इसलिये 'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता' [कौ० ४।१८] इस वाक्य का यही अर्थ समझा जायगा, कि इन

'आदित्य' आदि जगद्रूप पदार्थों का जो कर्त्ता है, उसे जानना चाहिये । इसप्रकार 'पुरुष' पद जगत् का वाचक होने से यह वाक्य उसके कर्त्ता ब्रह्म का निर्देशक है। इसी अर्थ को सन्दर्भ के अगले अंश द्वारा प्रकारान्तर से कहा–'यस्य वैतत्कर्म' [कौ० ४।१८] अथवा जिसका 'यह कर्म' है । जो किया जाय, वह 'कर्म' कहाता है; यहां 'कर्म' पद जगत् का वाचक है, 'एतत्' पद सामने विस्तृत जगत् की ओर संकेत करता है। इसप्रकार 'एतत्कर्म' पदों से 'जगत्' अर्थ का बोध होता है । अजातशत्रु ने इस सन्दर्भ से यह स्पष्ट किया, कि आदित्यादि पदार्थ उपास्य ब्रह्म नहीं हैं, प्रत्युत इनका जो कर्त्ता है, अथवा जिसके ये कार्य हैं, उसे जानना चाहिये, वही उपास्य ब्रह्म है ।

'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्य 'वा' एतत्कर्म' [कौ० ४।१८] इस सन्दर्भ में 'वा' पद इन वाक्यों द्वारा एक अर्थ को दो प्रकार से कहेजाने की स्थिति को स्पष्ट करता है । आदित्यादि जगत् का जो कर्त्ता है–एक प्रकार; अथवा जिसका यह जगत् कार्य है–दूसरा प्रकार है । इन दोनों प्रकार के वाक्यों में अर्थ एक है, कि जो इस विश्व का रचयिता व नियन्ता है, वह ब्रह्म है; उसीको जानना चाहिये । अजातशत्रु की इस उक्ति के आधार पर सूत्रकार यह स्पष्ट करना चाहता है, कि इस सन्दर्भ में 'आदित्य' आदि के विशेषणरूप से प्रयुक्त 'पुरुष' पद आदित्य आदि जागतिक पदार्थों का वाचक होने से तथा सन्दर्भ के 'एतत्कर्म' पदों से जगत् का बोध होने के कारण यह उपनिषत्सन्दर्भ ब्रह्म को जगत् के कर्त्तारूप में स्पष्ट वर्णन कर रहा है। इससे सूत्रकार का तात्पर्य निर्धारित होता है, कि ब्रह्म स्वत: जगत् के रूप में परिणत नहीं होता, प्रत्युत वह इसका कर्त्ता-रचयिता-निर्माता-नियन्ता है, जिस तत्त्व से वह इसकी रचना करता है, वह इस जगत् का उपादान प्रकृति है । यह जड़ जगत् उस जड़ उपादान का परिणाम है । चेतन सर्वथा अपरिणामी तत्त्व है, उसका किसी तरह का भी परिणाम असंभव है । चेतन ब्रह्म को जड़ जगत का उपादान समझना प्रस्तुत उपनिषद और सत्रकार के आशय से विपरीत है ।

स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये सूत्र की रचना 'कर्त्ता जगद्वाचित्वात्' होती, तो अधिक युक्त था । ब्रह्मस्वरूप के प्रतिपादन का प्रसंग है, अभिप्रेत वाक्य में कर्त्ता ब्रह्म समझना चाहिये, क्योंकि वहां के 'एतत्कर्म' पद जगत् के वाचक हैं। जगत्कर्तृत्व केवल ब्रह्म में संभव है । उस अवस्था में अधिकरण का नाम 'कर्त्रधिकरण' रहता । 'कर्त्ता' पद न होने पर 'जगद्वाचित्वाधिकरण' नाम होना चाहिये । आचार्य शंकर कृत 'बालाक्यधिकरण' नाम सूत्रानुसारी नहीं है ॥१६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, बालाकि-अजातशत्रु संवाद के प्रसंग से जिसप्रकार ब्रह्मस्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है, उसके अन्तर्गत वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है, कि वहां जीवात्मा का वर्णन माना जाना चाहिये । उस वर्णन में कुछ ऐसे चिह्न हैं, जिनसे वहां 'मुख्यप्राण' का वर्णन प्रतीत होता है । ऐसी स्थिति में उस सबका

तात्पर्य ब्रह्मस्वरूप के प्रतिपादन में है, यह कैसे समझा जाय ? आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासास्वरूप का निर्देश करते हुए समाधान किया—

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥१७॥

[जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्] जीव और मुख्यप्राण के चिह्न से [न] नहीं (यहां ब्रह्म का वर्णन), [इतिचेत्] ऐसा यदि (कहो, तो), [तत्] वह [व्याख्यातम्] व्याख्या कर दिया है। उक्त संवादप्रसंग में जीवात्मा के चिह्न तथा मुख्यप्राण के चिह्न उपलब्ध होते हैं, अतः यहां ब्रह्म का वर्णन नहीं; ऐसा यदि कहा जाय, तो उस विषय में प्रथम [१।१।३१] व्याख्यान कर दिया गया है।

बालाकि-अजातशत्रु के उक्त संवाद में बालाकि ने अजातशत्रु को यह कहकर कि मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश करता हूं–'आदित्य में जो पुरुष है, चन्द्र में जो पुरुष है' इत्यादि सोलह पुरुषों का उपदेश किया। अजातशत्रु ने उन सबको परिच्छिन्न कहकर प्रतिवाद किया, कि ये सब ब्रह्म नहीं हैं, प्रत्युत ब्रह्म वह है जो इन सबका कर्त्ता है अथवा जिसके ये सब कार्य हैं, उसीको जानना चाहिये–'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्य वैतत्कर्म, स वै वेदितव्यः' [कौ० ४।१८]। इस वाक्य के द्वारा प्रकट किये जाने वाले अर्थ को समझाने के लिये अजातशत्रु बालाकि को एक सोते हुए पुरुष के समीप लेजाता है, और पुकारते हुए कुछ कहता है; पर सोया हुआ पुरुष सोता रहता है, कुछ उत्तर नहीं देता। अनन्तर उसे हाथ से झकझोरता है, वह उठ जाता है। अजातशत्रु ने बालाकि से पूछा–सोतें समय यह पुरुष कहां था, कहां चला गया था? और अब जागने पर यह कहां से आगया है ? पर बालाकि ने इससे यथार्थता को न समझा और चुप रहा [कौ० ४।१८]। तब अजातशत्रु ने बालाकि को कहा–हृदय की नाड़ियां एक बाल के हज़ारवें हिस्से के समान अतिसूक्ष्म हैं, जीवात्मा वहां जब इसप्रकार अवस्थित रहता है, कि करणों [बुद्धि आदि] का बाह्य संसार से कोई संपर्क न हो, तब वह पुरुष की सुप्त अवस्था है; समस्त करणों के वृत्तिरूप प्राण की गति केवल तब चालू रहती है, मानो समस्त करण उसी में लीन होगये हैं। जब जागता है, समस्त करण बाह्य संसार के साथ संपर्क में आजाते हैं, इन स्थितियों के क्रमिक नैरन्तर्य का द्योतक प्राण हैं; मानों प्राणों से ये करण [इन्द्रिय] निकल पड़ते हैं, और करणों से सब लोक; क्योंकि लोक-प्रतीति इन्द्रियों द्वारा होपाती है। ये ऐसे प्रकट होते हैं, जैसे प्रज्वलित अग्नि से चारों ओर प्रकाशकिरण फूट पड़ती हैं। जैसे म्यान में तलवार है, ऐसे विश्वव्याप्त भी प्राज्ञ आत्मा [परमात्मा] इस शरीर में आत्मा [जीवात्मा] के साथ अनुप्रविष्ट रहता है। विश्व में कोई अंश ऐसा नहीं, जो परमात्मा की व्याप्ति से रहित हो [कौ० ४।१९]। उस परब्रह्म परमात्मा की छाया में ही ये आत्मा [आदित्य आदि अथवा जीवात्मा] आवास करते हैं। जैसे कोई सेठ भृत्यों के द्वारा भोगता है, और भृत्य सेठ को भोगते

हैं; इसीप्रकार यह प्रज्ञात्मा इन आत्माओं [आदित्य आदि] को भोगता है, और ये आत्मा प्रज्ञात्मा को। जब तक इन्द्र [जीवात्मा, इन्द्रियों का अधिष्ठाता] इस आत्मा [परब्रह्म] को नहीं जानलेता, तब तक असुरों से अभिभूत रहता है, जन्म-मरणरूप संसारचक्र में दबा रहता है; पर जब जानलेता है, तब असुरों को जीत व नष्ट कर ज्ञानियों के श्रेष्ठपद स्वाराज्य अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करलेता है [कौ० ४।२०]।

इस सब प्रसंग के आधार पर विचारणीय यह है, कि 'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता' [कौ० ४।१८] इत्यादि वाक्य में प्रतिपाद्य तत्त्व कौन अभिप्रेत है? आगे प्रसंग में जो सुप्तपुरुष के दृष्टान्तद्वारा अर्थ का स्पष्टीकरण हुआ है, उससे यही प्रतीत होता है, कि यहां जीवात्मा का वर्णन माना जाना चाहिये; क्योंकि सुप्त व जागृत आदि अवस्था जीवात्मा में सम्भव हैं। फिर श्रेष्ठी [सेठ] का उदाहरण देकर जो भोग का उल्लेख हुआ है, वह परब्रह्म में सम्भव नहीं, भोग केवल जीवात्मा को होता है। उक्त वर्णन में ये इसप्रकार के चिह्न हैं, जो यहां जीवात्मा को प्रतिपाद्य माने जाने में साधक हैं। इसके अतिरिक्त सुप्त अवस्था में केवल प्राण के अस्तित्व को उक्त प्रसंग में प्रकट किया है, और वाक् आदि समस्त करणों का उसीमें लय बताया है। फिर अन्यत्र [बृ० ३।९।९।] प्राण का एकमात्र देव होना स्वीकृत किया गया है–'कतम एको देव इति, प्राण इति'। इस चिह्न के आधार पर यहां मुख्यप्राण का वर्णन माना जासकता है। तात्पर्य यह, कि इन लिंगों के आधार पर जीव अथवा मुख्यप्राण का वर्णन उक्त प्रसग में माना जाना चाहिये, ब्रह्म का नहीं। भोक्ता होने के कारण जीवात्मा का अपने भोग-साधनों के प्रति कर्त्ता होना संभव होसकता है। आदित्य आदि लोक जीवात्माओं के भोगसाधन हैं। जीवात्मा प्राणधारण करनेवाला होने से 'प्राण' माना जासकता है। फलतः इनमें से कोई एक प्रस्तुत प्रकरण का वर्ण्यविषय माना जाना चाहिये।

उपस्थापित जिज्ञासा के विषय में सूत्रकार ने कहा, कि इस विषय का व्याख्यान प्रथम किया जाचुका है। प्रथम पाद के अन्तिम [१।१।३१] सूत्र में इन्द्र-प्रतर्दनसम्वाद की विवेचना करते हुए आचार्य ने जो निश्चय किया है, उसीके अनुसार यहां समझना चाहिये। यदि आदित्य आदि लोकों का कर्त्ता जीव एवं मुख्यप्राण को मानलिया जाय, तो यहां तीन कर्त्ता प्राप्त होजाते हैं–जीव, मुख्यप्राण और ब्रह्म। यह सर्वथा अन्याय्य है, अशास्त्रीय है, क्योंकि यह प्रकरण के उपक्रम और उपसंहार के विपरीत है। बालाकि ने सर्वप्रथम आकर अजातशत्रु को यही कहा, कि मैं तुम्हारे लिये ब्रह्म का उपदेश करता हूं–'ब्रह्म ते ब्रवाणि'। उसके द्वारा ब्रह्मरूप से कहे गये आदित्य आदि सोलह लोकपुरुषों का प्रतिवाद कर यदि अजातशत्रु भी ब्रह्मस्वरूप का कथन न कर जीवात्मा या मुख्यप्राण को ब्रह्मरूप से कथन करता है, तो वह भी बालाकि के समान मृषावादी होता है, तथा बालाकि-कथन का उसके द्वारा प्रतिवाद किया जाना निरर्थक होजाता है। इसलिये प्रारम्भ से ब्रह्मस्वरूप बताये जाने का निर्देश होने पर अजातशत्रु ने जो कहा–'यो वै

बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता···स वेदितव्यः' यहां ब्रह्मस्वरूप का वर्णन ही माना जासकता है। यह प्रकरण का उपक्रम इस तथ्य का निश्चायक है, कि यहां केवल ब्रह्म प्रतिपाद्य है, अन्य नहीं।

इसके अतिरिक्त समस्त वेद केवल ब्रह्म को जगत् का कर्त्ता और उपास्य मानते हैं। इस विषय में वेद के [ऋ० १०।८१।३॥ अथर्व० १३।२।२६॥ यजु० १७।१६॥ तै० सं० ४।६।२।४॥ ऋ० १०।८२।३॥ अथर्व० २।१।३॥ यजु० १७।२७॥ तै० सं० ४।६।२।१॥ ऋ० १०।८२।७॥ यजु० १७।३१॥ तै० सं० ४।६।२।२॥ ऋ० १०।७२।२] इत्यादि प्रसंग द्रष्टव्य हैं। सबप्रकार के प्रमाणों से निश्चित एवं स्वीकृत इस तथ्य को अनायास झुठलाया नहीं जासकता।

इस प्रकरण का उपसंहारवाक्य भी उक्त तथ्य को पुष्ट करता है। वहां कहा— 'सर्वान् पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद' [कौ० ४।२०]। आदित्यादि सब जगत् के कर्त्ता को जो जानलेता है, वह सब दुःखों से दूर होकर समस्त प्राणियों की श्रेष्ठ अवस्था मोक्षपद एवं आत्मस्वामित्व को प्राप्त करलेता है। मोक्षप्राप्ति का अन्तिम स्तर ब्रह्मज्ञान है। 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' [यजु० ३१।१८] उससे अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग उसके लिये नहीं है। इसप्रकार उपक्रम और उपसंहार के द्वारा अजातशत्रु के वाक्य में ब्रह्म का उपपादन निश्चित होजाने पर प्रकरण के बीच में जीव अथवा प्राण का उल्लेख उसमें कोई बाधा नहीं डालता। सुप्तपुरुष के दृष्टान्त से ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है। जीवात्मा भोक्ता है, मानने पर यह प्रतिपादित नहीं होता, कि वह जगत् का कर्त्ता है। सुप्त अवस्था में प्राणों की गति जाग्रत के समान संचारित रहती है, परन्तु समस्त इन्द्रियों के अन्य व्यापार रुद्ध रहते हैं। शरीर में आत्मा के विद्यमान रहने पर भी इन्द्रियव्यापार सुप्त अवस्था में क्यों रुद्ध होजाते हैं? जाग्रत के समान ही सब व्यापार चालू क्यों नहीं रहते? इस समस्या का समाधान साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने किया, उस अवस्था में आत्मा का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध नहीं रहता। यह लगभग ऐसी अवस्था जीवात्मा की रहती है, जैसी ब्रह्म का साक्षात्कार होजाने पर ब्रह्मज्ञानी की होती है। यद्यपि सुषुप्त अवस्था अज्ञान अवस्था है, इसीलिये इसे तामसी माना गया है, पर ब्रह्मज्ञानी की उस अवस्था के साथ इसका इतना साम्य है, कि ब्रह्मज्ञानी इच्छानुसार इन्द्रियों से सम्बन्ध विच्छिन्न कर ब्रह्मस्वरूप का साक्षात् अनुभव करता है, तथा सुप्त अवस्था में जीवात्मा का इन्द्रियों से स्वतः विच्छेद रहता है। इस भावना को परमर्षि कपिल ने सुषुप्ति, समाधि और मोक्ष में जीवात्मा की ब्रह्मरूपता का उल्लेख कर स्पष्ट किया है [सां० सू० ५।७६]।[1]

---

१. यह सूत्रसंख्या हमारे सम्पादित व व्याख्यात सांख्यदर्शन सूत्र के अनुसार है। इसमें ३७ संख्या जोड़कर किसी भी संस्करण में देखा जासकता है।

जीवात्मा की यह सुप्त अवस्था इस तथ्य को अभिव्यक्त करती है, कि शरीर में निरन्तर संचरित होनेवाले प्राकृतिक प्राणों से जीवात्मा का अस्तित्व भिन्न है; यदि ऐसा न होता, तो प्राणों के संचरित रहते जागृत के समान सुप्त अवस्था में भी इन्द्रियव्यापार होते रहने चाहियें। तब सुप्त अवस्था की सम्भावना ही नहीं की जासकेगी। जैसे प्राकृत प्राणों से जीवात्मा भिन्न है, ऐसे जीवात्मा से ब्रह्म भिन्न है, वह उसका भी अन्तरात्मा है। शरीर में जीवात्मा के निवास का जो मस्तिष्कगत हृदयदेश है, वहीं पर ब्रह्म का साक्षात्कार जीवात्मा करता है, सुप्त अवस्था में जब जीवात्मा का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध नहीं रहता, तब इसे साक्षात्कार जैसी अवस्था के रूप में वर्णन किया जाता है, मानो जीवात्मा तब ब्रह्म में लीन है। इसी भावना से अजातशत्रु ने बालाकि से कहा–'क्वैष एतद् बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्वैतदभूत् कुत एतदागादिति' [कौ० ४।१८] हे बालाकि! यह पुरुष कहां सोया हुआ था, कहां था और अब कहां से आगया? इन्द्रियों से असम्बद्ध अवस्था में यह मानो ब्रह्म में शयन कररहा था; अब जागृत अवस्था में वहां से आगया है। 'एवमेवैष प्रज्ञ आत्मा इदं शरीरमात्मानमनुप्रविष्ट आ लोमभ्य आ नखेभ्यः' [कौ० ४।१९] जैसे म्यान में तलवार पूर्णरूप से भरी रहती है, ऐसे ही वह प्रज्ञआत्मा–परब्रह्म परमात्मा, जीवात्मा के साथ इस शरीर में अनुप्रविष्ट है लोम-नख-पर्यन्त। इससे जीवात्मा और परब्रह्म की स्थिति स्पष्ट होती है। ब्रह्मस्वरूप को स्पष्ट करने की भावना से प्रवृत्त हुआ अजातशत्रु इसीकारण बालाकि को सुप्तपुरुष के समीप लेजाता है, और उस स्थिति के द्वारा ब्रह्मस्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास करता है।

इस प्रसंग में सुप्त अवस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है–'यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति' [कौ० ४।१९] जब सुप्त कोई स्वप्न नहीं देखता, तब इस प्राण में ही एकीभूत होता है। यहां 'प्राण' पद का प्रयोग यद्यपि ब्रह्म के लिये है, वह अवस्था सुप्तपुरुष को ब्रह्म में पहुंचा हुआ जैसा बतलाती है, क्योंकि बाह्य जगत् के साथ तब उसका सम्पर्क नहीं रहता; पर श्लिष्ट पदप्रयोग के अनुसार 'प्राण' पद प्राकृत प्राणों की ओर भी संकेत करता है, जिससे यह अभिव्यक्त होता है, कि इन्द्रियों के समस्त विशिष्ट व्यापार रुद्ध होने पर भी सब इन्द्रियों का सामान्य व्यापार–प्राणसंचार उस अवस्था में विद्यमान होने से समस्त इन्द्रियां मानो उसी रूप में वहां छिपी हैं, अन्तर्निविष्ट हैं। आत्मा और इन्द्रियों का अस्तित्व उस अवस्था में शरीर के अन्दर उसी व्यापारद्वारा प्रकट होता है। इस सब विवेचन से यह स्पष्ट है, कि कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् के उक्त प्रसंग में जीवात्मा और मुख्यप्राण के जो चिह्न आपाततः प्रतीत होते हैं, वह केवल प्रासंगिक निर्देश हैं; प्रकरण का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्मस्वरूप को स्पष्ट करना है, जो उपक्रम-उपसंहार आदि से सिद्ध है।

जीव तथा मुख्यप्राणविषयक विवेचन [१।१।३१] सूत्र में किया है; इस प्रसंग को पर्णरूप में समझने के लिये उस सूत्र का व्याख्यान देखलेना आवश्यक है ॥१७॥

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् के उक्त प्रकरण में मुख्यप्राण का कोई चिह्न नहीं है, जीव का चिह्न जो आपाततः प्रतीत होता है वह वस्तुतः ब्रह्म का चिह्न है, जीवात्मा का नहीं; इस अपने मत को गतसूत्र से प्रकट कर सूत्रकार इस विषय में जैमिनि के मत का उल्लेख करता है—

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥१८॥

[अन्यार्थं] अन्य के लिये [तु] तो [जैमिनिः] जैमिनि आचार्य [प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्] प्रश्न और व्याख्यान से [अपि च] और भी [एवम्] इसप्रकार [एके] कतिपय। जैमिनि आचार्य कहता है कि प्रश्न और व्याख्यान (उत्तर) से ज्ञात होता है कि जीवात्मा का कथन तो वहां अन्य अर्थात् जीव से भिन्न ब्रह्म के लिये है। और भी कतिपय आचार्य ऐसा कहते हैं।

जैमिनि आचार्य का इस विषय में यह कहना है, कि इस प्रकरण में जीवात्मा का जो वर्णन किया गया है, वह वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप का बोध कराने के लिये है, जीवात्मा को ज्ञेय अथवा वेदितव्य बताने की भावना से नहीं। यहां पर किये गये प्रश्न और उसके उत्तररूप व्याख्यान से यह बात स्पष्ट होजाती है। प्रारम्भ में अजातशत्रु और बालाकि एक सोये हुए पुरुष के पास पहुंचते हैं–'तौ ह सुप्तं पुरुषमाजग्मतुः' [कौ० ४।१८]। उस सोये हुए पुरुष के पास आकर–जिसका प्राण यथावत् गति से चल रहा है–अजातशत्रु 'हे सोम राजन्!' इसप्रकार प्राण का नाम लेकर आवाज़ देता है; पर वह व्यक्ति उसीप्रकार सोया रहता है, संचरित भी प्राण उस पुकार को सुन नहीं पाते। जब हाथ या लकड़ी के आघात से झकझोरकर उसे उठाया जाता है, तब वह जाग जाता है, तथा प्रत्येक पुकार को सुनता व समझता है। इससे यह स्पष्ट किया गया, कि पुकार को सुनने व समझनेवाला 'प्राण' नहीं है, जो सुनता व समझता है, वह प्राण से अतिरिक्त तत्त्व है, वह जीवात्मा है। क्योंकि सुप्त अवस्था में भी प्राण संचरित था, जबकि पुकार को नहीं सुना गया। इसप्रकार अजातशत्रु जीवात्मा को प्राणों से भिन्न बताकर उसकी उस स्थिति के द्वारा ब्रह्मस्वरूप को स्पष्ट करने के लिये प्रश्न करता है–'क्वैष एतद् बालाके! पुरुषोऽशयिष्ट, क्वैतदभूत् कुत एतदागादिति' [कौ० ४।१८] हे बालाकि! जब मैंने पुकारा, उसे इसने न सुना न समझा; तब यह पुरुष [जीवात्मा] कहां सोया हुआ था? कहां विद्यमान था? और अब कहां से आगया है? जब मेरी पुकार को सुन-समझरहा है। इन प्रश्नों के द्वारा अजातशत्रु संकेत कररहा है, कि जहां यह तब सोया व विद्यमान था, वह ब्रह्म है, वहां से अब यह आगया है।

इन प्रश्नों के उत्तररूप व्याख्यान से यही तथ्य प्रकट होता है। जब इन प्रश्नों के संकेत को बालाकि न समझा, तब अजातशत्रु ने इनका उत्तर देते हुए विस्तारपूर्वक कहा–'यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति, तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः

सहाप्येति······, स यदा प्रबुध्यते यथाग्नेः प्रज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्, एवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते, प्राणेभ्यो देवाः, देवेभ्यो लोकाः' [कौ० ४।१६] जब सोया व्यक्ति कोई स्वप्न नहीं देखता, तब इस 'प्राण' में एकीभूत-सा रहता है। 'प्राण' पद किसप्रकार यहां परमात्मा परब्रह्म के लिये प्रयुक्त हुआ है, इसका विवेचन गतसूत्र में कर दिया गया है। यह भी स्पष्ट किया गया है, कि सुषुप्त अवस्था में जीवात्मा को ब्रह्म में लीन क्यों कहा जाता है। इस बात को मानकर यहां यह स्पष्ट करना है, कि जीवात्मा से पर–भिन्न तत्त्व ब्रह्म है, जहां सुप्त अवस्था में जीवात्मा इन्द्रियों से असंबद्ध हुआ पड़ा रहता है। इसी भाव को अजातशत्रु स्पष्ट करता है, कि उस अवस्था में वाक् आदि समस्त इन्द्रियां अपने विशिष्ट व्यापार के साथ वहीं अन्तर्हित होजाती हैं, छिप जाती हैं, मानो वहीं लीन होगई हों। सुप्त अवस्था में जीवात्मा का इन्द्रियों से सम्बन्ध न रहने पर समस्त व्यापार शान्त होजाता है; इसी स्थिति से ब्रह्म-स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास है। शान्तस्वरूप अविकृत ब्रह्म के समान यह सब भी वैसा होगया है। जब जीवात्मा सुप्त अवस्था से प्रबुद्ध होजाता है, जाग्रत अवस्था में आ-जाता है, तब जैसे प्रज्वलित अग्नि से चिनगारियां फूट पड़ती हैं, ऐसे ही उस परब्रह्म की अवस्था से उठकर ये प्राण–यत्नव्यापार यथास्थान बिखरने लगते हैं, उनसे देव–इन्द्रियां अपने व्यापार में प्रवृत्त होजाती हैं, तब यह समस्त संसार पूर्ववत् पुनः सामने आलोकित होजाता है।

उक्त सन्दर्भ में यहां बहुवचनान्त प्राण पद [प्राणाः] उन प्रवृत्तियों का बोधक है, जो करणों के साथ सम्बन्ध के लिये जीवात्मा का यत्न-व्यापार है। वह होनेपर देव अर्थात् इन्द्रियां अपने विशिष्ट व्यापारों में व्यापृत होने लगती हैं। उसके अनन्तर सामने विस्तृत लोक प्रतीत होते हैं। यह सबप्रकार का आन्तर-बाह्य करणव्यापार जीवात्मा की सुषुप्त अवस्था में रहीं रहता, इसीकारण ब्रह्मज्ञानी की ब्रह्मानुभूति की अवस्था के समान उपनिषदों में इसका वर्णन ऋषियों ने किया है, तब जीवात्मा मानो ब्रह्म-सम्बन्ध में अवस्थित रहता है। सांसारिक असम्बन्ध को भागवतसम्बन्ध के रूप में कहा है। प्रश्न उपनिषद् [४।४] में बताया–'स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति' वह प्राण इस मन–यजमान को प्रतिदिन ब्रह्म तक लेजाता है, स्वप्न अवस्था से हटाकर सुषुप्ति में पहुंचाता है। यही ब्रह्म के समीप लेजाना है। ब्रह्मप्राप्ति पर जैसे सांसारिक सम्पर्क नहीं रहता, वैसी यह अवस्था है। प्रश्न उपनिषद् [४।६] में आगे कहा–'स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते' वह भोक्ता कर्त्ता जीवात्मपुरुष तब अक्षर पर-आत्मा में संप्रतिष्ठित होता है। छान्दोग्य [६।८।१] में वचन है–'सता सोम्य ! तदा सम्पन्नो भवति' उद्दालक आरुणि ने श्वेतकेतु को सुषुप्ति अवस्था के विषय में बताया–हे सोम्य ! जीवात्मा उस समय सद्रूप ब्रह्म के सम्पर्क में रहता है। इसीप्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् [४।३।२१] में कहा–'एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' जैसे प्रियतमा

से संपरिष्वक्त व्यक्ति बाह्य आन्तर को भूल जाता है, इसीप्रकार ब्रह्मसम्पर्क में आया जीवात्मा बाह्य एवं आन्तर को नहीं जानता। फलतः यह निश्चित होता है, कि कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् के उक्त प्रसंग में प्रश्न और प्रतिवचन के द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन है।

जैमिनि आचार्य कहता है, वाजसनेयिशाखा के ऋषियों ने प्रश्न-उत्तररूप से इस अर्थ का उपपादन किया है। बृहदारण्यक उपनिषद् [२।१।१६] में कहा-'य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाऽभूत्, कुत एतदागात्' यह चेतन जीवात्मा-पुरुष सुषुप्ति अवस्था में-जब बाह्य जगत् के साथ इसका कोई सम्पर्क न था-कहां था ? अब जाग्रत अवस्था में कहां से आगया ? यह प्रश्न करने के अनन्तर अजातशत्रु ने गर्गगोत्रीय बालाकि से कहा-'यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूत् य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' यह चेतन जीवात्म-पुरुष इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान को अपने अन्दर समेटकर जहां सोया हुआ था, वह यह हृदयगत आकाश है, उसमें यह सोता है। यहां जीवात्मा की इस स्थिति के द्वारा ब्रह्मस्वरूप का बोध कराया गया है, इसलिये जीवात्मा का यह वर्णन 'अन्यार्थ' है, अर्थात् जीवात्मा से भिन्न ब्रह्म के स्वरूप का बोध कराने के लिये है। इसप्रकार यहां जीवात्म-वर्णन का प्रयोजन ब्रह्मस्वरूप का बोध कराना है, यह आचार्य जैमिनि का अभिमत सिद्ध होता है। इस विचार के अनुसार भी अजातशत्रु के 'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्य वैतत्कर्म स वेदितव्यः' [कौ० ४।१८] इस वाक्य में वेदितव्य तत्त्व परब्रह्म है, अन्य कोई नहीं ॥१८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् के पूर्वोक्त ब्रह्मप्रकरण में जीवात्मा का उल्लेख प्रासंगिक है, उस वर्णन का प्रयोजन ब्रह्म का बोध कराना है; इसलिये उक्त प्रसंग में जगत्कर्त्ता एवं उपास्य ब्रह्म समझना चाहिये; परन्तु उपनिषद् के जिन प्रसंगों में 'आत्मा' को साक्षात् जगत् का स्रष्टा एवं उपास्य बताया है, वहां 'आत्मा पद से जीवात्मा का ग्रहण क्यों न माना जाय ? सूत्रकार आचार्य ने समाधान किया—

वाक्यान्वयात् ॥१९॥

[वाक्यान्वयात्] वाक्यों के अन्वय से। उन वाक्यों का अन्वय-सामञ्जस्य ब्रह्म को स्रष्टा आदि मानकर संभव है, अतः वहां 'आत्मा' पद परब्रह्म परमात्मा का वाचक समझना चाहिये।

ऐतरेय उपनिषद् [१।१] का प्रारम्भ इन वाक्यों से होता है-'आत्मा वा इदमेक एव अ आसीत्, नान्यत् किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति' यह सब सृष्टि से पहले एक आत्मा था। अन्य कुछ भी व्यापारयुक्त न था। उसने ईक्षण किया, लोकों का सर्जन करूं। 'स इमाँल्लोकानसृजत' [ऐत० १।२] उसने इन लोकों का सर्जन किया। इस प्रसंग में शिष्य की जिज्ञासा का आधार यह संशय है, कि यहां 'आत्मा' पद से जीवात्मा का ग्रहण होना चाहिये, अथवा परमात्मा का ? इस पद का प्रयोग दोनों अर्थ

में देखा जाता है । आपाततः ऐसा प्रतीत होता है, कि यह जीवात्मा के लिये प्रयुक्त माना जाना चाहिये । कारण यह है, कि इस प्रसंग में कतिपय ऐसे चिह्न हैं, जो जीवात्मा अर्थ के साधक हैं । उपनिषद् में आगे देहपर्यन्त रचना दिखाकर पूर्वोक्त आत्मा का शरीर में प्रवेश बताया है–'स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति, स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति' [ऐत० १।३।११] उसने देखा, मेरे विना यह कैसे रहे ? उसने सोचा, किस मार्ग से इसमें प्रवेश करूं ? आगे कहा–'स एतमेव सीमानं विदार्य एतया द्वारा प्रापद्यत' [ऐत० १।३।१२] उसने इसी खोपड़ी के तलवे [ब्रह्मरन्ध्र] को छेदकर इसके द्वारा देह में प्रवेश किया । इसप्रकार देह में प्रवेश परिच्छिन्न जीवात्मा का संभव है, सर्वव्यापक परमात्मा का नहीं ।

शरीर में प्रवेश के अनन्तर आत्मा के तीन 'आवसथ'–क्रीड़ास्थान–व्यापारक्षेत्र बताये हैं । वे तीन अवस्था हैं–जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति । जाग्रत अवस्था में आत्मा समस्त बाह्य आन्तर करणों से सम्बद्ध रहता है, स्वप्न में केवल आन्तर मन आदि करणों से तथा सुषुप्ति में इन सबसे असंबद्ध रहकर हृदयाकाश में अवस्थित रहता है । यद्यपि आत्मा का निवास सदा देह के साथ रहते हृदयाकाश ही है, पर इन्द्रियादि करणों के साथ सम्बन्ध-असम्बन्ध की स्थिति को स्पष्ट करने के लिये यह व्यपदेश है । इन तीनों अवस्थाओं को यहां उपनिषद् [ऐत० १।३।१२] में 'स्वप्न' पद से कहा है । जाग्रत आदि अवस्थाओं का 'स्वप्न' पद से उल्लेख स्वप्न के समान उनकी अल्पकालस्थायिता के आधार पर किया गया है । यह सब अवस्थाओं का सम्बन्ध जीवात्मा के साथ कहा जा-सकता है, ब्रह्म के नहीं ।

आगे उपनिषद् [ऐत० २।१।१–६] में देह के सम्बन्ध व त्याग से आत्मा के जन्म-मरण का वर्णन है । यह जीवात्मा में संभव है, परब्रह्म में नहीं । वह देहबन्धनद्वारा जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आता । उसका ऐसा वर्णन अशास्त्रीय है । आगे उपनिषद् [ऐत० ३।१] में कुछ प्रश्नोत्तर कहे हैं–'कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे, कतरः स आत्मा' कौन यह आत्मा है, जिसकी हम उपासना करते हैं, वह आत्मा कौनसा है ? यह प्रश्न है । इसका उत्तर वहां दिया–'येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति' इत्यादि; जिससे देखता, सुनता व गन्धों को सूंघता है । यह रूपादि का देखना शब्दों का सुनना गन्धों का सूंघना जीवात्मा का धर्म है, इन सब चिह्नों से प्रकट होता है, कि ऐत-रेय उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसंग में 'आत्मा' पद से जीवात्मा का ग्रहण होना चाहिये ।

सूत्रकार ने समाधान किया–ऐतरेय उपनिषद् के उक्त प्रसंग के वाक्यों का अन्वय–सामञ्जस्य ब्रह्म में संभव है, अतः वहां 'आत्मा' पद का अर्थ परमात्मा परब्रह्म माना जासकता है, अन्य कुछ नहीं । उपनिषद् का पहला वाक्य है–'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, नान्यत् किञ्चन मिषत्, स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति । स इमाँल्लोकानसृजत' [ऐत० १।१-२] यह सब जगत् सृष्टिरचना के पूर्व एक आत्मा ही था । निश्चित है,

वर्त्तमान जगत् का रूप सर्ग के अनन्तर होता है। सर्ग से पूर्व यह सब अपने कारण में लीन रहता है, कारणरूप से विद्यमान रहता है। तब यह जगत् क्यों न था? इस तथ्य को अगले वाक्य से स्पष्ट किया—'नान्यत् किञ्चन मिषत्' अन्य कुछ भी सचेष्ट न था। इससे स्पष्ट होता है, कि सर्ग से पूर्व उस आत्मतत्त्व के अतिरिक्त अन्य कुछ था तो अवश्य, पर वह सचेष्ट—सक्रिय न था। हम अपनी दृष्टि से अपनी भाषा में उस समय यदि किसी को जीवन्त जागृत कह सकते हैं, तो केवल वह आत्मतत्त्व था; अन्य जो कुछ था वह वर्त्तमान जगत् की चहल-पहल से सर्वथा रहित था, किसी प्रकार के जागतिक व्यापार से सर्वथा हीन। इस जड़ जगत् का मूलउपादानकारण जड़ प्रकृति है। चेतन की प्रेरणा के विना उसमें कोई प्रवृत्ति होना संभव नहीं। समस्त जीवात्मतत्त्व उस अवस्था में प्रसुप्त के समान पड़े रहते हैं; उनकी किसी प्रकार की प्रवृत्ति देह इन्द्रिय आदि साधनों के साथ रहने पर होती है; जो सर्ग से पूर्व प्रलय अवस्था में संभव नहीं। इसलिये तब केवल वही एक आत्मतत्त्व ऐसा रहजाता है, जो प्रवृत्ति का प्रेरक है। इसी भावना से प्रथम वाक्य में कहा गया—तब यह सब एक आत्मा ही था।

प्रथम वाक्य से जिन व्याख्याकारों ने ऐसा समझा है, कि तब आत्मा के अतिरिक्त कुछ था ही नहीं, यह अयुक्त है। क्योंकि ऐसा समझने पर अगला वाक्य असंगत होजाता है, जिसमें कहा गया है, कि तब 'अन्य कुछ सचेष्ट न था।' इसका स्पष्ट अभिप्राय होता है, कि कुछ निश्चेष्ट—प्रवृत्तिहीन अवश्य था। इसप्रकार तब प्रकृति और जीवात्माओं का अस्तित्व अनुपेक्षणीय है। जीवात्मा क्योंकि देह आदि साधन के विना प्रवृत्ति में अक्षम रहता है; वैसे भी जगद्व्यापार में इस रूप से उसका कोई सहयोग नहीं होता, क्योंकि वह इस कार्य की दृष्टि से सदा अल्पज्ञ अल्पशक्ति है; इसलिये उपनिषद् के अगले वाक्य—'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति' उसने ईक्षण किया मैं लोकों का सर्जन करूं—से प्रतिपादित ईक्षण करने वाला वह आत्मतत्त्व ब्रह्म के अतिरिक्त कोई अन्य संभव नहीं। उसीने—'स इमाँल्लोकानसृजत'—इन सब लोकों का सर्जन किया।

यहां पर यह स्पष्ट वर्णन है, कि उसने इन लोकों का सर्जन किया, ऐसा नहीं है, कि वह स्वयं इन लोकों के रूप में परिणत होगया। यह समझना सर्वथा असंगत है, कि वह ब्रह्मरूप चेतन आत्मतत्त्व स्वयं अचेतन जगत् के रूप में परिणत होजाता है। वर्त्तमान जगत् की कारण-अवस्था को ब्रह्म में अविभक्तरूप से जो जहां-तहां कहा है, वह सर्वथा औपचारिक है, ब्रह्म के महत्त्व का उपपादन करना केवल उसका तात्पर्य है। क्योंकि केवल वही अन्य सबका आधार व नियन्ता है। प्रस्तुत उपनिषद् के अन्त में स्पष्ट कहा है—'सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म' [ऐत० ३।१।३] वह सब—जो विश्व और उसका मूलउपादानतत्त्व है—चेतन तत्त्व से नियन्त्रित है, चेतन में प्रतिष्ठित है, लोकसमूह उसी चेतन से नियन्त्रित है, वह सबकी प्रतिष्ठा है, सबका आधार है, वह चेतनतत्त्व ब्रह्म है। इसप्रकार इन वाक्यों का

समन्वय–सामञ्जस्य उसी अवस्था में संभव है, जब यहां 'आत्मा' पद को ब्रह्मपरक माना जाता है।

उपनिषद् के इस प्रसंग में कतिपय ऐसे चिह्नों का निर्देश है, जिनसे यहां 'आत्मा' पद का प्रयोग जीवात्मा के लिये प्रतीत होता है। आपाततः भले ही उनसे ऐसा प्रतीत हो, पर वास्तविकता ऐसी नहीं है। प्रथम वाक्यों के उक्त व्याख्यान से यह स्पष्ट है। जीवात्मा के चिह्न का जो प्रसंग [ऐत० १।३।११-१२] प्रथम कहा, वह युक्त नहीं। जीवात्मा कभी देह में अपने संकल्पपूर्वक प्रवेश नहीं करता, वह कर्मानुसार ईश्वरीय व्यवस्था से नियन्त्रित हुआ देह में आता है। परन्तु यहां स्वतन्त्रता से संकल्पपूर्वक देह में आने का निर्देश है–'स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति। स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति' [ऐत० १।३।११] उसने ईक्षण किया, संकल्प किया–यह मेरे विना कैसे रहे? मैं किस मार्ग से प्राप्त होऊं, वहां पहुंचूं? यह संकल्पपूर्वक प्रवेश का कथन किसी स्वाधीन के विषय में संभव होसकता है, कर्मानुसार परमेश्वर की व्यवस्था के अधीन देह में प्राप्त होने वाले जीवात्मा के विषय में नहीं। यह परब्रह्म का प्रवेश औपचारिकरूप से कहा है। वस्तुतः सर्वत्र व्याप्त परब्रह्म सदा सब जगह विद्यमान है। जीवात्मा जब देह में प्रवेश पाता है, तब उसके अन्तर्यामीरूप से विद्यमान परब्रह्म शरीर में अनुप्रविष्ट जैसा वर्णन कर दिया गया है। ब्रह्मरन्ध्र मार्ग का जो निर्देश है, वह ब्रह्म के साक्षात्कार की ओर संकेत करता है। मस्तिष्कगत 'हृदय' आत्मा का निवास है, इसका अनेकत्र उपपादन किया जाचुका है। जीवात्मा को ब्रह्म का साक्षात्कार उसी प्रदेश में होता है। इसी भावना से संकेत किया गया, मानो परब्रह्म उस मार्ग [ब्रह्मरन्ध्र] से देह में प्राप्त होता है। वस्तुतः उसकी प्राप्ति का अवकाश वही है। इस रूप में यह प्रवेश का निर्देश सर्वथा औपचारिक है। छान्दोग्य उपनिषद् [६।३।२] में भी परब्रह्म के ऐसे अनुप्रवेश का उल्लेख है। इसप्रकार जगत् के स्रष्टारूप में कहा गया 'आत्मा' जीवात्मा नहीं हो-सकता, यह स्पष्ट होता है।

आगे आत्मा के स्थान और जन्म आदि का उल्लेख जो जीवात्मा के चिह्नरूप में निर्दिष्ट किया गया, वह ठीक है। देह में स्थानविशेष जीवात्मा का निवास है, जाग्रत आदि अवस्था तथा जन्म आदि का व्यवहार जीवात्मा में होता है, इन सबका परब्रह्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं; पर इतने मात्र से यह निश्चय नहीं होता, कि उपनिषद् के प्रारम्भिक वाक्यों में प्रयुक्त 'आत्मा' पद जीवात्मा के लिये है। उक्त प्रसंग में जीवात्म-सम्बन्धी ऐसा वर्णन ब्रह्मस्वरूप का बोध कराने के लिये किया गया है। जगत् का स्रष्टा केवल ब्रह्म है, यह प्रथम स्पष्ट किया गया। समस्त जगत् की रचना होजाने पर कर्मा-नुसार जीवात्मा देहादिबन्धन में भोग तथा अपवर्गप्राप्ति के प्रयास के लिये आता है। कर्मफल भोगते हुए वह यम-नियम आदि का पालन, समाधिसिद्धि तथा ब्रह्मोपासना आदि के द्वारा मोक्षप्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है। जीवात्मा की संसारदशा में जाग्रत

आदि अवस्थाओं, देह के ग्रहण और त्यागरूप जन्म-मरण तथा देह में निवास के स्थान आदि का वर्णन इस निमित्त से हुआ है, कि जन्म-मरण के चक्र की यथार्थता को समझकर वैराग्य की भावना जागृत हो, तथा मोक्षप्राप्ति के प्रयत्नों की ओर झुकाव होसके। जगत् के स्रष्टा एवं मोक्ष की प्राप्ति के लिये उसकी उपासना का विधान होने से ब्रह्म-स्वरूप का उपपादन यहां अभीष्ट है। निमित्तवश जीवात्मा का मध्य में वर्णन किये जाने से यह परिणाम नहीं निकाला जासकता, कि उपनिषद् के प्रारम्भ में जगत्स्रष्टारूप से आत्मा का जो उल्लेख हुआ है, वहां 'आत्मा' पद जीवात्मा का बोध कराता है।

इसके अनन्तर प्रश्नोत्तर का जो निर्देश किया गया, वहां जीवात्मा से भिन्न ब्रह्म-स्वरूप का स्पष्ट उपपादन है। वहां कहा—'कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे' [ऐत० ३।१।१] वह आत्मा कौन है, जिसकी हम उपासना करते हैं? इस प्रश्न से इतना निश्चित हो-जाता है, कि उपास्य आत्मा एक है और उसके उपासक अन्य हैं। आगे पुन. प्रश्न है—'कतरः स आत्मा येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति' [ऐत० ३।१।१] आदि। वह कौनसा आत्मा है, जिसके निमित्त से यह जीवात्मा देखता सुनता सूंघता है? यहां भी उस प्रयोजक आत्मा का इस देखने सुनने सूंघनेवाले जीवात्मा से भेद स्पष्ट है। आगे इन प्रश्नों का उत्तर है, देखने सुननेवाला जीवात्मा बताया—'यदे-तद् हृदयं मनश्चैतत्' [ऐत० ३।१।२] यह जो हृदय में निवास करता तथा मन आदि इन्द्रियों के सहित है, वह जीवात्मा है। जो संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है, वह जगत् का स्रष्टा आत्मा है। ब्रह्मा इन्द्र प्रजापति आदि उसीके नाम हैं, वह समस्त लोक-लोकान्तरों का नेता है; उसी के नियन्त्रण में समस्त विश्व संचालित है [ऐत० ३।१।२-३]। उपक्रम के समान उपनिषद् के इस अन्तिम उपसंहार भाग से भी यह निश्चय होता है, कि वह हमारा उपास्य व जगत्स्रष्टा 'आत्मा' परब्रह्म है, अन्य कोई नहीं।

जीवात्मा उसीके अनुग्रह से देखने सुनने आदि के इन्द्रियादि साधनों को प्राप्त करता है, यह अन्य वचनों से भी स्पष्ट होता है। 'येन वा पश्यति येन वा शृणोति' [ऐत० ३।१।१] इत्यादि कथन उसी के अनुसार है। केन उपनिषद् [१।६] में कहा—'यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' जो नेत्रद्वारा नहीं देखता, जिसके अनुग्रह व ऐश्वर्य से नेत्रों को देखा जाता है, उसी को तू ब्रह्म जान, वह ब्रह्म नहीं है जो यह उपासना करता है। फिर कहा—'यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' [केन० १।७] जो श्रोत्रद्वारा नहीं सुनता, जिसके अनुग्रह से यह श्रोत्र सुना जाता है, उसी को तू ब्रह्म जान; यह ब्रह्म नहीं है, जो उपासना करता है। इसीप्रकार कठ उपनिषद् [२।१।३] में कहा—'येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्। एतेनैव विजानाति किमत्र परि-शिष्यते, एतद्वै तत्' जिस इसके अनुग्रह से जीवात्मा रूप रस आदि का अनुभव करता

है, कुछ भी ऐसा शेष नहीं रह जाता, जो उससे प्राप्त न होता हो, वही यह ब्रह्म है।

इस सब विवेचन से स्पष्ट होता है, कि जीवात्माओं के भोगापवर्ग के लिये जगत् का स्रष्टा परब्रह्म उपास्य है। ऐतरेय उपनिषद् में उसीका 'आत्मा' पद से उल्लेख हुआ है, जीवात्मा का यह वर्णन नहीं है। इसी कारण उपनिषद् में प्रतिपादित अर्थ का निगमन करते हुए अन्त में कहा है-'स एतेन प्रज्ञेनात्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्' [ऐत० ३।१।४] वह उपासक जीवात्मा इस देह से उत्क्रमण कर इस उपनिषत् प्रतिपाद्य प्रज्ञ आत्मा-परमात्मा के साथ आनन्दमय अवस्था में सब कामनाओं को प्राप्त कर मुक्त हो जाता है।

ऐतरेय उपनिषद् के अतिरिक्त बृहदारण्यक उपनिषद् के मैत्रेयि-याज्ञवल्क्य संवाद में भी 'आत्मा' पद से परब्रह्म परमात्मा का वर्णन है। याज्ञवल्क्य ने 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति' यहां से आरम्भ कर आगे कहा-'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति; आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः; मैत्रेयि ! आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' [बृ० ४।५।६]। यह प्रारम्भ में कहा गया है, कि 'आत्मा' पद का प्रयोग जीवात्मा व परमात्मा दोनों के लिये होता है। यहां जितने वाक्य आत्मा की कामना-पूर्त्ति के लिये पदार्थों को प्रिय बताने वाले कहे हैं, उन सब में 'आत्मा' पद का प्रयोग जीवात्मा के लिये माना जासकता है; क्योंकि किसी वस्तु का प्रिय अथवा अप्रिय लगना और प्रिय की कामना होना केवल जीवात्मा में संभव है। पर इस अवस्था से जीवात्मा का उद्धार करने के लिये जिस 'आत्मा' को उपासितव्य एवं साक्षात्कर्त्तव्य कहा है-'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यो···निदिध्यासितव्यः' वह 'आत्मा' निश्चित परमात्मा है। उसकी उपासना और उसका साक्षात्कार जीवात्मा के मोक्ष का परम साधन है। उसके साक्षात्कार होजाने पर सब ज्ञात हो जाता है, क्योंकि उस अवस्था में फिर किसी के जानने की अपेक्षा नहीं रहती। जीवात्मा का परम लक्ष्य वही है, वह मिलजाने पर फिर और क्या जानना?

वह विश्व का नियन्ता होने से सबका परमकारण है। उससे अतिरिक्त किसी को ब्रह्म समझने की इसी प्रसंग [बृ० ४।५।७] में निन्दा की गई है-जो उपास्य द्रष्टव्य उस आत्मा से अतिरिक्त किसी तत्त्व को परब्रह्म समझता है, उस अयथार्थदर्शी को ब्राह्मण आदि समाज दूर हटा देता है। यह समस्त विश्व उसी 'आत्मा' के अन्तर्गत रहता है; उससे बाहर किसी का अस्तित्व नहीं है। इसी भाव से आगे कहा-'इदं सर्वं यदयमात्मा' [बृ० ४।५।७] जो यह सब है, यह आत्मा है। इस सबका अस्तित्व 'आत्मा' [पूर्वोक्त उपास्य परब्रह्म परमात्मा] के विना असंभव है। यह सब जगत् उसीपर आधारित है, इसीकारण इस सबको 'आत्मा' कहा। देवदत्त ही कुल है, ऐसा कथन प्रकट करता है, कि देवदत्त कुल का आश्रय है। ऐसा ही तात्पर्य उपनिषद् का है। नश्वर दृश्य

जड़ जगत् को सीधा परब्रह्म का रूप समझना या मानना निश्चित अयथार्थदर्शिता है। उपनिषद् के ऐसे कथनों के आधार पर जगत् और ब्रह्म की एकता का कथन सर्वथा अप्रामाणिक है। फलतः बृहदारण्यक के 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' [४।५।६] इत्यादि सन्दर्भ में 'आत्मा' पद ब्रह्म के लिये प्रयुक्त हुआ है, यह निश्चित होता है; क्योंकि यहां वाक्यों का अन्वय-सामञ्जस्य यही अर्थ मानने पर संभव है। उपास्य एवं द्रष्टव्य के रूप में उसी को मानना शास्त्रसिद्ध है। नामरूप समस्त जगद्विस्तार का वही स्रष्टा व नियन्ता है।

यहां आशंका कीजासकती है, कि बृहदारण्यक के एक ही प्रसंग [४।५।६-७] में 'आत्मा' पद का अनेकत्र प्रयोग हुआ है, वहां कतिपय स्थलों में 'आत्मा' का अर्थ जीवात्मा और कुछ में परमात्मा मानकर अर्धजरतीयन्याय का अनुसरण किया है, यह युक्त नहीं। समस्त प्रसंग में इस पद का कोई एक अर्थ माना जाना चाहिये। वस्तुतः ऐसी आशंका का यहां अवकाश नहीं है, कोई एक पद जो अनेक अर्थों का वाचक है, उसका प्रयोग कहां किस अर्थ में हुआ है, इसका नियामक प्रकरण एवं अनुषंगी वर्णन होता है। मैत्रेयि-याज्ञवल्क्यसंवाद में जहां प्रिय-अप्रियनिर्देश के साथ 'आत्मा' पद का प्रयोग है, वहां सशरीर जीवात्मा का अर्थ समझना युक्त है। 'आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' इसका यह अर्थ कदापि संभव नहीं होसकता, कि ब्रह्म की कामना के लिये पति प्यारा होता है। स्पष्ट है, कि इसप्रकार के सन्दर्भों में 'आत्मा' पद का अर्थ जीवात्मा है। मैत्रेयी अमृतपदप्राप्ति की आशा से उपास्य एवं ज्ञेय तत्त्व के विषय में पूछना चाहती है। याज्ञवल्क्य ने इसका उत्तर 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि सन्दर्भ से दिया। यहां 'आत्मा' पद परमात्मा का वाचक है। उपक्रमसन्दर्भ से जीवात्मा की सांसारिक सशरीर परिस्थिति बतलाकर उसकी अमृतप्राप्ति के लिये जिस 'आत्मा' के साक्षात्कार का उपदेश किया, वह परमात्मा संभव है। उसीको आगे सबका आधार, सबका नियन्ता, वेद-जगदात्मक समस्त नाम-रूप का स्रष्टा बताया है। यह उपनिषत्कार की रचना का सौन्दर्य है, जो प्रकरण में सर्वत्र एक पद के प्रयोग से दोनों अर्थों का निर्देश कर दिया है। वहां का वर्णन स्वतः अर्थविशेष का नियामक है। इसमें अनौचित्य कुछ नहीं ॥१६॥

गतसूत्र द्वारा ऐतरेय उपनिषद् के 'आत्मा' पदप्रयोग की ब्रह्मपरता का निश्चय किया। उस प्रसंग में आत्म-पदार्थ के रूप से कतिपय जीवलिङ्गों का निर्देश कर उसका वाक्यान्वय के आधार पर समाधान किया है। उस विषय में सूत्रकार कतिपय अन्य आचार्यों के विचार यथाक्रम प्रस्तुत करता है—

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥२०॥

[प्रतिज्ञासिद्धेः] प्रतिज्ञासिद्धि का [लिङ्गम्] चिह्न है [आश्मरथ्यः] आश्मरथ्य कहता है। आश्मरथ्य आचार्य का विचार है, कि उस प्रसंग में जीवविषयक कथन

प्रतिज्ञासिद्धि का चिह्न है।

ऐतरेय उपनिषद् के उक्त प्रसंग में जीवात्मा का लिङ्ग बताया—'स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति' [१।३।११] जगद्रचना होजाने पर देह में प्रवेश के लिये आत्मा ने ईक्षण किया, किस मार्ग से अन्दर पहुंचूं ? गतसूत्र की व्याख्या में सूत्रकार के आशय के अनुसार इसका समाधान किया, कि जीवात्मा का शरीरप्रवेश स्वतन्त्रता से ईक्षणपूर्वक नहीं होता, वह जीवों के कर्मानुरूप परब्रह्म की व्यवस्था के अनुसार होता है। यह परमात्मा का औपचारिक प्रवेश उसकी व्यवस्थानुसार जीवात्म-प्रवेश का द्योतक है, इसलिये यहां शरीरान्तःप्रवेश को जीवात्मा का लिङ्ग मानने की आवश्यकता नहीं।

इस विषय में आचार्य आश्मरथ्य का विचार है, कि ऐतरेय उपनिषद् के प्रथम वाक्य में यह प्रतिज्ञा की गई है, कि सर्ग से पहले प्रलयकाल में एक 'आत्मा' ही था—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्'। यह 'आत्मा' परमात्मा है। उस समय केवल इसका होना इसी कारण कहा गया है, कि तब अन्य कुछ भी जीवन्त-जागृत न था, केवल एक 'आत्मा' [परमात्मा] ऐसा था। यदि ईक्षणपूर्वक शरीर में प्रवेश जीवात्मा का कहा जाता, तो इसका यह अभिप्राय होता, कि प्रलयकाल में जीवात्मा भी ऐसी अवस्था में था, जैसी में परमात्मा। तब यह प्रतिज्ञा असिद्ध होजाती, कि प्रलयकाल में एक ही आत्मा था। इसलिये शरीर में प्रवेश का कथन प्रतिज्ञासिद्धि का चिह्न है, ऐसा समझना चाहिये। इसे जीवात्मा का लिङ्ग कहना उपयुक्त न होगा।

सूत्रकार और आचार्य आश्मरथ्य दोनों शरीरप्रवेशकथन को जीवात्मा का लिंग नहीं मानते। सूत्रकार औपचारिक ईश्वरप्रवेशनिर्देश से ईश्वराधीन जीव का प्रवेश कहता है; आश्मरथ्य प्रलय में एकमात्र आत्मा के कथनरूप प्रतिज्ञा की सिद्धि का इसे लिंग मानता है, जीवात्मा का नहीं। सर्गादिकाल में स्वतन्त्रता से जीवात्मा का देह में प्रवेश कहे जाने का यह परिणाम निकलता, कि प्रलयकाल में एकमात्र आत्मा के अस्तित्व का कथन असिद्ध होजाता, जो आत्मा जगत् का स्रष्टा माना गया है। देह में ईश्वर-प्रवेश का कथन इस बात का चिह्न है, कि सर्ग के पहले सक्रिय अस्तित्व एकमात्र आत्मा का था, जो परब्रह्म परमात्मा है। उपनिषद् के आरम्भ में उसीको प्रतिज्ञारूप से निर्दिष्ट किया गया है। इसप्रकार आचार्य आश्मरथ्य के विचार से यह देहप्रवेशकथन प्रतिज्ञासिद्धि का लिंग है, इसे जीवात्मा का लिंग नहीं मानना चाहिये ॥२०॥

उक्त विषय में सूत्रकार अन्य आचार्य का विचार प्रस्तुत करता है—

उत्क्रमिष्यत एवम्भावादित्यौडुलोमिः ॥२१॥

[उत्क्रमिष्यतः] उत्क्रमण करनेवाले का [एवंभावात्] ऐसा होने से [इति] यह [औडुलोमिः] औडुलोमि (कहता है)। आचार्य औडुलोमि का कहना है, कि देह से उत्क्रमण करने वाले जीवात्मा का ऐसा अवस्थान अथवा स्वरूप होता है, देहप्रवेश में

वैसा ही कथन करदिया गया है।

प्रलय अवस्था में जीवात्मा देहादि से रहित अन्य समस्त क्रियाओं से हीन सुप्त जैसा पड़ा रहता है। उस दशा में ब्रह्म उसका आश्रय अवस्थान रहता है। मोक्ष अवस्था में भी जीवात्मा देह छोड़कर ब्रह्म में आश्रित रहता ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। मुण्डक उपनिषद् [३।२।८] में कहा-'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' जैसे नदियां बहती हुई अपने नामरूप को छोड़कर समुद्र में अन्तर्हित होजाती हैं; ऐसे ही ज्ञानी पुरुष नामरूप से छूटकर दिव्य परमपुरुष को प्राप्त होजाता है। समुद्र में जाकर नदी का प्रणालीरूप में बहना तथा गंगा आदि नाम नहीं रहता, पर वह जल जो गंगा नाम-रूप से बहकर वहां पहुंचा है, नष्ट नहीं होता, यद्यपि समुद्र के लावण्य से वह ओतप्रोत होजाता है। इसीप्रकार ज्ञानी सांसारिक देहादिरूप तथा देवदत्त आदि नाम से छूटकर परब्रह्म को प्राप्त होता है, वह ब्रह्मानन्द से ओतप्रोत रहता है, फिर भी अपने अस्तित्व को खो नहीं बैठता। इसी आशय को छान्दोग्य [८।१२।३] में प्रकट किया है-'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' यह ब्रह्मज्ञानी इस शरीर से उठकर परमज्योति [ब्रह्म] को प्राप्त होकर अपने रूप से अभिनिष्पन्न [सिद्ध] रहता है।

प्रलय अथवा मोक्ष में जीवात्मा की यह स्थिति ब्रह्माधीन रहती है। देह से उत्क्रमण करने वाले जीवात्मा का तब ऐसा अवस्थान अथवा स्वरूप रहता है। उसीके अनुसार देहप्रवेश के समय वर्णन हुआ है। ऐतरेय उपनिषद् [१।३।११] में जो परमात्मा के देहप्रवेश का कथन हैं, वह परमात्मा की अधीनता में जीवात्मा के देहप्रवेश का बोध कराता है। कारण यह है, कि देह से उत्क्रमण करने के अनन्तर प्रलयादि दशा में जीवात्मा का अवस्थान सर्वात्मना ब्रह्माधीन रहता है, इसलिये सर्गादिकाल में उसका देहप्रवेश उसीरूप में कथन किया गया है। देह में ईश्वरप्रवेशकथन का तात्पर्य है-ईश्वराधीन जीवात्मा का देह में प्रवेश। जीवात्मा का स्वतन्त्र प्रवेश नहीं कहा गया; इसलिये यह जीवात्मा का लिंग नहीं समझाजाना चाहिये। फलतः उपनिषद् के प्रारम्भ [ऐत० १।१।१] में प्रयुक्त 'आत्मा' पद के ब्रह्मपरक होने में इस कथन से कोई बाधा नहीं आती। यह आचार्य औडुलोमि का विचार है ॥२१॥

इस विषय में सूत्रकार ने अन्य एक आचार्य का विचार प्रस्तुत किया—

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥२२॥

[अवस्थितेः] अवस्थिति से [इति] यह [काशकृत्स्नः] काशकृत्स्न (कहता है)। काशकृत्स्न आचार्य का विचार है, जीवात्मा के साथ परमात्मा सदा नियतरूप से अवस्थित रहता है, इसकारण परमात्मप्रवेशमुख से जीवात्मा का प्रवेश कहा गया है।

संसार और मोक्ष प्रत्येक अवस्था में जीवात्मा के साथ परमात्मा अवस्थित रहता है; परमात्मा को छोड़कर जीवात्मा का रहना संभव नहीं। संसार अवस्था में जीवात्मा अज्ञानरहित नहीं होता, इसलिये यह अवस्थान अज्ञानसहित है। प्रलय अवस्था भी संसार अवस्था है, वहां भी जीवात्मा की अवस्थिति वैसी ही है। मोक्ष में अज्ञान नहीं रहता, इस विशेषता के रहते भी अवस्थिति में कोई अन्तर नहीं होता। विशेषता का प्रयोजन मोक्ष में ब्रह्मानन्द की अनुभूति का होना है। यह कहना युक्तियुक्त नहीं, कि प्रलय अथवा मोक्ष में जीवात्मा का ब्रह्म में लय होजाता है, इसलिये सहावस्थिति का आधार ही नहीं रहता। कारण यह है, परमात्मा के समान जीवात्मा नित्य है। कठोपनिषद् [१।२।१८] में कहा–'न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे' यह चेतन आत्मा न जन्मता न मरता, न यह किसी कारण का विकार है, और न इसका कोई विकार होता है। इसलिये यह अज नित्य निरन्तर सदा से वर्त्तमान है, शरीर के नष्ट होजाने पर इसका नाश नहीं होता। इसी अर्थ को छान्दोग्य उपनिषद् [६।११।३] में कहा–'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' जीव से रहित अर्थात् जीवात्मा के निकल जाने पर यह देह मरा हुआ कहा जाता है, जीवात्मा कभी मरता नहीं। यदि मोक्ष आदि में जीवात्मा को ब्रह्म में लीन हुआ माना जाय, तो यह जीवात्मा का स्वरूप से मरना ही होगा। लय का अर्थ है–स्वरूप को छोड़कर रूपान्तर की प्राप्ति। जीवात्मा के विषय में ऐसा मानना शास्त्रविरुद्ध है। फलतः जीवात्मा-परमात्मा की सह अवस्थिति निश्चित है। ये दोनों तत्त्व नित्य हैं, आत्मत्व दोनों में समान है। ऐसी अवस्थिति के कारण देह में परमात्मप्रवेशमुख से जीवात्मा के प्रवेश का कथन ऐतरेय उपनिषद् के उक्त प्रसंग [१।३।११] में हुआ है, अतएव इसे जीवात्मा का लिंग नहीं समझना चाहिये; ऐसा आचार्य काशकृत्स्न का विचार है।

अथवा सूत्रार्थ इस रीति पर भी किया जासकता है। समस्त जगत् परमात्मा के शरीररूप में कल्पना किया जाता है। जैसे एक देह में जीवात्मा रहता है, ऐसे परमात्मा समस्त विश्व में अन्तर्यामीरूप से व्याप्त है, इसी व्यावहारिक आधार पर जगत् को ब्रह्म के शरीररूप में कल्पना किया गया है। ब्रह्म जैसे अन्य सब पदार्थों में अन्तर्यामीरूप से व्याप्त है, ऐसे जीवात्मा में भी वह विद्यमान है। बृहदारण्यक उपनिषद् [३।७।२२] के अन्तर्यामी ब्राह्मण में इसका विशद वर्णन है। वहां बताया–'यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरः, यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरम्' यहां 'विज्ञान' पद जीवात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है, उसे यहां परब्रह्म परमात्मा का शरीर कहा है। प्रसिद्ध बृहदारण्यक उपनिषद् काण्वशाखा के ब्राह्मण का आरण्यकभाग है। माध्यन्दिन शाखा के शतपथ ब्राह्मण के आरण्यकभागान्तर्गत अन्तर्यामी ब्राह्मण में 'विज्ञान' पद के स्थान पर स्पष्ट 'आत्मा' पद का पाठ है–'य आत्मनि तिष्ठन्, आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा

शरीरम्' [श० ब्रा० १४।६।७।३०] । यहां आत्मा को ब्रह्म का शरीर कहा है। लोकव्यवहार में जैसे किसी घर में शरीरी के प्रवेश को शरीर के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है; ऐसे ही ऐतरेय उपनिषद् के उक्त प्रसंग [१।३।११] में शरीरसदृश जीवात्मा द्वारा—उसमें अन्तर्यामीरूप से शरीरी के समान अवस्थित—परब्रह्म के शरीरप्रवेश का उपदेश है। अभिप्राय यह है, कि शरीर में प्रवेश जीवात्मा का धर्म है। परब्रह्म जीवात्मा में अन्तर्यामीरूप से अवस्थित रहता है। तब परब्रह्म का शरीर में प्रवेशकथन जीवात्म-धर्म के द्वारा हुआ है। क्योंकि वास्तविकरूप से ब्रह्म का शरीर में प्रवेश संभव नहीं। यह प्रयोग इस अर्थ को अभिव्यक्त करता है, कि यह वस्तु पहले यहां नहीं थी अब आई है। इस व्यवहार की वास्तविकता ब्रह्म में असंभव है। जीवात्मा में ब्रह्म की अवस्थिति के कारण जीवात्मधर्म से ब्रह्म के देहप्रवेश का कथन हुआ है। यह आचार्य काशकृत्स्न का विचार है।

उक्त विवेचन के अनुसार सभी आचार्य इसप्रकार कहे गये देहप्रवेश को जीवात्मा का लिंग नहीं मानते। उपनिषद् के प्रारम्भ में जगत्स्रष्टारूप से जिस 'आत्मा' का निर्देश है, वह परब्रह्म परमात्मा है, यह सभी आचार्यों को समानरूप से स्वीकृत है। आगे उस 'आत्मा' के देहप्रवेश कथन को भी किसी आचार्य ने जीवात्मा का लिंग स्वीकार नहीं किया। वह वर्णन जीवात्मा का चिह्न नहीं है, और ऐसा मानने से जो प्रारम्भिक 'आत्मा' पद के परब्रह्मपरक होने में बाधा की आशंका उपस्थित की जासकती थी, उसका अवकाश नहीं रहता। इसप्रकार देहप्रवेश कथन को जीवात्मा का चिह्न न मानने में सब आचार्यों का ऐकमत्य है। विचार विभिन्नता केवल इतने अंश में है, कि देहप्रवेश का कथन जीवात्मा का लिंग क्यों नहीं है। इस 'क्यों' का उत्तर प्रत्येक आचार्य का भिन्न है। इस कथन के जीवलिंग न होने में उन्होंने विभिन्न कारण प्रस्तुत किये हैं। उनसे मुख्य अर्थ का पोषण हुआ है। किसी एक अर्थ को सिद्ध करने के लिये अनेक कारणों का प्रस्तुत किया जाना उस अर्थ की पुष्टि को दृढ़ करता है, उसकी यथार्थता का द्योतक है।

गत उन्नीस से बाईस तक चार सूत्रों की व्याख्या ऐतरेय उपनिषद् के प्रथम सन्दर्भगत 'आत्मा' पद को लक्ष्यकर प्रस्तुत की गई। यहां पहले सूत्र की व्याख्या में बृहदारण्यक उपनिषद् [४।५।६] के 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' वाक्य को भी इस सूत्र के लक्ष्यरूप से निर्दिष्ट किया गया है। उस प्रसंग के 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' [बृ० ४।५।६] इत्यादि वाक्यों में 'आत्मा' पद जीवात्मा का वाचक है। पति की कामना के लिये पति प्यारा नहीं होता, अपनी कामना के लिये पति प्यारा होता है। यहां पर 'आत्मा' पद का 'अपने' अथवा 'स्व' से अभिप्राय जीवात्मा का संभव है, ब्रह्म का नहीं। ऐसा नहीं कहा जासकता, कि पति की कामना के लिये पति प्यारा नहीं होता, ब्रह्म की कामना के लिये प्यारा होता है। ऐसा वाक्य प्रमत्तवाक्य के समान समझा जायगा। पर जहां द्रष्टव्य एवं उपास्य रूप से 'आत्मा' का निर्देश है—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासि

तव्यः' [बृ० ४।५।६] वहां 'आत्मा' पद परब्रह्म परमात्मा का बोधक है। वाक्यों का अन्वय-सामञ्जस्य ऐसा अर्थ माने जाने पर संभव है। क्योंकि आगे उस 'आत्मा' के जान लेने पर सबके जानलिये जाने का उल्लेख है। ऐसा तत्त्व केवल एक जगत्स्रष्टा ब्रह्म है, जिसके जानलेने पर अन्य सब विदित होजाता है। जैसे एक शिल्पी का सर्वतो-भावेन ज्ञान होजाने पर उसका शिल्पविषयक ज्ञान प्राप्त होजाता है, ऐसे ही जगत्स्रष्टा ब्रह्म के जानलेने पर अन्य सब जगदादिक विदित होजाता है। ब्रह्म के जानलेने पर अन्य किसी के जानने की अपेक्षा नहीं रहती। अतः वाक्यों के अन्वय से यहां 'आत्मा' पद ब्रह्मपरक निश्चित होता है।

इस विषय में आश्मरथ्य आचार्य का विचार है, कि उक्त सन्दर्भ में 'आत्मा' पद का प्रयोग ब्रह्म के लिये है, ऐसा मानना प्रतिज्ञासिद्धि का लिङ्ग है। प्रसंग के प्रारम्भ में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को कहा—अमृतप्राप्ति की भावना से मैं संन्यस्त होरहा हूं, तुम धन-संपत्ति के साथ यहीं रहो। मैत्रेयी ने कहा—क्या मैं इसके द्वारा अमृत की प्राप्ति कर सकती हूं? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—वित्त-प्राकृत ऐश्वर्य से अमृत की आशा नहीं की जासकती। मैत्रेयी ने तत्काल कहा—तब इस ऐश्वर्य का मैं क्या करूं? आप उसी अमृत-मार्ग का उपदेश करें। तब याज्ञवल्क्य ने वह कहने की प्रतिज्ञा की—'हन्त तर्हि भवत्येतद् व्याख्यास्यामि' [बृ० ४।५।२–५]। आगे 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' उपदेश कर उस प्रतिज्ञा को दुहराया—उस आत्मा के जानलेने-साक्षात् करलेने पर यह सब विदित हो-जाता है। यह अमृत का मार्ग है। इसप्रकार 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' सन्दर्भ में 'आत्मा' पद का परमात्मा परब्रह्म अर्थ उक्त प्रतिज्ञा की सिद्धि का लिंग है। याज्ञवल्क्य की अमृतमार्गोपदेश की प्रतिज्ञा उसी स्थिति में सिद्ध हो सकती है, जब उक्त सन्दर्भ में 'आत्मा' पद का अर्थ परमात्मा माना जाता है। जीवात्मा एवं प्रकृति के ज्ञान का क्षेत्र सीमित रहता है; उनके ज्ञान से सबका ज्ञान संभव नहीं। इस अर्थ के अनुसार सूत्र में 'प्रतिज्ञासिद्धेः' पद षष्ठी विभक्ति का रूप समझना चाहिये।

आचार्य औडुलोमि का इस विषय में विचार है, कि यह प्रसंग जीवात्मविषयक है, पहले संसारी जीवात्मा का वर्णन है। आगे 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' में 'आत्मा पद जीवात्मा की उस अवस्था को कहता है, जब ब्रह्मज्ञान होजाने पर जीवात्मा देह से उत्क्रमण कर ब्रह्मभाव को प्राप्त होजाता है, अर्थात् ब्रह्मानन्द की अनुभूति में लीन होता है। वह जीवात्मा की मोक्ष अवस्था है। उसको द्रष्टव्य व उपास्य कहने का यह अभिप्राय है, कि अमृत प्राप्ति की भावना से उस अवस्था को प्राप्त करने के लिये प्रत्येक जीवात्मा को प्रयास करना चाहिये। मैत्रेयी की अमृतप्राप्ति के प्रति आशा अथवा अमृत होने की भावना इस व्याख्या के अनुसार सफल व संगत कही जासकती है। मोक्ष में ब्रह्मा-नन्द की अनुभूति ही जीवात्मा का अमृत होना है। वैसे तो साधारणतया जीवात्मा सदा अमृत है—अमरणधर्मा है। इस अवस्था की प्राप्ति के प्रयास में ब्रह्म की उपासना व

उसका साक्षात्कार अन्तर्भुक्त है। याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी के लिये जीवात्मा के अमृतस्वरूप को उक्त सन्दर्भद्वारा स्पष्ट किया है। फलतः 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' सन्दर्भ में 'आत्मा' पद मुक्त जीवात्मा-परक माने जाने पर भी ब्रह्म के उपास्य एवं साक्षात्करणीय होने में कोई बाधा नहीं आती।

इसी प्रसंग में आगे [बृ० ४।५।१२–१३] 'आत्मा' को सबका आधार तथा उस सबसे अतिरिक्त होते हुए उस सब में अन्तर्हित अर्थात् अन्तर्यामीरूप से व्याप्त बताया है। इसप्रकार समस्त विश्व का अवस्थान आत्मा के आश्रय से होना निश्चित होता है। उस 'आत्मा' में विश्वमात्र की अवस्थिति से यह स्पष्ट होता है, कि यहां 'आत्मा' पद का प्रयोग परब्रह्म के लिये माना जाना चाहिये। उसीको पहले 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' [बृ० ४।५।६] इत्यादि सन्दर्भद्वारा उपास्य एवं साक्षात्करणीय कहा है। यह काशकृत्स्न आचार्य का विचार है। आश्मरथ्य और काशकृत्स्न के विचारों का इस लक्ष्य प्रदेश के आधार पर परिणाम समान है, उस परिणाम पर पहुंचने के प्रकार में थोड़ा अन्तर है। यदि उसे एक दूसरे का सहयोगी मानें, तो वह अन्तर भी अन्तर्हित होजाता है, दोनों प्रकारों से अभीष्ट अर्थ की पुष्टि होती है। औडुलोमि आचार्य पूर्व प्रसंग के आधार पर 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' [बृ० ४।५।६] सन्दर्भ में 'आत्मा' पद का जीवात्मा अर्थ कहकर भी उसे 'मुक्त जीवात्मा' मानता है, और उसके अनुसार इसे ब्रह्म के उपास्य एवं साक्षात्करणीय होने का निर्देश व संकेत समझता है।

आचार्य शंकर ने संसारी जीवात्मा और असंसारी ब्रह्म दोनों के लिये उक्त प्रकरण में 'आत्मा' पद का प्रयोग होने से इन दोनों की एकता को प्रकरण के आधार पर प्रकट करने का प्रयास किया है। वस्तुतः ऐसा माने जाने पर इन दोनों के उपास्य-उपासकभाव तथा साक्षात्कर्त्तव्य-कर्त्तृभाव को ठुकरा देना होगा। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' सन्दर्भ में उस 'आत्मा' की उपास्यता व साक्षात्कर्त्तव्यता का कथन औपचारिक नहीं है। इसकी वास्तविकता में दोनों को एक कहना अशास्त्रीय होगा। फिर यदि ये दोनों एक हैं, तो मैत्रेयी की अमृतप्राप्ति की आशा के उल्लास और याज्ञवल्क्यद्वारा उसके उपायवर्णनों का क्या मूल्य होगा? यथार्थ में यह एक सर्वथा अशास्त्रीय विचार है, कि जगत्स्रष्टा ब्रह्म माया [जगदुपादान, प्रकृति] से अभिभूत होकर जीवात्मा के रूप में उपस्थित होता है। ऐसे कथन की पुष्टि के लिये छान्दोग्य उपनिषद् [६।३।२-३] के जिस सन्दर्भ को प्रस्तुत किया जाता है, वह उक्त कथन से विपरीत अर्थ को ही अभिव्यक्त करता है। इसका विवेचन प्रथम [१।१।४ सूत्र पर] कर दिया गया है।

कतिपय आधुनिक व्याख्याकारों ने इन चार सूत्रों [१९–२२] का लक्ष्य प्रदेश बृहदारण्यक उपनिषद् के उक्त सन्दर्भ [४।५।६] को नहीं माना। उनका कहना है, इन सूत्रों में प्रकरणागत प्रसंग 'जगत्स्रष्टा ब्रह्म' का है। अतः ऐतरेय उपनिषद् [१।१।१] का सन्दर्भ इनका लक्ष्यप्रदेश होना चाहिये। वस्तुतः जगत्स्रष्टा ब्रह्म के साथ

उसके उपास्य एवं साक्षात्करणीय स्वरूप का विवेचन किया जाय, तो इसमें कोई हानि नहीं है। वैसे बृहदारण्यक के प्रसंग में भी ब्रह्म के जगत्स्रष्टृत्व की भावनाओं का संकेत है। उसके जगत्स्रष्टृभाव तथा उपास्यभाव के विवेचन में कोई विरोध नहीं है।

शास्त्र के आरम्भ में 'जन्माद्यस्य यतः, शास्त्रयोनित्वात्' [वे० सू० १।१।२-३] सूत्रों से जो ब्रह्म का लक्षण प्रस्तुत किया, उसकी उपपत्ति के लिये कतिपय कारणपरक सन्दिग्ध उपनिषद् सन्दर्भों के विषय में अब तक विचार किया गया। इसमें केवल इतना विचारणीय शेष है, कि ब्रह्म प्रकृति-परिणामद्वारा विश्व के जन्मादि का कारण है, अथवा प्रकृति के बिना स्वतः केवल ब्रह्म ? यदि प्रकृति-सहयोग के बिना ब्रह्म स्वतः जगद्रूप में प्रकट होता है, तो उसमें परिणामित्व आदि दोषों की प्राप्ति होगी; इसलिये सूत्रकार शास्त्रीय आधारों पर यह निर्धारित करता है, कि परब्रह्म प्रकृति-उपादान से इस जगत् का निर्माण करता है—

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥२३॥

[प्रकृतिः] प्रकृति [च] और (जगत्कारण है) [प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्] प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का बाध न होने से। प्रतिज्ञा और दृष्टान्त इस कथन के अनुकूल हैं, इसलिये यह निश्चय होता है, कि प्रकृति भी जगत् का कारण है।

कठ उपनिषद् [२।२।८] में बताया–'य एष सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत्' जो यह चेतन सोतों हुओं में जागता है, संकल्प के अनुसार जगत् का निर्माण करता है, वही सर्वशक्तिमान् है, वह ब्रह्म है, वही अमृत कहा जाता है। सब लोक-लोकान्तर उसमें आश्रित हैं, कोई भी उसे लांघकर उससे बाहर ठहरा हुआ नहीं है; यही वह गुह्य सनातन ब्रह्म है।

इस सन्दर्भद्वारा सोये हुओं में जागने वाला, जगत्स्रष्टा सर्वशक्तिमान् अमृत ब्रह्म बताया गया है। प्रथम वाक्य से स्पष्ट होता है, कि जागने वाला सोये हुओं से अतिरिक्त तत्त्व है। तभी उन तत्त्वों के सोये हुए होने पर जागने वाले को ब्रह्म कहना उपयुक्त होसकता है। यह सुप्त तत्त्व प्रकृति और जीवात्मा हैं। प्रलय अवस्था में इनका सुप्त रहना स्पष्ट है। तब यह दृश्यमान प्राकृतिक चहल-पहल कुछ नहीं रहती, जीवात्मा निश्चेष्ट पड़े रहते हैं। सर्गदशा में भी प्रकृति एवं प्राकृत जगत् को जड़ होने के रूप में सुप्त माना जासकता है; जीवात्मा यद्यपि चेतन हैं, सर्गकाल में सचेष्ट हैं, फिर भी अज्ञान अवस्था में रहने के कारण सुप्त कहे जासकते हैं। सोना जागना यद्यपि चेतन का नैमित्तिक व्यापार है, पर विशिष्ट भावनाओं के आधार पर इन पदों का उक्त रूप में व्यवहार हुआ है। ब्रह्म को जागता और अन्य तत्त्वों को सोता बताये जाने की भावना प्रस्तुत सन्दर्भ में प्रकट होती है। प्रलय काल की ऐसी स्थिति का वर्णन ऋग्वेद की एक

ऋचा [१०।१२६।२] में हुआ है—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥

उस समय जन्म-मरण कुछ नहीं रहता, रात और दिन का चिह्न कोई नहीं रहता। प्रकृति के साथ केवल एक निर्दोष तत्त्व जागता हुआ रहता है, उससे उत्कृष्ट कोई अन्य तत्त्व नहीं। यह ब्रह्म का जागरण सदा सब अवस्थाओं में एक समान है। इसी भाव को कठ उपनिषद् के प्रस्तुत सन्दर्भ में प्रकट किया है। यहां संकल्पपूर्वक जगत्-निर्माण का निर्देश है, और उस समस्त निर्मित जगत् का आश्रय निर्माता को बताया है। निर्माताद्वारा यह संकल्पपूर्वक निर्माण प्रकृति-उपादान को स्वीकार किये विना उपपन्न नहीं होसकता। जगन्निर्माता ब्रह्म का संकल्प नित्यज्ञानरूप है। ज्ञान सदा निश्चितरूप से किसी विषय की अपेक्षा रखता है। उस संकल्परूप ज्ञान का विषय वह प्रकृतितत्त्व है, जिसे निर्माता जगत् के रूप में परिणत करता है।

ब्रह्म के जगन्निर्माणविषयक संकल्प को अनेकत्र उपनिषदों में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है—'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' [तै० २।६] 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' [छा० ६।२।३] उसने संकल्प किया, बहुत होऊं, प्रजाओं को उत्पन्न करूं। इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है, कि सर्ग से पूर्व केवल ब्रह्म जागता रहता है, वह सुप्त प्रकृति को प्रेरित कर जगद्रूप में परिणत करता है, जीवात्मा देहादि के साथ सचेष्ट होने लगते हैं। इस अर्थ का निर्देश कर कठ उपनिषद् के सन्दर्भ [२।२।८] में अन्तिम पदों से कहा—'एतद्वै तत्' यही वह ब्रह्म है; जिसको बताने की उपनिषत्कार ने प्रथम प्रतिज्ञा की है—'हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्' [कठ० २।२।६]। उसी इन्द्रियातीत सनातन ब्रह्म के विषय में 'य एष सुप्तेषु जागर्त्ति' इत्यादि सन्दर्भ से वर्णन किया गया है। इस प्रतिज्ञा-सन्दर्भ में सुप्त प्रकृति से जागृत ब्रह्म द्वारा जगन्निर्माण का निर्देश यह स्पष्ट करता है, कि जगत् की उत्पत्ति में जैसे ब्रह्म निर्माता नियन्ता प्रेरयिता है, ऐसे प्रकृति जगत् का उपादानकारण है। यदि प्रकृति को कारण न माना जाय, तो इस प्रतिज्ञावाक्य की अनुकूलता नहीं रहती; प्रतिज्ञा की बाधा प्राप्त होजायगी। इस तथ्य का अनेकवार उपपादन किया जाचुका है, कि ब्रह्म स्वयं जगत् के रूप में परिणत नहीं होता, अन्यथा वह अपरिणामी अमृत चेतन नहीं माना जासकेगा। जैसाकि उपनिषद् में प्रतिज्ञा-सन्दर्भ-द्वारा बताया गया है।

इस विषय में आगे अग्नि का दृष्टान्त उपस्थित किया है—'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च' [कठ० २।२।९]। जैसे एक अग्नि संसार में प्रविष्ट हुआ प्रत्येक वस्तु के पूरे आकार के अनुसार उसमें व्याप्त रहता है, इसीप्रकार एक परमात्मा समस्त विश्व में अन्तर्यामीरूप से व्याप्त रहता हुआ प्रत्येक वस्तु के अन्दर और बाहर विद्यमान है। यहां अग्नि के

दृष्टान्त से ब्रह्म की स्थिति को स्पष्ट किया है। दृश्य जगत् के प्रत्येक पदार्थ के अन्दर व बाहर उसके जीवन व अस्तित्व का हेतु अग्नि विद्यमान रहता है। यह समस्त विश्व में अन्तर्यामीरूप से व्याप्त परब्रह्म की स्थिति को समझने का एक उपाय है। प्रत्येक पदार्थ के अन्दर और बाहर परब्रह्म की विद्यमानता इस तथ्य को स्पष्ट करती है, कि वह उन पदार्थों का उपादान कारण नहीं है। किसी भी पदार्थ के उपादानतत्त्व उसके बाहर नहीं रहते। तब निश्चित ही विश्व का उपादानकारण कोई अन्य तत्त्व होना चाहिये, वह प्रकृति है। यदि प्रकृति को उपादानकारण न मानकर केवल ब्रह्म को जगत् का सबप्रकार का कारण [उपादान और निमित्त] माना जाय, तो इस दृष्टान्त की बाधा होजायगी। कार्य से उसके उपादानकारण का बाहर रहने का कथन भी अनुपपन्न होगा। अतः यह दृष्टान्त इस तथ्य को स्पष्ट करता है, कि ब्रह्म जगत् के जन्मादि का केवल निमित्तकारण है, प्रकृति उपादान है, वही ब्रह्म के नियन्त्रण में जगद्रूप से परिणत हुआ करती है। इसप्रकार कठ उपनिषद् के इस प्रसंग में प्रतिपादित प्रतिज्ञा और दृष्टान्त से जगत् के उपादानकारण प्रकृति का निश्चय होता है।

मुण्डक उपनिषद् में भी प्रतिज्ञा और दृष्टान्त के द्वारा इस अर्थ का उपपादन किया गया है। वहां [१।१।६] कहा–'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' जो अदृश्य एवं अग्राह्य है, ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियों का विषय नहीं होता; गोत्र तथा वर्ण से रहित है; चक्षु श्रोत्र व हाथ पैर आदि ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियों के सम्पर्क में नहीं आता; नित्य सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यय है, उस परब्रह्म परमात्मा को धीर पुरुष जगत् के कारणरूप में जानते हैं। यह प्रतिज्ञारूप कथन है। ब्रह्मस्वरूप का निर्देश करने के लिये यहां जिन पदों का प्रयोग हुआ है, उनसे स्पष्ट होता है, कि ब्रह्म जगत् का कारण होता हुआ भी अव्यय-अपरिणामी, सर्वगत–सर्वान्तर्यामी, नित्य, सर्वव्यापक एवं अदृश्य–इन्द्रियातीत रहता है। यह वर्णन ब्रह्म को जगत् की उपादानता से दूर रखता, तथा उससे अतिरिक्त किसी तत्त्व के जगदुपादान होने का बोध कराता है। उपादानकारण अव्यय-अपरिणामी नहीं होता, तथा कार्यरूप में आकर वह दृश्य आदि धर्मवाला होता है। ब्रह्म ऐसा कभी नहीं होता, अतः वह उपादान न होकर जगत् का केवल निमित्त-कारण रहता है। प्रकृति में यह सम्भव है। अतः इस प्रतिज्ञावाक्य से प्रकृति के जग-दुपादानकारण होने का बोध होता है।

इसीके आगे उपनिषद् [मुण्ड० १।१।७] में दृष्टान्त उपस्थित किया–'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्' जैसे मकड़ी प्राणी तन्तुजाल का सर्जन करता और उसे समेट लेता है, जैसे पृथिवी में ओषधियां प्रादुर्भूत होती हैं, जैसे जीवित पुरुष से केशलोम प्रकट होते हैं, वैसे ही अक्षर से यह विश्व प्रादुर्भूत होता है। इस सन्दर्भ से दृष्टान्तद्वारा

जगत् के उपादान और निमित्तकारणों को बहुत स्पष्ट रीति पर बताया गया है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्ति के लिये सन्दर्भ में प्रयुक्त 'यथा' और 'तथा' पदों के स्वारस्य पर ध्यान देना आवश्यक है। जैसे मकड़ी तन्तुजाल को बनाती व संहारती है, वैसे ही 'अक्षर' से जगत् का प्रादुर्भाव व संहार समझना चाहिये। अब देखना है, कि मकड़ी तन्तुजाल को कैसे बनाती व संहारती है ? इसके लिये पहले यह समझना आवश्यक है, कि मकड़ी क्या है ? एक विशेष प्रकार का भौतिक देह और उसमें बैठी हुई एक चेतना। निश्चित है, कि वह चेतना स्वयं तन्तुजाल के रूप में परिणत नहीं होती; चेतना के वहां रहते प्राकृत देह के अवयव तन्तुजालरूप में परिणत होते हैं। चेतना केवल वहां प्रेरक तत्त्व है। वह अपने संकल्प के अनुसार देहावयवों से तन्तुजाल को बनाता और पुनः उसी रूप में संहार करलेता है। इस दृष्टान्त के अनुसार सिद्ध है, कि अक्षर-परब्रह्म परमात्मा उसीप्रकार अपने देहरूप प्रकृति से जगत् को सर्ग के अवसर पर परिणत करता और प्रलयावसर पर उसीमें संहार करदेता है। इससे यह निश्चय होता है, कि प्रकृति जगत् का उपादानकारण है। प्रकृति को ब्रह्म के शरीररूप में कल्पना किये जाने का विवेचन इस पाद के प्रारम्भिक सूत्रों में किया गया है।

मुण्डक उपनिषद् के प्रस्तुत सन्दर्भ में दूसरा दृष्टान्त है–'यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति' जैसे पृथिवी में ओषधियां प्रादुर्भूत होती हैं। निश्चित है, कि विभिन्न ओषधि वनस्पति आदि के उपादानतत्त्व उनके अपने बीज होते हैं, पृथिवी का आश्रय पाकर वे बीज अंकुरित हो ओषधि वनस्पतियों के रूप में परिणत होजाते हैं। आधार तथा अन्य ऊष्मा आदि के सहयोगरूप से पृथिवी ओषधि आदि के प्रादुर्भाव का निमित्त है। इसीप्रकार प्रकृति से जगत् का परिणाम होने में ब्रह्म उस सबका आश्रय अधिष्ठान होने से केवल निमित्त है। इससे भी प्रकृति की जगदुपादानकारणता स्पष्ट होती है।

तीसरा दृष्टान्त सन्दर्भ में बताया–'यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि' जैसे जीवित पुरुष से केशलोम प्रकट होते हैं। स्पष्ट है, कि केश व नख आदि देह के विकार हैं, देहावयव ही केश आदि रूप में परिणत होते हैं, देह में बैठा चेतन जीवात्मा नहीं। सन्दर्भ में 'पुरुष' पद का अर्थ सजीव देह है, 'सतः' विशेषण इस अर्थ को स्पष्ट करता है। इससे परिणाम निकलता है, कि देह से केश नख आदि का प्रादुर्भाव उसी अवस्था में संभव है, जब देह में जीवात्मा बैठा रहे। देह छोड़कर जीवात्मा के चले जाने पर देह 'मृत' कहा जाता है; उस अवस्था में देह से केश नख आदि का प्रकट होना असंभव है। यह दृष्टान्त इस तथ्य पर प्रकाश डालता है, कि जड़ प्रकृति चेतन ब्रह्म की प्रेरणा के विना कार्यरूप में परिणत नहीं होती, तथा चेतनतत्त्व स्वतः किसी रूप में परिणत नहीं होता। इस सन्दर्भ का प्रत्येक दृष्टान्त इस तथ्य की पुष्टि करता है। फलतः इन प्रतिज्ञा और दृष्टान्तों के द्वारा यह स्पष्ट परिणाम सामने आता है, कि जगत् का उपादानकारण प्रकृति है, और ब्रह्म जगत् के जन्मादि का निमित्तकारण है। ऐसा न मानने पर इन प्रतिज्ञा और दृष्टान्तों

का उपरोध होगा। इनके अनुपरोध से प्रकृति को जगत् का कारण मानना निश्चित होता है।

प्रतिज्ञा-दृष्टान्त का एक और प्रसंग छान्दोग्य उपनिषद् [६।१।२-३] में है। वहां कहा—'उत तमादेशमप्राक्ष्यः। येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति' आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु अपना अध्ययन पूरा कर स्नातक हो जब गुरुकुल से घर वापस आया, तो पिता ने देखा, कि लड़का कुछ अभिमानी प्रतीत होता है। आत्मज्ञान के मार्ग पर उसे प्रवृत्त करने की भावना से पिता ने कहा—क्या तुमने अपने आचार्य से उस आदेश [नियन्ता] के विषय में पूछा है? जिसके जानलेने से न सुना हुआ सुना हुआ होजाता है, न माना हुआ माना हुआ और न जाना हुआ जाना हुआ होजाता है। श्वेतकेतु ने आश्चर्यचकित हो पूछा—भगवन्! वह 'आदेश' कैसा होता है? 'कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति?' यह नियन्ता कारणतत्त्व के विषय में प्रतिज्ञावाक्य है। आगे दृष्टान्त कहा—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' [छा० ६।१।४] हे सोम्य! जैसे एक मिट्टी के ढेले की पहचान होजाने से मृद्रूप विकार सब जानलिये जाते है, विकार व्यवहारमात्र हैं, उनकी अपेक्षा से मृत्तिका सत्य है। स्थायी तत्त्व है। वस्तुतः मृत्तिका भी किसीका विकार है। यह स्थिति मूलउपादान का निर्देश करती हुई, विकार और मूलउपादान के नियन्ता अधिष्ठाता का बोध कराती है। अचेतन में कोई विकार चेतन की प्रेरणा के बिना होना संभव नहीं है। तथा चेतन में कभी कोई विकार होता नहीं। मृद् के विकार घट आदि मृद्रूप होते हुए अपने नियन्ता-अधिष्ठाता-कर्त्ता कुम्भकार का बोध कराते हैं। नियन्ता-निमित्तकारण की पूर्ण जानकारी से अदृष्ट अमत अविज्ञात भी विकार तथा नियम्य तत्त्व अवगत होजाते है। एक जगह पर यह ज्ञात होने पर कि कोई विकार बिना नियन्ता के अपने रूपको प्राप्त नहीं कर सकता, प्रत्येक अज्ञात अदृष्ट विकार में इस तथ्य को जानलिया जाता है।

इन दृष्टान्तों में इस बात को जानलेना आवश्यक है, कि एक मृत्पिण्ड के पहचान लेने से अन्य अदृष्ट मृद्रूप विकार का जानलेना उनके उपादानोपादेयभाव के आधार पर नहीं है, प्रत्युत साजात्य के आधार पर है। जिस मिट्टी के ढेले को पहचानकर हमने अदृष्ट मृद्रूप विकारों को पहचान लिया है, वह ढेला उन सब विकारों का उपादान नहीं है, अपितु सजातीय है। जिसको हमने पहचाना और जिनको हमने नहीं देखा, ये सब समानरूप से मद्विकार हैं, इसी आधार पर एक के जानलेने से सबकी पहचान हो-जाती है। एक आम का पेड़ पहचान लेने से सब अज्ञात अदृष्ट अतीत अनागत आम के पेड़ों की पहचान होजाती है; एक घोड़े के जानलेने से सब घोड़ों की, एक गाय के जान-लेने से सब गायों की। इनमें पहले पहचाना गया आम का पेड़, घोड़ा और गाय शेष सब आम के पेड़ों, घोड़ों और गायों के कारण नहीं हैं, सजातीय हैं। यह समस्त अचेतन जगत् विकार है, विकार के आधार पर जब हम कारण तक पहुंचना चाहते हैं, तो उनके

दो मार्ग होजाते हैं, एक उपादानोपादेयभाव दूसरा नियम्यनियामकभाव। पहले के अनुसार यह अचेतन जगत् अपने अचेतन उपादान का और दूसरे के अनुसार चेतन नियामक का बोध कराता है। वह नियामक व नियन्ता तत्त्व उपनिषद् में 'आदेश' पद से कहा गया है। वह तत्त्व अपने से अतिरिक्त सबका नियामक है, उसका पूर्णज्ञान नियम्य का बोध करादेता है। आरुणि ने श्वेतकेतु को कहा–ऐसा वह आदेश है–'एवं सोम्य! स आदेशो भवतीति' [छा० ६।१।६]। यहां यह प्रतिज्ञा और दृष्टान्त विश्व के उपादान प्रकृति और निमित्त ब्रह्म का बोध कराते हैं। फलतः जगत् के निमित्तकारण ब्रह्म के साथ प्रकृति जगत् का उपादानकारण है, यह स्पष्ट होता है।

कतिपय व्याख्याकारों ने छान्दोग्य के इन दृष्टान्तों के आधार पर ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण बताने का प्रयास किया है। उनका कहना है कि छान्दोग्य के उक्त सन्दर्भ [६।१।२–४] में यह भाव प्रतीत होता है, कि एक के जानलेने से अन्य सब अज्ञात भी जानलिया जाता है; यह कथन उपादानकारण के जानलेने पर अन्य सबके जान लेने में संभव होता है, क्योंकि कार्य उपादानकारण से अतिरिक्त नहीं रह सकता, और निमित्तकारण के साथ कार्य की अभिन्नता नहीं रहती। लोक में देखा जाता है, कि प्रासाद को बनाने वाला एक शिल्पी प्रासाद से भिन्न होता है। दृष्टान्त भी उपादानकारणविषयक दिया गया है, एक मृत्पिण्ड के जानलेने से सब मृद्रूपविकार ज्ञात होजाता है।

इस विषय में प्रथम यह विचारणीय है, कि एक के जानलेने से अन्य सब अज्ञात भी जानलिया जाता है, इस कथन का क्या तात्पर्य है? स्पष्ट है, कि यहां ब्रह्म के जानलेने से अन्य सबके जानलिये जाने में तात्पर्य है। इसमें रहस्य केवल इतना है, कि ब्रह्म के जानलिये जाने पर अन्य किसीके जानने की अपेक्षा नहीं रहती; इस रूप में उसका जानलेना सबका जानलेना है। ब्रह्म को जगत का उपादानकारण बताये जाने का यहां कोई भाव नहीं। दृष्टान्त भी उपादानविषयक नहीं है, जैसा उन व्याख्याकारों ने कहा। दृष्टान्त है–एक मृत्पिण्ड के जानेलेने से अन्य सब मृद्विकार जानलिये जाते हैं। स्पष्ट है, कि यहां जाना हुआ मृत्पिण्ड अन्य समस्त मृद्विकार का कारण नहीं है। वह मृत्पिण्ड स्वयं मृद्रूप विकार है। तब इस दृष्टान्त को उपादानविषयक कैसे कहा जाता है? यह चिन्तनीय है। लोक में यह देखा जाता है, प्रासाद का निर्माता निमित्तकारण शिल्पी प्रासाद-प्रदेश से अतिरिक्त रहता है, यह ठीक है; परन्तु यह स्थिति परब्रह्म के विषय में लागू नहीं होती। कारण यह है, कि प्रासाद का शिल्पी एकदेशी है, परिच्छिन्न है; परन्तु ब्रह्म सर्वव्यापक एवं सर्वान्तर्यामी है; उसको छोड़कर अतिरिक्त प्रदेश में किसी तत्त्व का अस्तित्व संभव नहीं, सब कुछ उसीमें अन्तर्गत है। इस भावना से ब्रह्म के जानलेने पर सबका जानना संभव होता है। यह आवश्यक नहीं, कि इसके लिये उसे उपादानकारण मानना पड़े। उपादानकारण के जानलेने से सबका जानलेना भी कैसे संभव होता है? इसमें उन व्याख्याकारों का यही तर्क है, कि उपादानकारण से कार्य अतिरिक्त देश में नहीं

रहता, जबकि निमित्तकारण शिल्पी रहजाता है। यह तर्क ठीक इसी रूप में परब्रह्म को उपादान न मानने पर भी वहां लागू होता है, क्योंकि वह सर्वान्तिर्यामी है, समस्त विश्व उसके अन्तर्गत है। उसके जानलेने पर सबका जानलिया जाना नितान्त अनायास साध्य है। अथवा यह कहा जाय, कि परब्रह्म के जानलेने पर अन्य किसीके जानने की अपेक्षा नहीं रहती, इसलिये ब्रह्म का जानलेना सबका जानलेना है, इसमें किसी प्रकार का शास्त्रीय असामञ्जस्य नहीं है।

यदि दुर्जनतोषन्याय से यह आग्रह किया जाय, कि छान्दोग्य के इस प्रसंग [६।१।२-४] में उपादानकारणमूलक वर्णन है, तो यह विचारना होगा, कि वह उपादान कौन होसकता है? प्रकरण से स्पष्ट है, यहां त्रिगुणात्मक प्रकृति उपादान होसकता है। उसीका तेज, अप्, अन्न के रूप में वहां वर्णन है, प्रथम 'सत्' पद से उसीका निर्देश है। यह पद ब्रह्म, जीव और प्रकृति तीनों के लिये प्रयुक्त होता है। यहां प्रकरणानुसार प्रकृति का बोधक है, जिसका अध्यात्मशास्त्रों में अनेकत्र वर्णन ब्रह्म की शक्ति के रूप में अथवा उसके शरीररूप में कल्पना कर किया गया है। उसके नियन्ता कारण का निर्देश अगले खण्ड में 'देवता' पद से तथा सच्छब्दवाच्य प्रकृतिरूप त्रिगुणों का नियम्य देवतारूप से है-'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' [छा० ६।३।२] उस महती देवता ने ईक्षण किया, इस जीवात्मा के साथ अनुप्रविष्ट हुआ मैं इन तीन देवताओं [तेज, अप्, अन्न; यथाक्रम रजस्, सत्त्व, तमस्] को नामरूप से विस्तृत करूं। सबके नियन्ता व निर्माता के रूप में उस परब्रह्म का यह निर्देश है। उसको जानलेने पर सब अज्ञात भी ज्ञात होजाता है, अन्य कुछ जानना फिर अपेक्षित नहीं रहता। वही यह 'आदेश' है[१]। फलतः प्रतिज्ञा और दृष्टान्त के अनुसार यह निश्चित होता है, कि नियन्ता ब्रह्म कारण के साथ जगत् का नियम्य उपादानकारण प्रकृति है ।।२३।।

जगत् के जन्मादि का कारण ब्रह्म है, शास्त्र के आरम्भ से इसका उपपादन किया गया। गत सूत्रद्वारा यह स्पष्ट किया, कि ब्रह्म के समान प्रकृति भी जगत् का कारण है। उपनिषदों में ब्रह्म एवं सृष्टिविषयक प्रतिज्ञा और दृष्टान्तों की अनुकूलता के आधार पर प्रकृति की कारणता को सिद्ध किया। उसी विषय में सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

अभिध्योपदेशाच्च ।।२४।।

[अभिध्योपदेशात्] अभिध्या-संकल्प के उपदेश-कथन से [च] भी। ब्रह्म संकल्प के कथन से भी यह निश्चय होता है, कि प्रकृति जगत् का कारण है।

तैत्तिरीय उपनिषद् [२।६] में कहा-'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेय' उसने

---

१. **छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में वर्णित प्रसंग का विस्तृत विवेचन 'सांख्य-सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ में किया गया है। देखें—पृष्ठ ४६-५१।**

कामना की, मैं बहुत होजाऊं, प्रजाओं को उत्पन्न करूं। छान्दोग्य [६।३।२] में कहा–'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता···नामरूपे व्याकरवाणि' उस महती देवता ने ईक्षण किया–इन तीन देवताओं [प्रकृतिरूप सत्त्व रजस् तमस् त्रिगुणों] को नामरूप से विस्तृत करूं। इन प्रसंगों में सर्गरचना के पूर्व अभिध्यान–संकल्प का कामना व ईक्षण के रूप में उपदेश है। यह अभिध्यान जिसप्रकार अभिध्याता की अपेक्षा करता है, वैसे अभिध्यातव्य की भी। तात्पर्य है, जैसे संकल्प का कोई करने वाला है, ऐसे संकल्प का कोई विषय होना चाहिये। एक ही तत्त्व कर्त्ता और कर्म दोनों नहीं होसकता। स्पष्ट है, कि उपनिषद् के उक्त प्रसंगों में संकल्प का कर्त्ता ब्रह्म है। तब संकल्प का कर्म अथवा विषय क्या है ? यह विचारना होगा। ब्रह्म स्वयं उस सकल्प का विषय नहीं; उस अवस्था में उसे स्वयं ही जगद्रूप में परिणत होना मानना पड़ेगा। नित्यशुद्धबुद्ध एवं आनन्द-स्वरूप ब्रह्म अशुद्ध अचेतन जगत् के रूप में परिणत नहीं होसकता, अन्यथा उसके स्वरूप की हानि होगी, उस अवस्था में वह ब्रह्म न रहेगा। इसलिये उस संकल्प का विषय प्रकृति है, यह स्वीकार करना आवश्यक है। ईक्षिताद्वारा वह प्रकृति ही बहुरूप की जाती है। छान्दोग्य [६।३।२] के सन्दर्भ में तो तीन देवता के रूप से उसका स्पष्ट निर्देश है। ये तीन देवता प्रकृतिरूप 'सत्त्व-रजस्-तमस्' हैं, जिनका उल्लेख उक्त प्रसंग में यथाक्रम 'अप्-तेज-अन्न' पदों द्वारा हुआ है। इससे स्पष्ट होता है, कि अभिध्याता ब्रह्म जगत् का निमित्तकारण है, समस्त विश्व का नियन्ता है। विविध जगत् के रूप में परिणत होनेवाली प्रकृति उपादानकारण है ॥२४॥

इसी विषय में सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥२५॥

[साक्षात्] साक्षात् [च] और [उभयाम्नानात्] दोनों का आम्नान–पाठ–कथन होने से। और अध्यात्मशास्त्रों में साक्षात् दोनों कारणों का पृथक् कथन होने से निश्चित होता है, कि निमित्तकारण ब्रह्म के साथ प्रकृति जगत् का उपादानकारण है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् [१।१०] में कहा–'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः' प्रधान अर्थात् प्रकृति परिणामी तत्त्व है, परमात्मा अपरिणामी अविनाशी तत्त्व है; यह एकमात्र देव परब्रह्म परमात्मा परिणामी प्रधान तथा जीवात्माओं पर शासन-नियन्त्रण करता है। यहां प्रधान और परमात्मा दोनों का पृथक् कथन है, परमात्मा को नियन्ता एवं प्रधान को नियम्य बताया है। इसी उपनिषद् में अन्यत्र [४।१०] कहा–'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्'। प्रकृति का अन्य नाम माया है, उसपर नियन्ता होने के कारण मायी महेश्वर-ब्रह्म है। ब्रह्म के शरीररूप में कल्पित प्रकृति के अवयवों से यह जगत् व्याप्त है, भरा हुआ है; तात्पर्य–उस महेश्वर के द्वारा प्रकृति जगद्रूप में परिणत की गई है। यहां

प्रकृति और महेश्वर [ब्रह्म] दोनों का कथन है। इसीप्रकार आगे [श्वे० ६।१०] कहा–'यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत्' वह एकमात्र देव मकड़ी के समान प्रधानज तन्तुओं से अनायास जगत् को बनाता और उसमें छिपकर बैठा है। यहां एक देव [ब्रह्म] और प्रधान दोनों का जगत्कारणरूप में उल्लेख है। आगे फिर कहा–'एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति' [श्वे० ६।१२] सबका नियन्ता एकमात्र ब्रह्म है, जो अचेतन अनन्त संसार के 'सत्त्व-रजस्-तमस्' रूप में एक-समान विद्यमान बीज-उपादान को बहुतरूप बना देता है, विविध संसार के रूप में परिणत कर देता है। यहाँ नियन्ता एक ब्रह्म और नियम्य उपादानतत्त्व दोनों का स्पष्ट निर्देश है। इन सबके अनुसार 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' [तैत्ति० २।१] यहां पर भी 'तस्मात्' पद से मूलउपादान प्रधान और 'एतस्मादात्मनः' से परमात्मा का कथन माना जाना संगत है।

वेदों में इस अर्थ का अनेकत्र प्रतिपादन हुआ है। ऋग्वेद [१०।१२९।२] में स्वधा [प्रकृति] के साथ एक ब्रह्म की स्थिति का निर्देश है। स्वधा और ब्रह्म दोनों के द्वारा जगत् का निर्माण होता है। यजुर्वेद [४०।८] में कहा–'स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः' उस स्वयम्भू परब्रह्म ने निरन्तर रहने वाले उपादान-तत्त्वों से [शाश्वतीभ्यः समाभ्यः] यथायथ समस्त अर्थों का निर्माण किया। यहाँ जगत् के निर्माता स्वयम्भू और उन सदातन उपादानतत्त्वों का पृथक् निर्देश है, जिनसे व्यवस्थानुसार यह जगत् परिणत होता है। ऋग्वेद [६।४७।१८] में अन्यत्र कहा–इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इन्द्र–ऐश्वर्यशाली परब्रह्म परमात्मा माया–प्रकृतिरूप उपादान-तत्त्वों से इस अनेकरूप संसार का निर्माण करता है। यहां निर्माता और निर्माणसामग्री दोनों का पृथक् स्पष्ट निर्देश है। 'मायाभिः' पद में बहुवचन प्रकृतिरूप 'सत्त्व-रजस्-तमस्' की असंख्यता का संकेत करता है।

आचार्य शंकर ने इस सूत्र की व्याख्या में 'उभय' पद से 'सर्ग' और 'प्रलय' का ग्रहण कर छान्दोग्य [१।९।१] के 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते। आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' ये सब भूत आकाश-परमात्मा से उत्पन्न होते और उसीमें लीन होजाते हैं; इस सन्दर्भ के आधार पर–जो जिससे उत्पन्न होता है और जिसमें लीन होता है, वह उसका उपादानकारण प्रसिद्ध है–यह समझकर ब्रह्म को जगत् का उपादान-कारण सिद्ध किया है। इसीके अनुसार उदाहरण देकर बताया है–'यथा व्रीहियवादीनां पृथिवी'। जैसे व्रीहि यव आदि का पृथिवी उपादान है। व्रीहि आदि अन्न पृथिवी से उत्पन्न होते और उसीमें लीन होजाते हैं।

आचार्य का यह कथन युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। कारण यह है, कि आचार्य के दिये दृष्टान्त के अनुसार जब इसका विवेचन किया जाता है, तो इसका असांगत्य स्पष्ट होजाता है। व्रीहि यव आदि का उपादान आचार्य ने पृथिवी को बताया। गम्भीरतापूर्वक

देखा जाय, तो व्रीहि यव आदि के उपादान उनके बीज होते हैं, पृथिवी आदि तत्त्व अंकुर के प्रादुर्भाव और बढ़ने में सहायकमात्र हैं अथवा निमित्त या साधारण कारणमात्र रहते हैं। दूसरे शब्दों में पृथिवी को व्रीहि यव आदि का आश्रय व आधार कहा जासकता है, उपादान नहीं। इसीप्रकार छान्दोग्य [१।६।१] के कथनानुसार समस्त जगत् का ब्रह्म से उत्पन्न होना और ब्रह्म में लीन होना, उसे सबका आश्रय व आधार प्रकट करता है। उस चेतन ब्रह्म की प्रेरणा के बिना जगत् का सर्ग व प्रलय होना संभव नहीं। इसी आशय को छान्दोग्य का सन्दर्भ स्पष्ट करता है। जगत् के सर्ग स्थिति और प्रलय उसी पर आश्रित हैं, इस रूप में वह सबका निमित्त व आधार है। इसके लिये यह आवश्यक नहीं, कि उसे जगत् का उपादानकारण माना जाय। ऐसा मानने पर तो शास्त्रप्रतिपादित अपरिणामित्व शुद्ध आनन्द आदि ब्रह्मस्वरूप का व्यतिक्रम होजाता है, शास्त्र का विरोध अलग। इसलिये सर्ग-प्रलय के आधार पर ब्रह्म को उपादान कहना संगत प्रतीत नहीं होता।

फिर ब्रह्म न केवल सर्ग-प्रलय का अपितु जगत् की स्थिति का भी कारण है। तैत्तिरीय उपनिषद् [३।१] में इस तथ्य का स्पष्ट प्रतिपादन है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' यहां जगत् की 'उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय' तीनों का कारण ब्रह्म को बताया है; तब सूत्र के 'उभय' पद से केवल 'सर्ग-प्रलय' का ग्रहण करना संगत नहीं, न उसके आधार पर ब्रह्म को जगत् का उपादान बताना प्रामाणिक है। केवल एक साधारण लोकप्रसिद्धि के आधार पर शास्त्रीय विवेचन अथवा तात्त्विक अर्थ का निर्णय करना साधार नहीं कहा जासकता। भूमि में से अनेक वस्तु निकलती और उसमें लीन होती देखी जाती हैं, पर उनमें उपादानोपादेयभाव नहीं होता, उनका परस्पर आश्रय या आश्रयी होना कहा जासकता है। व्रीहि यव आदि का यदि पृथिवी को उपादान मानकर उसीसे उत्पन्न होजाना स्वीकार किया जाय, तो बिना बीज-वपन के व्रीहि आदि उत्पन्न होते रहने चाहियें। सूत्रपदों का वास्तविक अर्थ प्रथम कर दिया गया है ॥२५॥

कारणरूप से दोनों का कथन अध्यात्मशास्त्रों में हुआ है, इसलिये ब्रह्म और प्रकृति दोनों जगत् के कारण हैं, यह गतसूत्र में बताया गया। उन दोनों में से कौन निमित्त और कौन उपादानकारण है, इसका निश्चय करने के लिये सूत्रकार ने कहा—

आत्मकृतेः परिणामात् ॥२६॥

[आत्मकृतेः] आत्मा (परमात्मा—ब्रह्म) की कृति—प्रयत्न से [परिणामात्] परिणाम होने से। परमात्मा परब्रह्म के संकल्परूप प्रयत्न से प्रकृति में परिणाम के द्वारा जगत्सर्ग होता है, अतः ब्रह्म जगत् का निमित्त तथा प्रकृति उपादानकारण है।

तैत्तिरीय उपनिषद् [२।६] में बताया—'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत्' उसने संकल्प किया—बहुत होऊं, प्रजाओं

को उत्पन्न करूं। उसने तप तपा। उसने तप तपकर इस सबका सर्जन किया। परब्रह्म का सर्गविषयक संकल्प ही प्रयत्न है, 'प्रजाओं को उत्पन्न करूं' इस रूप में वह प्रकट किया गया है। सर्ग के लिये प्रकृति का पर्यालोचन उसका तप है। कौनसे तत्त्व किन प्रक्रियाओं के अनुसार किसरूप में परिणत होते हैं, यह सब यथार्थ व्यवस्था ब्रह्मद्वारा की जाती है, इस सबको उसका 'तप' कहा गया है, 'स······स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः' [यजु० ४०।८] इस वेद-वचन में इसी तथ्य को अभिव्यक्त किया है। वह स्वयम्भू ब्रह्म नित्य उपादानतत्त्वों से व्यवस्थानुसार समस्त जगत् की रचना करता है। संकल्प करनेवाला निर्माता जगत् का निमित्तकारण है; जो उपादानतत्त्व परिणत होकर जगत् के रूप में अभिव्यक्त होते हैं, वे उपादानकारण हैं। ब्रह्म उपादान-प्रकृति से जगत् की रचना करता और उसमें अन्तर्यामी होकर व्याप्त रहता है–'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' [तै० २।६]। इसप्रकार ब्रह्मसंकल्प के अनन्तर प्रकृति-परिणाम से विविधरूप यह जगत् अभिव्यक्त होजाता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् [२।७] में आगे प्रलयदशा का निर्देश कर सर्ग का कथन है–'असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत'। सर्गरचना से पूर्व यह कार्यजगत् अपने इस वर्तमान रूपमें नहीं था, इस रूप से असत् था, वह जगत् की प्रलय अवस्था है। तब यह सब अपने कारणरूप में अवस्थित रहता है। अनन्तर प्रलयदशा समाप्त होने पर ब्रह्मसंकल्पपूर्वक यह वर्तमान कार्यरूप में अभिव्यक्त होता है, जो सर्ग के स्थितिकालिक प्रत्येक विचारक के सन्मुख विद्यमान है। जिज्ञासा होती है, ब्रह्म प्रकृति को परिणत कर जगत् को अभिव्यक्त करता है, क्या ब्रह्म भी किसीके द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है? उपनिषत्कार ने समाधान किया–'तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात् सुकृतमुच्यत इति' [तै० २।७] वह अपने आपको स्वयं करता है, इसलिये 'सुकृत' कहा जाता है। स्वयं करने का तात्पर्य है, उसका अन्य कोई कारण नहीं है, वह 'अकारण कारण' है; वह ऐसा कारण है, जिसका अन्य कोई किसी तरह का कारण नहीं है। इसलिये वह 'स्वकृत–सुकृत' अथवा 'स्वयम्भू' आदि पदों से कहा जाता है।

कतिपय व्याख्याकारों ने उपनिषद् के इन पदों का यह अर्थ समझा है, कि वह ब्रह्म सचमुच अपने आपको विकाररूप से परिणत करलेता है, इस अर्थ का सामञ्जस्य प्रस्तुत सूत्र के साथ करने का प्रयास किया है। यह अर्थ सर्वथा बालजनोचित है। यदि वह अपने आपको विकाररूप से परिणत कर लेता है, चाहे विना किसी की सहायता के स्वतः कर लेता हो, और यह सत्य है, तो उसे परिणामी होने से कोई बचा नहीं सकता। ब्रह्म को परिणामी कहना, मानना या समझना सब शास्त्रों के विरुद्ध है। ब्रह्मस्वरूप को प्रतिपादन करने के लिये प्रवृत्त हुआ महर्षि व्यास क्या उसे परिणामी बतलाकर सन्तुष्ट हुआ है? सूत्रकार का ऐसा आशय कदापि संभव नहीं। शुद्ध-बुद्ध आनन्दस्वरूप ब्रह्म अशुद्ध जड़ और विकारी होसकता है, यह उसका मज़ाक उड़ाना है। महर्षि व्यास पर ऐसे ब्रह्म

के उपपादन का आरोप दुस्साहस है। स्पष्ट है, कि इसरूप से किसी तरह ब्रह्म को जगत् का उपादान कहने के लिये यह एक दुराग्रहमात्र है। ब्रह्म अविकारी कूटस्थ नित्य है।

आधुनिक कतिपय व्याख्याकार 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इस वाक्य में 'आत्मा' पद का अर्थ 'शरीर' करते हैं। लौकिक कोष[1] में 'आत्मा' पद का यह अर्थ देखा जाता है। प्रकृति को ब्रह्म के शरीररूप में कल्पना किया गया है[2]। इसके अनुसार उक्त उपनिषद् वाक्य का उन्होंने अर्थ किया—वह ब्रह्म शरीररूप से कल्पित प्रकृति को विना किसी अन्य कर्त्ता की सहायता से जगद्रूप में परिणत करता है। इसी भाव को प्रस्तुत सूत्रद्वारा अभिव्यक्त किया गया है। फलतः जिसका परिणाम होता है, वह उपादान-कारण निश्चित है। जो परिणत करनेवाला है, वह ब्रह्म निमित्तकारण होगा ॥२६॥

ब्रह्म जगत् का केवल निमित्तकारण है, इसका अन्तिम निश्चय करने के लिये सूत्रकार इस विषय में अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

योनिश्च हि गीयते ॥२७॥

[योनिः] योनि [च] और [हि] क्योंकि [गीयते] गाया जाता है, कहा जाता है। और क्योंकि अध्यात्मशास्त्रों में ब्रह्म जगत् का 'योनि' कहा जाता है; इसलिये वह निमित्तकारण है।

वेद [ऋ० १।१०४।१] में 'योनि' पद स्थानविशेष का वाचक प्रयुक्त हुआ है—'योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि'। अध्यात्मशास्त्रों में ब्रह्म को जगत् का 'योनि' कहा है—'यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' [मुण्ड० १।१।६], 'कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्' [मुण्ड० ३।१।३] धीर योगीजन जिस जगद्योनि ब्रह्म का साक्षात् करते हैं, ब्रह्मरूप योनि पुरुष को—जो जगत् का ईश व कर्त्ता है—विद्वान् जब देख लेता है, तब वह ब्रह्म की परम समता को प्राप्त होजाता है। इन प्रसंगों में ब्रह्म को जगत् का योनि—आधार अथवा आश्रय कहा है। ब्रह्म के आश्रय में रहता हुआ समस्त विश्व स्वरूप का लाभ करता है। इसमें ब्रह्म जगत् का उपादान न होकर निमित्तकारण माना जाना चाहिये।

लोक में 'योनि' पद स्त्रीयोनि आदि में प्रसिद्ध है, जो स्थानविशेष का बोध कराता है। वह गर्भ का आधार व बाहर आने का द्वारमात्र है, गर्भ का उपादानकारण नहीं है, आश्रयमात्र होने से निमित्त कहा जासकता है। गर्भ के उपादानकारण रज वीर्य हैं,

---

१. आत्मा चित्ते धृतौ यत्ने धिषणायां कलेवरे। परमात्मनि जीवेऽर्के हुताशनसमीरयोः॥
[अमरकोष, रामाश्रमी टीका, काण्ड १, कालवर्ग-४, श्लोक २९ पर]।
काण्ड ३, नानार्थवर्ग-३, श्लोक १०९ पर अमरकोष की रामाश्रमी टीका में 'धरणिकोष' का उद्धरण इसप्रकार है—'आत्मा कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि। चित्ते धृतौ च बुद्धौ च परव्यावर्त्तनेऽपि च॥'

२. देखें—वेदान्तसूत्र १।४।१, तथा उस अधिकरण के अन्य सूत्र।

वह स्थान नहीं। पृथिवी को ओषधि वनस्पतियों का 'योनि' कहा जाता है। स्पष्ट है, कि वह ओषधि आदि के प्रादुर्भाव का आधारमात्र है, ओषधि आदि के बीज उनके उपादानकारण हैं; अन्य पृथिवी आदि तत्त्व उनके प्रादुर्भाव व वृद्धि में सहायक होने से निमित्तमात्र हैं।

आचार्य शंकर ने वाक्यशेष के आधार पर मुण्डक [१।१।६] के 'योनि' पद को उपादानपरक बतलाने का जो प्रयास किया है, वह प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता। क्योंकि मुण्डक [१।१।६] के उक्त सन्दर्भ के आगे शेषवाक्य आचार्य ने 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' [मु० १।१।७] प्रस्तुत किया है। इस सन्दर्भ के आधार पर ब्रह्म की उपादानकारणता किसीप्रकार सिद्ध नहीं की जासकती। इसका विस्तृत विवेचन प्रथम [वे० सू० १।४।२३] किया जाचुका है। यदि औपचारिक रूप से 'योनि' पद का कहीं उपादानकारण अर्थ में प्रयोग हुआ हो, तो उतने से 'ब्रह्मयोनि' अथवा 'भूतयोनि' आदि पदों के आधार पर ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण बताना सर्वथा अशास्त्रीय है। न लोक में चेतनतत्त्व को किसी जड़ का उपादान देखा जाता है, न शास्त्र में इसका उपपादन कहीं उपलब्ध है। समस्त शास्त्र ब्रह्म को शुद्ध-बुद्धस्वभाव आनन्दरूप निर्विकार अपरिणामी आदि स्वरूप प्रतिपादित करता है। उसे उपादान मानकर उसके शुद्ध-बुद्ध आदि स्वरूप का निर्वाह करना अशक्य है। साक्षात्कृतधर्मा महर्षियों द्वारा प्रोक्त शास्त्र परस्पर विरुद्ध अर्थ का कथन करें, ऐसी कल्पना नहीं की जासकती। फलतः यह जड़ जगत् शुद्ध बुद्ध आनन्दस्वरूप ब्रह्म का परिणाम न होकर जड़ उपादान का परिणाम है, यही तथ्य स्पष्ट होता है। सूत्रकार ने शास्त्र के आधार पर इसी तथ्य का इन सूत्रों द्वारा उपपादन किया और प्रकृति को जगत् का उपादानकारण बताया है।

यह विश्व सर्ग और प्रलय प्रत्येक अवस्था में अथवा कार्य और कारण उभयरूप में ब्रह्म के आश्रित रहता है। वह इसका नियन्ता होने से आश्रय है। ऐसी भावना के आधार पर ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन जहां-तहां शास्त्र में उपलब्ध होता है। वह आश्रय उपादानता के आधार पर नहीं, प्रत्युत नियन्ता व सर्वान्तर्यामी होने के आधार पर माना जासकता है। कुल का नियन्ता आश्रयदाता देवदत्त 'कुल' कहा जाता है, यह लोक का एक साधारण व्यवहार है, जिसमें आश्रय की विशिष्टता व महत्ता आदि का द्योतन किया जाता है। ब्रह्मविषयक ऐसे वर्णनों के आधार पर ब्रह्म की उन विशेषताओं को प्रकाश में लाने का प्रयास किया गया है, जिनके आधार पर ब्रह्म के स्वरूप का यत्किञ्चित् बोध होने की संभावना की जासकती है। प्रस्तुत दर्शन का मुख्य तात्पर्य ब्रह्मस्वरूप के द्योतन कराने में है। उसे जगत् का उपादान मानकर तो उलटा विकारी व परिणामी अशुद्ध अचेतन आदि बताकर उसके वास्तविक अस्तित्व को ही लुप्त करदेना है। फलतः ब्रह्म जगत् का नियन्ता निर्माता होता हुआ त्रिगुणात्मक प्रकृति उपादान से इस जगत् का स्रष्टा है, जड़ प्रकृति उसकी प्रेरणा के विना कुछ नहीं कर सकती, इसलिये वही इस सबका आदिमूल है। उसीने इस नाम-रूपात्मक जगत् का

प्रादुर्भाव किया है ॥२७॥

अध्याय और प्रसंग का उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने अध्याय का अन्तिम सूत्र कहा—

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥२८॥

[एतेन] इससे [सर्वे] अन्य सब [व्याख्याता व्याख्याताः] व्याख्या किये गये। प्रथम अध्याय के चार पादों में उपनिषद् आदि के वाक्यों की जो ब्रह्मपरक विशेष व्याख्या की गई है, उस व्याख्या से अन्य सब उपनिषद् आदि के वाक्यों की व्याख्या कर दी गई समझ लेनी चाहिये।

उपनिषद् आदि के अनेक सन्दर्भों की ब्रह्मपरक व्याख्या प्रथम अध्याय में प्रस्तुत की गई। अन्य भी अनेक सन्दर्भ ऐसे होसकते हैं, जिनकी ब्रह्मपरक व्याख्या की जानी अपेक्षित हो। सूत्रकार का यह अभिप्राय है, कि इस अध्याय में कतिपय विशिष्ट सन्दर्भों की व्याख्या कीगई है। ऐसे समस्त सन्दर्भों की व्याख्या करना ग्रन्थ के कलेवर को व्यर्थ बढ़ाना होगा। इसलिये 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र से प्रारम्भ कर अध्याय की समाप्ति तक जगत् के कारणरूप से ब्रह्म और प्रकृति का जिसप्रकार औपनिषद आदि वचनों के आधार पर व्याख्यान किया गया है, वही प्रकार अन्य ऐसे अपेक्षित वचनों की व्याख्या में समझ लेना चाहिये, जिनका व्याख्यान सूत्रों में नहीं हुआ। सूत्रों में व्याख्यान के उस प्रकार का दिशानिर्देश कर दिया गया है।

जब एक तत्त्व का जगत् के कारणरूप में अथवा उपास्यरूप में वर्णन किया जाता है, और वहां ऐसे असाधारण धर्मों का उल्लेख रहता है, जो ब्रह्म के अतिरिक्त अन्यत्र संभव नहीं; उस वर्णन में चाहे वर्ण्य अर्थ का ब्रह्म पद अथवा उसके किसी प्रसिद्ध पर्याय पद से निर्देश न कर अन्य किसी पद द्वारा निर्देश किया गया हो, वहां ब्रह्म का वर्णन माना जाना निश्चित है। उन अन्य पदों का वहां ब्रह्म अर्थ में तात्पर्य है, सूत्रकार ने यही निर्णय किया है। अनेक कारणतानिर्देश के स्थलों में ब्रह्म को जिसप्रकार का कारण बताया गया है, उनसे उसकी विशिष्ट कारणता का स्पष्ट अवभास होजाता है, जो जगत् के उपादानकारणरूप में जड़प्रकृति को सामने उभार लाता है। सूत्रकार ने ऐसे सन्दर्भों का अध्याय के अन्त में तथा प्रसंगवश पहले भी विवेचन किया है। सूत्र में 'व्याख्याताः' पद का दो बार पाठ अध्याय की समाप्ति का द्योतक है

आचार्य शंकर और वल्लभ आदि आचार्यों ने तेईसवें सूत्र से लेकर सत्ताईसवें सूत्र तक पांच सूत्रों की व्याख्या सांख्य के प्रकृतिवाद का प्रत्याख्यान करने में की है। वस्तुस्थिति यह है, कि आचार्य शंकर ने प्राचीन तथा अपने काल में प्रचलित जगत्कारण-सम्बन्धी दार्शनिकवादों का प्रत्याख्यान सूत्रों के आधार पर करने का प्रबल प्रयास किया है। अनन्तरकालवर्त्ती व्याख्याकार आचार्यों ने आचार्य शंकर का आंख बन्दकर

अनुकरण किया है। विभिन्न वादों का खण्डन करने में आचार्य शंकर इसप्रकार पिल पड़े हैं, मानों सूत्रकार का यही मुख्य ध्येय रहा हो। आचार्य ने इस बात का भी ध्यान नहीं रक्खा, कि जिन वादों का जिस रूप में वे सूत्रों के आधार पर प्रत्याख्यान कर रहे हैं, उनका अस्तित्व सूत्रकार के काल में था भी या नहीं? बौद्ध और जैन वादों का प्रत्याख्यान इसीप्रकार का है। सूत्रों का गम्भीरतापूर्वक पर्यालोचन करने से यह निश्चय होता है, कि सूत्रकार का आशय इसप्रकार के प्रत्याख्यान में कदापि न था। उसका मुख्य तात्पर्य ब्रह्मस्वरूप का प्रतिपादन करने में है, जैसा प्रस्तुत व्याख्या में प्रकट किया गया है। प्रत्याख्यान-पद्धति के अनुसार आचार्य शंकर आदि ने प्रस्तुत अन्तिम सूत्र का व्याख्यान भी प्रकृतिवाद के प्रत्याख्यान का अतिदेश कर यह किया है, कि प्रकृतिवाद के प्रत्याख्यान से अन्य सब वादों का प्रत्याख्यान व्याख्यात समझलेना चाहिये। निश्चित है, कि सूत्र का ऐसा व्याख्यान प्रसंग के तथा मूलसूत्रों की भावना के अनुकूल नहीं है। यदि ऐसा माना जाता, तो आचार्य शंकर आदि की व्याख्या के अनुसार सूत्रों में कहीं अन्यत्र अन्य वादों के प्रत्याख्यान की अपेक्षा न होती, पर आचार्य शंकर ने द्वितीय अध्याय के अनेक प्रसंगों में पुनः उन वादों के प्रत्याख्यान को उभारा है। आचार्य द्वारा इसप्रकार सूत्रों की प्रत्याख्यानपरक व्याख्या चिन्तनीय है ॥२८॥

इति प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः।

इति श्रीपूर्णसिंहतनूजेन तोफादेवीगर्भजेन, बलियामण्डलान्तर्गत'छाता'वासि-
श्रीकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्धविद्योदयेन बुलन्दशहरमण्डलान्तर्गत–
'बनैल'–ग्रामवास्तव्येन, विद्यावाचस्पतिना उदयवीर शास्त्रिणा
समुन्नीते वेदान्तसूत्राणां 'विद्योदय'भाष्ये औपनिषदपद-
समन्वयात्मकः प्रथमाध्यायः ।

अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

शास्त्र के प्रारम्भ में ब्रह्म की जिज्ञासा का कथन कर अनेक अध्यात्मशास्त्रीय सन्दर्भों के अनुसार प्रथम अध्याय में ब्रह्मस्वरूप को स्पष्ट करने के लिये यह सिद्ध किया गया, कि जगत् की उत्पत्ति आदि का कारण ब्रह्म है, जैसे घट-कुण्डल आदि के कारण कुलाल-स्वर्णकार आदि होते हैं। वह समस्त चेतनाचेतन जगत् का नियन्ता होने से उत्पन्न जगत् की स्थिति एवं अवसर आने पर उसके उपादानकारण में लय का निमित्त होता है। इसप्रकार जगत् के उत्पादक व नियन्ता ब्रह्म के उपपादन के साथ जगत् के उपादान प्रकृति का प्रासंगिक प्रतिपादन औपनिषद सन्दर्भों के समन्वयपूर्वक प्रथमाध्याय में किया गया। इस उपपादित तथ्य के साथ स्मृति तथा न्याय अथवा तर्क का अविरोध प्रकट करने के लिये यह द्वितीयाध्याय प्रारम्भ किया जाता है। अध्याय के उत्तरवर्त्ती पादों में यह भी स्पष्ट किया जायगा, कि वैदिक साहित्य में सृष्टिप्रक्रिया का वर्णन परस्पर विरोधी न होकर सबका तात्पर्य समानता में है। सर्वप्रथम स्मृतिविषयक अविरोध प्रकट करने के लिये सूत्रकार ने पूर्वोत्तरपक्ष प्रस्तुत करते हुए सूत्र कहा—

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगात् ॥१॥

[स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगः] स्मृति के अनवकाशरूप दोष का प्रसंग होगा [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो वह) [न] नहीं, [अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगात्] अन्य स्मृतियों के अनवकाशरूप दोष के प्रसंग से।

औपनिषद वाक्यों के समन्वय के आधार पर यह प्रतिपादित किया गया, कि जगत् के जन्मादि का कारण ब्रह्म है। कहा जाता है, कि इस विचार के साथ कपिलप्रणीत सांख्यदर्शनरूप स्मृति का विरोध है। सांख्य में जगत् के जन्मादि का कारण प्रकृति को बताया है[1]। औपनिषद सन्दर्भों का समन्वय कापिल सांख्य के इस विचार का ध्यान रखते हुए किया जाना चाहिये, अन्यथा सांख्यस्मृति के प्रतिपाद्य विषय के लिये कहीं अवकाश

१. **'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारः' इत्यादि, [सां० ष० सू० १।२६]। सूत्र की यह संख्या हमारे द्वारा संपादित तथा व्याख्यात सांख्यदर्शन के अनुसार है। सूत्र की संख्या में ३५ जोड़कर अन्य संस्करणों में यह सूत्र देखा जासकता है।**

न रहेगा। सांख्य के प्रतिपाद्य विषय का मुख्यक्षेत्र जगत् के मूलउपादानकारण का प्रतिपादन करना है, यदि उसीमें उसे अवकाश न रहे, उसकी प्रवृत्ति को बाधित कर दिया जाय, तो उस शास्त्र का आरम्भ निष्प्रयोजन होजायगा। इसलिये सांख्यस्मृति की विवेचना के अनुसार वेदान्तवाक्यों का समन्वय किया जाना चाहिये।

यह आशंका उपस्थित कर सूत्रकार कहता है, कि यदि कोई ऐसा कहे, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि इसप्रकार सांख्यस्मृति का अनवकाश माने जाने पर तो अन्य स्मृतियों के अनवकाश का दोष भी प्रसक्त होजायगा। सांख्यस्मृति में जिसप्रकार प्रधान से जगत् की उत्पत्ति आदि कही है, मनु आदि की स्मृतियों में भी उसीप्रकार कही है; यदि उसप्रकार के कथन से सांख्यस्मृति को अनवकाश होगा, तो मन्वादि स्मृतियों को भी होजायगा। मनुस्मृति में जो कुछ कहा गया है, वह सब वेदानुकूल है-'यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्त्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः' [२।७]। मनु ने जो कुछ जिस किसी का धर्म कहा है, वह सब वेद में प्रतिपादित है, क्योंकि वेद सब ज्ञान का भण्डार है। वेद ईश्वरीयज्ञान होने से स्वतः प्रमाण है, और वेदानुकूल धर्म मनु का प्रतिपाद्य विषय है, तब मनुप्रतिपादित अर्थ का अनवकाश हो, ऐसी सम्भावना नहीं की जासकती।

मनुस्मृति के प्रारम्भ में सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत् तमोनुदः॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥
सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्॥ [१।५-८]

प्रलयकाल में सर्ग से पहले यह सब जगत् तमोभूत अर्थात् प्रकृतिरूप में अवस्थित था। 'तमः' पद प्रकृति का पर्याय है। ऋग्वेद [१०।१२९।३] में बताया-'तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्' [इदं सर्वं] यह सब दृश्यादृश्य जगत् [अग्रे] सृष्टि के पूर्वकाल में [अप्रकेतं] प्रत्येक चिह्न से रहित [सलिलं] कारण के साथ अविभागापन्न [आः] था अथवा रहता है [तमः] वह जड़ मूलकारण [तमसा] अन्धकार से [गूढं] आवृत [आसीत्] रहता है। यहां प्रथम 'तमस्' पद जगत् के मूलउपादानकारण के लिये प्रयुक्त हुआ[1] है। मनुश्लोक का तात्पर्य है, जैसे अन्धकार में अवस्थित पदार्थ

---

१. इसके विशेष विवरण के लिये देखें-'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ ३५५-५७; तथा ३५६ पृष्ठ की टिप्पणी।

जाना नहीं जाता, ऐसे ही प्रलयदशा में अव्यक्त कारणरूप से अवस्थित पदार्थ अभिव्यक्त नहीं होते। उस समय यह जगत् [अप्रज्ञातं] न जाना हुआ [अलक्षणम्] किसी भी प्रकार के चिह्नों से रहित [अप्रतर्क्यम्] कल्पना के अयोग्य [अविज्ञेयं] न जानने योग्य अर्थात् आन्तर बाह्य इन्द्रियों द्वारा जानने योग्य नहीं रहता, [प्रसुप्तमिव सर्वतः] सब ओर से निद्रा की-सी अवस्था में रहता है। मनु का यह प्रलयकालिक वर्णन ऋग्वेद के नासदीय सूक्त [१०।१२६] की प्रारम्भिक ऋचाओं के अनुसार किया गया है।

मनु ने आगे कहा–प्रलय अवसर पूरा होने पर अव्यक्त स्वयंभू भगवान् ने मूल-उपादान को महाभूत महत् अहंकार आदिरूप में अभिव्यक्त करने की इच्छा की। वह महत् आदि सम्पूर्ण जगत् की रचना करने का सामर्थ्य रखता है, उसकी शक्ति अबाध है। उसने प्रकृति को प्रेरित किया और इसरूप में [जगद्रचना में शक्त तथा प्रकृतिप्रेरकरूप में] प्रकट हुआ। प्रथमश्लोक के 'तमोभूतं' और इस श्लोक के 'तमोनुदः' पदों में 'तमस्' पद का अर्थ जड़ प्रकृति है। सर्ग के प्रारम्भ में चेतन परमात्मा जब तक जड़ प्रकृति को सर्ग के लिये प्रेरित नहीं करता, तबतक वह स्वयं किसी सर्गोन्मुख क्रिया के लिये असमर्थ रहती है। परन्तु उस प्रेरयिता चेतन को प्रेरणा देनेवाला अन्य कोई तत्त्व उससे उत्कृष्ट नहीं, वह स्वतः सर्वोत्कृष्ट चेतन सत्ता है। इसी भाव को मनु ने अगले श्लोक में इस प्रकार प्रकट किया—

वह स्वयम्भू भगवान् इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जासकता, वह सूक्ष्म अव्यक्त और सदा रहनेवाला है। सब प्राणी तथा भूतमात्र में अन्तर्यामी है अचिन्त्य है। वह बिना किसी की प्रेरणा के स्वयमेव इस जगत्सर्ग के लिये प्रस्तुत होता है। जड़ होने के कारण प्रकृति में स्वयं प्रेरणा असम्भव है। परन्तु वह चेतनस्वरूप परब्रह्म के लिये सर्वथा सम्भव है। इसप्रकार चेतन-अचेतन दोनों तत्त्व मूल में पृथक्‌रूप से अवस्थित रहते हैं, यह बात मनु के विचार से स्पष्ट होती है।

विश्व ब्रह्माण्ड और उसके मूलभूत उपादानकारण प्रकृति को शास्त्रों में परब्रह्म का देहरूप कल्पना किया गया है[1]। वह प्रकृति में अन्तर्निविष्ट हुआ उसके द्वारा विविध संसार को उत्पन्न करता, नियन्त्रण व संचालन करता, तथा अन्त में उसी मूलकारण में लीन करदेता है; इसलिये उसको 'अन्तर्यामी' कहा जाता है। आदि सर्ग के इस भाव को मनु ने अगले श्लोक में अभिव्यक्त किया—

उस स्वयम्भू भगवान् ने संकल्प कर अपने शरीर से विविध प्रजाओं के सर्जन करने की इच्छा की। सबसे पहले 'आपस्' को ही तयार किया, उनमें वीज–वीर्य अथवा अपनी शक्ति को छोड़ दिया[2]।

---

१. देखें—वेदान्तसूत्र, १।४ का प्रारम्भिक प्रसंग।

२. मनु के इन श्लोकों के विषय में विशद विवेचन देखना चाहें, तो हमारी रचना 'सांख्यसिद्धान्त' के पृष्ठ ४३३ से ४४५ तक का अवलोकन करें।

जगत् का मूल उपादानकारण प्रकृति भगवान् का कल्पित शरीर है। जब उससे विविध जगत् के सर्जन का भगवान् ने संकल्प किया, तब सबसे प्रथम इसके लिये प्रकृति को उसने तयार किया। प्रकृति को तयार करने का अभिप्राय है–उसको सर्गोन्मुख करना। प्रकृति अभी तक प्रसुप्त जैसी अवस्था में थी, उसमें बीज छोड़ा–अपनी नैसर्गिक ज्ञानशक्ति से उसे सर्गोन्मुख कर दिया। अभी तक जो प्रकृति सोई-सी पड़ी थी, उसमें सर्गानुकूल क्रिया पैदा हुई। प्रकृति का प्रत्येक सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण अथवा अंश चञ्चल हो उठा। इसप्रकार परब्रह्म ने प्रकृति में क्रिया व क्षोभ उत्पन्न कर उसे सर्गोन्मुख दशा में कर दिया। यही है–प्रकृति को तयार करना–'अप[1] एव ससर्जादौ'। उस प्रकृति को तयार किया कैसे?–'तासु बीजमवासृजत्' उसमें शक्ति का सञ्चार किया। अभी तक सोई जैसी प्रकृति का प्रत्येक अंश नाच उठा। अब जगत् के रूप में परिणत होने के लिये प्रकृति सब प्रकार तयार है।

आद्य सर्गकाल की इस प्राकृतिक दशा का महाभारत में इसप्रकार वर्णन किया –'स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते। नारायणो जगन्मूर्त्तिरनन्तात्मा सनातनः॥ तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम।'[2] वह सबका अन्तर्यामी क्षेत्रज्ञ सर्वव्यापक जगत् को यह मूर्त्तरूप देनेवाला अनन्तस्वरूप नित्य परब्रह्म है; उससे यह त्रिगुणात्मक अव्यक्त उत्पन्न होता है। परब्रह्म से त्रिगुण अव्यक्त प्रधान के उत्पन्न होने का केवल इतना तात्पर्य है, कि परब्रह्म प्रधान को जगद्रचना के लिये प्रेरित करता है, अथवा प्रलयदशा से सर्गोन्मुखता की ओर प्रवृत्त करता है। स्पष्ट है, कि जो त्रिगुण अव्यक्त है, वह उत्पन्न हुआ नहीं माना जासकता। उत्पन्न तत्त्व सदा 'व्यक्त' कहा जाता है अव्यक्त नहीं। इसलिये 'अव्यक्त' पद से कहे गये त्रिगुणप्रधान को उत्पन्न कहे जाने का केवल उतना अभिप्राय है, कि परमात्मा उसे सर्गोन्मुख कर देता है। मध्यकालिक आचार्यों ने इस वाक्य के तथा इसतरह के अन्य वाक्यों के आधार पर प्रकृति को ब्रह्म से–मट्टी से घड़ा या सुवर्ण से कुण्डल बनने के समान–बना समझकर अनर्थ किया है। उन्होंने यह कैसे नहीं समझा, कि चेतन का परिणाम अचेतन नहीं होसकता, अथवा चेतनतत्त्व का परिणाम ही असम्भव है। ब्रह्म को परिणामी व विकारी कहकर या मानकर उसके शास्त्रीयस्वरूप को सुरक्षित नहीं रक्खा जासकता।

इसीप्रकार महाभारत के कतिपय अन्य सन्दर्भों के आधार पर सर्वात्मता के निर्धारण का प्रयास किया गया है। 'सर्वात्मता' का तात्पर्य है, परब्रह्म परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसीका अस्तित्व न माना जाना। विचारक देखें, इन सन्दर्भों से सर्वा-

---

१. मनु के उक्त श्लोक में 'आपस्' पद का प्रयोग प्रकृति की ऐसी अवस्था के लिये हुआ है; इसके लिये देखें हमारी रचना–'सांख्यसिद्धान्त' के पृष्ठ ४३५–३७ की टिप्पणी।

२. तुलना करें, म०भा० शान्तिपर्व, ३४०।२८-२९॥

त्मता कैसे सिद्ध होती है ? कहा गया—" 'बहवः[1] पुरुषा राजन्नुताहो एक एव तु' हे राजन् ! पुरुष बहुत हैं, और एक ही है; ऐसा विचार प्रस्तुत कर आगे कहा—'बहवः पुरुषा राजन् सांख्ययोगविचारिणाम्' हे राजन् ! सांख्य-योग के अनुसार विचार करने वालों ने पुरुष बहुत बताये हैं। यह परपक्ष का कथन कर उसका प्रत्याख्यान करने की भावना से आगे कहा—'बहूनां पुरुषाणां हि यथैका योनिरुच्यते। तथा तं पुरुषं विश्वमाख्यास्यामि गुणाधिकम्' बहुत पुरुषों का जैसे एक योनि—आधार कहा जाता है, ऐसे उस गुणातिरिक्त विश्वपुरुष का वर्णन करूंगा, यह आरम्भ कर आगे बताया—'ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहसंस्थिताः। सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित् क्वचित् ॥ विश्वमूर्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षिनासिकः। एकश्चरति भूतेषु स्वैरचारी यथासुखम्' इसप्रकार सर्वात्मता का ही निर्धारण किया है।"

यह सब आचार्य शंकर ने इस सूत्र के भाष्य में कहा। महाभारत के उद्धृत वाक्यों पर गम्भीरतापूर्वक विचार कीजिये। सर्वप्रथम कहा, कि 'पुरुष बहुत हैं, और एक है'। इस सन्दर्भ में जिन पुरुषों को बहुत कहा गया, वे बहुत ही हैं, और जो एक है, वह एक ही है। इस उद्धृत समस्त प्रसंग में कोई ऐसा संकेत नहीं है, जिससे यह प्रकट हो, कि उन बहुत पुरुषों को एक कहा गया है। वस्तुस्थिति यह है, कि बहुत अपनी जगह हैं, और एक अपनी जगह है। आगे सांख्य-योग के विचार से बहुत पुरुषों का उल्लेख किया गया। यह सर्वथा युक्त है, सांख्य-योग का मुख्य प्रतिपाद्य विषय—जगत् के उपादान जड़तत्त्व तथा जगत् में भोक्तारूप से उपस्थित चेतन आत्माओं एवं इन जड़ और चेतन के विवेक तथा विवेक के उपायों का—विवेचन करना है। सांख्य-योग में यही सब है; उसीका महाभारत के इस सन्दर्भ में उल्लेख है। यहां परपक्ष के रूप से इसका उपन्यास नहीं है, प्रत्युत पहले जो 'बहुत पुरुष' और 'एक पुरुष' का निर्देश है, उसीका यह सांख्य-

---

१. इन सन्दर्भों के लिये महाभारत के यथाक्रम ये स्थल द्रष्टव्य हैं—'बहवः पुरुषः'……, शान्ति०, अ० ३३८। श्लो० ७१ ॥ मेरी पुस्तक में 'राजन्' की जगह 'ब्रह्मन्' पाठ है। यह जनमेजय-वैशम्पायनसंवाद में जनमेजय की उक्ति वैशम्पायन के प्रति है।

'बहवः पुरुषाः राजन् सांख्य०……' शा०, ३३८।७४ ॥ मेरी पुस्तक में 'राजन्' की जगह 'लोके' तथा 'विचारिणाम्' की जगह 'विचारिणः' पाठ है। 'बहूनां पुरुषाणां हि यथैका……' शा० ३३८।७३ तथा ९६ ॥ 'गुणाधिकम्' की जगह मेरी पुस्तक में 'गुणातिगम्' पाठ है।

'ममान्तरात्मा तव च……' शा० ३३९।४-५ ॥

ये स्थल चैन्नपुरी मद्रास संस्करण, पि० पि० सुब्रह्मण्यशास्त्रिपरिशोधित-संस्करण के अनुसार हैं। गीता प्रेस, गोरखपुर संस्करण में ये सब श्लोक शान्तिपर्व के ३५० और ३५१ अध्याय में देखे जासकते हैं।

योग के अनुसार विवेचन प्रस्तुत किया। यह इसीलिये कहा गया कि सांख्य-योग का यह मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, इसको पूर्णरूप में वहां से जानना चाहिये। महाभारत में इसके आगे जो कुछ कहा, वह उस एक पुरुष का वर्णन है। वहां पहले कथन के प्रत्याख्यान की कोई भावना नहीं है, यह उस एकपुरुष के वर्णन से स्पष्ट होजाता है।

एक पुरुष के वर्णन में कहा—वह बहुत पुरुषों का एकमात्र आधार[1] है। वह समस्त विश्व का आधार है। उक्त सन्दर्भ में उस एक विश्वपुरुष का 'गुणाधिकम्' विशेषण ध्यान देने योग्य है। 'गुण' पद त्रिगुण का निर्देशक है, त्रिगुण-प्रधान जगत् का उपादानकारण है, यह विशेषण उस एक विश्वपुरुष को त्रिगुण-प्रधान से अतिरिक्त बतारहा है। स्पष्ट है, कि 'बहुत पुरुष' अर्थात् जीवात्मा और त्रिगुण-प्रधान इन सबका वह 'एक पुरुष' आधार है। यही तात्पर्य महाभारत श्लोक का है। इसमें 'बहुत पुरुष' 'एक पुरुष' और 'त्रिगुण-प्रधान' तीनों तत्त्वों का स्पष्ट वर्णन है। आगे महाभारत के इस प्रसंग का प्रवक्ता श्रोता से कहरहा है—मेरा अन्तरात्मा और तुम्हारा, तथा हमारी तरह अन्य जितने देहसंस्थित आत्मा हैं उन सबका वह 'एकपुरुष' साक्षी-भूत है, सबका जाननेवाला है, वह सर्वज्ञ है, पर वह किसी से कहीं देखा नहीं जाता [—न ग्राह्यः केनचित् क्वचित्]। यहां ग्रहीता जीवात्मा और ग्राह्य—'एकपुरुष' के भेद का स्पष्ट निर्देश है। आगे उसके विराट् रूप का वर्णन है, जो एक आलंकारिकरूप में उसकी महत्ता सर्वोत्कृष्टता सर्वनियन्तृता एवं सर्वान्तर्यामिता आदि को यथाकथञ्चित् प्रकट करने के लिये किया जाता है। इस सब विवेचन से सर्वात्मता सिद्ध होती है, या जीवात्माओं और प्रकृति से अतिरिक्त उस 'एकपुरुष' की सर्वोपरि सत्ता ? यह विद्वान् स्वयं विचार सकते हैं। इससे स्पष्ट होता है, कि साधारण स्पष्टार्थ उक्तियों के आधार पर वैदिक सिद्धान्तों को विशृंखलित करने का किसी काल में कितना विस्तृत प्रयास किया गया है।

आश्चर्य इस बात का है, कि महाभारत के इसी प्रकरण में आगे विषय का उपसंहार करते हुए परमात्मा-जीवात्मा को स्पष्टरूप से भिन्न तत्त्व बताया है। वहां [शा० ३३९।१६—१८] कहा—

तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः।
न लिप्यते कुतश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते।
स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते च सः॥

आत्मविवेचन के प्रसंग में परमात्मा नित्य निर्गुण [त्रिगुणात्मक प्रकृति से अतिरिक्त]

---

१. श्लोक में 'योनि' पद है, जिसका अर्थ 'आधार' है। यह पद विशेषरूप से 'उपादान-कारण' अर्थ को नहीं कहता, इसका विवेचन 'योनिश्च हि गीयते' [वे० सू० १।४।२७] सूत्र की व्याख्या में कर दिया गया है।

बताया गया है, वह जल में पद्मपत्र के समान संसार में व्याप्त रहता भी किसी गुण-दोष से लिप्त नहीं होता। कर्म करने वाला आत्मा [जीवात्मा] तो उससे अन्य है, जो मोक्ष और बन्ध से युक्त होता है। वह सत्रह के समूह अर्थात् सूक्ष्मशरीर से संबद्ध वा आवेष्टित रहता है। यहां स्पष्ट ही 'अपर' पद परमात्मा-जीवात्मा के भेद को बता रहा है। शान्तिपर्व का यह अन्तिम अध्याय है। इसका अन्तिम श्लोक है–'तदेतत् कथितं पुत्र यथावदनुपृच्छतः। सांख्यज्ञाने तथा योगे यथावदनुवर्णितम्'। यह श्लोक रुद्र के प्रति ब्रह्मा की उक्ति के रूप में कहा गया है। हे पुत्र ! तुम्हारे पूछने पर मैंने यह यथार्थरूप में आत्मविषयक वर्णन किया है। यह सब सांख्य और योग में यथावत् वर्णित है। विचारणीय है, कि इसमें सर्वात्मता की भावना का उद्भावन कहां सम्भव है ?

मनु के उक्त श्लोकों के आधार पर यह स्पष्ट होता है, कि परब्रह्म परमात्मा ने प्रकृतिरूप अपने शरीर से जगत् को प्रादुर्भूत किया। इसप्रकार प्रकृति जगत् का उपादान और ब्रह्म निमित्तकारण है, यह वैदिक सिद्धान्त स्पष्ट होता है। सूत्रकार गूढाभिसन्धि से यह तात्पर्य प्रकट करना चाहता है, कि ब्रह्म को जगत् का कारण मानकर यदि यह कहा जाय, कि इससे कापिल सांख्यस्मृति के अनवकाश का दोष प्रसक्त होगा, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसे तो फिर मनु आदि स्मृति के अनवकाश का दोष भी प्रसक्त हो जायगा। कारण यह है, कि मनु ने जिसप्रकार जगदुत्पत्ति का उल्लेख किया है; वैसा ही सांख्यस्मृति में उपलब्ध होता है। मनु में जैसे प्रकृतिरूप शरीर से ब्रह्मद्वारा जगत् की उत्पत्ति का उल्लेख है, इसीप्रकार सांख्य जड़प्रकृति से सर्वान्तिर्यामी सर्वज्ञ सर्वकर्त्ता चेतनपुरुष की प्रेरणापूर्वक जगत् की उत्पत्ति मानता है; और उस चेतनपुरुष का 'ईश्वर' नाम कहता है।[1] उसीको अन्यत्र ब्रह्म[2] कहता है। इससे स्पष्ट है, कि सर्ग-विषयक मन्तव्य सांख्यस्मृति का वैसा ही है, जैसा मन्वादि स्मृति का। इसलिये इस औपनिषद अथवा वैदिक सिद्धान्त के साथ–कि जगत् का कारण ब्रह्म है–सांख्यस्मृति का कोई विरोध नहीं है।

विरोध का अवसर उस समय आता है, जब ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण माना जाता है। कतिपय आचार्यों ने उपनिषद् के कुछ वाक्यों के आधार पर इस विचार को उभारा, और प्रयासपूर्वक उसका प्रचार किया। इसकी पृष्ठभूमि क्या रही हो, इस विवेचन से कोई प्रयोजन नहीं; पर यह निश्चित है, कि उक्त विचार को जब भी

---

१. देखें–सांख्यषडध्यायीसूत्र [३।५६-५७ तथा ५।८-१२]। सांख्यसिद्धान्त, पृ० ५३-६०।

२. सांख्यषडध्यायी सूत्र, [५।७६], यह संख्या हमारे सम्पादित व व्याख्यात सांख्यसूत्र संस्करण की है। सूत्रसंख्या में ३७ और जोड़कर किसी भी अन्य संस्करण में इस सूत्र को देखा जासकता है।

उभारा गया, उसके पहले और बाद भी यह धारणा बराबर बनी रही है, कि उपनिषदों का वास्तविक तात्पर्य ऐसा नहीं है। उक्त विचार के आचार्यों ने अपने मन्तव्य की रक्षा के लिये अनेक ऐसी व्यवस्थाओं की कल्पना की है, जिनका उपनिषदों में संकेत भी उपलब्ध नहीं होता।[१] प्रस्तुत व्याख्या में यथावसर सर्वत्र इस तथ्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है, कि उपनिषद् तथा अन्य वैदिक साहित्य का स्वारस्य यह प्रतिपादन करने में नहीं है, कि ब्रह्म जगत् का उपादानकारण है। उपनिषद् और उनके अनुसार यह शास्त्र यथार्थ ब्रह्मस्वरूप का प्रतिपादन करने के लिये प्रवृत्त हुए हैं। यहां उपपादित शुद्ध बुद्ध आनन्दस्वरूप ब्रह्म जड़जगत् के रूप में परिणत हो, न यह सम्भव है, न ऐसा वैदिक सिद्धान्त है। वेदान्त अथवा उपनिषद् का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्मस्वरूप का प्रस्तुत करना है, सृष्टिप्रक्रिया का उपपादन करना नहीं। इसीलिये सांख्य आदि में प्रतिपादित सृष्टिप्रक्रिया की समस्त भारतीय साहित्य में कहीं उपेक्षा नहीं की गई; वेदान्त भी इसका अपवाद नहीं है। यह आपातिक विरोध व्याख्याकारों की प्रतिभा का चमत्कार है। सूत्रकार का आशय अविरोधभावना की छाया में प्रथम स्पष्ट कर दिया गया है।

आचार्य शंकर ने सांख्यस्मृतिप्रतिपादित अर्थ के विरोध में मनु का जो श्लोक जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह आचार्य के कथन की पुष्टि नहीं करता। इस विषय में आचार्य ने प्रथम तो मनु की प्रशंसा में तैत्तिरीयसंहिता से जो वाक्य उद्धृत किया है, उसका मनुस्मृति के मनु से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह केवल नाम की समानता से तुक भिड़ाई गई है, जो सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है।[२] आचार्य ने सर्वात्मतावाद की सिद्धि में मनु का श्लोक उद्धृत किया है–'सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति' [१२।९१]। यहां 'आत्मा' पद परब्रह्म परमात्मा का वाचक है। सब भूतों में परमात्मा अन्तर्यामीरूप से व्याप्त है, और सब भूत परमात्मा में आश्रित हैं, इस तत्त्व को जिसने साक्षात् समझ लिया है, वह आत्मज्ञानी मोक्ष पाजाता है। इससे यह कहां सिद्ध होजाता है, कि सब परमात्मा का स्वरूप है? परमात्मा सब में व्याप्त है, अथवा सब परमात्मा में आश्रित हैं; इससे तो यह स्पष्ट सिद्ध होता है, कि परमात्मा है तथा उससे भिन्न अन्य कुछ है। फिर इस यथार्थता को साक्षात् करने वाला आत्मज्ञानी मोक्ष पाता है; यह कथन भी परमात्मा से भिन्न किसी ऐसे तत्त्व का बोधक है, जो मोक्ष पाता है। स्पष्ट भेद का प्रतिपादक वाक्य सर्वात्मतावाद की सिद्धि के लिये प्रस्तुत कर दिया। आचार्यों के कथन में कौन बाधक हो।

---

१. छह अनादि पदार्थ, विवर्त्तवाद, अनिर्वचनीयवाद आदि।

२. इसके विस्तृत विवेचन के लिये देखें हमारी रचना–'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृष्ठ १६–१९।

इस सब विवेचन से यह परिणाम स्पष्ट होता है, कि सांख्यस्मृतिप्रतिपादित सृष्टिविषयक अर्थ का अन्य मनु आदि स्मृति में प्रतिपादित इस विषयक अर्थ के साथ कोई विरोध नहीं है, इसलिये इनके अनवकाश का कोई अवसर नहीं। यदि वस्तुस्थिति में कोई विरोध होता, और सूत्रकार को वह कथन अभिमत न होता, तथा सूत्रकार उसे अप्रामाणिक मानता, तो निश्चित ही वह सूत्र में उपस्थापित पूर्वपक्ष का 'अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगात्' कहकर समाधान न करता; प्रत्युत सीधा 'अप्रामाणिकत्वात्' आदि हेतु देकर उसका प्रत्याख्यान कर देता। ऐसा न कर जो प्रस्तुत हेतु दिया है, उससे सूत्रकार का यह गूढ़ अभिप्राय प्रकट होता है, कि उसे सांख्यस्मृति का अनवकाश प्रतिपाद्य अर्थ में अपेक्षित नहीं है। वह उक्त हेतु देकर सांख्यप्रतिपादित अर्थ के साथ अविरोध प्रकट करने की एक विशिष्ट रीति का संकेत कर रहा है। मध्यकालिक व्याख्याकारों ने किन्हीं भ्रान्तियों पर आधारित विरोध को उभारकर उसके अनुसार सूत्रार्थ करने में सूत्रकार के आशय को विच्छिन्न कर दिया है। फलतः सांख्यस्मृति का इस विषय में वेदान्त [उपनिषद् आदि] के साथ कोई विरोध नहीं है ॥१॥

गत सूत्र से सांख्यस्मृति के साथ औपनिषद अथवा मनु आदि के सृष्टिविषयक विचारों के विरोध का निराकरण कर दिया गया। अब सूत्रकार कहता है, अन्य दार्शनिक आचार्यों की स्मृतियों के साथ भी उक्त विषयक औपनिषद विचारों का विरोध नहीं है—

इतरेषाञ्चानुपलब्धेः ॥२॥

[इतरेषां] अन्यों के [च] भी [अनुपलब्धेः] उपलब्ध न होने से। गौतम आदि अन्य दर्शनकारों की स्मृतियों के अनवकाश का दोष भी प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उनमें उपादानकारण की प्रवृत्ति को चेतन निरपेक्ष बताया जाना उपलब्ध नहीं होता।

दर्शनकार महर्षि गौतम की स्मृति 'न्यायदर्शन' नाम से प्रसिद्ध है। इसीप्रकार महर्षि कणाद का 'वैशेषिक दर्शन' कणाद की स्मृति है। ब्रह्म को जगत् का कारण मानते हुए इन स्मृतियों के अनवकाश का दोष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि इन सब में ब्रह्म को जगत् का कारण माना गया है।

ये दर्शन सृष्टिप्रक्रिया को पार्थिवादि परमाणुओं से प्रारम्भ करते हैं। सांख्य-योग की परिभाषा में पार्थिव आदि परमाणुओं अथवा तत्त्वों की 'विशेष' संज्ञा है। प्रकृतिरूप मूलतत्त्वों से पदार्थों की रचना प्रारम्भ होकर जब रचना का यह स्तर आता है, पृथिवी आदि के अतिसूक्ष्म कण तयार होजाते हैं; वहीं से कणाद ने सृष्टिप्रक्रिया का विवरण प्रस्तुत किया है। रचना के उस स्तर में विद्यमान तत्त्वों की 'विशेष' संज्ञा होने, और वहीं से सृष्टिप्रक्रिया का विवरण प्रस्तुत करने से कणाद स्मृति का 'वैशेषिक दर्शन' नाम हुआ है। ज्ञातव्य है, कि महर्षि कणाद ने जगत् की उत्पत्ति में इन तत्त्वों को

स्वतन्त्र नहीं माना; अर्थात् चेतन की प्रेरणा के विना इनसे जगत् का निर्माण होजाता हो, ऐसा स्वीकार नहीं किया। इनके प्रेरयिता ईश्वर–चेतन सत्ता को वहां निःसंदिग्धरूप में माना गया है।[1] इस विषय में गौतम आचार्य का भी सर्वात्मना यही मन्तव्य है। फलतः इन आचार्यों के स्मृतिग्रन्थों में जगदुपादानकारण के नियन्तारूप में ब्रह्म को जगत् का कारण स्वीकार किया गया है।

यह कोई शास्त्रीय सिद्धान्त नहीं है, कि जबतक ब्रह्म को जगत् का उपादान-कारण न माना जाय, तबतक उसकी कारणता सिद्ध नहीं होती। वस्तुतः ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण बताने वालों ने उसे स्वरूप से प्रच्युत कर दिया है। वैशेषिक और न्याय का अध्ययन करने वाले आचार्यों ने ब्रह्म के अस्तित्व और उसे जगत्कारण माने जाने की स्थापना में महान प्रयास किया है। उनके इस विषय के विचारों का औपनिषद मन्तव्य से कोई विरोध नहीं है॥२॥

सांख्यस्मृति आदि के अनवकाशरूप दोष की प्राप्ति के आधार पर सृष्टिविषयेक औपनिषद मन्तव्य के साथ उसके विरोध की कल्पना का निराकरण गत सूत्रों से कर दिया गया, उसीका अतिदेश सूत्रकार अब योगस्मृति के लिये प्रस्तुत करता है—

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥३॥

[एतेन] इससे [योगः] योग [प्रत्युक्तः] उत्तरित होगया। इस सांख्यस्मृति के साथ विरोध के परिहार से योगस्मृति के साथ विरोध का उत्तर दिया गया।

सूत्र में 'योग' पद योग में प्रतीत होने वाले विरोध को लक्षित करता है। सर्ग के विषय में योगशास्त्र का अपना कोई स्वतन्त्र मन्तव्य नहीं है। सांख्य में सर्गप्रक्रिया को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है, योग में उसीको स्वीकार कर लिया गया है। इसीलिये सूत्रकार ने यह अतिदेश किया, कि सांख्यस्मृति के साथ विरोध के परिहार से [—एतेन] योगस्मृति के साथ विरोध का परिहार समझ लेना चाहिये। यहां योगशास्त्र का निराकरण अथवा प्रतिवचन अपेक्षित नहीं है, इसीलिये 'योग' पद लक्षणा से 'योगविरोध' का बोधक है। योगशास्त्रप्रतिपादित यम नियम आदि का पालन और

---

१. 'तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद्धर्मादेव' वैशेषिक प्रशस्तपादभाष्य, उद्देशप्रकरण; 'सकलभुवनपतेर्महेश्वरस्य संजिहीर्षासमकालं···' 'महेश्वरस्याभिध्यानमात्रात्' 'सर्वलोकपितामहं ब्रह्माणं सकलभुवनसहितमुत्पाद्य प्रजासर्गे विनियुङ्क्ते। स च महेश्वरेण विनियुक्तो ब्रह्मा···' वही ग्रन्थ, द्रव्यनिरूपण प्रकरण में सृष्टिसंहार-विधिप्रसंग। इन लेखों से स्पष्ट है, सृष्टि के उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयकर्त्ता के रूप में महान ईश्वर अथवा ब्रह्म को वैशेषिक आचार्य स्वीकार करते हैं। इस विषय में वैशेषिक सूत्र [२।१।१८, १९] भी द्रष्टव्य हैं।

समाधि अवस्था को प्राप्त करना मोक्ष के साधन हैं। इसलिये सूत्रकार की भावना के अनुसार योग को निराकरणीय नहीं समझा जासकता। अध्यात्मशास्त्रों में योग के समाधि आदि विधानों की मोक्षसाधन के रूप में आवश्यकता को सबने स्वीकार किया है।

वेद तथा वैदिक साहित्य के अनेक प्रमाणों से योग की उपादेयता निश्चित होती है। ऋग्वेद [५।८१।१] में बताया—'युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।' विद्वान् योगीजन सर्वव्यापक महान ज्ञानस्वरूप परमात्मा के ध्यान में अपने मन और बुद्धियों को योगद्वारा समाहित करते हैं। यजुर्वेद [११।१] में कहा—'युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः' जगदुत्पादक परब्रह्म के आनन्दैश्वर्य को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति उस तत्त्व [परब्रह्म] को जानने के लिये प्रथम अपने मन और बुद्धि को योगद्वारा समाहित करे। इसीप्रकार उपनिषदों में अनेकत्र योग-विद्या की प्रशंसा उपलब्ध होती है—'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' [कठ० १।२।१२] अध्यात्मयोग के मार्ग से उस देव परब्रह्म को जानकर धीर योगी पुरुष सांसारिक सुख-दुःख से छूट जाता है। फिर कहा—'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरा-मिन्द्रियधारणाम्' [कठ० २।३।११] जब इन्द्रियां अपनी बाह्य वृत्तियों से हटकर एक परमात्मा में स्थिर हो जाती हैं, उस अवस्था का नाम योग अथवा समाधि है। श्वेता-श्वतर उपनिषद् [१।३] में बताया—'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिम्' उन योगीजनों ने ध्यानयोग [समाधि] का अभ्यास करते हुए परमात्मशक्ति को देखा। इसप्रकार समस्त अध्यात्मशास्त्रों में परब्रह्म के साक्षात्कार के साधनरूप में योगसमाधि की प्रशंसा की गई है, उसका पूर्ण वर्णन योगशास्त्र में है। ऐसी दशा में सूत्रकार योग का प्रत्याख्यान करे, यह सम्भव नहीं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् [२।८–१०] में तो आसन एवं प्राणायाम आदि का उल्लेख करते हुए बहुत विस्तार के साथ योगविधि का उपदेश किया है। मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में ब्रह्मचर्य के विधान का विस्तृत वर्णन है। वहां प्राणायाम [२।८३] आदि की प्रशंसा की गई है। आगे [४।२०४] यम नियम आदि के पालन का विधान है। योग की प्रशंसा और आवश्यकता के विषय में गीता के अनेक [४।२६॥५।२७] स्थल द्रष्टव्य हैं। छठे अध्याय में विशेषरूप से योग का वर्णन है। उसमें कतिपय श्लोक [६।१०–२३] योगशास्त्र की विधियों का स्पष्ट निर्देश करते हैं। ऐसी स्थिति में स्वयं वेदव्यास सूत्ररचना के अवसर पर उसका प्रत्याख्यान करे, यह संभव प्रतीत नहीं होता, इसलिये प्रकरणानुसार प्रस्तुत सूत्र का उक्त अर्थ किया गया है।

कहा जाता है, कि योग का एक सूत्र स्पष्ट रूप से इसका विरोध करता है, कि ब्रह्म जगत् का कारण है। सूत्र है—'निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्' [४।३], ऐसा कहने वाले व्यक्तियों ने सूत्र में 'निमित्त' पद का अर्थ जगत् का निमित्तकारण ब्रह्म समझ लिया है, और सूत्रार्थ किया है, कि वह निमित्त प्रकृतियों

का–उपादानतत्त्वों का–प्रयोजक अर्थात् प्रेरक नहीं होता, प्रकृति विना प्रयोजक के स्वयमेव प्रवृत्त हुआ करती है। क्षेत्रिक जैसे डौल आदि आवरण हटा देता है, पानी स्वतः क्यारियों में फैल जाता है, ऐसे ही आवरण–अवरोध हट जाने से प्रकृति स्वतः प्रवृत्त होती रहती है।

यद्यपि सूत्र में 'निमित्त' पद का अर्थ ब्रह्म अथवा ईश्वर नहीं है। पर ऐसा भी मानलिया जाय, तो आवरण का हटाना भी प्रयोजक के विना संभव नहीं। यदि अवरोध न हटे, तो प्रकृति प्रवृत्त न होगी, अवरोध का हटाना ही प्रकृति को उसके कार्य में प्रवृत्त करना है, इसलिये प्रकृति का प्रयोजक वह तत्त्व हो गया, जिसने अवरोध को हटाया।

जिस प्रसंग में यह सूत्र है, वहां बताया है, कि पूर्णयोगी अपने देह को अन्य जाति के देह में परिणत करलेता है, यदि वह ऐसा करना चाहता है। जब पहले देह के अवयवों से दूसरा देह पूरा नहीं होपाता, तो प्रकृति से उस अंश की पूर्ति होजाती है। इससे आगे उक्त सूत्र है। वहां बताया, कि प्रकृति के इसप्रकार के सहयोग में धर्म आदि निमित्त नहीं होते, क्योंकि इनके अस्तित्वलाभ करने में प्रकृति स्वतः कारण है, प्रकृतिसहयोग के विना धर्मादि का होना संभव नहीं, तब धर्म आदि प्रकृति के कार्य होने से उसके प्रयोजक नहीं कहे जासकते। ये धर्म अथवा प्राप्त योगज सामर्थ्य आदि अवरोधकरूप अधर्म एवं असामर्थ्य को हटा देने मात्र में प्रयोजक हैं, प्रकृति व्यवस्थानुसार अपना कार्य किया करती है। इसप्रकार सूत्र में 'निमित्त' पद धर्म आदि का निर्देशक है, ब्रह्म का नहीं। योगी के देहान्तरपरिणाम के लिये प्रकृतिसहयोग में यहां धर्मादि को प्रकृति का अप्रयोजक बताया है। फलतः ब्रह्म से अप्रेरित स्वतन्त्र प्रकृति में योगशास्त्र प्रवृत्ति नहीं मानता, अतः इस दिशा में वेदान्त या उपनिषद् से उसका कोई विरोध नहीं है ॥३॥

स्मृतिविषयक आशंकित विरोध का समाधान कर दिया गया। जगत् के जन्म आदि का कारण ब्रह्म और प्रकृति दोनों हैं, यह निश्चित किया गया। जगत् का उपादान-कारण प्रकृति है, इस अंश में तर्कनिमित्तक विरोध का निराकरण करने की अभिलाषा से सूत्रकार ने पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए सूत्र कहा—

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥४॥

[न] नहीं [विलक्षणत्वात्] विलक्षण होने से [अस्य] इस जगत् का (उपादान-कारण प्रकृति), [तथात्वं] वैसा होना (विलक्षण होना) [च] और [शब्दात्] शब्द से (प्रतीत होता है)।

इस दृश्यादृश्य जगत् का उपादानकारण प्रकृति नहीं मानी जानी चाहिये। कारण यह है, कि प्रकृति इस जगत् से विलक्षण है, विरुद्ध धर्मों वाली है। कोई भी कार्य अपने उपादानकारण के समान होता है, उन दोनों के मौलिक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं होना चाहिये। मिट्टी के विकार घड़ा आदि एवं सुवर्ण के विकार कुण्डल आदि अपने मूलरूप मृत्

एवं सुवर्ण धर्म का त्याग नहीं करते। यदि जगत् का उपादान प्रकृति है, तो प्रकृति का स्वरूप जो जड़ता व त्रिगुणात्मकता आदि हैं, उनका त्याग पृथिवी आदि कार्यों में नहीं होना चाहिए। परन्तु पृथिवी आदि में जड़ता से विलक्षण चेतनधर्म की प्रतीति शब्दप्रमाण से होती है। प्रकृति की जड़ता प्रमाणसिद्ध है। यदि पृथिवी आदि जगत् का उपादानकारण जड़ प्रकृति होता, तो पृथिवी आदि में चेतनधर्म का अभिलापन न किया जाता, पर शास्त्र में ऐसा उपलब्ध होता है। शतपथ ब्राह्मण [६।१।३।४] में कहा–'मृदब्रवीत्' मिट्टी बोली, 'आपोऽब्रुवन्' [श० ६।१।३।२] जल बोले। इसीप्रकार छान्दोग्य उपनिषद् [६।२।३-४] में कहा–'तत्तेज ऐक्षत, ता आप ऐक्षन्त' उस तेज ने ईक्षण किया, उन जलों ने ईक्षण किया। ऐसे ही बृहदारण्यक [१।३।२] में आता है–'ते वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुदगायत्' देवों ने वाक् को कहा–तू हमारे लिये उद्गान कर। वाक् ने कहा–ऐसा हो, तब वाक् ने देवों के लिये उद्गान किया। बृहदारण्यक में अन्यत्र [६।१।७] कहा–'ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः' वे ये प्राण अपने बड़प्पन के लिये झगड़ते हुए ब्रह्म के पास गये। 'बोलना' आदि ये सब धर्म पृथिवी आदि के चेतन माने जाने पर संभव हैं। इससे स्पष्ट होता है, पृथिवी आदि के ये धर्म प्रकृति से विलक्षण हैं, अतः पृथिवी आदि जगत् का उपादानकारण ब्रह्मप्रेरित जड़प्रकृति को नहीं माना जाना चाहिये ॥४॥

उक्त पूर्वपक्ष प्रस्तुत कर सूत्रकार ने सिद्धान्तसूत्र कहा—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥५॥

[अभिमानिव्यपदेशः] आभिमानिक–आलंकारिक कथन [तु] किन्तु [विशेषानुगतिभ्याम्] विशेष–भेद और अनुगति–अन्तर्यामीरूप से। किन्तु उक्त कथन आलंकारिक है वास्तविक नहीं, क्योंकि दोनों का भेद तथा ब्रह्म का अन्तर्यामीरूप से वर्णन शास्त्र में उपलब्ध है।

'मृदब्रवीत्' 'आपोऽब्रुवन्' आदि कथन आलंकारिकरूप में किया गया है, वास्तविक नहीं। अर्थ के प्रतिपादन में चमत्कार लाने के लिये कविजन ऐसे प्रयोग सदा किया करते हैं। आज भी–'धरती बोलती है, वृक्ष मंगल गान करते हैं, स्रोत अनवरत संगीत सुनाते हैं' इत्यादि प्रयोग उक्त भावना से किये जाते हैं। इन पदों का जो सीधा अर्थ है, वह इनसे अभिप्रेत नहीं होता। इसीप्रकार 'मृदब्रवीत्' इत्यादि वाक्यों से वक्ता ने पृथिवी आदि में बोलने की कल्पना केवल किसी विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति की भावना से की है। इसप्रकार के वाक्यों के आधार पर यह प्रमाणित नहीं होता, कि पृथिवी जल आदि तत्त्व चेतन हैं, और इस रूप में प्रकृति से विलक्षण होने के कारण उसके कार्य नहीं हैं।

शास्त्र में चेतन और अचेतन के भेद का स्पष्ट रूप से निरूपण है–'विज्ञानं चाविज्ञानं च' [तै० २।६] चेतन तत्त्व अन्य है और अचेतन अन्य। ब्रह्म ने इस सब जगत्

का सर्जन किया, वह इसकी रचना कर इसीमें अन्तर्यामीरूप से व्याप्त है। विश्व में दो प्रकार के तत्त्व हैं–नित्य और विकारी, अव्यक्त और व्यक्त, आश्रय और आश्रित, चेतन और अचेतन, सत्य और अनृत [तै० २।६]। यह वर्णन चेतन ब्रह्म से अचेतन प्रकृति एवं प्राकृत पृथिव्यादि तत्त्वों को भिन्न करता है। सभी विवेचकों ने पृथिवी आदि तत्त्वों को अचेतन माना है। इसलिये प्रकृति से इनको विलक्षण समझना ठीक नहीं। भेदके अतिरिक्त पृथिवी आदि में ब्रह्म की अनुगति–अनुप्रवेश अर्थात् अन्तर्यामीरूप से विद्यमान होने का वर्णन [बृ० ३।७।३–१६] स्पष्ट करता है, कि ब्रह्म पृथिवी आदि समस्त विश्व का नियन्ता है। इनका नियन्ता और नियम्यभाव नियन्ता की चेतनता और नियम्य की अचेतनता को सिद्ध करता है। इन सब कारणों से निश्चित है, कि पृथिवी आदि तत्त्व जड़ हैं, उनमें 'अब्रवीत्' बोलने आदि का वर्णन केवल कल्पनामूलक है, वास्तविक नहीं। फलतः पृथिवी आदि समस्त जड़ जगत् का मूलउपादानकारण ब्रह्मप्रेरित प्रकृति है, यह निश्चित होता है ॥५॥

शिष्य आशंका करता है, यह मान लिया कि पृथिवी आदि जगत् चेतन नहीं है, जड़ है, और प्रकृति भी जड़ है। दोनों की यह समानता होने पर भी अन्य प्रकार की महत्त्वपूर्ण विलक्षणता है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये। प्रकृति सूक्ष्म है जगत् स्थूल; प्रकृति अव्यक्त है जगत् व्यक्त। सूक्ष्म एवं अव्यक्त प्रकृति से स्थूल तथा व्यक्त जगत् की उत्पत्ति इस विलक्षणता के कारण नहीं मानी जानी चाहिये, अन्यथा चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् की उत्पत्ति भी क्यों न मानलीजाय ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

दृश्यते तु ॥६॥

[दृश्यते] देखी जाती है [तु] तो। सूक्ष्म आदि कारण से स्थूल की उत्पत्ति शास्त्र व लोक में देखी तो जाती है।

प्रकृतिविकारभाव का उपपादन शास्त्र व लोक के आधार पर किया जाना चाहिये। लोक में ब्राह्मी व्यवस्था के अनुसार प्रकृतिविकारभाव में जिस स्थिति को देखा जाता है, उसके अनुकूल ही मूल में प्रकृतिविकारभाव को समझना अभीष्ट है। लोक में देखा जाता है, अतिसूक्ष्म बीज से विशाल वृक्ष आदि का प्रादुर्भाव होजाता है। फिर परिणाम में यह व्यवस्था है, कि सूक्ष्म से स्थूल तथा स्थूल से सूक्ष्म आदि परिणाम हुआ करते हैं। सूक्ष्म प्रकृति का परिणाम स्थूल जगत् है; स्थूल जगत् पुनः परिणत होकर कारण अवस्था को प्राप्त होजाता है, अर्थात् सूक्ष्मरूप में अवस्थित होजाता है। इसप्रकार सूक्ष्म एवं अव्यक्त प्रकृति से स्थूल तथा व्यक्त जगत् का परिणाम अथवा प्रादुर्भाव होना प्रामाणिक है। सूक्ष्म-स्थूल, अव्यक्त-व्यक्त ये केवल किसी वस्तुतत्त्व के अवस्थाविशेष हैं। इनमें वस्तुतत्त्व का कोई भेद नहीं होता, केवल अवस्था का भेद होता है। सुवर्ण के कुण्डल रुचक आदि भेद तथा मृत्तिका के घट मटका शकोरा आदि भेद केवल

अवस्था के भेद हैं। समस्त सुवर्णविकार अथवा मृद्विकार भिन्न अवस्था को प्राप्त हुए भी स्वरूप सुवर्ण एवं मृत्तिका-भाव का परित्याग नहीं करते। इसीप्रकार प्रकृति के समस्त विकार प्रकृति के स्वरूप जड़ता त्रिगुणात्मकता परिणामिता आदि का परित्याग नहीं करते। कारण और कार्य में अवस्था-भेद होना आवश्यक है, अन्यथा प्रकृतिविकारभाव की कल्पना ही नहीं होसकती। ब्रह्म सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है, चैतन्य ब्रह्म की कोई अवस्था नहीं, प्रत्युत स्वरूप है, जगत् का स्वरूप अचैतन्य है; इसलिये अचेतन जगत् चेतन ब्रह्म का परिणाम नहीं होसकता, यह अचेतन प्रकृति का ही परिणाम है। अवस्था-भेद स्वरूप के वैलक्षण्य का उपपादन नहीं करता, अतः अव्यक्त सूक्ष्म जड़ प्रकृति से व्यक्त स्थूल जड़ जगत् का प्रादुर्भाव होना युक्तियुक्त एवं प्रामाणिक है।

शास्त्र इस तथ्य का वर्णन करता है, कि प्रकृति से जगत् का प्रादुर्भाव किया जाता है। ऋग्वेद [१०।८१।३] में बताया—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥

सर्वद्रष्टा सर्वसंहर्त्ता सर्वशक्ति सर्वव्यापक एकमात्र देव परमात्मा द्यु-भूमि आदि जगत् को उत्पन्न करने की भावना के साथ जीवों के शुभाशुभ कर्मानुसार पतनशील [पतत्रैः] गतिशील अतिसूक्ष्म तत्त्वों से प्रेरणापूर्वक इसका सर्जन करता है। अन्यत्र [ऋ० १०।७२।२] कहा—

ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्। देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत॥

विश्व का पालक परमात्मा-धौंकनी से फूंककर अग्नि को प्रदीप्त करने वाले शिल्पी के समान-आदि सर्गकाल में उन अव्यक्त तत्त्वों [एता-एतानि] को अपनी चैतन्य-शक्ति से प्रेरित करता है, तब अव्यक्त प्रकृति से [असतः] यह व्यक्त जगत् प्रादुर्भूत होजाता है [सदजायत]। अन्यत्र [ऋ० ६।४७।१८] इसी अर्थ को प्रकारान्तर से कहा—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥

विश्व के प्रत्येक रूप में वह सर्वान्तर्यामी परमात्मा व्याप्त है, उसके दर्शन के लिये विश्व का प्रत्येक रूप साधन है। वह ऐश्वर्यशाली परमात्मा अनन्त मूलतत्त्वों [मायाभिः] से विविध संसार की रचना करता है, उसकी रचना व संहार की शक्तियां अपरिमित हैं। 'माया' पद जगत् के मूलतत्त्वों का निर्देश करता है। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' [श्वे० ४।१०] शास्त्र में 'माया' पद से प्रकृति को समझना चाहिये। उसी उपनिषद् [श्वे० ६।१२] में आगे कहा-'एकं बीजं बहुधा यः करोति' उस एकमात्र बीज-उपादान को वह परब्रह्म परमात्मा बहुविध जगत् के रूप में परिणत करदेता है। फलतः लोक एवं वेद के अनुसार प्रकृतिविकारभाव में सूक्ष्म-स्थूल अथवा अव्यक्त-व्यक्त आदि अवस्थागत विलक्षणता कोई बाधा नहीं डालती। प्रकृतिविकारभाव में स्वरूप का

वैलक्षण्य संभव नहीं; इसलिये चेतन ब्रह्म जड़ जगत् का उपादानकारण नहीं होसकता, त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति ही जगत् का उपादान संभव है।

गत तीन [४–६] सूत्रों की व्याख्या इसप्रकार भी की जाती है–विलक्षण होने से ब्रह्म जगत् का उपादानकारण नहीं। ब्रह्म चेतन है, जगत् जड़ है; ब्रह्म शुद्ध है, जगत् अशुद्ध है। इसप्रकार ब्रह्मसे जगत् अत्यन्त विलक्षण है। जगत् सुख दुःख और मोह से समन्वित त्रिगुणात्मक देखा जाता है, इसलिये इसका उपादान कारण त्रिगुणात्मक तत्त्व होना चाहिये। ब्रह्म त्रिगुणातीत है, वह इसका उपादान नहीं होसकता। ब्रह्म और जगत् की यह विलक्षणता शब्द अर्थात् शास्त्र से जानी जाती है। शास्त्रवाक्यों का उल्लेख इस सूत्र की प्रथम व्याख्या में कर दिया गया है ॥४॥

आशंका की गई–जगत् भी ब्रह्म के समान चेतन है जड़ नहीं, इसलिये यह चेतन ब्रह्म का विकार माना जाना चाहिये। जगत् की चेतनता 'मृदब्रवीत्' 'आपोऽब्रुवन्' इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट होती है। इसका समाधान अगले सूत्र से किया गया–'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्' सूत्र का अर्थ पहले के समान है ॥५॥

शंका की गई, क्या इसप्रकार का अभिमानिव्यपदेश–आलंकारिक कथन अन्यत्र कहीं देखा जाता है? समाधान किया—'दृश्यते तु' देखा तो जाता है। अन्य अनेक विषयों में इसप्रकार के कथन लोक और वेद में बराबर देखे जाते हैं। लोक में प्रयोग होता है—कूलं पिपतिषति, वृष्टिराजिगमषति' किनारा गिरना ही चाहता है, वर्षा आना ही चाहती है। जड़ किनारा या वर्षा में इच्छार्थक प्रयोग होरहा है, जो चेतन का धर्म है। इसीप्रकार शास्त्र में नदियों का मनुष्यों से संवाद,[1] नदी पर्वत अथवा समुद्र आदि जड़ पदार्थों का चेतन के समान वार्त्तालाप का वर्णन पाया जाता है।[2] यह सब आलंकारिक वर्णन है। ऐसा ही 'मृदब्रवीत्' इत्यादि वाक्यों में समझना चाहिये ॥६॥

आचार्य शंकर ने इन तीन सूत्रों के द्वारा चेतन ब्रह्म को जगत् का उपादान सिद्ध करने का प्रयास किया है। किन्हीं तत्त्वों के प्रकृतिविकारभाव में सारूप्य का होना आवश्यक है। ब्रह्म को जगत् का उपादान मानने पर इनकी परस्पर विलक्षणता को दूर करने और सरूपता को दिखलाने के लिये आचार्य ने ब्रह्म की सत्ता को जगत् में अन्वित होना स्वीकार किया है। पर आचार्य का यह कथन अपने ही मन्तव्य के प्रतिकूल है। जगत् की सत्ता को आचार्य केवल व्यावहारिक मानता है, तथा ब्रह्म की सत्ता

---

१. देखें—निरुक्त [२।२५–२७] के आधार पर ऋग्वेद [३।३३।५–१२]। तिर्यक् और व्यक्तवाक् प्राणियों का संवाद, ऋग्वेद [१०।५१; १०८; १२५; १५१]। समस्त पञ्चतन्त्र आदि कथासाहित्य इसका उदाहरण है।

२. देखें—समुद्र और सरिताओं का संवाद, महाभारत [१२।११३।१–१४]। गोरखपुर संस्करण।

को वास्तविक। तब जगत् में ब्रह्म की सत्ता अन्वित रहती है, यह कैसे माना जायगा? अन्यथा जगत् की सत्ता को भी ब्रह्म के समान वास्तविक माना जाना चाहिये। आचार्य ने चैतन्य को जगत् में स्वीकार कर उसे अविभावित [अप्रकट] बताया है। चेतन ब्रह्म जगत् का उपादान है, अपने इस मन्तव्य की पुष्टि के लिये जड़ जगत् को भी–सारूप्य दिखाने की भावना से–चेतन बताना दुस्साहस या दुराग्रह ही कहा जायगा। फिर ब्रह्म और जगत् के चेतन-अचेतनघटित वैलक्षण्य का अवसर या अवकाश ही नहीं रहता। तब बृहस्पति [–चार्वाक] ने ही क्या अपराध किया है, जो समस्त प्रकृति-विकार को केवल जड़ मानता है। इन दोनों प्रकार के मन्तव्यों में वस्तु एकमात्र है; एक आचार्य ने उसका नाम 'चेतन' रख लिया, दूसरे ने जड़। इतने मात्र से वस्तु में कोई अन्तर नहीं आता। शंकर और चार्वाक तब एक ही स्तर पर आ खड़े होते हैं। यह वस्तुविवेचन की यथार्थता का स्वरूप नहीं है।

आचार्य ने इस बात पर बड़ा बल दिया है, कि शास्त्र ब्रह्म को जगत् का उपादान बताता है। परन्तु इस विषय के जितने औपनिषद वाक्य प्रस्तुत किये जाते हैं; उन सबकी यथार्थता का विवेचन हमने उन-उन प्रसंगों में कर दिया है। जगत्कारण की दुर्बोधता या दुरूहता को प्रकट करने के लिये आचार्य ने जो वेद [ऋ० १०।१२९।६-७] और स्मृति [गीता २।२५; १०।२] आदि के प्रमाण सूत्र [२।१।६] की व्याख्या में प्रस्तुत किये हैं, उससे ब्रह्म की जगदुपादानता पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता ॥६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है यदि स्थूल-सूक्ष्म, व्यक्त-अव्यक्त आदि कार्यकारण का अवस्थावैलक्षण्य होने पर भी आगम के बल पर व्यक्त जगत् का मूलउपादान अव्यक्त प्रकृति है; तो सत् जगत् का असत् उपादान आगम के बल पर क्यों न माना जाय? वेद [ऋ० १०।७२।२] में कहा–'असतः सदजायत'। असत् से सत् होता है। छान्दोग्य [६।२।१] में बताया–'असदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत' पहले यह असत् ही रहता है एकमात्र, उस असत् से सत् होजाता है। बृहदारण्यक [१।२।१] में कहा–'नैवेह किञ्चनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्' पहले यह कुछ नहीं रहता, मृत्यु [न होने–अभाव] से ही यह आवृत होता है। अन्यत्र [बृ० १।३।२८] बताया–'असतो मा सद् गमय' असत् से सत् को मुझे प्राप्त करा। इसप्रकार के सन्दर्भों में असत् से सत् के प्रादुर्भाव होने के संकेत मिलते हैं; तब ऐसा क्यों न माना जाय? आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥७॥

[असत्] असत् [इति चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो यह) [न] नहीं, [प्रतिषेधमात्रत्वात्] प्रतिषेध–अभाव मात्र होने से। जगत् का उपादान असत् है, यदि ऐसा कहो, तो यह युक्त नहीं; क्योंकि 'असत्' पद अभावमात्र का कथन करता है।

वेद अथवा वैदिक साहित्य से जो वाक्य ऊपर उद्धृत किये गये हैं, देखना चाहिये कि उन स्थलों में 'असत्' पद का तात्पर्य क्या है ? यदि 'असत्' पद प्रतिषेधमात्र अर्थात् अभावमात्र का बोधक है, तो असत् से सत् का प्रादुर्भाव होना संभव नहीं। अभाव कभी भावरूप में परिणत नहीं होता, न भाव कभी अभाव होसकता है। 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' [गीता २।१६]। ऋग्वेद [१०।७२।२] के उक्त प्रसंग में 'असत्'पद अव्यक्त प्रकृति का निर्देश करता है। यह गत सूत्रों में स्पष्ट कर दिया गया है। छान्दोग्य [६।२।१] के प्रसंग में यह किन्हीं एकदेशी अवैदिक आचार्यों का विचार प्रस्तुत किया है। वहां स्पष्ट लिखा है–'तद्ध एके आहु' कोई ऐसा यदि कहते हैं' तो यह विचार ठीक नहीं। उपनिषद् में तत्काल आगे इसका प्रतिषेध कर दिया है—'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेत' [छा० ६।२।२] गुरु पिता आरुणि श्वेतकेतु से कहता है, हे सोम्य ! यह कैसे होसकता है, कि असत् से सत् होजाये ? अर्थात् असत् से सत् नहीं होसकता। यहां 'असत्' पद अभाव का द्योतक है। इससे स्पष्ट किया, कि अभाव कभी भावरूप में परिणत नहीं होसकता, वह सदा अभाव-मात्र है। बृहदारण्यक के प्रथम [१।२।१] प्रसंग में 'मृत्यु' पद मरणधर्मा अर्थात् परि-णामशील मूलउपादान प्रकृति का निर्देश करता है। पहले प्रलय अवस्था में यह जगत् कार्यरूप में नहीं रहता। यह परिणामशील मूलउपादान प्रकृति से [मृत्युना] आवृत रहता है, अर्थात् कारणरूप प्रकृति में अन्तर्हित रहता है। इसी अर्थ को वेद [ऋ० १०।१२९।२] में कहा—'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' प्रलय अवस्था में स्वधा–जगत् के उपादानकारण प्रकृति के साथ वह एकमात्र परब्रह्म सदा अवस्थित रहता है, कार्य जगत् अपने रूप में तब नहीं रहता। बृहदारण्यक के अगले [१।३।२८] प्रसंग में 'असत्' पद परिणामिनी प्रकृति का बोधक है। उसीके लिये इस प्रसंग में आगे 'तमस्' पद का प्रयोग है, जो प्रकृति का पर्याय है–'तमसो मा ज्योतिर्गमय' जीव परब्रह्म परमात्मा से प्रार्थना करता है, कि अपने अनुग्रह से मुझे परिणामशील प्रकृति के संपर्क से दूरकर अपरि-णामी अपने सद्रूप को प्राप्त करा। फलतः 'असत्' पद का अभाव अर्थ में प्रयोग कर अभाव से सद्रूप जगत् के प्रादुर्भाव का कथन करना सर्वथा अप्रामाणिक होगा; क्योंकि अभाव सदा 'केवल अभाव' है जिसकी स्वयं कोई सत्ता नहीं, वह सद्रूप में परिणत नहीं होसकता। इससे सद्रूप जगत्कार्य सदात्मक प्रकृति से परिणत होता है, इस मन्तव्य में किसी तरह का असामञ्जस्य नहीं है। प्रकृति आदि को नियन्त्रण करने के रूप में सच्चि-दानन्दस्वरूप परब्रह्म का अस्तित्व प्रमाणित होता है ॥७॥

अर्थ की स्पष्टता के लिये असद्वाद की स्थिति को सहारा देने की भावना से शिष्य पुनः आशंका करता है, स्थूल एवं व्यक्त जगत् जब अपने उपादान प्रकृति में लीन होता है, तब अपने स्थूल आदि धर्मों से उसे भी वैसा ही बना दे। पर क्योंकि ऐसा नहीं देखा जाता; इससे यह प्रकट होता है, कि जगत् का उपादान प्रकृति नहीं है। सूत्रकार

ने आशंका को सूत्ररूप में उपनिबद्ध किया—

अपीतौ तद्वत्प्रसंगादसमञ्जसम् ॥८॥

[अपीतौ] प्रलय में [तद्वत्] उसकी तरह [प्रसंगात्] प्रसंग से [असमञ्जसम्] असमञ्जस–अयुक्त है। प्रलय अवस्था में कार्य के कारण में लय होने पर कार्य की तरह कारण के होजाने की आपत्ति से प्रकृति को जगत् का कारण मानना अनुचित है।

इस आशंका में रहस्य यह है, कि कोई कार्य कारणरूप आधार के बिना अवस्थित नहीं रह सकता। जब कार्य की स्थूल अथवा व्यक्त अवस्था में उसके आश्रय व आधाररूप से कारण का अस्तित्व अवश्यम्भावी है, तब प्रलय में कार्य के कारण में लीन होने पर कार्यधर्मों का भी वहां अस्तित्व माना जाना चाहिये। क्योंकि पृथिवी आदि कार्यों का यह वर्त्तमान रूप प्रलयदशा में प्रकृतिरूप कारण में नहीं रहता, इससे यह प्रतीत होता है, कि जगत् और प्रकृति का परस्पर कार्य-कारणभाव नहीं है। प्रलय में कारण केवल अव्यक्त अवस्थापन्न रहता है, जबकि वहां कार्य के लय होने पर कार्यधर्म व्यक्त आदि भी होने चाहियें, यदि इनका प्रकृतिविकारभाव स्वीकार किया जाता है। क्योंकि ऐसा नहीं है, इसलिये प्रकृति को जगत् का उपादान कहना अनुचित होगा ॥८॥

सूत्रकार उक्त आशंका का समाधान करता है—

न तु दृष्टान्तभावात् ॥९॥

[न] नहीं [तु] तो [दृष्टान्तभावात्] दृष्टान्त के होने से। ऐसे दृष्टान्त–उदाहरण तो देखे जाते हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है, कि कार्यधर्मों से कारण प्रभावित नहीं होते, अतः उक्त शंका ठीक नहीं।

इस सूत्र में पहले सूत्र से 'असमञ्जसम्' पद की अनुवृत्ति है। ब्रह्माश्रित अथवा ब्रह्मप्रेरित प्रकृति जगत् का उपादानकारण है, इस वैदिक सिद्धान्त में कोई असामञ्जस्य नहीं है, क्योंकि अनेक दृष्टान्त ऐसे हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है, कि कारण में कार्य के लय होने पर कार्यधर्म कारण में प्रसक्त नहीं होते। मृत्तिका सुवर्ण आदि के अनेकानेक विकार अपने उपादानकारणरूप में पुनः आने पर कारण को उन कार्यधर्मों [विशिष्ट आकृति–बनावट आदि] से लेशमात्र भी प्रभावित नहीं करते; इस तथ्य का प्रत्येक विचारक सदा अनुभव करता है।

वेद से यह अर्थ स्पष्ट होता है। ऋग्वेद [१०।१२९।२] में कहा—'न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास' प्रलयकाल में सर्गकाल जैसी स्थिति न तो मरणधर्मा देहादि की रहती है, और न अमृत जीवात्माओं की। न उस समय दिन-रात के चिह्न सूर्य चन्द्र आदि रहते हैं। केवल एक परब्रह्म परमात्मा प्रकृति [स्वधया] के साथ सदा बना रहत है।

वह सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है, उससे पर-उत्कृष्ट कोई नहीं। इस वर्णन से स्पष्ट होता है–लय अवस्था में सूर्य चन्द्र पृथिवी आदि लोक-लोकान्तर कोई अपने [कार्य] रूप में अवस्थित नहीं रहते। प्रकृति [स्वधा] का उस अवस्था में विद्यमान रहना यह प्रकट करता है कि समस्त कार्य तब केवल अपने उपादानकारणरूप में अवस्थित रहता है। अगली ऋचा से यह अर्थ और अधिक स्पष्ट होता है—'तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्' प्रलय अवस्था में यह सब दृश्यादृश्य जगत् प्रत्येक चिह्न से रहित कारण के साथ अविभागापन्न रहता है। वह मूलकारण [तमः] अन्धकार [तमसा] से आवृत रहता है।[1] इस विवेचन से स्पष्ट होता है–प्रलयदशा में कार्य का अस्तित्व न रहकर केवल कारणतत्त्व अवस्थित रहता है। इससे मूलप्रकृति और कार्य–विश्व का प्रकृति-विकारभाव अथवा उपादानोपादेयभाव प्रमाणित होता है।

प्रस्तुत सूत्र का दृष्टान्त कथन करने में वास्तविक स्वारस्य अथवा गूढ़ अभिप्राय केवल इतना है, कि जब हम यह कहते हैं, कि कार्य का कारण में लय होता है, तो हमें इसके तात्पर्य की ओर ध्यान देना चाहिये। 'लय' का तात्पर्य यही है, कि उस अवस्था में कार्य अपनी आकृति व बनावट का परित्याग कर देता है, जो कार्य का निजी अस्तित्व हैं; तब वह केवल कारणरूप में पुनः अवस्थित होजाता है। सोचना चाहिये, जब लय में कार्यधर्म [कार्य का आकार व निजी बनावट] न रहा, तब उससे कारण के प्रभावित होने का प्रश्न नहीं उठता। यदि कार्यधर्म बना है, तो लय होना या लय का उस दशा में कथन किया जाना सर्वथा अनुपयुक्त है। फलतः प्रलयदशा में कारण कार्यधर्म से कभी प्रभावित नहीं होता, न ऐसा होना संभव है। इसलिये ब्रह्मप्रेरित प्रकृति के जगत् का उपादान होने में कोई असामञ्जस्य नहीं है ॥९॥

असद्वादी यदि इसके लिये आग्रही है, तो यह दोष उसके अपने कथन में भी उसी तरह उपस्थित होता है, यह उपालम्भ देते हुए सूत्रकार ने अभिमत अर्थ की सिद्धि में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

स्वपक्षदोषाच्च ॥१०॥

[स्वपक्ष-दोषात्] अपने पक्ष में दोष होने से [च] भी। प्रलय में कार्यधर्म कारण को प्रभावित करता है, यह कथन असद्वादी का बलपूर्ण नहीं है; क्योंकि ऐसा दोष असद्वादी के अपने पक्ष में भी आता है।

सूत्र में 'स्व' पद से असद्वादी का ग्रहण है। उसका पक्ष है–जगत् असत्-कारण से

---

१. इन ऋचाओं की विस्तृत व्याख्या के लिये देखें हमारी रचना 'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ ३५२–६०। इसी अर्थ को मनु ने प्रस्तुत किया—'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः' [१।५]।

उत्पन्न होता है। कारण असत् है, पर कार्य जगत् सत् है। जब प्रलयदशा आती है, तब सद्रूप जगत् का असत् में लय होगा। यहां कार्य जगत् का सद्रूप धर्म असत् कारण को प्रभावित करेगा, तो कारण असत् न रहकर सत् कहा जायेगा। ऐसी स्थिति में असद्वादी का मूलकथन ही निराधार रहजाता है। स्वपक्ष में उक्त दोष आने का यही तात्पर्य है। तब असद्वादी इस तथ्य को स्वीकार करेगा, कि प्रलय में कार्यधर्म से कारण प्रभावित नहीं होता। सद्रूप जगत् का कारण असत् नहीं होसकता, यह प्रमाणित किया जाचुका है। इसलिए जगत् का उपादानकारण ब्रह्माश्रित सद्रूप प्रकृति है, इसमें कोई असामञ्जस्य नहीं है। प्रलय में मूलउपादानतत्त्व स्थूलता आदि कार्यधर्मों से प्रभावित नहीं होता, यह निश्चित समझना चाहिये।

सात से दस तक सूत्रों की निम्नप्रकार व्याख्या भी की जाती है—सर्ग से पहले सब असत् था, इत्यादि उपनिषद् वाक्यों के कथन का तात्पर्य है, कि उस अवस्था में प्रकृति का अस्तित्व न था। तब उसे जगत् का उपादान कहना असंगत है। ऐसा यदि कहा जाय, तो यह कहना ठीक नहीं [असदिति चेन्न], क्योंकि सर्ग से पूर्व असत् कहने वाले वाक्यों का ऐसा तात्पर्य समझने पर उस अवस्था में न केवल प्रकृति का अपितु वस्तुमात्र का प्रतिषेध प्राप्त होगा; तब ब्रह्म का अस्तित्व भी नहीं माना जासकेगा। अभावमात्र में उन वाक्यों का तात्पर्य बताना सर्वथा अशास्त्रीय है। यह स्पष्ट किया जाचुका है, कि अभाव स्वरूप से कभी भावरूप में परिणत नहीं होसकता ॥७॥

केवल ब्रह्म को जगत् का निमित्त और उपादान मानने की स्थिति में आपत्ति कीगई–प्रलय के अवसर पर कार्य जगत् के ब्रह्म [उपादान] कारण में लय होने पर कार्य-धर्म कारण को दूषित कर देंगे; अतः ब्रह्म को उपादान कहना असमंजस–अयुक्त है ॥८॥

इस असामञ्जस्य का समाधान किया गया, ऐसे दृष्टान्त देखे जाते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है, कि कार्यधर्म लयदशा में कारण को दूषित नहीं करते। अतः ब्रह्म को जगत् का उपादान मानने में कोई असामञ्जस्य नहीं ॥९॥

अनन्तर ब्रह्मोपादानवादी प्रकृति [त्रिगुणात्मक प्रधान] को जगत् का उपादान मानने वाले को लक्ष्य कर कहता है, कि यदि ब्रह्म को उपादान मानने पर यह कहा जाता है, कि कार्यधर्म लयदशा में कारण को दूषित करेगा, तो प्रकृति को उपादान मानने पर भी यह दोष आता है; जगत् के स्थूल व्यक्त आदि धर्म प्रकृति में प्रसक्त होजाने चाहियें। पर प्रकृतिवादी ऐसा नहीं मानता, यही समाधान ब्रह्मोपादानवाद में भी किया जासकेगा ॥१०॥

उक्त सूत्रों का ऐसा अर्थ करने में मूलभूत असामञ्जस्य है। यह स्पष्ट किया जा-चुका है, कि स्थूल-सूक्ष्म एवं व्यक्त-अव्यक्त यह एक तत्त्व के केवल अवस्थाभेद हैं। दोनों अवस्थाओं में उस तत्त्व का स्वरूपभेद नहीं होता; वह तत्त्व अपने रूप का परित्याग कभी नहीं करता। परन्तु ब्रह्म को जगत् का उपादान मानने पर चेतन ब्रह्म अपने

चेतनस्वरूप का परित्याग कर जड़ जगत् के रूप में परिणत होजाता है, यह मानना होगा। ऐसा मन्तव्य सर्वथा अशास्त्रीय एवं अवैदिक है। जड़ और चेतन किसी तत्त्व के केवल अवस्थाभेद नहीं हैं, यह तो साक्षात् स्वरूप का भेद है। ऐसी दशा में प्रकृति की व्यक्त-अव्यक्त एवं स्थूल-सूक्ष्म अवस्थाओं का अतिदेश ब्रह्मोपादानता में जड़-चेतन के वैषम्य के समाधान के लिये प्रस्तुत नहीं किया जासकता। चेतन जड़ में अथवा जड़ चेतन में परिणत होजाता है, ऐसा कथन सर्वथा अप्रामाणिक है। यदि कोई ऐसा मानने का आग्रह करे, तो मानता रहे, पर यह वस्तुस्थिति नहीं है। न ऐसे मन्तव्य को शास्त्रीय अथवा वैदिक कहा जासकता है। चेतन चेतन है, जड़ जड़ है; यही सत्य है। जड़ और चेतन तत्त्व परस्पर एक दूसरे के रूप में परिणत होजाते हैं, ऐसा मानने पर केवल चेतनवादी अथवा केवल जड़वादी में कोई अन्तर नहीं रहता; दोनों एक स्तर पर आ खड़े होते हैं। सूत्रों का तात्पर्य ऐसे अर्थ के प्रतिपादन में कदापि नहीं है ॥१०॥

शिष्य आशंका करता है, गतसूत्र से असद्वादी के पक्ष में स्वपक्षदोष का उद्भावन केवल तर्कवाद है, तर्क अपने रूप में सदा अप्रतिष्ठित रहता है। अपनी बुद्धि के अनुसार कल्पना की गई युक्ति तर्क कहा जाता है। लोक में पुरुषबुद्धि की एकरूपता नहीं देखी जाती। इसप्रकार विभिन्नरूप में उत्प्रेक्षित तर्क किसी एक अर्थ के प्रतिपादन में प्रतिष्ठित नहीं होता। तब गतसूत्रद्वारा प्रदर्शित तर्क इस अर्थ का पोषक नहीं होना चाहिये, कि ब्रह्माश्रित प्रकृति जगत् का उपादान है? आचार्य सूत्रकार आशंकानिर्देश-पूर्वक तर्कस्वरूप की वास्तविकता को प्रकट करते हुए समाधान प्रस्तुत करता है—

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्ष-प्रसङ्गः ॥११॥

[तर्काप्रतिष्ठानात्] तर्क के अप्रतिष्ठान से (स्थिरता न होने से) [अपि] भी, [अन्यथा] अन्य प्रकार से [अनुमेयं] अनुमान किये जाने योग्य है (तर्क की स्थिरता), [इति चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो) [एवम्] इसप्रकार [अपि] भी [अविमोक्षप्रसंगः] छुटकारे का अवसर नहीं (तर्क की अस्थिरता के)।

तर्क की स्थिरता न होने से भी ब्रह्माश्रित प्रकृति के जगदुपादान माने जाने में कोई असामञ्जस्य नहीं। यदि प्रकारान्तर से तर्कप्रतिष्ठान का अनुमान किया जाय, तो ऐसा प्रयास भी तर्क का अस्थिरता से छुटकारा न दिलासकेगा।

'असमञ्जसं' और 'न' इन दो पदों की अनुवृत्ति पूर्वसूत्रों से समझनी चाहिये। तर्क की अस्थिरता से भी ब्रह्मप्रेरित प्रकृति के जगदुपादान होने में कोई असामञ्जस्य नहीं है; क्योंकि यह अर्थ केवल तर्क पर आश्रित नहीं है, अपितु शास्त्रद्वारा उपपादित अर्थ में यह केवल प्रसंगवश एक तर्क प्रस्तुत कर दिया गया है। शास्त्रानुमोदित तर्क की स्थिरता में कोई सन्देह नहीं किया जाना चाहिये। केवल शुष्क तर्कद्वारा

तर्क को प्रतिष्ठित नहीं किया जासकता। जो स्वयं अप्रतिष्ठित है, वह अन्य को प्रतिष्ठित कैसे करेगा? इसलिये श्रुति आदि से अनुमोदित तर्क अर्थ का साधक समझना चाहिये। उपनिषद् [बृ० ४।५।६] में कहा–'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिये, इसका उल्लेख कर उसके साधनरूप में श्रवण मनन और निदिध्यासन का विधान किया। यहां आत्म-विषयक श्रवण के अनन्तर उसके 'मनन' का विधान करते हुए उपनिषत्कार तर्क का आदर प्रकट कररहा है। मनन में तर्क अपेक्षित रहता है। आत्मदर्शन में तर्क को साधन बताकर अनुकूल तर्क की उपयोगिता को स्वीकार किया गया है।

इसीप्रकार स्मृति में शास्त्रानुकूल तर्क को उपादेय बताया है। मनुस्मृति [१२।१०५] में कहा–'प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता' प्रत्यक्ष, अनुमान और विविध आगमरूप शब्द इन तीन प्रमाणों को धर्मरहस्य समझने की इच्छा रखनेवाला पुरुष अच्छीतरह जान लेवे। यहां अनुमान की सीमा में तर्क को धर्मशुद्धि के लिये उपयोगी बताया गया है। आगे शास्त्रानुकूल तर्क की उपयोगिता को स्पष्ट कहा–'आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्केणानु-सन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः' [मनु० १२।१०६]। वेदोपदेश और उसके अनुसार धर्मोपदेश का जो व्यक्ति वेदशास्त्र के अनुकूल तर्कद्वारा अनुसन्धान–विवेचन करता है, वह धर्म को ठीक समझता है अन्य नहीं। इसप्रकार तर्क की प्रतिष्ठा का अनुमान किया जा-सकता है [–अन्यथाऽनुमेयम्]। ऐसे तर्क के आधार पर समस्त लौकिक वैदिक व्यवहार सिद्ध होते हैं। अतः तर्क की प्रतिष्ठा को चुनौती नहीं दीजानी चाहिये। ऐसा तर्क प्रकृति के जगदुपादानकारण होने में सहयोग नहीं देता, इसलिये यह मन्तव्य असमञ्जस ही समझना चाहिये।

सूत्रकार ने कहा–'इति चेत्, एवमपि अविमोक्षप्रसंगः' ऐसा यदि कहा जाय, तो भी तर्कमात्र का अप्रतिष्ठा से छुटकारे का अवसर नहीं। अभिप्राय यह है, कि जिस प्रकार तर्क की प्रतिष्ठा को प्रकट किया गया है, उससे समस्त तर्क को प्रतिष्ठित नहीं माना जासकता। शास्त्रानुकूल तर्क ही अर्थ का निर्णायक होता है, तर्कमात्र नहीं। जो तर्क विना प्रामाणिक आधार के केवल अपनी बुद्धि के अनुसार कल्पना किया जाता है, वह शुष्क तर्क अर्थ का निर्णायक नहीं होता। 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' मानवमात्र की विचारधारा में समानता संभव नहीं। एक के कथन का दूसरा प्रतिषेध करता है, और उसका अन्य। इसलिये केवल शुष्क निराधार तर्क के बल पर अर्थनिर्णय नहींहोता। ब्रह्मप्रेरित प्रकृति जगत् का उपदानकारण है, इस तथ्य को अनेक वैदिक प्रमाणों के आधार पर यथावसर सुपुष्ट किया जाचुका है। उसीके अनुसार गतसूत्र में असद्वाद को लक्ष्य कर प्रतिबन्धी तर्कद्वारा यह स्पष्ट किया गया, कि कार्यधर्मों से प्रलय में कारणतत्त्व प्रभावित नहीं होता। असद्वादी भी इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकता।

'नैषा तर्केण मतिरापनेया' [कठ० २।९] इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में तर्क को उपेक्षित समझने की जो भावना प्रकट कीगई है, वह शास्त्रविरोधी शुष्क तर्क को लक्ष्य करती है। शास्त्रानुकूल तर्क का तो अर्थनिश्चय के लिये सहयोग देने में वरण किया जाता है। निरुक्तकार यास्क ने इस विषय में लिखा है–'मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यति? इति। ते तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्' [निरु० १३।१२] मनुष्यों ने साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों की परम्परा टूट जाने पर देवों से कहा–अब हम में ऋषि कौन होगा? देवों ने मनुष्यों के लिये यह तर्क ऋषि प्रस्तुत किया। वेदानुकूल सत्तर्क के द्वारा तत्त्वविषयक गम्भीर गुत्थियों को सुलझाया जा-सकता है। उचित ऊहापूर्वक जो तत्त्वविषयक बोध होता है, वह आर्षज्ञान ही समझना चाहिये। इसप्रकार ऋषियों ने श्रेष्ठ तर्क को उपेक्षित न मानकर उसके महत्त्व को स्वीकार किया है। असद्वाद के प्रतिषेध के लिये उपस्थापित तर्क के विषय में अप्रतिष्ठा दोष की जो उद्भावना की गई है, वह इसीलिये निराधार है, कि उक्त तर्क शास्त्रानुकूल होने से शुष्कतर्क न होकर अर्थ के निश्चय में सहायक है।

इस प्रकरण में यह सिद्ध किया गया, कि स्वरूप से विलक्षण होने के कारण शुद्ध चेतन ब्रह्म जड़ जगत् का उपादानकारण नहीं होसकता। स्वरूपसाम्य से त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति जड़ जगत् का उपादानकारण है। कार्यकारण का अवस्थाभेद [स्थूल-सूक्ष्म, व्यक्त-अव्यक्त आदि] उनके स्वरूप वैलक्षण्य का उपपादक नहीं होता। मध्यकालिक भाष्यकारों ने कार्यकारण के वैलक्षण्य के जो दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं, उनमें कोई भी स्वरूपवैलक्षण्य को प्रकट नहीं करता, वे सब दृष्टान्त कार्यकारण के अवस्थाभेद के द्योतक हैं। उनके आधार पर चेतन ब्रह्म का जड़ जगत् के रूप में परिणाम मानना सर्वथा अप्रामाणिक है। चेतन और जड़ यह तत्त्वों का स्वरूपभेद है, अवस्थाभेद नहीं। सुवर्ण मृत्तिका आदि के विकार सुवर्ण आदि के अवस्थाभेदमात्र हैं। सुवर्ण और सुवर्णविकार में मूलतत्त्व के स्वरूप का कोई भेद नहीं होता।

गोमय [गोबर] का विकार वृश्चिक [बिच्छू] को कहना अपने आपको धोखा देना है। सोचना यह है, कि वृश्चिक में गोमय का विकार वह देह है, अथवा वह चेतना भी, जो देह में अवस्थित है? यदि केवल देह विकार है, तो वैलक्षण्य का यह दृष्टान्त नहीं होसकता। यदि चेतना भी गोमय का विकार है, तो कार्यकारण की विलक्षणता को बतलाने के लिये यह दृष्टान्त देने वाले आचार्य जड़ से चेतन का परिणाम स्वीकार कर लेते हैं। तब इन आचार्यों के और चार्वाक [बार्हस्पत्य] के मत में क्या अन्तर रहजाता है? यहां ये दोनों आचार्य एक स्तर पर खड़े दिखाई देते हैं। कार्यकारण के वैलक्षण्य में आचार्य शंकर जैसे व्यक्ति ने यह दृष्टान्त दिया है, यह आश्चर्य है ॥११॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, भगवन्! असद्वाद के समान ऐसे अन्य विचारों के विषय में क्या समझना चाहिये? सूत्रकार आचार्य ने अतिदेशद्वारा बताया—

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥१२॥

[एतेन] इससे [शिष्टापरिग्रहाः] शिष्टों द्वारा स्वीकार न किये हुए [अपि] भी [व्याख्याताः] व्याख्यात समझने चाहियें। इस असद्वादनिराकरण से उन विचारों का भी निराकरण समझ लेना चाहिये, जिनको शिष्ट विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया।

व्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि ने शिष्ट की परिभाषा इसप्रकार की है– 'एतस्मिन्नार्यावर्त्ते निवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद्विद्यायाः पारङ्गतास्तत्रभवन्तः शिष्टाः' [पा० सू० ६।३।१०९] जो ब्राह्मण इस आर्यावर्त्त देश में निवास करते हैं, जिनके पास धान्यसंपत्ति एक घड़ा या एक कुठारी से अधिक नहीं, जिनमें लालच का लेशमात्र नहीं, जो केवल अर्थलाभ, पूजा, अपनी प्रतिष्ठा और लोकख्याति के कारण सदाचार का अनुष्ठान नहीं करते, प्रत्युत अपना कर्त्तव्य समझकर करते हैं, गुरुओं के उपदेश तथा विशेष अध्ययनाभ्यास आदि के विना केवल तपोबल भगवत्प्रसाद एवं गुरुओं के संकेतमात्र से जो समस्त विद्याओं के पारंगत हैं, ऐसे पूजनीय आदरणीय महानुभाव 'शिष्ट' कहे जाते हैं।

मनुस्मृति [१२।१०९] में शिष्ट की परिभाषा की गई—

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः॥

ब्रह्मचर्यादिव्रतधर्मपूर्वक जिन्होंने अङ्ग उपाङ्गसहित वेदों का ज्ञान प्राप्त किया है, तथा अध्ययनपूर्वक वेदों की यथार्थ व्याख्या करने में सक्षम हैं, ऐसे ब्रह्मज्ञानी 'शिष्ट' कहे जाते हैं। ये महानुभाव तत्त्वों के साक्षात्कृतधर्मा होते हैं। ऐसे शिष्टों के द्वारा जो तत्त्वविषयक विचार स्वीकार्य नहीं हैं, उन सबको असद्वाद के निराकरण के समान निराकृत समझना चाहिये। उनके निराकरण के लिये अतिरिक्त व्याख्यान की अपेक्षा नहीं है। केवल चेतनकारणवाद, केवल अचेतनकारणवाद, आकस्मिकवाद आदि सब इसी कोटि में आते हैं।

मध्यकालिक भाष्यकारों ने प्रधानकारणवाद के निराकरण का अतिदेश इस सूत्र में अणु आदि कारणवाद का निराकरण करने के लिये माना है। परन्तु ब्रह्मप्रेरित त्रिगुणात्मक प्रधान जगत् का उपादानकारण है, इस तथ्य का निर्देश वेद, वैदिक साहित्य–उपनिषद् आदि तथा अन्य समस्त पुराण इतिहास स्मृति आयुर्वेद आदि भारतीय साहित्य में विस्तार के साथ उपलब्ध होता है[1]। भाष्यकारों द्वारा उक्त सूत्रों से इस तथ्य के निराकरण का उद्भावन करना समस्त साहित्य पर चौका लगाना है। प्रधानवादनिराकरण से अण्वादि कारण के निराकरण का कथन करना अज्ञान का

१. इसके लिये देखें हमारी रचना–सांख्यसिद्धान्त का चतुर्थ तथा पञ्चम अध्याय।

द्योतक है। ये वाद मूलतः न परस्पर विरोधी हैं, और न इनका वैदिक मत से विरोध है। दर्शनों के सृष्टिविषयक विचार एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। इस भावना का प्रस्तुत भाष्य के प्रारम्भ में निर्देश किया गया है। महर्षि कणाद ने सृष्टिविज्ञान की जिज्ञासा रखने वाले प्रारम्भिक अधिकारियों के लिये सांख्यप्रतिपादित 'विशेष' नामक तत्त्वों को मूल मानकर अपने शास्त्र का प्रवचन किया। इसी आधार पर उस शास्त्र का नाम 'वैशेषिक' हुआ। सांख्य में आगे मूलतत्त्वपर्यन्त समस्त सृष्टिविज्ञान का उपपादन हुआ है। इसमें विरोध को कहीं अवकाश नहीं है[1]। इसलिये ब्रह्मसूत्रों के मध्यकालिक भाष्यकारों ने प्रधानकारणवाद एवं परमाणुकारणवाद में परस्पर विरोध की जिस भावना को उभारा है, वह सर्वथा निराधार है। उस भावना की छाया में प्रकृत सूत्रों की व्याख्या करना सचाई से मुंह मोड़ना है ॥१२॥

ब्रह्मप्रेरित अथवा ब्रह्मनियन्त्रित प्रकृति जगत् का उपादानकारण है, यह सिद्धान्त पुष्ट किया गया। इसका सहारा लेकर शिष्य आशंका करता है–(१) 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' [तै० २।६] तथा 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति' [छा० ६।३।२] इत्यादि उपनिषद् वाक्यों के आधार पर प्रतीत होता है, कि सृष्टिरचना के अनन्तर ब्रह्म स्वयं जीवात्म-रूप से संसार में प्रविष्ट होजाता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म को भोक्ता माना जाना चाहिये। तब 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' [ऋ० १।१६४।२० तथा श्वे० ४।६] इत्यादि सन्दर्भों में जीव और ब्रह्म के यथाक्रम भोक्ता एवं अभोक्ता बताये जाने का भेद अथवा विभाग नहीं रहता। (२) तथा इन्हीं उपनिषद् वाक्यों एवं ऐसे अन्य वाक्यों–'तदात्मानं स्वयमकुरुत' [तै० २।७] आदि के आधार पर यह भी प्रतीत होता है, कि ब्रह्म जगत् के रूप में स्वयं परिणत होजाता है; तब चेतन भोक्ता है और जड़ भोग्य है, यह भोक्ता एवं भोग्य का विभाग भी नहीं रहना चाहिये ? (३) यदि प्रकृति से अतिरिक्त जीव और ब्रह्म को परस्पर पृथक् भी माना जाता है, तब भी ब्रह्म में भोक्तृभाव की आपत्ति होने से भोक्ता और अभोक्ता का विभाग नहीं रहता; क्योंकि ब्रह्म के सर्वव्यापक होने से जहां जीवात्मा का सम्बन्ध शरीर इन्द्रिय आदि से है, वहां ब्रह्म का भी सम्बन्ध है, ऐसी स्थिति को 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' [कठ० १।३।४] इत्यादि सन्दर्भ में भोक्ता का स्वरूप बताया गया है। कठ उपनिषद् में अन्यत्र [१।२।२५] परब्रह्म का ओदन [भोग्य] ब्रह्म तथा क्षत्र को बताया है, और मृत्यु उसका उपसेचन [घी] है–'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसे-चनम्'। इससे ब्रह्म के भोक्ता सिद्ध होने पर भोक्ता और अभोक्ता का उक्त विभाग नहीं

१. इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिये देखें हमारी रचना 'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ १७१–७६, तथा १९८ ['अव्यक्त से व्यक्त जगत्' शीर्षक से]–२०४।

रहता ? इसका क्या समाधान होना चाहिये ? आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ॥१३॥

[भोक्त्रापत्तेः] भोक्ता होने की प्राप्ति से [अविभागः] विभाग नहीं रहेगा, [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहा जाय, तो) [स्यात्] होवे (विभाग) [लोकवत्] लोक में जैसे । उक्त स्थिति में भोक्ता-अभोक्ता एवं भोक्ता-भोग्य का विभाग न रहेगा, ऐसी आशंका होनेपर लोक में देखे जाने के समान इसका समाधान समझ लेना चाहिये ।

शिष्य द्वारा प्रस्तुत कीगई आशंका में तीन भावना हैं, जैसा ऊपर प्रकट किया गया । सूत्रकार ने सबका समाधान एक पदद्वारा निर्दिष्ट लौकिक दृष्टान्तों के आधार पर प्रस्तुत कर दिया है । यथाक्रम उनका निरूपण किया जाता है ।

(१) पहली आशंका इस कारण निराधार है, कि उक्त उपनिषद् वाक्यों का तात्पर्य अन्यथा समझ लिया गया है । यह अर्थ उन वाक्यों से स्पष्ट होजाता है, कि जीवात्मा अन्य तत्त्व है, जगत्स्रष्टा ब्रह्म अन्य । ऐसा माने जाने पर ही उपनिषत्कार के द्वारा स्रष्टा के मुख से 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' कहलाया जाना संगत होसकता है । स्रष्टा स्वयं 'अनेन जीवेन' कहकर जीवात्मा को अपने आप से भिन्न होना स्पष्ट कर रहा है । उक्त वाक्यों का तात्पर्य केवल यह बताने में है, कि परब्रह्म परमात्मा अन्तर्यामी होकर इस जगत् का निर्माण व नियन्त्रण करता है । वह प्रत्येक तत्त्व में सदा सर्वथा प्रविष्ट है, व्याप्त है । उसका ऐसा प्रवेश कभी संभव नहीं, कि वह पहले वहां न रहा हो और सर्ग के अनन्तर वहां आया हो । ऐसा मानने पर ब्रह्म का सर्वान्तिर्यामी स्वरूप ही नष्ट होजाता है । लोक में ऐसा कहीं नहीं देखा जाता, कि सर्वव्यापक तत्त्व पहले कहीं न रहा हो, और बाद में वहां प्रवेश करे । इसलिये यह समझना संगत नहीं, कि सर्वव्यापक सर्वान्तिर्यामी ब्रह्म सर्ग की रचना के अनन्तर उसमें प्रवेश करता है, और पहले वहां न हो । इस मान्यता के अनुसार भोक्ता-अभोक्ता का विभाग बना रहता है । सर्वव्यापक ब्रह्म तत्त्वमात्र में सदा विद्यमान है, व्याप्त है, वह अभोक्ता है, सर्गरचना के अनन्तर भोक्तारूप से देहादि में जीवात्मा का अनुप्रवेश होता है ।[1]

(२) दूसरी आशंका इसलिये निराधार है, कि लोक में भोक्ता तथा भोग्य का विभाग अत्यन्त स्पष्ट है । देवदत्त भोक्ता और ओदन आदि पदार्थ भोग्य हैं । इसीप्रकार लोक में यह भी स्पष्ट है, कि कोई चेतन कर्त्ता कभी जड़ कार्य के रूप में परिणत होता नहीं देखा जाता । यदि चेतन जड़ और जड़ चेतन होजाता हो, तो यह संभव है, कि

---

१. इसका विस्तृत विवेचन हमारी रचना 'सांख्यसिद्धान्त' के पृ० ४६–५० तथा २१३–२१८ में द्रष्टव्य है ।

चेतन ब्रह्म जड़ जगत् के रूप में परिणत होजाय । पर ऐसा कोई दृष्टान्त लोक में उपलब्ध नहीं होता । इसलिये चेतन-अचेतन समस्त विश्व का ब्रह्म को उपादान बताकर प्रकृति की लोक तथा शास्त्र से अनुमोदित उपादानता को शिथिल कहना सर्वथा असंगत है । चेतन का कभी जड़ परिणाम नहीं होता, और चेतन स्वयं कभी किसी का परिणाम नहीं होता; इसलिये ब्रह्म को चेतन-अचेतन का उपादान बताना निराधार है। ऐसी स्थिति में भोक्ता और भोग्य के विभाग में कोई अन्तर नहीं आता, भोक्ता चेतन सदा चेतन है, और भोग्य जड़ सदा जड़ । सूत्रकार ने इस विचार का प्रत्याख्यान आगे [ब्र० सू० २।२।३३] स्वयं किया है ।

(३) तीसरी आशंका का भी अवकाश नहीं रहता, जब हम वास्तविकता की ओर दृष्टि डालते हैं । लोक में यह देखा जाता है, कि जहां ईंधन जलरहा है, वहां आकाश भी है, पर वह जलता नहीं है, कारण यह है कि वह दाह्य द्रव्य नहीं है । जीवात्मा के निवास-स्थान में ब्रह्म का अस्तित्व है, पर वह धर्म-अधर्म एवं पुण्य-अपुण्य से रहित है । जीवात्मा का भोक्ता होना स्वकृत शुभाशुभ कर्मों पर आधारित होता है; ब्रह्म में वह नहीं है, इसलिये उसका भोक्ता होना संभव नहीं । ब्रह्म-क्षत्र को ओदन और मृत्यु को उपसेचन [घी] कहना प्रलय और भूतों के जन्म-मरण की ओर संकेत करता है । ब्रह्म इनका नियन्ता व व्यवस्थापक है, इस भावना से औपचारिक व आलंकारिक रूप में यह वर्णन है । इससे ब्रह्म का भोक्ता होना प्रमाणित नहीं होता । इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिये यह दृष्टान्त उपयुक्त प्रतीत होता है—चिकित्सालय में रोगी व्यक्ति जाता है और अरोग भी । चिकित्सालय से सम्बन्ध दोनों का है, पर औषध लेना चीरा कराना आदि चिकित्सा का सम्बन्ध केवल रोगी व्यक्ति के साथ होता है; नीरोग व्यक्ति तो वहां द्रष्टामात्ररूप में उपस्थित रहता है । इसीप्रकार ब्रह्म का देहादि के साथ सम्बन्ध होने पर भी शुभाशुभ कर्मों के अभाव में वह भोक्ता नहीं होसकता । उक्त आशंकाओं का समाधान कर सूत्रकार ने ब्रह्माश्रित प्रकृति की उपादानता को सुदृढ़ किया ।

'तदात्मानं स्वयमकुरुत' [तै० २।७] इस उपनिषद् वाक्य या इस जैसे अन्य वाक्यों का यह तात्पर्य कदापि नहीं है, कि ब्रह्म अपने आपको स्वयं बनाता है, और वह कोई बननेवाला तत्त्व है । इसका केवल इतना तात्पर्य है, कि उसका अन्य कोई कर्त्ता नहीं है, वही सबका रचयिता है । वह स्वयम्भू नित्य अविनाशी तत्त्व है । यदि किन्हीं व्याख्याकारों ने उक्त वाक्यों का वास्तविकरूप में यह अर्थ समझा है, कि ब्रह्म अपने आपको स्वयं बना लेता है, और वह कोई बननेवाला तत्त्व है, तो वस्तुतः यह अर्थ का अनर्थ किया गया है । ब्रह्मतत्त्व की वास्तविकता इस रूप में कदापि नहीं है ।

भोक्ता-अभोक्ता अथवा भोक्ता-भोग्य विभाग की उत्पत्ति के लिये जलरूप समुद्र के फेन तरंग बुद्बुद आदि विकारों का एक दूसरे के रूप में परिवर्त्तन दिखाकर इस आधार पर आचार्यों ने जो यह सिद्ध करने का प्रयास किया है, कि भोक्ता चेतन भोग्य

जड़रूप में तथा भोग्य जड़ भोक्ता चेतनरूप में परस्पर परिवर्त्तित होते रहते हैं, और इसप्रकार ब्रह्म जगद्रूप में और जगत् ब्रह्मरूप में परिणत होजाते हैं; यह सर्वथा विषम दृष्टान्त है। समुद्रजल तथा उसके विकार फेन तरंग बुद्बुद आदि में परस्पर न तो भोक्तृ-भोग्यभाव है और न उनकी स्थिति चेतन-जड़रूप है, ऐसा दृष्टान्त भोक्ता-भोग्य के परिवर्त्तन की पुष्टि के लिये कैसे संगत कहा जासकता है ? ऐसे अनुपयुक्त असंबद्ध दृष्टान्तों की आंधी उठाकर वास्तविकता को धूमिल करने का आचार्यों का प्रयास अभिनन्दनीय नहीं कहा जासकता। फलतः ब्रह्मनियन्त्रित प्रकृति की उपादानता में किसी बाधा की आशंका नहीं कीजानी चाहिये। यह स्थिति परब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करती है, जो वेदान्तसूत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है ॥१३॥

पृथिवी सूर्य चन्द्र नक्षत्र आदि समस्त जगत् प्रकृति का परिणाम है, यह समझकर शिष्य जिज्ञासा करता है–उत्पत्ति के पहले यह जगत् अपने उपादानकारण प्रकृति से भिन्न रहता है, अथवा अभिन्न ? यदि भिन्न रहता है, तो प्रकृति इसका उपादान है, यह मानना व्यर्थ है, यदि अभिन्न रहता है, तो प्रकृति के सदा रहने से पृथिवी आदि कार्य विद्यमान होगा, फिर उसके उत्पाद के लिये चेतन ब्रह्म को स्वीकार करना और उसकी प्रेरणा से प्रकृति का जगद्रूप में परिणाम मानना अनावश्यक है। ऐसी दशा में ब्रह्मस्वरूप को समझने का जो आधार बताया, वही खिसक जाता है। शिष्य की जिज्ञासा के रहस्य को समझ सूत्रकार ने कार्यकारण की स्थिति को स्पष्ट करने की भावना से समाधान किया—

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥१४॥

[तदनन्यत्वं] उससे अनन्य–अभिन्न होता है [आरम्भणशब्दादिभ्यः] आरम्भण शब्द आदि से। पृथिवी आदि जगत् सर्ग से पहले अपने उपादान प्रकृति से अभिन्न रहता है; यह बात शास्त्र के आरम्भणशब्द आदि से जानी जाती है।

शिष्य की जिज्ञासा में रहस्य यह है–यदि कार्य अपने प्रादुर्भाव से पूर्व कारण में विद्यमान है, तब उसके लिये प्रयत्न आदि कारणव्यापार व्यर्थ हैं। विद्यमान वस्तु को पुनः विद्यमानरूप में लाने का प्रयास करना बुद्धिमत्ता नहीं। यदि कार्य कारण में अविद्यमान है, प्रयत्न आदि साधनों द्वारा उसे विद्यमानरूप में लाया जाता है, तो इसका तात्पर्य है–असत् का सद्रूप में आना, यदि यह बात स्थिर होजाती है और असत् का परिणाम सद्रूप जगत् माना जाता है, तो जगत् के उपादान प्रकृति तथा उसके प्रेरयिता व नियन्ता ब्रह्म का अस्तित्व अनावश्यक होजाता है। इस सबको दृष्टिगत करते हुए सूत्रकार ने कार्यकारण की स्थिति को तथा प्रादुर्भाव से पूर्व कार्यस्वरूप को स्पष्ट करने के लिये प्रस्तुत सूत्र कहा।

सूत्र में 'तत्' पद प्रकृति का बोधक है। पृथिवी आदि कार्य अपने प्रादुर्भाव के

पूर्व प्रकृति से अनन्य हैं, उससे अन्य–भिन्न नहीं, अर्थात् प्रकृतिरूप हैं। इसका तात्पर्य हुआ–पृथिवी आदि कार्य उस दशा में कारणरूप से विद्यमान रहते हैं। कारण का स्वरूप अव्यक्त है, तब ये अव्यक्त अवस्था में हैं, यह निश्चय होता है। अव्यक्त [मूल उपादान प्रकृति] जब परिणत होता है, यह उसकी व्यक्त अवस्था है, यही कार्य है। इसमें वस्तु का सद्भाव अथवा स्वरूप बराबर बना रहता है, जो परिवर्त्तित प्रतीत होता है, वह केवल अवस्था है। मट्टी घड़ा या शकोरा के रूप में परिवर्त्तित कीजाती है, घड़ा या शकोरा में मट्टी की वस्तुसत्ता बराबर बनी रहती है। ये परिणाम मट्टी से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। घड़ा या शकोरा की जो बनावट है, यद्यपि वह मट्टी में बराबर रहती है, पर प्रयत्न आदि से पूर्व वह अनभिव्यक्त [अप्रकट] है, उसको प्रकट करने के लिये कारणव्यापार अपेक्षित होता है। यह 'प्रकट होना' अस्थायी तत्त्व है। जब यह पुनः अप्रकट होता है, तब वह केवल कारणअवस्था है। इसप्रकार मूल वस्तुसत्ता स्वरूप का कभी परित्याग नहीं करती। फलतः जो जगत् अब कार्य अथवा अभिव्यक्तरूप जाना जाता है, उसका सर्वथा पूर्वरूप मूलकारणरूप है, अतः कार्यरूप में आने से पहले यह कार्य कारणरूप से विद्यमान रहता है, यह निश्चय होता है। इससे स्पष्ट होजाता है, कि कार्य अपने प्रादुर्भाव से पूर्व न तो अत्यन्त असत् रहता है और न अत्यन्त सत्। यही कहा जासकता है, कि वह तब अभिव्यक्त अवस्था में न रहकर अव्यक्त अवस्था में रहता है। सूत्र के 'तदनन्यत्वं' पदों का यही तात्पर्य है।

यह तथ्य छान्दोग्य के प्रसंग से प्रमाणित होता है, जहां कहा–'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' [छा० ६।१।४] प्रत्येक विकार वाणी के द्वारा व्यवहार्यमात्र है, अर्थात् अस्थायी है; मृत्तिका–कारणतत्त्व सत्य है, स्थायी है, नित्य है। यहां वाणीमात्र से विकार का आरम्भण–अस्तित्व बताकर उसकी अस्थायिता को स्पष्ट किया है, जो यह प्रकट करता है, कि कारण ही कार्यरूप में परिणत हुआ है, अर्थात् कार्य का मूल पूर्वरूप कारण है, इसप्रकार प्रादुर्भाव से पूर्व कार्य का कारणरूप में अवस्थित रहना प्रमाणित होता है। छान्दोग्य में अन्यत्र [३।१६।१] कहा–'असदेवेदमग्र आसीत्, तत् सदासीत्' यह कार्य जगत् प्रादुर्भाव से पहले अव्यक्त [असत्] ही रहता है, अर्थात् कारणरूप में विद्यमान रहता है, वह सत् होजाता है, कार्यरूप में अभिव्यक्त होजाता है।

सूत्र में 'आदि' पद इस अर्थ के बोधक अन्य औपनिषद प्रसंग का संग्राहक है। बृहदारण्यक उपनिषद् [१।४।७] में कहा–'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' निश्चय से यह जगत् उस अवस्था में [सर्गकाल से पूर्व] अव्याकृत–अव्यक्त रहता है, वह नाम व रूप से अभिव्यक्त किया जाता है। मट्टी का परिणाम घट है, घट उसका' नाम' है, और वह आकृति-विशेष उसका 'रूप' है। मट्टी-कारण का इस अवस्था में आना उसकी अभिव्यक्त दशा है, जब यह नाम-रूप नहीं रहता, फिर वही

केवल कारणअवस्था है। ऐसी ही स्थिति पृथिवी आदि विकार और मूलकारण की समझनी चाहिये। प्रकरणानुसार अनेकत्र 'असत्' पद अव्यक्त मूलकारण का बोधक है, इसका ध्यान रखना आवश्यक है। सूत्रकार ने प्रादुर्भाव से पूर्व कार्य की कारणात्मना स्थिति बताकर सत्कार्यवाद के स्वरूप को स्पष्ट किया है ॥१४॥

प्रादुर्भाव से पूर्व कार्य कारणरूप में विद्यमान रहता है, इस अर्थ की पुष्टि के लिये सूत्रकार अन्य हेतु का निर्देश करता है—

भावे चोपलब्धेः ॥१५॥

[भावे] होने पर [च] ही [उपलब्धेः] उपलब्धि से। कारण के होने पर ही कार्य की उपलब्धि से यह जाना जाता है, कि कार्य कारण से अनन्य–अभिन्न रहता है।

कार्य और कारण में एक नियम देखा जाता है, किसी विशिष्ट कारण से कार्य-विशेष का प्रादुर्भाव होता है, कारणवस्तुमात्र से कार्यमात्र का प्रादुर्भाव सम्भव नहीं। मट्टी से घड़ा और धागों से कपड़ा बनता देखा जाता है। मट्टी से कपड़ा तथा धागों से घड़ा नहीं प्रकट होता। इस नियम अथवा व्यवस्था से यह निश्चय होता है, कि कपड़े का पूर्वरूप [कारणरूप] धागा और घड़े का पूर्वरूप मट्टी है। तात्पर्य यह, कि कपड़ा धागों में तथा घड़ा मट्टी में छिपे हुए हैं, अथवा कारणरूप में वहां विद्यमान हैं। यदि वहां इनकी असत्ता माना जाती है, तो घड़े की असत्ता जैसे मट्टी में है वैसे धागों में है। इसीप्रकार कपड़े की असत्ता जैसे धागों में है वैसे मट्टी में हैं; तब घड़े और कपड़े का समानरूप से सब जगह असद्भाव होने पर यदि घड़ा मट्टी से निकाला जासकता है, तो धागों से भी निकाला जासके; कपड़ा धागों में से निकाला जाता है, तो मट्टी में से भी निकाला जासके, पर यह सम्भव नहीं। मट्टी के होते ही घड़े की उपलब्धि होती है, और धागों के होने पर ही कपड़े की। इससे यह निश्चय होता है, कि कपड़ा धागों में और घड़ा मट्टी में अपना अस्तित्व रखते हैं, तभी उनके होने पर इनकी उपलब्धि सम्भव है। इससे कार्य का कारण में विद्यमान रहना, कार्य-कारण का अभेद अथवा सत्कार्य सिद्धान्त प्रमाणित होता है।

सूत्र का 'भावाच्चोपलब्धेः' पाठान्तर देखा जाता है, अर्थ पूर्वानुसार होगा–कारण में कार्य की उपलब्धि के होने से। कारण के अस्तित्व में कार्य की उपलब्धि–प्रादुर्भाव सम्भव है। अथवा अर्थ होगा–न केवल शब्दप्रमाण से कार्य-कारण का अभेद सिद्ध है, अपितु प्रत्यक्ष से भी देखा जाता है, कि घड़ा मट्टी का एक आकारविशेष है। कपड़ा धागों का ताना-बाना है, इसप्रकार घड़ा मट्टी का और कपड़ा धागों का ही एक रूप है। इनका यह अभेद प्रत्यक्षसिद्ध है। कार्य-कारण के अभेदप्रसंग में कारण केवल उपादान ग्राह्य है अन्य नहीं। इससे समस्त जड़ जगत् प्रकृति का विकार है, यह मूलसिद्धान्त सर्वप्रकार प्रमाणित होता है ॥१५॥

इसी विषय में सूत्रकार प्रकारान्तर से अन्य हेतु उपस्थित करता है—

सत्त्वाच्चावरस्य ।।१६।।

[सत्त्वात्] विद्यमान होने से [च] भी [अवरस्य] अवर के–कार्य के; अथवा सत्त्वकथन से भी कार्य के। कार्य के कारण में विद्यमान होने से भी, अथवा शास्त्र में कार्य के कारण में सत्त्वकथन से भी कार्य-कारण की अनन्यता अवगत होती है।

सूत्र में 'अवर' पद कार्य का बोधक है, क्योंकि कारण पहले विद्यमान रहता है, कार्य बाद में प्रकट होता है। कार्य का कारण में सत्त्व है विद्यमानता है, यह निश्चित है। यदि ऐसा न हो, तो वस्तुमात्र से कार्यमात्र का प्रादुर्भाव होना चाहिये, तब बालू को भी तेल में परिणत किया जासके, और पानी को दही में। इससे निश्चित होता है, जो कार्य जहां से प्रादुर्भूत होरहा है, वहां उसका सत्त्व अवश्यम्भावी है।

अथवा उत्पत्ति से पूर्व यह जगत् कारणरूप से सत्–विद्यमान रहता है, शास्त्र में इसका साक्षात् निर्देश है–'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' [छा० ६।२।१] उत्पत्ति से पूर्व यह जगत् सत्कारणात्मक रहता है, अर्थात् कारणरूप से विद्यमान रहता है। यदि कार्य कारण से अनन्य न हो, तो उसका कारणरूप से रहने का निर्देश संगत न होगा।

कहा जासकता है, कि छान्दोग्य [६।२।१] के उक्त वाक्य के समान तैत्तिरीय उपनिषद् [१।१] में सर्ग से पहले एकमात्र आत्मा का अस्तित्व बताया है, और जगत् का उसके साथ अभेद कहा है–'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किञ्चन मिषत्'। 'आत्मा' पद यहां ब्रह्म का बोधक है, जगत् का ब्रह्म के साथ अभेद क्यों बताया गया, जब ब्रह्म जगत् का केवल निमित्तकारण है; कार्य का अभेद तो उपादान के साथ बताया जाना चाहिये ?

वास्तविकता यह है, कि ब्रह्म सर्वव्यापक तथा अनादि है। उसका अस्तित्व सर्ग से पहले निश्चितरूप में बना रहता है। यह समस्त विश्व तो उसके एक अंशमात्र में अवस्थित है–'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः' [यजु० ३१।४]। सारा जगत् ब्रह्मतत्त्व की अपेक्षा अत्यल्प है। 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति' [छा० ७।२३।१], 'यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्' [छा० ७।२४।१] वह भूमा ब्रह्म आनन्दरूप है, अल्प–जगत्तत्त्व परिणामी है। इस भावना के साथ ब्रह्म की विशिष्ट स्थिति को प्रकट करने के लिये तैत्तिरीय का कथन है, अन्य तत्त्व का निषेध वहां नहीं है। इसीलिये साथ में कहा–'नान्यत् किञ्चन मिषत्' अन्य कुछ तब गतिशील नहीं रहता, कारण [उपादान] तत्त्व निष्क्रिय पड़ा रहता है। यह कथन प्रकट करता है, कि तब उपादान तत्त्व प्रधान [प्रकृति] कारण अवस्था में विद्यमान रहता है चेतन ब्रह्म और जड़ जगत् का अभेद होना सम्भव नहीं। इससे जड़ उपादानप्रकृति तथा कार्यजगत् का अभेद प्रमाणित होता है ।।१६।।

शिष्य आशंका करता है, सर्ग से पहले कार्य के कारणरूप में सत्त्व का जैसे शास्त्र में निर्देश है, ऐसे कार्य के असत्त्व का निर्देश है–'असदेवेदमग्र आसीत्' [छा० ३।१६।१] सर्ग से पहले यह [कार्य] असत् ही रहता है। इसका क्या निर्णय होना चाहिये ? आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥१७॥

[असद्-व्यपदेशात्] असत् के कथन से [न] नहीं, [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो वह) [न] नहीं, [धर्मान्तरेण] दूसरे धर्म के द्वारा [वाक्यशेषात्] वाक्यशेष से। शास्त्र में असत्त्व का कथन होने से सर्ग के पूर्व कार्य नहीं रहता, ऐसा यदि कहा जाय, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि वह दूसरे धर्मद्वारा कथन किया गया है, यह बात वाक्यशेष –अगलेवाक्य से जानी जाती है।

अपने प्रादुर्भाव से पहले कार्य असद्रूप रहता है, यह उपनिषद् [छा० ३।१६।१] में कहा–'असदेवेदमग्र आसीत्'। असत् का तात्पर्य है अभाव; जब उत्पत्ति से पूर्व कार्य अभावरूप है, तो उसका भावरूप कारण के साथ अभेद नहीं कहा जासकता। भाव और अभाव विरोधी हैं, ये एकरूप कैसे होसकते हैं ? तब इस उपनिषद् वाक्य के अनुसार अपने प्रादुर्भाव से पूर्व कार्य का कारणरूप से विद्यमान रहना अथवा कार्य का उस अवस्था में कारण से अभेद कहना संगत प्रतीत नहीं होता।

सूत्रकार ने समाधान किया, उपनिषद् [छा० ३।१६।१] में वर्त्तमान कार्य जगत् को सर्ग से पूर्व जो असत् कहा है, उसका तात्पर्य कार्य को अभावरूप बताने का नहीं है, प्रत्युत उसके अन्य धर्म अव्याकृतनामरूप को बताने का है। कार्य का वर्त्तमान स्वरूप 'व्यक्त' है, व्याकृत है प्रकटरूप है; यह रूप सर्ग से पूर्व नहीं होता, यही तात्पर्य 'असत्' कहने का है। कार्य की दो अवस्था होती हैं–एक व्याकृतनामरूप अवस्था, दूसरी अव्याकृत-नामरूप अवस्था। सर्ग से पूर्व व्याकृतनामरूप अवस्था नहीं रहती, इसीका 'असत्' पद से व्यपदेश है। यह अवस्था उस समय न रहकर अव्याकृतनामरूप अवस्था रहती है। यह कार्य का धर्मान्तर से व्यपदेश हुआ। इस तथ्य का निर्णय वाक्यशेष अर्थात् अगले वाक्य से होजाता है। उपनिषद् [छा० ३।१६।१] में आगे वाक्य है–'तत्सदासीत्' वह कार्य 'सत्' रहता है। तात्पर्य यह, कि प्रादुर्भाव से पूर्व भी कार्य 'सत्' है, अर्थात् कारण-रूप में विद्यमान रहता है। यदि कार्य तब अभावरूप होता, तो अगले वाक्य में उसे भावरूप [सत्] नहीं कहा जासकता था। इसलिये उपनिषद् के पहले वाक्य में 'असत्' पद का अर्थ 'अभाव' नहीं समझना चाहिये; इसका तात्पर्य अव्याकृतनामरूप अवस्था को बतलाने में है।

छान्दोग्य उपनिषद् में अन्यत्र [६।२।१-२] 'असत्' पद का 'अभाव' अर्थ समझने की भावना का निराकरण करते हुए 'अभाव' से 'भाव' की उत्पत्ति का निषेध उपलब्ध

होता है। वहां बताया–'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, तस्मादसतः सज्जायत ।।१।। कुतस्तु खलु सोम्य ! एवं स्यादिति होवाच, कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्य ! इदमग्र आसीत्'। कोई कहते हैं–यह पहले असत् ही रहता है एकमात्र, उस असत् [अभाव] से सत् [भाव] उत्पन्न होजाता है ।।१।। हे सोम्य ! इसप्रकार कैसे होसकता है ? असत् से सत् कैसे हो ? इसलिये हे सोम्य ! यह सब पहले 'सत्' ही तो रहता है। यह प्रसंग स्पष्ट करता है, कि सत् कारण ही सत् कार्यरूप में परिणत हुआ करता है। फलतः सर्ग से पूर्व कार्य का कारणरूप में विद्यमान रहना अर्थात् कार्य का कारण से अभेद प्रमाणित होता है।

इस प्रसंग में तैत्तिरीय उपनिषद् [२।७] का 'असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत' सन्दर्भ भी विचारणीय है। यह ब्रह्मवल्ली नामक द्वितीय अध्याय 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' वाक्य से प्रारम्भ होता है। ब्रह्मज्ञान के लिये उसका स्वरूप यहां बताया–'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ब्रह्म नित्य है, चेतनस्वरूप है, सर्वव्यापक व सर्वान्तर्यामी है। यह वाक्य ब्रह्म को जगत् का नियन्ता अधिष्ठाता प्रकट करता है। सातवें अनुवाक के प्रारम्भ में इस भावना से कहा, कि यह जगत् सर्ग से पहले अव्याकृतनामरूप [असत्] अवस्था में रहता है, अनन्तर व्याकृतनामरूप [सत्] होता है। इसको अव्याकृत से व्याकृत अवस्था में लानेवाला कौन है ? स्पष्ट ही इसका उत्तर है–ब्रह्म। तब स्वभावतः प्रश्न होता है–प्रलय में अव्याकृत अवस्था से व्याकृत अवस्था में जगत् को लानेवाला ब्रह्म है, तो ब्रह्म को इसके लिये कौन प्रस्तुत करता है ? इसका उत्तर उपनिषद् [तै० २।७] में दिया–'तदात्मानं स्वयमकुरुत' वह अपने आपको स्वयं बनालेता है, अर्थात् उसको इस कार्य के लिये प्रस्तुत करनेवाला अन्य कोई तत्त्व नहीं है, वह स्वयम्भू चेतनस्वरूप है। पर उपादानतत्त्व जड़ होने से स्वयं व्याकृत अवस्था को प्राप्त नहीं करसकता। चेतन सर्वज्ञ एवं सर्वान्तर्यामी होने से किसीका प्रेर्य नहीं होता। फलत. यहां भी 'असत्' और 'सत्' पदों का प्रयोग 'अभाव' और 'भाव' अर्थ को प्रकट नहीं करता, प्रत्युत जगत् की कारण [उपादानभूत] और कार्य अवस्था का बोधक है।

इन अर्थों में उक्त पदों का प्रयोग असामञ्जस्यपूर्ण नहीं है। व्यक्त कार्यमात्र के लिये 'सत्' पद का प्रयोग लोक में बराबर देखा जाता है और वह प्रामाणिक है; तब उसकी 'अव्यक्त' अवस्था के लिये 'असत्' पद का प्रयोग सर्वथा उपयुक्त है। 'अभाव' स्वभावतः न भावरूप में परिणत होसकता है, न ऐसा किया जासकता है; अन्यथा ब्रह्म का अस्तित्व भी उपेक्षित होजायगा। ब्रह्मस्वरूप को बोधन कराने के लिये अधिकृत शास्त्र उसकी उपेक्षा में निरर्थक होजायगा। इसीलिये सूत्रकार ने बताया, कि उपनिषद् के उक्त प्रसंगों में 'असत्' से 'सत्' होने का क्या तात्पर्य है ।।१७।।

पूर्वोक्त अर्थ को पुष्ट करने के लिये सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥१८॥

[युक्तेः] युक्ति से [शब्दान्तरात्] शब्दान्तर से [च] और। पूर्वोक्त अर्थ युक्ति से और शब्दान्तर से सिद्ध होता है।

किसी तत्त्व की कारण अवस्था में वहां कार्य उस रूप से विद्यमान है, अर्थात् कार्य का कारण से अभेद है, इस तथ्य का बोध युक्ति से होता है। युक्ति का अभिप्राय है-योजना। जब कोई व्यक्ति वस्त्र का उत्पादन करना चाहता है, तो वह उसके उपादान-तत्त्वों के रूप में कपास या सूत का संग्रह करता है, मट्टी आदि अन्य पदार्थों का नहीं। इससे निश्चित होता है, कि वह इस यथार्थता को समझता है, कि वस्त्र का प्रादुर्भाव इसीमें से होसकता है, अन्यत्र से नहीं। इससे सूत में वस्त्र की सत्ता का अवधारण होता है। इसीप्रकार घड़े के प्रादुर्भाव के लिये मट्टी उपादान का संग्रह होता है, अन्य सूत आदि का नहीं। यह योजना इस बात को प्रमाणित करती हैं, कि वस्त्र की सत्ता उत्पत्ति से पूर्व सूत-तन्तुओं में विद्यमान है और घड़े की मट्टी में। अन्यथा उनके प्रादुर्भाव के लिये उन्हीं नियत उपादानों का संग्रह करना निरर्थक होता। यह युक्ति-योजना कार्य के कारण में अभेद को पुष्ट करती है।

इसके अतिरिक्त शब्दान्तर से अर्थात् अन्य सांख्य आदि शास्त्रों से सत्कार्यवाद पुष्ट होता है। सांख्य में अनेक प्रमाणों से इस अर्थ को सिद्ध किया गया है।[1] अथवा अन्य शब्द से उपनिषद् के अन्य प्रसंग से यह अर्थ पुष्ट होता है। छान्दोग्य उपनिषद् [६।२।१-२] में इसका स्पष्ट रूप से विवेचन है। इसकी व्याख्या गतसूत्र के भाष्य में करदी गई है ॥१८॥

उक्त अर्थ को पुष्ट करने के लिये सूत्रकार इस विषय में कतिपय उदाहरण प्रस्तुत करता है। उसके लिये पहला सूत्र कहा-

पटवच्च ॥१९॥

[पटवत्] पट के समान [च] और। जैसे पट-वस्त्र तन्तुओं के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं दीखता, ऐसा कार्यमात्र में समझना चाहिये।

वस्त्र उत्पत्ति से पहले अपने कारण तन्तुओं से भिन्न नहीं होता, वस्त्र बन जाने पर वे ही तन्तु वहां दृष्टिगोचर होते हैं, जो वस्त्र बनने से पहले थे। जो तन्तु अभी तक

---

१. इसके लिये देखें-सांख्यसूत्र, १।७९-८५। यह सूत्रसंख्या हमारे भाष्यसंस्करण के अनुसार है। इसमें ३५ जोड़कर किसी भी अन्य संस्करण में इस प्रसंग को देखा जासकता है। महर्षि गौतम ने न्यायसूत्र में 'बुद्धिसिद्धन्तु तदसत्' [न्या० द० ४।१।५०] सूत्र कहकर सत्कार्यवाद को एकरूप में स्वीकार किया है।

गुच्छियां या गोलों के रूप में थे, वे अब ताने-बाने के रूप में व्यवस्थित कर दिये गये हैं, तन्तुओं की यह एक विशेष अवस्था है, यह वस्त्र है, यह अपने कारण तन्तुओं से अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह वस्त्र और तन्तु की अभिन्नता स्पष्टरूप से देखी जाती है। इसीप्रकार मट्टी का लौंदा या गोला विशेष आकृतियों—स्थितियों को प्राप्त कर घड़ा, मटका, शकोरा करवा आदि नामों से व्यवहृत होता है। यह मट्टी की विशेष अवस्थामात्र हैं, मट्टी के अतिरिक्त वहां अन्य कुछ नहीं। इसीके अनुसार कार्यमात्र का अपने कारण से अभेद समझना चाहिये।

अथवा वस्त्र की तै करके रखने पर उसकी लम्बाई-चौड़ाई का पता नहीं लगता, तै खोलकर फैला देने पर उसका पता लग जाता है। वस्त्र की यह दो अवस्थामात्र हैं, वस्त्र का वहां कोई अन्तर नहीं रहता। यही अवस्था सूत्र और वस्त्र में समझनी चाहिये। जब सूत्र विशेष ताने-बाने की अवस्था में नहीं है, तब वह कारणरूप है, वही ताने-बाने की अवस्था में वस्त्र कहा जाता है। तन्तुओं की वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। इसलिये वस्त्र कार्य तन्तुरूप कारण से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं, वह तन्तुओं की एक अवस्थामात्र है।

यहां ऐसी शंका करना व्यर्थ है, कि यदि वस्त्र तन्तुओं से अभिन्न है, तो जो प्रयोजन वस्त्र से सम्पन्न होता है, वह तन्तुओं से होजाना चाहिये? कारण यह है, कि प्रत्येक वस्तु अपनी विशिष्ट अवस्था में किसी विशेष प्रयोजन को सम्पन्न किया करती है। जो प्रयोजन तन्तुओं से वस्त्र अवस्था में पूरा होता है, वह अन्य अवस्था में क्यों होगा? फिर जिस प्रयोजन को हम वस्त्र से सम्पन्न होना समझते हैं, वह तन्तुओं से ही तो हो-रहा है, तन्तु ही वस्त्ररूप में विद्यमान हैं। क्या वस्त्रअवस्था में तन्तु कहीं चले जाते हैं? स्पष्ट है, कि वह कार्य तन्तुओं से ही सम्पन्न होरहा है। उस सम्पन्नता के लिये तन्तुओं की विशेष अवस्था अपेक्षित है, जिसे सिद्ध कर लिया गया है ॥१६॥

सूत्रकार ने उक्त विषय में अन्य उदाहरण प्रस्तुत किया—

यथा च प्राणादि ॥२०॥

[यथा] जैसे [च] और [प्राणादि] प्राण आदि। और जैसे प्राण अपान व्यान आदि पृथक् व्यवहृत होते हुए एक वायुरूप हैं, ऐसे ही समस्त कार्य कारणरूप हैं।

देह में प्राण अपान व्यान समान उदान ये पांच प्राण अपने व्यापार में रत हैं। ये अपने कारण मुख्य प्राण से भिन्न नहीं हैं, जो वायुविशेषरूप है। यह मुख्यप्राण ही पांच प्रकार से विभक्त होकर देह का अवधारण करता है, इस तथ्य का प्रश्न उपनिषद् [२।३] में वर्णन है—'अहमेवैतत् पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामि' उपनिषत्कार मुख्य [वरिष्ठ] प्राण से कहलवा रहा है—मैं ही यह पांच प्रकार से अपने आपको विभक्त कर इस देह को टिकाये रखता हूं। इससे स्पष्ट है कि उपनिषद् के अनुसार प्राण अपान

आदि मुख्यप्राण के कार्य होते हुए उसका स्वरूप हैं। इससे कार्यमात्र अपने कारण से अभिन्न रहता है, एवं प्रादुर्भाव से पूर्व समस्त विश्व अपने उपादानकारण प्रकृतिरूप है, यह प्रमाणित होता है। मुख्य प्राण के पांच प्राणादिरूप में प्रविभाग के समान मूल-उपादान प्रकृति पृथिवी आदि जगत् के रूप में अनेक प्रकार से प्रविभक्त–परिणत कीजाकर प्राणिमात्र के भोग एवं अपवर्ग के लिए प्रस्तुत रहती है।

अथवा देह में पांच प्राण हैं जो वायुरूप हैं। जब योगी प्राणायाम–योगाङ्ग का अनुष्ठान करता है, तब इनका निरोध होजाता है, पर मुख्यप्राण जीवन को बनाये रखने में समर्थ रहता है; उस अवस्था में देहांगों के आकुञ्चन प्रसारण आदि कार्य नहीं होपाते, जो कार्य प्राण अपान आदि का व्यापार है, तब प्राण अपान आदि का पता नहीं लगता। निश्चित ही तब भी वायुरूप सूक्ष्म प्राण देह में विद्यमान रहता है, इसीसे देह अवस्थित रहता है। यह स्थिति स्पष्ट करती है, कि कार्यरूप प्राण के निरोध होने पर भी सूक्ष्म कारणरूप प्राण देह में अवस्थित रहता है, तभी देह टिक पाता है। इससे कार्य का कारण के साथ अभेद प्रकट होता है। प्राणायाम द्वारा प्रस्तुत निरोध की स्थिति न रहने पर देहांगों के आकुञ्चन प्रसारण आदि व्यापार पुनः प्रवृत्त होजाते हैं। इस आधार पर कार्य का कारण से अभेद सिद्ध होता है। इसप्रकार यह जगत् उत्पत्ति से पूर्व असत् न रहकर अपने उपादानकारणरूप से विद्यमान रहता है, यह निश्चित समझना चाहिये।

जगत् का उपादानकारण प्रकृति जड़ तत्त्व है, चेतन की प्रेरणा के विना यह जगद्रूप में परिणत नहीं होता। वह चेतनतत्त्व ब्रह्म है, सर्वव्यापक और सर्वान्तिर्यामी। अनन्त विश्व में उसकी श्रेष्ठता वरिष्ठता निश्चित है। उसका जानलेना प्राणिजीवन का मुख्य लक्ष्य है, उसके जानलेने पर सब कुछ जानलिया जाता है, क्योंकि उस अवस्था में अन्य कोई वस्तु अज्ञात नहीं रहती, ज्ञान का यह सर्वोच्च स्तर है। अन्य सबका ज्ञान इससे पूर्व होजाना अनिवार्य है अथवा अनपेक्षित है। इस प्रसंग से उपनिषद्वर्णित वह प्रतिज्ञा [छा० ६।१।२-३] पूरी होजाती है, कि उस आदेश [ब्रह्मतत्त्व] के जान-लेने पर सब जानलिया जाता है ॥२०॥

शिष्य कहता है, यह ठीक है कि जगत् के उपादानकारण प्रकृति को लक्ष्य कर प्रस्तुत किया गया तर्कनिमित्तक विरोध कोई नहीं। परन्तु प्रकृति ब्रह्मप्रेरित हो जगद्रूप में परिणत होती है, इसलिये जगत् का स्रष्टा ब्रह्म इसका निमित्तकारण है। यहां जिज्ञासा है, कि उपनिषद् के कतिपय सन्दर्भों में ऐसे संकेत हैं, जिनसे प्रतीत होता है, कि सृष्टि की रचना कर ब्रह्म स्वयं जीवात्मरूप से इसमें प्रवेश करता और इसे भोगता है। यह बात शास्त्रसिद्ध है, कि जगद्रचना जीवात्मा के भोग-अपवर्ग की सिद्धि के लिए है। यदि ब्रह्म ही जीवरूप में आकर इसका भोक्ता है, तो वह अपने हित की भावना से इसकी रचना करे तथा अहित की कोई स्थिति यहां न होने देवे। पर संसार में हित न होकर अहित अधिक देखा जाता है, इससे प्रतीत होता है, कि या तो ब्रह्म जगत् का

स्रष्टा नहीं है, अथवा वही जीवात्मरूप में आकर भोक्ता नहीं होना चाहिए। अपने लिये कोई अहित की कल्पना भी नहीं करता। इस आशंकामूलक जिज्ञासा को आचार्य सूत्रकार ने अर्थ की गहराई तक समझाने की भावना से स्वयं सूत्रबद्ध किया—

इतरव्यपदेशाद् हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥२१॥

[इतर-व्यपदेशात्] अन्य के रूप में कथन से [हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः] हित न करने आदि दोष की प्राप्ति होती है। ब्रह्म के अन्य–जीवात्म-रूप में कथन से ब्रह्म-द्वारा जगत् की रचना में अपने लिये हित न करने तथा 'आदि' पद से अहित करने का दोष प्राप्त होता है।

यह मानलेने पर कि ब्रह्म जगत् का स्रष्टा है, शिष्य जिज्ञासा की भावना से इसमें आपत्ति प्रस्तुत करता है। इस आपत्ति का आधार है उपनिषद् के वे संकेत, जिनसे यह आभास मिलता है, कि संसार में जीवात्मरूप से आया ब्रह्म ही इसका भोक्ता है। तैत्तिरीय उपनिषद् [२।६] में कहा–'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' वह जगत् की रचना करके उसीमें अनुप्रवेश करता है। छान्दोग्य [६।३।२] में कहा–'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति' इस जीव आत्मा के साथ अनुप्रविष्ट होकर नाम-रूप को विस्तृत करूं। श्वेताश्वतर उपनिषद् [४।३] में बताया–'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः' वह ब्रह्म जीवरूप होकर स्त्री-पुरुष, कुमार-कुमारी बाल युवा वृद्ध आदि अवस्थाओं में आता एवं विश्वरूप होकर रहता है। इन सन्दर्भों से प्रतीत होता है, कि ब्रह्म स्वयं इस संसार में जीवात्मरूप से उपस्थित होकर भोक्ता बना हुआ है।

यदि यह ठीक है, तो जगद्रचना के समय ब्रह्म हित से भरे जगत् को बनाये, अहितकर कुछ न हो। पर संसार की रचना ऐसी है नहीं। ब्रह्मद्वारा जगत् की इसप्रकार की रचना में हित का न करना और अहित का करना रूप दोष ब्रह्म में प्राप्त होता है। इससे दो परिणाम सामने आते है–१. या तो वह जगत् का स्रष्टा नहीं है, २. अथवा स्वयं जीवात्मरूप से भोक्ता बनकर संसार में उपस्थित नहीं होता। शिष्य की जिज्ञासा में भावना यह है, कि इन दोनों बातों का इकट्ठा होना सम्भव नहीं। या तो ब्रह्म जगत् का स्रष्टा नहीं होगा, अन्यथा हिताकरण आदि दोषों से वह छुटकारा नहीं पासकता। या फिर यह मानना होगा, कि वह स्वयं जीवात्मरूप से संसार में उपस्थित होकर भोक्ता नहीं बनता। इन दोनों में से कोई एक बात सम्भव होसकती है। शिष्य इसका निर्णय चाहता है ॥२१॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त जिज्ञासा के आधारभूत भ्रम का निराकरण किया—

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥२२॥

[अधिकं] अलग अथवा महान [तु] तो है [भेदनिर्देशात्] भेद के निर्देश– दिखाये जाने से। ब्रह्म जीवात्मा से अलग है अथवा महान है, क्योंकि शास्त्र में इनका भेद बतलाया गया है।

उक्त जिज्ञासा का आधार यह आशंका अथवा भ्रम है, कि ब्रह्म स्वयं जीवात्म-रूप से इस संसार में भोक्ता होकर उपस्थित होता है। सूत्रकार ने इस आधार का ही निराकरण कर दिया। ब्रह्म स्वयं भोक्ता नहीं है; भोक्ता जीवात्मा अलग तत्त्व है और जगत्स्रष्टा ब्रह्म अलग है। जीव अल्पज्ञ अल्पशक्ति परिच्छिन्न चेतनतत्त्व है तथा ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्ति सर्वान्तर्यामी चेतनतत्त्व है। ये दोनों कभी एक नहीं, इनका भेद वास्त-विक है आपातिक नहीं। शास्त्र में अनेक प्रकार से इनके भेद का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद [१।१६४।२०] में बताया–'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाक-शीति' जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों में से अन्यतर जीवात्मा संसार में स्वादु फलों को भोगता है, तथा दूसरा परमात्मा न भोगता हुआ सदा प्रकाशित रहता है।

इसीके अनुसार मुण्डक उपनिषद् [३।१।२] में कहा–'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-ऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः' एक प्रकृतिरूप वृक्ष में यह पुरुष निमग्न है, ब्रह्म प्रकृति में अन्तर्यामीरूप से व्याप्त है, उसी प्रकृति से यह पुरुष–जीवात्मा देहादि प्राप्त कर हृदयदेश में निवास करता है। यह अनीश–अल्पशक्ति होने से मोह–अज्ञान से आवृत हुआ दुःखी होता है। जब अपने से भिन्न [अन्यं] ऐश्वर्यशाली [ईशं] सर्वान्तिर्यामी परब्रह्म परमात्मा को देखलेता है, साक्षात् करलेता है, उसकी महिमा को समझलेता है, तब शोकरहित होजाता है। ठीक यही वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद् [४।७] में उपलब्ध होता है। वहीं अन्यत्र [श्वे० १।६] जीवात्मा और प्रकृति के प्रेरिता परमात्मा को स्पष्टरूप से पृथक् कहा है–'पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति' जीवात्मा अपने आपको और प्रेरिता–परमात्मा को पृथक् समझकर उसका साक्षात्कार कर उसके सम्पर्क में आता है, तब अमृत–मोक्ष को पाजाता है। इसीप्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्यामी ब्राह्मण [३।७।२२] में जीवात्मा से भिन्न ब्रह्म का स्पष्ट उल्लेख किया है–'यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरः' जो आत्मा में अन्तर्यामीरूप से रहता हुआ आत्मा से भिन्न है। ऐसे शतशः प्रमाण जीवात्मा और ब्रह्म के भेद का निर्देश करते हैं। इससे स्पष्ट होता है, कि संसार में भोक्तारूप से उपस्थित केवल जीवात्मा है। ब्रह्म उससे सर्वथा भिन्न है, जो जगत् का स्रष्टा है। इसलिये हिताकरण आदि किसी दोष की प्राप्ति ब्रह्म में सम्भव नहीं।

इस विषय को थोड़ा और गहराई से विचारा जाय, तो यह स्पष्ट होजाता है, कि दयालु परब्रह्म परमात्मा ने जीवों के कल्याण के लिये अनन्त वैभव व ऐश्वर्यों से

सम्पन्न इस संसार का सर्जन किया है। जीवात्मा के द्वारा इन विभूतियों का दुरुपयोग उसके दुःख का कारण होता है। स्पष्ट है, कि जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार दुःख उठाता है, और उनको ब्रह्म पर आरोपित करता है, कि उसने हमारे लिये यह दुःख दिया है। संसार सर्वतोभावेन जीवात्मा के केवल कल्याण के लिये बनाया गया है। उसके कल्याण का रूप भोग और अपवर्ग हैं। संसार के विना इनका पाना असम्भव है। इसलिये संसार की रचना में ब्रह्म पर हित के न करने और अहित के करने का दोष लगाना सर्वथा निराधार है। जीवात्मा अपनी खुराफ़ात की ओर नहीं देखना चाहता, यही अज्ञान है, मोह है।

फलतः ब्रह्म जीवात्मा से भिन्न है, वह स्वयं संसार में जीवात्मरूप से भोक्ता बनकर नहीं आता, यह निश्चित होजाने पर जगत् के जन्म आदि का निमित्तकारण ब्रह्म है–इस विषय में किसीप्रकार की आशंका का अवकाश नहीं रहता।

उपनिषदों के जो सन्दर्भ इस भाव को प्रकट करने के लिये प्रस्तुत किये गये हैं, कि ब्रह्म स्वयं जीवात्मरूप से भोक्ता बनकर संसार में आता है; उन सन्दर्भों में कहीं ऐसा भाव नहीं है। तैत्तिरीय उपनिषद् [२।६] के वाक्य का केवल इतना तात्पर्य है, कि जगत् की रचना कर ब्रह्म उसीमें अन्तर्यामीरूप से व्याप्त रहता है। प्रवेश का कदापि यहां ऐसा भाव नहीं है, कि वह पहले वहां न हो, और बाद में प्रविष्ट हुआ हो। ऐसा मानकर ब्रह्म के स्वरूप को ही उच्छिन्न करदेना है। यहां जीवात्मा का किसीप्रकार का कोई उल्लेख नहीं। छान्दोग्य [६।३।२] के वाक्य से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न है। उपनिषत्कार अर्थप्रतिपादन की विशिष्ट रीति का आश्रय ले ब्रह्मद्वारा यह कहलवा रहा है, कि–मैं इस जीवात्मा के साथ अनुप्रविष्ट होकर नाम-रूप को विस्तृत करूं, अथवा कर रहा हूं। यहां 'अनेन जीवेनात्मना' इन पदों से स्पष्ट है, कि जीवात्मा ब्रह्म से अतिरिक्त तत्त्व है, जिसकी ओर वह 'अनेन' कहकर संकेत कर रहा है। यहां 'अनुप्रविश्य' पद भी ध्यान देने योग्य है। देहादिरूप प्राकृत जगत् में मुख्य प्रवेश जीवात्मा का है। वह सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित हो देह में प्रवेश कर हृदयदेश में निवास करता है, अवसर आने पर कालान्तर में देखपाता है, कि परब्रह्म परमात्मा तो यहीं बैठा है; यद्यपि परमात्मा नित्य सर्वान्तर्यामी होने से सदा सर्वत्र विद्यमान है, पर जीवात्माद्वारा हृदयदेश में उसका साक्षात्कार कभी होता है, इस भावना से उसका 'अनुप्रवेश' कहा गया है। अन्यथा वह तो सदा सर्वत्र विद्यमान रहता नाम-रूप का विस्तार किया करता है। परब्रह्म के सदा सर्वत्र विद्यमान रहने पर अनन्तर देहादिदेश में जीवात्मा के प्रवेश को अनुप्रवेश कहा जाय, तो भी कोई आपत्ति नहीं। इससे भी दोनों का भेद स्पष्ट होजाता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् [४।३] के वाक्य में जीवात्मा का वर्णन है। अथवा परमात्मा सबका आश्रय है, इस भावना को प्रकट करने में उसका तात्पर्य है। फिर स्त्री-पुरुष आदि दैहिक धर्म हैं, चेतनतत्त्व स्वरूप से कभी उन धर्मों का भागी

नहीं होता। सर्वव्यापक ब्रह्म के लिये तो ऐसा सम्भव ही नहीं। फलतः ब्रह्म के जगज्जन्मादिकारण में कोई दोष नहीं है ॥२२॥

शिष्य आशंका करता है, ब्रह्म और जीवात्मा में सर्वज्ञता और अल्पज्ञता आदि भेद रहो, पर दोनों का चेतनरूप समानधर्म होने के कारण जीवात्मा प्रयत्न करने पर ब्रह्म होजायगा। आचार्य ने समाधान किया—

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥२३॥

[अश्मादिवत्] पत्थर आदि के समान [च] और [तदनुपपत्तिः] जीवात्मा का ब्रह्मरूप होना अनुपपन्न–अयुक्त है। जैसे सत्ता सामान्यधर्म होने पर पत्थर पृथिवी सूर्य चांद आदि प्राकृत पदार्थ ब्रह्मरूप अथवा एकरूप नहीं हैं, ऐसे ही चैतन्य समानधर्म होने पर जीवात्मा का ब्रह्मरूप होना अनुपपन्न है।

विभिन्न पदार्थों में किसी एक धर्म के समान होने से उन पदार्थों का एक होना संभव नहीं होता। साधारण पत्थर अनेक प्रकार की अन्य मणि तथा हीरा आदि सब पृथिवी में पाये जाते हैं, इतनी समानता से इनको एक नहीं माना जाता। हीरा आदि अति मूल्यवान होते हैं, अन्य अनेक मणियां मध्यस्तर के मूल्य की रहती हैं, साधारण पत्थर कुत्ता कौआ को उड़ानेमात्र के काम में आते हैं। इन सब में पार्थिव समानधर्म है, पर इन्हें एक नहीं कहा जासकता, न एक साधारण पत्थर कभी हीरा बनता है। इसी-प्रकार चैतन्य समानधर्म होने पर जीवात्मा का ब्रह्मरूप होना अनुपपन्न है, यह किसी-तरह प्रमाणित नहीं होता। यद्यपि 'ज्ञ' [चेतन] दोनों हैं, पर एक के साथ 'सर्व' और दूसरे के साथ 'अल्प' सदा लगा रहता है। जीवात्मा कितना भी प्रयत्न करने पर सर्वज्ञ सर्वशक्ति सर्वान्तिर्यामी जगत्स्रष्टा कभी नहीं होता। वह संसार में देहादियोग से कर्मानुसार फलों को भोगता और अपवर्ग के लिये प्रयास किया करता है; यह स्थिति उसके ब्रह्मरूप न होने को स्पष्ट करती है।

कहा जाता है, कि उपनिषदों में ऐसे संकेत मिलते हैं, जिनसे जीवात्मा का ब्रह्मरूप होना प्रकट होता है। ईशावास्य उपनिषद् [१६] में कहा–'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि' जो वह पुरुष है, वह मैं हूं। छान्दोग्य [६।८।७] में बताया–'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'। हे श्वेतकेतो ! वह आत्मा तुम हो। इनमें जीवात्मा को ब्रह्मरूप बताया गया प्रतीत होता है।

इन प्रसंगों पर यदि गम्भीरता से दृष्टिपात किया जाय, तो ये सन्दर्भ स्वयं जीवात्मा और ब्रह्म की एकता को चुनौती देते प्रतीत होते हैं। पहला वाक्य एक प्रार्थना-सन्दर्भ है। प्रार्थयिता जीवात्मा है और प्रार्थ्य परमात्मा, दोनों एक कैसे ? जीवात्मा प्रार्थना करता है–हे रक्षक ! एकमात्र साक्षी ! सबके नियन्ता ! जगत्स्रष्टा ! समस्त प्रजाओं के पति ! तुम्हारा यह सूत्रजाल फैलता और सिकुड़ता रहता है। जो तुम्हारा

कल्याणमय तेजोरूप–चेतनरूप है, वह मैं हूं। विकास-संकोचशील सूत्रजाल यह प्राकृत विस्तार–संहार है[१]; तुम उससे अतिरिक्त हो; तुम्हारे उस कल्याणरूप को मैंने पहचान लिया है। वैसा ही मैं उस सूत्रजाल से अतिरिक्त चेतनतत्त्व हूं। यहां प्रकृति से अतिरिक्त जीवात्मा के चेतनस्वरूप का उद्बोधन कराया गया है, जीवात्मा को ब्रह्मरूप नहीं कहा गया। अन्यथा प्रार्थना का स्वरूप ही नहीं बनसकता।

द्वितीय सन्दर्भ के समस्त छान्दोग्यप्रसंग में श्वेतकेतु को प्राकृत जगत् से अतिरिक्त चेतन जीवात्मतत्त्व बताया गया है। इस अर्थ के प्रतिपादन के लिये समस्त प्रकरण में यह वाक्य पाया जाता है–'स य एषोऽणिमा, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं, स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो' जो यह सूक्ष्म है, यह सब जगत् उस आत्मा के लिये है, वह सत्य है अपरिणामी है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतु ! तू वह है। इस प्रसंग में श्वेतकेतु के सन्मुख आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये यह बतलाया, कि स्थूल-सूक्ष्मशरीर इन्द्रियां तथा अन्य जागतिक पदार्थ आत्मा के लिये साधनमात्र हैं, ये उसके साध्य लक्ष्य या ध्येय नहीं। इनकी रचना अचेतनरूप है त्रिगुणात्मक है; पर आत्मा चेतन एवं गुणातीत है, तुम वही आत्मा हो। जिस सुन्दर सुडौल बलिष्ठ शरीर पर तुम्हें इतना गर्व है,[२] उतना ही श्वेतकेतु नहीं है। इस प्रसंग के ग्यारहवें खण्ड में चेतन-अचेतन के विभेद का स्पष्ट वर्णन है और अचेतन से अतिरिक्त चेतन आत्मा के अस्तित्व को स्थापित किया गया है। श्वेतकेतु को यही समझाने का प्रयास है। उसने प्राकृत जगत् से परे आत्मा को समझा, और उसके बहाने से इस मार्ग पर जाने वाले प्रत्येक जिज्ञासु ने। छान्दोग्य के इस प्रसंग का यही तात्पर्य है, यहां जीवात्मा को ब्रह्मरूप बताने की कोई भावना नहीं है।

जीवात्मा और ब्रह्म के अतिरिक्त होने पर यह प्रमाणित है, कि ब्रह्म जीवात्माओं के भोग-अपवर्गरूप हित की सिद्धि के लिये जगत् की रचना किया करता है; तब ब्रह्म में हित का न करना और अहित का करना दोष प्राप्त नहीं होता। संसार में जीवात्माओं को दुःख द्वेष आदि की प्राप्ति उनके अपने कर्मों का फल है। संसार की समस्त विभूतियां परमात्मा ने जीवात्माओं के लिये प्रदान की हैं, उनके अच्छे बुरे उपयोग में जीवात्मा स्वतन्त्र है; उसका दोष ब्रह्म पर क्यों ? फलतः ब्रह्म जगत् के जन्मादि का कारण है, इसमें तर्कनिमित्तक कोई बाधा नहीं रहती ॥२३॥

शिष्य आशंका करता है, लोक में प्रत्येक निर्माता उपादानतत्त्व के अतिरिक्त अन्य अनेक साधनवस्तुओं का निर्माण के लिये संग्रह करता है; उन साधनों के बिना

१. 'तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्' [ऋ० १२।१२९।५]।

२. इस भावना के लिये देखें—छान्दोग्य के छठे अध्याय का प्रारम्भिक भाग—श्वेतकेतुर्ह आरुणेय आस···स···सर्वान् वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय। तं ह पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽसि' [छा० ६।१।१-२]।

निर्माण संभव नहीं होता। किन्तु ब्रह्म के विषय में यह नहीं जाना जाता, कि वह उपादानतत्त्व प्रकृति के अतिरिक्त जगन्निर्माण के लिये अन्य किसी साधन का संग्रह करता हो। इससे सन्देह होता है, कि जगत् के निर्माण में वह कारण है भी या नहीं ? आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥२४॥

[उपसंहारदर्शनात्] साधनसंग्रह के देखे जाने से [न] नहीं (ब्रह्म जगत्कारण) [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो ठीक) [न] नहीं, [क्षीरवत्] दूध के समान [हि] क्योंकि। लोक में निर्माण के लिये अनेक साधनों का संग्रह देखे जाने से ब्रह्म जगत् का कारण संभव नहीं; ऐसा कहना ठीक न होगा, क्योंकि अकेली गाय से दूध स्रवित होने के समान अकेला ब्रह्म प्रकृति से जगन्निर्माण कर देता है।

सूत्र में 'उपसंहार' पद का अर्थ 'उपसंग्रह' है—इकट्ठा करना। कुम्हार जब घड़ा बनाना चाहता है, तो उपादानतत्त्व मट्टी के अतिरिक्त चाक डण्डा डोरा पानी आदि अन्य अनेक साधनों का संग्रह करता है, अनन्तर घड़े आदि पात्रों के निर्माण में प्रवृत्त होता है। इसीप्रकार जुलाहा जब कपड़ा बनाना चाहता है, तो उपादानतत्त्व सूत के अतिरिक्त तुरी वेमा खड्डी आदि अनेक साधन इकट्ठे करता है। सर्वत्र कार्यमात्र के लिये लोक में उपादानतत्त्व के अतिरिक्त अन्य अनेक आवश्यक साधनों का संग्रह किया जाना देखा जाता है; परन्तु ब्रह्म के विषय में शास्त्र कहता है—'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत' [ऐत० १।१-२] उसने देखा अथवा संकल्प किया, लोकों को बनाऊं, वह इन लोकों को बना देता है। यह कथन सन्देह उत्पन्न करता है, कि साधनहीन रहता वह जगत् का निर्माण कर भी सकता होगा, या नहीं ?

सूत्रकार ने लौकिक दृष्टान्त देकर इस अर्थ को स्पष्ट किया। लोक में देखा जाता है, कि गाय घास तृण आदि खाकर विशेष अवस्था में अपने संकल्पमात्र से दूध का निर्माण करती है, और समय पर वत्स के लिये संकल्पमात्र से स्रवित करती है। उपादानतत्त्वों के अतिरिक्त दुग्धनिर्माण और स्रवण में केवल संकल्प साधन रहता है, उससे अधिक और किसी साधन का सहयोग वहां नहीं जाना जाता। ठीक इसीप्रकार सर्वशक्ति परब्रह्म परमात्मा अपने संकल्पमात्र से प्रकृति को जगद्रूप में परिणत कर देता है, उसे अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं होती। कुम्हार आदि अल्पशक्ति निर्माता हैं, उन्हें अनेक आवश्यक साधनों की अपेक्षा होसकती है। ब्रह्म के लिये श्वेताश्वतर उपनिषद् [६।८] में कहा—'न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' जगन्निर्माण के अवसर पर ब्रह्म का कोई कार्य—क्रिया लौकिक प्राणियों के समान कोई चेष्टा आदि नहीं, न कोई करण—साधन अपेक्षित है, वह संकल्पमात्र से मूलउपादानतत्त्व को जगद्रूप में परिणत कर देता है। न

कोई अन्य उसक समान है न अधिक। उसके साथ तब केवल उसकी विविधा–त्रिगुणात्मिका परा शक्ति–प्रकृति है, जो स्वाभाविक सत्त्व-तमस्-रजस् रूप में विद्यमान रहती है। ज्ञान–सत्त्व, बल–तमस्, क्रिया–रजस् है। यह स्वाभाविकी–नित्य प्रकृति साम्यावस्था में विद्यमान ब्रह्मसंकल्प से जगद्रूप में परिणत होजाती है।

संकल्पमात्र से वह जगत् का निर्माण करता है, यह अन्यत्र उपनिषद् [तै० २।६] में बताया–'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च' उसने संकल्प किया, मैं बहुत हो जाऊं, प्रजनन करूं। उसने तप तपा, तप तपकर यह सब बनाया, जो यह कुछ है। तप करना, प्रकृति में प्रेरणा देना है। संकल्पद्वारा प्रकृति को प्रेरित किया, और जगत् का निर्माण प्रारम्भ होगया। इससे निश्चित होता है, कि ब्रह्म को प्रकृति से जगत् के परिणाम में किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती। क्षीर के लौकिक दृष्टान्त से यह प्रमाणित होता है। कुलाल आदि अतिसीमितशक्ति व्यक्तियों से ब्रह्म की तुलना उपहासास्पद है। फलतः ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति आदि का कारण है, इसमें किसी प्रकार की आशंका का अवकाश नहीं रहता।

क्षीर दृष्टान्त की जो व्याख्या आचार्य शंकर ने की है, उसकी यथार्थता में पूर्ण सन्देह है। दूध स्वयं अन्य बाह्य साधन की अपेक्षा के विना दही के रूप में परिणत नहीं होसकता, पर आचार्य ने ऐसा माना है। दूध को गर्म करना, उपयुक्त गरमी रहने पर उसमें नियत मात्रा में खटाई देना, फिर उपयुक्त गरमी में सुरक्षित रखना आदि अनेक साधन दूध को दहीरूप में परिणत करने के लिये अपेक्षित होते हैं। आचार्य का भाव है, ये साधन दूध को दही बनाने में शीघ्रता अथवा पूर्णता लाते हैं, ये न हों, तो दही देर से जमेगा, अथवा अधूरा जमेगा। पर यथार्थ में ऐसी बात नहीं है। यदि इन साधनों की उपेक्षा कर दी जाय, तो दूध का दही नहीं बनेगा, अन्य विकार भले होजाओ। विकार तो होगा ही, पर वह विकार दही नहीं होगा। दही दूध का एक विशिष्ट विकार है, उसके लिये निश्चितरूप से विशेष साधन अपेक्षित होते हैं। दूध का स्वभाव दही बनने का नहीं है। स्वभाव से वह विकृत होसकता है, अन्य रूप में परिणत होसकता है; पर यह समझना कि वह विकार विना बाह्य साधन के हुआ है, अपने आपको धोखा देना है। यदि सचमुच अचेतन दूध विना अन्य साधन के दही रूप में स्वभावतः परिणत होजाता है, तो भगवान् शंकर उन आचार्यों [बृहस्पति-चार्वाक आदि] के प्रति क्यों उद्विग्न होजाते हैं, जो जड़ उपादान में स्वतः परिणति मानते हैं ॥२४॥

अन्य किसी साधन के विना ब्रह्म केवल संकल्पद्वारा प्रकृति को जगद्रूप में परिणत कर देता है, इसके लिये सूत्रकार अन्य उदाहरण प्रस्तुत करता है—

देवादिवदपि लोके ॥२५॥

[देवादिवत्] देव आदि के समान [अपि] भी [लोके] लोक में। देव तथा

अन्य शक्तिशाली व्यक्ति संसार में संकल्पशक्ति द्वारा अनेक कार्यों को सम्पन्न करते देखे जाते हैं, वैसे ब्रह्म संकल्पमात्र से जगत् के जन्म आदि का कारण समझना चाहिये।

सूत्र में 'आदि' पद से ऋषि योगी तथा उन व्यक्तियों का ग्रहण होता है, जिन्होंने अपनी संकल्पशक्ति को साधारण स्तर से ऊंचा उठा लिया है। संकल्पशक्ति के धनी ऐसे व्यक्ति लोक में अन्य साधनों के विना केवल संकल्पशक्ति के आधार पर अनेक चमत्कार-पूर्ण कार्य करते देखे जाते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण भारतीय साहित्य में उपलब्ध होते हैं। महाभारत के अनुसार कौरवों की सभा में द्रौपदी के चीरहरण का दृष्टान्त ऐसा ही है। श्रीकृष्ण ने अपने योगज महाप्रभाव संकल्पशक्तिद्वारा द्रौपदी के धारण किये वस्त्र को ऐसा कर दिया, खींचे जाते भी जिसका अन्त न आया। द्रौपदी को लज्जित करने की भावना से इस दुष्कर्म में प्रवृत्त दुःशासन यह देख स्वयं लज्जित हो उठा। यह अधिक संभव है, कि श्रीकृष्ण ने सभास्थित समस्त जनों को अपनी अनुपम संकल्पशक्ति से इस-प्रकार प्रभावित किया, कि वे द्रौपदी को नग्न न देखसके, उन्हें यही दीखता रहा, कि साड़ी खींची जारही है, पर वह उसीतरह साड़ी में लिपटी हुई है। इन दोनों स्थितियों में से कौन-सी बात रही होगी, इसका विवेचन यहां अपेक्षित नहीं है, केवल संकल्पशक्ति का प्रभाव प्रकट करना लक्ष्य है।

महाभारत का ऐसा ही एक दृष्टान्त जयद्रथवध के अवसर का है। जब श्रीकृष्ण ने उदय रहते सूर्य को छिपा हुआ दिखा दिया, जयद्रथ अर्जुन के सामने जब आगया, सबने वहां देखा—सूर्य छिपा नहीं है, दिखाई देरहा है। श्रीकृष्ण ने वहां उपस्थित सब जनों को अपनी अप्रतिम संकल्पशक्ति से इसप्रकार प्रभावित किया, कि उन्होंने सूर्य को छिपा हुआ समझा। आधुनिक काल में हमारे एक मित्र—मुकेरियां [जिला गुरदासपुर, पंजाब] निवासी श्री प्रोफेसर जगदीशमित्र—ने अपनी संकल्पशक्ति को इतना प्रबल बना लिया था, कि वे दृष्टिपातमात्र से हिंस्र पशु शेरों तक को अपना अनुगामी—वशवर्ती बना लेते थे। उनके इस कार्य को एक बार हमने स्वयं देखा। पुराण इतिहास आदि में उल्लेख हैं, कि प्राचीन ऋषियों के आश्रमों में अनेक जंगली पशु—जो स्वभावतः एक दूसरे को मार खाते हैं—वैर विरोध छोड़कर स्नेहभाव से रहते और क्रीड़ा करते थे। यह उन पशुओं पर ऋषियों की संकल्पशक्ति का प्रभाव था। इसी आधार पर संस्कृत में एक कहावत प्रसिद्ध है—'क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे' कार्य की सफलता महान व्यक्तियों की शक्ति में निहित रहती है, उपकरणों—साधनों में नहीं। सारांश यह, कि अन्य बाह्य साधनों के विना लोक में अनेक संकल्पशक्तिसम्पन्न व्यक्ति चमत्कारपूर्ण कार्य करते देखे जाते हैं। परमयोगी, जीवन्मुक्त अथवा मुक्त आत्मा के विषय में उपनिषत्कार ने बताया—'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' [छा० ८।२।१] पितरों को देखूं, यह कामना होने पर संकल्पमात्र से पितर समुपस्थित होजाते हैं। जब एक मुक्त जीवात्मा का इतना सामर्थ्य है, तब इसमें क्या सन्देह किया जासकता

है, कि अनन्तशक्तिसम्पन्न ब्रह्म संकल्पमात्र से किसी अन्य साधन के विना उपादानतत्त्व प्रकृति को जगद्रूप में परिणत कर देता है। लौकिक व्यक्ति कितना भी अधिक संकल्प-शक्तिसम्पन्न होजाय, ब्रह्म की तुलना में वह अत्यन्त क्षुद्र है। उदाहरण केवल उस दिशा में अनुकूल भावना के साथ सोचने के लिये मार्ग प्रशस्त करते हैं ॥२५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, संकल्पमात्र से ब्रह्म अन्य साधन के विना प्रकृति को जगद्रूप में परिणत करता है, यह निश्चित किया गया; पर यह जिज्ञास्य है, कि वह संकल्प समस्त ब्रह्म में होता है, अथवा ब्रह्म के किसी एकदेश में ? यदि समस्त ब्रह्म में होता है, तो समस्त प्रकृति कार्यरूप में परिणत होजाती है, यह मानना होगा; क्योंकि ब्रह्म सर्वान्तिर्यामी प्रकृति के प्रत्येक अंश में व्याप्त है, जब जगद्रचना का संकल्प समस्त ब्रह्म में हुआ, तो उस संकल्प के अनुसार समस्त प्रकृति कार्यरूप में परिणत होजायगी, प्रकृत्यंश कोई न रहेगा। प्रकृत्यंश की रक्षा के लिये यदि ब्रह्म के एकदेश में संकल्प माना जाय, तो यह मन्तव्य ब्रह्म को निरवयव बताये जाने के विरुद्ध होगा। सूत्रकार ने इस जिज्ञासा को सूत्रबद्ध किया—

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्त्वशब्दकोपो वा ॥२६॥

[कृत्स्नप्रसक्तिः] समग्र की प्राप्ति [निरवयवत्त्वशब्दकोपः] निरवयव होने के शब्द का विरोध [वा] अथवा। समग्र उपादानतत्त्व की कार्यरूप में प्राप्ति अथवा (ब्रह्म को) निरवयव बतानेवाले शब्द का विरोध होगा।

चेतन ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है सर्वान्तर्यामी है, वह एकमात्र तत्त्व है। सृष्टिरचना का संकल्प समस्त ब्रह्म में होने पर उससे नियन्त्रित समस्त प्रकृति कार्यरूप में परिणत होजायगी, तब सर्गकाल में कार्य जगत् के अतिरिक्त प्रकृत्यंश कोई न रहना चाहिये। यह मानना अनिष्ट है, क्योंकि प्रकृति अनन्त है, कार्य सदा सीमित रहता है, ऐसी समस्त प्रकृति के कार्यरूप से परिणत होने में कोई प्रमाण प्रतीत नहीं होता। इस बाधा से बचाव के लिये यदि ब्रह्म के एकदेश में संकल्प माना जाता है, और उससे नियन्त्रित उतनी प्रकृति को कार्यरूप में परिणत माना जाता है, जो वर्त्तमान जगत् के रूप में प्रतीत होरहा है, तो ब्रह्म में अवयवकल्पना से उन शास्त्रवचनों का विरोध होगा, जो ब्रह्म को निरवयव बताते हैं–'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' [श्वे० ६।१९] यहां स्पष्ट ब्रह्म को निष्कल–निरवयव कहा है। ऐसे ही अन्यत्र कहा–'दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' [मु० २।१।१], तथा 'अस्थूलमनणु······अह्रस्वमदीर्घम्······अनन्तरमबाह्यम्' [बृ० ३।८।८]। इन वचनों में ब्रह्म को अमूर्त्त अनन्तर [अन्तर–देश-रहित] आदि बताया है। उसमें देशों–अवयवों की कल्पना करने पर इसका विरोध होगा। ऐसी स्थिति में यह निश्चय अधूरा रह जाता है, कि ब्रह्म संकल्पमात्रद्वारा जगत् के जन्मादि का कारण है ॥२६॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत किया—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥२७॥

[श्रुतेः] श्रुति से [तु] तो [शब्दमूलत्वात्] शब्दमूल होने से–शब्दाश्रय होने से। श्रुति से तो जगत्परिणाम होजाने पर प्रकृत्यंश का शेष बचा रहना, और ब्रह्म का निरवयव होना जाना जाता है; कारण यह है, कि ऐसे परोक्ष अर्थों का ज्ञान शब्दप्रमाण के आश्रय से होता है।

समस्त ब्रह्म में सर्गरचना का संकल्प होनेपर समस्त प्रकृति कार्यरूप में परिणत होजानी चाहिये, ऐसी आशंका कीजाने पर यह विचार लेना आवश्यक है, कि प्रकृति का स्वरूप क्या रहता होगा, जिसके समस्त परिणाम की कल्पना करते हैं ? जगत् के उपादानतत्त्व प्रकृति को सब शास्त्रों में त्रिगुणात्मक कहा है। तीन गुण हैं–सत्त्व, रजस्, तमस्। अनन्त सत्त्व हैं, अनन्त रजस् हैं, अनन्त तमस् हैं। चेतन ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, वह एकमात्र तत्त्व है, उसका संकल्प किसी एकदेश में हो, यह संभव नहीं; ब्रह्म का सर्ग-रचनाविषयक संकल्प ब्रह्ममात्र में है, पर उस संकल्प का विषय उतना उपादानतत्त्व है, जितना सर्गरचना में अपेक्षित है। अनन्त सत्त्व आदि में से कितना उपादानतत्त्व जगद्रूप में परिणत होता है, इसका लेखा-जोखा मनुष्यद्वारा किया जाना असंभव है, चाहे वह कितना ही प्रतिभाशाली और शक्तिसंपन्न हो। उपनिषत्कार ने केवल इतना संकेत दिया, कि कार्य परिणत होजाने पर भी उपादानतत्त्व बना रहता है। कठ उपनिषद् [१।३।११] में कहा–'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः' महत् से पर अव्यक्त है, अव्यक्त से पर है पुरुष। महत् कार्य है, अव्यक्त प्रकृति है; महत्कार्य की सत्ता में महत् से पर प्रकृति की उपस्थिति को बताना यह प्रकट करता है, कि कार्य की परिणति होजाने पर भी प्रकृति विद्यमान रहती है। यदि समस्त प्रकृति कार्यरूप में परिणत होगई होती, तो कार्यरूप महदादि के अस्तित्व में उससे पर बताकर अव्यक्त–प्रकृति का निर्देश न किया जाता।

परोक्ष अर्थों का विवेचन केवल शब्दप्रमाण के सहारे किया जाना संभव है। प्रामाणिक व्यक्तियों ने कहा है–'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्।' अचिन्तनीय भावों का केवल तर्क के सहारे विवेचन करना अनुपयुक्त है। प्रकृतिरूप उपादानतत्त्व और उनसे पर जो कुछ है, वह अचिन्त्य तत्त्व कहा जाता है। फलतः प्रकृति एवं परब्रह्म के विषय में केवल तर्क के आश्रय से कुछ निश्चय करना यथार्थ न होगा। इस विषय में शब्दप्रमाण अधिक मान्य है, और वह इसका बोधक है, कि समस्त ब्रह्म में सर्गरचनासंकल्प होने पर भी प्रकृति का उतना अंश जगद्रूप में परिणत किया जाता है, जितना उसके लिये अपेक्षित है। इसलिये न तो समस्त प्रकृति के कार्यरूप में परिणत होजाने की आपत्ति आती है और न ब्रह्म में किसी एकदेश या अवयव के कल्पना करने की अपेक्षा रहती है। 'सोऽकामयत' [तै० २।६]

'सेयं देवतैक्षत' [छा० ६।३।२] 'स ईक्षत' [ऐ० ३।१] इत्यादि उपनिषद्वाक्यों से ब्रह्मद्वारा किये गये संकल्प का पता लगता है, ब्रह्म के किसी एकदेशद्वारा किये गये संकल्प का नहीं।

प्रकृति के परिणाम का यह विवेचन ब्रह्म के अस्तित्व एवं उसके स्वरूप की यथार्थता का बोधन कराने के लिये है, क्योंकि यह सब ब्रह्म की प्रेरणा [संकल्प] के विना संभव नहीं होता। इस रूप में ब्रह्म को जानना मोक्ष का साधन है। इसी भाव को बृहदारण्यक उपनिषद् [४।२।४] में 'स एष नेति नेत्यात्मा' कहकर आगे बताया 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' यह परब्रह्म परमात्मा न नाम है न रूप है। कार्यजगत् नाम-रूपात्मक है, ब्रह्म उससे अतिरिक्त है। अथवा न वह प्रकृतिरूप तत्त्व है, और न उसका कार्यरूप। ब्रह्म उपादान-उपादेयरूप नहीं है; इनसे अतिरिक्त तत्त्व है। ब्रह्म के ऐसे स्वरूप का ज्ञान मोक्षफल को प्राप्त कराता है, इसी आशय से यह विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

अथवा इन दो [२६-२७] सूत्रों की व्याख्या इसप्रकार भी कीजासकती है— शिष्य जिज्ञासा करता है, ब्रह्मसंकल्प से प्रकृति जगद्रूप में परिणत होती है; ऐसा न मानकर यही क्यों न मान लिया जाय, कि ब्रह्मसंकल्प से स्वयं ब्रह्म जगद्रूप में परिणत होजाता है ? सूत्रकार ने समाधान किया—कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥२६॥ ब्रह्म एकमात्र तत्त्व है; यदि यह माना जाता है, कि ब्रह्म जगद्रूप में परिणत होता है, तो उस समस्त के परिणत होने की प्रसक्ति—प्राप्ति—स्थिति माननी होगी, क्योंकि वह एकमात्र तत्त्व है। सूत्र में 'वा' पद 'च' के अर्थ में है। और यदि यह कहा जाय, कि जितना अपेक्षित है, उतना जगद्रूप में परिणत होगा, सब नहीं; तो जो शब्द—शास्त्रवचन उसे निरवयव बतलाते हैं, उनके साथ विरोध होगा, क्योंकि ऐसी अवस्था में ब्रह्म के अवयव मानने होंगे। पहले विचार में ब्रह्म एक परिणामी तत्त्वमात्र रहजाता है, दूसरे में अवयवों वाला। दोनों स्थिति शास्त्रविरुद्ध हैं, इसलिये ब्रह्म स्वतः जगद्रूप में परिणत होजाता है, यह कथन मान्य नहीं।

शिष्य ने जिज्ञासा की, तब शास्त्र से ब्रह्म कैसा जाना जाता है ? आचार्य ने समाधान किया—श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥२७॥ श्रुति से तो परब्रह्म जगत् का निमित्तकारण जाना जाता है। ऐसे परोक्ष विषयों में शब्द मुख्य प्रमाण होता है। इन अर्थों का वास्तविक ज्ञान शब्दप्रमाण पर आश्रित है। वेद और वैदिक साहित्य ब्रह्म को जगत् का कर्त्ता नियन्ता अधिष्ठाता प्रतिपादन करते हैं, स्वयं जड़ जगत् के रूप में परिणत होनेवाला उपादानतत्त्व नहीं। ऋग्वेद [१०।८२।७] में कहा—'न तं विदाथ य इमा जजान' उसे नहीं जाना, जिसने इन लोक-लोकान्तरों को प्रादुर्भूत किया है। ऋग्वेद में अन्यत्र [१०।१२९।७] कहा—'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्' जो सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी परमात्मा इस विश्व का अध्यक्ष है नियन्ता है। यजुर्वेद [४०।८] में बताया—'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः' निरन्तर रहनेवाले उपादानतत्त्वों से [शाश्वतीभ्यः

समाभ्यः] उस परब्रह्म ने विधिपूर्वक [याथातथ्यतः] सब अर्थों को–समस्त जगत् को बनाया। तथा 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' [ऋ०१०।१९०।३; तै० आ० १०।१।१४] धाता ब्रह्म ने सूर्य चन्द्र आदि लोकों को पूर्वसर्ग के समान बनाया। इन प्रमाणों से जगत् को बनानेवाला परमात्मा निमित्तकारण सिद्ध होता है।

उपनिषदों में यह भावना प्रकट कीगई है–'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत' [ऐ० १।१-२] उसने ईक्षण–संकल्प किया, मैं लोकों को बनाऊं। उसने इन लोकों को बनाया। स्पष्ट है, वह स्वयं लोकों के रूप में नहीं बना। छान्दोग्य [६।३।२-३] में कहा–'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता···नामरूपे व्याकरवाणीति। तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति, सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता···नामरूपे व्याकरोत्' उस देवता [परब्रह्म] ने ईक्षण किया, मैं इन तीन देवताओं [जगत् के उपादानभूत प्रकृतिरूप सत्त्व-रजस्-तमस्] को नाम-रूप से विस्तृत करूं, उनमें से एक-एक को त्रिवृत-त्रिवृत [उन तीनों में से प्रत्येक को एक-दूसरे में मिथुनीभूत] करूं। उस परब्रह्म देवता ने इसप्रकार इन तीनों देवताओं को एक-दूसरे में मिथुनीभूत कर [गूंथकर] नाम-रूप से विस्तृत किया। ब्रह्म ने उपादानतत्त्वों से जगत् को बनाया, यह यहां स्पष्ट है। इससे सिद्ध होता है, कि ब्रह्म जगत् का केवल निमित्तकारण है। 'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेय' [तै० २।६] इत्यादि उपनिषद् वाक्यों का तात्पर्य स्वयं ब्रह्म के जगद्रूप से परिणत होने में नहीं है। वहीं वाक्यशेष में 'इदं सर्वमसृजत' इस सबको उसने बनाया, कहा है; ऊपर 'बहु स्यां' बहुत होजाऊं–कहने पर भी यहां 'इदं सर्वं स्वयमभवत्' यह सब वह स्वयं होगया–नहीं कहा गया। इससे उपनिषत्कार का तात्पर्य स्पष्ट है, कि वह यह उपपादन नहीं करना चाहता, कि ब्रह्म स्वयं इस जगत् के रूप में परिणत होजाता है, प्रत्युत यही स्पष्ट करता है, कि उसने इस सब जगत् को बनाया। यहां 'असृजत' क्रियापद है, 'अभवत्' नहीं। आगे 'सच्च त्यच्चाभवत्' वाक्य में 'अभवत्' क्रियापद वाक्यशेष के 'यदिदं किञ्च' पदों से बोधित जगत् के विभाग का कथन करता है। रचना के अनन्तर यह कार्य जगत् सत् त्यत्, निरुक्त अनिरुक्त आदि विभागों में विद्यमान होगया। ब्रह्म स्वयं इन रूपों में विभक्त होगया, ऐसा तात्पर्य उपनिषद् का नहीं है। अन्यथा 'असृजत' 'सृष्ट्वा' आदि कथन के साथ इसका विरोध होता है। उन वाक्यों के साथ तो स्पष्ट विरोध होगा, जहां ईक्षिता कर्त्ता परब्रह्म के साथ अतिरिक्त रूप में उपादानतत्त्वों का उल्लेख हुआ है।

वेद व उपनिषद् के इस विषय के उक्त सन्दर्भों के अतिरिक्त ऋग्वेद [१०।८१।३॥ यजु० १७।१] में बताया—'सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः' वह एकमात्र देव परब्रह्म प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार पतनशील–गतिशील–परिणामस्वभाव उपादानतत्त्वों से [पतत्रैः] द्युलोक पृथिवीलोक आदि समस्त जगत् का निर्माण करता है। मन्त्र में 'पतत्र' पद से उन उपादानतत्त्वों का निर्देश हुआ है,

जिनको परब्रह्म जगद्रूप में परिणत करता है। इस विवरण से स्पष्ट होता है, कि ब्रह्म जगत् का केवल निमित्तकारण है। ऐसे परोक्ष अर्थों का निश्चय शब्दप्रमाण के आश्रित होने के कारण श्रुति से संपन्न होता है ॥२७॥

शिष्य आशंका करता है, किसी विरुद्ध अर्थ को शब्दप्रमाण के बल पर मानना युक्त नहीं है। इस कथन में विरोध प्रतीत होता है, कि सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी ब्रह्म संकल्प से परिपूर्ण हुआ, प्रकृति के एकदेश में परिणाम का जनक हो। आचार्य सूत्रकार ने दृष्टान्तगर्भ कथन से समाधान किया—

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥२८॥

[आत्मनि] परमात्मा में [च] तो [एवं] ऐसी (संकल्पानुसारी) [विचित्राः] विचित्र–विविध–अनन्त शक्तियां हैं [च] और [हि] क्योंकि। क्योंकि परमात्मा में तो उसके संकल्प के अनुसार अनन्त अद्भुत शक्तियां हैं, वह पूर्णसंकल्प से प्रकृति के चाहे जितने अंश में अथवा सबमें अपेक्षित क्रिया–प्रेरणा करसकता है। जैसे आत्मा [जीवात्मा] में व्याप्त संकल्प से इसप्रकार शरीर में विचित्र क्रिया हुआ करती है। सूत्रकार के इन्हीं पदों में दृष्टान्त अन्तर्निहित है।

आत्मा निरवयव है, किसी कार्य के लिये उसमें संकल्प समस्त आत्मा में होता है, पर वह संकल्प शरीर के किसी एकदेश में अथवा समस्त शरीर में क्रिया का जनक है। आत्मा स्वतन्त्रतापूर्वक अपने संकल्प से देह के एकदेश अथवा सबदेश में क्रिया उत्पन्न करता है। कहा जासकता है, कि आत्मा परिच्छिन्न है, उसके लिये एकदेश में क्रिया करना समञ्जस है, सर्वव्यापक ब्रह्म के लिये नहीं। पर वस्तुतः यहां ध्यान देने की बात यह है, कि निरवयव आत्मा का जैसा संकल्प सर्वदेश में क्रिया का जनक है, वैसा ही संकल्प एकदेश में। यह संकल्प की विशेषता है, कि वह अपेक्षित देश में क्रिया का जनक है। ठीक इसीप्रकार निरवयव सर्वत्र व्याप्त परमात्मा का संकल्प अपेक्षित प्रदेश में क्रिया का जनक होता है। जगत् के उपादानतत्त्व प्रकृतिरूप सत्त्व रजस् तमस् असंख्यात हैं, ब्रह्म का सर्गरचनासंकल्प अपेक्षित तत्त्वों को प्रेरित कर जगद्रूप में परिणत करता है। उसकी विचित्र अनन्त शक्तियों की कोई सीमा नहीं। उसका संकल्प असंख्यात विविधताओं में प्रस्फुटित होता है, इसमें किसीप्रकार का असामञ्जस्य व विरोध नहीं है। फलतः ब्रह्मसंकल्प से प्रकृति के अपेक्षित अंश जगद्रूप में परिणत हुआ करते हैं, यह कारण एवं कार्य की स्थिति के पर्याय का क्रम ब्रह्म की व्यवस्था के अनुसार चलता रहता है। यह अवश्य प्रतीत होता है, कि किसी भी समय प्रकृति का निःशेष परिणाम नहीं होता। जैसा परिणाम होता है, उससे ब्रह्म की जगज्जन्मादिकारणता में कोई बाधा नहीं आती ॥२८॥

उक्त मन्तव्य की पुष्टि के लिये सूत्रकार ने एक साधारण सर्वमान्य व्यवस्था को हेतुरूप में प्रस्तुत किया—

स्वपक्षदोषाच्च ॥२९॥

[स्वपक्षदोषात्] अपने पक्ष में दोष से [च] भी। किसी आचार्य के द्वारा जगत् का जो कोई उपादान माना जाय, उस सब के विषय में उक्त दोष प्रस्तुत किये जासकते हैं, उनका समाधान करना सबके लिये समान है। सूत्रकार ने अपने मन्तव्य में उपयुक्त समाधान कर दिया है।

यह निश्चित है, कि जगत् कार्यरूप है। इसकी कार्यरूपता को चुनौती नहीं दी जासकती। तब इसके कारणों का मानना आवश्यक है। जहां कार्य का निमित्तकारण होगा, वहां कोई उपादानकारण भी होगा। इन कारणों का कैसा भी स्वरूप माना जाय, उनमें कृत्स्नप्रसक्ति आदि दोषों का अनायास उद्भावन किया जासकता है। तात्पर्य यह है, कि जगत्कारणता के विषय में उक्त दोषों का उद्भावन केवल सूत्रकार के प्रदर्शित विचारों में सम्भव हैं, सूत्रकार को ही इनका समाधान करना अपेक्षित है; इस विषय के अन्य किसी आचार्य के विचार में न दोष हैं और न उसके समाधान की आवश्यकता है; ऐसी बात नहीं हैं। ये साधारण दोष हैं, इनका उद्भावन इस विषय के प्रत्येक विचार में किया जासकता है, इसलिये सूत्रकार के मन्तव्य में दोषदर्शी आचार्य को अपने पक्ष में भी इन दोषों की ओर दृष्टिपात करना चाहिये, और उसके समाधान की आवश्यकता समझनी चाहिये। उस समय सूत्रकार के द्वारा उक्त दोषों के प्रस्तुत समाधान से सूत्रकार के मन्तव्य का महत्त्व उनके सन्मुख प्रकट होजायगा। इसलिये ऐसे दोषों के उद्भावन का आग्रह छोड़ देना ही श्रेयस्कर है। फलतः ब्रह्म संकल्पद्वारा प्रकृति को प्रेरित कर जगत् के जन्म आदि में कारण है, यह निश्चित होता है। ब्रह्म के इस यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार मोक्ष का साधन है, अतः उसके लिये प्रयास करना प्रत्येक जिज्ञासु का कर्त्तव्य होना चाहिये ॥२९॥

अट्ठाईसवें सूत्र में कहे अर्थ को अधिक दृढ़ता के साथ उपपादन करने की भावना से सूत्रकार ने कहा—

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥३०॥

[सर्वोपेता] सबसे उपेत–युक्त है [च] और [तद्दर्शनात्] वैसा देखे जाने से। और वह परब्रह्मरूप महती देवता अनेकानेक शक्तियों से युक्त है; क्योंकि उसका ऐसा वर्णन वेदादि सत्यशास्त्रों में देखा जाता है।

वेदों में परब्रह्म का वर्णन सब शक्तियों से युक्त किया गया है। ऋग्वेद [१०।८१।३] में आया–'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्'

वह परमात्मा चक्षु मुख हाथ पैर आदि की समस्त शक्तियों से युक्त है। अन्यत्र कहा—'विश्वान्यस्मिन् सम्भृताऽधिवीर्या' [ऋ० २।१६।२] इस व्यापक ब्रह्म में सब बड़ी से बड़ी शक्तियां भरी हुई हैं। तथा 'यस्यामितानि वीर्या' [ऋ० ८।२४।२१] जिसके सामर्थ्य अपरिमित हैं। छान्दोग्य उपनिषद् [३।१४।४] में बताया—'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः' सब कर्म, सब संकल्प, सब गन्ध, सब रस उसके अपने हैं, वह इस सबको व्याप्त किये है, वह वाणी एवं राग से रहित है। बृहदारण्यक उपनिषद् [३।८।६] में वर्णन है—'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः ···द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः' याज्ञवल्क्य कहता है, हे गार्गि ! इस अविनाशी ब्रह्म के प्रशासन में सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, पृथ्वीलोक आदि सब यथाव्यवस्थित ठहरे हुए हैं। इन वर्णनों के अनुसार निश्चय होता है, कि वह ब्रह्मरूप महती देवता सर्वशक्तिमती है, अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है। उसके विषय में ऐसी आशंका निराधार हैं, कि जगत् की रचना में प्रकृति-परिणाम के लिये उसे अन्य साधनों की अपेक्षा होगी; अथवा उसके संकल्प से समस्त प्रकृति में प्रेरणा होगी, या किसी एकदेश में ? और इन आशंकाओं के आधार पर उसकी जगत्कारणता में कोई बाधा होगी। सर्वशक्तिसम्पन्न ब्रह्मद्वारा जगत् की रचना पूर्णरूप से व्यवस्थित है ॥३०॥

शिष्य आशंका करता है, चक्षु मुख हाथ पैर आदि इन्द्रियां व देहावयव जीवात्मा के साथ देखे जाते हैं। ब्रह्म तो इन्द्रियादिरहित सुना गया है; तब उसमें उक्त शक्तियों का वर्णन कैसे किया गया ? आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥३१॥

[विकरणत्वात्] करण—इन्द्रियादि से विगत-रहित होने के कारण [न] नहीं (उक्त शक्तियां ब्रह्म में), [इति चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो) [तत्] वह [उक्तम्] कह दिया है। इन्द्रियादि से रहित होने के कारण ब्रह्म में उक्त शक्तियां नहीं हैं, ऐसी आशंका के विषय में पहले समाधान कर दिया गया है।

जीवात्मा इन्द्रिय आदि साधनों के सहारे जानता व कर्म किया करता है। पर उपनिषदों में परब्रह्म को चक्षु आदि इन्द्रियों से रहित बताया है। बृहदारण्यक उपनिषद् [३।८।८] में कहा—'तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्ति···अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः' याज्ञवल्क्य कहता है, हे गार्गि ! ब्रह्मज्ञानी बताते हैं कि वह अविनाशी अपरिणामी ब्रह्म चक्षु श्रोत्र वाणी मन आदि इन्द्रियों से रहित है। श्वेताश्वतर उपनिषद् [६।८] में कहा—'न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते' उस ब्रह्म का न कोई शरीर [कार्यं] है न इन्द्रियां [करणं], वह इन सबसे रहित होता है। ऐसी स्थिति में उसे **'विश्वतश्चक्षु' 'विश्वतस्पात्'** तथा सर्वगन्ध सर्वरस आदि कैसे कहा जाता है ? इस आशंका का उद्भावन कर आचार्य ने कहा, इसका समाधान प्रथम कर दिया गया है।

'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' [वे० सू० २।१।२७] इस सूत्र से प्रस्तुत आशंका का समाधान होगया है। शास्त्र में जहां ब्रह्म को चक्षु आदि इन्द्रियों से रहित कहा है, वहां उसे सब शक्तियों से युक्त एवं समस्त अर्थों का नियन्ता प्रेरयिता व जगत्कर्त्ता आदि कहा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् [३।१६] में बताया—'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' उसके हाथ पैर तो नहीं हैं, पर इनके विना यह सर्वत्र प्राप्त है और सबको पकड़े हुए है धारण किये है। उसके चक्षु नहीं, पर सबको देखता है; श्रोत्र नहीं पर सबको सुनता है। बृहदारण्यक उपनिषद् [३।८।११] में कहा—सब इन्द्रियां उसके जानने समझने में असमर्थ हैं, पर वह सबका द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता है। केन उपनिषद् [१।१–८] के प्रारम्भ में बताया—सब इन्द्रिय आदि में विविध शक्ति का प्रदान करने वाला वही ब्रह्म है। वह विविध शक्तियों का भण्डार है। वेद के पुरुषसूक्तों [ऋ० १०।६०।१; यजु० ३१।१; साम० ६१७; अथर्व० १६।६।१] में ब्रह्म का जो 'सहस्रशीर्ष' 'सहस्राक्ष' आदि पदों से वर्णन है, वह ब्रह्म की विविध शक्तियों का द्योतक है। उसके बाह्य अंग व इन्द्रियां न होते हुए भी वह सब शक्तियों का प्रेरणास्रोत है। इसलिये उसके संकल्पद्वारा प्रकृति के परिणाम में उसकी किसी न्यूनता अशक्तता या अभाव एवं अन्यथाभाव का प्रकट करना सर्वथा निराधार है ॥३१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, लोक में साधारण पुरुष भी प्रयोजन के विना किसी छोटे कार्य में भी प्रवृत्त नहीं होता। ब्रह्म जगत् की रचना करता है, यह एक महान प्रवृत्ति है और एक सर्वज्ञ चेतन की। इसका कोई प्रयोजन अवश्य होना चाहिये। पर ब्रह्म के लिये प्रयोजन की कल्पना नहीं की जासकती, क्योंकि उसे आप्तकाम बताया गया है। तब विना प्रयोजन के प्रवृत्ति सम्भव न होने से ब्रह्म को जगत् का कारण कैसे माना जाय? आचार्य सूत्रकार ने इस आशंका को स्वयं सूत्रबद्ध किया—

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥३२॥

[न] नहीं (ब्रह्म जगत् का कारण) [प्रयोजनवत्त्वात्] प्रयोजनवाला होने से (प्रवृत्ति में चेतन के)। चेतन सदा प्रयोजन लेकर प्रवृत्त होता है, पूर्णकाम ब्रह्म का कोई प्रयोजन सम्भव न होने से उसका जगद्रचना में प्रवृत्त होना नहीं बनता, तब वह जगत् का कारण नहीं होसकता।

लोक में चेतन की समस्त प्रवृत्तियां प्रयोजन से युक्त देखी जाती हैं। प्रयोजन अपना और पराया दो प्रकार का होसकता है। जगत् की रचना में ब्रह्म का अपना कोई प्रयोजन सम्भव नहीं, क्योंकि शास्त्र में उसे अकाम आप्तकाम एवं आनन्दस्वरूप बताया गया है, न उसे किसी तरह की कामना है, न उसने कुछ प्राप्त करना है, वह स्वयं आनन्दस्वरूप है। अथर्ववेद [१०।८।४४] में उसे अकाम अमृत और रस से तृप्त बताया है—'अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः' अन्तिम पदों में बताया—

उसमें किसी तरह की कोई कमी नहीं है। मुण्डक उपनिषद् [२।२।७] में उसे आनन्द-रूप कहा है–'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति'। इसीप्रकार बृहदारण्यक [३।६।२८] में उसे आनन्दस्वरूप कहा है–'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'। ऐसे ब्रह्म का कोई अपना प्रयोजन जगद्रचना में सम्भव नहीं।

यदि परप्रयोजन से प्रवृत्त होता है, तो सर्ग से पहले पर–अन्य कोई हैं नहीं, जिनके प्रयोजन से जगत् की रचना कीजाय। यदि जीवात्माओं पर अनुग्रह की भावना से ब्रह्म जगत् की रचना करता है, कि ये जीवात्मा सर्गरचना होजाने पर संसार में भोग और अपवर्ग को सम्पन्न करेंगे; तो वह संसार को सुखमय बनाता, अन्यथा अनुग्रह कैसा? पर संसार सुखमय दिखाई नहीं देता; प्रत्युत अनेक प्रकार के दुःखों का यह आगार है, प्रत्येक प्राणी सदा इसका अनुभव करता है। इसलिये किसीप्रकार का प्रयोजन जगद्रचना में ब्रह्मका सम्भव नहीं होता। प्रयोजन के विना प्रवृत्ति नहीं। तब संसार की रचना में ब्रह्म की प्रवृत्ति को माना जाना सम्भव नहीं। फलतः ब्रह्म जगत् का कारण नहीं होना चाहिये ॥३२॥

आचार्य सूत्रकार ने इस जिज्ञासा का समाधान किया—

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥३३॥

[लोकवत्] लोक के समान [तु] तो [लीलाकैवल्यम्] लीला का केवल होना। ब्रह्म केवल लीलावश जगत् की रचना करता है, जैसे लोक में अनेक कार्य लीलावश होते एवं किये जाते देखे जाते हैं।

चेतन की समस्त प्रवृत्तियां अवश्य प्रयोजनपूर्वक होती हों, ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है। 'लीला' पद का प्रयोग दो अर्थों में देखा जाता है। एक साधारण क्रीड़ा, दूसरा अनायास। जिस कार्य के करने में श्रम का अनुभव न हो, वह कार्य अनायास किया गया कहा जाता है। 'आयास' श्रम को कहते हैं, जिसमें श्रम का अनुभव न हो, वह अनायास। इसी अर्थ में 'लीला' पद का प्रयोग होता है। जब कोई कार्य श्रम का अनुभव किये विना किया जाय, तब कहा जाता है–'लीलया कृतमेतत्' प्रयोग के इस भाव में करनेवाले के स्वभाव का द्योतन होता है, तथा लीला पद के अन्य अर्थ [क्रीड़ा] की ध्वनि भी उसमें रहती है। लीला [अनायास] से यह कार्य होगया, इसमें यह ध्वनित होता है, कि जैसे खेल-खेल में यह कार्य होगया हो। खेल में मनोरञ्जन व हर्षोल्लास का आधिक्य रहता है, श्रम की वहां गणना नहीं। इसप्रकार सूत्र में 'लीला' पद अनायास अथवा 'स्वभाव' का द्योतक है। कार्य में जो श्रम का अनुभव न करे, वह उसका स्वभाव समझा जाता है।

लोक में अनेक ऐसे कार्य स्वभाववश होते हैं। पर-सेवारत व्यक्तियों की ऐसी प्रवृत्ति देखी जाती है। अनेक निरीह निष्काम पुरुष दूसरों की सुविधाओं के लिये कार्य

में प्रवृत्त होते हैं, वहां उनका निजी प्रयोजन प्रायः कुछ नहीं रहता; उनका ऐसा स्वभाव बन जाता है। सूर्य प्रकाश करता है, चक्षु रूप देखता है, वह वस्तुस्वभाव है। परोपकार-प्रिय चेतन स्वभाव से पर-सेवानिरत होता है; ऐसे ही जगन्नियन्ता परब्रह्म का यह अनादि स्वभाव है, कि वह जगत् के जन्मादि में प्रवृत्त होता है, उसका निजी प्रयोजन इसमें ढूंढ़ना उसके स्वभाव को चुनौती देना है। कोई बालक जब मट्टी के घर बनाता और बिगाड़ता है, उसके लिये पूछा जाता है, कि यह ऐसा क्यों करता है ? तो यही उत्तर दिया जाता है, कि बालक का ऐसा स्वभाव है। जगद्रचना ब्रह्म का स्वभाव है, यहां प्रयोजन का प्रश्न नहीं।

बालक की रचना में मनोरञ्जन की सूक्ष्ममात्रा हो सकती है; ब्रह्म की जगद्रचना में भूतानुग्रह प्रयोजन कहा जासकता है। पातञ्जल योगदर्शन के व्यासभाष्य [१।२५] में इस भावना को अभिव्यक्त किया है—'तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्' उसकी अपनी किसी भलाई के न होने पर भी प्राणियों की भलाई जगद्रचना में उसका प्रयोजन है। जीवात्मा संसार में आकर अपने भोग और अपवर्ग का सम्पादन करता है। कहा जासकता है, यदि भूतानुग्रह ब्रह्म की जगद्रचना का प्रयोजन है, तो संसार सर्वथा सुखपूर्ण क्यों नहीं बनाया गया ? गम्भीरता से विचारपूर्वक देखा जाय, तो प्रतीत होगा, कि संसार सचमुच सुखपूर्ण बना हुआ है। यह इसके लिये प्रमाण है, कि कोई व्यक्ति संसार में आकर इसे छोड़ना नहीं चाहता। संसार में सर्वथा दुःखी दीखने वाला व्यक्ति भी इसे छोड़ने को तयार नहीं होता। फिर ब्रह्म ने तो संसार की अनन्त विभूतियां जीवात्मा के लिये प्रस्तुत करदी हैं, आत्मा का वह अपना प्रयास है, कि इनका सदुपयोग करे या दुरुपयोग, उससे सुख भोगे या दुःख; यह तो आत्मा की अपनी कमाई है ब्रह्म पर इसको आरोपित करना अपने आपको धोखे में रखना है। इसलिये जगत् की रचना में ब्रह्म का निजी प्रयोजन कुछ न होकर भूतानुग्रह प्रयोजन कहा जासकता है; पर जगद्रचना आदि करना ब्रह्म का स्वभाव है, यह वस्तुस्थिति है। आचार्य शंकर ने इस सूत्र के भाष्य में एक पंक्ति लिखकर इस आशय को अभिव्यक्त किया है—'एवमीश्वरस्यापि अनपेक्ष्य किञ्चित् प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति'।

प्रायः व्याख्याकारों ने सूत्र के 'लीला' पद का अर्थ साधारण 'क्रीड़ा' किया है, तथा लोक में राजा एवं अन्य सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा की जानेवाली क्रीड़ाओं को प्रयोजनहीन बताकर ब्रह्मद्वारा जगद्रचना की तुलना उनसे की है। पर ऐसा व्याख्यान निर्दोष प्रतीत नहीं होता। संसार में राजा तथा प्रजाओं द्वारा कीजाने वाली क्रीड़ाओं में कोई निजी प्रयोजन नहीं रहता, यह धारणा सर्वथा मिथ्या है। लोक में किसीके भी द्वारा की जानेवाली क्रीड़ाओं में निश्चितरूप से प्रयोजन रहता है। कोई क्रीड़ा विना प्रयोजन के नहीं बताई जासकती। वह प्रयोजन मनोरञ्जन हो, वासनाओं की पूर्ति हो, हर्षोल्लास का प्रदर्शन हो, अथवा अन्य कुछ हो, उसका कोई निजी प्रयोजन अवश्य होता है। इस-

लिये निजी प्रयोजनरहित जगद्रचना में ऐसी लोकक्रीड़ाओं की समानता प्रकट करना अयुक्त है। सूत्रकार का ऐसा आशय नहीं होना चाहिये। केवल ब्रह्म की सत्ता मानने वाले आचार्यों के लिये तो ऐसे व्याख्यान की यथार्थता का उपपादन करना और भी दुःशक होगा। यदि वह राजाओं के समान यह क्रीड़ा करता है, तो उसे निजी प्रयोजन से रहित नहीं कहा जासकता; तब उसे ब्रह्म के आप्तकाम व अकाम आसन से ही गिरा दिया जाता है। सूत्रकार का ऐसा आशय कदापि नहीं। फलतः यह निश्चित होता है, कि ब्रह्म संकल्पमात्र से अनादि उपादानतत्त्व प्रकृति को परिणत कर स्वभावतः जगत् की रचना आदि करता है। रचना के प्रयोजन की भावना से देखने पर भूतानुग्रह प्रयोजन कहा जासकता है, जो शास्त्रदृष्टि से प्रमाणित है ॥३३॥

प्रतिपाद्य अर्थ की पूर्णसिद्धि और दृढ़ता की भावना से शिष्य पुनः आशंका करता है, ब्रह्मद्वारा जगद्रचना में यथाकथञ्चित् भूतानुग्रह प्रयोजन माना जासकता था, यदि जगत् की रचना समान होती और सदा बनी रहती। जगत् में असंख्य विषमता देखी जाती हैं। आत्माओं को लाखों प्रकार की योनियों में पटक दिया गया है। मानव योनि में ही सबके दैहिक व ऐन्द्रियक सामर्थ्य समान नहीं होते। यह रचना यदि परब्रह्म की है, तो वह वैषम्य दोष से बच नहीं सकता। फिर कभी लहलहाते संसार का अचानक संहार होजाता है, सब प्राणी निर्दयता के साथ नष्ट कर दिये जाते हैं। तब ब्रह्म निर्दय भी होजाता है। पर ऐसा ब्रह्म होना असंभव है; इसलिये जगत् ब्रह्म की रचना नहीं माना जाना चाहिये। आचार्य सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति ॥३४॥

[वैषम्यनैर्घृण्ये] विषमता और निर्दयता [न] नहीं (ब्रह्म में), [सापेक्षत्वात्] सापेक्ष होने से [तथा हि] जैसा कि [दर्शयति] दिखाया जाता है। शास्त्र में यह प्रकट कर दिया है, कि संसार में विषमता और दुःख किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा से हैं; अतः ये दोष ब्रह्म में नहीं।

जगत् की विषमता और उसमें दुःख व संहार आदि होने का कारण ब्रह्म नहीं है। यदि ब्रह्म अपनी इच्छा से ऐसा संसार बनाता है, तो उसमें वैषम्य दोष का होना संभव है; पर ऐसे संसार की रचना में न उसका कोई प्रयोजन है, और न उसके स्वीकृत स्वरूप में ऐसी इच्छा होसकती है। वह प्राणियों के कर्मानुसार संसार का सर्जन व संहार किया करता है। आत्माओं के भोग व अपवर्ग की सिद्धि के लिये जैसे जगत् की रचना अपेक्षित है, वैसे विश्राम के लिये जगत् का संहार भी उपयोगी है। यह सब प्राणियों के कर्मानुसार होता है, ब्रह्म में उक्त दोषों का उद्भावन निराधार है।

संसार की विषमता के दो कारण हैं, (१) मूल उपादानतत्त्व, (२) तथा प्राणियों के शुभाशुभ कर्म। सत्त्व-रजस्-तमस् तीन प्रकार के मूलउपादानतत्त्व एक

दूसरे में मिथुनीभूत होकर विविध प्रकार की रचना में कारण होते हैं। जगत् की रचना प्राणियों के भोग के लिये है, इसलिये यह उनके अनुकूल होनी आवश्यक है, इस अनुकूलता का नियमन प्राणियों के शुभ-अशुभ कर्मों के आधार पर किया जाता है। पृथिवी आदि तथा यहां पर और बाहर पाये जाने वाले अन्य समस्त विविध प्रकार के तत्त्वों व पदार्थों की विभिन्न रचना मूलउपादानतत्त्वों के संमिश्रण पर आधारित होती है। भोग की भावना से वह रचना प्राणियों के अनुकूल हो, इसके लिये उनके अपने कर्म सहयोगी होते हैं। सर्वज्ञ चेतनतत्त्व ब्रह्म इस सबकी केवल व्यवस्था करता है। पृथिव्यादि भूतों अन्य तत्त्वों ओषधि वनस्पतियों नाना योनियों तथा देहादि की विभिन्नता प्राणियों की अपनी कमाई का फल है; ब्रह्म अपनी ओर से इसमें कोई बाधा या परिवर्त्तन नहीं लाता। उपादानतत्त्व तथा कर्मों की अपेक्षा से संसार में विषमता है, ब्रह्म केवल उनकी व्यवस्था करता है। फलतः उक्त दोषों का उसमें होना असंभव है।

प्राणी कर्म तो स्वतन्त्रता से करता है, पर उनके फलों को उस अवस्था में भोगना नहीं चाहता, जब वह उसके प्रतिकूल हों। तब यह व्यवस्था ब्रह्म के कार्यक्षेत्र में आजाती है। जगत् की रचना आदि का तथा प्राणियों के कर्मफलप्रदान का नियन्ता वही है। इस तथ्य को शास्त्रों ने प्रकट किया है। बृहदारण्यक उपनिषद्–[३।२।१३] में कहा–'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' शुभकर्म से सुख और पापकर्म से दुःखफल प्राप्त होता है। प्रश्न उपनिषद् [३।७] में बताया–'पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापम्, उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्' जीवात्मा पुण्य कर्म से उच्च योनियों को प्राप्त होता है, पापकर्म से नीच योनियों [कृमि कीट स्थावर आदि] को तथा दोनों शुभाशुभ मिश्रित कर्मों से मनुष्य योनि को पाता है। इसप्रकार संसार में विषमता आदि की स्थिति जहां प्राणियों के धर्म-अधर्म की अपेक्षा से है, वहां मूलउपादानतत्त्वों का परस्पर वैलक्षण्य और उनका अनन्त विविधताओं के साथ अन्योन्यमिथुनीभूत होकर संमिश्रण भी प्राकृत जगत् की विलक्षणता मे महान कारण है। यह इस तथ्य को भी पुष्ट करने में एक प्रबल प्रमाण है, कि यह विलक्षण जड़ जगत् सच्चिदानन्द चेतनस्वरूप ब्रह्म का परिणाम नहीं है। ब्रह्म केवल नियन्ता अधिष्ठाता होने से जगद्रचना में निमित्तकारण है। फलतः वैषम्य आदि दोषों की संभावना ब्रह्म में नहीं की जासकती। इससे निश्चय ही वह जगत् के जन्मादि का कारण है।

शुभाशुभ कर्मों के वैलक्षण्य से संसार में वैषम्य है, इस तथ्य को अन्य दर्शन-शास्त्रों ने स्वीकार किया है। सांख्यदर्शन [६।४१] में कहा है–'कर्मवैचित्र्यात् सृष्टि-वैचित्र्यम्' कर्मों की विभिन्नता से सृष्टि में विविधता का प्रादुर्भाव होता है[1]। ऐसे ही

१. अधिक विवरण के लिये देखें–'सांख्यदर्शन–विद्योदयभाष्य' प्रस्तुत ब्रह्मसूत्रभाष्य-कार, उदयवीर शास्त्री कृत, पृष्ठ २७४।

न्यायदर्शन में बताया–'पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः' [३।२।६०] शरीर आदि कार्य जगत् की उत्पत्ति आत्मा के पूर्वकृत कर्मों के अनुसार हुआ करती है। अगले इकसठ-बासठ सूत्रों द्वारा पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष का निर्देश करते हुए यह समझाया गया है, कि कार्यमात्र की उत्पत्ति में कर्म कारण होते हैं। छ्यासठवें सूत्र में इसको और अधिक पुष्ट किया गया है। आगे [४।१।२२–२४] पुनः बिना निमित्त के सर्ग आदि होजाने का पूर्वपक्ष उठाकर उसके प्रत्याख्यानद्वारा कर्मनिमित्तक सर्ग को सिद्ध किया है ॥३४॥

शिष्य ने आशंका की, उपादानतत्त्वों की त्रिगुणात्मकता जगत् के वैषम्य में एक कारण है, यह बात समझ में आती है, उपादानतत्त्व अनादि है, सर्ग से पहले विद्यमान रहता है; परन्तु कर्मों का अस्तित्व तब कहां ? कर्म तो प्राणियों द्वारा सर्ग-काल में देहादियोग के साथ किये जाते हैं। जब कर्म नहीं, तो उसके वैलक्षण्य का प्रश्न नहीं उठता। तब सर्ग से पहले कर्मवैलक्षण्य के अभाव में उसके आधार पर सर्ग का वैषम्य बताना निराधार है। आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥३५॥

[न] नहीं [कर्म] कर्म [अविभागात्] विभाग न होने से, [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो वह योग्य) [न] नहीं, [अनादित्वात्] अनादि होने से (कर्मों के)। सर्ग से पूर्व प्रलयकाल में देहादि विभाग न होने से जीवों के कर्मों की संभावना ही नहीं, तब कर्मों के कारण जगत् में विषमता है, यह निराधार है। ऐसा कहना योग्य नहीं, क्योंकि कर्म अनादि हैं।

उपनिषद् [छा० ६।२।१] में बताया, सर्ग से पहले यह सब जगत् 'सत्' अवस्था अर्थात् कारण अवस्था में रहता है, कार्यरूप से इसका विभाग नहीं होता। इसीको अन्यत्र [बृ० १।४।७] कहा–'तद्धेदं तर्हि अव्याकृतमासीत्' यह जगत् तब अव्याकृत अवस्था में रहता है। व्याकृत अवस्था कार्यजगत् की अवस्था है। प्रलयदशा में यह जगत् कारणरूप से विद्यमान रहता है; तब कार्य अवस्था के पृथिवी आदि विभागों का तथा आत्माओं के साथ देहादि विभाग का सर्वथा अभाव है। जीवात्मा देहादि के सहयोग में कर्म कर सकता है अन्यथा नहीं। देहादि का होना सर्ग के अनन्तर संभव है। तब सर्ग से पहले प्रलयदशा में देहादि के न होने के कारण जीवात्माओं के कर्मों की संभावना नहीं। ऐसी दशा में यह कहना, कि ब्रह्म जगत् की विषम रचना में जीवात्माओं के शुभाशुभ कर्मों की अपेक्षा करता है, असंगत है। सर्ग से पहले जब कर्मों का अस्तित्व नहीं, तो सर्गरचना में उनकी अपेक्षा कैसी ? तब जगत् के वैषम्य को देखते यही कहा जासकता है, कि सर्वज्ञ आप्तकाम ब्रह्म ऐसे जगत् का कारण नहीं कहा जाना चाहिये।

सूत्रकार ने समाधान किया, ब्रह्म के विषय में ऐसी आशंका करना अयोग्य है। गतसूत्र में जो कहा गया है, कि ब्रह्म इस विषम जगत् की रचना जीवात्माओं के शुभा-

शुभ कर्मों की अपेक्षा से करता है, वह सर्वथा युक्त है, इसमें कोई दोष नहीं। यह कहना, कि सर्ग से पूर्व जीवात्माओं के कर्म संभव नहीं, सर्वथा असंगत है। कारण यह है, कि जीवात्मा स्वरूप से अनादि हैं। अनादि काल से वे कर्म करते व भोगते आरहे हैं। पुराने कर्मों का भोगा जाना और नये कर्मों का किया जाना, यह क्रम अनादिकाल से निरन्तर चालू है, जिन कर्मों का फल भोग लिया जाता है, समाप्त होजाते हैं, शेष वासनारूप से अथवा धर्माधर्म एवं संस्काररूप से जीवात्माओं में अवस्थित रहते हैं। कर्मों का यह क्रम प्रवाह से अनादि है। तात्पर्य–कर्मों का यह प्रवाह [पुरानों का समाप्त होना नयों का प्रादुर्भूत होना] अनादि काल से चला आरहा है। इसी आधार पर जीवात्माओं का भोग्य एवं कार्यक्षेत्र संसार का प्रवाह भी अनादिकाल से चालू है। संसार के सर्ग और प्रलय एक दूसरे के आगे-पीछे अनादिकाल से निरन्तर होते आरहे हैं। ऐसी दशा में किसी एक सर्ग से पहले जीवात्माओं के कर्मों का अभाव रहता है, यह कहना सर्वथा असंगत है। किसी एक सर्ग से पहले प्रलयदशा में गत सर्गअवस्था में किये गये अनुपभुक्त कर्मों का अस्तित्व आत्माओं में बराबर बना रहता है। देहादि के असंबन्ध से तब नये कर्म आत्मा नहीं कर सकता, सुप्त जैसी अवस्था में पड़ा रहता है, पर गत-सर्ग के अनुष्ठित अवशिष्ट धर्माधर्म आत्माओं में अवस्थित रहते हैं। आनेवाली सर्ग-रचना के वैषम्य में वे धर्माधर्म निमित्त हैं। सर्गरचना का यह क्रम चलता रहता है। वेद [ऋ० १०।१९०।३] में कहा–'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' सूर्य चन्द्र आदि लोक-लोकान्तरों को जगद्रचयिता परब्रह्म परमात्मा पूर्वसर्गों के समान बनाता है। बीज-अंकुर के समान संसार एवं कर्मों का क्रम निरन्तर चला करता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है, कि कर्मों का प्रवाह अनादि होने से प्रलयदशा में उनका अस्तित्व रहता है, एवं जगत् के आगामी सर्ग के वैषम्य में उनका अपेक्षित सहयोग संभव है। इसलिये ब्रह्म के जगज्जन्मादिकारण होने में वैषम्य आदि दोषों का उद्भावन सर्वथा निराधार है। ॥३५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है; ब्रह्म, जीवात्मा और जगत् का मूल उपादान प्रकृति, ये अनादि तत्त्व हैं, पर कर्म तो जन्य हैं, जीवात्मा कर्म किया करता है, इसे अनादि कैसे कहा गया? कर्म के अनादि होने का कहीं उल्लेख भी नहीं मिलता। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥३६॥

[उपपद्यते] उपपन्न है–युक्तिप्रमाण से सिद्ध है [च] और [उपलभ्यते] उपलब्ध होता है [च] भी। युक्ति आदि से कर्म का अनादि होना सिद्ध होता है, तथा इसका शास्त्र में उल्लेख भी उपलब्ध है।

जीवात्मा स्वरूप से अनादि हैं, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। युक्ति एवं तर्क के

आधार पर आत्मा के कर्म और उसका क्षेत्र यह संसार अनादि सिद्ध होता है। यदि चालू संसार की रचना से पहले कभी ऐसा संसार नहीं बना, तो इसकी विषम रचना और प्राणियों को विविध सुख दुःख आदि की प्राप्ति विना कारण के माननी होगी, जो सवथा असंगत है। ईश्वर इस वैषम्य का कारण नहीं है, यह कहा जाचुका है। किसी कार्य का विना कारण होना मान लेने पर कार्यकारण की व्यवस्था तथा इसपर आधारित समस्त जगत्व्यवहार नष्ट होजायगा। आत्माओं का विभिन्न देह आदि के साथ सम्बन्ध कर्मों के विना संभव नहीं, तथा कर्म देहादिसंबन्ध के विना संभव नहीं। इसलिये चालू संसार की रचना से पहले आत्माओं के विभिन्न कर्मों का माना जाना आवश्यक है, अन्यथा आदिसर्ग में विभिन्न देहों के साथ आत्माओं का सम्बन्ध निर्निमित्तक होजायगा। जब कर्मों का अस्तित्व चालू सर्ग से पहले है, तो उसके पूर्व आत्माओं का देहादिसम्बन्ध भी अवश्य मानना होगा, क्योंकि इसके विना कर्मों का होना संभव नहीं। देहादिसम्बन्ध के लिये संसार को भी पहले मानना होगा। फलतः चालू सर्ग से पहले संसार का होना, आत्माओं का देहादिसम्बन्ध और उनके कर्मों का होना निश्चित होता है। इन्हीं आधारों पर इस क्रम का कोई आदि काल नियत नहीं किया जासकता, इसलिये यह सब अनादि मानना युक्त है।

यह समझना ठीक नहीं, कि यही संसार इसी रूप में अनादिकाल से चला आरहा है, अथवा कोई एक या अनेक कर्म उसी रूप में अनादि काल से चले आरहे हैं। कर्म अनुष्ठानरूप है, क्रियारूप है, जन्य है; इसलिये कोई एक या अनेक कर्म उसी रूप में अनादि काल से चले आरहे संभव नहीं। संसार भी मूलउपादानतत्त्वों से इस रूप में परिणत होता है, प्रलय अवसर आने पर कारणरूप में पुनः अवस्थित होजाता है। कर्म और देहादि संसार का क्रम बीज-अंकुर के समान सदा चला करता है। बीज से अंकुर होता है, वह पेड़ बनकर पहले के समान अन्य बीजों को पैदा करता है। उस बीज को नहीं, जिससे वह पेड़ बना है। पेड़ के वे बीज अन्य समान पेड़ों को पैदा करते हैं, उस पेड़ को नहीं, जिससे वे स्वयं प्रादुर्भूत हुए हैं। आत्मा के कोई कर्म एक देह से सम्बन्ध के कारण होते हैं, वह देहसम्बन्ध अन्य कर्मों का साधन बनता है। यह क्रम अनादि है। तात्पर्य यह, कि कर्म और संसार का यह प्रवाह अनादि है। इसी आशय से कर्मों को अनादि कहा है, ऐसे ही संसार अनादि है। कर्मों के जन्य होने पर भी उनके इस अनादि प्रवाह में कोई बाधा नहीं।

संसार के अनादि होने का संकेत शास्त्र में उपलब्ध होता है। ऋग्वेद का मन्त्र [१०।१९०।३] गतसूत्र की व्याख्या में निर्दिष्ट कर दिया है। छान्दोग्य उपनिषद् [६।३।२] में कहा-'अनेन जीवेनात्मना' उपनिषत्कार ने सर्ग के प्रारम्भ में ईश्वर-संकल्प का निर्देश करते हुए ये पद कहे-'इस जीवात्मा के साथ'। इससे स्पष्ट है, सर्ग से पूर्व जीवात्मा का अस्तित्व है, और उसके कर्मों के अनुसार संसार में उसका पुनः

प्रवेश होरहा है। इससे उस अवस्था में कर्मों का अस्तित्व निश्चित है। जीवात्मा के ये कर्म देहादिसम्बन्ध के बिना संभव नहीं। चालू सर्ग से पूर्व आत्माओं का देहादि-सम्बन्ध ऐसे ही किसी पूर्व संसार के अस्तित्व को सिद्ध करता है। इसप्रकार युक्ति और शब्दप्रमाण से कर्म एवं संसार के प्रवाह का अनादि होना निश्चित है[1]। फलतः कर्मानुसार संसार की विषम रचना मानने पर ब्रह्म की जगज्जन्मादिकारणता में कोई दोष नहीं आता ॥३६॥

जगत् की रचना में अनेक कारण अपेक्षित होते हैं, उनका उपपादन प्रस्तुत पाद में किया गया। उसका उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने पाद का अन्तिम सूत्र कहा—

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥३७॥

[सर्वधर्मोपपत्तेः] सब धर्मों की उपपत्ति–उपस्थिति से [च] ही। अपेक्षित सब धर्मों–कारणों की उपस्थिति से ही जगत् की रचना होती है।

द्वितीय अध्याय के इस प्रथम पाद द्वारा स्मृतिनिमित्तक एवं तर्कनिमित्तक उन विरोध व बाधाओं का समाधान किया गया, जो जगत् की रचना में अपेक्षित कारणों के विषय में प्रस्तुत किये गये। इसप्रकार यह प्रकरण जगत् की रचना में अपेक्षित कारणों का निश्चय करता है। सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म इस जगत् का निमित्तकारण नियन्ता व अधिष्ठाता है। त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति इसका उपादानकारण है। जीवात्माओं के शुभाशुभ कर्म तथा अन्य अपेक्षित सब कारण इस जगद्रचना में साधारण कारण की कोटि में आते हैं। सृष्टि के लिये इन सभी कारणों की अपेक्षा रहती है। प्रत्येक कारण अपनी स्थिति में महत्त्वपूर्ण है। जगद्रचना के अवसर पर इनमें किसीकी उपेक्षा नहीं की जासकती। कोई एकमात्र चेतन व अचेतनतत्त्व जगद्रचना में असमर्थ रहता है। अभीतक इस अर्थ का उपपादन किया गया, कि जड़ उपादानतत्त्व के सहयोग बिना केवल चेतनतत्त्व जगत् का निर्माण नहीं करपाता। इसीके अनुसार प्रकृति एवं शुभाशुभ कर्म आदि के कारण होने का वर्णन किया गया। सूत्र का यह अर्थ युक्त प्रतीत नहीं होता, कि ब्रह्म में कारणता के सब धर्मों की उपपत्ति होने से एकमात्र ब्रह्म जगत् का सर्वविध कारण है। ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता का उपपादन तो 'सर्वोपेता च तद्दर्शनात्' [वे० सू० २।१।३०] इस सूत्र-द्वारा कर दिया गया है, उसकी पुनरुक्ति करना निरर्थक था। एकमात्र ब्रह्म की सर्वविध कारणता का विरोध गत प्रकरण से होजाता है, जहां बलपूर्वक जगत् की विषम रचना में कर्मों की कारणता का उपपादन किया है। फलतः प्रस्तुत सूत्र गतप्रकरण में

१. इस विषय में गीता [१५।१, ३] और मनुस्मृति [१।५१–५४; ८०; १२।१२४] के निर्दिष्ट स्थल द्रष्टव्य हैं। पुराणों में भी इस तथ्य का उल्लेख हुआ है, कि अतीत और अनागत सृष्टिकल्पों की कोई गणना नहीं की जासकती। यह क्रम अनादि–अनन्त है।

वर्णित जगद्रचना के सब अपेक्षित कारणों का निगमन करता है।

अब आगे इस तथ्य का उपपादन किया जायगा, कि चेतन ब्रह्म के प्रेरणा आदि सहयोग के विना केवल जड़तत्त्व से जगत् का निर्माण सम्भव नहीं, चेतनतत्त्व इस सबका नियन्ता व आधार है, इस रचना में उसका सर्वोत्कृष्ट महत्त्व है। इससे मिलता-जुलता अन्य आवश्यक विवेचन भी इसके साथ होगा ॥३७॥

इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः।

अथ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः।

जगत् की रचना में ब्रह्म, जीवात्मा और प्रकृति तीनों तत्त्व यथास्थान अपेक्षित हैं, इस प्रदिपादित अर्थ की दृढ़ता के लिये तर्क पर आश्रित कतिपय विचारों का तर्क-द्वारा विवेचन इस पाद में प्रस्तुत किया जाता है। पहले दो चेतन और तीसरा जड़तत्त्व है। चेतनतत्त्वों में पहला सर्वज्ञ सर्वशक्ति सर्वान्तर्यामी व सर्वनियन्ता एकमात्र है, दूसरा अल्पज्ञ अल्पशक्ति परिच्छिन्न व देहादिमात्र में आंशिक नियन्ता संख्या में अनन्त है। यह निश्चय किया गया–जगत् की रचना में जड़तत्त्व उपादान है, तथा सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म उसका नियन्ता व व्यवस्थापक है। वही जड़ उपादानतत्त्व को कार्य जगद्रूप में अपनी व्यवस्थानुसार परिणत करता है।

इस वस्तुस्थिति पर शिष्य ने जिज्ञासा की, जगद्रचना में सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म अनावश्यक है। यह क्यों न मानलिया जाय, कि जड़ उपादानतत्त्व स्वभाव से जगद्रूप में परिणत होजाता है। यदि ऐसा सम्भव हो, तो ब्रह्मजिज्ञासा और 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि उसके स्वरूप का उपपादन व्यर्थ तथा शास्त्र का आरम्भ निराधार। आचार्य सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥१॥

[रचनानुपपत्तेः] रचना की अनुपपत्ति–असिद्धि से [च] और [न] नहीं [आनुमानम्] अनुमानमात्र से जाना गया अर्थ। केवल अनुमान–तर्क से जाना गया यह अर्थ–कि चेतन की प्रेरणा के विना जड़ उपादानतत्त्व स्वभाव से जगद्रूप में परिणत होजाता है–ठीक नहीं; क्योंकि इसप्रकार जगत् की रचना सिद्ध न होसकेगी।

जड़ उपादानतत्त्व क्या है? उसके स्वरूप का उपपादन यहां अपेक्षित नहीं। सिद्धान्तपक्ष यही है–सत्त्वरजस्तमोमय त्रिगुणात्मिका प्रकृति वह तत्त्व है, जिसका

विवरण छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय के प्रारम्भिक खण्डों में दिया गया है, तथा वेद और समस्त वैदिक एवं दार्शनिक साहित्य में विभिन्न नामों से जिसका उल्लेख हुआ है। अनेक आचार्यों ने उसके विभिन्न कार्यस्तरों को अधिकारी जिज्ञासुओं के भेद से जगत् के उपादानतत्त्वों के रूप में विवृत किया है। ये सब स्तरों के जड़तत्त्व चेतन की प्रेरणा के विना, स्वभाव से कार्यरूप में परिणत होते रहते हैं, इन विचारों व भावनाओं का विवेचन यथाक्रम इस प्रकरण में प्रस्तुत किया जारहा है। यह [प्रकरण का प्रथम भाग है, जिसमें जगत् के वास्तविकमूलउपादान तत्त्व प्रकृति को उसी रूप में स्वीकार कर चेतन के सहयोग विना स्वभावमात्र से जगत् प्रक्रिया का विवेचन है।

यह अर्थ–चेतनप्रेरणा विना जड़ प्रकृति स्वभाव से स्वतः जगद्रूप में परिणत हुआ करती है–शास्त्रद्वारा उपपादित नहीं है, केवल तर्क-बल पर कल्पना किया गया है; इसलिये सूत्रकार ने इसे 'आनुमानम्' पद से निर्दिष्ट किया, जो केवल अनुमान के आधार पर जाना जाता है, शास्त्र अर्थात् शब्दप्रमाण इसका पोषक नहीं है। वेद कहता[1] है–सर्ग से पूर्व स्वधा [प्रकृति] के साथ चेतन ब्रह्म विद्यमान रहता है; कारण के साथ एकीभूत जगत् सर्गकाल में तेजोमय चेतन के सामर्थ्य से प्रादुर्भूत होजाता है। परमात्मा का संकल्प जगत् का प्रथम कारण है। क्रान्तदर्शी ऋषि विचारपूर्ण बुद्धिद्वारा अव्यक्त से व्यक्त के इस सम्बन्ध को जानलेते हैं। इसप्रकार वेद ने इस तथ्य को स्पष्ट कहा, कि चेतन के सामर्थ्य से जड़प्रकृति कार्य जगद्रूप में परिणत होती है, स्वतः नहीं।

इस अर्थ की दृढ़ता के लिए शिष्य की जिज्ञासा का आशय है, कि प्रकृति का ऐसा स्वभाव हो, कि वह जगत् के रूप में परिणत होजाती है, उसके लिये किसी चेतन की प्रेरणा अपेक्षित नहीं। किसी वस्तु के स्वभाव में कोई बाधा नहीं डाली जासकती। अयस्कान्त [चुम्बक] लोह धातु का आकर्षण करता है, यह उसका स्वभाव है, वहां कोई चेतन-प्रेरणा नहीं है। प्रकृति का स्वभाव है–जगद्रूप में प्रादुर्भूत होजाना; इसमें चेतन की प्रेरणा का कोई अवसर नहीं।

आचार्य ने समाधान किया, यह केवल तर्क पर आधारित कथन ठीक नहीं। कारण यह है, कि इसप्रकार जगत् की रचना न होपायेगी। इस रचना में एक निश्चित व्यवस्था देखी जाती है। ऐसी व्यवस्था विचारपूर्वक–ज्ञानपूर्वक कार्य किये जाने पर सम्भव होती है। जगत् की प्रत्येक रचना का कोई विशिष्ट प्रयोजन दिखाई देता है। लोक में चेतन मानवद्वारा की गई रचनाओं में यह सब [व्यवस्था व प्रयोजन आदि] प्रत्यक्ष देखा जाता है। घर की रसोई में आटा दाल चावल घी मसाला लकड़ी बर्त्तन आदि सब व्यवस्था के साथ रक्खे हुए होते हैं, यह एक रचना है, और इसमें प्रत्येक

---

१. देखें–ऋग्वेद [१०।१२९।२–४], इन ऋचाओं की विस्तृत व्याख्या के लिये द्रष्टव्य –'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ ३५२–३६१।

का विशिष्ट प्रयोजन है । व्यापारी की दूकान में सब सामान व्यवस्थितरूप से लगा है, सबका प्रयोजन है । एक मकान की रचना में प्रत्येक सामग्री की व्यवस्था और उसकी बनावट की विशेषताओं का प्रयोजन स्पष्ट देखा जाता है । यह न केवल मानवरचनाओं में, अपितु तिर्यक् प्राणियों की रचनाओं में भी यह व्यवस्था व प्रयोजन दृष्टिगोचर होते हैं । प्रसव से पूर्व सामान्य चिड़ियां अपने घोंसला बनाने में तत्पर देखी जाती हैं, बया नाम का छोटा-सा पक्षी, सुन्दर स्थायी घोंसला बनाता है । ऐसी रचना जिनमें व्यवस्था व प्रयोजन स्पष्ट दिखाई देते हैं, चेतनद्वारा की जाती हैं, यह लोकसिद्ध है । निश्चित है, कि व्यवस्था के साथ किसी विशेष प्रयोजन से रचना करना चेतन का धर्म है, जड़तत्त्व के स्वभाव से ऐसा होना सम्भव नहीं । विश्व की रचना विविध रूपों में हैं, और सबका एक विशिष्ट प्रयोजन है, ऐसी रचना विचारपूर्वक परीक्षण के साथ की-जासकती है । किसी जड़वस्तु का स्वभाव एकरूप रहता है, चुम्बक लोहे को केवल आकृष्ट कर सकता है, अन्य कुछ नहीं; फिर केवल लोहे को आकृष्ट करता है, अन्य वस्तु को नहीं । पर जड़ उपादानतत्त्व अगणनीय विविधरूपों में परिणत हुआ है, इसके लिये अयस्कान्त के स्वभाव की तुलना निराधार है । इससे निश्चित होता है, चेतन सह-योग के विना केवल जड़ उपादानतत्त्व से–उसका ऐसा स्वभाव मानकर–जगत् की रचना सिद्ध नहीं होपाती ।

मकड़ी अपने देह से जाला बनाती है, पर देह से यह जाला तभी बनसकता है, जब वहां इस क्रिया का प्रेरक चेतन आत्मतत्त्व बैठा रहता है, मरा हुआ मकड़ी का देह जाला नहीं बनासकता, यद्यपि वे तत्त्व तब भी वहां विद्यमान रहते हैं । ऐसे ही कारणरूप में विद्यमान जगत् चेतन की प्रेरणा के विना जड़ उपादानतत्त्व के स्वभावमात्र से कार्य-रूप में परिणत नहीं होसकता; तब जगत् की रचना अनुपपन्न होजायगी, इसलिये तर्क पर आधारित उक्त कथन ठीक नहीं है ॥१॥

आचार्य सूत्रकार उक्त अर्थ [आनुमान के असांगत्य] में अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

प्रवृत्तेश्च ॥२॥

गतसूत्र से 'अनुपपत्तेः' पद की इस सूत्र में अनुवृत्ति है । [प्रवृत्तेः–अनुपपत्तेः] प्रवृत्ति की अनुपपत्ति से [च] और । और प्रवृत्ति की अनुपपत्ति–असिद्धि से आनुमान कथन ठीक नहीं ।

केवल जड़ उपादानतत्त्व से चेतन के अनुग्रह विना स्वतः जगत् की रचना तो दूर रही, जड़ में स्वतः प्रवृत्ति ही नहीं होसकती । किसी कार्यविशेष के लिये की जाने वाली विशिष्ट क्रिया का नाम 'प्रवृत्ति' है । जड़तत्त्व में ऐसी क्रिया चेतनसम्बन्ध से होपाती है स्वतः नहीं । लोक में अन्वय-व्यतिरेक से यह सिद्ध है, कि ऐसी क्रिया का

करना चेतन का धर्म है। चेतन आत्मा यह विचार करता है, कि अमुक कार्य मुझे करना है, इसके बनाने में क्या कारणसामग्री अपेक्षित होगी। वह उस सामग्री को एकत्रित करता है, और उसमें परिणाम के अनुकूल क्रिया–प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है। उसके अनुसार अभिलषित परिणत-कार्य सामने आजाता है। घड़ा बनाने के लिये मट्टी चाक डण्डा जल धागा आदि सामग्री में घट कार्य के अनुकूल समस्त क्रिया कुम्हार द्वारा उत्पन्न कीजाती हैं, यह सामग्री स्वतः न घटरूप में परिणत होती, न उसके अनुकूल इसमें कोई क्रिया होती, यह सब व्यवस्था व क्रिया चेतन कर्त्ता द्वारा की जाती हैं। जड़तत्त्व में इसप्रकार का विवेचन आदि करना सम्भव नहीं, क्योंकि उसमें ज्ञानशक्ति का अभाव रहता है। जगत् का उपादानतत्त्व जड़ है, उसमें कार्य के लिये उक्त प्रेक्षण का होना असम्भव है, तब वह किसी तत्त्व में या अपने आपमें परिणाम के लिये क्रिया उत्पन्न नहीं करसकता। ऐसी क्रिया–प्रवृत्ति के अभाव में परिणाम कैसा? जब जड़ उपादानतत्त्व में स्वतः प्रवृत्ति सम्भव नहीं, तब उससे जगत् की रचना का प्रश्न ही नहीं उठता। फलतः अनुमानमात्र पर आधारित उक्त कथन संगत नहीं कहा जासकता।

लोक में कोई ऐसा दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होता, जहां जड़तत्त्व में स्वतः क्रिया का होना प्रतीत होता हो। रथ आदि जड़ पदार्थ एवं मृत शरीर आदि में स्वतः प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। प्रत्यक्ष के अनुसार ही इन्द्रियातीत पदार्थों के विषय में अनुमान करना संगत समझा जाता है। फलतः जड़ उपादानतत्त्व में स्वतः प्रवृत्ति का होना असामञ्जस्यपूर्ण है ॥२॥

शिष्य आशंका करता है, लोक में देखा जाता है, कि अनेक जड़ पदार्थों में स्वतः प्रवृत्ति होती है। बछड़े के लिये दूध गाय आदि के थनों में स्वतः प्रवृत्त होजाता है, जल स्वतः बहते रहते हैं। जड़ उपादानतत्त्व में ऐसी ही प्रवृत्ति मानी जासकती है। आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान प्रस्तुत किया—

पयोऽम्बुवच्चेत् तत्रापि ॥३॥

[पयोऽम्बुवत्] दूध और पानी के समान [चेत्] यदि, [तत्र] वहां [अपि] भी। दूध और जल के समान जड़ उपादानतत्त्व में स्वतः प्रवृत्ति हो जायगी, ऐसा यदि कहो, तो वहां भी चेतन का सहयोग है, यह निश्चित समझना चाहिये।

आशंका का अभिप्राय है, कि दूध जैसे बच्चे के लिये स्वतः थनों द्वारा बहने लगता है, और एक नियत स्थितिवाले दही आदि की रचना करता है; तथा जल स्वतः स्रोतों नदी नालों में बहता रहता है, एवं एक नियत स्थितिवाले ओले आदि की रचना करता है; ऐसे जड़ उपादानतत्त्व जीवात्माओं के भोग आदि सम्पादन के लिये स्वतः प्रवृत्त हो जगत् की रचना करेगा। इसमें चेतन के सहयोग की अपेक्षा प्रतीत नहीं होती।

सूत्रकार ने समाधान किया, इन दृष्टान्तस्थलों में भी चेतन का सहयोग है।

स्तनों में दूध की प्रवृत्ति, देह में चेतन आत्मा के रहने पर सम्भव है। बच्चे के पोषण के लिये मातृवात्सल्य के साथ चेतनसंकल्प से दूध का प्रस्रव स्तनों में होता है, अन्यथा नहीं। बच्चे की चाहना पर भी अनेक बार वात्सल्य की शिथिलता अथवा दूध की कमी से दूध पिलाने में गाय भैंस को लात मारते देखा गया है। यदि दूध की स्वतः प्रवृत्ति हो, तो ऐसा होना सम्भव नहीं। उस प्रवृत्ति में निश्चित रूप से चेतन आत्मा निमित्त है। इसीकारण माता के मृत देह से क्षीरपायी बच्चा कभी दूध नहीं पासकता। कुछ समय पहले दूध पिलाकर अचानक मर जाने वाली गाय के अयन में दूध की मात्रा रहने पर भी बच्चे के लिये स्तनों में दूध स्रवित होता नहीं देखा जाता। शवच्छेदक्रिया से इस बात की परीक्षा की गई है, कि बच्चेवाली मादीन की दुग्ध पेशियों में अचानक मर जाने के बाद दूध की मात्रा रहती है। इससे यह निश्चित होता है, कि दुग्धस्राव में चेतनसहयोग आवश्यक है। दूध का दही परिणाम स्वतः नहीं होता, चेतनद्वारा की गई अनेक क्रियाओं के अनन्तर दूध का दही बनता है।

जल द्रव होने से स्वभावतः निम्नानुसारी [निचान की ओर बहनेवाले] होते हैं। प्रत्येक द्रव पदार्थ ऐसा होगा। पदार्थों का ऐसा विशिष्ट स्वभाव किसी चेतनद्वारा व्यवस्थित है। उसी व्यवस्था के अनुसार निमित्तान्तरों से इनमें परिवर्त्तन भी देखा जाता है। अधिक शीत से जहां पानी जमकर ओला वा हिम के रूप में उपलब्ध होता है, वहां अधिक ताप से वाष्प बनकर अन्तरिक्ष में फैल जाता है; जल का रूप न रहने पर बहाव समाप्त होजाता है। तात्पर्य यह है, कि पदार्थों की इन नियमित व्यवस्थाओं के पीछे किसी चेतन के सहयोग को आवश्यक रूप से मानने के लिये बाध्य होना पड़ता है, क्योंकि जड़तत्त्वों में उक्त हेतुओं के कारण इन नियमित व्यवस्थाओं के सम्पादन करने का सामर्थ्य नहीं रहता। क्योंकि वहां ज्ञान व विवेचना का अभाव है।

शास्त्र में तो इस तथ्य को स्पष्ट कहा है, कि विश्व का संचालन, लोक-गति का नियन्त्रण अन्तर्यामी चेतन ब्रह्मद्वारा होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् [३।७।४] में कहा–'योऽपोन्तरो यमयति' जो जलों के अन्दर रहता हुआ उनका नियन्त्रण करता है। ऐसा वह ब्रह्म है। आगे [बृ० ३।८।९] बताया–'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते···प्रतीच्योऽन्याः' हे गार्गि ! इस अविनाशी चेतनतत्त्व ब्रह्म के प्रशासन में पूरब और पश्चिम की तथा पुरानी और नई विभिन्न नदियां निरन्तर बहरही हैं। इससे जलों अथवा अन्य जड़ पदार्थों में चेतननिरपेक्ष स्वतः प्रवृत्ति का होना सम्भव प्रतीत नहीं होता। फलतः ये दृष्टान्त जगत् के जड़ उपादान तत्त्व में स्वतः प्रवृत्ति सिद्ध करने के लिये सर्वथा असमर्थ हैं ॥३॥

यदि दुर्जनतोषन्याय से जड़ उपादानतत्त्व में स्वभावतः प्रवृत्ति मानली जाय, तो निवृत्ति का होना असंभव है, तब सदा संसार इसी रूप में बना रहना चाहिये, प्रलय कभी न हो। पर संसार में बनना बिगड़ना दोनों अवस्था देखी जाती हैं। इस

आशय से सूत्रकार ने उक्त विषय में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥४॥

[व्यतिरेकानवस्थितेः] व्यतिरेक–विपरीत की न अवस्थिति से [च] और [अनपेक्षत्वात्] न अपेक्षा होने से (आनुमान अयुक्त है)। सर्ग से विपरीत प्रलय की अवस्थिति न होने से आनुमान स्वतः कारण नहीं; और व्यवस्थापक चेतन की अपेक्षा न होने से प्रलय की अनवस्थिति होगी।

यदि यह मानलिया जाता है, कि जड़ उपादानतत्त्व स्वतः जगत् के सर्ग में प्रवृत्त होता है, यह उसका स्वभाव है; तो जगत् की सर्ग से विपरीत प्रलय अवस्था कभी न आनी चाहिये। कारण यह है, कि जड़तत्त्व का स्वभाव सदा एक रहता है। सर्ग की प्रवृत्ति यदि उपादानतत्त्व का स्वभाव है, तो उसमें स्वतः निवृत्ति धर्म नहीं हो-सकता। ऐसी दशा में जगत् की कभी प्रलय अवस्था न आयेगी। क्योंकि उपादानतत्त्व केवल प्रवृत्ति स्वभाव होने से किसी चेतन व्यवस्थापक की अपेक्षा नहीं करता, तब जड़ होने से वह स्वतः अपने प्रवृत्तिस्वभाव का परित्याग नहीं करसकता। केवल चेतनतत्त्व में ज्ञान होने से यह सामर्थ्य रहता है, कि वह विपरीत क्रियाओं को उत्पन्न कर दे।

उपादानतत्त्व का विरूप परिणाम सर्ग है, अव्यक्त दशा से व्यक्त दशा में आजाना जगत्-सर्ग है, यह विरूप परिणाम हुआ। प्रलयदशा सरूप परिणाम है, उस दशा में अव्यक्त उपादानतत्त्व अपने अव्यक्त रूप में बना रहता है, कोई विकार उसमें नहीं आता। उपादानतत्त्व की ये दोनों अवस्था परस्पर विपरीत हैं। सर्ग और प्रलय की क्रमिक व्यवस्था चेतनसहयोग के विना जड़ उपादानतत्त्व में स्वतः सम्भव नहीं। प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप विपरीत क्रियाओं को उत्पन्न करना केवल चेतन का धर्म देखा जाता है। जगत् का सर्ग के समान प्रलय भी होता है, यह जगत् में बनना-बिगड़ना दोनों देखे जाने से सिद्ध है। शास्त्र इसका स्पष्ट कथन करता है। ऋग्वेद [१०।१२९।१-२] की ऋचा इस विषय में प्रमाण हैं। मनु के प्रथम अध्याय [५२–७४] में सर्गवर्णन के अनन्तर ८।१८-प्रलय-सर्ग के क्रमिकरूप में होने का उल्लेख हुआ है। इस प्रसंग में गीता के [७।६; १९; ९।७; ११।२; १४।२] अनेक स्थल, तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् [३।२-३; ५।३] के सन्दर्भ द्रष्टव्य हैं। इस विवेचन से प्रमाणित होता है, कि जड़ उपादानतत्त्व में स्वभावतः प्रवृत्ति नहीं है। चेतन की प्रेरणा से उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति हुआ करती हैं ॥४॥

शिष्य आशंका करता है, जड़ उपादानतत्त्व विना चेतन-अनुग्रह के स्वतः परिणत होता लोक में देखा जाता है। गाय आदि मादीन जानवर घास आदि खाते हैं, वह घास आदि उपादानतत्त्व स्वतः दूध के रूप में परिणत होजाते हैं। ऐसे ही मूलउपादान जड़तत्त्व स्वतः जगद्रूप में परिणत होसकता है। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥५॥

[अन्यत्र] दूसरी जगह [अभावात्] न होने से [च] भी [न] नहीं [तृणादिवत्] तृण आदि के समान। तृण—घास आदि के दूधपरिणाम के समान जड़ उपादान तत्त्व जगद्रूप में परिणत होजायगा, ऐसा भी नहीं कहसकते, क्योंकि गाय आदि मादा के अतिरिक्त बैल आदि का खाया गया घास दूध में परिणत नहीं होता।

चेतन की अपेक्षा के विना मूल जड़ उपादानतत्त्व के कार्यरूप में स्वतः परिणत होने की सिद्धि के लिये जो दृष्टान्त दिया गया है, वह अभिलषित अर्थ को सिद्ध नहीं करता। गाय का खाया गया तिनका पत्ता घास पानी आदि खाद्य यदि विना किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा के स्वतः दूध के रूप में परिणत होजाता है, तो बैल आदि अन्य नर पशुओं द्वारा खाया गया खाद्य भी दूधरूप में परिणत होना चाहिये; पर ऐसा नहीं होता, इसलिये मानना होगा, कि वहां कोई विशेष निमित्त अवश्य है, जिस कारण से गाय में दूधपरिणाम होता है, बैल आदि में नहीं। गाय आदि मादा पशुओं में भी सदा ऐसा नहीं होता, केवल प्रसूता मादा में ऐसा देखा जाता है, इससे निश्चित होता है, कि इसका विशेष निमित्त अवश्य है।

प्रत्येक प्राणी के द्वारा उपयुक्त खाद्य उसके देहांगों का पोषण करने वाले विभिन्न रसों के रूप में परिणत होजाता है। ऐसा ही विशिष्ट मादा प्राणियों में तथा विशेष अवस्थाओं में खाद्य का एक परिणाम दूध है। खाद्य के ये सब परिणाम प्राणियों की केवल जीवित दशा में होते हैं। इससे यह निश्चय होता है, कि खाद्य के इन परिणामों में चेतन का सहयोग आवश्यकरूप से रहता है, अन्यथा अजीवित अवस्था में भी ऐसा होता रहना चाहिये। इसके अतिरिक्त विशेषरूप से खाद्य का दूधपरिणाम एक अतिसीमित अवस्था में देखा जाता है, वह मादा की केवल प्रसूतावस्था है। विचारणीय है, कि इसी अवस्था में ऐसा क्यों है? यह स्थिति विचारशील व्यक्ति का ध्यान इस ओर आकृष्ट करती हैं, कि यह एक ईश्वरीय व्यवस्था है, जिसके द्वारा उस नवजात मासूम बच्चे की उपयुक्त खुराक का प्रबन्ध किया गया है। कौन बुद्धिमान् व्यक्ति इसे विना चेतन-अनुग्रह के स्वतः स्वभावतः होनेवाला कह देगा? यदि घास आदि तृण स्वभावतः स्वतः दूध में परिणत हुआ करते, तो संसार में दूध की नदियां बहतीं। इसलिये मानना पड़ता है, कि यह अचिन्त्यशक्ति परब्रह्म परमात्मा की अनुग्रहपूर्ण व्यवस्था का फल है, जो नियमितरूप से संसार में देखा जाता है। इसे स्वतः कहना अज्ञान का द्योतन करना है। फलतः जड़ उपादानतत्त्व का स्वतः सर्ग-प्रलय आदि परिणाम कहना असंगत है ॥५॥

दुर्जनतोषन्याय का आश्रयण कर सूत्रकार ने जड़ उपादानतत्त्व की स्वतः प्रवृत्ति का प्रकारान्तर से समाधान किया—

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥६॥

[अभ्युपगमे] स्वीकार करलेने पर [अपि] भी [अर्थाभावात्] प्रयोजन के न होने से। यदि मान भी लिया जाय, कि चेतन-अनुग्रह के विना स्वभावतः जड़ उपादान-तत्त्व जगत् का कारण होता है, तो भी उससे सर्ग-प्रलय का होना समञ्जस नहीं होता, प्रयोजन के न होने से।

सूत्र में 'अर्थ' पद प्रयोजन का वाचक है। प्रत्येक प्रवृत्ति किसी प्रयोजन को लेकर होती है। जगत् की रचना जीवात्माओं के भोग व अपवर्ग की सिद्धि के लिये है। जगद्रचना का यह प्रयोजन है। जड़ उपादानतत्त्व जगत् की रचना के लिये स्वतः प्रवृत्त होता है, यह मानने पर उसके साथ प्रयोजन का सामंजस्य नहीं होता। जगत् का प्रयोजन भोग जीवात्माओं के सांसारिक सुख-दुःखानुभव की अवस्था है। वह जीवात्माओं के कर्मानुसार व्यवस्थित होता है। इसप्रकार की व्यवस्था व विवेचन का करना जड़ उपादानतत्त्व के लिये असम्भव है, यह सब चेतनद्वारा किया जासकता है। जड़ उपादान-तत्त्व को जगत् का स्वभावतः कारण मानलेने पर भी जगत् के प्रयोजन का सामञ्जस्य नहीं बनता; इसलिये ऐसा मानना निर्दोष न होगा।

इस विषय में यह भी ध्यान देने की बात है, कि किसी कार्य के लिये जब कोई प्रवृत्त होता है, तो या तो उसका अपना कोई प्रयोजन होता है, या अन्य के प्रयोजन के लिये प्रवृत्त होता है। जड़ उपादानतत्त्व का अपना कोई प्रयोजन सम्भव नहीं, भोग और अपवर्ग के अतिरिक्त जगद्रचना का अन्य कोई प्रयोजन कल्पना नहीं किया जा-सकता। भोग और अपवर्ग जड़ उपादानतत्त्व के असंभव हैं, इसलिये अपने प्रयोजन के लिये जगद्रचना में उसकी प्रवृत्ति नहीं कही जासकती। मैं परप्रयोजन के लिये जगद्रचना में प्रवृत्त होऊं–ऐसी भावना जड़ उपादानतत्त्व में असंभव है, यह केवल चेतन का धर्म है; इसलिये अपना और पराया दोनों प्रयोजन न रहने से जड़ उपादानतत्त्व में स्वतः सर्ग-प्रलय की प्रवृत्ति का कहना सर्वथा असंगत है।

जड़ उपादानतत्त्व में जगत्सर्ग की प्रवृत्ति का जनक चेतन ब्रह्म को मानकर उसके विषय में भी प्रयोजन की जिज्ञासा प्रथम [वे० सू० २।१।३२-३३] की गई है। वहां ब्रह्म का निजी प्रयोजन न रहते हुए 'भूतानुग्रह' प्रयोजन कहा गया है, जो जीवात्माओं के भोग व अपवर्ग की सिद्धि के लिये सुविधा देना है। सबका नियन्ता व व्यवस्थापक होने से सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म के लिये जड़ उपादानतत्त्व में जगत्-सर्ग की प्रवृत्ति का जनक होना सर्वथा उपयुक्त है ॥६॥

शिष्य आशंका करता है, लोक में ऐसे दृष्टान्त देखे जाते हैं, जिनके आधार पर जड़तत्त्व की प्रवृत्ति परप्रयोजन के लिये सिद्ध होती है। एक शल्यविद्ध पुरुष के शल्य को अयस्कान्त [चुम्बक] मणि सामने लाकर बाहर निकाल लिया जाता है। अयस्कान्त जड़-

तत्त्व ने चेतन की अपेक्षा के विना लोहमय शल्य में प्रवृत्ति उत्पन्न कर शल्य के बाहर निकल आने से विद्ध पुरुष का प्रयोजन सिद्ध किया। ऐसे ही चेतन निरपेक्ष जड़ उपादानतत्त्व स्वतः जगत्सर्ग में प्रवृत्त हो जीवात्माओं के भोगादि प्रयोजन का साधक मानलेना चाहिये। आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

पुरुषाश्मवदिति चेत् तथाऽपि ।।७।।

[पुरुषाश्मवत्] पुरुष–अश्म (अयस्कान्त) के समान [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहो), [तथापि] तो भी (उक्त कथन असंगत है)। पुरुष के लगी सुई को चुम्बक सामने कर निकाल लेने के समान चेतननिरपेक्ष जड़ उपादान स्वतः प्रवृत्ति से जीवात्माओं का भोग आदि प्रयोजन सिद्ध करेगा; ऐसा कहना भी दोषरहित नहीं है।

देह के किसी भाग में सुई घुस जाती है, अथवा बाण का लोहमय अग्रभाग बिंध जाता है, जिनका सुखपूर्वक निकालना कठिन होता है। अयस्कान्त [चुम्बक] मणि उसके सामने लाकर रखदी जाय, तो वह सुई व शल्य को अनायास बाहर खींच लेती है। चेतन-निरपेक्ष चुम्बक स्वतः स्वभावमात्र से सुई व शल्य में प्रवृत्ति उत्पन्न कर पुरुष [सूची–शल्यविद्ध] के सुख अथवा दुःखनिवृत्ति रूप प्रयोजन को सिद्ध करता है। इसीप्रकार चेतन की अपेक्षा किये विना मूल जड़ उपादानतत्त्व स्वतः स्वभावतः जगद्रचना में प्रवृत्त हो जीवात्माओं के भोग आदि प्रयोजन को सिद्ध किया करता है। जड़ उपादानतत्त्व की स्वतः प्रवृत्ति का यह परप्रयोजन बन जाता है, तब वहां प्रयोजन का अभाव नहीं, फिर जड़ उपादानतत्त्व की जगत्सर्ग के लिये स्वतः प्रवृत्ति युक्तियुक्त मानी जानी चाहिये।

आचार्य सूत्रकार ने कहा, यह दृष्टान्त भी उक्त कथन को निर्दोष सिद्ध नहीं करता, इसपर गंभीरता से विचार करें। चुम्बक का स्वभाव लोह का केवल आकर्षण करना है, यह उसका नियत स्वभाव है। प्रत्येक वस्तु का अपना एक स्वभाव होता है, वही उसका वैशिष्ट्य है, उसमें किसी रद्दोबदल की संभावना नहीं। प्रकाश अंधेरे को हटाता है, चक्षु रूप को देखता है, इनमें कोई परिवर्त्तन नहीं। फलतः चुम्बक लोहे का आकर्षक है, निवर्त्तक व अवरोधक नहीं। यह उसका स्वभाव है। ऐसे ही यदि जड़ उपादानतत्त्व का सर्ग-प्रवृत्ति स्वभाव है, तो वहां निवृत्ति की संभावना नहीं। यदि निवृत्ति-स्वभाव है, तो प्रवृत्ति की संभावना नहीं होसकती। तब जगत् के सर्ग और प्रलय की व्यवस्था नहीं रहेगी, चौथे [वे० सू० २।२।४] सूत्र में इसका विवेचन किया गया है। यदि मूल जड़ उपादान में प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों स्वभाव माने जायें, तो ये स्वभाव होने के कारण जगत् का सर्ग कभी संपन्न न होगा, फिर कहां जगत् और कहां उसका प्रयोजन ? सब आधार ही विलीन होजाता है। इसलिये जड़ उपादानतत्त्व में स्वभावतः प्रवृत्ति मानना दोषयुक्त है।

चुम्बक के दृष्टान्त में एक बात और ध्यान देने की है, जहां लोहे को आकर्षण

करने की आवश्यकता है, वहां चुम्बक स्वयं आकर उपस्थित नहीं होता। कोई चेतन व्यक्ति उसे वहां लेकर आता है, और उसका उपयोग करता है। चुम्बकद्वारा लोहे की आकर्षण क्रिया में चेतन के उस प्रयास की उपेक्षा नहीं कीजानी चाहिये। तब इस आकर्षण क्रिया को सर्वथा चेतननिरपेक्ष नहीं कहा जासकता। चेतन का इसमें सहयोग अवश्यम्भावी है। ऐसे ही जड़ उपादान की प्रवृत्ति चेतन की अपेक्षा के विना असंभव है। समस्त जड़ पदार्थों में जो उनकी अपनी विविध विशेषताएं हैं, जिन्हें उनका 'स्वभाव' कहा जासकता है, उनका विधाता भी वही चेतनतत्त्व है, चुम्बक में आकर्षण स्वतः उत्पन्न होगया हो, ऐसा कहना या मानना तथ्य से परे है।

सूत्र के 'पुरुषाश्मवत्' पद की व्याख्या में आचार्य शंकर ने 'पुरुष' और 'अश्म' पद के पृथक् दृष्टान्त दिये हैं। 'पुरुष' पद से अन्धपंगुन्याय का अवतार किया है। अन्धा पंगु को अपने ऊपर बिठाता है और पंगु उसे मार्ग दिखाता है, दोनों परस्पर सहयोग से अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। इसे प्रकृति और पुरुष के परस्पर सहयोग की तुलना में सांख्यसिद्धान्त बताकर दृष्टान्तरूप से प्रस्तुत किया है।

वस्तुस्थिति यह है, कापिल सांख्यसूत्रों [षडध्यायी तथा तत्त्वसमास] में अन्ध-पंगु दृष्टान्त का कोई संकेत नहीं मिलता। महाभारत के लम्बे सांख्यविषयक वर्णनों में इसका कहीं उल्लेख नहीं हैं। बौद्धकाल में कतिपय सांख्यसिद्धान्तों को अन्यथा प्रस्तुत करने की भावनाओं का पता लगता है। संभवतः उसी काल में जगत्सर्गविषयक सांख्य-सिद्धान्त को अपने अभिलषितरूप में प्रस्तुत करने की भावना से उक्त न्याय की उद्भावना की गई। ईश्वरकृष्ण ने उन्हीं संस्कारों के वशीभूत हो 'सांख्यसप्तति' नामक अपनी रचना में इस न्याय का आश्रय लेकर जगत्सर्ग का उल्लेख किया। आचार्य शंकर ने उस आधार पर यहां सांख्य का खण्डन किया।

प्रस्तुत प्रसंग में मुख्य विचारणीय विषय यह है, कि जड़ उपादानतत्त्व में स्वतः प्रवृत्ति होती है, अथवा चेतन की प्रेरणा से? स्वतः प्रवृत्ति को बताने के लिये अन्ध-पंगु दृष्टान्त दिया गया है। सोचिये, यह दृष्टान्त इस विषय में कहां तक सहयोग देता है। अन्धस्थानीय जड़ प्रकृति है, पंगुस्थानीय चेतन पुरुष। यह स्पष्ट है, कि अन्धे पर सवार होकर पंगु उसे मार्ग दिखाता है। इसरूप में यह दृष्टान्त उल्टा यह सिद्ध करता है, कि जड़ उपादानतत्त्व को चेतन पुरुष प्रेरित करता है। अन्धे को मार्ग दिखाना, उसे प्रेरित करने के अतिरिक्त और क्या होसकता है? आचार्य ने इस सूत्र की व्याख्या में पुरुष का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है, वह वस्तुस्थिति में सांख्य का अभि-मत नहीं। आचार्य यह समझता है, कि कपिल ने जड़ उपादानतत्त्व में चेतन के सह-योग विना प्रवृत्ति को माना है, यह समझना ही मूलतः भ्रान्त है[१]। इसके आधार पर

१. इसके विस्तृत विवेचन के लिये देखें, 'सांख्यसिद्धान्त' पृ० १७६–१८४।

आचार्यद्वारा किया गया कापिलसांख्य का प्रत्याख्यान सब असंगत होजाता है । सूत्रकार का यहां यह आशय प्रतीत नहीं होता, कि जगत् के जड़ उपादानतत्त्व की जगह चेतन ब्रह्म को जगत् का उपादान बताया जाय; इन सूत्रों का केवल यह निर्णय करने में तात्पर्य है, कि जड़ उपादानतत्त्व में चेतन की प्रेरणा के विना स्वभावतः प्रवृत्ति होना संभव नहीं । इसी आधार पर चेतन ब्रह्म का अस्तित्त्व स्पष्ट होता है ॥७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों जड़ उपादानतत्त्व की अपनी शक्तियां क्यों न मानली जायें, जिसकी शक्ति होती है, वह उसका स्वामी–अध्यक्ष–व्यवस्थापक रहता है। अपनी शक्ति होने से प्रवृत्ति-निवृत्ति की व्यवस्था जड़उपादानतत्त्व स्वयं कर लेगा, अन्य व्यवस्थापक अनावश्यक है। तब जड़ उपादान में स्वतः प्रवृत्ति-निवृत्ति होने से सर्ग-प्रलयपरिणाम होता रहेगा । आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया–

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥८॥

[अङ्गित्वानुपपत्तेः] अङ्गी-स्वामी होने की अनुपपत्ति–असिद्धि से [च] भी । जड़ उपादानतत्त्व का अङ्गी-व्यवस्थापक होना असिद्ध होने से उसका स्वतः सर्ग-प्रलय-परिणाम अयुक्त है।

जड़ उपादानतत्त्व के जगद्रूप में परिणत होने से परिणामरूप शक्ति जड़ उपादान में है, यह ठीक है, पर वह स्वयं उसका व्यवस्थापक अधिष्ठाता नहीं होसकता; क्योंकि वह जड़ है अचेतन है। शक्ति अपनी हो या पराई, उसकी व्यवस्था करना चेतन का कार्य है। मूलउपादानतत्त्व जड़ होने से सर्ग-प्रलयपरिणाम की शक्ति को व्यवस्थित कैसे करपायेगा । व्यवस्था के लिये सर्ग-प्रलय के अवसर को जानना आवश्यक है। जो जड़ है, कुछ भी नहीं जानपाता, वह यथार्थरूप से उस अवसर एवं कालविशेष को जान सकेगा, यह कैसे माना जासकता है। पर सर्ग-प्रलयपरिणाम यथावसर सुव्यवस्थितरूप से होता रहता है, यह शास्त्रद्वारा निश्चित है । इससे ज्ञात होता है, इस सब व्यवस्था का व्यवस्थापक कोई सर्वज्ञ चेतनतत्त्व होना चाहिये; जड़ उपादान का अङ्गी–स्वामी–व्यवस्थापक–अधिष्ठाता होना अनुपपन्न है, इसलिये वह चेतननिरपेक्ष रहकर स्वतः सर्ग-प्रलयरूप में परिणत नहीं होसकता ।

जगत् का मूलउपादानकारण त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति है। यद्यपि ये त्रिगुण चेतन ज्ञाता के साक्षात् अङ्ग नहीं हैं, पर त्रिगुण का स्वामी अधिष्ठाता व्यवस्थापक होने से उस ज्ञाता को शास्त्र में 'गुणी' कहा है । श्वेताश्वतर उपनिषद् [६।१६] में बताया–'स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः' वह विश्वकर्त्ता सर्वान्तर्यामी नित्य ज्ञाता है, जो काल का काल, गुणी और सर्वज्ञ है। गुणों का स्वामी होने से गुणी, एवं अंगों का स्वामी होने से वह अङ्गी है । ऐसे आधार पर सूत्र के 'अङ्गी' पद का यहां स्वामी, अधिष्ठाता, व्यवस्थापक अर्थ किया गया है। ऐसा अङ्गी जड़ उपादानतत्त्व स्वयं

नहीं होसकता, क्योंकि वह 'ज्ञः' ज्ञाता–चेतन होना चाहिये। जड़तत्त्व में दो विरोधी धर्मों का होना शास्त्रद्वारा सर्वथा असंगत है। इसलिये भी प्रकृति को प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप दोनों धर्मवाली मानाजाना किसी प्रकार प्रामाणिक नहीं। प्रसंगानुसार सूत्रकार का यही आशय प्रतीत होता है। इस सूत्र की अन्य व्याख्या चिन्तनीय है ॥८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, उपादानतत्त्व व्यवस्थापक न रहो, पर उस अवसर–काल को ही व्यवस्थापक अनुमान कर लिया जाय, तो कैसा है? विशेष ऋतुओं में ओषधि वनस्पति आदि का फूलना-फलना देखा जाता है, जो कालद्वारा व्यवस्था होने का अनुमान कराता है। जो वस्तु जिस काल में उत्पन्न होनी चाहिये, उसमें उत्पन्न होजाती है, और नियत काल में उसका प्रलय। इससे कालकृत व्यवस्था का अनुमान होता है। कहा भी है–'कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः' [म० भा०, १।२४८; गो० पु० सं०]। आचार्य ने समाधान किया–

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥९॥

[अन्यथा] अन्यप्रकार से [अनुमितौ] अनुमान करने पर [च] भी, [ज्ञशक्तिवियोगात्] ज्ञातृशक्ति के वियोग–अभाव से। अन्यप्रकार से–काल को व्यवस्थापक मानने के रूप में–अनुमान करने पर भी सर्ग-प्रलय की व्यवस्था सम्भव नहीं, क्योंकि काल में ज्ञातृशक्ति का अभाव है।

जड़ उपादानतत्त्व के सर्ग-प्रलयपरिणाम की व्यवस्था के लिये काल का अनुमान करना युक्त नहीं है, क्योंकि वहां भी ज्ञातृशक्ति का अभाव है, उपादानतत्त्व के समान काल भी ज्ञाता नहीं, अपितु जड़ है, सर्ग-प्रलयपरिणाम की व्यवस्था करना उसके लिये अशक्य है। व्यवस्था चेतन का धर्म है, यह एक नियत सिद्धान्त है। ऋतु के अनुसार विविध ओषधि वनस्पति फूलती-फलती हैं, यह व्यवस्था परब्रह्म परमात्मा की है, इस व्यवस्था का कारण काल नहीं कहा जासकता। ऋतु आदि रूप में व्यवहृत काल स्वतः क्या वस्तु है? इसका गम्भीर विवेचन इस निर्णय पर पहुंचाता है, कि जगत् की व्यवस्था के कारण होने में इसका कहीं अवकाश नहीं[1]। दर्शन की प्रारम्भिक प्रक्रिया में काल का कारणरूप में वर्णन तत्त्व की यथार्थता को समझने के लिये एक साधनमात्र है। इसकी गणना जड़वर्ग में है, इन सबका अधिष्ठाता–व्यवस्थापक एकमात्र चेतन ब्रह्म है–'यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः' [श्वे० १।३] एकमात्र परब्रह्म परमात्मा विश्व के समस्त प्रकृति आदि कारणों का अधिष्ठाता है। काल आत्मा आदि सबका उसीमें समावेश समझना चाहिये।

---

१. इसके विस्तृत विवरण के लिये देखें–सांख्यदर्शन विद्योदयभाष्य, [उदयवीर शास्त्री-कृत], अध्याय २, सूत्र १२ की व्याख्या।

श्रुति-स्मृति में 'काल' पद का प्रयोग परब्रह्म परमात्मा के लिये होता रहा है, 'काल' को कारण बताये जाने की भावना में यह भी एक रहस्य है। अथर्ववेद में कहा–'कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः' [१९।५३।१] रथ को अश्व के समान इस समस्त विश्व को चलानेवाला सर्वज्ञ परमात्मा [कालः] है। महत् अहंकार और पांच सूक्ष्मभूत ये सात इसकी डोर हैं, जिससे समस्त विश्व को बांधकर यह संचालित करता है। जगत् के इस संचालन में सहस्रों धुरे हैं, जो लोकरूप हैं। ऐसा वह नित्य सर्वशक्तिमान् परमात्मा है। इसीप्रकार 'ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः' [श्वे० ६।१६] वह ज्ञाता सबका स्वामी काल का भी काल है। गीता [११।३२] में कहा–'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः' इत्यादि। 'कालः सृजति' आदि वचन इसी आधार पर कहे गये हैं। फलतः ऋतु आदि का द्योतक काल सर्ग-प्रलयपरिणाम का व्यवस्थापक नहीं होसकता। ज्ञाता की अवस्था में वह ब्रह्मरूप होने से व्यवस्थापक है। तब मूल जड़ उपादानतत्त्व के स्वतः सर्ग-प्रलयरूप में परिणत होने का प्रश्न नहीं उठता ॥९॥

प्रकरण का उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने कहा–

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥१०॥

[विप्रतिषेधात्] विप्रतिषेध से [च] भी [असमञ्जसम्] अयुक्त है। विप्रतिषेध से भी जड़ उपादानतत्त्व का स्वतः स्वभा[व] परिणत होना अयुक्त है।

सूत्र के 'विप्रतिषेध' पद का अर्थ यहां विशिष्ट निन्दा के साथ किया गया प्रतिषेध है। अनीश्वरवाद का प्रतिषेध शास्त्र में इसी भावना से किया गया उपलब्ध होता है। सूत्रकार इस अर्थ में इस पद का प्रयोगकर यह प्रकट करना चाहता है, कि शास्त्र अनीश्वरवाद को निन्दनीय समझता है। चेतन ब्रह्म की प्रेरणा के विना जड़ उपादानतत्त्व से स्वभावतः जगत् के सर्ग-प्रलय मानना, अथवा चेतनब्रह्म को जड़ उपादानतत्त्व की जगह बैठाकर उसीका परिणाम जगत् को मानना, यह दोनों अनीश्वरवाद हैं। इनमें सर्वज्ञ सर्वनियन्ता सर्वान्तर्यामी चेतन ब्रह्म को चुनौती दीजाने की भावना स्पष्ट है। इसका विप्रतिषेध शास्त्र में किया गया–'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' [तै० २।६] जो यह कहता है, कि ब्रह्म नहीं है, यह जगत् अपने जड़ मूलउपादानतत्त्व से चेतन की अपेक्षा विना स्वभावतः उत्पन्न होजाया करता है, ऐसा कहने या माननेवाले का स्वयं अस्तित्व नहीं रहता। इन शब्दों में एक गहरी निन्दा की भावना के साथ अनीश्वरवाद का प्रतिषेध स्पष्ट है। उपनिषत्कार यह प्रकट करना चाहता है, कि ब्रह्म के अस्तित्व को न मानना अपने अस्तित्व को खो देना है, क्योंकि जगत् का यह स्वरूप ब्रह्म की सत्ता स्वीकार किये विना असम्भव है। ऐसी विचारधारा को–जिसमें ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जाता–गीता [१६।८] में आसुरी विचारधारा बताया है–'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्' यह जगत् असत्य है, अप्रतिष्ठित है, ईश्वर आदि कोई

इसका अधिष्ठाता नहीं है । ऐसे विचारवालों को जगत् का अहितकर बताया है [१६।६]। यह भी उक्त विचारों की निन्दा का द्योतक है । इसप्रकार के विप्रतिषेध से–जड़ उपादान-तत्त्व में स्वभावतः जगत्सर्ग आदि की प्रवृत्ति मानकर–चेतन नियन्ता ब्रह्म की सत्ता से नकार करना असमञ्जस है, सर्वथा अयुक्त है । श्रुति-स्मृति जिस अर्थ का प्रतिपादन करें, उसे अवश्य स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि यथार्थता का ज्ञान उनके आधार पर होता है । उसका न मानना व्यक्ति को नास्तिक की कोटि में पटक देता है [मनु० २।१०-११]।

आचार्य शंकर ने इन सूत्रों [१–१०] की व्याख्या कापिलसांख्य के प्रतिवादरूप में की है । अन्तिम सूत्र की व्याख्या से प्रतीत होता है, कि सच-झूठ की चिन्ता न कर किसी तरह सांख्य का प्रत्याख्यान किया जाना चाहिये, और आचार्य इसके लिये पिल पड़ा है । निश्चित ही सूत्रकार का ऐसा आशय रहा हो, इसके लिये सूत्रों में कोई संकेत नहीं मिलता ।

सबसे पहली बात यह है, कि कपिल ने अपनी रचना में कहीं ऐसा संकेतमात्र तक नहीं दिया, जिससे यह प्रकट होता हो, कि वह मूलउपादानतत्त्व को चेतन ब्रह्म की प्रेरणा के विना स्वभावतः जगत्सर्ग आदि के लिये प्रवृत्त हुआ मानता है । इसके विपरीत उसने अपनी रचना में अधिष्ठाता सर्वान्तर्यामी सर्वकर्त्ता ईश्वर को स्वीकार किया है[1] । यह सत्य है, कि वह ऐसे किसी ईश्वर को नहीं मानता, जो स्वयं चेतन होकर जड़ जगत् के रूप में परिणत होजाता हो[2] । आचार्य शंकर ने अपनी अशास्त्रीय विचारधारा को ऐसे निराधार प्रत्याख्यानों के सहारे मांजने चमकाने का प्रयास किया है ।

भारत के प्राचीन दार्शनिकों में केवल दो [वार्षगण्य और बृहस्पति] आचार्य ऐसे हैं, जो जगद्रचना में किसी ईश्वर या ब्रह्म जैसे माने गये चेतनतत्त्व के सहयोग की अपेक्षा बतलाते हैं । वार्षगण्य का एक सन्दर्भ है–'प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणापरिगृह्य-माणा आदिसर्गे[3] वर्त्तते' आदिसर्ग में प्रधान की प्रवृत्ति विना चेतन के [अप्रत्यया], पुरुष के द्वारा परिग्रह-अनुग्रह की अपेक्षा न रखती हुई होती है । वेदान्त के उक्त सूत्रों [१–१०] में वार्षगण्य अथवा बृहस्पति के विचारों का विवेचन यथाकथञ्चित् कहा जासकता है, कापिलसांख्य से इनका कोई सम्पर्क नहीं ।

---

१. देखें–(१) सांख्यदर्शन, [३।५६-५७ तथा १।६१ । प्रथमाध्याय की यह सूत्रसंख्या उदयवीर शास्त्रीकृत 'सांख्यदर्शन विद्योदयभाष्य' के अनुसार है । इसमें ३५ जोड़कर अन्य किसी संस्करण में सूत्र देखा जासकता है । (२) सांख्यसिद्धान्त, पृष्ठ ५३–६० ।

२. देखें–सांख्यदर्शन विद्योदयभाष्य, १।५७ । इस सूत्रसंख्या में ३५ जोड़कर अन्य किसी संस्करण में देख सकते हैं । तथा 'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ ४१ ।

३. इसके अधिक विवरण के लिये देखें– सांख्यसिद्धान्त, पृष्ठ ६१, तथा १७८-७९ ।

आचार्य शंकर ने प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में जिसप्रकार सांख्य का प्रत्याख्यान किया है, वह न प्रकरण के अनुकूल है, न सूत्र में वैसा भाव है। आचार्य की व्याख्या से ऐसा प्रतीत होता है, मानो सूत्रकार सांख्य के प्रत्येक कथन का प्रत्याख्यान करने के लिये तत्पर होकर इन सूत्रों की रचना कररहा है। पर सूत्रों में कोई ऐसा संकेत नहीं, जिससे सूत्रकार का यह आशय प्रतीत हो। आचार्य शंकर ने इस सूत्र का व्याख्यान प्रारम्भ किया–'सांख्यों का सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध है; कहीं सात इन्द्रियां बताईं, कहीं ग्यारह। तथा कहीं महत् से तन्मात्र का सर्ग कहा कहीं अहंकार से। इसीप्रकार कहीं तीन अन्तःकरण बताये, कहीं एक।' अपनी इस स्थापना के लिये आचार्य ने इस विषय में सांख्य का कोई वचन उद्धृत नहीं किया। फिर सूत्रकार ने यदि इसी आशय से यह सूत्र लिखा, तो सूत्रकार के समय में विद्यमान सांख्य के उन ग्रन्थों का यहां निर्देश होना चाहिये, जिनमें ऐसा उल्लेख हो। आचार्य ने इस विषय में कोई निर्देश नहीं किया। इन विचारों के अनुयायी यदि आज भी आचार्य के लेख का सूत्रकारानुमत आधार बता सकते हों, तो बतावें। वस्तुतः आचार्य का यह लेख सर्वथा स्वकल्पित है[1]। व्याख्या के अगले अंश में सांख्य की ओर से जिस पूर्वपक्ष को उभारकर आचार्य ने अपने सिद्धान्त में आनेवाले विरोध का परिहार किया है, वह केवल व्याख्या की कलेवरवृद्धि है ॥१०॥

श्रुति-स्मृति के प्रामाण्य की उपेक्षा करनेवाले के प्रति सूत्रकार जगत्सर्ग का अन्य प्रक्रिया के दृष्टान्तद्वारा चेतननिरपेक्ष जड़ उपादानतत्त्व की स्वाभाविक प्रवृत्ति आदि में असामञ्जस्य को प्रकट करता हुआ कहता है–

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥११॥

[महद्दीर्घवत्] महत् और दीर्घ के समान [वा] अथवा [ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्] ह्रस्व और परिमण्डल से। यहां पहले सूत्र से 'असमञ्जसं' पद की अनुवृत्ति है। अथवा ऐसे समझें, कि ह्रस्व और परिमण्डल से महत् और दीर्घ की उत्पत्ति के समान चेतन-निरपेक्ष उपादान से जगत्सर्ग होना असमञ्जस है।

सूत्र में 'महत्' पद का प्रयोग त्रसरेणु के लिये हुआ है, दीर्घ और ह्रस्व दोनों पद द्व्यणुक के वाचक हैं, 'परिमण्डल' परमाणु को कहते हैं। जगत्सर्ग की एक प्रक्रिया के अनुसार जगत् के मूलउपादानतत्त्व पृथिवी आदि रूप में चार प्रकार के परमाणु हैं। दो परमाणु मिलकर एक द्व्यणुक को और तीन द्व्यणुक मिलकर एक त्रसरेणु को उत्पन्न करते हैं। इस प्रक्रिया में जैसे चेतन की अपेक्षा विना दो परमाणु से द्व्यणुक और तीन द्व्यणुकों से त्रसरेणु का उत्पन्न होना असमञ्जस है; ऐसे ही त्रिगुणात्मक मूलउपादान से

---

१. द्रष्टव्य, वाराणसी से प्रकाशित 'वेदवाणी' मासिक पत्र, [वर्ष ८, अंक १२] में हमारा–'सांख्य क ग्यारह इन्द्रियां और वेदान्त' शीर्षक लेख।

स्वभावतः जगत्सर्ग का होना असमञ्जस है। सूत्रकार अगले सूत्रों में इस प्रक्रिया से कहे गये जगत्सर्ग का विवेचन करना चाहता है, इसलिये सूत्र में दृष्टान्तरूप से उसका अवतरण किया है। यह प्रक्रिया क्या है, जगत्सर्ग के लिये इसका अवलम्ब क्यों लिया गया, तथा इसमें क्या असामञ्जस्य है, यह सब विवेचन अगले सूत्रों की व्याख्या में द्रष्टव्य हैं।

आचार्य शंकर की व्याख्या के अनुसार यह सूत्र सिद्ध करता है, कि जगत् का उपादानकारण ब्रह्म है। आचार्य ने कहा—दो परमाणु मिलकर द्व्यणुक को उत्पन्न करते हैं। कारणद्रव्य के गुण कार्यद्रव्य में अपने सजातीय गुण को उत्पन्न करते हैं। कारण परमाणु में 'परमाणु परिमाण' है, कार्य द्व्यणुक में 'अणु परिमाण' है। आगे तीन द्व्यणुकों से त्रसरेणु बनता है, उसमें 'महत्परिमाण' है। आचार्य का सिद्धान्त है—जड़ जगत् का उपादानकारण चेतन ब्रह्म है। इस मन्तव्य में यह आपत्ति है, कि ब्रह्म का चैतन्य जगत् में क्यों नहीं आता, जब यह नियम है कि कारणद्रव्य के गुण कार्यद्रव्य में समानजातीय गुण को उत्पन्न करते हैं। आचार्य ने अपने सिद्धान्त के इस दोष का निवारण सूत्रप्रदर्शित दृष्टान्त के आधार पर किया है। आचार्य का कहना है, कि 'परमाणु-परिमाण' द्व्यणुक में जैसे समानजातीय परिमाण उत्पन्न नहीं करता, और द्व्यणुक का परिमाण त्रसरेणु में समानजातीय परिमाण को उत्पन्न नहीं करता; ऐसे ही जगत् में ब्रह्म का चैतन्य नहीं आता। इसलिये ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण मानने पर यह दोष नहीं देना चाहिये, कि जगत् में चैतन्य क्यों नहीं आता।

इस विषय में यह ध्यान देने की बात है, कि परमाणु, द्व्यणुक और त्रसरेणु तीनों में 'परिमाण' गुण विद्यमान है। यह निश्चित है, कि परमाणु में यदि 'परिमाण' गुण न होता तो वह द्व्यणुक में आ नहीं सकता था, और न आगे त्रसरेणु में आता। आचार्य का अभिप्राय है, कि परमाणु का परिमाण द्व्यणुक में नहीं है और द्व्यणुक का परिमाण त्रसरेणु में नहीं। यदि आचार्य के अभिप्राय के अनुसार परमाणु का परिमाण ही द्व्यणुक में आजाता है, और द्व्यणुक का त्रसरेणु में; तो उसे समानजातीय परिमाण नहीं कहा जासकता, वह तो 'वही परिमाण' है। साजात्य का अर्थ है—वैशिष्ट्य के साथ समानता का होना। द्व्यणुक और त्रसरेणु में परिमाण अपने कारणद्रव्यगत परिमाण का समानजातीय ही उत्पन्न होता है, वही परिमाण अथवा कोई गुणान्तर नहीं होता। उस परिमाण में जो वैशिष्ट्य है, वह कारणगत परिमाण के सहयोगी गुण संख्या-निमित्त से है। कार्यद्रव्य में परिमाण कारणद्रव्यगत परिमाण से ही आता है, परिमाण होने के कारण वह उसका समानजातीय है, यह निश्चित है। यदि ब्रह्म जगत् का उपादानकारण है, तो जगत् में समानजातीय चैतन्य होना चाहिये, भले ही वह किसी वैशिष्ट्य के साथ हो, कुछ भी वैशिष्ट्य न होने पर तो समानजातीयता ही नष्ट होजाती है। जगत् में उपादानकारण के समान छोटा-बड़ा, थोड़ा-बहुत कुछ तो चैतन्य होना ही चाहिये था। पर जगत् की स्थिति तो चैतन्य से सर्वथा विरोधी है। फलतः सूत्रगत दृष्टान्त के आधार पर

चेतन ब्रह्म को जड़ जगत् का उपादान सिद्ध करना दुराग्रहमात्र है।

यह भी एक ध्यान देने की बात है-यह प्रकरण चेतननिरपेक्ष जड़ उपादानतत्त्व की स्वाभाविक जगत्सर्गप्रवृत्ति के प्रत्याख्यान के लिये प्रारम्भ किया गया है, स्वयं चेतन को जगत् का उपादान या परिणामशील बताना प्रकरण का तात्पर्य नहीं है। गत तथा आगामी सूत्रों में उसी अर्थ का विवेचन है। अतः प्रस्तुत सूत्र की आचार्यकृत व्याख्या उत्प्रकरण एवं उत्सूत्र प्रतीत होती है ॥११॥

इस प्रकरण के प्रारम्भिक सूत्र [२।२।१] की व्याख्या में कहा गया है, कि विभिन्न आचार्यों ने जगत्सर्ग की विवेचना के लिये सत्त्वरजस्तमोमय त्रिगुणात्मक प्रकृति और उसके विविध कार्यस्तरों को अधिकारी जिज्ञासुओं के भेद से जगत् के उपादानतत्त्व के रूप में विवृत किया है। प्रकरण के गतसूत्रों [१-११] में यह विवेचन किया गया, कि जगत् का मूलउपादानतत्त्व त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति चेतन ब्रह्म की प्रेरणा के विना स्वतः स्वभावतः जगत्सर्ग आदि के लिये प्रवृत्ति नहीं करसकता, अतः उस प्रवृत्ति का कर्त्ता नियन्ता ब्रह्म अवश्य स्वीकर्त्तव्य है।

जगत्सर्ग की व्याख्या के प्रारम्भिक जिज्ञासुओं को कतिपय क्रान्तदर्शी आचार्यों ने उस मार्ग पर प्रबुद्ध करने के लिये प्रकृति के विशिष्ट कार्यस्तरों को मूलउपादान मानकर जगत्सर्ग की व्याख्या का मार्ग प्रशस्त किया है।

संसार में जीवन के सीधे सम्पर्क में आने वाले चार प्रकार के पदार्थ हैं-पृथिवी, जल, तेज, वायु। प्राणी इन्द्रियों द्वारा इनका साक्षात् अनुभव करता है। इनकी वर्त्तमान स्थिति में परिवर्त्तन देखकर यह निश्चय किया गया, कि ये अपने मूलतत्त्वों से परिवर्त्तित होकर इस अवस्था में हैं, जो प्राणी के अनुभव का विषय हैं। आचार्यों ने जाना, इनके मूलतत्त्व अतिसूक्ष्म अदृश्य कण हैं, जो पृथिवी-जल-तेज-वायुरूप हैं। यह जानकर भी कि ये तत्त्व मूलउपादान प्रकृति की कार्य-परम्परा में एक विशिष्ट स्तर पर हैं, आचार्यों ने इन्हें नित्य कहा। यह केवल इसलिए कहा, कि उन्हें प्रारम्भिक जिज्ञासु अधिकारियों की स्थिति के अनुसार इस दिशा में यहीं तक विवेचन प्रस्तुत करना अपेक्षित था। यदि उन पृथिवी आदि के आद्य कणों को वे अनित्य कहते, तो उनके कारणों का विवरण देना उन्हें आवश्यक होजाता। जिस सीमा तक उन्हें तत्त्वों का विवेचन करना अभिप्रेत था, उसका उल्लंघन होजाता, जो जिज्ञासु अधिकारियों की प्रवृत्ति के कारण सर्वथा अवाञ्छनीय था।[1]

जगत्सर्ग की ऐसी व्याख्या विभिन्न आचार्यों ने दो रूप में प्रस्तुत की है। गौतम

---

१. इसके विस्तृत विवरण के लिये देखें, हमारी रचना 'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ १९९ -२०४। इस विषय का संकेत प्रस्तुत व्याख्या के प्रारम्भिक पृष्ठों में भी है।

और कणाद ने यह माना है, कि इन पृथिव्यादि कणों [परमाणुओं[1]] में जगत्सर्ग के लिये क्रिया ईश्वर की प्रेरणा से होती है। परन्तु आचार्य बृहस्पति इसे स्वीकार नहीं करता। वह इन कणों में प्रवृत्ति स्वभावतः मानता है। इस पृष्ठभूमि पर शिष्य ने जिज्ञासा की, गतसूत्र में परमाणु तथा द्वचणुक से यथाक्रम द्वचणुक और त्रसरेणु की उत्पत्ति का दृष्टान्तमुद्रा से उल्लेख किया गया, पर यह उत्पत्ति किस प्रकार होती है और इसमें क्या दोष है? यह स्पष्ट होना चाहिये। इस विवेचन के लिये आचार्य सूत्रकार ने कहा—

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥१२॥

[उभयथा] दोनों प्रकार से [अपि] भी [न] नहीं, [कर्म] क्रिया, [अतः] इसलिये [तदभावः] उसका–सर्ग का अभाव। चेतन की प्रेरणा के विना परमाणुओं में दोनों प्रकार से क्रिया का होना संभव नहीं, इसलिये सर्ग का अभाव होगा, सृष्टि की रचना न हो सकेगी।

परमाणुओं[2] से द्वचणुक की उत्पत्ति दो परमाणुओं का परस्पर संयोग होने पर होती है। संयोग क्रिया होने पर संभव है। एक या दोनों परमाणुओं में क्रिया होने पर जब वे परस्पर मिलेंगे, तब द्वचणुक बनेगा। क्रिया की उत्पत्ति दो कारणों से कही जाती है, एक अभिघात दूसरा प्रयत्न। अभिघात [धक्का] स्वयं संयोगरूप है, तब वह भी अन्य क्रिया के विना नहीं होसकता। ऐसी स्थिति में क्रिया को उत्पन्न करने वाला एक-मात्र कारण प्रयत्न रहजाता है। यह चेतन का धर्म है, जड़ परमाणुओं में इसका होना असंभव है। सृष्टि से पूर्व जीवात्मचेतन देहरहित हैं, उस दशा में मन आदि के सम्बन्ध

---

१. पृथिवी का सबसे छोटा कण होने के कारण इसे 'परमाणु' कहा है, इसीकारण निरवयव। आगे विश्लेषण करने पर वह पृथिवी न रहेगा। इसीप्रकार अन्य पर-माणु भी।

२. न्याय-वैशेषिकवर्णित परमाणु स्वयं नित्य पदार्थ नहीं है। इसका निर्देश योग-दर्शन [१।४४] की तत्त्ववैशारदी टीका में उपलब्ध है। न्याय व्यक्त जगत् की उत्पत्ति व्यक्त परमाणुओं से मानता है, 'व्यक्ताद् व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात्' [न्या० द० ४।१।११] वैशेषिकदर्शन का यह नाम यही प्रकट करता है। सांख्यवर्णित 'विशेष' संज्ञक तत्त्व को मूल मानकर जगत् की व्याख्या प्रस्तुत करने के कारण दर्शन का नाम 'वैशेषिक' है। ये 'विशेष' पृथिवी आदि के आद्य कण हैं, जो तन्मात्रों से परिणत होते हैं—'अविशेषाद् विशेषारम्भः' [सां० सू० ३।१]।

इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिये देखें, हमारी रचना 'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ १७१–७६, तथा २०२।

के विना जीवात्मा का प्रयत्न संभव नहीं। चेतन ब्रह्म को उपादानतत्त्व का प्रेरयिता न मानने पर सर्गादिकाल में अभिघात तथा प्रयत्न दोनों के संभव न होने से परमाणु में क्रिया उत्पन्न न होगी, तब परमाणुओं का संयोग न होगा, और द्वयणुक उत्पन्न न हो-सकेगा, आगे जगत् भी न बन सकेगा। फलतः चेतन ब्रह्म की प्रेरणा के विना पर-माणु उपादान में स्वतः क्रिया होना असंभव है ।।१२।।

शिष्य आशंका करता है, जिन जीवात्माओं के भोग और अपवर्ग की सिद्धि के लिये परमाणुओं से द्वयणुकादि क्रमपूर्वक पृथिवीपर्यन्त जगत् की रचना होती है, उन आत्माओं में समवेत अदृष्ट [धर्माधर्म] परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न कर देते हैं, ऐसा क्यों न मानलिया जाय ? जीवात्म-कर्मों को जगत् का कारण माना गया है। क्रिया होने पर जगत् के अभाव की संभावना नहीं रहती। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ।।१३।।

पहले सूत्र से 'न, कर्म, तदभावः' इन पदों की अनुवृत्ति है।

[समवायाभ्युपगमात्] समवाय के स्वीकार से [च] और [साम्यात्] सम होने के कारण [अनवस्थितेः] अनवस्थिति–अव्यवस्था होजाने से। अदृष्ट का आत्माओं में समवायसम्बन्ध स्वीकार होने से परमाणु में क्रिया नहीं होसकती, और परमाणुओं से आत्मा का सम्बन्ध सदा समान होने के कारण सर्ग-प्रलय की व्यवस्था न रहने से जगद्रचना असंभव होगी।

जीवात्माओं के शुभाशुभ कर्मों से उत्पन्न अदृष्ट जीवात्माओं में समवायसम्बन्ध से रहता है, परमाणुओं में नहीं। तब वह परमाणुओं में क्रिया का उत्पादक नहीं हो-सकता। यदि यह कहा जाय, कि अदृष्ट वाले आत्माओं का परमाणुओं से सम्बन्ध रहता है, इसकारण आत्मगत अदृष्ट परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न कर सकेगा; तब जगत् के सर्ग और प्रलय की व्यवस्था नहीं रहेगी, क्योंकि आत्माओं का सम्बन्ध तो पर-माणुओं के साथ सदा समानरूप से बना रहता है, तब या तो सदा सर्ग रहे, या कभी सर्ग न होना चाहिये, नियत अवधि में सर्ग और प्रलय का होना असंभव होगा। परन्तु सर्ग-प्रलय का क्रम नियमपूर्वक होना स्वीकार किया गया है, इसकारण अदृष्टवाले आत्माओं का परमाणुओं से सम्बन्ध, परमाणुओं में अदृष्टद्वारा क्रिया की उत्पत्ति का जनक नहीं माना जासकता। अदृष्ट के स्वयं अचेतन होने से यह कहना अप्रा-माणिक होगा, कि वह स्वयं सर्ग-प्रलय की क्रमिक व्यवस्था का नियमन कर सकेगा। फलतः जीवात्माओं का अदृष्ट परमाणुओं में क्रिया का निमित्त न बन सकने के कारण द्वयणुकादि क्रम से जगत् का उत्पन्न होना असंभव होगा, अतः उपादानतत्त्वों में क्रिया के जनक चेतन सर्वज्ञ ब्रह्म को स्वीकार करना आवश्यक है। वही सर्ग आदि का व्यव-स्थापक व नियामक है ।।१३।।

शिष्य जिज्ञासा करता है, यह क्यों न मानलिया जाय, कि परमाणुओं में क्रिया स्वभावतः होजाती है। उनका ऐसा स्वभाव मानलेने पर क्रिया होने में कोई बाधा न होगी, द्वचणुकादि क्रम से जगद्रचना संभव होजायगी। सूत्रकार ने समाधान किया—

नित्यमेव च भावात्॥१४॥

पूर्व सूत्रों से 'तदभावः, अनवस्थितेः' पदों की यहां अनुवृत्ति है।

[नित्यम्] नित्य–सदा [एव] ही [च] तथा [भावात्] होने से। तथा स्वभाव के सदा ही रहने से सर्गादि क्रम की अव्यवस्था से रचना का अभाव होगा।

जगत् के उपादानकारण की स्थिति में परमाणु को नित्य स्वीकार किया गया है। क्रिया यदि उसका स्वभाव है, तो वह नित्य होती रहेगी। क्रिया के सर्गानुकूल होने पर सदा सर्ग ही होना चाहिये। यदि त्रिया प्रलय के अनुकूल है तो सदा प्रलय रहेगा। यदि दोनों प्रकार की क्रिया उसका स्वभाव है, तो निरन्तर उनके रहने से न सर्ग रहेगा, न प्रलय। विरुद्ध क्रियाओं का स्वभावतः किसी में निरन्तर रहना संभव नहीं। तब द्वचणुकादि क्रम से जगत्सर्ग का अभाव होगा, फिर सर्ग-प्रलय की व्यवस्था का तो प्रश्न ही नहीं।

यदि कहा जाय, परमाणुओं का क्रिया-स्वभाव होने पर जिस क्रिया की जब अपेक्षा होगी, तभी वह होगी। सृष्टि के समय सर्गानुकूल क्रिया होगी, प्रलय के समय प्रलय के अनुकूल। वस्तुतः ऐसी व्यवस्था किसी चेतन नियामक के विना संभव नहीं। जीवात्मा नितान्त अल्पज्ञ अल्पशक्ति होने के कारण अनन्त जगत् के सर्ग-प्रलय आदि की व्यवस्था में सर्वथा असमर्थ है। अनेक जीवात्मा विभिन्नप्रवृत्तिक होने से नियमित सर्ग-प्रलय की व्यवस्था के लिये अनुपयुक्त हैं। इसलिये चेतननिरपेक्ष जड़ परमाणुओं में क्रिया असंभव होने से द्वचणुकादि की उत्पत्ति न होगी, और न पृथिव्यादि जगत् बन सकेगा। अतः उपादानतत्त्व में क्रिया के जनक चेतन ब्रह्म को अवश्य स्वीकार करना चाहिये। वही सर्ग-प्रलय के क्रम का नियन्ता है। जगत् के सर्ग, स्थिति और प्रलय कब तथा कितने समय तक रहते हैं, इस सब व्यवस्था का नियामक सर्वज्ञ चेतनतत्त्व संभव है। अतः ब्रह्म को स्वीकार करना आवश्यक है॥१४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, प्रस्तुत प्रकरण में अभी तक यह बताया गया, कि चेतननिरपेक्ष परमाणु में क्रिया सम्भव न होने से द्वचणुकादि क्रमद्वारा जगत्सर्ग न होसकेगा। यह सब उस प्रतिपादन के समान है, जहां चेतननिरपेक्ष–जगत् के मूलउपादानतत्त्व जड़–प्रकृति में प्रवृत्ति का न होना सिद्ध किया गया है। क्या पृथिव्यादिरूप में 'परमाणु' को जगत् का मूलउपादान कहने में और भी कोई दोष है? आचार्य सूत्रकार ने पृथिवी आदि के रूप में 'परमाणु' के वास्तविक स्वरूप को बतलाने की भावना से समाधान किया—

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥१५॥

[रूपादिमत्त्वात्] रूप आदि गुणों वाला होने से [च] और [विपर्ययः] उलटा है, [दर्शनात्] देखे जाने से। घट आदि के समान परमाणु रूप आदि गुणों वाले हैं, इसलिये नित्य न होकर अनित्य हैं, क्योंकि लोक में रूपादि गुणो वाला पदार्थ अनित्य देखा जाता है।

जिन आचार्यों ने पृथिवी आदि के रूप में परमाणु को जगत् का उपादान कहा है, उन्होंने उसे नित्य भी कहा है। उनका तात्पर्य है, यह स्थूल पृथिवीतत्त्व अनेक अति-सूक्ष्म पृथिवीरूप तत्त्वों से मिलकर बना है। वह अतिसूक्ष्म पृथिवीतत्त्व अपने रूप में एकमात्र कण अथवा अवयव है, पृथिवीरूप में उसका आगे विभाग नहीं होसकता। यदि आगे उसका विश्लेषण किया जायगा, तो वह पृथिवीरूप न रहकर अपने कारण-तत्त्वों में बिखर जायगा। केवल इतने अंश में उसे एकमात्र अवयव अथवा निरवयव कहा गया है। उसको 'परमाणु' कहा, निस्सन्देह पृथिवीरूप में वह 'परम-अणु, है, अत्यन्त छोटा कण है, उससे और छोटा होना सम्भव नहीं। उसको नित्य इसलिये कहा, क्योंकि उन आचार्यों ने तत्त्व के इसी स्तर से जगत्सर्ग की व्याख्या करना उपयुक्त समझा। उनका लक्ष्य तत्त्वजिज्ञासुओं में प्रारम्भिक अधिकारियों को इस दिशा में प्रबुद्ध करना था[1]। परमाणु की इस स्थिति को वस्तुतः नित्य नहीं समझना चाहिये, प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार का यही अभिप्राय है।

लोक में देखा जाता है, रूप आदि विशेषताओं से युक्त समस्त पदार्थ व्यक्त एवं अनित्य हैं। पृथिवी आदि के आद्य कण भी व्यक्त एवं अनित्य हैं। सिद्धान्त पक्ष में समस्त पृथिव्यादि जगत् का मूलउपादानकारण त्रिगुणात्मक प्रकृतितत्त्व है, वह अव्यक्त है। व्यक्त तत्त्व मूल उपादान होना सम्भव नहीं।

गत [१४] सूत्रद्वारा परमाणु में स्वभावतः क्रिया के माने जाने पर क्रिया के नित्य निरन्तर होने की आपत्ति की है। उससे क्रिया के आधारभूत परमाणु को वास्त-विकरूप से नित्य माने जाने की भ्रान्ति किसी को न हो, इस आशय से भी सूत्रकार ने पृथिव्यादिरूप परमाणु की वास्तविक स्थिति को प्रस्तुत सूत्र से स्पष्ट किया है। इस स्पष्टीकरण से सूत्रकार का तात्पर्य पृथिव्यादिरूप में उपलब्ध तथाकथित परमाणु को जगत् का मूलउपादानकारण स्वीकार न करना है। चेतननिरपेक्ष परमाणु से जगत्सर्ग मानने में यह एक अतिरिक्त दोष है, कि वह जगत् का मूलउपादान सम्भव नहीं ॥१५॥

गतसूत्र में प्रतिपादित अर्थ की पुष्टि के लिये उक्त तथाकथित परमाणु की

---

१. गत सूत्रों की व्याख्या में इस विवरण के मूल आधारों का निर्देश कर दिया गया है, अधिक जानकारी के लिये उनको देखना अपेक्षित है।

नित्यता में सूत्रकार ने अन्य दोष प्रस्तुत किया—

उभयथा च दोषात् ॥१६॥

[उभयथा] दोनों प्रकार [च] और [दोषात्] दोष से। तथा दोनों प्रकार दोष से परमाणु नित्य नहीं।

लोक में प्रत्येक विचारशील व्यक्ति यह देखता जानता है, कि पृथ्वी में गन्ध रस रूप स्पर्श चारों गुण रहते हैं। जल में गन्ध को छोड़कर शेष तीन, तेज में अन्तिम दो और वायु में केवल एक स्पर्श गुण रहता है। इन्हीं के अनुसार जलादि की अपेक्षा पृथिवी स्थूल, उससे सूक्ष्म जल, उससे सूक्ष्मतर तेज तथा सबकी अपेक्षा सूक्ष्मतम वायु होता है। इनके उपादानकारण परमाणुओं को भी लोकानुभूत पृथिवी आदि के समान माना जाना चाहिये। तात्पर्य यह, कि चार गुणों वाला पृथिवी परमाणु न्यून गुणवाले जलादि परमाणुओं से स्थूल होना चाहिये, तीन गुण वाला जल का परमाणु उससे सूक्ष्म, दो गुणवाला तैजस परमाणु सूक्ष्मतर और एक गुणवाला वायवीय परमाणु सूक्ष्मतम होना चाहिये। परमाणुओं की ऐसी अवस्था उनकी नित्यता में बाधक है। स्थूल सूक्ष्म का तारतम्य उनके सावयव होने को प्रकट करता है, तथा यह स्थिति उनके विभिन्न उपादान-कारणों का बोध कराती है।

यदि यह कहा जाय, पृथिवी परमाणु में केवल गन्ध गुण रहता है, जलीय में रस, तैजस में रूप और वायवीय में स्पर्श। इसप्रकार उनका कलेवर समान रहता है, तब परमाणु का निरवयव और नित्य होना बनसकता है। ऐसा मानने पर भी दोष उसीप्रकार बना रहता है। कारण यह है, कि उस अवस्था में एक गन्ध गुणवाले पृथिवी परमाणु से चार गुणवाली पृथिवी की उत्पत्ति कैसे होजाती है? यह सिद्ध करना कठिन है। ऐसे ही केवल रस गुणवाले जलीय परमाणुओं से तीन गुणवाला स्थूल जल उत्पन्न न होसकेगा, अग्नि में भी स्पर्श गुण का आना असम्भव होगा। तात्पर्य यह, कि जिस कारण में जो गुण नहीं है, उसके कार्य में वह गुण नहीं आसकता। तब वर्त्तमान-रूप में पृथिव्यादि की उत्पत्ति असम्भव होगी। तथाकथित परमाणु में दोनों प्रकार दोष होने से उसका नित्य होना प्रमाणित नहीं होता॥१६॥

प्रकरण का उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने कहा—

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥१७॥

[अपरिग्रहात्] परिग्रह–स्वीकार न करने से [च] और [अत्यन्तम्] अत्यन्त [अनपेक्षा] अपेक्षा नहीं। विवेचित सिद्धान्त वैदिक ऋषियों द्वारा स्वीकार न करने से इसकी सर्वथा उपेक्षा करना उपयुक्त है।

जड़ उपादानतत्त्व चेतन ब्रह्म की प्रेरणा बिना स्वतः जगत्सर्ग आदि के लिये

प्रवृत्त हुआ करता है, इस विचार को पारदर्शी ऋषियों विद्वानों ने कभी स्वीकार नहीं किया, इसलिये इसकी सर्वथा उपेक्षा करनी चाहिये। ऐसा उपादानतत्त्व चाहे मूल-त्रिगुणात्मक प्रकृति हो, अथवा उसके कार्यस्तर का कोई तत्त्व हो। यह भी ज्ञातव्य है, कि कार्यस्तर के किसी तत्त्व को आचार्यों ने वास्तविक स्थिति में कभी नित्य स्वीकार नहीं किया, इसलिये पृथिवी परमाणु आदि को नित्य कहे जाने की उपेक्षा करनी चाहिये। तथाकथित 'परमाणु' कार्यस्तर का तत्त्व है, इसका उपपादन किया जाचुका है।

जिन व्याख्याकारों ने इन सूत्रों [१२-१७] द्वारा न्याय औरवैशेषिकप्रतिपादित परमाणुकारणवाद का प्रत्याख्यान किया है, तथा उसकी अत्यन्त उपेक्षा के लिये अनुमति दी है, वे भी उस प्रक्रिया से शास्त्र में प्रवेश पाये बिना तत्त्वज्ञान में पूर्णता प्राप्त न करसके। ये वैदिक दर्शन हैं। इनके प्रत्याख्यान में सूत्रकार का तात्पर्य रहा हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। प्रस्तुत शास्त्र के लक्ष्य के अनुसार सूत्रकार केवल यह प्रकट करना चाहता है, कि जड़ उपादानतत्त्व किसी दशा में जगत्सर्ग आदि के लिये स्वतः प्रवृत्ति में समर्थ नहीं होसकता। चेतन ब्रह्म उसका नियन्ता अधिष्ठाता है, इसी रूप में ब्रह्म को जानना अभीष्ट है। इसीमें ब्रह्मजिज्ञासा की पूर्ति होती है ॥१७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, नियन्ता चेतन ब्रह्म को उसी दशा में मानने की आवश्यकता है, जब उपादानतत्त्व से कार्य परिणत किया जाना माना जाता है, उपादान-तत्त्व चाहे जड़ प्रकृति हो, या उसके कार्यस्तरों के 'पृथिवी-परमाणु' आदि। इसलिये यदि ऐसा मानलिया जाय, कि परमाणु उपादानतत्त्व से द्व्यणुकादि क्रम द्वारा पृथिव्यादि जगत् उत्पन्न न होकर यह परमाणुओं का समुदायमात्र है, परमाणुपुञ्ज ही विशिष्ट जगत् के रूप में प्रतीत होते हैं, तो कैसा है ? समस्त जगत् आध्यात्मिक और आधिभौतिक रूप में विभाजित है। पृथिव्यादि आधिभौतिक जगत् कठिन, स्निग्ध, उष्ण और गति-स्वभाव के चार प्रकार के परमाणुओं का समुदाय है। दूसरा आध्यात्मिक भाग देह के अन्दर है-चित्त, इन्द्रियां तथा उनसे होने वाली सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि की अनुभूति। यह बाह्य और आन्तररूप में परमाणुसमुदायमात्र जगत् किसी नियन्ता चेतन ब्रह्म की अपेक्षा नहीं रक्खेगा। शिष्यजिज्ञासा को सूत्रपदों द्वारा प्रकट करते हुए आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥१८॥

[समुदाये] समुदाय में [उभयहेतुके] दोनों कारणों वाले में [अपि] भी [तदप्राप्तिः] उसकी अप्राप्ति-असिद्धि है। दोनों कारणों वाले समुदाय में भी समुदाय की असिद्धि होगी, अर्थात् चेतन के विना समुदाय न बन सकेगा।

समस्त भूत-भौतिक बाह्य जगत् और चित्त-चैत्त आन्तर जगत् उपादानतत्त्व परमाणुओं का समुदायमात्र है, तो इसका यह तात्पर्य प्रकट होता है कि परमाणुओं

से किसी विशिष्ट स्थायी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती। तब यह सोचना होगा, कि अदृश्य परमाणुसमुदाय दृश्य जगत् के रूप में कैसे भासता है? इसके लिये स्वीकार करना होगा, कि परमाणुसमुदाय प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील है। परमाणुपुञ्ज के क्षणिक परिवर्त्तन-स्वभाव की प्रक्रिया का यह चमत्कार है, कि वह पृथिव्यादि बाह्य जगत् के रूप में भासता है, तथा पृथिव्यादिसमुदाय देहादि के रूप में। तात्पर्य यह, कि आधिभौतिक पृथिवी आदि समुदाय का हेतु परमाणु हैं, और देहरूप समुदाय का हेतु पृथिवी आदि भूत हैं। इसप्रकार परमाणुहेतुक समुदाय पृथिव्यादि और पृथिव्यादिहेतुक समुदाय शरीर, ये दोनों प्रकार के समुदाय असिद्ध हैं, बन नहीं सकते। कारण यह है, कि परमाणु और उनका समुदाय पृथिव्यादि भूत दोनों अचेतन हैं। किन्हीं भी वस्तुओं का समुदाय उनके एकत्रित हुए विना नहीं बनसकता। एकत्रित होने के लिये उनमें क्रिया का होना आवश्यक है। अचेतन वस्तु में स्वतः क्रिया का होना असम्भव है। अतः परमाणुसमुदाय बन नहीं सकता।

परिवर्त्तन एक क्रिया है, जड़परमाणु में स्वभावतः उसका होना सम्भव नहीं। यदि परमाणु का यह स्वभाव माना जाता है; तो जड़वस्तु का स्वभाव एकरूप देखा जाने से ज्ञानपूर्वक विविधता लाने का सामर्थ्य जड़तत्त्व में सम्भव न होगा। तब परमाणु-समुदायमात्र के स्वभावतः विविध जगद्रूप में परिवर्त्तित होने अथवा प्रतीत होने का कोई कारण नहीं जाना जाता। फलतः न तो परमाणु आदि का समुदाय सिद्ध होता है, और न इस प्रक्रिया के अनुसार जगत् का वैविध्य सिद्ध होता है। सर्वज्ञ नियन्ता चेतन की प्रेरणा से उपादानतत्त्वों में क्रिया का होना सम्भव है। ऐसे चेतन ब्रह्म का अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक है ॥१८॥

शिष्य आशंका करता है, परमाणु में स्वभावतः विभिन्न क्रिया मानलेने से वह एक-दूसरे में क्रिया उत्पन्न कर देगा, तथा एक समुदाय आगे होनेवाले समुदाय में। इसप्रकार समुदाय की सिद्धि होजायगी, और विविध जगत् के प्रतीत होने में कोई बाधा नहीं रहेगी। आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥१९॥

[इतरेतरप्रत्ययत्वात्] एक-दूसरे का कारण होने से [इति चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो वह) [न] नहीं, [उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्] उत्पत्तिमात्र का निमित्त होने से। एक-दूसरे का कारण होने से समुदाय सिद्ध होजायगा, यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि वह तो केवल उत्पत्ति का कारण होगा, समुदाय का नहीं।

इस मान्यता में भोक्ता या नियन्ता के रूप में किसी स्थायी तत्त्व के माने जाने की संभावना नहीं। अन्य कोई वस्तु भी स्थायी नहीं। मूलतत्त्व परमाणु भी प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं। इसका यही तात्पर्य होगा, कि एकक्षणवर्त्ती परमाणु भाविक्षणवर्त्ती

परमाणु के रूप में परिवर्त्तित होता है। इस परिवर्त्तन को कहा जाता है, कि पूर्वक्षणवर्त्ती परमाणु उत्तरक्षणवर्त्ती परमाणु को उत्पन्न करदेता है। सूत्र में 'प्रत्यय' पद का अर्थ 'कारण' है। इससे स्पष्ट हुआ कि वस्तु का पहला क्षण अगले का कारण है, इसीप्रकार वह अपने से अगले का। सूत्रकार के समाधान का आशय है, कि इस व्यवस्था में पूर्वक्षणवर्त्ती परमाणु उत्तरक्षणवर्त्ती परमाणु की केवल उत्पत्ति का निमित्त होगा, अनेक परमाणुओं के समुदाय का नहीं। अचेतन होने से परमाणु में यह विवेचनासामर्थ्य नहीं माना जासकता, कि वह अन्य परमाणु को उत्पन्न करे, और यह सोचे, कि मैं अपने अन्य साथियों को इकट्ठा कर समुदाय को बनाऊँ। उस दशा में प्रत्येक परमाणु का ऐसा स्वभाव होने पर समुदाय का नियमन असंभव होगा। इतने नियत परमाणुओं का कोई समुदाय बने, यह व्यवस्था न होसकेगी। तब भी समुदाय का बनना असिद्ध होगा।

इस विषय में यह भी विचारणीय है, कि एक परमाणु जब अन्य परमाणु को उत्पन्न करने में प्रवृत्त होता है, तब वह सदृश उत्पत्ति करेगा, या विसदृश ? अथवा अनियम से कभी सदृश कभी विसदृश ? पहले विकल्प में वह केवल परमाणु बना रहेगा। द्वितीय में प्रत्येक परमाणु का ऐसा स्वभाव होने से विसादृश्य की कोई व्यवस्था न होगी। अन्तिम विकल्प में कब सदृश और कब असदृश होता है, इसका नियमन असभव होगा, तथा जड़ का ऐसा स्वभाव मानना भी अतर्क्य है। यही स्थिति समुदाय के लिये है। एक समुदाय सदृश, विसदृश अथवा अनियम से अन्य समुदाय को उत्पन्न करता है, तो पहले में वस्तु सदा एकसमान प्रतीत होती रहनी चाहिये। दूसरे में प्रतिक्षण नियम से बदल जानी चाहिये। तीसरे में एक वस्तु कभी कुछ और कभी कुछ अन्य दीखनी चाहिये। घोड़ा अभी हाथी होजाय, वह अभी मनुष्य तथा फिर और कुछ। यह सब लोकस्थिति के विरुद्ध है, तथा इस मान्यता के अनुसार कल्पना कीजाने वाली व्यवस्था के भी विरुद्ध है।

सूत्र के हेतुपद से यह भावना भी ध्वनित होती है, कि यदि परमाणु को उत्पत्तिस्वभाव माना जाय, क्योंकि इसके विना वह उत्तरक्षणवर्त्ती परमाणु का कारण नहीं बनसकता, तो वह केवल उत्पत्ति का निमित्त रहेगा, तब जगत् सदा इसी रूप में दीखता रहना चाहिये, प्रलय की कभी सम्भावना न रहेगी; ऐसा होना प्रमाणविरुद्ध है। इसलिये परमाणु में स्वभावतः उत्पाद आदि क्रिया का मानना असंगत है। तब समुदाय सिद्ध न होसकेगा। जगत् का होना असम्भव होगा, जो सब प्रमाणों से असिद्ध है।

यदि प्रत्येक परमाणु में क्रिया की विभिन्नता स्वीकार कर उसके आधार पर जगत् के वैविध्य का समाधान किया जाय; तो भी अव्यवस्था से छुटकारा मिलना कठिन है। प्रत्येक परमाणु की विभिन्न क्रिया उत्तरक्षण को उत्पन्न करेगी, परमाणु का ऐसा स्वभाव मानने पर उत्तरक्षण किस्वरूप होगा, इसकी व्यवस्था अशक्य होगी। क्योंकि प्रत्येक परमाणु की अपनी क्रियात्मक विशेषता होने से वह उसी परिवर्त्तन के

लिये बाध्य होगा। जड़ परमाणुओं की विभिन्न क्रिया चेतन प्रेरयिता के विना जगत् के वैविध्य का स्वतः उद्भावन करने में सर्वथा अक्षम हैं। तब किसी समुदाय का सिद्ध होना संभव नहीं ॥१९॥

पूर्वक्षण उत्तरक्षण की उत्पत्ति में कारण है, यह मानकर आचार्य ने समुदाय की असिद्धि का गतसूत्र से उपपादन किया। पूर्वक्षण उत्तरक्षण की उत्पत्ति में कारण नहीं होसकता, इस भावना से सूत्रकार समुदाय की असिद्धि को पुष्ट करता है—

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥२०॥

[उत्तरोत्पादे] अगले की उत्पत्ति में [च] और [पूर्वनिरोधात्] पहले का निरोध–नाश होने से। अगले क्षण की उत्पत्ति के समय में पहला नष्ट होचुका होता है, तब वह अगले को उत्पन्न ही नहीं करसकता।

पूर्वक्षण उत्तरक्षण का कारण है, इस वाक्य में 'क्षण' पद उस क्षण में रहनेवाली वस्तु का द्योतक है। जब प्रत्येक वस्तु एकमात्रक्षणवर्त्ती है, तो यह निश्चित है, कि उत्तरक्षण के उत्पत्तिकाल में पूर्वक्षण नष्ट होजाता है। यदि पूर्वक्षण के उत्पत्तिकाल में ही उत्तरक्षण की उत्पत्ति मानली जाय, तो दोनों के एकसाथ उत्पन्न होने के कारण, उनमें से एक को कारण और दूसरे को कार्य नहीं माना जासकता। यह एक व्यवस्था है, कि एकसाथ उत्पन्न दो वस्तुओं में कार्यकारणभाव नहीं होसकता। इस व्यवस्था का आधार यह है, कि कारण कार्य की उत्पत्ति से नियतपूर्व होना चाहिये, यदि नियमितरूप से कारण कार्य के पूर्व न होगा, तो कार्य उत्पन्न कहां से होगा? इसलिये पूर्वक्षण उत्तरक्षण का कारण है, यह मानने पर पूर्वक्षण की स्थिति के अनन्तर उत्तरक्षण अस्तित्व में आयेगा। तब निश्चित है, उत्तरक्षण की उत्पत्ति के अवसर पर पूर्वक्षण नहीं है। इसका तात्पर्य यह हुआ, कि कारण के न होने पर कार्य उत्पन्न होरहा है। यह माना जाना सर्वथा अप्रामाणिक एवं असंभव है। ऐसी दशा में कार्यकारणभाव की कोई व्यवस्था नहीं रहसकती। एक परमाणु दूसरे परमाणु का अथवा एक समुदाय दूसरे समुदाय का कारण है, यह कहना असंगत होगा। तब उपादानतत्त्व स्वतः समुदाय का निमित्त होगा, यह कहना तो दूर की बात है, वह उत्पत्तिमात्र का भी निमित्त न होसकेगा।

इस विषय में यह भी एक ध्यान देने की बात है, कि प्रत्येक कार्य कारण से अन्वित [सम्बद्ध] रहता हुआ ही उत्पन्न होता है, तन्तु से पट अथवा मट्टी से घट पैदा होते ही तन्तु और मट्टी नष्ट होते नहीं देखेजाते, प्रत्युत तन्तु और मट्टी का अन्वय पट और घट में बराबर दृष्टिगोचर होता है। यदि उत्तरक्षण के उत्पत्तिकाल में पूर्वक्षण का अन्वय [सम्बन्ध] नहीं है, तो पूर्वक्षण उत्तरक्षण का कारण नहीं होसकता। तब वह समुदाय को सम्पन्न कर सकेगा, यह प्रश्न ही नहीं उठता ॥२०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि पूर्वक्षण कारण के न रहने पर उत्तरक्षण कार्य

की बलात् उत्पत्ति मानली जाती है, तो इसमें आपत्ति क्या है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥२१॥

[असति] न होने पर [प्रतिज्ञोपरोधः] प्रतिज्ञा की बाधा है, [यौगपद्यम्] एक-साथ होना है [अन्यथा] नहीं तो। पूर्वक्षण कारण के न होने पर उत्तरक्षण कार्य होजाता है, यह मानने पर प्रतिज्ञा की बाधा होती है, अन्यथा दोनों का यौगपद्य होता है, तब भी प्रतिज्ञाहानि है।

यदि यह स्वीकार किया जाता है, कि पूर्वक्षण–कारण के न होने पर उत्तरक्षण–कार्य होजायगा, तो इस प्रतिज्ञा की बाधा होजाती है, कि पूर्वक्षण उत्तरक्षण का कारण है। जब पूर्वक्षण के विना उत्तरक्षण उत्पन्न होजाता है, तो पूर्व उत्तर का कारण कैसे? इसका तो यह अभिप्राय होता है, कि कारण के विना कार्य होजाता है। ऐसी मान्यता होने पर यह भी एक आपत्ति है, कि प्रत्येक कार्य प्रत्येक जगह होसकता है, अथवा होजाना चाहिये, क्योंकि कारण का अभाव सर्वत्र समान है। इससे कार्य-कारण व्यवस्था की प्रतिज्ञा नष्ट होजायगी।

इस भय से यदि अन्यथा–उत्तरक्षण के उत्पत्तिकाल में पूर्वक्षण की सत्ता बनी रहती है, यह–माना जाय, तो पूर्वक्षण का उत्तरक्षणकाल में विद्यमान रहना सिद्ध हो-जाता है, अर्थात् कार्यक्षण में भी कारणक्षण बना रहता है, इससे यह प्रतिज्ञा बाधित होजाती है, कि प्रत्येक भाव क्षणिक है; क्योंकि कारणवस्तु [भाव] अपने क्षण में और अपने से अनन्तरवर्त्ती कार्यक्षण में विद्यमान रहजाता है। ऐसी मान्यता में न तो कार्य-कारणभाव निर्दोष बनता है और न समुदाय सिद्ध होपाता है। तब परमाणुरूप उपादान-तत्त्वों का समुदायमात्र जगत् को कहकर लोकव्यवहार सम्पन्न नहीं किया जासकता। इसलिये यह समुदायवाद असंगत है ॥२१॥

परमाणुतत्त्वों का समुदायमात्र जगत् को मान, लोकव्यवहार सम्पन्न नहीं होसकता; इसका निरूपण कर आचार्य सूत्रकार ने–जगत् के विनाश की असिद्धि से भी यह वाद असंगत है–बताते हुए कहा—

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥२२॥

[प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्या-निरोध-अप्राप्तिः] प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्या-निरोध की प्राप्ति–सिद्धि नहीं [अविच्छेदात्] विच्छेद न होने से।

प्रतिसंख्यानिरोध–'प्रति' का अर्थ है–प्रतिकूल, विरोधी; 'संख्या' का अर्थ है–बुद्धि, ज्ञान; 'निरोध' का अर्थ है–विनाश। 'विद्यमान भाव को मैं अविद्यमान करता हूं' इसप्रकार किसी भाव के प्रतिकूल बुद्धि 'प्रतिसंख्या' कही जाती है, ऐसी बुद्धि से जो भाव

[वस्तु] का विनाश है, वह प्रतिसंख्यानिरोध है। इसके विपरीत भावों का जो स्वभावतः विनाश होता रहता है, वह दूसरा निरोध है।

जगत् परमाणुओं का समुदायमात्र है, इस मान्यता में परमाणु एवं समुदाय को अनिवार्यरूप से प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील मानना पड़ता है; इसमें परमाणु समुदाय को तथा पूर्वसमुदाय परसमुदाय को परिवर्त्तित किया करता है, यह प्रक्रिया स्वीकार कीजाती है। न्यूनाधिकता का कोई नियामक न होने से यह परिवर्त्तन प्रतिक्षण होता माना जासकता है। गतसूत्रों में बताया गया, कि इस मान्यता के अनुसार पूर्वसमुदाय के सर्वथा नष्ट होने पर उत्तरसमुदाय का उत्पन्न होना संभव नहीं होसकता; क्योंकि कारण के न रहने पर कार्य की उत्पत्ति माना जाना सर्वथा अप्रामाणिक है। प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है, कि किसी भाव [वस्तु] का सर्वथा विनाश सम्भव नहीं। वस्तु का विनाश या अभाव दो प्रकार से कहा जाता है, एक–वस्तु सत्ता को बुद्धिपूर्वक वस्तु-असत्ता के रूप में समझना। यह उन बुद्धिमान् विद्वान् ज्ञानियों के विषय में है, जो जगत् की क्षणिक अस्थायी सत्ता को वास्तविक असत्ता के रूप में समझसकते हैं। दूसरा प्रकार–वस्तु की वह स्वाभाविक प्रक्रिया है, जिसे समुदायवाद में इसरूप से माना जासकता है, कि प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील होने से विनाश को प्राप्त होजाती है। इन दोनों प्रकारों में वस्तु के सत्ताक्षण के अनन्तर उस वस्तु का किसीप्रकार का कोई अस्तित्व नहीं रहता।

सूत्रकार ने इस विचार को यह हेतु देकर असंगत बताया, कि किसी वस्तु का सर्वथा उच्छेद [विच्छेद–विनाश] नहीं होता। उत्पत्ति के समान विनाश भी एक परिवर्त्तन है, परिवर्त्तन-क्रिया आश्रय के विना असंभव है। जैसे उत्पत्ति में कार्य कारण-तत्त्वों से अन्वित [संबद्ध–युक्त] रहता है, कारण से अनन्वित कार्य नहीं होसकता, ऐसे ही कार्य का विनाशरूप परिवर्त्तन कारण से अन्वित रहता है। कपड़े के फट जाने पर या घड़े के फूट जाने पर उनके कारणतत्त्व तन्तुओं तथा मृण्मय टुकड़ों को पहले के समान उपलब्ध किया जाताहै।

वस्तु की सामान्य दशा में भी उस वस्तु को पूर्वापरकाल में एकरूप से पहचाना जाता है। यद्यपि वस्तु की क्षणिकता में यह युक्ति दी जासकती है, कि बालकशरीर युवा और युवाशरीर वृद्ध अथवा जीर्ण होजाता है, यह परिवर्त्तन एकसाथ नहीं होता, प्रतिक्षण धीरे-धीरे होता हुआ कालान्तर में अनुभूत होता है; फिर भी यह स्वीकार करना पड़ता है, कि इसमें एक अन्वित धर्मी आवश्यकरूप से विद्यमान रहता है। बाल-युवा-वृद्धशरीर में धर्मों का उपचय-अपचय अवश्य रहता है, जो इस अनुभूत परिवर्त्तन का निमित्त है; पर वहां उस अन्वित धर्मी से नकार नहीं किया जासकता, जिसके आधार पर बालक-युवा-वृद्ध देवदत्त को कालान्तर व देशान्तर में एकरूप से बराबर पहचाना जाता है। दार्शनिक भाषा में इसका नाम 'प्रत्यभिज्ञा' है। इसके आधार पर लोकव्यवहार सम्पन्न होता है, अन्यथा समस्त वैयक्तिक पारिवारिक सामाजिक आर्थिक

आदि सम्बन्धों का विच्छेद होकर लोकव्यवहार असम्भव होगा। यह स्थिति प्रत्येक वस्तु के विषय में स्वीकार्य है। देशान्तर व कालान्तर में उसी वस्तु का होना व पहचाना-जाना इस तथ्य को स्पष्ट करता है, कि प्रत्येक क्षण में वस्तु का विनाश माना जाना सर्वथा असंगत है। अग्नि आदि से दग्ध वस्तुओं में जहां अन्वयी धर्मी स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, वहां भी अन्य प्रकारों [विज्ञान आदि प्रक्रियाओं] से उसका जान लेना अशक्य नहीं है। इसलिये समुदायवाद में विभिन्न प्रकारों से वस्तुओं का तथाकथित अभाव [निरोध] सिद्ध न होने के कारण भी यह वाद अमान्य है ॥२२॥

उक्त प्रकार से कहे जाने वाले वस्तुओं के निरोध के प्रत्याख्यान में आचार्य सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

उभयथा च दोषात् ॥२३॥

[उभयथा] दोनों प्रकार से [च] और [दोषात्] दोष से। तथा दोनों प्रकार दोष होने से पूर्वोक्त वस्तु-निरोध असंगत है।

जगत् को परमाणुओं का समुदायमात्र मानकर दो प्रकार से जो वस्तु का अभाव होना बताया गया, वहां यह देखना है, कि वह अभाव किसी कारण से होता है, अथवा विना कारण होजाता है? पहले विकल्प के अनुसार समुदायवाद के अपने विचार का विरोध प्राप्त होता है, क्योंकि वहां उसप्रकार के वस्तु के अभाव का कोई कारण नहीं बताया गया। यदि कोई कारण माना जाता है, तो वह कारण कोई क्षणिक भाव होगा, अथवा अक्षणिक भाव? यह ज्ञातव्य है। यदि वह क्षणिक भाव है, तो उसका भी सकारण निरोध आवश्यक होने से उसके अन्य कारण की कल्पना करनी होगी, उसके भी आगे उसके निरोधकारण की; तब अनवस्था दोष उपस्थित होगा। यदि वह कारण अक्षणिक भाव है, तो समस्त भाव क्षणिक हैं, यह कहना असंगत होगा। द्वितीय विकल्प के अनुसार यदि निरोध को विना कारण स्वीकार किया जाता है, तो सब क्षणिक हैं सब निरात्म है, इस भावना को जागृत करने के लिये उपदेश करना व्यर्थ है; क्योंकि वस्तु का निरोध [अभाव, नैरात्म्य] विना कारण स्वभावतः होजायगा, उसके लिये अन्य प्रयत्न करना बेकार है। इसलिये दोनों प्रकार से दोषपूर्ण होने के कारण पूर्वोक्त वस्तु-निरोध असंगत है। फलतः समुदायवाद में न तो उत्पत्ति संभव होती, और न तथाकथित वस्तु का विनाश सिद्ध होता, ऐसी दशा में यह वाद सर्वथा अमान्य है ॥२३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, सिद्धान्तपक्ष में पृथिवी आदि पांच भूत भावरूप से स्वीकार किये गये हैं। समुदायवाद की कल्पना में पृथिवी जल तेज वायु के केवल चार प्रकार के परमाणु बताये, उन्हींका समुदाय समस्त भाव है। इसका तात्पर्य यह हुआ, कि समुदायवाद की कल्पना में आकाश का कोई भाव नहीं है। यह कहां तक संगत माना जासकता है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

आकाशे चाविशेषात् ॥२४॥

[आकाशे] आकाश में [च] तथा [अविशेषात्] अविशेष से–समानता से। तथा पृथिव्यादि की समानता से आकाश में वस्तुत्व सिद्ध होता है; इसे अभाव मानना असंगत है। गत सूत्र से 'अप्राप्ति' पद की अनुवृत्ति है, आकाश के अभाव माने जाने की अप्राप्ति–असिद्धि है।

पृथिवी आदि के चार प्रकार के परमाणु और उनसे बना समुदाय एक आवरण की तरह है। आकाश ऐसे आवरण का अभावमात्र है, यह समझना ठीक नहीं है। जैसे गन्ध आदि गुणवाले पृथिवी आदि भाव हैं, ऐसे ही शब्दगुण का आश्रय आकाश भाव पदार्थ है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अभाव का निरूपण अनुयोगी और प्रतियोगी के आधार पर होता है, जिस वस्तु का अभाव हो, वह अभाव का प्रतियोगी, और जिसमें अभाव कहा जाय, वह अभाव का अनुयोगी है। आवरण का अभाव है आकाश, यह कहने पर अभाव का प्रतियोगी आवरण है, अनुयोगी कौन होगा? जहां आवरण का अभाव बताया जारहा हो। इसप्रकार अनुयोगी की भावरूप सत्ता को स्वीकार किया जाता है, आवरणाभाव का अनुयोगी आकाश भाव पदार्थ होगा, अभाव नहीं। जैसे कहा जाता है–यहां घट का अभाव है; इसमें 'यहां' पद से जिस प्रदेश का निर्देश होता है, उसकी सत्ता निश्चित है। ऐसे ही आवरणाभाव के अनुयोगी आकाश की सत्ता से नकार नहीं किया जासकता।

समस्त वैदिक अवैदिक शास्त्रों में आकाश को भाव पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। इस विषय के वर्णन उपलब्ध होते हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों ने इस तत्त्व को 'ईथर' नाम से व्यवहृत किया है। उनकी मान्यता है–वायु के होने पर ही शब्द उत्पन्न होता है, इसलिये वह उसीका गुण माना जाना चाहिये। तब शब्द का आश्रय आकाश न होकर वायु कहा जासकता है।

इस विषय में ज्ञातव्य है, कि वस्तुतत्त्व का वर्णन अनेक प्रकार से संभव है। ध्वनि की उत्पत्ति में वायु प्रेरक होने से निमित्त कहा जासकता है और वह ध्वनि का वाहक भी है। वायु के समान अन्य पदार्थ भी ध्वनि के निमित्त व वाहक संभव हैं। पर मूल आधाररूप में ध्वनि की उत्पत्ति आकाशतत्त्व में मानी जानी चाहिये, वाहक पदार्थों की गति अथवा स्थिति आकाशतत्त्व के विना संभव नहीं। वायु आदि पदार्थ गन्धादि का भी वहन करते हैं; इसका यह तात्पर्य नहीं, कि गन्धादि वायु का गुण अथवा धर्म है। केवल वहन किये जाने से शब्द वायु आदि का गुण नहीं माना जाना चाहिये। आधुनिक विज्ञान ने ध्वनि का विद्युत से सम्बन्ध जोड़कर उसकी तरंगित गति को अति-तीव्र बना दिया है। रेडियो आदि में यही व्यवस्था है। वहां ध्वनि का वहन विद्युत द्वारा सीधे ईथर [आकाश] तत्त्व में होता है, जो सर्वव्यापक तत्त्व है। विद्युत एवं

प्रकाश आदि की गति एक सेकण्ड में एक लाख छियासी हज़ार मील के लगभग मानी जाती है। इसप्रकार विद्युत्-चुम्बकीय-तरंग [इलेक्ट्रो-मेग्नेटिक वेव्ज़–Electro-Magnetic Waves] ध्वनि को क्षण में दूर से दूर पहुंचा देती हैं।

आधुनिक विज्ञान का कहना है, कि यहां ध्वनि विद्युत्-तरंगों में परिणत होकर पुन: श्रुतियन्त्र में समान स्थिति प्राप्त कर वे तरंग ध्वनिरूप में परिणत होजाती हैं। यदि गंभीरता से विचार किया जाय, तो विद्युतद्वारा ध्वनि के वहन को वर्णन करने की यह एक वैज्ञानिक रीतिमात्र है, यह स्पष्ट होजाता है। यदि विद्युद्रूप में परिणत ध्वनि का जाना ही माना जाय, तो भी विद्युत्तरंगों के आश्रयरूप में आकाशतत्त्व को स्वीकार करना अनिवार्य है। फलत: आकाशतत्त्व को अभावरूप नहीं कहा जासकता।

प्राकृतिक अथवा ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार उच्चारण और श्रवण के जो साधन सामान्यत: प्राणी को उपलब्ध हैं, जागतिक व्यवहार को संतुलित रखने में उनका महत्त्वपूर्ण योग है। यदि सामान्यत: ध्वनि का विद्युत के साथ संपर्क होजाया करता, तो संसार में कोई बात गुप्त नहीं रक्खी जासकती थी; ऐसा होने से मानवसमाज परस्पर संघर्ष कर उच्छिन्न होजाता। मानव ने उस शक्ति का उद्भावन कर उपयोग किया है, वह अत्यन्त सीमित है। विशेष यन्त्रादि साधनों के द्वारा उसका उपयोग संभव है, जो सर्वत्र सुलभ नहीं। फिर भी राष्ट्रों के गुप्त समाचारों की चोरी आदि कर अनेक प्रकार से ये उद्भावित साधन महान संघर्ष के कारण बन जाते हैं। यद्यपि इनका रचनात्मक उपयोग विविध सुविधाओं के लिये अत्यन्त अनुकूल है॥२४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, समुदायवाद में प्रत्येक वस्तु का अनिवार्यरूप से क्षणिक होना संभव है, वह चाहे प्रमाता हो या प्रमेय; यह प्रथम कहा गया। क्या भावमात्र का क्षणिक होना सिद्ध माना जाना चाहिये? इसपर सूत्रकार ने कहा—

अनुस्मृतेश्च ॥२५॥

गतसूत्र के समान यहां भी 'अप्राप्ति' पद की अनुवृत्ति है। [अनुस्मृते:] अनुस्मृति से [च] और प्रत्यभिज्ञान से। भाव के क्षणिक होने की अप्राप्ति–असिद्धि है, अनुस्मृति से और प्रत्यभिज्ञान से।

सूत्र में 'च' पद 'प्रत्यभिज्ञान' हेतु का संग्राहक है। किसी प्रमाता को उपलब्धि अथवा अनुभव होने के अनन्तर उस विषय का जो स्मरण होता है, वह 'अनुस्मृति' है। प्रमाता देवदत्त अपने घर से बाहर परदेस चला जाता है। कालान्तर में निमित्तवश उसे अपने घर का स्मरण होआता है। यदि प्रत्येक भाव क्षणिक है, तो घर से चलने वाला देवदत्त अब परदेस में नहीं रहा है, क्षणिक होने से घर का अनुभव करनेवाला देवदत्त अब नष्ट नोगया. परदेसस्थित देवदत्त अन्य है, तब उसे घर का स्मरण नहीं होना चाहिये। अन्य के देखे पदार्थ का अन्य को स्मरण नहीं होता, यह एक नियत व्यवस्था

है। अन्यथा सबको सबके अनुभव का स्मरण होजाना चाहिये, जो लोक-व्यवहार और सब प्रमाणों से असिद्ध है। पर ऐसा स्मरण प्रत्येक प्रमाता को होता है, यह निश्चित है। इससे सिद्ध होता है, कि अपने अनुभव का स्वयं स्मरण करनेवाला प्रमाता क्षणिक नहीं होसकता, घर और परदेस में रहने वाला प्रमाता देवदत्त एक स्थायी व्यक्ति है।

वही देवदत्त जब कालान्तर में अपने घर वापस आता है, तब वह अनुभव करता है—मैं अपने उसी घर में आगया हूं, जिसमें पहले रहा करता था; मैं अपने उन्हीं पारिवारिकजनों को देख रहा हूं, जिन्हें पहले देखा करता था। इस प्रतीति में 'वह घर' और 'वे ही पारिवारिक जन' यह कथन स्पष्ट करता है, कि घर तथा पारिवारिक जन आदि प्रमेय [देवदत्त के ज्ञान के विषय] क्षणिक नहीं हैं। ऐसी प्रतीति को 'प्रत्यभिज्ञान' कहा जाता है। यह प्रतीति किसी भी तरह भ्रान्त नहीं है। इससे प्रमाता और प्रमेय दोनों की क्षणिकता असिद्ध होजाती है। यह प्रतीति सादृश्य के कारण हो-जाती हो, यह कहना भी युक्त नहीं है; क्योंकि प्रत्यभिज्ञान में सादृश्य का अनुभव नहीं होता। सादृश्यप्रतीति में बाधा की संभावना रहती है। किसीको एक जैसा देखकर धोखा होता देखा जाता है, और उसे छोड़ देना पड़ता है; पर प्रत्यभिज्ञान में बाधा की संभावना नहीं रहती, इसलिये यह कहना अयुक्त है, कि ऐसी प्रतीति सादृश्य के कारण होजाती है।

इस विषय में यह एक ध्यान देने की बात है, कि प्रत्येक पदार्थ किसी प्रयोजन के लिये होता है। पदार्थद्वारा किसी प्रयोजन को सम्पन्न किया जाना उसकी स्थायिता को सिद्ध करता है, क्षणिकता की बाधा करता है। प्रतिक्षण नष्ट होनेवाले घड़ा या वस्त्र आदि पदार्थ पानी भरने या शरीर को ढांपने के लिये उपयोगी नहीं होसकते। जो पदार्थ सत्ताग्रहण करने पर आगे आधा क्षण भी टिक नहीं सकता, उसके द्वारा पर्याप्त विलम्ब से सम्पन्न होने वाले उपयुक्त प्रयोजन के सिद्ध होने की संभावना कैसे की जासकती है? इस-लिये प्रमाता एवं प्रमेय के रूप में पदार्थ का क्षणिक होना सर्वथा अप्रामाणिक है॥२५॥

शिष्य आशंका करता है, समुदायवाद के अनुसार जैसे पूर्वक्षणवर्त्ती प्रमाता-समुदाय उत्तरक्षणवर्त्ती प्रमातासमुदाय को उत्पन्न करता है, वैसे ही वह अपने समस्त संस्कार एवं वासनाओं को उसमें प्राप्त करा देता है; तब अनुस्मृति और प्रत्यभिज्ञान के होने में कोई बाधा न होगी। प्रतिक्षण परिवर्त्तित होने वाली दीपशिखा जैसे ताप प्रकाश आदि को आगे-आगे प्राप्त कराती रहती है। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥२६॥

[न] नहीं [असतः] असत् से—अभाव से [अदृष्टत्वात्] न देखा हुआ होने के कारण। उक्त कथन का परिणाम है—अभाव से उत्पत्ति मानना; यह नहीं होसकता। क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति कहीं नहीं देखी जाती।

इसीप्रकरण के गतसूत्रों [२०, २१] में यह बताया गया है, कि समुदायवाद के

अनुसार पूर्वक्षण नष्ट होजाने पर उत्तरक्षण अस्तित्व में आता है। जैसे एक बीज का उपमर्द होने पर–बीज के अभावग्रस्त होने पर–अकुर अस्तित्व में आता है। इसका तात्पर्य यह है, कि किसी समुदाय के सत्ताक्षण में उसके तथाकथित कारणतत्त्व का अस्तित्व नहीं है। तब प्रत्येक समुदाय विना कारण अभावमात्र से होजाता है, समुदाय-वाद का यही परिणाम सामने आता है।

प्रस्तुत सूत्र से आचार्य ने बताया, इसप्रकार अभाव से भाव की उत्पत्ति मानना सर्वथा अयुक्त है। क्योंकि ऐसा कार्यकारणभाव कहीं नहीं देखा जाता। यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती हो, तो किसी कार्य के लिये विशेष कारणों का उपादान–संग्रह निरर्थक होजाय। तब बीज से ही अंकुर होता है, दूध का ही दही बनता है, यह सब आवश्यक क्यों हो? खरे के सींग से भी अंकुर होजाना चाहिये; क्योंकि अभाव तो सर्वत्र समान है, जैसा बीज का अभाव वैसा ही खरे के सींग का अभाव। तब सब कार्य सब जगह से होजायें; पर ऐसा देखा नहीं जाता। इससे तो प्रत्यक्ष–लोकसिद्ध कार्य-कारण की व्यवस्था ही नष्ट होजाती है।

इस विषय में यह भी एक ध्यान देने की बात है, यदि अभाव को वस्तु की उत्पत्ति का कारण माना जाय, तो प्रत्येक वस्तु अभाव से अन्वित–सम्बद्ध अर्थात् अभाव-रूप ही होनी चाहिये। मट्टी के विकार घड़े शकोरे आदि मट्टी से तथा सुवर्ण के विकार कंकण कुण्डल आदि सुवर्ण से अन्वित देखे जाते हैं। तब वस्तुसमुदाय को अभाव का विकार मानने पर यह सब अभावरूप होना चाहिये, पर ऐसा नहीं है। वस्तुओं का भाव-रूप से बोध होना लोकप्रसिद्ध एवं सर्वप्रमाणसिद्ध है। यह कहना भी अयुक्त है, कि वस्तुस्वरूप के उपमर्द विना कार्य उत्पन्न नहीं होता; सुवर्ण व मृत्तिका आदि के कार्यों में उनका अन्वय बराबर देखा जाता है, उपमर्द नहीं। सुवर्णविकार को सुवर्णरूप में तथा मृद्विकार को मृत् के रूप में प्रत्येक समझदार व्यक्ति पहचानता है, विकार में कारण के अभाव को नहीं। इससे निश्चित होता है–कार्य किसी परिणामी स्थायीतत्त्व से उत्पन्न हुआ करते हैं, अभाव से नहीं। जिन बीज आदि में अंकुर की उत्पत्ति से पूर्व स्वरूप का उपमर्द प्रतीत होता है, वहां भी बीज की उपमृद्यमान पूर्व अवस्था अंकुररूप उत्तर अवस्था की कारण नहीं है, अपितु विद्यमान अन्वित बीज के अवयव ही अंकुर के कारण हैं, अन्यथा नींबू के बीज से आम और आम के बीज से कटहल पैदा हुआ करें, जो सर्वथा सृष्टिक्रम के विपरीत है।

फलतः समुदायवाद के अनुसार जब पूर्वसमुदाय उत्तरसमुदाय का कारण ही नहीं बनसकता, तब एक प्रमाता-समुदाय अपने उत्तरवर्त्ती समुदाय में संस्कार वासना आदि को प्राप्त करायेगा, यह सब कथनमात्र है, इसमें सार कुछ नहीं। एक पिता अपने पुत्र में स्वभावतः अपने संस्कार वासना आदि को प्राप्त नही करा सकता। यदि पुत्र को वह इनसे परिचित भी करा देता है, तो भी उनके आधार पर पुत्र को अभेदरूप से

स्मृति व प्रत्यभिज्ञान कभी नहीं होता। पिता के अनुभूत विषय को पुत्र अपने अनुभव की स्मृति व प्रत्यभिज्ञान के रूप में कभी प्रतीत करे, ऐसा न देखा जाता है, न संभव है। संक्रान्त वासना व संस्कार आदि भी क्षणिक होने से स्मृति आदि के जनक हो सकते हैं, यह दुरुपपाद है। यह विवेचन समुदायवाद में उभारी हुई सब कल्पनाओं की सारहीनता को स्पष्ट कर रहा है ॥२६॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त कथन में अन्य दोष प्रस्तुत किया—

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥२७॥

[उदासीनानाम्] उदासीनों–निकम्मे लोगों को [अपि] भी [च] और [एवं] इसप्रकार [सिद्धिः] सफलता। और ऐसे अभाव से भाव की उत्पत्ति मानने पर निकम्मे लोगों को भी सफलता प्राप्त होजाय।

अभाव से भाव की उत्पत्ति होना संभव हो, तो किसी कार्य की सिद्धि के लिये कोई प्रयत्न क्यों करे? तब प्रयत्नशील पुरुषों के समान निकम्मे लोग भी अपने अभिवाञ्छित कार्यों में अनायास सफलता प्राप्त कर लिया करें, अभाव सब जगह समानरूप से सुलभ है। खेती में किसीतरह का परिश्रम न करने वाले किसान को भी अभिमत अन्न की प्राप्ति होजाय। कुम्हार का घर भी–मट्टी का संस्कार आदि किये विना–भाण्डों से भरा रहा करे। फिर कपड़े और अन्य आवश्यक जीवनोपयोगी सामग्री के लिये समस्त प्रयास व्यर्थ हैं। ज्ञानसम्पादन व मुक्ति आदि के लिये शास्त्रारम्भ व यम नियम आदि का अनुष्ठान सब निष्प्रयोजन है। न ऐसा होता है, न संभव है, और न किन्हीं विचारशील महानुभावों ने ऐसा स्वीकार किया है।

चेतन ब्रह्म की प्रेरणा के विना जगत् के उपादानकारण परमाणुओं का स्वभावतः सम्पन्न समुदाय लोकव्यवहार को सिद्ध कर सकेगा, ऐसा विचार सब दिशाओं से विवेचन करने पर अयुक्त ही जाना गया। अतः सारहीन समुदायवाद सर्वथा असगत है ॥२७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, प्रकृति आदि उपादान से जगत् की रचना चेतन ब्रह्म के सहयोग विना किसी तरह नहीं होसकती, यह गत प्रकरणों से निश्चय किया गया। यदि ब्रह्मतत्त्व जगत्-प्रक्रिया में इतना आवश्यक है, तो एक मात्र ब्रह्म की सत्ता को क्यों न मान लिया जाय? यह सब विस्तृत जगत् और इसके जड़ उपादान तत्त्व को मानना अनावश्यक है। केवल ब्रह्म अपनी शक्ति से इस रूप में भासता है, वस्तुतः यह सब अभावरूप है, ब्रह्म के संकल्पानुसार कभी भासता है, इसका अपना अस्तित्व कुछ नहीं; ऐसा मान लेने में क्या दोष है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

नाभाव उपलब्धेः ॥२८॥

[न] नहीं [अभावः] अभाव, [उपलब्धेः] उपलब्धि से–प्रमाण द्वारा जाने जाने

से। जगत् को अभावरूप नहीं कहना चाहिये, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा यह स्पष्ट रूप से जाना जाता है।

परमार्थ सत्य केवल एक ब्रह्म तत्त्व है। प्रतिशरीर एक चेतन तत्त्व और उससे अतिरिक्त जो यह समस्त जड़ जगत् की प्रतीति होती है, यह सब भ्रममात्र है। चेतन ब्रह्म स्वयं इस रूप में भासित होकर क्रीड़ा किया करता है, यह इसकी केवल एक व्याख्या है। इस भ्रम के कारण कुछ अनादि स्थितियां हैं, जिनकी वास्तविकता का स्पष्टीकरण सम्भव नहीं। जगत् की तरह उनको भी अवास्तविक कोटि में रखना उप-युक्त है। इसप्रकार केवल एक ब्रह्म की सत्ता को मानना निर्दोष होसकता है। इससे समस्त लोक व शास्त्र का प्रमाण-प्रमेय आदि व्यवहार भ्रम की कोटि से बाहर नहीं रहता। जागतिक सब प्रतीति भ्रममात्र होने से जगत् को अभावरूप समझना एक निर्दोष मार्ग होसकता है।

आचार्य ने समाधान किया, जगत् को भ्रममात्र अथवा अभाव समझना ठीक नहीं; क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से यह सब उपलब्ध होता है। यह उपलब्धि भ्रम है, ऐसी प्रतीति नहीं होती। इसका सत्यरूप में ग्रहण होता है। संकल्प, श्रम और फल का सामञ्जस्य बराबर देखा जाता है, जो इस व्यवहार और प्रतीति की सत्यता को सिद्ध करता है। लोक में भ्रमस्थलों का अनुभव वहां होता है, जहां संकल्प, श्रम और फल का सामञ्जस्य नहीं देखा जाता। लोक व शास्त्र के अन्य व्यवहार उनसे सर्वथा विपरीत हैं, यह अनुभव से सिद्ध है। ऐसी स्थिति में समस्त प्रमाण-प्रमेय व्यवहार को भ्रमपूर्ण नहीं कहा जा सकता। जगत् की वास्तविक सत्ता यदि न हो, तो प्रमाणों से इसकी उपलब्धि न होती। यह लोकसिद्ध अनुभव–जगत् सत्य है एवं भावरूप है–इस स्थिति को प्रमाणित करता है ॥२८॥

शिष्य आशंका करता है, लोक में स्वप्न आदि ऐसी अवस्था देखी जाती हैं, जहां वस्तु के अविद्यमान होते हुए भी प्रतीति होजाती है, जगद्व्यवहार भी वैसी उप-लब्धि माना जासकता है। जगत् के न होने पर भी स्वप्नादि के समान प्रतीति होजाती है। तब जगत् को अभावरूप कहना निर्दोष क्यों नहीं? आचार्य ने समाधान किया—

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥२९॥

[वैधर्म्यात्] वैधर्म्य से [च] तथा [न] नहीं [स्वप्नादिवत्] स्वप्न आदि के समान। स्वप्न में प्रतीति के समान जगत् की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि इनमें परस्पर वैधर्म्य देखा जाता है।

स्वप्न दशा में देह के अन्दर जंगल नदी पहाड़ नगर सड़क लोगों की भीड़ तथा स्वप्नद्रष्टा व्यक्ति के स्वयं अपने विविध कार्य देखे जाते हैं। जो देह कार्यव्यापृत स्वप्न में दीखता है, वह शय्या आदि पर सोया निश्चेष्ट पड़ा रहता है, इस स्थिति से प्रत्येक

व्यक्ति परिचित है। देह के अन्दर नदी नगर आदि का होना असम्भव है, वहां उनके न होते हुए भी प्रतीति होती है। इससे उनका मिथ्या होना निश्चित है। ऐसे ही जाग्रत अवस्था में होता हुआ समस्त व्यवहार मिथ्या असत् माना जासकता है।

आचार्य ने बताया, ऐसा समझना ठीक नहीं। क्योंकि स्वप्न और जाग्रत प्रतीति तथा इन अवस्थाओं में स्पष्ट वैधर्म्य देखा जाता है। स्वप्नदशा न रहने पर स्वप्नप्रतीति की बाधा देखी जाती है। स्वप्न में पाया धन का ढेर जाग्रत में नहीं रहता। उपस्थित भय के कारण आंख खुलते ही नहीं रहते, मित्रों का समागम तथा आगे परोसी भोजन सामग्री करवट बदलते ही सब विलीन। स्वप्न में देखे पदार्थों की तत्काल बाधा होती देखी जाती है। जागते ही बोध होता है, यह तो सपना था, शरीर में विकार होने के कारण निद्रा ठीक नहीं आई, मन की बेचैनी से यह सब भ्रम हुआ; परन्तु जाग्रत में होने वाली प्रतीति और पदार्थों की बाधा नहीं देखी जाती, यह सर्वजनविदित है। भ्रम और सत्य को विवेकी व्यक्ति जाग्रत में अच्छी तरह पहचानता है।

स्वप्न और जाग्रत के इस वैधर्म्य का आधार है, स्वप्न का स्मृति तथा जाग्रत का अनुभवरूप होना। स्वप्न केवल स्मृतिरूप प्रतीति है। स्मृति में पदार्थ–विषय की विद्यमानता अपेक्षित नहीं होती। उपलब्धि–अनुभव में पदार्थ का सन्मुख होना आवश्यक है। स्मृति और उपलब्धि का भेद स्पष्ट है, मुझे पुत्र का स्मरण होरहा है, पर मैं उसे उपलब्ध नहीं कर पारहा हूँ। पुत्र सामने नहीं है, तब स्मृति है; सामने आजाने पर उपलब्धि है। इसलिये स्वप्न की दशा से जाग्रत की तुलना करना और उस आधार पर जगत् व जागतिक व्यवहार को मिथ्या असत् कहना असंगत है।

स्वप्न के स्मृतिरूप होने से यद्यपि अविद्यमान पदार्थ वहां प्रतीत होरहे हैं, पर इतने से उन पदार्थों को सर्वथा असत् व मिथ्या नहीं माना जासकता। वे पदार्थ जाग्रत अवस्था में सत्यरूप से सदा प्रतीत होते हैं। उनकी वास्तविक सत्ता से नकार नहीं किया जासकता। यदि स्मृति में पदार्थ की विद्यमानता अपेक्षित नहीं है, तो यह आवश्यक नहीं, कि वह जाग्रत में भी अविद्यमान रहता हुआ प्रतीत हो, अथवा प्रतीत होना चाहिये। कहीं पर [भ्रमस्थलों में] प्रतीति एवं विषय का मिथ्या होना या असत् होना उसी अवस्था में सम्भव होता है, जब प्रतीति अन्यथा हुई हो। किसी निमित्त से एक पदार्थ को अन्य पदार्थ के रूप में जान लिया गया हो। बालू के मैदान को पानी की झील समझना, या सीप को चांदी समझना ऐसा ही है। इसमें मिथ्यात्त्व व असत्त्व केवल इतना है, कि एक वस्तु को अन्यथा समझ लिया गया। अपने रूप में न बालू मिथ्या है न जल, न सीप मिथ्या है न चांदी। स्वप्न में अन्यथा प्रतीति यही है, कि स्मृति को उपलब्धि समझ लिया जाता है, तथा पदार्थों के देश व दशा आदि में उलटफेर होजाता है। इस अन्यथाभाव से पदार्थमात्र को असत् मान लेना सर्वथा अन्याय्य है। सूत्र के 'आदि' पद से अन्य भ्रमस्थलों एवं मायावी आदि व्यक्तियों द्वारा प्रदर्शित ऐसे दृष्टान्तों का व्याख्यान समझलेना

चाहिये । फलतः जगत् के सद्रूप होने पर एकमात्र ब्रह्म की सत्य सत्ता मानना सर्वथा अप्रामाणिक है ॥२६॥

शिष्य आशंका करता है, जगत् की अतिरिक्त सत्ता मानना निष्प्रयोजन है। एकमात्र सत्ता ब्रह्म सत्य है । ब्रह्म स्वयं जगद्रूप में भासता है, इसका तात्पर्य ही यह है, कि जगत् ब्रह्मरूप से अन्य कुछ नहीं है । ऐसा मान लेने से जगत् को जगद्रूप में सत्य कहना क्यों अप्रामाणिक नहीं ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

न भावोऽनुपलब्धेः ॥३०॥

[न] नहीं [भावः] ब्रह्मभाव (जगत् का) [अनुपलब्धेः] अनुपलब्धि से—ऐसी उपलब्धि न होने से । जगत् ब्रह्मरूप नहीं है, क्योंकि जगत् की उपलब्धि ब्रह्मरूप से कभी नहीं होती ।

यथासम्भव समस्त प्रमाणों के आधार पर ब्रह्म के स्वरूप का जो निश्चय किया गया है, उस रूप में जगत् की उपलब्धि किसी प्रमाण द्वारा नहीं होती । प्रत्यक्षादि समस्त प्रमाणों से जगत् का जड़ होना सिद्ध है। परन्तु ब्रह्म चेतनस्वरूप है, इस मान्यता में किसी को आपत्ति नहीं है । ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकार करने वाले उसे चेतन मानते हैं, जड़ नहीं । इसके विपरीत जगत् की जड़ता को चुनौती दिया जाना अशक्य है, सब प्रमाणों से असिद्ध है। इसलिये [जड़ जगत् का ब्रह्मभाव—ब्रह्मरूप होना—किसी प्रमाण से उपलब्ध न होने के कारण असंगत है । ब्रह्म की अपनी सत्ता है, जगत् की अपनी, सर्वथा पृथक् इन दो प्रकार की सत्ताओं को किसी दशा में एक कहना अप्रामाणिक है ।

वस्तुतः जगत् को ब्रह्मरूप कहना ब्रह्म की वास्तविकता से मुंह मोड़ना है । यदि ब्रह्म ही जगद्रूप में भासित है, तो इस भासमानरूप में आसक्त होना हेय क्यों माना गया ? कहा जासकता है, कि यह ब्रह्म का अवास्तविकरूप होने से हेय है, ऐसे रूप में आसक्ति वाञ्छनीय नहीं मानी जासकती । पर इस विषय में यह एक ध्यान देने योग्य बात है, कि प्रत्यक्षदर्शी आचार्यों ने ब्रह्म के जिस वास्तविक स्वरूप का सकेत दिया है, उसमें अवास्तविकता का कहीं कोई स्थान नहीं है। फिर ब्रह्मस्वरूप को अवास्तविक समझना कहां तक युक्त कहा जासकता है ? अन्यथा जगत् को चेतन[1] आदि मानकर उसे हेय समझना दुस्साहसमात्र है । फलतः जगत् का ब्रह्मभाव किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता ॥३०॥

उक्त अर्थ की पुष्टि में आचार्य ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

क्षणिकत्वाच्च ॥३१॥

[क्षणिकत्वात्] क्षणिक होने से [च] तथा । तथा जगत् के क्षणिक—परिणामी—

---

१. देखें—ब्रह्मसूत्र २।१।६ के शांकरभाष्य का अन्तिम भाग ।

परिवर्त्तनशील होने से जगत का ब्रह्मभाव नहीं।

पूर्व सूत्र से 'न' तथा 'भावः' पदों की इस सूत्र में अनुवृत्ति है। सूत्र का 'क्षणिक' पद अपने–एकक्षणवर्ती–इस सीमित अर्थ को न कहकर 'विनाशी' सामान्य अर्थ को कहता है। प्रत्येक प्रमाण से यह सिद्ध है, कि जगत् का उत्पाद और विनाश होता रहता है, इसप्रकार जगत् परिणामी है, परिवर्त्तनशील है। नियन्ता द्वारा प्रकृति–उपादानतत्त्व से अनेकानेक रूप में इसका परिणाम हुआ करता है। जगत् का यह रूप ब्रह्मरूप नहीं कहा जासकता, ब्रह्म को नित्य कूटस्थ माना गया है, वह सत्–चित्–आनन्दस्वरूप है, चेतनतत्त्व कभी परिणामी नहीं होता। समस्त शास्त्र इसके साक्षी हैं। अतः जगत् का ब्रह्मभाव असम्भव है।

'क्षणिक' पद का प्रयोग केवल एकक्षणवर्ती वस्तु के लिये होता हो, ऐसा नहीं है। नश्वर–नाशशील वस्तु अथवा स्थिति के अर्थ में इसका प्रायः प्रयोग होता है। 'एकस्य क्षणिका प्रीतिरन्यः प्राणैर्विमुच्यते' एक की थोड़े समय के लिये प्रसन्नता होती है, पर दूसरा प्राणों से वियुक्त हो जाता है। आखेट आदि के विषय में यह उक्ति है। ऐसे ही 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' पुनः पुनः देखने पर जो नवीन प्रतीत हो, वही सौन्दर्य का रूप है। 'क्षणिक' अथवा 'क्षण' पद का यह प्रयोग वस्तु एवं अवस्था की केवल अस्थिरता का द्योतन करता है। सूत्रकार ने इस पद का प्रयोग ब्रह्म और जगत् के अतिशयित भेद को प्रकट करने के लिये किया है, कहां कूटस्थ तत्त्व और कहां नश्वर। इस पद के प्रयोग में सूत्रकार का यह एक गहरा भाव है ॥३१॥

सूत्रकार ने दृढ़ता के साथ उक्त अर्थ के प्रत्याख्यान पर बल देते हुए कहा—

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥३२॥

[सर्वथा] सब प्रकार से [अनुपपत्तेः] उपपन्न–सिद्ध न होने से [च] तथा। तथा जगत् का ब्रह्मभाव सब प्रकार से असिद्ध होने के कारण अमान्य है।

नश्वर परिणामी जड़ जगत् का ब्रह्मभाव किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। ब्रह्म और जगत् का स्वरूप प्रकाश तथा अन्धकार के समान परस्पर विभिन्न है। जहां जगत् जड़ आदि धर्मों से युक्त है, वहां ब्रह्म चेतन अविनाशी अपरिणामी रहता हुआ जगत् का नियन्ता अधिष्ठाता है। नियन्ता व नियम्य आदि का एक होना संभव नहीं। इस विचार की परीक्षा जितनी गहराई के साथ कीजाती है, इसकी सारहीनता को प्रकट करती है। इस विवेचन से स्पष्ट होता है, न तो जगत् अभाव व मिथ्या है, और न ब्रह्म-रूप। जगत् अपनी जगह है, ब्रह्म अपनी जगह। दोनों सत्ता सत्य हैं। इनकी स्थिति इनके नियन्तृ-नियम्यभाव एवं अधिष्ठातृ-अधिष्ठेयभाव आदि का निश्चय कराती है। इसके आधार पर एक को श्रेष्ठ दूसरे को तुच्छ अथवा एक को सत्य दूसरे को मिथ्या कहना कोई अभीष्ट समझता है, तो यह बात अलग है। ऐसा कहने या समझने से वास्तविकता

का विलोप नहीं होसकता। फलत: यह कहना अप्रामाणिक है, कि एकमात्र ब्रह्म की सत्ता के विना अन्य कुछ सत्य नहीं है, अथवा यह सब जगत् ब्रह्मरूप है ॥३२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, गत प्रकरण से यह निश्चय किया गया, कि जगत् न तो अभावमात्र व मिथ्या है, और न ब्रह्म का रूप है। पर यदि ऐसा माना जाय, कि जगत् ब्रह्म का परिणाम है, ब्रह्म स्वरूप से जगत् को उत्पन्न कर देता है। ऐसा मानने से एकमात्र ब्रह्म की सत्ता अक्षुण्ण रहती है, और उससे अतिरिक्त प्रकृति जैसे किसी अन्य उपादानतत्त्व को मानना अनावश्यक होजाता है। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

नैकस्मिन्नसम्भवात् ॥३३॥

[न] नहीं [एकस्मिन्] एक में [असम्भवात्] संभव न होने से। एकमात्र ब्रह्म के स्वीकार करने में जगत् सर्ग न होगा, क्योंकि ऐसा संभव नहीं।

विचारकों ने यह एक व्यवस्था ज्ञात की है, किसी कार्य अथवा परिणाम के लिये अनेक कारण अपेक्षित होते हैं। प्रत्येक कार्य के ये कारण चेतन और जड़ दो भागों में विभाजित रहते हैं। तात्पर्य यह, कि किसी कार्य के अनेक कारणों में से कोई चेतन और कोई अचेतन [जड़] होंगे। अभी तक ऐसा ज्ञात नहीं होसका, कि कोई कार्य केवल चेतन कारण से अथवा केवल अचेतन से परिणत हुआ हो। प्रत्येक कार्य के [illegible]लाभ में दोनों प्रकार के कारणों का उपयोग होता है। यह व्यवस्था सृष्टिक्रम के अनुसार स्वीकार कीगई है। लोक में प्रत्येक कार्य इसीके अनुसार आत्मलाभ करता है। घट पट आदि कार्यों के कारण चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के तत्त्व देखे जाते हैं। कुलाल तन्तुवाय आदि चेतन कारण हैं, मट्टी डण्डा चाक तथा तन्तु तुरी वेमा आदि अचेतन। चेतनतत्त्व कभी किसी पदार्थ का उपादानकारण न होकर, नियन्ता अधिष्ठाता कर्त्ता होने से केवल निमित्तकारण होता है। किसी पदार्थ का उपादानकारण केवल अचेतन-तत्त्व देखा जाता है। इससे कार्य और उपादान का समानजातीय होना स्पष्ट होता है।

अब यदि एकमात्र ब्रह्म को स्वीकार किया जाता है, तो यह जगत्सर्ग होना असंभव है। न चेतनतत्त्व किसीका उपादान होता है, न उसका कभी परिणाम देखा जाता है। ब्रह्म का परिणाम जगत् हो, तो वह ब्रह्म के समान चेतनरूप आदि होना चाहिये। मृद्विकार जैसे मृद्रूप होते हैं, अन्य विकार भी उपादानसाजात्य को नहीं छोड़ते[1]। यदि ब्रह्म का परिणाम जगत् होता, तो वह जड़ कभी न रहता। इसलिये एकमात्र तत्त्व ब्रह्म के स्वीकार करने पर जगत् प्रक्रिया के असंभव होने से यह कथन युक्त नहीं है। सर्ग का होना अनेक कारणों पर अवलम्बित है। चेतन ब्रह्म नियन्ता होने से निमित्तकारण है, तथा त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति उपादानकारण। इसी आधार पर कार्यजगत् अपने कारण

१. इस विषय में गत ब्रह्मसूत्रों [२।१।६ तथा १४] की व्याख्या [illegible] है।

प्रकृति के समान त्रिगुणात्मक है ॥३३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, एकमात्र तत्त्व ब्रह्म के स्वीकार करने पर उससे जगत् का परिणत होना असंभव क्यों है ? वह सर्वशक्ति तत्त्व है, ऐसा क्यों न करसकेगा ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम् ॥३४॥

[एवम्] ऐसा होने पर [च] तो [आत्माऽकार्त्स्न्यम्] आत्मा–परमात्मा की असम्पूर्णता–अव्यापिता होजायगी। जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर तो ब्रह्म में अव्यापिता दोष की आपत्ति होगी।

समस्त शास्त्रों में यह निश्चय किया गया है, कि ब्रह्म एक सम्पूर्ण तत्त्व है, सर्वत्र भरा हुआ, सर्वव्यापक। कोई ऐसा प्रदेश संभव नहीं, जहां ब्रह्म का अस्तित्व न हो। अब यदि यह माना जाता है, कि वह जगद्रूप में परिणत होता है, तो यह प्रश्न तत्काल सम्मुख आता है, कि ब्रह्म का कोई भाग परिणत होता है अथवा समस्त ब्रह्म ? यदि पहली बात है, तो आत्मा–परब्रह्म परमात्मा की सर्वव्यापिता अखण्डता नष्ट होजाती है। जो भाग जगद्रूप में परिणत होगया, वहां ब्रह्मरूप न रहने से उसकी अव्यापिता होगी। दूसरे विकल्प में ब्रह्म का सम्पूर्ण भाव ही समाप्त होजायगा। इसमें सूत्रकार का यह तात्पर्य अन्तर्निहित है, कि तब ब्रह्म का चेतन आनन्द आदि स्वरूप सर्वथा विलीन होजायगा।

कहा जासकता है, जो भाग जगद्रूप में परिणत हुआ, वह वहां उस रूप से भरा ही रहता है, उस रूप से ब्रह्म की सत्ता वहां मानी जासकती है। यह कथन भी चिन्तनीय है, कारण यह है, कि कोई कार्य सदा एकदेशी रहता है, और उसका सक्रिय होना आवश्यक है। संसार में कोई कार्य ऐसा संभव नहीं, जो आत्मलाभ के अनन्तर किसी एक-देश में सर्वथा निश्चल निष्क्रिय बनारहे। ऐसा तत्त्व केवल वही हो सकता है, जो सम्पूर्ण है सर्वत्र व्याप्त है। कार्यरूप में छोटे से छोटा कण तथा यह समस्त विशाल संसार सदा गतिशील रहता है, एकदेश से दूसरे देश के लिये इसमें निरन्तर क्रिया होती रहती है। ऐसी अवस्था में ब्रह्म का वह परिणत भाग सदा उसको देशान्तरप्राप्ति के साधन क्रिया का आधार बनाये रहसकता है, तब उसका वह कार्त्स्न्यं–सम्पूर्ण व्यापीरूप तिरोहित होजाता है, जो निश्चल व निष्क्रिय है। इसलिये ब्रह्म के जगद्रूप में परिणत होने की संभावना नहीं कीजासकती।

सिद्धान्तपक्ष में प्रकृति से जगत्परिणाम के मानने पर ऐसा कोई दोष प्राप्त नहीं होता। प्रकृति त्रिगुणात्मक अनन्त तत्त्वरूप है। ब्रह्म के समान वह एकव्यक्तिरूप तत्त्व नहीं है। जगत्सर्ग के लिये जितने तत्त्व जिस रूप में अपेक्षित हैं, सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म अपनी व्यवस्थानुसार उनको जगद्रूप में परिणत करता है। प्रकृतिरूप में अवस्थित वे तत्त्व कितने जगद्रूप में परिणत किये जाते हैं, और कितने कारणरूप में बने रहते हैं, इसका लेखा-जोखा तो वह सर्वज्ञ जानता होगा; पर इस मान्यता में उक्त विकल्पों के आधार पर

कोई दोष नहीं आता। कारण यह है, कि ब्रह्म के समान प्रकृति एकव्यक्तिरूप तत्त्व नहीं है। वह अनन्त कारणतत्त्वों के रूप में अवस्थित रहती है, अपेक्षित तत्त्व उपयोग में आते रहते हैं। कब कितने कौनसे तत्त्व उपयोग में आते हैं, यह हमारे लिए अविचार्य है।

प्रस्तुत सूत्रद्वारा आचार्य का यह तात्पर्य स्पष्ट होता है, कि जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर ब्रह्म के स्वरूप को निर्दोष नहीं रक्खा जासकता। ब्रह्म का सर्वशक्ति होना यह प्रकट नहीं करता, कि वह जो चाहता है–उचित या अनुचित–सब करसकता है, प्रत्युत जो होना चाहिये, उसके करने में उसे अन्य किसी सहयोगी की अपेक्षा नहीं रहती, यही सर्वशक्ति का तात्पर्य है। औचित्य-अनौचित्य की व्यवस्था उसकी स्वयंकृत है, वह अपनी व्यवस्था से व्यवस्थित है, उसका व्यवस्थाता अन्य कोई नहीं, इसीमें उसके सर्वशक्तिभाव की निष्ठा है ॥३४॥

शिष्य आशंका करता है, जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानकर ब्रह्म की सम्पूर्णता अखण्डता व्यापिता आदि में जो विरोध प्रकट किया गया, उसके लिये कोई अवसर नहीं है; कारण यह है, कि व्यक्त जगत् के गति-क्रम के अनुसार ब्रह्म की सत्ता सर्वत्र बनी रहेगी, तब अव्यापिता क्यों आयेगी ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया–

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥३५॥

[न] नहीं [च] तथा [पर्यायात्] पर्याय से [अपि] भी [अविरोधः] विरोध का न होना [विकारादिभ्यः] विकार आदि से। तथा पर्याय से भी विरोध का अभाव नहीं होता, क्योंकि विकार आदि का होना विरोध को बनाये रखता है।

सूत्र में 'पर्याय' पद का अर्थ है–संकोच और विकास की शक्ति का होना। ब्रह्म के सर्वशक्ति होने से उसमें यह सम्भव है। जितना ब्रह्म जगत् में परिणत होगया है, वह सक्रिय होने से सदा गति करता रहता है, गति के कारण जिस प्रदेश को छोड़ता है, अपनी विकासशक्ति से वहां भर जाता है; अन्य देश में जहां प्राप्त होता है, वहां अपनी संकोचशक्ति के कारण सिमट जाता है। इसप्रकार जगत् के गति-क्रम के अनुसार अपनी शक्ति के आधार पर ब्रह्म का वह भाग यथास्थान बना रहता है, जो परिणत नहीं हुआ। शेष में परिणत भाग विद्यमान ही है। सम्पूर्ण कार्य-कारण अंशों के यथास्थान सर्वत्र भरे रहने से ब्रह्म के कात्स्न्र्य एवं व्यापित्व में कोई विरोध नहीं आता। वेद [यजु० ३१।३, ४] में भी कहा–'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।' 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः' उस पुरुष [ब्रह्म] का एक भाग समस्त भूत हैं, और अमरणधर्मा [अपरिणत] तीन भाग दिव्य लोक में। वह ब्रह्मपुरुष अपने तीन भागों से जगत् के ऊपर है, या बाहर है, और एक भाग यहां जगद्रूप में विद्यमान है। इससे यह स्पष्ट होता है, कि ब्रह्म का कुछ अंश जगद्रूप में परिणत होकर शेष अपने रूप में बना रहता है। फलतः जगत् ब्रह्म का परिणाम होने पर भी ब्रह्म की व्यापिता में कोई विरोध या बाधा नहीं है।

आचार्य ने समाधान किया, इस प्रयास से भी विरोध का परिहार नहीं होता। कारण यह है, कि इससे ब्रह्म में विकार आदि अनेक दोषों का उद्भावन होजाता है, शास्त्रवर्णित निर्विकार निरवयव सर्वान्तर्यामी ब्रह्मस्वरूप के साथ इसका स्पष्ट विरोध सामने आजाता है। ब्रह्म किसी अंश से जगद्रूप में परिणत होता है, यह मानना उसमें विकार होने का आपादन कर देता है, और उसे सावयव सिद्ध करता है। संकोच-विकास भी उसकी सावयवता को प्रकट करता है। सावयव पदार्थ स्वयं विकारी होता है, तब वह न नित्य होसकता है, और न सर्वव्यापक। विकारी तत्त्व चेतन कभी नहीं होता, तब उसके आनन्द होने की कल्पना भी नहीं की जासकती। जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर ब्रह्म का स्वरूप सर्वथा उच्छिन्न होजाता है। इस मान्यता के प्रत्याख्यान में बल देने की भावना से आचार्य ने प्रथम सूत्र में 'असम्भव' हेतु का उल्लेख किया है। शास्त्रानुमोदित ब्रह्मसत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये ब्रह्म का परिणाम जगत् होना वस्तुतः असम्भव है। सूत्र में 'आदि' पद से सावयवत्व अनित्यत्व अचेतनत्व आदि दोषों का संग्रह है, तथा अन्य वे सब धर्म जो जगत् के उपादानतत्त्व में रहते हैं, ब्रह्म में नहीं।

यजुर्वेद [३१।३, ४] के मन्त्रपदों का यह तात्पर्य नहीं है, कि ब्रह्म का कोई भाग परिणत होकर जगद्रूप में विद्यमान है, और शेष अपरिणत बना रहता है। वह केवल इतने भाव को प्रकट करता है, कि इतना विशाल विश्व भी उसकी तुलना में अतितुच्छ है, सर्वथा महत्त्वहीन। यही कारण है, चेतन ब्रह्म समस्त विश्व पर नियन्त्रण करता है। स्वयं परिणत विकारी व अनित्य आदि होकर सब पर नियन्त्रण असम्भव है। जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानकर एकमात्र ब्रह्म को स्वीकार करनेवाला व्यक्ति ब्रह्म की यथार्थ सत्ता से ही हाथ धो बैठता है ॥३५॥

शिष्य आशंका करता है, ब्रह्म की वास्तविक स्थिति अथवा मुख्य अवस्था केवल ब्रह्मरूप है, जो जगत् का अन्त होने पर या जगत् न रहने पर होती है; वही सत्य सत्ता उपास्य है, अन्य जगद्रूप स्थिति मिथ्या है। सत्य सत्ता का वर्णन निर्विकार आदि रूप में हुआ है। इससे जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर भी ब्रह्म में विकार आदि दोष न आने से विरोध की सम्भावना न रहेगी। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥३६॥

गतसूत्र से 'न' तथा 'अविरोधः' पदों की यहां अनुवृत्ति है।

[अन्त्यावस्थितेः] अन्त्य अवस्था से [च] भी [उभयनित्यत्वात्] दोनों के नित्य होने से [अविशेषः] कोई विशेष नहीं। अन्त्य–ब्रह्म की मुख्य अवस्था से भी विरोध का परिहार नहीं होता, क्योंकि दोनों अवस्थाओं के नित्य होने से वे दोनों समान हैं।

एकमात्र ब्रह्म को स्वीकार कर उसकी दो अवस्था मान्य हैं, ब्रह्मरूप और जगद्रूप। पहली सत्य और दूसरी मिथ्या है। ब्रह्म का शास्त्रीय वर्णन पहली अवस्था

को लक्ष्य करता है। इसलिये ब्रह्मस्वरूप में किसीप्रकार के विरोध की सम्भावना नहीं कीजानी चाहिये। ब्रह्म का अन्त्य अर्थात् मुख्य स्वरूप वही है, जो निर्विकार आदि रूप से शास्त्र में वर्णित है।

आचार्य ने समाधान किया, इस प्रयास से भी ब्रह्मस्वरूप में प्रदर्शित विरोध का परिहार नहीं होता। कारण यह है, कि ये दोनों अवस्था–ब्रह्मरूप एवं जगद्रूप–नित्य है। सर्ग और प्रलय का क्रम अनादि अनन्त है। जैसे ब्रह्मरूप नित्य है, ऐसे ही जगद्रूप नित्य है। दोनों के नित्य होने से एक सत्य और एक मिथ्या है, ऐसा भेद नहीं किया जासकता। जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर ये दोनों अवस्था ब्रह्म की कही जासकती हैं। इनके क्रम का न कभी आरम्भ हुआ, न कभी अन्त होना है, इस दृष्टि से ये दोनो समान हैं। अनादि काल से जब आज तक यह क्रम चला आरहा है, तो आगे भी इसके अन्त का उपपादन नहीं किया जासकता; तब एक को सत्य और दूसरे को मिथ्या कैसे माना जाय? इसलिये जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर ब्रह्म में विकार आदि दोषों की आपत्ति को हटाया नहीं जासकता, इसीकारण एकमात्र ब्रह्म को स्वीकार करने पर सूत्रकार ने जगत्सर्ग को असम्भव बताया है। फलतः जगत् ब्रह्म का परिणाम न होकर प्रकृति का परिणाम है। विविध जड़जगत् का उपादान त्रिगुणात्मक प्रकृति है, यही सत्य सिद्धान्त है, अन्यथा जगद्वैचित्र्य का उपपादन सम्भव न होगा। चेतन ब्रह्म इस सबका नियन्ता व अधिष्ठाता है। जीवात्मा के लिये वही उपास्य एवं ज्ञातव्य है। उसी स्वरूप की जिज्ञासा की भावना से शास्त्र का आरम्भ हुआ है। विकारी ब्रह्म की जिज्ञासा से नहीं ॥३६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, लोक मे प्रत्येक कर्त्ता शरीरी देखा जाता है। ब्रह्म जगत् का कर्त्ता है, वह शरीरी माना जाना चाहिये। वेद [यजु० ३१।१] में उसके सिर पैर, हाथ आदि देहांगों का उल्लेख उपलब्ध होता है। तब उसे क्यों शरीरी न माना जाय? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥३७॥

मण्डूकप्लुति न्याय के अनुसार पिछले सूत्र से 'न' पद की अनुवृत्ति यहां समझनी चाहिये। [पत्युः] पति का (शरीरी होना नहीं), [असामञ्जस्यात्] सामञ्जस्य न होने से। जगत्पति परमेश्वर का शरीरवाला होना युक्त नहीं है, क्योंकि इसका यथार्थता से सामञ्जस्य नहीं होसकता।

परब्रह्म परमात्मा को प्रकृति और जीवात्माओं का अधिष्ठाता माने जाने पर यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति न होनी चाहिये, कि जीवात्म-पुरुषों के समान वह परपुरुष ब्रह्म शरीरवाला होता है। लोक में कोई कर्त्ता अधिष्ठाता पुरुष बिना शरीर के देखा नहीं जाता; इसलिये ब्रह्मपुरुष के शरीर की कल्पना करना अयुक्त नहीं है। इसके अतिरिक्त वेदों के पुरुष सूक्तों [ऋ० १०।९०।१; यजु० ३१।१; अथर्व० १९।६।१]

में परब्रह्म परमात्मा के देहांगों का उल्लेख उपलब्ध होता है–'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' उसके सहस्र सिर आंख पैर हैं। इससे ब्रह्म का शरीरी होना प्रमाणित है।

आचार्य ने समाधान किया, वास्तविकता के साथ इसकी संगति नहीं बैठती। परब्रह्म इस समस्त विश्व का कर्त्ता है, ऐसे अनन्त विश्व की रचना शरीरधारी एकदेशी चेतन के सामर्थ्य से बाहर होगी। शरीरी चेतन परिमित शक्ति के अनुसार सीमित रचना करने में समर्थ होसकता है। विश्व की विशालता को देखते यह निश्चय है, कि कोई शरीर-धारी ऐसे महान विश्व की रचना नहीं करसकता। इस विषय में यह भी विचारणीय है, कि ब्रह्म का शरीर प्राकृतिक होगा, या अप्राकृतिक ? प्राकृतिक भी दृश्य होगा या अदृश्य ? ब्रह्म का दृश्य शरीर कोई नहीं है, होता तो अन्य शरीरों व पदार्थों के समान देखा जाता। प्राकृतिक अदृश्य शरीर की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं। जो शरीर जिस पुरुष से सम्बद्ध होता है, उस शरीर का निर्माता वह पुरुष स्वयं नहीं होता, उसकी रचना अन्य चेतनपुरुषद्वारा होती देखी जाती है। जब कर्त्ता शरीरी होता है, तब ब्रह्मपुरुष के शरीर की रचना के लिये अन्य शरीरी पुरुष अपेक्षित होगा, उसके शरीर के लिये भी अन्य; इसप्रकार अनवस्था होगी। यदि ब्रह्मपुरुष अपने शरीर की रचना शरीरी बने विना स्वयं करलेता है, तो वह विना शरीर जगत् की रचना भी करसकेगा, उसके लिये शरीरी होना आवश्यक नहीं। अप्राकृतिक शरीर की कल्पना ही व्यर्थ है, उसका होना न होना बराबर है, वह एक कथनमात्र है।

जीवात्म-पुरुष परिच्छिन्न अल्पज्ञ अल्पशक्ति है। उसके शुभ-अशुभ कर्मों के अनुष्ठान तथा सुख-दुःख आदि भोगों के लिये साङ्ग देहरूप साधन का होना आवश्यक है। देहसम्बन्ध के विना जीवात्मा कर्मों के करने में असमर्थ रहता है। उसकी कर्मानु-ष्ठानशक्ति उसके देह तथा सिर, पैर, आंख, कान आदि देहांगों द्वारा अभिव्यक्त होती है। वेद में परब्रह्म पुरुष के सहस्र सिर, पैर, आंख आदि का कथन उसकी विविधप्रकार की अनन्तशक्ति का द्योतक है; उसका तात्पर्य ब्रह्म के प्राकृतिक अथवा अप्राकृतिक वस्तुभूत सिर, पैर, हाथ, आंख आदि बताने में नहीं है। ऐसे पदों द्वारा उसकी शक्ति का निर्देश अनायास समझ में आने की भावना से किया जाता है। प्रकृति अथवा समस्त प्राकृत विश्व को उसके शरीर के रूप में कल्पना करना सर्वथा औपचारिक है, केवल एक सुरुचिपूर्ण आकर्षक कल्पना। फलतः उक्त असामञ्जस्य-असांगत्य के कारण परब्रह्म परमात्मा का शरीरी होना युक्त नहीं कहा जासकता ॥३७॥

आचार्य सूत्रकार उक्त असामञ्जस्य को आगे अनेक प्रकार से विवृत करता है—

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥३८॥

'न' तथा 'पत्युः' इन दो पदों की अनुवृत्ति यहां समझनी चाहिये। [सम्बन्धा-नुपपत्तेः] सम्बन्ध की अनुपपत्ति–असिद्धि-न बन सकने से [च] भी; जगत्पति परमेश्वर

का शरीरी होना असंगत है।

परब्रह्म समस्त विश्व का संचालक व नियन्ता माना गया है। वेद आदि सत्य-शास्त्र उसके ऐसे स्वरूप का वर्णन करते हैं। यदि उसे शरीरी माना जाता है, तो निश्चित है, वह किसी एकदेश में अवस्थित रहसकता है, उस दशा में उसका समस्त विश्व के साथ सम्बन्ध होना सिद्ध नहीं होसकता, जो विश्व के संचालन व नियन्त्रण के लिये आवश्यक है। शरीरी एकदेशी ईश्वर अनन्त विश्व का–असम्बन्ध होने के कारण–न संचालन करसकेगा, और न अनन्त जीवात्माओं के कर्मफल आदि का नियन्त्रण। यदि सम्बन्ध विना स्वतः ऐसा होता रहे, तो परब्रह्म को मानने की फिर क्या आवश्यकता है? उसके विना सब स्वतः होता रहेगा, पर ऐसा सम्भव नहीं, नियामक न रहने से सब अव्यवस्थित होजायगा। इसलिये सम्बन्ध न बनसकने से भी ईश्वर का शरीरी होना असंगत है ॥३८॥

असामञ्जस्य में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥३९॥

'न' तथा 'पत्युः' पदों की अनुवृत्ति इस सूत्र में है। [अधिष्ठानानुपपत्तेः] अधिष्ठान के अनुपपन्न–असिद्ध होने से [च] भी, ब्रह्म का शरीरी होना युक्त नहीं।

ब्रह्म को शरीरवाला मानने पर वह प्रकृति एवं प्राकृत जगत् का अधिष्ठाता नहीं होसकता। जिस प्रकृति से उसका शरीर बना है, उस प्रकृति का वह अधिष्ठान–आश्रय एवं नियन्ता होगा, यह सम्भव नहीं। किसी का अधिष्ठान कोई उसी अवस्था में हो-सकता है, जब वह उसपर अवलम्बित न हो। ब्रह्म तो अपने शरीर के लिये प्रकृति पर अवलम्बित है, तो वह प्रकृति का अधिष्ठान कैसे होगा? ऐसा मानने पर तो वास्तविकता का विपर्यय होजाता है। ब्रह्म को सबका अधिष्ठान माना गया है, यदि ब्रह्म का अधि-ष्ठान प्रकृति होजाती है, तो यह वास्तविकता का शीर्षासन ही कहा जायगा।

सूत्र में 'अधिष्ठान' पद का अर्थ यदि 'शरीर' किया जाता है, तो सूत्रार्थ होगा–ब्रह्म का शरीर अनुपपन्न होने से भी वह शरीरी नहीं होसकता। तात्पर्य यह, कि ब्रह्म का शरीर होना ही सिद्ध नहीं होसकता। वह शरीर निरवयव होगा या सावयव? निरवयव नित्य शरीर की कल्पना व्यर्थ है, ब्रह्म का नित्य निरवयव सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामीस्वरूप शास्त्रानुसार स्वीकार किया जाता है। सावयव मानने पर निश्चितरूप से वह अनित्य एकदेशी होगा, तब उसकी रचना के काल व अन्य कारणों का उपपादन करना अशक्य होगा। सर्ग से पूर्व उसका होना सिद्ध नहीं किया जासकता। सर्ग के अनन्तर होना व्यर्थ होगा, जगत्सर्ग जब अशरीर ब्रह्मद्वारा होगया, तब उसे शरीरी मानने से क्या लाभ? फलतः ब्रह्म का शरीर होना सिद्ध नहीं होता, तब उसे शरीरी कैसे कहा जासकेगा? वेद [यजु० ४०।८] में उसे 'अकाय' इसीकारण कहा है ॥३९॥

आचार्य सूत्रकार ने ब्रह्मशरीर की कल्पना का अन्य प्रकार से प्रत्याख्यान किया—

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥४०॥

[करणवत्] करणों–इन्द्रियोंवाला है [चेत्] यदि, [न] नहीं; [भोगादिभ्यः] भोग आदि से। यदि जगत्पति का शरीर इन्द्रियोंवाला है, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा मानने पर ब्रह्म को भोग आदि की प्राप्ति होगी।

ब्रह्म का शरीर मानने पर उसे करणों–इन्द्रियों से युक्त माना जाय, अथवा रहित ? यदि रहित माना जाता है, तो ऐसे शरीर की कल्पना करना अप्रामाणिक होगा। क्योंकि शरीर कोई ऐसा नहीं देखा जाता, जो इन्द्रियों से रहित हो। शरीर का अस्तित्व चेतन के कर्म व भोग आदि के लिये है, इन्द्रियां उनमें मुख्य साधन हैं। यदि ब्रह्म का शरीर सेन्द्रिय है, तो उसके शुभाशुभ कर्म और सुख-दुःख आदि भोगों को मानना होगा, जो सर्वथा अनिष्ट है। यदि कहा जाय, कि ब्रह्म के शुभाशुभ कर्म व सुख-दुःख आदि की सम्भावना न होने से उसके शरीर में इन्द्रियों का मानना अनपेक्षित है, तो उसका शरीर मानने की क्या आवश्यकता है ? शरीर मानने पर भोग आदि दोष से उसका छुटकारा कठिन होगा, अतः ब्रह्म को शरीरी समझना सर्वथा सारहीन है। सूत्र के 'आदि' पद से वासना क्लेश कर्म प्रभृति भावों का संग्रह होता है। परब्रह्म को शरीरी मानने पर उसमें इन सब भावों की प्रसक्ति होगी, जो सर्वथा अनिष्ट एवं अमान्य है ॥४०॥

ब्रह्म को शरीरी मानने पर आचार्य अन्य दोष उपस्थित करता है—

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥४१॥

'न' तथा 'पत्युः' पदों की अनुवृत्ति सूत्र में है। [अन्तवत्त्वम्] अन्त–विनाशवाला होना [असर्वज्ञता] असर्वज्ञ होना [वा] और। जगत्पति ब्रह्म का शरीरी होना युक्त नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर वह विनाशी व अल्पज्ञ होगा, अविनाशी सर्वज्ञ नहीं।

जो शरीर से सम्बद्ध होता है, वह कभी उसका परित्याग भी अवश्य करता है। यह स्थिति सम्भव नहीं होसकती, कि शरीरी होता हुआ कोई न शरीर का ग्रहण करे और न परित्याग। शरीर के ग्रहण और परित्याग का नाम ही विनाश है, उसीको सूत्र में 'अन्त' पद से कहा गया है। यदि प्रकृति एवं जीवात्मपुरुषों का अधिष्ठाता परब्रह्म शरीरी होवे, तो अवश्य वह जीवात्माओं के समान शरीर का कभी ग्रहण और कभी परित्याग करनेवाला होगा, ऐसी अवस्था में उसे अन्तवाला अर्थात् विनाशी एवं असर्वज्ञ–अल्पज्ञ मानना होगा। तब वह एक जीवात्मा जैसा चेतन होसकता है; सर्वज्ञ सर्वशक्ति सर्वान्तर्यामी जगन्नियन्ता परब्रह्म नहीं। इसलिये जगत्पति परमात्मा को शरीरी मानना सर्वथा निस्सार है।

यह एक कल्पनामात्र सर्वथा औपचारिक कथन है, जो समस्त विश्व को परब्रह्म

के शरीररूप में वर्णन किया जाता है। सूर्य-चांद उसकी आंख हैं, अन्तरिक्ष उदर और भूमि पैर हैं, द्युलोक सिर एवं दिशाऐं भुजा हैं। यह एक कल्पना है, जो विश्वरूप में उसके दर्शन की भावना से उभरती है, उसके अचिन्त्यस्वरूप को अभिव्यक्ति देने एवं अवगाहन करने का प्रयास है। सर्वोच्च आदर्श के रूप में जीवात्मा के लिये उसकी प्राप्ति और उसके प्रति जीवात्मा की भक्ति का यह द्योतक है। फलतः जगत्पति परब्रह्म का शरीरी, होना सम्भव नहीं। वह शरीर व अन्य किसीप्रकार के साधनों की अपेक्षा न करता हुआ संकल्पमात्र शक्तिद्वारा मूलउपादान प्रकृतितत्त्व को विश्व के रूप में परिणत करता तथा पुनः यथावसर कारणरूप में अवस्थित किया करता है। ब्रह्म का वही स्वरूप जिज्ञास्य एवं उपास्य है। यह समझाना प्रस्तुत शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है ॥४१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, परब्रह्म को समस्त विश्व एवं जीवात्माओं का पति, अधिष्ठाता व नियन्ता बताया गया, तब जैसे ब्रह्म प्रकृति को विश्वरूप में परिणत करता है, वैसे ही क्या जीवात्माओं को भी किसी उपादानतत्त्व से परिणत करता है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

उत्पत्त्यसम्भवात् ॥४२॥

[उत्पत्त्यसम्भवात्] उत्पत्ति के सम्भव न होने से। इस सूत्र में 'न' पद की अनुवृत्ति पीछे से समझनी चाहिये। जीवात्मा की उत्पत्ति सम्भव न होने से उसे किसी तत्त्व का परिणाम कहना युक्त नहीं।

जड़ जगत् प्रकृतिरूप जड़ उपादानतत्त्व से ब्रह्मद्वारा परिणत किया जाता है। जगदुत्पत्ति की यह शास्त्रीय युक्तियुक्त व्याख्या है। ब्रह्म को सर्वजगन्नियन्ता मानने पर स्वभावतः यह जिज्ञासा होती है, जैसे ब्रह्म जगत् को प्रकृति उपादान से परिणत करता है, ऐसे ही यह संभव है, कि जीवात्माओं को किसी उपादान से परिणत करता हो, क्योंकि इस जगत् में प्रतिशरीर जीवात्मा नाम के एक चेतनतत्त्व का अनुभव किया जाता है, उसका प्रादुर्भाव भी कहीं से माना जाना चाहिये। इस आधार पर ब्रह्म का सर्वजगत् का नियन्ता होना परिनिष्ठित होता है। आचार्य ने साधारणरूप से इसका समाधान किया, कि जीवात्मा की उत्पत्ति असंभव है। कारण यह है, कि जगत् में जो कुछ परिणाम है, वह सब जड़ प्रकृति का है। जड़ का परिणाम जड़ होसकता है, चेतन नहीं। जीवात्मा चेतनतत्त्व है। सूत्रकार 'असंभव' हेतु कहकर इस तथ्य पर बल देना चाहता है, कि चेतनतत्त्व न किसीका कार्य होता, न उपादान। जीवात्मा को चेतन मानते हुए न वह किसीका कार्य संभव है, और न उसके उपादान का होना संभव। चेतन आत्मा को जड़ प्रकृति का परिणाम न माने जाने पर यह कल्पना होसकती थी, कि चेतन ब्रह्म को उस[illegible] उपादान मानलिया जाय; पर 'असंभव' हेतु ने इस कल्पना की जड़ को ही उखाड़ दिया। इस हेतु के कथन का रहस्य यही है, कि चेतनतत्त्व न किसीका उपादान होता न कार्य;

इसलिये जीवात्म-चेतन की उत्पत्ति की संभावना सारहीन है।

ब्रह्म को जीवात्माओं का नियन्ता बताने का तात्पर्य है-उनके कर्मफलप्रदान की व्यवस्था का नियामक होना, तथा सर्वोच्च लक्ष्य ब्रह्मस्वरूप को जानकर उस आनन्दानुभूति के लिये साधनरूप में जीवात्म-निमित्त जगत् को प्रस्तुत करना। इस स्थिति को लाना जीवात्मा के सामर्थ्य से बाहर है, इस रूप में चेतन-अचेतन समस्त विश्व का नियन्ता ब्रह्म बताया गया है। इतने से जीवात्माओं के परिणाम की आशंका नहीं की-जानी चाहिये। इससे यह भी अभिव्यक्त होजाता है, कि परब्रह्म परमात्मा स्वयं जीवात्मा के रूप में यहां उपस्थित नहीं होता ॥४२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जीवात्मा को चेतन व अनुत्पत्तिधर्मा माना गया; तब जैसे ब्रह्म जगद्रचना में किसी सहायक साधन की अपेक्षा नहीं रखता, क्या जीवात्म-चेतन को भी अपने संपाद्य कार्यों में साधन की अपेक्षा नहीं रहती? आचार्य ने समाधान किया-

न च कर्त्तुः करणम् ॥४३॥

पीछे से 'न' पद की अनुवृत्ति यहां भी है। [न] नहीं [च] ही [कर्त्तुः] कर्त्ता का [करणम्] करणसाधन, (यह कथनयुक्त नहीं)। सूत्र का 'च' पद अवधारण अर्थ में है। शुभाशुभ कर्मों के कर्त्ता जीवात्मा का कोई करण-साधन नहीं होना चाहिये, यह कथन किसीतरह युक्त नहीं।

शास्त्र यह बतलाता है, कि चेतन ब्रह्म को अपने कार्यसंपादन करने व वस्तुज्ञान के लिये करण अपेक्षित नहीं होते। श्वेताश्वतर उपनिषद् [३।१७] में कहा-'सर्वेन्द्रिय-गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' वह सब करणों से रहित हुआ, सब विषयों का अवभास करलेता है। तथा [श्वे० ३।१६] बताया-'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' वह विना हाथ, पैर के सर्वत्र व्याप्त और सबको जकड़े हुए है, विना आंखों के देखता और विना कानों के सुनता है। जिज्ञासु का आशय है, कि यह चेतनब्रह्मगत विशेषता जीवात्मा में नहीं देखी जाती, अतः जीवात्मा को अनुत्पत्तिधर्मा नहीं माना जाना चाहिये; अथवा उसको भी ब्रह्म के समान करणों की अपेक्षा न होनी चाहिये।

इस सूत्र में गतसूत्र से 'असंभवात्' हेतु पद की अनुवृत्ति समझनी चाहिये। आचार्य ने बताया, यद्यपि जीवात्म-चेतन ब्रह्म के समान अनुत्पत्तिधर्मा है, पर उसे अपने कार्य संपादन करने के लिये ब्रह्म के समान करणों की अपेक्षा नहीं होनी चाहिये; यह कथन असंभव होने से सर्वथा अयुक्त है। इस हेतु में आचार्य का स्वारस्य यही है, कि चेतन व अनुत्पत्तिधर्मक होने पर भी जीवात्मा नितान्त अल्पशक्ति एवं अल्पज्ञ है। यह स्थिति जीवात्मा को ब्रह्म से अतिरिक्तस्वरूप करदेती है। इसका स्पष्टीकरण सूत्रकार ने अनेक स्थलों [ब्र० सू० १।१।१७, २१॥ २।१।२२॥ ४।४।१७] पर किया है। इन्हीं भावनाओं को ध्यान में रखते हुए सूत्रकार ने बताया, ब्रह्म की समस्त स्थितियों को

जीवात्मा में उतारना असंभव है, ये सत्ता अपनी विशेषताओं के साथ एक दूसरे से अतिरिक्त हैं। अल्पशक्ति जीवात्मा को भोग-अपवर्ग की सिद्धि के लिये जहां विविध करण अपेक्षित होते हैं, वहां सर्वशक्ति परब्रह्म करणों की अपेक्षा विना जगद्रचना आदि कार्य किया करता है। इस दिशा में ब्रह्म से जीवात्मा की तुलना अनावश्यक एवं अहेतुक है। सूत्रकार ने स्वयं [२।१।३१ में] ब्रह्म को विकरण तथा जीवात्मा को यहां करणयुक्त बताया है। फलतः जीवात्मा चेतन व अनुत्पत्तिधर्मा होता हुआ भी करणों से युक्त होता है, यह निश्चित सिद्धान्त है ।।४३।।

जीवात्मा के कार्य करण विना संपन्न नहीं होते, यह बताते हुए सूत्रकार ने जीवात्मा के साथ सर्गदशा में करण-सहयोग का प्रतिपादन किया—

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ।।४४।।

[विज्ञानादिभावे] विज्ञान आदि के होने में [वा] तथा [तदप्रतिषेधः] उसका (करण का) प्रतिषेध नहीं। आत्मा को विज्ञान आदि की उत्पत्ति में आवश्यक होने से करण का प्रतिषेध नहीं।

सूत्र में 'आदि' पद से इच्छा द्वेष यत्न प्रभृति का ग्रहण अपेक्षित है। आत्मा को जो विविध ज्ञान–बाह्य तथा आभ्यन्तर–होते हैं, एवं इच्छा द्वेष आदि की जो उत्पत्ति होती है, उनमें चक्षु आदि बाह्य तथा मन आदि आभ्यन्तर करण जीवात्मा के लिये पूर्णरूप से सहायक होते हैं। यह तथ्य लोक तथा शास्त्रद्वारा सबप्रकार से प्रमाणित है। इसलिये आत्मा के साथ करणों के सहयोग का प्रतिषेध नहीं किया जासकता। लोकरचना में जीवात्मा के लिये चक्षु आदि करणों का निर्माण हुआ है, और शास्त्र इसका विस्तार के साथ विवरण प्रस्तुत करता है। ऐसी दशा में इस जिज्ञासा के लिये कोई अवकाश नहीं रहता, कि चेतन व अनुत्पत्तिधर्मा होने से ब्रह्म के समान जीवात्मा को अपने कार्यों के संपादन में करण–साधन की अपेक्षा नहीं होनी चाहिये। फलतः चेतन व अनुत्पत्तिधर्मा भी जीवात्मा कार्यसंपादन में करणसापेक्ष रहता है।

इस उपपादन में यह रहस्य है, कि यदि जीवात्मा अपने भोगादि कार्यसंपादन में करणनिरपेक्ष हुआ करता, तो उसके लिये न देहादि की आवश्यकता होती, और न ब्रह्म को जगत् की रचना करना आवश्यक रहता। तब ब्रह्म की जिज्ञासा और उसके स्वरूपबोधन के लिये 'जन्माद्यस्य यतः' आदि के रूप में शास्त्र का आरम्भ कहां होता? यह सब विस्तार ब्रह्म और जीवात्मा की वास्तविक स्थिति पर प्रकाश डालता है। इससे जीवात्मा के लिये जिज्ञास्य उपास्य एवं प्राप्य ब्रह्मस्वरूप का स्पष्टीकरण होता है ।।४४।।

प्रकरण का उपसंहार करते हुए आचार्य सूत्रकार ने कहा—

विप्रतिषेधाच्च ।।४५।।

[विप्रतिषेधात्] विप्रतिषेध से [च] तथा (उक्तप्रकार)। उक्तप्रकार विविध प्रतिषेध से ब्रह्मस्वरूप का निश्चय किया गया।

चेतन के सहयोग विना प्रकृति स्वतः जगद्रूप में परिणत होती है, इस वाद का प्रतिषेध पाद के प्रारम्भिक भाग में किया गया। चतुर्विध परमाणु से जगत् स्वतः उत्पन्न होजाता है, ब्रह्मप्रेरणा की उसमें अपेक्षा नहीं, अथवा परमाणु का समुदाय ही जगत् है, इस वाद का पाद के मध्यम भाग में प्रतिषेध किया गया। जगत् अभावमात्र है, तथा केवल एकमात्र ब्रह्म की सत्ता भी ब्रह्म के वास्तविक निर्दोष स्वरूप को सिद्ध करने में सहायक नहीं; इसलिये इन विचारों का प्रतिषेध पाद के मध्यभाग से आगे किया गया। अन्त में ब्रह्म के शरीरी होने का प्रतिषेध कर जीवात्मा के साथ उसकी सर्वांश में तुल्यता का प्रतिषेध किया गया। इसप्रकार विविध प्रतिषेध से ब्रह्म की वास्तविक स्थिति को समझाने का प्रयास द्वितीय पाद के द्वारा सूत्रकार ने किया है; इसी विषय का निगमन प्रस्तुत सूत्र में हुआ है।

इससे यह परिणाम निश्चित होता है, कि ब्रह्म जगत् का कारण है, ब्रह्म की उपेक्षा कर कोई अन्य प्रकार ऐसा संभव नहीं, जिसके अनुसार जगत्सर्ग की व्याख्या की-जासके। केवल ब्रह्म को मानकर सर्ग की निर्दोष व्याख्या संभव नहीं। इसलिये कूटस्थ सर्वान्तर्यामी सर्वनियन्ता चेतन ब्रह्म के साथ जगत् के जड़ उपादानतत्त्व प्रकृति को स्वीकार कर नित्य चेतन जीवात्माओं के अस्तित्व को इस रूप में माना गया है, कि वह वास्तविक ब्रह्मस्वरूप को जानकर उस अनुपम आनन्दानुभूति के लिये प्रयास करता है। प्रस्तुत पाद में जगत्सर्ग के तथाकथित सब प्रकारों के प्रतिषेधद्वारा प्रकृति उपादानतत्त्व से जगद्रचयिता के रूप में कूटस्थ चेतन सर्वनियन्ता ब्रह्मस्वरूप का निश्चय किया है। शास्त्रारम्भ में जिसकी जिज्ञासा का प्रस्ताव है, यही उसका स्वरूप है। इसके जानलेने पर अन्य कुछ ज्ञातव्य अपेक्षित नहीं रहता। इसको प्राप्त करना ही जीवात्मा की अप-वर्गदशा है, जो उसका सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है ।।४५।।

इति द्वितीयाध्यायस्य सर्गविषयकविविधमतप्रतिषेधप्रदर्शनं नाम

द्वितीयः पादः।

अथ द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः

प्रथम अध्याय में शास्त्रीय वाक्यों के समन्वयद्वारा प्रतिपादित किया गया, कि जगत् के जन्म आदि का मुख्य कारण ब्रह्म है। इस समन्वय में स्मृति और तर्क के आधार पर तथाकथित विरोध का परिहार द्वितीयाध्याय के प्रथम दो पादों में किया गया। उस समन्वय में शास्त्र की विभिन्न उक्तियों के आधार पर विरोध की संभावना होसकती है, उसके विवेचन के लिये यह प्रसंग प्रारम्भ किया जाता है।

प्रसंग की इस पृष्ठभूमि पर शिष्य जिज्ञासा करता है, जगत् की उत्पत्ति में आकाश' का समावेश है, या नहीं ? क्योंकि शास्त्र में कहीं आकाश की उत्पत्ति का उल्लेख है, कहीं नहीं। यह स्थिति जगदुत्पत्ति के विषय में विरोध को प्रकट करती है। आचार्य सूत्रकार ने इसके विवेचन के लिये पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—

न वियदश्रुतेः ॥१॥

[न] नहीं [वियत्] आकाश [अश्रुतेः] श्रुति के न होने से। आकाश की उत्पत्ति में कोई श्रुति न होने से आकाश उत्पन्न नहीं होता।

छान्दोग्य उपनिषद् [६।२।३-४; ६।३।२-४] के सर्गरचनावर्णन में त्रिविध मूलउपादानतत्त्वों के अन्योन्यमिथुन द्वारा नाम-रूप के विस्तार के अवसर पर तेज आदि का उल्लेख है, आकाश का नहीं। इसीप्रकार ऐतरेय उपनिषद् [१।१-२] में कहा—'स इमाँल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापः' उसने इन लोकों को बनाया—अम्भस्, मरीचि, मर, आपस्। वह जो द्युलोक से परे है, अम्भस् है [अदोऽम्भः परेण दिवम्], अन्तरिक्ष मरीचि है, पृथिवी मर और जल आपस् हैं। यहां भी सर्गरचना में आकाश का उल्लेख नहीं है। अतीन्द्रिय पदार्थों की उत्पत्ति या अनुत्पत्ति को जानने के लिये शास्त्र प्रमाण होसकता है। यदि आकाश उत्पन्न हुआ होता, तो उसका उपनिषद् के उक्त प्रसंगों में उल्लेख होता, न होने से निश्चय है, आकाश की उत्पत्ति नहीं होती ॥१॥

रहस्य को पूर्णरूप से न समझते हुए शिष्य ने कहा, आकाश की उत्पत्ति के विषय का वर्णन मुण्डक व तैत्तिरीय उपनिषद् में उपलब्ध है। आचार्य सूत्रकार ने आगे विवेचन की भावना से शिष्योक्ति को ग्रथित किया—

अस्ति तु ॥२॥

[अस्ति] है [तु] तो। शास्त्र में आकाश की उत्पत्ति का उल्लेख है तो सही।

मुण्डक उपनिषद् [२।१।३] में कहा—'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' उस अक्षरतत्त्व से प्राण मन सब इन्द्रियां, आकाश वायु ज्योति जल और पृथिवी उत्पन्न होते हैं। यहां आकाश की

उत्पत्ति का स्पष्ट उल्लेख है। इसीप्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् [२।१] में बताया–'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' निश्चित ही उस व्यापक तत्त्व से आकाश उत्पन्न होता है। यहां आकाश को उत्पन्न होनेवाला तत्त्व कहा है। इन शास्त्रवचनों के आधार पर आकाश की उत्पत्ति का निश्चय होता है।।२।।

आचार्य सूत्रकार ने तत्त्वविवेचन की भावना से पूर्वपक्ष को दृढ़ करते हुए कहा—

गौण्यसंभवात् ।।३।।

[गौणी] गौण है (आकाश की उत्पत्ति), [असंभवात्] संभव न होने से। निरवयव व्यापक आकाश की उत्पत्ति संभव न होने से उत्पत्ति का निर्देश गौण है।

प्रलयदशा में मूलउपादानतत्त्वों से जो आकाश भरा हुआ था, वह सर्गदशा आने पर मूलतत्त्वों के जगद्रूप में परिणत होजाने से आविर्भूत–प्रकट जैसा होजाता है, उस स्थिति को 'सम्भव–उत्पन्न होना' कह दिया गया है। वस्तुतः आकाश उत्पन्न नहीं होता। इसे मुख्य उत्पत्ति नहीं कहा जासकता। क्योंकि आकाश व्यापक व निरवयव पदार्थ है। उत्पन्न होनेवाला पदार्थ सदा सावयव होता है, इसीलिये परिच्छिन्न। आकाश की अपनी स्थिति निश्चय कराती है, कि उसकी उत्पत्ति होना असंभव है।।३।।

पूर्वपक्ष की दृढ़ता के लिये सूत्रकार ने और कहा—

शब्दाच्च ।।४।।

[शब्दात्] शब्द से [च] भी। शब्दप्रमाण से भी आकाश का उत्पन्न न होना सिद्ध होता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् [२।३।३] में बताया–'वायुश्चान्तरिक्षञ्चैतदमृतम्' वायु और अन्तरिक्ष यह अमृत हैं, अमरणधर्मा हैं। जो उत्पन्न होता है, वह मरता अवश्य है। आकाश को अमरणधर्मा बताये जाने से स्पष्ट होता है, कि वह उत्पन्न होनेवाला पदार्थ नहीं है। जहां कहीं उसकी उत्पत्ति का उल्लेख है, उसे उक्त आधारों पर गौण समझना चाहिये। अन्यथा बृहदारण्यक के इस वर्णन के साथ उसके विरोध की आपत्ति होगी।।४।।

शिष्य आशंका करता है, सर्गप्रकरण के मुण्डक उपनिषद् [२।१।३] के वाक्य में 'जायते' क्रियापद तथा तैत्तिरीय उपनिषद् [२।१] में 'सम्भूतः' पद वहां कहे गये पदार्थों की उत्पत्ति के बोधक हैं। उन स्थलों में एक ही पद का आकाश के विषय में गौण प्रयोग हो, तथा वायु अग्नि आदि के विषय में मुख्य प्रयोग, यह कैसे होसकता है? एक अर्थ में प्रयोग मानने पर आकाश आदि की उत्पत्ति के विषय में वाक्यों का विरोध पूर्ववत् विद्यमान रहेगा। आचार्य ने पूर्वपक्ष की दृढ़ता के लिये समाधान किया—

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥५॥

[स्यात्] होवे [च] भी [एकस्य] एक का [ब्रह्मशब्दवत्] ब्रह्म शब्द के समान। एक पद का भी गौण और मुख्य अर्थविषयक प्रयोग होसकता है; जैसे एक स्थल पर ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है।

तैत्तिरीय उपनिषद् [३।२] में वाक्य है–'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति' तपद्वारा ब्रह्म को जानने की इच्छा कर, तप ब्रह्म है। इस वाक्य में एक ही ब्रह्म पद का पहला प्रयोग मुख्य अर्थ में है, दूसरा गौण अर्थ में; जो ब्रह्मज्ञान का साधन है, उस तप को ब्रह्म कह दिया गया है। ऐसे ही मुण्डक [२।१।३] के वाक्य में 'जायते' पद तथा तैत्तिरीय [२।१] का 'सम्भूतः' पद गौण और मुख्य दोनों अर्थों के बोधक माने जासकेंगे। यद्यपि वाक्य में उत्पत्तिबोधक शब्द एक है, पर आश्रयभेद से पदव्यक्ति का भेद मानलेने पर अर्थ के भेद में कोई आपत्ति न होनी चाहिये। तात्पर्य यह है, कि 'जायते' और 'सम्भूतः' पदों का वाक्यगत प्रत्येक आश्रय-पद के साथ सम्बन्ध होगा–'प्राणः जायते, खं जायते, वायुः जायते' इत्यादि; ऐसे ही 'आकाशः सम्भूतः, वायुः सम्भूतः' आदि। इनमें आश्रय के भेद से 'जायते' और 'सम्भूतः' पदों का अर्थभेद हो-जायगा। आकाश-आश्रय के विषय में वह गौण होगा और अन्य पदार्थों के विषय में मुख्य। इसप्रकार आकाश के नित्य मानने पर भी इस विषय के शास्त्रीय वाक्यों में विरोध की आशंका नहीं कीजानी चाहिये ॥५॥

शिष्य आशंका करता है, उक्त विवेचन से आकाशगत उत्पत्तिविषयक विरोध आपाततः न रहो, पर तैत्तिरीय उपनिषद् [२।६] के अनुसार ब्रह्मकर्त्ता से समस्त जगत् की उत्पत्ति की प्रतिज्ञा का विरोध तो अवश्य होगा। तैत्तिरीय में कहा–'सोऽकामयत··· स ···इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च' वह संकल्प करता है, वह इस सबको बनाता है, जो कुछ यह है। इस 'सब जो कुछ' में आकाश भी आजाना चाहिये। यदि आकाश इसमें नहीं आता, तो–वह 'इस सबको बनाता है'–कहना ठीक नहीं रहता; यदि आकाश उत्पत्ति के अन्तर्गत है, तो आकाश को अनुत्पन्न बताना असंगत होजाता है। आचार्य सूत्रकार ने इसका समाधान किया—

प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥६॥

[प्रतिज्ञाऽहानिः] प्रतिज्ञा की हानि न होगी [अव्यतिरेकात्] व्यतिरेक–अलग न होने से, [शब्देभ्यः] शब्दों से। प्रतिज्ञा की हानि इसलिये न होगी, कि जो कुछ उत्पन्न होता है, वह सब आकाश से अलग नहीं, क्योंकि वह व्यापक है; उसकी व्यापकता शब्दों से जानी जाती है।

आकाश के नित्य मानने पर प्रतिज्ञा की हानि नहीं होती। कारण यह है, कि

आकाश एक व्यापक पदार्थ है। समस्त उत्पन्न होनेवाले पदार्थों का आकाश के साथ सम्बन्ध निश्चितरूप से बना रहता है। एक परिच्छिन्न द्रव्य का दूसरे परिच्छिन्न के साथ असंबन्ध संभव है। पर आकाश तो व्यापक है, प्रत्येक उत्पन्न होनेवाले पदार्थ का आकाश से नियत सम्बन्ध होने के कारण प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति का उपचार आकाश में होजाता है। जब यह कहा जाता है, कि इस सबको ब्रह्म उत्पन्न करता है, तो उस सबके आकाश में अव्यतिरेक–सम्बन्ध के कारण सबकी उत्पत्ति का उपचार–गौण व्यवहार आकाश में होजाता है। आकाश के नित्य होने पर भी उत्पत्ति का गौण प्रयोग उसके विषय में होने से न प्रतिज्ञा की हानि होती है और न शास्त्रीय वाक्यों का परस्पर विरोध। जब हम कहते हैं–बालक उत्पन्न हुआ है अथवा देवदत्त मर गया है; ऐसे वाक्यों में जन्मना-मरना व्यवहार नित्य आत्मा से युक्त शरीर के लिये होता है। जीना-मरना देह का मुख्यधर्म है, पर उसके सम्बन्ध से नित्य आत्मा में यह व्यवहार गौण-रूप से होता रहता है। ऐसा नित्य आकाश में समझना चाहिये ॥६॥

इस लम्बे पूर्वपक्षप्रसग में आकाश को नित्य मानकर उसके उत्पत्तिविषयक वाक्यों के समन्वय का प्रयास किया गया। इस आधार पर शिष्य जिज्ञासा करता है, आकाश के उत्पत्तिविषयक उल्लेख गौण हैं, तथा अनुत्पत्तिविषयक मुख्य; इसमें कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया, फिर इसके विपरीत अर्थ को क्यों न स्वीकार कर लिया जाय? उस दशा में उत्पत्तिविषयक वाक्यों का विरोध वैसा ही बना रहेगा। आचार्य सूत्रकार ने विस्तृत पूर्वपक्ष को ध्यान में रख यथार्थ समाधान किया—

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥७॥

[यावद्विकारम्] जहांतक विकार है [तु] किन्तु [विभागः] विभाग (होता है) [लोकवत्] लोक के समान। सूत्र में 'तु' पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति का सूचक है। जहांतक विकार–कार्य की स्थिति है, वहांतक विभाग–अवयवविश्लेषण होता रहता है, जैसा कि लोक में परीक्षणों द्वारा जाना जाता है।

आकाश के उत्पत्तिविषयक उल्लेखों को 'असंभव' हेतु [२।३।३] के आधार पर गौण बताया गया। पर आकाश की उत्पत्ति में असंभव की आशंका नहीं होनी चाहिये। कारण यह है, कि जितना विकारसमुदाय है, उस सबके विभाग–विश्लेषण द्वारा उनके कारणों का पता लगाया जासकता है। लोक में घट पट आदि स्थूल पदार्थों का विभाग प्रत्यक्ष देखा जाता है, तथा उस आधार पर उनके कार्य होने का निश्चय होता है। जो साधारण सूक्ष्म पदार्थ हैं, उनका विश्लेषण अन्य यन्त्रादि उपयोगी साधनों द्वारा किया जाकर उनके कार्य होने का बोधक होता है। अतिसूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय अर्थों का विश्लेषण प्रतिभापूर्ण तर्कों युक्तियों तथा अन्य वैज्ञानिक साधनों द्वारा समझा जासकता है। सूत्रकार का आशय है, कि प्रत्यक्ष घट पट आदि विकारों के विश्लेषण के समान

सूक्ष्म अवस्थागत तत्त्वों के विश्लेषण का अनुमान किया जासकता है। कोई विकार अर्थात् कार्य निश्चित ही अपने कारणों द्वारा उत्पन्न होता है। प्रश्न है–आकाश ऐसा कार्य है या नहीं ? सूत्रकार ने निर्णय दिया, आकाश ऐसा विकार है, विश्लेषणद्वारा उसके कारणतत्त्वों का पता लगाया जासकता है।

आकाश तत्त्व क्या है ? वस्तुतः लोकव्यवहार में इस विषय की कुछ भ्रान्ति देखी जाती है। ऊपर नीलाभ स्थिति को आकाश समझना या खाली जगह को आकाश कहना भ्रान्तिपूर्ण है। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार शब्द का आश्रय एवं समस्त स्थूल सूक्ष्म पदार्थों तथा उनकी सक्रियता को अवकाश प्रदान करने वाला तत्त्व 'आकाश' है। आधुनिक वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार इस तत्त्व का नाम 'ईथर' है। यह सर्वव्यापक तत्त्व है, कोई ऐसा अंश नहीं, जहां इसका अस्तित्व न हो। यह विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों [इलैक्ट्रो-मैग्नेटिक वेव्ज़्=Electro-Magnetic Waves] का आधार अथवा वाहन समझा जाता है।[1] यद्यपि आधुनिक विज्ञान इस तत्त्व के विषय में अभी तक किसी

---

१. आधुनिक विज्ञान के अनुसार समस्त तत्त्व दो विभागों में अन्तर्हित माने जाते हैं– ऐनर्जी और मैटर। ऐनर्जी को निम्नलिखित रूपों में विभाजित कहा जाता है– (१) प्रकाश, (२) विद्युत, (३) ध्वनि, (४) ऊष्मा (गरमी), (५) चुम्बकीय शक्ति, (६) स्टैटिक् [Static=स्थिरता से प्राप्त शक्ति], (७) कॉयनैटिक् [Kinetic=गत्यात्मक अथवा गति से प्राप्त शक्ति]। इन सबसे अतिरिक्त तत्त्व मैटर अर्थात् द्रव्य कहे जाते हैं।

प्रसंगप्राप्त 'ईथर' के विषय में कहा जाता है, कि एक ईथर द्रव्य है, जो औषध व चिकित्सा आदि के लिये प्रयुक्त होता है। इसके अतिरिक्त ईथर एक व्यापक तत्त्व है। यह नाम उस सूक्ष्म माध्यम को दिया गया, जो सब वस्तुओं और सब अवकाशों में व्याप्त समझा जाता रहा है। यहां तक कि ऐटम और इलैक्ट्रॉंस् के बीच में भी ईथर व्याप्त है। ईथर के मानने का आधार इसलिये लिया गया, कि उसके द्वारा प्रकाश, ऊष्मा, ध्वनि तथा विद्युत्-चुम्बकीय-तरंगों आदि की गति के समझने समझाने में सहायता मिलती रही है। अब ऐसे माध्यम के मानने की आवश्यकता नहीं रही। वैज्ञानिकों का नवीन आधुनिक विचार है, कि स्थिर 'ईथर' तत्त्व का कहीं आभास नहीं मिलता, इसलिये यह निरुपयोगी है। जिन तत्त्वों का वाहन उसे माना जाता रहा है, वे स्वयं गति कर सकते हैं; उनमें गति दे देने पर जब तक उसका कोई अवरोधक न हो, गति बनी रहसकती है।

सर ऑलिवर लॉज ने ईथर के कुछ गुणों का वर्णन किया है। (१) यह सारे अवकाश को पूर्णतया भरे हुए है। (२) यह सर्वात्मना पारदर्शी है। (३) इसको अधिक फैलाया या सिकोड़ा नहीं जासकता, इसमें गाढ़ापन [श्यानता=

निश्चित धारणा तक नहीं पहुंचा, पर इसप्रकार के विवेचनों से यह प्रकट होता है, कि 'आकाश' कोई नित्य तत्त्व न होकर एक विकार होसकता है।

उसके कारणतत्त्वों का पता उसके विश्लेषण से लगाया जासका है। कापिलतन्त्र में इसके कारणतत्त्व कतिपय 'तन्मात्र' माने गये हैं। उन तन्मात्रों का 'शब्द-तन्मात्र' नाम इस आधार पर दिया गया, कि वे ऐसे तत्त्व के रूप में परिणत होजाते हैं, जो शब्द के आश्रय के रूप में अपना अस्तित्व बनाये रखता है। आकाश के उत्पत्तिधर्मा माने जाने पर चेतन ब्रह्म अखिल विश्व का स्रष्टा है, इस प्रतिज्ञा में कोई बाधा या हानि नहीं होती। आकाश को जो अमृत कहा गया [बृ० २।३।३], वह केवल उसके एकरूप में चिरस्थायित्व को प्रकट करता है। आकाश के साथ वायु को भी अमृत कहा है, जहां 'अमृत' पद के मुख्य अर्थ की कल्पना नहीं कीजासकती। उसीके समान आकाश को समझना चाहिये।

विश्लेषण के आधार पर किसी पदार्थ के कारणतत्त्वों को समझने की प्रक्रिया चेतनतत्त्व में लागू नहीं कीजासकती। समस्त विकारी विश्व अचेतन है, वह अचेतन मूलउपादानतत्त्व से परिणत किया जाता है। चेतनतत्त्व न किसी पदार्थ का उपादान-कारण होता, न किसी का कार्य। चेतनतत्त्व में किसी प्रकार की विक्रिया को आज तक जाना नहीं जासका, न ऐसी संभावना है। वह तत्त्व नित्य अपरिणामी कूटस्थ होता है, ऐसा चेतनतत्त्व के साक्षात्कर्त्ताओं ने बताया है। उसे परिणामी मानने पर चेतन व अचेतन की स्थिति में कोई अन्तर नहीं रहता। यह व्यवस्था उसके अविकारी होने की द्योतक है। फलतः आकाश उत्पत्तिधर्मा है, ब्रह्म की रचना में उसकी गणना है। इस आधार पर शास्त्रीय वाक्यों में किसी के विरोध की संभावना नहीं कीजानी चाहिये।

आचार्य शंकर ने इस सूत्र की जिसप्रकार व्याख्या की है, उसके अनुसार आचार्य तथा उसके अनुयायिओं द्वारा स्वीकार किये गये छह अनादि पदार्थों की संगति नहीं बैठती। ब्रह्म के अतिरिक्त यदि अन्य समस्त ब्रह्म की रचना या उसका विकार हैं, तो छह अनादि की कल्पना निराधार व प्रतिज्ञा की बाधक होती है। प्रतिज्ञा की अहानि में छह अनादि की कल्पना असंगत है। अन्यथा आचार्य का व्याख्यान अयथार्थ माना जायगा ॥७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, बृहदारण्यक उपनिषद् [२।३।३] में आकाश के

Viscosity] **बिल्कुल नहीं है। (४) यह एक्सरे, वायरलैस, इलैक्ट्रिक एवं चुम्बकीय धाराओं का वाहक है। पदार्थ [मैटर] का मूल [उद्गम—प्रारम्भ] वैद्युतिक [इलैक्ट्रिकल**=Electrical] **है, इसलिये विद्युत [इलैक्ट्रिसिटी**=Electricity] **का भी वाहन ईथर है।**

यह विवरण 'ऐवरी मंन्स इन्साईक्लोपीडिया' [Every Mans Encyclopaedia, Dent **द्वारा लन्दन से प्रकाशित] के आधार पर दिया गया है।**

साथ वायु को 'अमृत' कहा है। उसके विषय में क्या निर्णय है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥८॥

[एतेन] इससे [मातरिश्वा] वायु [व्याख्यातः] व्याख्या किया गया। आकाश विषयक गतविवेचन से वायुविषयक व्याख्या समझ लेनी चाहिये।

बृहदारण्यक उपनिषद् [२।३।३] में वायु को 'अमृत' कहा है। वहीं अन्य स्थल [बृ० १।५।२२] में 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' पदों द्वारा वायु को अनस्तमिता–अविनाशी देवता बताया है। इससे प्रतीत होता है–उपनिषत्कार वायु को अनुत्पन्न तत्त्व समझता है। परन्तु मुण्डक [२।१।३] और तैत्तिरीय [२।१] में वायु की उत्पत्ति का स्पष्ट उल्लेख है। शास्त्रवाक्यों में यह विरोध प्रतीत होता है, और इस आधार पर सन्देह होता है, कि वायु को उत्पन्न तत्त्व माना जाय अथवा अनुत्पन्न?

आचार्य ने निर्णय दिया, आकाश के व्याख्यान से वायुविषयक व्याख्यान समझ लेना चाहिये। जैसे आकाश अपने कारणों से उत्पन्न होनेवाला तत्त्व है, ऐसे ही वायु है। विश्लेषण से यह निश्चय किया जासका है, कि वायु अपने कारणतत्त्वों से उत्पन्न व परिणत होनेवाला तत्त्व है, अविकारी तत्त्व नहीं। आधुनिक विज्ञान ने यह प्रकट किया है, कि लगभग चार भाग नाइट्रोजन और एक भाग ऑक्सिजन तथा आधे से भी कम भाग में अन्य कई तत्त्व मिलकर वायुरूप में परिणत होते हैं। इसप्रकार कतिपय कारण-तत्त्वों के अन्योन्यमिथुन से अभिव्यक्त होने के कारण वायु को अज, अमृत एवं अविनाशी नहीं समझना चाहिये।

कापिल दर्शन में वायु के कारणतत्त्व कतिपय 'तन्मात्र' हैं। इनको 'स्पर्शतन्मात्र' नाम इस आधार पर दिया गया है, कि इनसे परिणत होनेवाला सबसे पहला ऐसा तत्त्व है, जो स्पर्श का आश्रय होता है। सृष्टिरचना के क्रम में सबसे पहला वायु ऐसा पदार्थ है, जहां स्पर्श का अनुभव किया जाता है। आगे की रचना में अन्य पदार्थ भी स्पर्श के आश्रय होते हैं, पर उनकी अतिरिक्त विशेषताओं के कारण उन आधारों पर उनके पृथक् नाम और पृथक् स्वरूप हैं।

यह निश्चय होने पर कि वायु उत्पन्न होनेवाला पदार्थ है, शास्त्र में उसे जो कहीं अमृत अथवा अविनाशी कहा है, वह गौण है, उसका तात्पर्य केवल उसे चिरस्थायी बताने में है। आकाश वायु आदि तत्त्व आदिसर्गकाल में उत्पन्न होकर महाप्रलयपर्यन्त बराबर अवस्थित रहते हैं; इस चिरकाल अवस्थिति की भावना से उनके लिये उक्त पदों का प्रयोग हुआ है, उन्हें मुख्यरूप से नित्य बताने की भावना से नहीं। इससे न शास्त्रविरोध है, और न वायुविषयक किसी सन्देह के लिये अवकाश रहता है ॥८॥

शिष्य आशंका करता है, आकाश व वायु को शास्त्र में नित्य कहे जाने पर भी

अन्य शास्त्रीय उल्लेखों के आधार पर नित्य कथन को गौण मानकर उन्हें अपने कारण-तत्त्वों से उत्पन्न पदार्थ होने का निर्णय दिया गया। तब उन कारणतत्त्वों को भी अन्य कारणतत्त्वों से उत्पन्न होनेवाला क्यों न माना जाय? उन्हें कार्यमात्र का मूलकारण कहना निराधार है। ऐसी दशा में अनवस्था दोष भी प्राप्त होता है। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥९॥

[असम्भवः] सम्भव–उत्पाद अयुक्त है [तु] तो [सतः] सत्–सदा वर्त्तमान कारण का [अनुपपत्तेः] उपपत्ति–सिद्धि के अभाव से। सदा वर्त्तमान मूलकारण का तो उत्पन्न होना अयुक्त है, क्योंकि किसी युक्ति व प्रमाण से यह सिद्ध नहीं हो सकता।

उपनिषद् में आकाश व वायु को जहां 'अमृत' कहा है, वहां उनकी उत्पत्ति का भी स्पष्ट उल्लेख है। इसलिये इनके विषय में विवेचन कर निर्णय किया गया। परन्तु शास्त्र में मूलकारणों के नित्य होने का तो उल्लेख है, उनकी उत्पत्ति के विषय में कहीं कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता। इसलिये आकाश आदि के समान उनके विषय में ऐसा विवेचन व निर्णय करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

कार्यमात्र के मूलकारण दो प्रकार के तत्त्व हैं, एक चेतन दूसरा जड़। जगत् का मूल उपादानकारण जड़ प्रकृति-तत्त्व है, तथा अन्य नियन्ता कारण चेतनतत्त्व ब्रह्म है। इनके नित्य व अजन्मा होने का उल्लेख सर्वत्र शास्त्र में पाया जाता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् [१।९] में बताया–'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता' सर्वज्ञ और अल्पज्ञ दो अजन्मा तत्त्व हैं, एक उनमें नियन्ता [ईश] है, और दूसरा नियम्य [अनीश], इनसे अन्य एक और अजन्मा तत्त्व है, जो भोक्ता के लिये भोग्य अर्थों से युक्त है। यह त्रिगुणात्मिका जड़ प्रकृति है। इसी विषय में आगे [श्वे० १।१०] कहा–'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।' वह जगद्रूप में परिणत होनेवाला जड़तत्त्व प्रधान है, और अमृत अक्षर ब्रह्म है, जो एकमात्र देव प्रकृति और जीवात्माओं पर नियन्त्रण करता है। अन्यत्र [श्वे० ४।५] त्रिगुणात्मिका प्रकृति को अजन्मा कहा गया है। मुण्डक उपनिषद् [२।१-२] में भी जगत् के उपादानतत्त्व प्रकृति को अक्षर–अविनाशी तत्त्व कहा है। ब्रह्म के नित्यत्व का गान शास्त्र में सर्वत्र उपलब्ध होता है–विरजं ब्रह्म निष्कलम्' [मु० २।२] 'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' [श्वे० ६।९] वह सर्वज्ञ देव परमात्मा जगत् का कारण है, करणों के अधिप जीवात्माओं का वह अधिप–नियन्ता है, न उसका कोई जनिता है न अधिप–नियन्ता। ऋग्वेद के प्रलयदशावर्णन में कहा–'आनीदवातं स्वधया तदेकं' [ऋ० १०।१२९।२] प्रलयदशा में जब कार्यजगत् का कोई पदार्थ विद्यमान नहीं रहता, तब स्वधा–प्रकृति के साथ एकमात्र शुद्ध चेतनतत्त्व ब्रह्मस्वरूप में अवस्थित रहता है।

कार्यमात्र के न रहने पर इन तत्त्वों का विद्यमान रहना यह स्पष्ट करता है, कि ये अजन्मा तत्त्व हैं, इनको उत्पन्न करने वाले अन्य कोई कारण संभव नहीं। ये कार्यमात्र के स्वयं मूलकारण हैं।

जगत् पद से बोधित जो कुछ कार्य है, वह सब जड़ है। उसके कार्य व विकार होने की निश्चायक कसौटी है, उसका अवयव विभाग; गत [२।३।७] सूत्र में इसका विवेचन किया गया है। कार्य के विभाग की यह परम्परा मूलकारण पर जाकर रुक जाती है। जड़ जगत् का वह मूलउपादानकारण त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति है। ये त्रिगुण अतिसूक्ष्म अनन्त तत्त्व हैं। इनसे परिणत होने वाले कार्य पर्याप्त दूर स्तर तक अतीन्द्रिय बने रहते हैं। यद्यपि वे व्यक्त हैं, पर इतने सूक्ष्म हैं, कि उनको किन्हीं भी दैहिक अथवा वैज्ञानिक साधनों से प्रत्यक्ष नहीं किया जासकता। फिर भी वे विकार हैं, व्यक्त हैं; उनका अवयव-विभाग जाना जाता है। इन व्यक्ततत्त्वों के इतने अधिक सूक्ष्म होने की समानता के आधार पर मूल तत्त्वों में विभाग की कल्पना नहीं कीजासकती। वस्तुतः वह तत्त्व की 'अव्यक्त' अवस्था है। यह पद दोनों [चेतन-अचेतन] प्रकार के मूलकारणों के लिये प्रयुक्त होता है। विभाग की परम्परा का अन्त यहां मानना पड़ता है। अन्यथा अनवस्था दोष मुंह फाड़कर सामने आखड़ा होता है। अनवस्था तथ्य से कन्नी काटने का कोई बहाना नहीं है, यह कार्यकारणभाव की यथार्थता को समझने का उपयुक्त साधन है। तत्त्व की अव्यक्त अवस्था यह स्पष्ट करती है, कि उसके आगे अन्य किसी कारणतत्त्व का अस्तित्व नहीं है, जहां से उसे व्यक्त होना कहा जासके।

इस तथ्य का अनेक वार वर्णन किया जाचुका है, कि चेतनतत्त्व न किसी पदार्थ का उपादानकारण होता और न किसी का कार्य। इसलिये उसके कारण की कल्पना सर्वथा निराधार है। फलतः आकाश और वायु के नित्यत्ववर्णन की समानता के आधार पर मूलकारणों के नित्यत्ववर्णन को देखकर आकाश–वायु के समान उनके [मूल कारणों के] अन्य कारणों की कल्पना नहीं कीजासकती, क्योंकि आकाश–वायु के उत्पत्तिवर्णन के समान मूलकारणों की उत्पत्ति का शास्त्र में कहीं संकेत तक नहीं मिलता, न अन्य किन्हीं प्रमाणों से उनके कारणों की कल्पना कीजासकती है। उस अवस्था में उनके अन्य किसी मूलकारण का होना संभव नहीं ॥९॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, आकाश के अनन्तर वायु का परिणाम होता है, यह निश्चय किया गया। वायु के अनन्तर किस तत्त्व का प्रादुर्भाव सर्गरचनाक्रम में होता है ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तेजोऽतस्तथा ह्याह ॥१०॥

[तेजः] तेज [अतः] इससे [तथा हि] जैसा कि [आह] कहा है। वायु के अनन्तर तेज–अग्नितत्त्व प्रादुर्भाव में आता है; जैसा कि शास्त्र में कहा है।

सर्गरचनाक्रम में—जो स्तर जीवन में उपयोग के अधिक समीप आजाता है, वहां—वायु के अनन्तर तेज के परिणत होने का अवसर है। तैत्तिरीय उपनिषद् [२।१] में वायु से अथवा वायु के अनन्तर अग्नि के उद्भव का उल्लेख है—'वायोरग्निः'। मुण्डक उपनिषद् [२।१।३] में भी अक्षर से जगत्सर्ग के वर्णन में वायु सर्ग के अनन्तर 'ज्योतिः' का उल्लेख है। 'ज्योतिः' पद तेज अथवा अग्नि का पर्याय है। छान्दोग्य [६।२।३-४, तथा ६।३।२–४] में यद्यपि जगत्सर्ग का वर्णन करते हुए आकाश—वायु का उल्लेख नहीं हुआ, तथापि इससे सर्गक्रम में कोई बाधा नहीं आती। उस प्रसंग में जगत् के मूल उपादानतत्त्व त्रिगुण को स्थूल जगत् के आधार पर समझाने की भावना से वैसा वर्णन हुआ है।[1] तैत्तिरीय [२।१] के वर्णन से उसका कोई विरोध नहीं है ॥१०॥

सर्गक्रम के वर्णन में आचार्य ने आगे बताया—

आपः ॥११॥

[आपः] जल। तेज के अनन्तर जल प्रादुर्भाव में आते हैं।

गतसूत्र से 'अतः, तथाहि, आह' इन पदों की अनुवृत्ति इस सूत्र में समझनी चाहिये। तेज के अनन्तर जलों का प्रादुर्भाव होता है, ऐसा उल्लेख शास्त्र में उपलब्ध है। तैत्तिरीय [२।१], छान्दोग्य [६।२।३], तथा मुण्डक [२।१।३] के स्थल इस विषय में द्रष्टव्य हैं ॥११॥

जलों के अनन्तर आचार्य ने पृथिवी की सृष्टि के विषय में कहा—

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥१२॥

इस सूत्र में भी गतसूत्र के 'अतः, तथाहि, आह' पदों की अनुवृत्ति है। [पृथिवी] पृथिवी [अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः] अधिकार से, रूप से तथा शब्दान्तर से। जलों के अनन्तर पृथिवी का प्रादुर्भाव होता है, ऐसा छान्दोग्य आदि में कहा है। वहां 'अन्न' पद से पृथिवी का ग्रहण है, यह अधिकार, रूप तथा श्रुत्यन्तर से सिद्ध होता है।

तैत्तिरीय [२।१] तथा मुण्डक [२।१।३] में जलसर्ग के अनन्तर पृथिवी की रचना का उल्लेख स्पष्ट है। छान्दोग्य [६।२।४] में जलों के अनन्तर 'अन्न' के सर्ग का उल्लेख है, पृथिवी का नहीं। 'अन्न' पद का प्रयोग गेहूँ जौ चना आदि भक्ष्य पदार्थों के लिये देखा जाता है। पृथिवी अर्थ न होने से अन्य उपनिषदों के वर्णन के साथ इसके विरोध का सन्देह किया जासकता है, इसकी निवृत्ति के लिये सूत्रकार ने हेतु कहा—'अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः' अधिकार, रूप तथा शब्दान्तर हेतुओं के आधार पर छान्दोग्य

---

१. इसके विस्तृत विवेचन के लिये देखें हमारी रचना—'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ ४७–५०; १४६–१५२।

के उक्त प्रसंग में 'अन्न' पद से पृथिवी का ग्रहण करना चाहिये। 'अधिकार' पद का तात्पर्य प्रसंग अथवा प्रकरण है, छान्दोग्य के उस प्रसंग में तेज और अप् की सृष्टि के अनन्तर पृथिवी का क्रम होना चाहिये। गेहूं, चना, धान आदि अन्न तो आगे पृथिवी से उत्पन्न होते हैं। आगे अन्न का रूप भी कृष्ण बताया गया, जो पृथिवी के साथ अधिक सामञ्जस्य रखता है। धान चना गेहूँ आदि अन्नों के कृष्णरूप होने का कोई नियम नहीं है। यद्यपि पृथिवी के भी लाल पीला सफेद आदि रूप कहीं-कहीं देखे जाते हैं, पर अधिकतया साधारण रूप कृष्ण रहता है। दूसरे श्रुतिवाक्य में स्पष्ट ही जलों से पृथिवी के उद्भव का वर्णन है—'अद्भ्यः पृथिवी' [तै० २।१]। बृहदारण्यक [१।२।२] में कहा—'तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्' सर्गकाल में 'आपस्' का जो मांड के समान घनीभाव हुआ, वह संहत होकर कठिन होगया, उसका नाम पृथिवी हुआ। इस सब विवरण के आधार पर छान्दोग्य के उक्त प्रसंग में 'अन्न' पद पृथिवी का बोधक समझना चाहिये।

वैदिक साहित्य के सृष्टिविद्याप्रसंगों में तेजस्-आपस्-अन्न आदि पदों तथा इसी-प्रकार के अन्य अनेक पदों का प्रयोग सर्गकाल की कुछ विशिष्ट स्थितियों को बोधन कराने के लिये हुआ है, इस विषय के वैदिकसाहित्य के अनेक स्थल इतने गूढ़ हैं, कि उन पदों के साधारण लोकव्यवहृत अर्थों के अनुसार उन प्रसंगों का सामञ्जस्य बैठाया जाना दुःशक होता है। तब ऐसे पद कुछ पारिभाषिक हो उठते हैं; उनका लोक-व्यवहृत साधारण अर्थ करने या समझने पर अनर्थ होजाता है[1]। प्रस्तुत प्रसंग में हमारे सन्मुख ऐसा एक 'आपस्' पद है। छान्दोग्य के उक्त [६।२।३-४] प्रसंग में इसका उल्लेख हुआ है। उसके अनुसार सृष्टिरचनाक्रम में उसका स्थान बहुत पीछे आता है; परन्तु मनुस्मृति [१।८] के अनुसार उसका स्थान सर्वप्रथम आता है—'सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्'। यहां पर 'आपस्' पद के अर्थ को समझने तथा वैदिक साहित्य के ऐसे अन्य वर्णनों के साथ उसका सामञ्जस्य व्यवस्थापित करने के लिये गम्भीर विचार अपेक्षित है। छान्दोग्य का उक्त प्रसंग भी गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है।

वेदान्त के इन सूत्रों [२।३।१—१२] में पांच महाभूतों के उत्पत्तिक्रम का साधारण वर्णन है। यह निश्चित है, कि ये पदार्थ अपने मूलउपादानकारणों से सीधे इसी रूप में प्रकट नहीं होते। इनके और मूलउपादानतत्त्वों के अन्तराल में रचना की दृष्टि से अनेकानेक अज्ञात स्तरों को पार करते हुए मूलउपादान इस रूप में प्रकट होते हैं। केवल स्थूलभूतों का यहां वर्णन मानव जीवन के लिए इनके सीधे उपयोग में आने की

१. ऐसे अनेक पदों का विवरण श्री पं० भगवद्दत्त बी० ए० कृत 'वेदविद्यानिदर्शन' नामक रचना में द्रष्टव्य है।

भावना से किया गया प्रतीत होता है। मूलउपादान के विभिन्न कार्यस्तरों का वर्णन प्रस्तुत शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय नहीं है। इसका मुख्य विषय जगत्कर्त्ता ब्रह्म के स्वरूप को समझाना है। उसमें उपयोगी अन्य विषय आनुषंगिक है। पांच भूतों का ऐसा ही वर्णन है, जिसके आधार पर जगत्कर्त्ता ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है ॥१२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, आकाशादि जगत् का उत्पन्न करने वाला ब्रह्म है, यह निश्चय किया गया। परन्तु लोक में कुलाल कुविन्द आदि कर्त्ता अपने देहांगों द्वारा घट पट आदि कार्यों का निर्माण करते देखे जाते हैं। निराकार कूटस्थ परब्रह्म परमेश्वर जगत् का निर्माण कैसे कर देता है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् सः ॥१३॥

[तदभिध्यानात्] उसके अभिध्यान से [एव] ही [तु] तो [तल्लिङ्गात्] उसके ज्ञापक लिङ्ग से [सः] वह। वह परमेश्वर उत्पाद्य विषय का अभिध्यान करने से ही तो उसको बना देता है, यह परमेश्वर के ज्ञापक लिङ्ग–प्रमाण से विदित होता है।

सूत्र में 'अभिध्यान' पद का अर्थ है—संकल्पपूर्वक चिन्तन। प्रलय के अनन्तर परमेश्वर का जगद्रचना के लिये संकल्प होता है। वह कारण–कार्य की व्यवस्था के विषय में चिन्तन करता है। प्रकृतिरूप उपादानकारण को जगद्रूप कार्य में परिणत करना है। जो कारण जिस कार्यरूप में परिणत होने हैं, वह सब परमेश्वर के ज्ञान व चिन्तन में व्यवस्थित है। यह अभिध्यान प्रकृति को प्रेरित करता है, वह कार्यरूप में परिणत होने के लिये चञ्चल हो उठती है। रचनाक्रम प्रारम्भ होजाता है। सर्वान्तर्यामी परमेश्वर इसप्रकार कारण-कार्यविषयक अपने अभिध्यानमात्र से कारण को कार्यरूप में परिणत करता है, जगत्सर्ग के लिये अभिध्यान की इस प्रक्रिया को तैत्तिरीय [२।६] में 'तप' कहा है–'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत, यदिदं किञ्च।' वह संकल्प करता है, मैं बहुत होऊं, प्रजा को उत्पन्न करूं, वह तप तपता है, तप तपकर इस सबको बनाता है, जो कुछ यह है। अचिन्त्य अर्थों को अभिव्यक्त करने के अनेक प्रकार हैं, उपनिषत्कारों ने उसका अनुसरण किया है।

परमेश्वर के ऐसे 'अभिध्यान' को उपनिषदों में अनेकत्र 'ईक्षण' व 'कामना' आदि पदों से अभिव्यक्त किया है। ऐतरेय [१।१-२] में कहा–'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत' वह ईक्षण करता है, लोकों की रचना करूं, वह इन लोकों को बनाता है। छान्दोग्य [६।२।३] में कहा–'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति।' आगे पुनः बताया–'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति' [छा० ६।३।२] वह अन्तर्यामी देवता ईक्षण करती है, मैं इन तीन देवताओं [प्रकृतिरूप त्रिगुण] को इस जीवात्मा के साथ अनुप्रविष्ट हुआ नाम-रूप से विस्तृत करूं। वह उन तीन देवताओं [प्रकृतिरूप त्रिगुण] को नाम-रूप से व्याकृत कर-

देता है। परमेश्वर के अभिध्यान का यह वर्णन परमेश्वर के अस्तित्व का चिह्न है। सूत्रकार ने स्पष्ट किया, परमेश्वर उसके लिङ्ग–अभिध्यानमात्र से जगत् की रचना करता है, उसे लौकिक कर्त्ताओं की तरह अन्य किन्हीं बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं। वह अलौकिक कर्त्ता है। सर्ग की आद्यक्रिया से लेकर आज अंकुरादि की उत्पत्ति तक में वह निमित्त है, विश्व की समस्त व्यवस्था सदा उसी की प्रेरणा से संचालित रहती है ॥१३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, भूतों के उत्पत्तिक्रम के विषय में निश्चय किया गया। सर्ग के अनन्तर प्रलय आने पर भूतों के प्रलय का क्या क्रम रहता है? आचार्य ने समाधान किया—

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥१४॥

[विपर्ययेण] विपर्यय से [तु] तो [क्रमः] प्रलय-क्रम [अतः] इससे [उपपद्यते] उपपन्न–सिद्ध–युक्त होता है [च] तथा। तथा प्रलय-क्रम तो इस उत्पत्तिक्रम के विपर्यय से सिद्ध होता है।

आकाश से पृथिवी तक जैसे उत्पत्तिक्रम है, उसका विपर्यय कर दिया जाय उसको उलट दिया जाय, तो वह भूतों का प्रलयक्रम बनजाता है। पृथिवी से लेकर आकाश तक पिछला पहले में लीन होता जाता है। पृथिवी जल में, जल तेज में, तेज वायु में तथा वायु आकाश में लीन होजाता है। इस कथन में सिद्धान्त यह है, कि जैसे प्रादुर्भाव के समय कारण से कार्य परिणत होता है, ऐसे ही प्रलय के अवसर पर कार्य अपने कारण में लीन होजाता है। कारण से कार्य का उत्पन्न होना 'सर्ग' है, और कार्य का कारण में लीन होना 'प्रतिसर्ग', अर्थात् उत्पत्ति से उलट। यही भाव सूत्रद्वारा प्रकट किया गया है, कि उत्पत्तिक्रम को उलट देने से प्रलयक्रम उपपन्न होजाता है। इसे सीढ़ी पर चढ़ने-उतरने के समान समझना चाहिये। चढ़ते समय जो सीढ़ी सबसे बाद आती है, उतरते समय उसका नम्बर सबसे पहले होता है, तथा चढ़ते समय जिस सीढ़ी पर सबसे पहले पांव रक्खा गया था, उतरते समय उस पर पांव रखने का अवसर सबसे अन्त में आता है। ऐसे ही भूतों की उत्पत्ति के समय आकाश का प्रादुर्भाव सबसे प्रथम और पृथिवी का सबके अनन्तर होता है। उत्पत्तिक्रम को उलट देने से प्रलय पृथिवी से प्रारम्भ होकर यथाक्रम जल तेज वायु आकाश को समेटता हुआ आगे कारणों की ओर बढ़जाता है। कार्य का लय अपने कारण में होता है, कार्यस्थिति समाप्त होने पर तत्त्व पुनः अपने कारणरूप में पहुंच जाता है, यह प्रकट करना ही आचार्य का तात्पर्य है ॥१४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, पांच महाभूतों के उत्पत्ति-प्रलयक्रम का विचार किया; पर उससे पहले की कारण-कार्य परम्परा में आये तत्त्वों के उत्पत्ति–प्रलयक्रम का विचार क्यों नहीं किया गया? आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥१५॥

[अन्तरा] मध्य में [विज्ञानमनसी] विज्ञान और मन [क्रमेण] क्रम से [तल्लिङ्गात्] उनके लिङ्ग–ज्ञापक प्रमाण से [इति चेत्] यह यदि (कहो, तो) [न] नहीं [अविशेषात्] अविशेष–समान होने से। मूलउपादानकारण और आकाश के मध्य में विज्ञान और मन आदि उत्पन्न होते व लीन होते हैं, यह उनके ज्ञापक प्रमाणों से जाना जाता है, उनका विचार क्यों नहीं किया गया? यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि इनके क्रम में कोई भेद नहीं है।

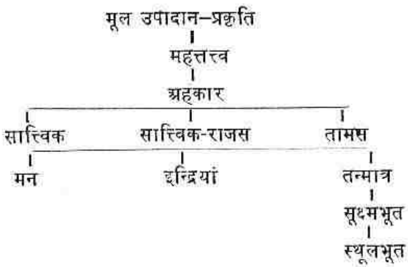
सूत्र में 'विज्ञान' पद महत्तत्त्व का बोधक है, जो मूलउपादानकारण का आद्य कार्य है। वह अहंकार और तन्मात्रों [एवं सूक्ष्मभूतों] का उपलक्षण है। तात्पर्य यह, कि सूत्र का 'विज्ञान' पद महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्र एवं सूक्ष्मभूतों का संग्राहक है। इसी-प्रकार 'मनस्' पद दोनों प्रकार की इन्द्रियों का उपलक्षण है, क्योंकि व्यवहार में मन का सम्बन्ध इन्द्रियों के साथ रहा करता है। फलतः सूत्र के ये दोनों पद आकाश महाभूत से पहले की उस कारण-कार्य परम्परा को प्रस्तुत करते हैं, जो मूलउपादानकारणतत्त्व तथा महाभूत आकाश के मध्य में रहती है। शिष्य की जिज्ञासा यह है, कि आचार्य ने महाभूतों के उत्पत्ति-प्रलयक्रम का विचार तो किया, पर भूतों से पहले के कारण-कार्य परम्परागत तत्त्वों के उत्पत्ति-प्रलयक्रम का विचार नहीं किया। उसे छोड़ क्यों दिया?

आचार्य ने समाधान करते हुए कहा, पांच महाभूतों के उत्पत्ति-प्रलयक्रम और उनसे पहले के कारण-कार्यपरम्परागत तत्त्वों के उत्पत्ति-प्रलयक्रम में कोई भेद नहीं है, विरोध नहीं है। गतसूत्र [२।३।१४] द्वारा आचार्य ने कारण-कार्यपरम्परागत तत्त्वों के उत्पत्ति-प्रलयक्रम के विषय में एक सिद्धान्त स्थापित किया–उत्पत्ति के समय कारण से कार्य प्रादुर्भूत होता और प्रलयदशा में अपने कारण में लीन होजाता है; अर्थात् कार्य अवस्था पूरी होने पर कारणतत्त्व पुनः अपने रूप में अवस्थित होजाते हैं। यह सिद्धान्त समानरूप से समस्त कारण-कार्यपरम्परा में लागू होता है, पांच महाभूतों में और उनके पहले के कारण-कार्य तत्त्वों में भी। इसलिये इस विषय की जो व्यवस्था पांच महाभूतों को लक्ष्यकर कह दी गई है, वही उनसे पहले के कारण-कार्यतत्त्वों में समझनी चाहिये; क्योंकि इस विषय में वहां कोई विशेषता नहीं है।

यह कहा जासकता है, कि इस विषय का विचार उन्हीं तत्त्वों को लक्ष्यकर क्यों नहीं किया गया, सृष्टि की सबसे अन्तिम रचना–महाभूतों को लक्ष्यकर क्यों प्रस्तुत किया गया? इसके समाधान का संकेत गतसूत्र [२।३।१२] की व्याख्या में निर्दिष्ट है। महाभूत सीधे जीवन के अधिकाधिक प्रत्यक्ष अनुभव में आते हैं। स्थूल प्रत्यक्षतत्त्व के आधार पर किसी सिद्धान्त को सरलता से समझा-समझाया जासकता है। समान विषय में उस सिद्धान्त का अतीन्द्रिय पदार्थों के लिये अतिदेश होजाता है। इसीके अनु-

सार सूत्रकार ने पांच महाभूतों को लक्ष्यकर उनके उत्पत्ति-प्रलयक्रम को समझाया है। उनसे पहले के अतीन्द्रिय तत्त्वों के विषय में कह दिया, कि महाभूतों के समान उनके उत्पत्ति-प्रलयक्रम को समझ लेना चाहिये। महाभूतों की उत्पत्ति आदि के विषय में श्रुतियों का जो आपाततः विरोध प्रतीत होता था, उसका भी उक्त विचार से समाधान होगया। महाभूतों से पहले के कारण-कार्य तत्त्वों की उत्पत्ति आदि के विषय में कोई ऐसा श्रुतिगत विरोध प्रतीत नहीं होता; इसलिये उनका पृथक् विचार अनपेक्षित है।

मुण्डक उपनिषद् [२।१।३] में इस भावना से उन तत्त्वों का संकेत उपलब्ध होता है–'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' उस अक्षर [२।१।१ में वर्णित] उपादानतत्त्व से प्राण मन सब इन्द्रियां आकाश वायु अग्नि जल पृथिवी उत्पन्न होते हैं। उपनिषद्वाक्य में 'प्राण' पद महत्तत्त्व का बोधक होता हुआ अहंकार का उपलक्षण है। मूलउपादानतत्त्व से पहले महत्तत्त्व फिर अहंकार उत्पन्न होता है; तब मन और सब इन्द्रियां। आकाश आदि पद भूतों की समस्त अवस्थाओं को प्रकट करते हैं। भूतों के कारण तन्मात्र, सूक्ष्मभूत और स्थूल-भूत सबका ग्रहण इन पदों से होजाता है। इसके अनुसार मूलउपादानकारण से कार्य-प्रादुर्भाव का प्रारम्भ होने पर महत्तत्त्व से लेकर स्थूलपृथिवीपर्यन्त समस्त कारण–कार्य-परम्परा के तत्त्वों की उत्पत्ति के क्रम का स्पष्टीकरण होजाता है, जो इसप्रकार है—



उत्पत्तिक्रम से विपरीत प्रलयक्रम है, जिसका गतसूत्र [२।३।१४] में उप-पादन किया गया। इस सब विषय का संकेत प्रश्न उपनिषद् [४।८] में उपलब्ध होता है। वहां पांच स्थूलभूत, पांच सूक्ष्मभूत, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय तथा दसों इन्द्रियों के ग्राह्य विषय और मन अहंकार बुद्धि चित्त इन अन्तःकरणों एवं इनकी वृत्तियों का स्पष्ट उल्लेख है। इनके आगे तेज तथा प्राण का एवं उनके व्यापार का उल्लेख है। इससे पूर्व की सातवीं कण्डिका में बताया है, कि वह सब परमात्मा में संप्रतिष्ठित होता है। उस 'सर्व' की व्याख्या आठवीं कण्डिका में प्रस्तुत कीगई है। इसमें स्थूल पृथिवी से

लेकर मूलउपादानतत्त्वपर्यन्त समस्त कार्यकारण का निर्देश है।[1] सूत्रकार ने प्रस्तुत प्रकरण में स्थूलभूतों के उत्पत्तिक्रम का उपपादन कर समस्त कारण-कार्यपरम्परा को समझने का दिशानिर्देश कर दिया है ॥१५॥

शिष्य ने जिज्ञासा की, प्राकृत तत्त्वों के उत्पत्ति-प्रलय आदि का विचार किया गया। लोक में प्राणियों का जन्म-मरणरूप उत्पत्ति व प्रलय देखा जाता है। जब कहा जाता है, कि देवदत्त के घर बालक उत्पन्न हुआ, अथवा देवदत्त मर गया है; तब क्या प्राकृत देहादि के समान वहां विद्यमान चेतन जीवात्मतत्त्व को भी उत्पन्न व प्रलीन हुआ समझना चाहिये ? यदि हां, तो उसके कारणतत्त्व क्या हैं ? यदि नहीं, तो ऐसा व्यवहार क्यों ? आचार्य सूत्रकार समाधान करता है—

चराचरव्यपाश्रयस्तु तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥१६॥

[चराचरव्यपाश्रयः] चर और अचर (देह) के सहारे [तु] तो [तद्व्यपदेशः] उनका (–जन्म-मरण का) कथन [भाक्तः] गौण है [तद्भावभावित्वात्] देह के होने पर (वैसा कथन) होने के कारण। जन्म-मरण का कथन चर और अचर देहों के सहारे होता है, आत्मा में वैसा कथन गौण है, क्योंकि आत्मा के लिये ऐसा व्यवहार देह के होने पर ही होता है।

लोक में प्राणी के जन्म-मरण का व्यवहार जीवात्मा के विषय में मुख्य है अथवा गौण ? यही जिज्ञासा का तात्पर्य है। साधारण लौकिक व्यवहार के अनुसार यही प्रतीत होता है, कि जीवात्मा के विषय में इसे मुख्य समझना चाहिये। पहली बात यह है, कि प्राणी का जन्म और मरण प्रत्यक्ष देखा जाता है, तब उसमें सन्देह का अवसर कहां ? इसके अतिरिक्त शास्त्र में मानव के जातकर्म आदि संस्कारों का विधान है। ये संस्कार आत्मा के होते हैं, यदि आत्मा उत्पन्न आदि न होता हो, तो उसके जातकर्म आदि संस्कारों का विधान क्यों किया जाय ? इसलिये लोकव्यवहार आदि से प्रतीत होता है, कि आत्मा के जन्म-मरणरूप उत्पत्ति व प्रलय मुख्य माने जाने चाहियें।

आचार्य समाधान करता है, चर और अचर [स्थावर] दो प्रकार के देह जीवात्मा के देखे जाते हैं, जन्म-मरण का आश्रय केवल ये देह होते हैं। इनके जन्म-मरण मुख्य हैं। आत्मा में जन्म-मरण का व्यपदेश–कथन भाक्त है, गौण है। कारण यह है, कि यह व्यपदेश देह के होने पर होता है। जन्म और मरण प्रत्यक्ष से केवल देह का देखा जाता है, आत्मा का नहीं, वह बाह्येन्द्रियों से अप्रत्यक्ष है। जातकर्म आदि संस्कार भी देह के जन्मादि की अपेक्षा से किये जाते हैं, जीवात्मा के जन्म की अपेक्षा से नहीं। कारण यह

---

१. इस विषय को अधिक विस्तार से समझने के लिये देखें हमारी रचना–'सांख्य-सिद्धान्त', पृष्ठ २६०–२६६।

है, कि जीवात्मा न कभी जन्मता है न मरता है। जीवात्मा में जन्म-मरण का व्यवहार देह के संयोग-वियोग के आधार पर होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।३।८] में कहा–'स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः' जब यह जीवात्मपुरुष शरीर से अभिसम्पन्न–युक्त होता है, तब जन्मा हुआ [जायमानः] कहा जाता है, और जब शरीर से उत्क्रमण कर जाता है, तब इसे मरा कहते हैं; वस्तुतः यह न कभी जन्मता है न मरता है। छान्दोग्य [६।११।३] में बताया–'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' जीव से रहित यह शरीर मरता है, जीव नहीं मरता। जब जीव जन्मता मरता नहीं, तो उसके कारणों का प्रश्न ही नहीं उठता; लोकव्यवहार मोहजनित भ्रान्ति पर आधारित है, यह निश्चित समझना चाहिये ॥१६॥

इस तथ्य को पुष्ट करने की भावना से आचार्य सूत्रकार ने कहा—

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥१७॥

[न] नहीं [आत्मा] जीवात्म-पुरुष (उत्पन्न आदि होता), [अश्रुतेः] श्रुति न होने से [नित्यत्वात्] नित्य होने से [च] तथा [ताभ्यः] उनसे–श्रुतियों से। जीवात्मा उत्पन्न आदि नहीं होता, क्योंकि उसके जन्म-मरणविषयक श्रुति उपलब्ध नहीं। तथा श्रुतियों से उसके नित्य होने का पता लगता है।

जैसे आकाश आदि तत्त्वों के उत्पत्ति-प्रलय के विषय में अनेक शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध हैं, ऐसे जीवात्मा के जन्मादि के विषय में कोई शब्दप्रमाण उपलब्ध नहीं है। प्रत्युत श्रुतियां जीवात्मा के नित्यत्व का प्रतिपादन करती हैं–'न जायते म्रियते वा विपश्चित्‥‥अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे' [कठ० १।२।१८]। यह चेतन आत्मा न जन्मता है न मरता है, यह अजन्मा नित्य सदा रहने वाला पुराण पुरुष है, शरीर के नाश होने पर यह मारा नहीं जाता। छान्दोग्य [६।११।३] में कहा–'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' जीव से रहित हुआ यह शरीर मरता है, जीव नहीं मरता। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।५।१४] में बताया–'अविनाशी वा अरे अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा' याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा–अरे यह आत्मा अविनाशी है, इसका उच्छेद कभी नहीं होता। इसप्रकार जीवात्मा का नित्यत्व शब्दप्रमाण के आधार पर निश्चित होता है ॥१७॥

जीवात्मा के उत्पाद-विनाश का निषेध कर सूत्रकार उसके स्वरूप का प्रतिपादन करता है—

ज्ञोऽत एव ॥१८॥

[ज्ञः] ज्ञाता–चेतनस्वरूप है आत्मा, [अतः, एव] इस कारण से ही–नित्य आदि होने से ही। आत्मा नित्य होने तथा श्रुतिद्वारा वैसा प्रतिपादित होने से ज्ञानस्वरूप है।

गतसूत्रों से जीवात्मा के उत्पाद-विनाश का प्रतिषेध कर उसका नित्य होना स्थापित किया है। नित्य होने के आधार पर प्रस्तुत सूत्र से उसे चेतनस्वरूप सिद्ध किया। सूत्रकार का इसमें यह गंभीर आशय है, कि चेतनतत्त्व नित्य सदा एकस्वरूप रहता है, उसमें किसीप्रकार के परिणाम की संभावना नहीं। अचेतनतत्त्व प्रकृति यद्यपि नित्य अनादि तत्त्व है, पर वह परिणामी है, यही कारण है, कि वह नित्य होने पर भी चेतन नहीं है। नित्य होने के आधार पर जीवात्मा को चेतनस्वरूप सिद्ध किया जाना यह स्पष्ट करता है, कि वह परिणाम-धर्म से रहित है। इससे सूत्रकार का आशय स्पष्ट होता है, कि वह चेतनतत्त्व में किसीप्रकार के परिणाम को स्वीकार नहीं करता। ऐसी स्थिति में जिन आचार्यों ने जड़ जगत् को चेतन ब्रह्म का परिणाम समझा है, उनका यह विचार सूत्रकार के आशय से सर्वथा विपरीत है। प्रश्न उपनिषद् [४।९] में द्रष्टा श्रोता आत्मा को ज्ञानस्वरूप–चेतनस्वरूप बताया है–'एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' यह सब इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण करने वाला जीवात्मा-पुरुष चेतनस्वरूप [विज्ञानात्मा] है। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।३।७] में बताया–'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' यह आत्मा कौनसा है, जो यह विज्ञानस्वरूप है, प्राणों के रहते हृदयदेश में अवस्थित जाना जाता है। इसप्रकार के अनेक प्रमाणों से जीवात्मा का चेतनस्वरूप होना सिद्ध होता है ॥१८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, नित्य चेतनस्वरूप परमात्मा सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी स्वीकार किया गया है, क्या चेतनस्वरूप नित्य जीवात्मा भी परमात्मा के समान सर्वव्यापक होता है? इस विषय में क्या निर्णय है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥१९॥

[उत्क्रान्ति-गति-आगतीनाम्] आत्मा की उत्क्रान्ति, गति और आगति की श्रुतियों से आत्मा अणु अथवा परिच्छिन्न है।

अगले [२।३।२१] सूत्र में पूर्वपक्षरूप से आत्मा के 'अणु' होने का निषेध करने के कारण इस सिद्धान्तस्थापनासूत्र में 'अणु' पद का अध्याहार कर लेना चाहिये, उसके साथ 'श्रुतेः' पद का सम्बन्ध होजाता है। इसके अनुसार सूत्र का अर्थ उक्तरूप में निर्दिष्ट किया गया है।

जीवात्मा को सर्वव्यापक मानना युक्त नहीं, क्योंकि उस अवस्था में जीवात्मा के शास्त्रवर्णित उत्क्रान्ति, गति, आगति आदि धर्मों का सामञ्जस्य नहीं रहता। छोटे बड़े शरीरों के अनुसार आत्मा का मध्यमपरिमाण मानने पर उसमें संकोच विकास के आवश्यक होने से अनित्यता दोष की प्राप्ति होगी; अतः जीवात्मा का अणुपरिमाण संभव होसकता है। एक स्थान को छोड़ना अथवा एक स्थान से निकलने का नाम

'उत्क्रान्ति' है। बृहदारण्यक [४।४।२] में कहा–'तेन प्रद्योतेनैव आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' अपने उस चेतनस्वरूप के साथ यह आत्मा निकल जाता है चक्षु से मूर्धा से और शरीर के अन्य भागों से। छान्दोग्य उपनिषद् [६।११।२] में कहा–'अस्य यदेकां शाखां जीवो जहाति, अथ सा शुष्यति, द्वितीयां जहाति, अथ सा शुष्यति···सर्वं जहाति, सर्वः शुष्यति' इस वृक्ष की जिस एक शाखा को जीव छोड़ देता है, वह सूख जाती है, दूसरी को छोड़ देता है दूसरी सूख जाती है, सब वृक्ष को छोड़ देता है, सब वृक्ष सूख जाता है। यह देह तथा देहावयवों से निकलना व उन्हें छोड़ना आत्मा के विभु होने पर संभव नहीं; यह देह से आत्मा की निष्क्रान्ति आत्मा के अणुपरिमाण को सिद्ध करती है।

'गति' का साधारण अर्थ 'जाना' और 'आगति' का 'आना' व कहीं 'प्राप्त होना' है। यह जाना-आना भी सर्वव्यापक आत्मा में संभव नहीं। मुण्डक उपनिषद् [१।२।११] में आया–'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति' आत्मज्ञानी पुरुष निर्दोष होकर सूर्यमार्ग से चले जाते हैं। यहां जीवात्मा की गति का उल्लेख है। कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् [१।२; तथा ३।३] में भी जीवात्मा की गति और उत्क्रान्ति का वर्णन उपलब्ध होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।६] में कहा–'तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' उस लोक से फिर आता है जीवात्मा इस लोक में कर्म करने के लिये। यहां जीवात्मा के परलोक में जाकर वहां से पुनः इस लोक में आने का वर्णन है। यह उत्क्रान्ति एवं जाना-आना अणु जीवात्मा में संभव है, अतः जीवात्मा अणु हो सकता है, विभु नहीं।

अनेक उपनिषत् सन्दर्भों में जीवात्मा को स्पष्ट अणु बतलाया है। मुण्डक उपनिषद् [३।१।६] में कहा–'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश' शुद्ध अन्तःकरण से यह अणु आत्मा जानना चाहिये, जिसके रहने पर पांच प्रकार का प्राण संविष्ट रहता है। अन्यत्र कहा–'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः' [श्वे० ५।६]। एक बाल के अग्रभाग के दस हजारवें हिस्से के समान जीव को समझना चाहिये। यह केवल जीवात्मा को अत्यन्त अणु बतलाने की भावना से कहा गया है, कोई निश्चित नाप नहीं है। इस विषय में कठ उपनिषद् के [२।१।१२, १३ तथा २।३।१७] स्थल द्रष्टव्य हैं ॥१६॥

शिष्य आशंका करता है, शरीर को छोड़ना या वहां से निकलना शरीर के स्वामित्व को छोड़ने से भी संभव है, यह व्यापक आत्मा में भी होसकता है। गति-आगति का वर्णन औपचारिक माना जासकता है। तब आत्मा को अणु क्यों माना जाय? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥२०॥

[स्वात्मना] निज कर्त्तारूप आत्मा के साथ (सम्बद्ध होने से) [च] तो

[उत्तरयोः] अगले दोनों के। अगले दोनों गति-आगति के स्व-आत्मा के साथ सम्बद्ध होने के कारण आत्मा का अणु होना सिद्ध होता है।

उत्क्रान्ति तो व्यापक आत्मा की कथंचित् देह का स्वामित्व छूट जाने से संभव है। भोग–कर्मों का क्षय होजाने पर शरीरनाश होजाने से आत्मा का स्वामित्व उसपर नहीं रहता, पर अगले दोनों गति-आगति का सम्बन्ध तो साक्षात् आत्मा के साथ है; व्यापक आत्मा में गति-आगति संभव नहीं। इस आधार पर जीवात्मा जब अणु सिद्ध होता है, तब उत्क्रान्ति भी मुख्यरूप से आत्मा की संपन्न होजाती है, उसे गौण कल्पना करना व्यर्थ है। गति-आगतिविषयक प्रमाणों का निर्देश गतसूत्र की व्याख्या में कर दिया है। इस विषय में बृहदारण्यक उपनिषद् के स्थल [४।४।१, ३-४] द्रष्टव्य हैं ॥२०॥

शिष्य आशंका करता है, शास्त्रवचन जैसे आत्मा को अणु बताते हैं, ऐसे महान व विभु बताते हैं, तब उसे अणु क्यों माना जाय? आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देश-पूर्वक समाधान किया—

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥२१॥

[न] नहीं [अणुः] अणु आत्मा, [अतच्छ्रुतेः] न अणु (विभु) बतानेवाली श्रुति से [इति, चेत्] यह यदि (कहो, तो ठीक) [न] नहीं, [इतराधिकारात्] अन्य के अधिकार से। आत्मा अणु नहीं है, क्योंकि उसे श्रुति में विभु बताया गया है; यह कहना ठीक नहीं, जहां विभु बताया है, वहां अन्य आत्मा (परमात्मा) का अधिकार–प्रकरण है।

बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।२२] में कहा–'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' जो यह प्राणों से घिरा विज्ञानमय आत्मा है, यह महान व अजन्मा है। मुण्डक उपनिषद् [३।१।९] में कहा–'यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा' जिसके विशुद्ध होजाने पर यह आत्मा विभु जाना जाता है, अर्थात् चित्त शुद्ध होजाने पर आत्मा की विभुता का पता लगजाता है। तब आत्मा को अणु नहीं माना जाना चाहिये।

आचार्य सूत्रकार ने कहा–ऐसा विचार युक्त नहीं है। क्योंकि बृहदारण्यक [४।४।२२] का जो सन्दर्भ आत्मा को महान कहकर उसकी विभुता को सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत किया है, वहां जीवात्मा का प्रसंग न होकर परमात्मा के वर्णन का प्रकरण है। उसीको महान अथवा विभु कहा गया है। यद्यपि 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' में 'प्राणेषु' पद यह सन्देह प्रकट करता है, कि यह वर्णन जीवात्मा का होना चाहिये; पर यहां पूर्वापर के सब चिह्न परब्रह्म के वर्णन को सिद्ध करते हैं। परब्रह्म का साक्षात्कार प्राणी के हृदयदेश में संभव है, इसलिये उक्त पद का प्रयोग यहां हुआ है। यह बात उक्त पद से आगे के 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' सन्दर्भ से प्रकट होजाती है। सत्य शास्त्र एक ही अर्थ को अणु और विभु नहीं कहसकता। परब्रह्म के साक्षात्कार होने की भावना

से उसका प्राणी के हृदयदेश में शयन करना—निवास करना—बताया है। हृदयदेश के मुख्यनिवासी [जीवात्मा] को महान कहना शास्त्रद्वारा शास्त्र का स्वयं विरोध करना है। मुण्डक उपनिषद् [३।१।६] के सन्दर्भ में 'विभवति' क्रियापद का अर्थ 'प्रकाशते' है। इसी सन्दर्भ के आरम्भ में जीवात्मा को अणु बताकर आगे कहा है—चित्त शुद्ध होजाने पर वह आत्मा प्रकाशित होता है, जाना जाता है, अपना साक्षात्कार करलेता है। इसके अनुसार शास्त्र में सर्वत्र जहां आत्मा की विभुता का वर्णन है, वह सब परमात्मा का है, जीवात्मा का नहीं। अतः जीवात्मा के अणुपरिमाण होने में कोई बाधा नहीं समझनी चाहिये ॥२१॥

इसी विषय में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च। २२॥

[स्वशब्द-उन्मानाभ्याम्] अपने शब्द और माप से [च] भी। शास्त्र में आत्मा के लिये साक्षात् स्वशब्द—अणु शब्द का प्रयोग हुआ है, और उसकी सीमित माप बताई है, इन कारणों से भी आत्मा अणु सिद्ध होता है।

गतसूत्र [२।३।१६] की व्याख्या में मुण्डक उपनिषद् [३।१।६] का सन्दर्भ उद्धृत किया—'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' यहां आत्मा का स्पष्ट 'अणु' शब्द से वर्णन है। श्वेताश्वतर उपनिषद् [५।६] में उसकी अति अणु माप को अभिव्यक्त करने के लिये एक सुझाव दिया है, कि एक बाल के अग्रभाग का दस हजारवां हिस्सा जीवात्मा का परिमाण कल्पना किया जासकता है। ये दोनों बात आत्मा के अणुपरिमाण को सिद्ध करती हैं। यह माप का निर्देश जीवात्मा के अतिसूक्ष्म परिमाण का बोध कराता है, किसी नियत माप का निर्देश नहीं है, यद्यपि उसका नियत होना संभव है। इससे इतना निश्चय होजाता है, कि जीवात्मा का परिमाण अणुमात्र है ॥२२॥

शिष्य आशंका करता है, शीत अथवा उष्ण जल में स्नान करने से सर्वाङ्ग में शैत्य तथा ताप का अनुभव होता है, यदि जीवात्मा अणुमात्र परिमाण है, तो शरीर के किसी एकदेश में उसका निवास संभव है। उस अवस्था में सर्वाङ्ग अनुभव नहीं होना चाहिये, यह स्पष्ट विरोध है। आचार्य ने दृष्टान्तद्वारा समाधान प्रस्तुत किया—

अविरोधश्चन्दनवत् ॥२३॥

[अविरोधः] विरोध नहीं [चन्दनवत्] चन्दन के समान। जैसे चन्दन की एक बूंद देह के एकदेश में लगी समस्त देह को आह्लादित करदेती है; वैसे एकदेश में विद्यमान आत्मा समस्त देह को प्रकाशित व संचालित करता है।

सत्यशास्त्रों में सर्वत्र इस तथ्य का उल्लेख हुआ है, कि जीवात्मा का देह में

निवास मस्तिष्कगत हृदयदेश है[1]। समस्त शरीर में फैला हुआ ज्ञानवहा नाड़ियों का जाल उस स्थान से सम्बद्ध रहता है। इन साधनों द्वारा जीवात्मा एकदेश में रहता हुआ देह के प्रत्येक अंग में होनेवाले बाह्यस्पर्श आदि का अनुभव करता है। सर्वाङ्ग में शैत्य आदि के अनुभव का यही आधार है। चन्दन का दृष्टान्त उपस्थित कर सूत्रकार ने यह अभिव्यक्त किया है, कि देह के एक अंग में संपृक्त चन्दनबिन्दु से सर्वाङ्ग में आह्लाद की अनुभूति सब जनों को विदित है, पर इसका आधार है–ज्ञानवहा नाड़ियों का समस्त शरीर में व्याप्त जाल, जिसका केन्द्रीय सम्बन्ध आत्म-निवास के साथ है। चन्दन की बूंद से समस्त देह में आह्लाद की अनुभूति का यही कारण है। इसप्रकार देह के एकदेश में विद्यमान आत्मा सर्वाङ्ग में अनुभूति किया करता है, इसमें कोई विरोध नहीं। फलतः आत्मा के अणुपरिमाण में इससे कोई बाधा नहीं आती ॥२३॥

शिष्य आशंका करता है, चन्दन की स्थिति और है, देह के एकदेश में रहते भी उसका प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है, पर आत्मा की स्थिति तो किसी ने जानी नहीं। संभव है, सर्वाङ्ग में शैत्य आदि की अनुभूति आत्मा के व्यापक होने से होती हो? आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान प्रस्तुत किया—

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद् हृदि हि ॥२४॥

[अवस्थितिवैशेष्यात्] स्थिति की विशेषता से [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो वह ठीक) [न] नहीं, [अभ्युपगमात्] स्वीकार करने से [हृदि] हृदयदेश में [हि] निस्सन्देह। देह में स्थानविशेष पर लगा चन्दन स्पष्ट दीखता है, अदृश्य आत्मा के लिये यह दृष्टान्त विषम है, ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि शास्त्र द्वारा हृदय में आत्मा की स्थिति को निश्चय से स्वीकार किया गया है।

देह के किसी एकदेश में चन्दन की स्थिति की विशेषता प्रत्यक्ष से जानी जाती है। पर दूसरी ओर आत्मा को समग्रशरीरवर्त्ती शैत्य आदि का जो ज्ञान होता है, यह तो प्रत्यक्ष है, परन्तु आत्मा का एकदेशवर्त्ती होना प्रत्यक्ष नहीं है। इसलिये पूर्वोक्त चन्दन का दृष्टान्त विषम है। देह के किसी एकदेश में आत्मा की स्थिति का पूरा प्रमाण मिले बिना ऐसे विषम दृष्टान्त के द्वारा यह निर्णय नहीं किया जासकता, कि आत्मा को समस्त शरीरगत शैत्य आदि की अनुभूति चन्दन की समानता से एकदेश में स्थित होने पर होती है, अथवा विभु होने से सकल शरीर में आत्मा के व्याप्त होने पर होती है?

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया–जिन साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने आत्मा का प्रत्यक्ष किया है, उन्होंने आत्मा को अणु और मस्तिष्कगत हृदयदेश में स्थित बताया है। जीवात्मा का यह निवास शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर निश्चित है। मुण्डक उपनिषद्

१. इसके विशिष्ट विवरण के लिये देखें–'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ ११८–१२१॥

[३।१।६] में स्पष्टरूप से आत्मा को अणु बताया है–'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' यह अणु आत्मा शुद्ध अन्तःकरणद्वारा जानने योग्य है। प्रश्न उपनिषद् [३।६] में कहा– 'हृदि ह्येष आत्मा' निश्चितरूप से यह आत्मा हृदयदेश में निवास करता है। छान्दोग्य उपनिषद् [८।३।३] में बताया–'स वा एष आत्मा हृदि' निश्चय से वह यह आत्मा हृदयदेश में रहता है। इसीप्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् [४।३।७] में कहा–'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' आत्मा कौन है, जो यह ज्ञाता प्राणों [इन्द्रियों] के बीच घिरा हुआ हृदयदेश के अन्दर चेतनस्वरूप पुरुष है। उपनिषद् के इस समस्त प्रसंग में जीवात्मा के अणु होने और हृदयदेश में निवास के उपोद्बलक अनेक उल्लेख हैं। आत्मा का हृदयदेश में निवास निश्चित होने पर पूर्वसूत्र में कथित चन्दन दृष्टान्त में कोई वैषम्य नहीं है। दृष्टान्त की विशेषता का निर्देश गतसूत्र की व्याख्या में कर दिया है। ज्ञानवहा नाड़ियों का जाल इसप्रकार की अनुभूति में साधन होता है, दृष्टान्त का तात्पर्य इस रहस्य को प्रकट करना है। उस अर्थ की पुष्टि प्रस्तुत सूत्र से कीगई है ॥२४॥

शिष्य आशंका करता है, चन्दन सावयव पदार्थ है, उसके सूक्ष्म अंश शरीर के अन्य भागों में संक्रान्त व प्रसर्पित होसकते हैं, तथा समस्त देह में आह्लाद के जनक संभव हैं; पर जीवात्मा तो निरवयव है, उसे अणु मानकर देह के एकदेश में अवस्थित होने से शरीरव्यापी शैत्य आदि का अनुभव नहीं होना चाहिये। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

गुणाद्वा लोकवत् ॥२५॥

[गुणात्] गुण से [वा] अथवा [लोकवत्] लोक में जैसे। जैसे लोक में राजा गुणभूत सचिव के द्वारा अपने समस्त राष्ट्र में कार्यकर्त्ता रहता है, ऐसे जीवात्मा देह में एकत्र स्थित हुआ गुणभूत बुद्धि-साधन के सहयोग से अनुभूति आदि का कर्त्ता रहता है।

सूत्रकार का आशय है, व्याप्त भी जीवात्मा बाह्य अर्थों का अनुभव स्वतः नहीं करता, इन्द्रिय आदि करणों के द्वारा करता है। ऐसी स्थिति में उसे व्याप्त मानना निरर्थक है। एकदेश में स्थित आत्मा बुद्धि आदि करणों द्वारा बाह्य अर्थों का ग्रहण करता है। शरीर की रचना इस प्रक्रिया में पूर्ण सहायक है। समस्तशरीर में ज्ञानवहा नाड़ियों का जाल अतिसूक्ष्मरूप में व्याप्त है, जिसका पूरा सम्बन्ध करणों के केन्द्र के साथ रहता है। यह केन्द्र मस्तिष्क में उस जगह है, जहां आत्मा का निवास है। इन साधनों द्वारा एकदेशस्थित आत्मा देहव्यापी अनुभव करलेता है। पूर्वोक्त चन्दन-दृष्टान्त में इसी भाव को अभिव्यक्त किया है। 'लोकवत्' दृष्टान्त से यह अर्थ स्पष्ट किया है। लोक में एकत्र स्थित राजा जैसे सचिव आदि सहायकों द्वारा समस्त राष्ट्र की व्यवस्था व पूर्ण जानकारी के साथ उसका शासन करता है, अणु आत्मा की देह में स्थिति समझने

के लिये यह दृष्टान्त उपयोगी है। फलतः आत्मा को अणु मानने में कोई बाधा नहीं समझनी चाहिये।

कतिपय व्याख्याकारों ने सूत्र का पाठ 'गुणाद्वाऽऽलोकवत्' माना है। इस पाठ में केवल दृष्टान्त का भेद है। उनका तात्पर्य है, जैसे एकत्र स्थित सूर्य रश्मि आदि साधनों द्वारा संसार को आलोकित करता है, ऐसे देह में एकत्र स्थित जीवात्मा अपने साधनों–करणों द्वारा समस्त देह को सक्रिय व सचेत बनाये रखता है। इसी आशय को गीता [१३।३३] में कहा है–'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत' श्रीकृष्ण अर्जुन से कहता है–हे भरतकुल में उत्पन्न अर्जुन! जैसे एक सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है; वैसे ही क्षेत्रज्ञ-जीवात्मा सब क्षेत्र को अर्थात् शरीर को प्रकाशित करता है। इससे जीवात्मा का देह के एकदेश में स्थित होने के कारण अणु होना सिद्ध होता है। अणु जीवात्मा को शरीरव्यापी अनुभव के लिये सावयव होना अपेक्षित नहीं ॥२५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, अनुभूति चेतन का धर्म अथवा स्वरूप है। चेतन अणु आत्मा मस्तिष्कगत हृदयदेश में रहता है, पर पैर में कांटा लगने पर अनुभूति यही होती है, कि पैर में कांटा लगा है, तब आत्मा का यह अनुभूतिरूप चैतन्य धर्म आत्मा को छोड़कर कैसे रहजाता है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

व्यतिरेको गन्धवत् ॥२६॥

[व्यतिरेकः] अलग होना [गन्धवत्] गन्ध के समान। जैसे फूल को छोड़कर दूर गन्ध का ग्रहण प्रतीत होता है, ऐसे ही कण्टकवेध की अनुभूति पैर में प्रतीत होती समझनी चाहिये।

जिज्ञासु यह समझता है, कि कण्टकवेध की अनुभूति का स्थान पैर है; चेतन अणु आत्मा का निवासस्थान जब हृदयदेश है, तो वैसी अनुभूति का होना संभव नहीं। पर ऐसी प्रतीति होती है, इससे परिणाम निकलता है, कि या तो चैतन्य आत्मा को छोड़कर उससे अलग भी रहता है, या आत्मा अणु नहीं होना चाहिये। सूत्रकार के समाधान का आशय है, कि साधारणरूप से यह प्रतीति होती है, कि गन्ध का अनुभव फूल को छोड़कर दूरदेश में होता है। पर ऐसा समझना ठीक नहीं है, वायु के सहयोग से फूल के सूक्ष्म द्रव्यांश फूल से विच्छिन्न होकर देशान्तर में जाते हैं, उन्हींके सहयोग से गन्ध की अनुभूति हुआ करती है। यद्यपि वह देश फूल के स्थान से भिन्न है, पर वहां फूल के सूक्ष्म द्रव्यांश गन्धानुभूतिकाल में विद्यमान हैं, इसलिये यह नहीं समझना चाहिये कि गन्धानुभव फूल को छोड़कर होता है, यद्यपि साधारणरूप से समझा यही जाता है। उत्कट गन्धवाले द्रव्यों में से सूक्ष्म द्रव्यांश वायु के साथ प्रवाहित होते रहते हैं, यह कर्पूर आदि द्रव्यों के सुरक्षित रक्खे जाने पर भी कालान्तर में समाप्त होजाने से स्पष्ट होता

है। तीव्र गन्धवाले पुष्प इसीकारण जल्दी कुम्हला जाते हैं, जो गन्धहीन होते हैं, वे अधिक समय टिकते हैं। इसे एक ईश्वरीय व्यवस्था ही कहाजासकता है, कि इसप्रकार सुगन्ध को प्रसारित कर वायु को प्राणियों के अनुकूल बनाया जाय। इसलिये जैसे गन्ध उस द्रव्य अथवा द्रव्यांश से अतिरिक्त न होता हुआ भी वैसा प्रतीत होता है; ऐसे ही हृदयदेश में बैठा आत्मा पैर में लगे कांटे की अनुभूति अपने साधनों द्वारा वहीं बैठा हुआ करता है। अनुभूति का स्थान हृदयदेश है, पैर नहीं, पैर केवल कण्टकवेध का स्थान है। साधारणरूप से यह समझलिया जाता है, कि यह अनुभूति कदाचित् पैर में होरही है। दुःख या दर्द का उस जगह प्रतीत होना आत्मा के सर्वशरीरव्यापी साधनों पर अवलम्बित है। गन्ध-दृष्टान्त का इतना तात्पर्य है, कि जैसे गन्ध पुष्प अथवा उसके द्रव्यांशों को छोड़कर नहीं रहता, पर ऐसा समझलिया जाता है, ऐसे ही चैतन्य कभी आत्मतत्त्व छोकड़कर नहीं रहता, पर शरीर में जाल के समान सर्वत्र व्याप्त उसके साधनों के रूप में उसे अपने निवासस्थान से अतिरिक्त समझलिया जाता है। दुःख या दर्द वह विकार है, जो पैर में है, उसका स्थान वहीं है, वह अनुभूति का विषय है, स्वयं अनुभूति नहीं। अनुभूति का स्थान हृदयदेश है, जहां चेतन आत्मा बैठा है। अतः पैर में कांटा लगने की अनुभूति के लिये आत्मा का वहां विद्यमान होना आवश्यक नहीं। तब आत्मा को छोड़कर चैतन्य के अलग होने का प्रश्न ही नहीं उठता। फलतः आत्मा के अणु होने में कोई बाधा नहीं समझनी चाहिये ॥२६॥

आचार्य सूत्रकार ने इस अर्थ की पुष्टि के लिये उपयुक्त श्रुति-सन्दर्भ की ओर संकेत किया—

तथा च दर्शयति ॥२७॥

[तथा] वैसे [च] ही [दर्शयति] दिखलाता है। श्रुति-सन्दर्भ उक्त अर्थ को प्रकट करता है।

हृदयदेशस्थित आत्मा समस्तशरीर में अनुभूति का जनक होता है, इस अर्थ को छान्दोग्य [८।८।१] के सन्दर्भद्वारा इसप्रकार प्रकट किया है—'सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आ लोमभ्य आ नखेभ्यः प्रतिरूपम्' इन्द्र और विरोचन जलपात्रों में अपनी आकृति देखते हुए प्रजापतिद्वारा पूछे जाने पर कह रहे हैं—हे भगवन्! इस सब लोम-नखपर्यन्त आत्मा को हम देख रहे हैं। लोम-नखपर्यन्त समस्तशरीर में आत्मा की भावना को उपनिषत्कारद्वारा प्रकट किये जाने का तात्पर्य इतने में है, कि आत्मा शरीर के किसी अंग में होनेवाले विकार आदि को अपने साधनों द्वारा ग्रहण करने में सक्षम रहता है। यद्यपि इन्द्र-विरोचन ने जल में अपने स्थूलशरीर के प्रतिबिम्ब को देखा है।

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् [३।६] के एक सन्दर्भ में आत्मा के—समस्तशरीर रूप में—ज्ञानसाधनों का उल्लेख हुआ है। उस सन्दर्भ का एक अंश है—'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य

शरीरेण सुखदुःखे आप्नोति' अपने ज्ञानसाधनों के सहित शरीर में आरूढ़ होकर शरीर से सुख-दुःख को प्राप्त करता है। इस सब विवेचन से स्पष्ट होता है, कि देह के एकदेश में रहता आत्मा अपने साधनों द्वारा शरीरव्यापी अनुभव करने में समर्थ होता है ॥२७॥

शिष्य आशंका करता है, जब समस्त ग्रहण बुद्धि आदि साधनों द्वारा होता है, तो उन्हीं को आत्मा क्यों न मानलिया जाय ? उनसे अतिरिक्त आत्मा का मानना व्यर्थ है। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

पृथगुपदेशात् ॥२८॥

[पृथक्] अलग [उपदेशात्] उपदेश से। ज्ञाता आत्मा और ज्ञान के साधन बुद्धि आदि के पृथक् उपदेश से बुद्धि आदि साधन को आत्मा कहना अप्रामाणिक है।

अध्यात्मशास्त्रों में चेतन कर्त्ता भोक्ता आत्मा का अचेतन बुद्धि आदि साधनों से पृथक्रूप में उपदेश हुआ है। गतसूत्र की व्याख्या में कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् [३।६] का वाक्य उद्धृत किया गया है। उससे स्पष्ट है, शरीर में समारूढ़ होनेवाला कर्त्ता भोक्ता चेतन आत्मा पृथक् है, और ज्ञान के साधन अचेतन बुद्धि आदि का निर्देश अप्रधानरूप से तृतीया विभक्तिद्वारा हुआ है। इस कारण बुद्धि आदि अचेतन साधनों को चेतन आत्मा की जगह नहीं माना जासकता।

कठ उपनिषद् [१।३।३-४] में प्रकारान्तर से इन तत्त्वों का पृथक् उपदेश किया है—'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥' यमाचार्य नचिकेता को कहता है—यह शरीर एक रथ के समान है, इसमें बैठनेवाला स्वामी रथी आत्मा है। इस रथ में इन्द्रियां घोड़े के समान हैं, मन उनकी रास और बुद्धि सारथि है। मननशील विद्वानों ने इन साधनों से युक्त आत्मा को भोक्ता बताया है। इस रूपक से स्पष्ट होजाता है, कि इस शरीर का स्वामी चेतन आत्मा पृथक् तत्त्व है, तथा उसके साधनरूप अचेतन बुद्धि आदि पृथक् हैं। इनको आत्मा कहना व समझना सर्वथा अप्रामाणिक है। शरीर में आत्मा के भोग-अपवर्ग को संपन्न करने के लिये ये केवल साधन हैं। अणु होता हुआ आत्मा इन शरीरव्यापी साधनों द्वारा शरीर के किसी भाग में होनेवाले विकार व आघात आदि का ग्रहण कर लेता है ॥२८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, उपनिषदों में आत्मा को 'अङ्गुष्ठमात्र' कहा है। अंगूठे की बराबर परिमाणवाला तत्त्व अणुपरिमाण नहीं कहा जाना चाहिये। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥२९॥

[तद्गुणसारत्वात्] स्थान के गुण की प्रधानता से [तु] तो [तद्व्यपदेशः]

उसका–अंगुष्ठमात्रका–कथन है, [प्राज्ञवत्] प्राज्ञ के समान। आत्मा के निवासस्थान के परिमाण की प्रधानता से आत्मा को अंगुष्ठमात्र कहा है; जैसे प्राज्ञ–सर्वव्यापक परमात्मा को हृदयदेश में ग्राह्य होने से अंगुष्ठमात्र कहा है।

जीवात्मा स्वरूप से अणु है, यह सिद्धान्त चालू प्रकरण में अनेक प्रमाणों के आधार पर निश्चित कर दिया गया है। मस्तिष्कगत हृदयदेश–जहां आत्मा और बुद्धि आदि का निवास है–की रचना अंगुष्ठों के मिलित पृष्ठभाग की समानता के कारण उसे अंगुष्ठ नाम दिया जाता है। आत्मा के बुद्धि आदि करण आत्मा को उसी स्थान पर आवेष्टित किये रहते हैं। निवासस्थान की उस रचना के कारण वहां निवास करने वाले आत्मा को अंगुष्ठमात्र कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् [५।८] के एक सन्दर्भ में इस अर्थ को स्पष्ट किया–'अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः। बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः।' जीवात्मा बुद्धि के सहयोग से संकल्प–अहंकारयुक्त हुआ अंगुष्ठमात्र कहा जाता है। परमात्मा से भिन्न जीवात्मा, स्वरूप से सुई की नोंक की अपेक्षा भी अत्यन्त सूक्ष्म है। सूर्य जिसप्रकार किरणों द्वारा प्रकाश व ऊष्मा को अपने मण्डल में पहुंचाता है, ऐसे जीवात्मा का अपने शरीर में ज्ञानवहा नाड़ियों द्वारा सर्वत्र संपर्क रहता है। इन सब परिस्थितियों के अनुसार अणुपरिमाण जीवात्मा को अङ्गुष्ठमात्र औपचारिकरूप में कहा गया है।

जैसे सर्वव्यापक परमात्मा को जीवात्मा के निवास-हृदयदेश में ग्राह्य होने के कारण कठ उपनिषद् [२।१।१२] 'अंगुष्ठमात्र' कहती है–'अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति, ईशानो भूतभव्यस्य' जो समस्त अतीत अनागत चर-अचर विश्व का नियन्ता है, वह अंगुष्ठमात्र परमात्मपुरुष मध्य आत्मा में ठहरा है। सर्वव्यापक परमात्मा को अंगुष्ठमात्र इसीकारण कहा गया है कि जीवात्मा को उसका साक्षात्कार अपने निवास हृदयदेश में होता है, जिसकी रचना अंगुष्ठ के समान है। सूत्रकार का आशय यह अर्थ अभिव्यक्त करने में है, कि जीवात्मा या परमात्मा के लिये 'अंगुष्ठमात्र' पद का प्रयोग औपचारिक है, यद्यपि उनमें एक अणु और दूसरा सर्वव्यापक है॥२९॥

शिष्य आशंका करता है, अणु जीवात्मा बुद्धि आदि करणों के सहयोग तथा अनुकूल शरीररचना द्वारा ज्ञान आदि का सम्पादन कर लेता है, यह ठीक है; परन्तु देहपात होजाने पर देह के समान अनित्य बुद्धि आदि का अस्तित्व तब न रहना चाहिये। ऐसा होने पर अनायास आत्मा का बन्धन से छुटकारा होजायगा, फिर मोक्ष के लिए शास्त्र का उपदेश व्यर्थ होगा? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥३०॥

[यावदात्मभावित्वात्] जबतक आत्मा संसारी है तबतक विद्यमान होने से [च] तो [न] नहीं [दोषः] दोष, [तद्दर्शनात्] उसके देखे जाने से। आत्मा के साथ

बुद्धि आदि का संबन्ध संसारदशा में निरन्तर बना रहता है, अतः आत्मसाक्षात्कार के लिये शास्त्र का उपदेश आवश्यक होने से शास्त्र के व्यर्थ होने का दोष नहीं रहता। आत्मसाक्षात्कार होने तक आत्मा के साथ बुद्धि आदि के सम्बन्ध का निर्देश शास्त्र में देखा जाता है।

शिष्य की जिज्ञासा का आशय है, अणु आत्मा को विषयज्ञान के साधन उसे बन्ध में डाले रखते हैं। उनसे छूट जाना मोक्ष है। उसके उपायों का वर्णन करने के लिये शास्त्र का प्रवचन किया गया। प्रस्तुत शास्त्र का यही लक्ष्य है। पर देह एवं बुद्धि आदि करण सब अनित्य हैं। देह का पात होने पर बुद्धि आदि करणों का भी नाश होजाना चाहिये, तब स्वतः आत्मा इनसे छुटकारा पाजायेगा, शास्त्र का प्रवचन निरर्थक है। जीवात्मा का उक्त स्वरूप मानने में यह दोष प्रतीत होता है।

आचार्य ने समाधान किया, देहपात के साथ बुद्धि आदि करणों का विनाश नहीं होता। जीवात्मा इनसे परिवेष्टित रहता हुआ एक शरीर को छोड़कर कर्मानुसार शरीरान्तर को ग्रहण करता है। इसप्रकार जीवात्मा अपनी संसारी अवस्था में निरन्तर बुद्धि आदि करणों से परिवेष्टित बना रहता है। उसकी संसारी अवस्था उस समय तक है, जबतक उसे स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होजाता। आत्मा के संसारी अवस्था में होने का प्रयोजन उसके भोग और अपवर्ग को निष्पन्न करना है। योगदर्शन [२।१८] में बताया—'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' यह जगत् जीवात्मा के भोग और अपवर्ग के लिये है। भोग के लिये शरीर और बुद्धि आदि करण अपेक्षित हैं। अपवर्ग का स्वरूप है—विवेकज्ञानपूर्वक ब्रह्म का साक्षात्कार। इसके लिये यम नियम आदि के पालनद्वारा समाधिपर्यन्त अवस्था के प्राप्त करने में समस्त प्रयास देह तथा बुद्धि आदि करणों की पूर्णरूप से अपेक्षा रखते हैं। इसलिये जबतक जीवात्मा ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर लेता, बुद्धि आदि का इसके साथ सम्बन्ध निरन्तर बना रहता है। उन उपायों की जानकारी के लिये शास्त्रों का प्रवचन आवश्यक है, इनके व्यर्थ होने का दोष असंगत है।

आत्मा की संसारी अवस्था में बुद्धि आदि करणों का उसके साथ सम्बन्ध निरन्तर बना रहता है, इसके निर्देश शास्त्र में उपलब्ध होते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।३।७] में बताया—'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः, स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव' जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा—आत्मा कौनसा है? याज्ञवल्क्य ने कहा—जो यह विज्ञानमय—प्राणों की विद्यमानता में—हृदय के अन्दर चेतन पुरुष है, वह आत्मा है, वह बुद्धि आदि करणों के सहित रहता हुआ दोनों लोकों [इस लोक और परलोक] में अनुसञ्चरण करता है। स्वकृत शुभाशुभ कर्मों का चिन्तन जैसा करता हुआ तथा अत्यर्थ अभिलाषा जैसी करता हुआ संचरण करता है। उपनिषद् के इस सन्दर्भ में 'विज्ञान' पद का अर्थ 'बुद्धि' है। समस्त करणों में प्रधान होने से यह अन्य सबका उपलक्षण है। अन्यत्र उपनिषद् [बृ० ४।४।५]

में अन्य करणों के साथ इसका उल्लेख है–'विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः' इत्यादि। ये सन्दर्भ जीवात्मा का वर्णन करते हैं, यह बात 'विज्ञानमयः, प्राणेषु हृद्यन्तः, उभौ लोकावनुसञ्चरति, ध्यायतीव, लेलायतीव' इत्यादि पदों से स्पष्ट है। यह भी स्पष्ट है, कि आत्मा की संसारी अवस्था का यह वर्णन है। सन्दर्भ में जाग्रत आदि का निर्देश इस तथ्य को स्पष्ट करता है–'स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि' वह निश्चय से स्वप्न एवं सुषुप्ति दशा में प्राप्त होकर इस जाग्रत लोक को लांघ जाता है, और दुःखों की प्रतीतियों को। यह जीवात्मा की संसारी अवस्था है। इसमें उसे बुद्धि आदि करणों से युक्त–संवेष्टित बताया है। यह क्रम आत्मसाक्षात्कार होने तक बराबर चालू रहता है। देहपात होने पर बुद्धि आदि करणों का संपर्क आत्मा के साथ बना रहता है, तब देहपात के साथ इनके नाश की कल्पना कर अनायास मोक्ष-लाभ होने की आशंका नहीं कीजानी चाहिये ॥३०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या जीवात्मा के साथ बुद्धि आदि का सम्पर्क मोक्ष अवस्था में माना जाना चाहिये ? शास्त्र बताता है कि वहां जीवात्मा ब्रह्मानन्द की अनुभूति किया करता है, तब उसके लिये बुद्धि आदि करणों का सम्पर्क अपेक्षित होगा ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥३१॥

[पुंस्त्वादिवत्] पुंस्त्व आदि की तरह [तु] तो [अस्य] इस [सतः] विद्यमान हुए का [अभिव्यक्तियोगात्] अभिव्यक्ति के साथ सम्बन्ध होने से। योगसमाधिद्वारा आत्मा के विद्यमान सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होजाने से मोक्ष में उस आत्मस्वभाव सामर्थ्य से ब्रह्मानन्द की अनुभूति होती है, पुंस्त्व आदि के समान।

लोक में देखा जाता है, कि पुंस्त्व आदि धर्म विद्यमान होते हुए बाल्य आदि काल में अनभिव्यक्त–अविद्यमान जैसे रहते हैं, यौवन आने पर अभिव्यक्त होजाते हैं। ऐसे ही जीवात्मा का स्वभावसामर्थ्य संसारी दशा में अनभिव्यक्त रहता है, तब आत्मा को प्रत्येक कार्य के लिये बुद्धि आदि करणों के सहयोग की अपेक्षा रहती है। योगसमाधि से आत्मसाक्षात्कार होजाने पर आत्मा का वह सत्यसंकल्प स्वभावसामर्थ्य अभिव्यक्त होजाता है, उसीके द्वारा मोक्ष अवस्था में आत्मा ब्रह्मानन्द का अनुभव किया करता है, उस दशा में प्राकृतिक बुद्धि आदि करणों के सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती। मुक्त आत्मा उस स्वाभाविक सत्यसंकल्प सामर्थ्य से ब्रह्मानन्द को भोगलेता है। शतपथ ब्राह्मण [१४।४।२।१७] में इसी आशय को स्पष्ट किया–'प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति, वदन् वाक्, पश्यँश्चक्षुः, शृण्वञ्छ्रोत्रम्, मन्वानो मनस्, तस्यैतानि कर्मनामानि' स्वशक्ति से जीवात्मा मोक्ष में जब चाहता है प्राणादिरूप होजाता है, उस सामर्थ्य से आनन्दानुभूति किया करता है। इससे सिद्ध होता है, कि मोक्ष अवस्था में आत्मा के साथ बुद्धि आदि प्राकृतिक

करणों का सहयोग नहीं रहता, वह केवल संसारी अवस्था में रहता है। तब अणु जीवात्मा शरीर के एकदेश में रहता हुआ बुद्धि आदि करणों के सहयोग एवं शरीर की अनुकूल रचना के अनुसार समग्रशरीरवर्त्ती वृत्तान्तों को जानता रहता है। इस समस्त प्रसंग से जीवात्मा का अणुपरिमाण होना स्पष्ट होता है ॥३१॥

जीवात्मा के अणुपरिमाण प्रकरण का निगमन करते हुए सूत्रकार ने कहा—

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंगोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ॥३२॥

[नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंगः] नित्य उपलब्धि अथवा नित्य अनुपलब्धि का प्रसंग [अन्यतरनियमः] इन दोनों में से एक का नियम [वा] अथवा [अन्यथा] नहीं तो। अन्यथा–यदि आत्मा को अणु न माना जाय, तथा अणु मानकर बुद्धि आदि करणों का सहयोग स्वीकार न किया जाय, तो ज्ञान के सदा होने या सर्वथा न होने की आपत्ति होगी, या इन दोनों में से किसी एक के नियम की प्रसक्ति होगी।

जीवात्मा के अणुपरिमाण को पुष्ट करता हुआ आचार्य सूत्रकार प्रकरण के उपसंहार के बहाने तर्क प्रस्तुत करता है, यदि जीवात्मा को अणु न माना जाय, तो वह परिमाण कहीं मध्य में न रुककर विभु मानना होगा। विभु आत्मा का समस्त इन्द्रियों के साथ सदा सम्बन्ध रहने से प्रत्येक ज्ञान निरन्तर होता रहना चाहिये। यदि सम्बन्ध रहने पर भी ज्ञान नहीं होता, तो ज्ञान कभी न होना चाहिये। पर ये दोनों अवस्था लोकानुभव के विरुद्ध हैं। इसलिये विभु आत्मा का ऐसा स्वभाव नहीं माना जासकता, कि वह उपलब्धि-अनुपलब्धि दोनों का सहनियामक है। यदि इन दोनों में से अन्यतर का नियम माना जाय; अर्थात् कहा जाय, कि आत्मा इन दोनों में से किसी एक का नियामक है, तो उसके अनुसार या तो सदा उपलब्धि होती रहनी चाहिये, या सदा अनुपलब्धि, पर लोक में ऐसा कभी नहीं देखा जाता; उपलब्धि और अनुपलब्धि क्रम से हुआ करती हैं। यह व्यवस्था आत्मा के विभु मानने पर संभव नहीं रहती।

कहा जासकता है, कि मन आदि अन्तःकरण अणु है, उसके आधार पर विषय के साथ सम्बन्ध और असम्बन्ध से उपलब्धि आदि का क्रम नियमित रह सकेगा। यदि ऐसा मानलियाजाय, तो आत्मा के विभु मानने का प्रयोजन क्या रहजाता है। किसी अर्थ को निष्प्रयोजन स्वीकार करना बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं है। पहले आत्मा को विभु मानो, फिर उपलब्धि आदि की व्यवस्था के लिये नियामक अणु मन को मानो; इससे आत्मा को अणु क्यों न मानलिया जाय, जो शास्त्रीय एवं लौकिक समस्त व्यवहारों के अनुकूल है।

आत्मा को अणु मानकर उपलब्धि आदि के लिये यदि बुद्धि आदि करणों का सहयोग स्वीकार नहीं किया जाता, तो भी पूर्वोक्त नित्य उपलब्धि आदि दोष प्रसक्त होते हैं। साधनरहित आत्मा को या तो सदा उपलब्धि होती रहे, या सर्वथा न होनी चाहिये।

यह सब लोकव्यवहार के विरुद्ध है। जीवात्मा के उपलब्धि आदि के साधन बुद्धि आदि करण उसकी संसारी दशा में सदा उससे आवश्यकरूप से संबद्ध रहते हैं। उनके सहयोग से वह अपने भोग और अपवर्ग की निष्पत्ति में समर्थ होता है। इस समस्त विवेचन के अनुसार आत्मा अणुपरिमाण सिद्ध है। अंगुष्ठमात्र आदि कथन उसके निवास की प्राकृतिक रचना के अनुसार औपचारिक हैं। बुद्धि मन एवं चक्षु आदि करणों के सहयोग तथा असहयोग से उपलब्धि-अनुपलब्धि हुआ करते हैं, यह तथ्य शास्त्रद्वारा पूर्णरूप से अनुमोदित है [बृ० १।५।३] ॥३२॥

जीवात्मा के अणुपरिमाण का निश्चय कर आचार्य सूत्रकार प्रसंगप्राप्त उसके कर्तृत्व का उपपादन करता है—

कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ३३

[कर्त्ता] कर्त्ता है [शास्त्रार्थवत्त्वात्] शास्त्र में बताये गये अर्थ वाला होने से। वेदादि शास्त्रों में विधि-निषेधरूप अर्थ जीवात्मा को लक्ष्यकर निर्दिष्ट किये गये हैं, उनके अनुष्ठाता होने से वह कर्त्ता है।

वेदादि शास्त्रों में जीवात्मा के उद्देश्य से कर्त्तव्य कर्मों का विधान और अकर्त्तव्य का निषेध है। 'अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' 'अग्निहोत्रं जुहुयात् भूतिकामः' इत्यादि विधिवाक्य याग एवं अग्निहोत्रहोम के अनुष्ठान का आत्मा के लिये आदेश देते हैं, अधिकारी जीवात्मा उनका अनुष्ठान करता है। वेदादि शास्त्रों के अनेक वाक्य इस विषय के पोषक हैं—'घृतं तीव्रं **जुहोतन**' [ऋ० ५।५।१॥ यजु० ३।२], 'कृषिमित्**कृषस्व**' [ऋ० १०।३४।१३], **कुर्वन्नेवेह** कर्माणि' [यजु० ४०।२], '**ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत**' [छा० १।१।१], 'स्वाध्यायो**ऽध्येतव्यः**' [श० ११।५।७।२], 'सत्यं **वद**, धर्मं **चर**' [तै० १।११], 'मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्···। **जपेच्च जुहुयाच्चैव**···' [मनु० ४।१४५], 'वेदमेवा**ऽभ्यसेत्**···' [मनु० ४।१४७], इत्यादि सन्दर्भों में जीवात्मा के लिये विविध कर्त्तव्य कर्मों के अनुष्ठान का विधान है। अकर्त्तव्य का निषेध है—'अक्षै**र्मा** दीव्यः [ऋ० १०।३४।१३], 'गां **मा हिंसीः**' [यजु० १३।४३], 'इमं **मा हिंसीर्द्विपादं** पशुं' [यजु० १३।४७], 'स्वाध्यायान्मा **प्रमदः**, प्रजातन्तुं **मा व्यवच्छेत्सीः**, देवपितृकार्याभ्यां **न प्रमदितव्यम्**' [तै० १।११] इत्यादि वाक्यों के द्वारा हिंसादि कर्मों का तथा विहित कर्मों के अनुष्ठान में प्रमाद का निषेध किया गया है। इन सब शास्त्र-वाक्यों के आधार पर यह स्पष्ट होता है, कि आत्मा कर्त्ता है, अन्यथा उसके लिये कर्मों का विधान व निषेध असंगत होगा, जो किसी दशा में वाञ्छनीय नहीं। इसीकारण अन्यत्र उपनिषद् [प्र० ४।९] में कहा—'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' यह जीवात्म-पुरुष द्रष्टा श्रोता कर्त्ता आदि है। श्वेताश्वतर [५।७] में बताया—'गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता' गुणान्वित अर्थात्

संसारी जीवात्मा फलप्राप्ति के लिये कर्मों का कर्त्ता है, और किये कर्मों का उपभोक्ता है। यह सब वर्णन आत्मा के कर्त्ता होने का निश्चायक है ॥३३॥

सूत्रकार इसी विषय में अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

विहारोपदेशात् ॥३४॥

[विहारोपदेशात्] विहार के उपदेश से। आत्मा के विहार के उपदेश से आत्मा का कर्त्ता होना सिद्ध होता है।

'विहार' पद का अर्थ है—इच्छानुसार परिभ्रमण—आचरण आदि करना। बृहदारण्यक उपनिषद् [२।१।१८] में आया—'एष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तते'। यह जीवात्म-पुरुष इन इन्द्रियों [प्राणान्] को अपने साथ लेकर अर्थात् करणों के सहयोग से अपने शरीर में इच्छानुसार आचरण करता है। इसीप्रकार अन्यत्र [बृ० ४।३।१२] कहा—'स ईयतेऽमृतो यत्रकामम्' वह अमरणधर्मा जीवात्म-पुरुष जहां-जहां कामना होती है, बुद्धि मन आदि करणों द्वारा वहां-वहां प्राप्त होता है, अर्थात् उन विषयों का अनुभव करता है। इन प्रसंगों में स्पष्ट जीवात्मा को 'परिवृत्ति' एवं 'ईयति' आदि क्रियाओं का कर्त्ता कहा है। इससे जीवात्मा का कर्त्ता होना पुष्ट होता है ॥३४॥

आचार्य सूत्रकार ने इसी विषय में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

उपादानात् ॥३५॥

[उपादानात्] उपादान से—ग्रहण करने से। ग्रहण करते अर्थात् ग्रहीता होने से आत्मा कर्त्ता सिद्ध होता है।

जीवात्मा के प्रकरण में उपनिषत्कार वर्णन करता है—'य एष विज्ञानमयः पुरुषः तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' [बृ० २।१।१७] जो यह चेतन जीवात्म-पुरुष है, वह इन चक्षु आदि इन्द्रियों के [प्राणानां] विषयग्रहणसामर्थ्य को [विज्ञानं] बुद्धि के द्वारा [विज्ञानेन] लेकर अपने अधीनकर उस आकाश में सोजाता है, जो यह आकाश हृदय के मध्य में है। उपनिषद् [२।१।१७] में आगे ग्रहण के स्वरूप को बताया—'तानि यदा गृह्णाति अथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति' जब यह इन्द्रियों को ग्रहण करलेता है, बाह्य विषयों से हटाकर अपने वश में ले आता है, तब इसका 'सो रहा है' [स्वपिति] यह नाम होता है, जीवात्मा के लिये यह व्यवहार किया जाता है। उस समय इन्द्रियसमूह इसके द्वारा गृहीत होजाता है। यह सुषुप्ति अवस्था का वर्णन है। यहां जीवात्मा को इन्द्रियों की विषयग्रहणशक्ति का आदाता बताया है, आदाता कभी अकर्त्ता नहीं होसकता। अगली कण्डिका [बृ० २।१।१८] में इसीके अनुसार 'प्राणान् गृहीत्वा' कहा है। प्राणों का ग्रहीता—उपादाता आत्मा उपादान क्रिया के आधार पर कर्त्ता सिद्ध होता है ॥३५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, गतसूत्र में उदाहृत उपनिषद् वाक्य के अनुसार यदि आत्मा बुद्धि के आधार पर इन्द्रियों के ज्ञानग्रहणसामर्थ्य का उपादान करता है, तो बुद्धि को कर्त्ता क्यों न मानलिया जाय ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ।।३६।।

[व्यपदेशात्] कथन से [च] भी [क्रियायां] क्रिया में, [न] नहीं [चेत्] यदि, [निर्देशविपर्ययः] निर्देश का विपर्यय होजाय। लौकिक वैदिक क्रिया में भी आत्मा को कर्त्ता कहा गया है। यदि ऐसा न मानकर बुद्धि को कर्त्ता कहा जाता है, तो इस विषय के वाक्य में जो निर्देश किया गया है, उसका विपर्यय होजायगा।

तैत्तिरीय उपनिषद् [२।५।१] में कहा है-'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' विज्ञान अर्थात् संसारी जीवात्मा यज्ञ का विस्तार अनुष्ठान करता है, तथा अन्य लौकिक कर्मों को करता है। इस सन्दर्भ में 'विज्ञान' पद जीवात्मा का बोधक है, और उसे स्पष्टरूप से वैदिक-लौकिक कर्मों का अनुष्ठाता-कर्त्ता बताया है। यदि यहां 'विज्ञान' पद बुद्धि का वाचक रहा होता, तो 'तनुते' क्रिया के कर्त्तारूप में इसका प्रयोग न होकर 'विज्ञानेन' इसप्रकार करणरूप में होता। इससे निश्चित है, कि यहां 'विज्ञान' पद आत्मा का बोधक है, उसका वैदिक-लौकिक क्रियाओं में कर्त्तारूप से वर्णन किया गया है।

शिष्य की जिज्ञासा का आधार 'विज्ञान' पद का केवल करण अर्थ में प्रयोग समझना है, जैसा बृहदारण्यक [२।१।१७] में 'विज्ञानेन' पद के प्रयोग से स्पष्ट होता है। आचार्य के समाधान का आशय है-'विज्ञान' पद का प्रयोग निर्वचन के आधार पर कर्त्ता अर्थ में होने से आत्मा के लिये सुसंगत है। इसी के अनुसार तैत्तिरीय उपनिषद् [२।५।१] में इसका प्रयोग है। आत्मा के लिये 'विज्ञान' पद का प्रयोग उपनिषद् में अन्यत्र उपलब्ध है। बृहदारण्यक उपनिषद् [३।७।२२—जो काण्वशाखीय शतपथ ब्राह्मण का भाग है] में—'यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरम्' इत्यादि पाठ है। इसके स्थान पर माध्यन्दिन शाखा के शतपथ ब्राह्मण [१४।६।७।३०] में पाठ-'य आत्मनि तिष्ठन्, आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्' इत्यादि है। इससे स्पष्ट होता है-काण्वशाखीय उपनिषद् में 'विज्ञान' पद का प्रयोग 'आत्मा' के अर्थ में हुआ है। अतः तैत्तिरीय [२।५।१] के सन्दर्भ में कर्त्तारूप से प्रयुक्त विज्ञान पद आत्मा का बोधक है। यह वर्णन आत्मा के कर्त्ता होने को स्पष्ट करता है। फलतः बुद्धि को कर्त्ता मानना संगत नहीं ।।३६।।

शिष्य तर्क करता है, यदि जीवात्मा कर्त्ता है, तो वह स्वतन्त्र होता हुआ अपने लिये प्रिय और हित का सम्पादन करे, पर ऐसा नहीं है; उसकी प्रवृत्ति इसके विपरीत भी देखी जाती है, इसलिये आत्मा को कर्त्ता नहीं माना जाना चाहिये। आचार्य ने समाधान किया—

उपलब्धिवदनियमः ॥३७॥

[उपलब्धिवत्] उपलब्धि के समान [अनियमः] अनियम है। जैसे आत्मा इष्ट और अनिष्ट की उपलब्धि करता है, ऐसे ही अनियम से प्रिय और अप्रिय का अनुष्ठान करता है।

शिष्य के तर्क का केवल इतना आशय है, कि कोई कर्त्ता स्वतन्त्र रहता हुआ अपने लिये अनिष्ट व अप्रिय का आपादन न करेगा, पर आत्मा को अप्रिय की प्राप्ति होना देखा जाता है, इसलिये उसे कर्त्ता नहीं माना जाना चाहिये, क्योंकि कर्त्ता का स्वरूप अपनी क्रिया में स्वतन्त्र होना है, तब अपने लिये अप्रिय क्यों करेगा ?

आचार्य के समाधान का आशय है, आत्मा को प्रिय और अप्रिय दोनों की प्राप्ति देखी जाती है। ऐसा नियम व व्यवस्था नहीं है, कि उसे केवल प्रिय की प्राप्ति हो, अथवा केवल अप्रिय की। प्रिय और अप्रिय की अनियम से प्राप्ति होना यह स्पष्ट करता है, कि आत्मा ने इष्ट-अनिष्ट अथवा शुभ-अशुभ कर्मों का अनुष्ठान किया है। ऐसा नहीं है, कि नियम से केवल शुभ का अनुष्ठान किया हो अथवा केवल अशुभ का। जैसा अनुष्ठान है, वैसी उपलब्धि है। उपलब्धि अनुष्ठान के स्वरूप को स्पष्ट करती है। वह अनुष्ठान आत्मा के कर्त्ता होने को सिद्ध करता है। तात्पर्य यह है, कि आत्मा को इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति उसके कर्मों के अनुसार है, वे कर्म स्वतन्त्रतापूर्वक किये हुए हैं। उपलब्धिद्वारा बोधित वह कर्मानुष्ठान आत्मा के कर्त्तृत्व को प्रमाणित करता है। आत्मा बुद्धि आदि करणों के द्वारा अपने कार्यों का सम्पादन करता है, केवल इतने से करण-तत्त्व कर्त्ता नहीं होजाते, और न कर्त्ता अपने कर्त्तृत्व को छोड़ बैठता है। संसारी आत्मा अपने भोगादि कार्यों के सम्पादन के लिये आन्तर बाह्य आदि सब प्रकार के साधनों की सदा अपेक्षा रखता है। ये साधन अथवा करण अपनी जगह हैं और कर्त्ता अपनी जगह। इस विवेचन से आत्मा का कर्त्ता होना निश्चित होता है ॥३७॥

इसी विषय में आचार्य सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

शक्तिविपर्ययात् ॥३८॥

[शक्तिविपर्ययात्] शक्ति के विपर्यय से, बुद्धि कर्त्ता नहीं; केवल आत्मा कर्त्ता है।

पूर्वोक्त उपनिषद् [तै० २।५।१] वाक्य में 'विज्ञान' पद का बुद्धि अर्थ समझकर यदि उसे कर्त्ता मानलिया जाता है, तो इससे शक्ति का विपर्यय—उलट होजाता है। बुद्धि को कर्त्ता मानने पर वह करणशक्ति से रहित होजायगी, तथा उसमें कर्त्तृशक्ति की प्राप्ति होजायगी। तब प्रत्येक प्रतीति में 'अहम्' का विषय बुद्धि को मानना होगा। मैं खाता हूं मैं पीता हूं मैं जाता हूं मैं आता हूं, इत्यादि प्रतीतियों में 'मैं' पद का अर्थ बुद्धि होगा। समस्त प्रवृत्तियां 'अहं' भावना को लेकर होती हैं, जो कर्त्ता का

धर्म है। जब बुद्धि कर्तृशक्ति से युक्त मानली गई, तब उसके समस्त कार्यों के संपादन के लिये किसी अन्य 'करण' की अवश्य कल्पना करनी होगी; क्योंकि कोई संसारी कर्त्ता करण की उपेक्षा करके अपनी क्रियाओं के संपादन में प्रवृत्त होता नहीं देखा जाता। कर्त्ता को अपने क्रियाकलाप की सिद्धि के लिये करण की सदा अपेक्षा रहती है। ऐसी स्थिति में यह केवल एक नाममात्र का विवाद रहा, वस्तुसत्ता में कोई अन्तर नहीं आया। कर्त्ता और करण को भिन्नरूप में मानना आवश्यक है। फलतः आत्मा कर्त्ता है और बुद्धि आदि उसके करण हैं, यह निश्चित है ॥३८॥

आचार्य सूत्रकार ने इसी विषय में अन्य हेतु कहा—

समाध्यभावाच्च ॥३९॥

[समाध्यभावात्] समाधि के अभाव से [च] भी। यदि बुद्धि को कर्त्ता माना जाय, तो समाधि का अभाव प्रसक्त होगा; इसलिये भी आत्मा को कर्त्ता मानना निश्चित होता है।

शास्त्र में आत्मज्ञान के लिये समाधि अवस्था को प्राप्त करने का निर्देश है— 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' [बृ० २।४।५]। आत्मा को देखने जानने के लिये आत्मविषयक श्रवण, मनन और निदिध्यासन आवश्यक हैं। अन्तिम अवस्था आत्मविषयक ध्यान व समाधि का निर्देश करती है। सम्प्रज्ञात समाधि में आत्मा को यह साक्षात्कार होता है, कि आत्मा बुद्धि से भिन्न है। उस साक्षात्कार में आत्मा 'अहं' रूप से भासित होता है, उसमें 'अहं' अनुभूति से बोधित जो कर्त्ता है, वह चेतन आत्मा है, जो अपने आपको अचेतन बुद्धि से भिन्न अनुभव करता है। इसलिये समाधि से अतिरिक्त दशा में भी उसी आत्मा को कर्त्ता माना जाना चाहिये। असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त होजाने पर बुद्धि का कार्य उस अवस्था की सीमा से पहले पूरा होजाता है। तब वहां केवल शुद्ध आत्मा द्रष्टारूप में भासित होता है। उस अवस्था में आत्मदर्शन के द्रष्टा आत्मा का कर्त्ता होना स्पष्ट होता है। तब अन्य सब अवस्थाओं में वही आत्मा कर्त्ता माना जासकता है। यदि बुद्धि को कर्त्ता माना जाय, तो उक्त समाधि के अभाव की प्रसक्ति होगी, समाधि का स्वरूप ही न बनसकेगा। अतः आत्मा कर्त्ता है, बुद्धि आदि उसके करण हैं, जिनके द्वारा वह समस्त वृत्तान्तों को जाना करता है ॥३९॥

शिष्य आशंका करता है, जीवात्मा का कर्तृत्व इन्द्रियादिव्यापार के रहने पर अभिव्यक्त होता है; समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष आदि अवस्थाओं में इन्द्रियव्यापार नहीं रहता, इसलिये आत्मा में तब कर्तृत्व नहीं माना जाना चाहिये। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

यथा च तक्षोभयथा ॥४०॥

[यथा] जैसे [च] और [तक्षा] बढ़ई [उभयथा] दोनों प्रकार से। और जैसे बढ़ई लकड़ी काटते छीलते समय तथा यह सब न करते समय दोनों प्रकार की दशा में बढ़ई रहता है, ऐसे ही आत्मा इन्द्रियव्यापार और अव्यापार दोनों अवस्थाओं में कर्त्ता रहता है।

शिष्य की आशंका का आधार है–कर्त्ता होने का प्रयोजक इन्द्रियव्यापार को समझना। यद्यपि समाधि अवस्था में आत्मा को अपना व ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। साक्षात्कार विशुद्ध ज्ञान है, उसका ज्ञाता आत्मा है; इस रूप से आत्मा का कर्तृत्व तब भी सुनिश्चित है। सुषुप्ति दशा में समस्त करणों का साधारण व्यापार प्राण जीवनवृत्तिरूप से निरन्तर संचारित होता रहता है, उस अवस्था में इस व्यापार का कर्त्ता निश्चितरूप से आत्मा है; यदि आत्मा का अस्तित्व जीवनवृत्ति के प्रयोजकरूप में वहां न हो, तो प्राण-संचार अथवा प्राणवृत्ति का होना असंभव है। इस वृत्ति या व्यापार का सुषुप्त दशा में भी नियामक होने के कारण आत्मा का कर्तृत्व अक्षुण्ण बना रहता है। मोक्ष दशा में आत्मा योगसमाधि से अभिव्यक्त अपने स्वाभाविक [स्वरूप] सामर्थ्य के द्वारा ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। यह 'अनुभव करना' आत्मा के कर्तृत्व को उस दशा में स्पष्ट करता है। तथापि शिष्य ने जिसप्रकार लौकिक बुद्धि से आशंका की, सूत्रकार ने लौकिक दृष्टि से समाधान प्रस्तुत किया। बढ़ई अपने व्यापार के कारण 'बढ़ई' कहा जाता है। इस व्यवहार का निमित्त लकड़ी का काटना छीलना आदि व्यापार है। पर बढ़ई निरन्तर दिन-रात चौबीस घण्टे इसी व्यापार को नहीं करता, फिर भी–करने, न करने–दोनों प्रकार की स्थिति में वह 'बढ़ई' है, बढ़ई कहा जाता है, अपने आपको बढ़ई मानता है। इसमें रहस्य यही है, कि यद्यपि एक समय वह तछन [तक्षण] व्यापार नहीं कर रहा, पर उसकी भावना इसके लिये निरन्तर बनी रहती है। लौकिक दृष्टि से यही कहा जासकता है, कि उस दशा में उसका 'तछन'–व्यापार ['तक्षा' व्यवहार का प्रवृत्तिनिमित्त] अनभिव्यक्त है, तब भी इस तथ्य को जानते हुए प्रत्येक व्यक्ति उसे 'तक्षा' कहकर व्यवहार करता है। इसीप्रकार आत्मा का कर्तृत्व बाह्यव्यापार के अभाव में भले ही लौकिक दृष्टि से अभिव्यक्त न हो; पर कर्तृभाव का सामर्थ्य वहां सदा बना रहता है। इस विवेचन के अनुसार आत्मा का कर्तृत्व प्रत्येक दशा में निर्बाध समझना चाहिये। इसी कारण उपनिषदों [प्र० ४।६॥ श्वे० ५।७] में आत्मा को स्पष्टरूप से कर्त्ता बताया गया है ॥४०॥

संसार जब तक बना रहता है, जीवात्मा लौकिक-वैदिक कर्मों का कर्त्ता है, यह निश्चित होने पर शिष्य आशंका करता है, जीवात्मा लौकिक-वैदिक कर्मों के आचरण में क्या ब्रह्म से प्रेरित व नियन्त्रित होता है, अथवा विना ब्रह्म की प्रेरणा के

स्वत: ऐसा किया करता है ? पहले पक्ष में आत्मा कर्त्ता नहीं रहता, क्योंकि क्रिया करने में जो स्वतन्त्र हो, वही कर्त्ता है, ब्रह्म से प्रेरित व नियन्त्रित होने पर उसका स्वातन्त्र्य नहीं रहता, तब कर्तृत्व वहां से स्वतः निवृत्त होजाता है। द्वितीय पक्ष में आत्मा का स्वातन्त्र्य तो सुरक्षित रहता है, परन्तु शास्त्र के कतिपय वाक्यों से इसका विरोध प्राप्त होता है, जहां ब्रह्म को सब प्राणियों का शासक [ऋ० १०।१२१।३] तथा नियन्ता [बृ० ३।७।३–२३] बताया गया है। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥४१॥

[परात्] पर से [तु] तो [तत्] वह कर्तृत्व [श्रुतेः] श्रुतिप्रमाण से। आत्मा का वह कर्तृत्व तो परब्रह्म-प्रेरणा से होता है, यह श्रुति से प्रमाणित है।

ऋग्वेद [१०।१२१।३] में कहा–'यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव। य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः' अपनी महत्ता के कारण जो प्राणी एवं अप्राणी समस्त जगत् का राजा है, शासक है, जो समस्त प्राणियों पर शासन व नियन्त्रण करता है, तथा सबकी रचना करता है, ऐसा वह परमेश्वर है। माध्यन्दिन-शाखीय शतपथ ब्राह्मण [१४।६।७।३०] में आया–'य आत्मनि तिष्ठन्, आत्मनोऽन्तरः ···य आत्मानमन्तरो यमयति' जो आत्मा में रहता, आत्मा से भिन्न हुआ [illegible] का नियन्त्रण करता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् [६।६] में कहा–'धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम' धर्म की ओर लानेवाले, पाप से हटानेवाले, [illegible] ऐश्वर्यों के स्वामी, जगत् के आश्रय परमेश्वर को जानना सबके लिये अभीष्ट है। इन प्रमाणों से प्रतीत होता है, परब्रह्म समस्त प्राणियों का नियन्ता है, शासक है, धर्म की ओर प्रवृत्ति और पाप से निवृत्ति की प्रेरणा करता है। यह उस प्रेरणा से तात्पर्य है, जो कोई कार्य करते समय मनुष्य के हृदय में उत्साह व भय आशंका आदि के रूप में उठा करती है। इसको लोकव्यवहार में 'हृदय की पुकार' कहा जाता है। हृदय में आत्मा के अन्दर विराजमान अन्तर्यामी नियन्ता परमेश्वर इसको धर्म की ओर प्रवृत्ति और अधर्म से निवृत्ति के लिये प्रेरणा किया करता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् [५।२।१–३] की एक आख्यायिका प्रकारान्तर से इस विषय पर प्रकाश डालती है। देव, मनुष्य और असुरों ने प्रजापति के पास ब्रह्मचर्य-वास किया। अनन्तर उपदेश के लिये प्रार्थना की। सर्वप्रथम प्रजापति ने देवों को 'द' अक्षर का उपदेश किया, और पूछा, क्या तुमने समझ लिया ? देवों ने कहा, हां, समझ लिया; आपने कहा है–'दाम्यत' दमन करो, अपने आपको वश में करो। प्रजापति ने कहा–हां, तुमने ठीक समझा।

अब मनुष्यों ने प्रजापति के सन्मुख जा उपदेश के लिये प्रार्थना [illegible] प्रजापति ने उनको भी 'द' अक्षर का उपदेश किया, और पूछा–क्या आपने [illegible] लिया ?

उन्होंने कहा–हां, हमने समझ लिया, आपने कहा है–'दत्त' दान दो। प्रजापति ने उनको कहा–हां, तुमने ठीक समझा है।

अनन्तर असुरों ने आकर उपदेश के लिये प्रार्थना की, प्रजापति ने उनको भी 'द' अक्षर का उपदेश किया, और पूछा, क्या आपने यह समझ लिया? असुरों ने कहा, हां, हमने समझ लिया, आपने कहा है–'दयध्वम्' दया करो। प्रजापति ने कहा–हां, तुमने उपदेश को ठीक समझ लिया है।

दैवी अवस्था प्राप्त होने पर ऐश्वर्यों की ओर आसक्ति की भावना जाग उठती है। मनुष्य की साधारण अवस्था में लोभ लालच की भावना का प्राबल्य रहता है। आसुरी दशा में हिंसा क्रोध आदि की ओर प्रवृत्ति अधिक रहती है। इन सब स्थितियों के अनौचित्य के स्तर पर पहुंचने से आत्मा पतन की ओर जाता है। तब इनसे निवृत्ति के लिए हृदय में एक भावना उठती है, जिसका 'द' अक्षर के द्वारा तीनों स्तरों पर उपनिषत्कार ने खुलासा किया है। देव आदि को अपने चालू साधारण विचारस्तर के प्रतिक्रियारूप में वे भावना जागृत होती हैं, जो 'द' अक्षर की व्याख्या के रूप में प्रकट कीगई हैं। यह प्रजापति हृदयस्थित परब्रह्म समझना चाहिये, जैसा आगे उपनिषद् [बृ० ५।३।१] में कहा–'एष प्रजापतिर्यद् हृदयमेतद् ब्रह्म'।

यह ब्राह्मी प्रेरणा जीवात्मा के स्वातन्त्र्य में किसीप्रकार की बाधा नहीं डालती। यह तो परमेश्वर का महान अनुग्रह है, कि उसने आत्मा को सन्मार्ग पर चलाने के लिये दुहरा प्रबन्ध किया हुआ है। प्रथम वेद के द्वारा सन्मार्ग का उपदेश दिया, इसको समझो, और इसपर आचरण करो। उसके अनन्तर प्रतिअवसर पर हृदयस्थित वह परमेश्वर धर्म-अधर्म की ओर प्रवृत्ति-निवृत्ति के लिये उत्साह, भय आशंका आदि विकारोद्भावन के द्वारा प्रेरणा किया करता है। प्रेरयिता से प्रेरणा पाने पर भी कर्त्ता का स्वातन्त्र्य नष्ट नहीं होता। साधारण लोकव्यवहार में देखा जाता है, एक व्यक्ति दूसरे को कहता है, अमुक कार्य के लिये उस गांव में चले जाओ। गांव जाने का व्यापार और उस कार्य को संपादन करने में जानेवाले की स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं है। उस क्रिया व कार्य-संपादन का वह व्यक्ति स्वतन्त्र कर्त्ता है। प्रेरयिता ने उस क्रिया व कार्य को नहीं किया है। जीवात्मा के लिये जो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य हैं, उनको बताने वाला चाहे कोई अन्य हो, पर उनके अनुष्ठान में जीवात्मा स्वतन्त्र है, उसका कर्त्तृत्व अक्षुण्ण बना रहता है। उसके द्वारा किये जाने वाले अनुष्ठानों पर परब्रह्म की सर्वज्ञता का कोई दबाव नहीं होता। हृदय की पुकार की हम उपेक्षा कर सकते हैं, पर उसके फल से अपने आपको बचा नहीं सकते। फलतः जीवात्मा की प्रवृत्तियों में परमेश्वर की आन्तर प्रेरणा होने पर भी आत्मा का कर्त्तृत्व निर्बाध बना रहता है ॥४१॥

शिष्य आशंका करता है, यदि जीवात्मा की प्रवृत्ति परमेश्वर की प्रेरणा से हुआ करती हैं, तो शास्त्र के विधि-निषेध व्यर्थ हैं, क्योंकि ईश्वरप्रेरणा से सब होजाने पर

उनका कोई प्रयोजन नहीं रहता। फिर प्रेरणा समान होने पर सब आत्माओं की प्रवृत्ति समान होनी चाहिये, जगत् में विषम प्रवृत्ति क्यों है? सूत्रकार ने समाधान किया—

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥४२॥

[कृतप्रयत्नापेक्षः] किये गये प्रयत्नों–कर्मों की अपेक्षा रखता हुआ [तु] तो [विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः] विहित और प्रतिषिद्ध के व्यर्थ न होने आदि से। जीवात्माओं के किये कर्मों के अनुसार प्रेरणा की व्यवस्था रहती है, इसकारण शास्त्र में विहित-प्रतिषिद्ध कर्मों का वैयर्थ्य नहीं होता, और जगत् का वैचित्र्य बना रहता है।

जीवात्मा अनादिकाल से कर्मों को करता और उनके फलों को यथाक्रम व्यवस्थानुसार भोगता आरहा है। ईश्वरीय उपदेश वेद और हार्दिक प्रेरणा का क्रम भी अनादिकाल से चालू है। जीवात्माओं की प्रवृत्तियों में परमात्म-प्रेरणा के साथ जीवात्म-कर्मों का महान एवं अनुपेक्षणीय सहयोग है। परमेश्वर प्रेरणा के रूप में अपनी ओर से जीवात्माओं पर कोई दबाव नहीं डालता। विचारना चाहिये, वह प्रेरणा क्या है? जीवात्मा जिन विभिन्न कर्मों का अनुष्ठान करता है, उनके उस आचरण व उद्योग की अपेक्षा करके परमेश्वर अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक उसके शुभाचरण के लिये उसे सचेत किया करता है। जो आचरण किया जारहा है, वह अच्छा है या बुरा; कर्त्तव्य है या अकर्त्तव्य? ऐसे विवेचनपूर्वक तथ्य का स्पष्ट होना प्रेरणा का स्वरूप कहा जासकता है; कर्म और फलोपभोग की व्यवस्था इसीमें अन्तर्हित समझनी चाहिये। तात्पर्य यह, कि जीवात्माओं के कर्मानुसार उन्हें प्रेरणा प्राप्त हुआ करती है। यदि ऐसा न माना जाय, तो शास्त्र में जिन कर्मों का विधान या निषेध किया गया है, वह सब व्यर्थ हो-जायगा, और जगत् के वैचित्र्य का भी कोई कारण न बताया जासकेगा। इसलिये यह सब व्यवस्था जीवात्माओं के कर्मानुसार होती है, यह मानना आवश्यक है। परमात्मा की प्रेरणा में किसीके प्रति राग, द्वेष या पक्षपात एवं स्वातन्त्र्य के विघात की कल्पना नहीं कीजासकती। इस विषय में यही समझना चाहिये, कि वह केवल अपने रूप में वास्तविक तथ्य का प्रकाश है, उसका प्रकाशमात्र–सचाई की एक झलक–परमेश्वर की प्रेरणा है, उसमें किसी आत्मा पर बलपूर्वक कार्यानुष्ठान का आरोप नहीं है। वह अपनी इस स्थिति को किसी पर लादता नहीं।

यदि कोई व्यक्ति वेदादिविहित अहिंसा ब्रह्मचर्य यज्ञ दान आदि शुभ कर्मों का अनुष्ठान करता है, तो परमात्मा की प्रेरणा ऐसी नहीं होती, कि ऐसे अनुष्ठाता को कोई अनर्थ की प्राप्ति हो; तथा जो हिंसा, विषयों में अनुचित आसक्ति, चोरी, असत्यभाषण आदि निषिद्ध कर्मों का अनुष्ठान करता है, उसे अनुकूल दिव्य सुखादि अर्थों का लाभ हो। इसलिये आत्मा के कर्मानुसार फलप्राप्ति और जगत् का वैचित्र्य आदि व्यवस्था संपन्न होती है। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं, कि इसमें परमेश्वर की अत्यन्त उपेक्षा

करदी जाय। ऐसा होने पर तो आत्मा का कोई कार्य कोई प्रयत्न सफल नहीं होसकता, क्योंकि तब आत्माओं के कृतकर्मों का व्यवस्थानुसार फलप्रदाता कोई नहीं रहता, तो कृतहानि और अकृत की प्राप्ति आदि दोष भी सामने आते हैं।

ब्रह्म की सर्वथा उपेक्षा किये जाने पर न केवल कर्मफलव्यवस्था, अपितु समस्त संसार की चालू व्यवस्था अस्तव्यस्त हो जायगी। तात्पर्य, जगत् के उत्पत्ति स्थिति प्रलय का कोई नियामक न रहेगा; जबकि वेद कहता है–'यो मारयति प्राणयति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा' [अथर्व० १३।३।३] जो समस्त विश्व के प्रलय, सर्ग और स्थिति का नियामक है, यही परब्रह्म का महान अनुग्रह है, जो आत्माओं के भोगापवर्ग की सिद्धि के लिये ऐसे विश्व की रचना करता है, जो प्रत्येक प्रकार के साधनों से परिपूर्ण है। आत्मा की इस अनादि अनन्त यात्रा में अन्तर्यामी परब्रह्म का अनुग्रह एक भारी सहारा है। ऋग्वेद [२।४१।११] में कहा–'इन्द्रश्च मृडयाति नो न नः पश्चादघं नशत्। भद्रं भवाति नः पुरः' अनन्त ऐश्वर्यशाली परब्रह्म हमारे ऊपर अनुग्रह कर हमें सुखी बनाता है, तब पाप हमारा पीछा नहीं करता, और कल्याण हमारे सामने उपस्थित रहता है। यह सब परब्रह्म के अनुग्रह कृपा और उसकी आज्ञाओं के पालन से होता है। फलतः कर्मानुसार व्यवस्था होने से न तो वेदादि सत्यशास्त्रों में विहित एवं प्रतिषिद्ध कर्मों का वैयर्थ्य है, और न जगत् के वैचित्र्य में कोई बाधा आती है ॥४२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, आत्मा का कर्त्तृत्व तथा आत्मा पर परब्रह्म के प्रेरणा-अनुग्रह का उपपादन किया गया, यह ठीक है। परन्तु परमात्मा का जीवात्माओं पर ऐसा अनुग्रह क्यों होता है? इनका क्या सम्बन्ध है? यह सब स्पष्ट नहीं होपाया। उपनिषदों में आत्मा को परब्रह्म से कहीं भिन्न और कहीं अभिन्न कह दिया गया है। आचार्य सूत्रकार ने इसको स्पष्ट करते हुए समाधान किया—

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ॥४३॥

[अंशः] अंश है [नानाव्यपदेशात्] भिन्न कथन से [अन्यथा] अन्य प्रकार से [च] तथा [अपि] भी [दाशकितवादित्वम्] दाश कितव आदि होने के रूप में [अधीयते] पढ़ते हैं [एके] कोई आचार्य। भिन्न कथन तथा अभिन्न कथन भी होने से जीवात्मा परब्रह्म का अंश है; कोई आचार्य आत्मा को दाश कितव आदि के रूप में पढ़ते हैं।

सूत्र में 'दाश' पद सामान्यस्त्रीपरक है। दानार्थक 'दाश्' धातु से यह पद निष्पन्न होता है। दान गुण के कारण यह स्त्रीमात्र अर्थात् 'मादा-वर्ग' का बोध कराता है। सन्तान आदि का प्रदान और अपने आपको समर्पण करने की भावना इसमें निहित है। इसीप्रकार सूत्र का 'कितव' पद पुरुष-सामान्य का कथन करता है। यह प्राणीमात्र के 'नर-वर्ग' का बोध कराता है, कित–ज्ञान अथवा अपने पुरुषकार से अपने कार्यों में प्रवृत्त

होना और उन्हें पूरा करने की भावना इसमें अन्तर्हित है । आचार्य सूत्रकार ने बताया, जैसे लोक में पुत्र पिता का अंश समझा जाता है, ऐसे जीवात्मा को परब्रह्म का अंश जैसा समझना चाहिये । पिता जैसे अपने पुत्र की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिये यथाशक्ति प्रभूत साधन प्रस्तुत करने का बराबर प्रयास किया करता है; ऐसे ही परब्रह्म अपने पुत्र के समान अंशभूत जीवात्माओं के लिये समग्र ऐश्वर्यसम्पन्न जगत् को उत्पन्न करता, और उन्हें सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा करता रहता है ।

पुत्र और पिता में अंशांशिभाव कैसा है, यह विचारना चाहिये । पुत्र या पिता दो प्रकार के तत्वों का संघटन है—एक चेतन दूसरा अचेतन । प्रत्येक शरीर में आत्मा चेतनतत्त्व है, और शरीर अचेतन । पुत्र-पितृशरीरों में चेतनतत्त्व आत्मा सर्वथा एक दूसरे से पृथक् हैं, उनमें किसीतरह के अंशांशिभाव की कल्पना अप्रामाणिक है । चेतन आत्मतत्त्व अखण्ड है, उसमें अंश आदि की कल्पना सर्वथा असंगत है । शरीर भी दोनों के यद्यपि एक दूसरे से पृथक् हैं, परन्तु पुत्र के शरीर की रचना में पितृ-शरीर के अंशों का उपयोग होता है; इतने आधार पर पुत्र-पिता के परस्पर अंशांशिभाव की कल्पना है । इस तथ्य को जब मूलरूप में समग्रसृष्टि की भावना से देखा जाता है, तो लौकिक माता-पिताओं के वे देहांश जो पुत्रदेह की रचना में उपयोगी होते हैं, सब प्राकृतिक तत्व हैं । वे तत्व मूलप्रकृति से यथाक्रम परिणत होकर उस रूप में आते हैं । चेतनतत्त्व परब्रह्म के साथ अचेतन प्रकृतिसत्ता को उसके शरीर के रूप में कल्पना किया गया है । इसप्रकार समस्त जीवात्माओं के शरीर उन प्राकृत अंशों से बनते हैं, जो प्रकृति-सत्ता परब्रह्म का शरीर मानलिया गया है । ये परब्रह्म के पुत्रसमान जीवात्मा इसप्रकार अंश कहे गये हैं । यद्यपि जीवात्माओं की अपनी सत्ता सर्वथा स्वतन्त्र है । मुख्यरूप से चेतनतत्व में—चाहे वह परब्रह्म हो अथवा जीवात्मा—अंश आदि की कल्पना नहीं की जासकती । चेतन अपने रूप में अखण्ड तत्त्व है।

परब्रह्म सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी सर्वनियन्ता चेतनतत्व है । जीवात्मा अल्पज्ञ परिच्छिन्न देहमात्र में नियन्ता चेतन है । चैतन्यस्वरूप दोनों का समान है । परब्रह्म नियन्ता तत्त्व है, जीवात्मा फलावाप्ति आदि में नियम्य है; इस भावना के अनुसार भी इनके अंशांशिभाव, पुत्र-पितृभाव, स्वस्वामिभाव आदि सम्बन्धों की कल्पना कीजासकती है ।

जीवात्माओं के पिता के रूप में परब्रह्म का वर्णन वेदों में अनेकत्र पाया जाता है । ऋग्वेद में बताया—'त्वं पिताऽसि नस्त्वं वयस्कृत् तव जामयो वयम्' [१।३१।१०], तू हमारा पिता है, आयु का देनेवाला, हम तेरे अपत्यों के सदृश हैं । 'त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ' [८।९८।११], तू हमारा पिता और तू माता है । 'अर्चन्तु पुत्रकाः' [८।६९।८] परब्रह्म की अर्चना उपासना करनेवाले जीवात्माओं को यहां परमात्मा के 'पुत्रकाः' कहकर निर्देश किया गया है । इस विषय में ऋग्वेद के ये [६।५२।९॥ १०।८२।३] स्थल भी द्रष्टव्य हैं । इसप्रकार पुत्र और पिता के समान जीवात्मा तथा

परमात्मा का परस्पर अंश-अंशिभाव स्पष्ट होता है। अग्नि और उससे निकलनेवाली चिनगारियों के समान अंशांशिभाव की कल्पना चेतनतत्त्वों में नहीं कीजासकती। मुण्डक उपनिषद् [२।१।१] के—'यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' इस सन्दर्भ में 'अक्षर' पद प्रकृति का वाचक है, उससे समानरूप विविध जगत् की उत्पत्ति और उसीमें लय होने का यहां वर्णन है; इसका पहले [ब्र० सू० १।२।२१] उल्लेख किया जाचुका है।

जीव और परब्रह्म के अंशांशिभाव बतलाने में आचार्य ने हेतु दिया है—इन दोनों का भेद तथा अभेद से शास्त्र में व्यपदेश। जीवात्मा को कहीं ब्रह्म से भिन्न बताया है, और कहीं अभिन्न। 'द्वा सुपर्णा सयुजा' [मु० ३।१।१] इत्यादि में भिन्न कहा, और 'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः [ईशा० ७] इसमें अभिन्न। इन दोनों का स्वरूप से भेद और चेतनभाव से अभेद है। जब प्रकृति के सम्पर्क में आत्मा नहीं रहता; केवल विशुद्ध स्वरूप से अवस्थित होता है, तब वह ब्रह्मानन्द का अनुभव करता हुआ अभेद जैसी स्थिति में समझा जाता है। श्वेताश्वतर शाखा के आचार्यों ने जीवात्मा को स्पष्ट स्त्री-पुरुष आदि के रूप में पढ़ा है—'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः' [४।३]। जीवात्मा को ब्रह्मरूप मानने पर इस वर्णन का सामञ्जस्य उपपादित नहीं किया जासकता। लोक में पिता-पुत्र का स्पष्ट भेद अवगत होने पर भी शास्त्रकारों ने किसी भावना के आधार पर 'आत्मासि पुत्र मा मृथाः' [साममन्त्र ब्रा० १।५।१८], 'आत्मा वै पुत्रनामासि' [शत० १४।६।४।२६] आदि अभेदमूलक वर्णन किये हैं। फलतः उक्त विवेचन के अनुसार पुत्र-पिता के सदृश आत्मा—परब्रह्म का अंशांशिभाव आदि सम्बन्ध कल्पना किया जाता है।

सूत्र के 'दाश' और 'कितव' पदों का अर्थ मछेरा धीवर और जुआरी प्रायः सभी व्याख्याकारों ने किया है। इसके लिये एक उद्धरण आथर्वणिकों के ब्रह्मसूक्त का आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में इसप्रकार दिया है—"एके शाखिनो दाशकितवादिभावं ब्रह्मण आमनन्त्याथर्वणिका ब्रह्मसूक्ते—'ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवाः' इत्यादिना।" इस उद्धरण के मूलस्थान का अभी पता नहीं लगा। इसके आधार पर आचार्य शंकर ने यह प्रतिपादित किया है, कि मछेरे धीवर अथवा नौका चलानेवाले केवट, अन्यों के सेवक और जुआरी सब ब्रह्म ही हैं।

इस विषय में विचारणीय यह है, कि यदि यह प्रतिपादन वास्तविक अर्थ को प्रकट करता है, तो इसमें औपचारिक अंशांशिभाव नहीं कहा जासकता; तब ब्रह्म और जीवात्माओं का मुख्य अंशांशिभाव माना जाना चाहिये, अग्नि और चिनगारियों के समान। यद्यपि आचार्य ने अग्नि-विस्फुलिंग का इस विषय में दृष्टान्त दिया है; पर यह कथन स्वयं आचार्य के अन्य लेख के विरुद्ध जाता है, जहां यह बताया गया है, कि जीव-

ब्रह्म का अंशांशिभाव औपचारिक है, यथार्थ नहीं।[1]

आथर्वणिकों के उक्त उद्धरण का तात्पर्य इतना होसकता है, कि ब्रह्म ने जगत् की रचना समस्त प्राणियों के लिये की है, साधु महात्मा संन्यासी ब्राह्मण आदि केवल धर्मात्माओं के लिये नहीं। उसने हवा पानी पृथिवी आग सूरज चांद का प्रकाश आदि सबके लिये समानरूप में दिया है। इसलिये उसका अनुग्रह उसकी प्रेरणा दया आदि सबके लिये एक जैसा है, जैसा ब्राह्मण धर्मात्मा आदि के लिये वैसा मछेरे धीवर, सेवक व जुआरी आदि पापात्माओं के लिये। जीवात्मा अपनी किसी परिस्थिति में हो, मानव होने पर चाहे धर्मात्मा-पापात्मा हो, चाहे तिर्यक् आदि प्राणियों की स्थिति में हो, परमेश्वर का अनुग्रह सबके ऊपर समान है, इसीरूप में जीवात्मा का परब्रह्म के साथ अंशांशिभावसम्बन्ध कल्पना किया गया है। दाश कितव आदि को ब्रह्म ही माने जाने पर तो सूत्रकार का 'नानाव्यपदेशात्' हेतु ही व्यर्थ होजायगा। अभेदकथन का तात्पर्य प्रथम व्याख्यात कर दिया गया है ॥४३॥

जीव-ब्रह्म के अंशांशिभाव में आचार्य सूत्रकार ने वेदप्रमाण का निर्देश करते हुए हेतु प्रस्तुत किया—

मन्त्रवर्णाच्च ॥४४॥

[मन्त्रवर्णात्] मन्त्रवर्ण से [च] तथा। और मन्त्रवर्ण से जीव-ब्रह्म का अंशांशिभाव अवगत होता है।

वेद [ऋ० १०।९०।३॥ यजु० ३१।३] में कहा—'एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' यह समस्त विश्व उस परमेश्वर की महिमा का बखान करता है, वह अचिन्त्य पुरुष इसकी अपेक्षा अति महान है। ये समस्त भूत-प्राणी स्थावर जंगमरूप में विद्यमान, उसी पुरुष का एक पाद है, एक अंशमात्र है। यहां स्पष्टरूप से भूतों-प्राणियों को परमेश्वर का पाद-अंश कहा है। पाद, अंश, भाग आदि पद एक ही अर्थ को कहते हैं। निरवयव अखण्ड ब्रह्म के किसी मुख्य अंश या खण्ड की कल्पना नहीं कीजासकती। इसलिये यह कथन केवल कल्पनामूलक औपचारिक समझना चाहिये। ऋचा के अन्तिम पदों में यह कहकर, कि उसके तीन पाद अपने अविनाशी प्रकाशस्वरूप में विद्यमान रहते हैं, उसके अनन्त माहात्म्य का वर्णन किया गया है। तात्पर्य यह है, कि उसकी सत्ता के सन्मुख यह अनन्त विश्व भी बहुत

१. 'जीव ईश्वरस्यांशो भवितुमर्हति, यथाग्नेर्विस्फुलिंगः। अंश इवांशः, न हि निरवयवस्य मुख्योऽशः संभवति।' [ब्र० सू० २।३।४३]। जीव ईश्वर का अंश होसकता है, जैसे आग की चिनगारियां। यह अंश जैसा अंश है, अंश की तरह लगने वाला अंश है, क्योंकि निरवयव ब्रह्म का मुख्य अंश संभव नहीं।

थोड़ा अंश है, तुच्छ जैसा है। यद्यपि भूतों के अंशभाव का यहां स्पष्ट निर्देश है, पर है यह औपचारिक ही ।।४४।।

इसी विषय में सूत्रकार ने उक्त मन्त्रवर्ण का उपनिषत्कारद्वारा स्मरण किये जाने का निर्देश किया—

अपि च स्मर्यते ।।४५।।

[अपि] भी [च] और [स्मर्यते] स्मरण किया गया है। और उक्त मन्त्रवर्ण उपनिषत्कारद्वारा भी स्मरण किया गया है।

छान्दोग्य उपनिषद् [३।१२।६] के इस खण्ड में गायत्रीद्वारा ब्रह्म का वर्णन है। उसको समस्त विश्व का आधार कहा है। इसी प्रसंग में ब्रह्म की महिमा का निर्देश करने के लिये गायत्री छन्द की ऋचा को इसप्रकार प्रस्तुत किया—"तदेतदृचाभ्यनूक्तम्—तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि"[1] इति।" स्पष्ट है—यहां उपनिषत्कार ने प्रसंग की पुष्टि के लिये उक्त मन्त्रवर्ण को स्मरण किया है। सूत्रकार ने अपने पूर्व हेतु की पुष्टि में उपनिषत् के प्रसंग का निर्देष किया।

प्रायः सभी व्याख्याकारों ने यहां भगवद्गीता [१५।७] के 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' श्लोक को स्मृति के रूप में उद्धृत किया है। यदि ब्रह्मसूत्र और महाभारतान्तर्गत गीता दोनों रचना वेदव्यास बादरायण की हैं; तो अपनी उक्ति को स्वयं प्रमाणरूप में प्रस्तुत करना चिन्त्य है। कृष्ण के प्रवचन के रूप में प्रमाण मानना किसी अंश तक विचारणीय होगा ।।४५।।

शिष्य आशंका करता है, यदि जीव-ब्रह्म का अंशांशिभाव सम्बन्ध है, चाहे यह औपचारिक हो; पर आत्मा का जो निवास हृदयदेश है, वहां आत्मा दुःख आदि दोषों का अनुभव करता है; सर्वव्यापक होने से उसी प्रदेश में परब्रह्म विद्यमान है। दोनों चेतन हैं, ऐसी स्थिति में ब्रह्म जैसे जीवात्मा को प्रेरणा प्रदान करता है, ऐसे ब्रह्म को जीवात्मा के दुःख आदि दोषों से पीड़ित माना जाना चाहिये ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

प्रकाशादिवन्नैवं परः ।।४६।।

[प्रकाशादिवत्] प्रकाश आदि के समान [न] नहीं [एवं] ऐसा [परः] परमात्मा। परब्रह्म परमात्मा जीवात्मा जैसा दुःखी आदि नहीं है, प्रकाश आदि के समान।

१. उपनिषद् पाठ में ऋचा के तीन पद भिन्न रूप में दिये गये हैं। ऋचा के 'एतावान्' के स्थान पर 'तावान्', 'अतः' के स्थान पर 'ततः' और 'दिवा' के स्थान पर 'सर्वा' पाठ उपनिषद् में है। पाठभेद का कारण अज्ञात है। उद्धरण यह ऋचा का है, उपनिषद्वाक्य से स्पष्ट है। तै० आ० [३।१२] में पाठ ऋचा के अनुसार है।

सूत्र में 'आदि' पद से आकाश काल आदि पदार्थों का ग्रहण समझना चाहिये। प्रकाशस्वरूप होने से 'प्रकाश' पद सूर्य का बोध कराता है। साधारणरूप से लोक-प्रसिद्ध 'प्रकाश' पद का अर्थ मानने पर भी कोई दोष नहीं। प्रकाश की विद्यमानता में अनेक दूषित व अदूषित पदार्थ पड़े रहते हैं, उन दोषों से प्रकाश दूषित नहीं होता; क्योंकि उसकी सत्ता उसका स्वरूप उन पदार्थों से सर्वथा अतिरिक्त है। ऐसे ही परब्रह्म जीवात्मप्रदेशों में रहता भी उनके दुःख आदि भावों से दुःखी या दूषित—लाञ्छित नहीं होता। इसी भाव को कठ उपनिषद् [२।२।११] में कहा—'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' सूर्य जैसे सब लोक का चक्षु होकर चक्षु में होनेवाले बाह्य दोषों से लिप्त—दूषित नहीं होता; वैसे एक परब्रह्म समस्त भूतों में व्याप्त रहता हुआ लोकदुःख से दुःखी नहीं होता; क्योंकि वह स्वरूप से उससे पृथक् है। स्पष्ट है, जीवात्मा संसार में लिप्त रहता, भोगापवर्ग की सिद्धि के लिये शुभाशुभ कर्मों को करता, और उनके फलों को भोगता है; तथा परब्रह्म उनका अन्तरात्मा रहता हुआ उनपर अनुग्रह करता है, उनके दोषों से लिप्त नहीं होता।

सूत्रकार ने सूत्र के 'एवं न परः' वाक्य में 'परः' पद से ब्रह्म को बोधित कर यह स्पष्ट किया है, कि जीवात्मा से ब्रह्म सर्वथा भिन्न तत्त्व है, उनकी एकता की कल्पना करना अशास्त्रीय होगा। शास्त्र में जहां एकता का कथन आपाततः प्रतीत होता है, वहां उनके केवल चेतनभाव की समानता को अभिव्यक्त करता है। 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में यही भाव है। छान्दोग्य [६।१–१५] के प्रसंग में अपने देहादि पर गर्व करने वाले श्वेतकेतु को यही समझाने का प्रयास किया गया है, कि तू चेतन ब्रह्म के समान चेतन आत्मतत्त्व है, प्राकृतिक देहादि के समान जड़ नहीं ॥४६॥

जीवात्मा के भोग आदि भावों से परब्रह्म अलिप्त रहता है, सूत्रकार ने इस विषय में शास्त्रवचनों को स्मरण कराया—

स्मरन्ति च ॥४७॥

[स्मरन्ति] स्मरण करते हैं [च] और। और शास्त्र इस तथ्य का स्मरण करते हैं—कथन करते हैं। सूत्र में 'स्मरन्ति' क्रियापद 'समामनन्ति' का उपलक्षण समझना चाहिये। शास्त्र उक्त अर्थ का समाम्नान—कथन करते हैं।

जीवात्मा क्लेश कर्म विपाक आदि भोगभावना से लिप्त रहता है, परमेश्वर ऐसा नहीं है, इसको स्पष्ट करते हुए योगशास्त्र के आचार्यों ने कहा—'क्लेशकर्मविपा-काशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' क्लेश आदि जीवात्म-धर्मों से सर्वथा अलिप्त, जीवात्मा के समान चेतन, पर उससे अत्यन्त विशिष्ट तत्त्व ईश्वर है। परमेश्वर सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी सर्वनियन्ता जगत् का उत्पादक आदि है, यही परमात्मा की विशिष्टता है।

यह स्थिति जीवात्मा से परमात्मा को भिन्न करती है। गतसूत्र की व्याख्या में उद्धृत कठ उपनिषद् '[२।२।११] का सन्दर्भ इसी अर्थ को स्पष्ट करता है। जीवात्मा भोक्ता है, उसके कर्म आदि से अलिप्त रहने के कारण परमेश्वर अभोक्ता है, इस अर्थ को 'द्वा सुपर्णा सयुजा' [ऋ० १।१६४।२०] इत्यादि ऋचा में कहा है। इसप्रकार शास्त्रों में अनेकत्र इस अर्थ का कथन है, कि परमात्मा जीवात्मा के भोगों–क्लेश आदि से सर्वथा अलिप्त रहता है ॥४७॥

शिष्य आशंका करता है, ब्रह्म जीवात्मा के समान भोगादि में लिप्त न रहो; पर जीवात्मा को ब्रह्म के समान क्यों न मानलिया जाय? अन्यथा अंशांशिभाव की कल्पना के लिये इनके अभेदकथन [ब्र० सू० २।३।४३] का प्रयोजन ही क्या रहेगा? तब जीवात्मा को ब्रह्म के समान मानलेने पर शास्त्र में जीवात्मा के लिये विधि-निषेध का कथन निरर्थक होगा; क्योंकि वह ब्रह्म के लिये नही है; और जीवात्मा ब्रह्म के समान है, उसके लिये भी वह न होना चाहिये? सूत्रकार ने समाधान किया—

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥४८॥

[अनुज्ञापरिहारौ] विधि और निषेध [देहसम्बन्धात्] देह के साथ सम्बन्ध से [ज्योतिरादिवत्] ज्योति आदि के समान। जैसे ज्योति-अग्नि आदि पदार्थ स्थानविशेष के सम्बन्ध से ग्राह्य और परिहार्य होते हैं, ऐसे ही जीवात्मा के लिये अनुज्ञा-परिहार देह-सम्बन्ध से होते हैं।

'कृषिमित्कृषस्व' [ऋ० १०।३४।१३] 'खेती ही कर' यह अनुज्ञा अर्थात् विधि-वाक्य है। 'अक्षैर्मा दीव्यः' [ऋ० १०।३४।१३] यह परिहार अर्थात् निषेधवाक्य है। इसीप्रकार–'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' [शत० २।२।२।१८] 'सत्यं वद, धर्मं चर' [तै० १।११] 'संगच्छध्वं संवदध्वम्' [ऋ० १०।१९१।२] इत्यादि विधिवाक्य हैं; और 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः, प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' [तै० १।११] 'गां मा हिंसीः' [यजु० १३।४३] इत्यादि निषेधवाक्य हैं। आत्मा के लिये कहे गये ये सब विधि-निषेध जीवात्मा का देह के साथ सम्बन्ध होने पर सम्भव होते हैं। तात्पर्य यह, कि विधि-निषेध के अनुष्ठान के लिये आत्मा का देह के साथ सम्बन्ध होना आवश्यक है। सूत्र का 'देह' पद सूक्ष्म-स्थूल दोनों प्रकार के देहों का बोधक है। यद्यपि जीवात्मा सदा चेतन है, और इस आधार पर ब्रह्म के साथ उसके अंशांशिभाव की कल्पना कीजाती है, पर चेतन होते हुए भी विधि-निषेध के अनुष्ठान की प्राप्ति उसे देहसम्बन्ध से होती है। स्वकृत कर्मों के भोग व कर्म के लिये जीवात्मा का देहसम्बन्ध अवश्यम्भावी है। यह स्थिति ब्रह्म के लिये नहीं है। जैसा जीवात्माओं का देहसम्बन्ध होता है, ब्रह्म का कभी नहीं होता। इसलिये अनुज्ञा-परिहार ब्रह्म के लिये न होने पर भी जीवात्मा के लिये सार्थक हैं। समानता केवल चेतनभाव के आधार पर कही जाती है।

लोक में यह स्पष्ट देखा जाता है, अग्न्याधान के लिये आग किसी पवित्र स्थान–श्रोत्रिय आदि के घर–से लाई जाती है, श्मशान आदि अपवित्र स्थान से नहीं। आग यद्यपि समान है, पर स्थानविशेष के सम्बन्ध से वह स्वीकार्य व परिहार्य होती है। पृथिवी आदि से उत्पन्न ओषधि तथा फल अन्न आदि ग्राह्य होते हैं; पर उन्हीं से बने शव–मृतशरीर आदि परिहार्य होजाते हैं। बहता हुआ स्वच्छ जल आदेय होता है, वही गड्ढे में भरा मलिन अल्प जल परिहार्य होता है। वस्तुओं के विषय में ये अनुज्ञा-परिहार जैसे स्थानविशेष आदि के सम्बन्ध से होते हैं, ऐसे ही आत्मा के लिये शास्त्रीय अनुज्ञा-परिहार देहसम्बन्ध से होते हैं। जीवात्मा का देहसम्बन्ध निश्चित है, अतः उसके लिये ये सार्थक हैं। जब तक देहसम्बन्ध रहता है, विधि-निषेध उसके लिये बने रहते हैं। इस रूप में वह ब्रह्म के समान नहीं ॥४८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जीवात्मा और ब्रह्म के अंशांशिभाव की कल्पना में यदि इनका अभेद आधार है, तो जीवात्माओं द्वारा किये कर्मों का एक दूसरे के साथ सांकर्य क्यों नहीं होजाता ? सूत्रकार ने समाधान किया—

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥४६॥

[असन्ततेः] सन्तति–फैलाव के न होने से [च] तथा [अव्यतिकरः] व्यतिकर–सांकर्य नहीं है। तथा जीवात्माओं का सर्वत्र फैलाव न होने से उनके कर्म तथा कर्मफलों का सांकर्य नहीं होता।

शिष्य की जिज्ञासा का तात्पर्य यह है, कि जीव और ब्रह्म का अभेद मानने पर प्रत्येक जीव के ब्रह्मरूप होने से किसी एक जीवद्वारा किये गये कर्म और उनके फलोपभोग की यह व्यवस्था नहीं की जासकती, कि उस कर्म और फल का संबन्ध उसी जीवात्मा से है; क्योंकि वे सब अभेदरूप से एक ब्रह्म हैं। अन्तःकरणों के आधार पर भी इस अव्यवस्था या सांकर्य का समाधान नहीं होपाता। परिच्छिन्न अन्तःकरण जिस देह से सम्बद्ध है, वह देह बराबर गतिशील रहता है, अन्तःकरण भी उसके साथ देशान्तर में जाता है; परन्तु ब्रह्मरूप अथवा ब्रह्म से अभिन्न जीवात्मा में गति का होना संभव नहीं, क्योंकि ब्रह्म सर्वत्र समानरूप से व्याप्त है। गतप्रकरण में कर्त्ता या भोक्ता होना चेतनतत्त्व जीवात्मा का निश्चित किया गया है। सब जीवात्माओं के ब्रह्मरूप होने से वह समस्त कृति और भोग समानरूप से ब्रह्म में प्राप्त होता है। जिस अन्तःकरणयुक्त ब्रह्मप्रदेश के द्वारा कोई कर्म किया गया; उसीके द्वारा भोगे जाने की व्यवस्था अभेद-विचार में संभव नहीं होती। इसप्रकार कर्म और कर्मफल का सांकर्य प्राप्त होता है। अभेदविचार में जीवात्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व कोई नहीं है[1]।

१. इसी सूत्र की व्याख्या में आचार्य शंकर ने बताया है–'उपाधितन्त्रो हि जीव

आचार्य सूत्रकार के समाधान का तात्पर्य है, जीव और ब्रह्म का अभेद वास्तविक नहीं है। जिज्ञासु ने उसे वास्तविक समझकर सांकर्य दोष की उद्भावना की है। जीवात्मा अपनेरूप में एक स्वतन्त्र चेतनतत्त्व है, जो परिच्छिन्न है। वह अतिसूक्ष्म होने से देह के एकदेश में निवास करता है, उसका फैलाव–विस्तार [-सन्ततिः] सर्वत्र नहीं है। देहादि की गति के साथ उसकी गति है। वह जो कर्म करता है, वही उसको भोगता है; यह बात आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व और उसे परिच्छिन्न मानने पर संभव है। ऐसी स्थिति में कर्म और कर्मफल के सांकर्य दोष की उद्भावना का अवसर नहीं रहता। यह सूत्र सूत्रकार के इस आशय को प्रकट करता है, कि जीवात्मा और ब्रह्म का जो अभेद किसी विशेष भावना के आधार पर कहा गया है [ब्र० सू० २।३।४३], वह वास्तविक नहीं है। अभेदकथन की भावना के विषय में प्रकरण के गतसूत्रों पर व्याख्यान कर दिया है। जीवात्मा के लिये जैसे शास्त्रीय विधि-निषेध देहसम्बन्ध से माने जाते हैं, ऐसे ही परिच्छिन्न आत्मा के कर्म और भोग देहादिसम्बन्धद्वारा संपन्न होते हैं। जीवात्मा की ऐसी स्थिति मानने पर सांकर्य दोष की संभावना नहीं रहती ॥४६॥

आत्मा की कैसी स्थिति मानने पर सांकर्य दोष की उद्भावना होसकती है, आचार्य सूत्रकार ने इसे स्वतः स्पष्ट किया—

आभास एव च ॥५०॥

[आभासे] आभास में [एव] ही [च] तथा। जीवात्मा को ब्रह्म का आभास मानने में ही सांकर्य दोष का उद्भावन संभव है।

यदि एकमात्र ब्रह्म चेतनतत्त्व को माना जाता है, उससे अतिरिक्त कोई चेतन अथवा अचेतनतत्त्व नहीं है; जीवात्मतत्त्व ब्रह्म का केवल आभासरूप है। आभास का तात्पर्य होता है–प्रतिबिम्ब अथवा प्रभा। जैसे मणि आदि की प्रभा का मणि से भिन्न आभास होता है, तथा जैसे सूर्य आदि का विभिन्न वस्तुओं जलादि में प्रतिबिम्ब पड़ता है; ऐसे ही जीवात्मा एक ब्रह्म का आभास व प्रतिबिम्बमात्र है; तो ऐसी मान्यता में सांकर्य दोष संभव है। इस विषय में यह भी विचारना चाहिये, कि ब्रह्म जैसे तत्त्व का प्रतिबिम्ब हो भी सकता है, या नहीं ? सूर्य अथवा मुख आदि का दृष्टान्त इस प्रसंग में सर्वथा विषम हैं; क्योंकि ये पदार्थ स्थूल सावयव सरूप हैं, सर्वथा निरवयव नीरूप ब्रह्म का प्रतिबिम्ब व आभास कैसे संभव है ? इसके अतिरिक्त प्रतिबिम्ब किसी अन्य वस्तु में होसकता है, ब्रह्म से अन्य यदि कोई सत्ता नहीं, तो प्रतिबिम्ब होगा कहां ? इसलिये यह

इत्युक्तम्।' चेतन ब्रह्म का जीव व्यवहार केवल अन्तःकरण उपाधि के अधीन है। उपाधि के स्थानान्तरित होते रहने से 'जीव' पद से व्यवहार्य एक ही चेतनप्रदेश नहीं रहता; तब सांकर्य से कैसे बचा जासकता है ?

ब्रह्म के आभास की कल्पना निराधार है। तत्त्व की विवेचना के लिये ऐसी कल्पना की-जासकती है, इसी भावना से सूत्रकार ने कहा–जीवात्मा को आभासमात्र मानने में सांकर्य दोष की संभावना है ।।५०।।

इस विषय में स्वयं सूत्रकार ने हेतु प्रस्तुत किया—

अदृष्टानियमात् ।।५१।।

[अदृष्टानियमात्] अदृष्ट का नियम न होने से। जीवात्मा को आभास मानने पर अदृष्ट [धर्म-अधर्म] का नियम न रहने से सांकर्य दोष प्राप्त होगा।

आत्मा को ब्रह्म का आभास वा प्रतिबिम्ब मानने पर प्राणीस्थिति की व्याख्या व विवेचन के अनुसार ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अन्तःकरण में कल्पना किया जाता है। अन्तःकरण में ब्रह्म के उसी प्रदेश का आभास होगा, जो उससे सम्बद्ध है। अन्तःकरण देह के साथ एक स्थान से स्थानान्तर में गतिशील रहता है, पर ब्रह्म कूटस्थ निश्चल है। अन्तःकरण के स्थानपरिवर्त्तन के अनुसार आभास बदलता रहेगा। जिस आभास ने कर्म किया है, वह भोगप्रदेश में नहीं है; तथा यह कर्म न करनेवाले अन्य अन्तःकरण-आभास का प्रदेश है। इसप्रकार करनेवाला अन्य तथा भोगनेवाला अन्य होजाता है। जिस अन्तःकरणयुक्त ब्रह्मप्रदेशरूप जीवात्मा ने धर्म-अधर्म किया; भोग के समय देह के स्थानान्तरित होने के साथ अन्तःकरण के भी देशान्तर में चले जाने से अन्तःकरणयुक्त उस प्रदेश का ब्रह्म जीवात्मा कहाजायगा, तब धर्माधर्म करनेवाला अन्य तथा भोगनेवाला अन्य होगा। इसप्रकार अदृष्ट–धर्माधर्म–की व्यवस्था न रहने से सांकर्य दोष प्राप्त होगा।

यदि कहा जाय, कि अखण्ड ब्रह्म में प्रदेश की कल्पना नहीं होसकती; तो मानना होगा, कि असंख्यात अन्तःकरणों का सम्बन्ध एकमात्र ब्रह्म से है, तो समस्त अन्तःकरणों का एकमात्र ब्रह्म से सम्बन्ध होने पर सांकर्य दोष और अधिक उभर कर सामने आयेगा। क्योंकि अन्तःकरणयुक्त ब्रह्म में अन्तःकरणों की भिन्नता के आधार पर कर्म व भोग की व्यवस्था न रहेगी, सबके कर्म व भोग सबमें प्राप्त होंगे। इस विषय में यह भी विचारना आवश्यक है, कि ब्रह्म में प्रदेश की कल्पना न मानने पर यही स्वीकार करना होगा, कि अन्तःकरण में पूर्ण अखण्ड ब्रह्म प्रतिबिम्बित होता है, तब अनन्त अन्तःकरण होने से ब्रह्म भी उतने मानने होंगे। यह सर्वथा अशास्त्रीय एवं युक्तिप्रमाण के विरुद्ध है। इसलिये जीवात्मतत्त्व को ब्रह्म का आभासमात्र कहना सर्वथा निराधार है। अनन्त ब्रह्म मानने से यही श्रेयस्कर है, कि जीवात्मतत्त्व अनन्त हैं, अचेतन प्रकृतितत्त्व उनके भोगापवर्ग का साधन है। इन सबका नियन्ता अधिष्ठाता एकमात्र ब्रह्म है, यही तथ्य स्वीकार किया जाय।

ब्रह्माद्वैतवाद को–इस रूप में प्रस्तुत कर, कि एकमात्र ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व का अस्तित्व नहीं है–जितना गंभीरतापूर्वक विचारा जाय, उतना ही यह

विशीर्ण-विच्छिन्न होता चला जाता है। फलतः जीव-ब्रह्म के अंशाशिभाव की कल्पना में इनके अभेद को जो आधार माना है, वह औपचारिक है। दोनों तत्त्वों के चेतनभाव की समानता को लेकर ऐसी कल्पना की गई है, उसीके अनुसार शास्त्रीय वर्णन हैं। ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्ति चेतन है, जीवात्मा अल्पज्ञ अल्पशक्ति चेतन हैं, इसलिये उसके अंश जैसा इन्हें वर्णन कर दिया गया है। वस्तुतः ये अपने रूप में भिन्न तत्त्व हैं, अतः इनके कर्म व भोग में किसीतरह के सांकर्य की संभावना नहीं कीजासकती।

पूर्ण अखण्ड व्यापक ब्रह्म के प्रत्येक अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होने के प्रतिषेध से जीवात्मा का स्वरूप से विभु होना भी प्रतिषिद्ध होजाता है, क्योंकि इस मान्यता में प्रत्येक देह व अन्तःकरण से प्रत्येक आत्मा का सम्बन्ध अनिवार्य होगा; उस दशा में अदृष्ट की व्यवस्था न रहेगी। प्रत्येक आत्मा के कर्म व भोग समानरूप से प्रत्येक आत्मा में प्राप्त होंगे, तब भी सांकर्य दोष की आपत्ति होगी। यद्यपि प्रकरण [ब्र० सू० २।३।२१–३२] में आत्मा की अणुता को सिद्ध कर दिया तथापि उसकी दृढ़ता के लिये–आत्मा के विभु मानने में क्या आपत्ति होसकती है–यहां प्रसंगवश प्रतिपादन कर दिया है ॥५१॥

शिष्य आशंका करता है, राग-द्वेषादिमूलक संकल्प के कारण अदृष्ट की व्यवस्था मानी जासकेगी, तब जीवात्मा को ब्रह्म का आभास मानने अथवा जीवात्मा को विभु मानने में क्या दोष है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥५२॥

[अभिसन्ध्यादिषु] अभिसन्धि आदि में [अपि] भी [च] और [एवम्] ऐसा ही है। और अभिसन्धि आदि में भी अदृष्ट के समान अनियम बना रहेगा।

रागद्वेषादिमूलक संकल्प का नाम 'अभिसन्धि' है। सूत्र के 'आदि' पद से प्रयत्न ज्ञान वासना आदि आत्मसम्बन्धी धर्मों का ग्रहण अभीष्ट है। शिष्य की आशंका का अभिप्राय है, कि जीवात्मा को ब्रह्म का आभास अथवा विभु मानने में गतसूत्र से अदृष्ट [धर्म-अधर्म] के अनियम की जो आपत्ति प्रस्तुत की गई है, वह उस समय नहीं रहती, जब रागद्वेषादिमूलक संकल्प के आधार पर धर्माधर्म की व्यवस्था होसकती है। अन्तः-करणयुक्त ब्रह्म जीवात्मा है, उसकी समस्त प्रवृत्तियां रागद्वेषादिमूलक हुआ करती हैं, उन्हींके अनुसार संकल्प बनता है, एकप्रकार की दृढ़ धारणा। जीवात्मा के संकल्प व धारणा के आधार पर धर्माधर्म और भोग की व्यवस्था होजाती है। ऐसा संकल्प इनका नियामक माना जासकता है। तब अदृष्ट का अनियम न रहने से आत्मा को ब्रह्म का आभास व विभु मानने में क्या आपत्ति है?

आचार्य सूत्रकार के समाधान का तात्पर्य है, कि रागद्वेषादिमूलक संकल्प के होने और धर्माधर्म व भोग में उसका सहयोग होने से किसीको नकार नहीं होना चाहिये; पर जो स्थिति धर्माधर्म की है, वही स्थिति संकल्प आदि की है। जीवात्मरूप जिस ब्रह्म

प्रदेश ने धर्माधर्म के अनुष्ठान के साथ संकल्प किया, वह उस समय छूट जाता है, जब भोगकाल में अन्तःकरण देशान्तर चले जाने से अन्य ब्रह्मप्रदेश के साथ सम्बद्ध होता है। इसलिये अदृष्ट के विषय में जो अनियम कहा गया, संकल्प आदि के विषय में वही बना रहता है। तब संकल्प की नियामकता का अवकाश कहां है ? कोई संकल्प एक ब्रह्म-प्रदेश को अन्यत्र ला नहीं सकता, वह सर्वत्र व्याप्त पूर्ण तत्त्व है। किसी अन्तःकरण का सम्बन्ध समस्त ब्रह्म के साथ कभी नहीं माना जासकता। प्रत्येक अन्तःकरण में पूर्ण ब्रह्म का प्रतिबिम्ब भी अकल्पनीय है, जैसा गतसूत्र की व्याख्या में स्पष्ट किया गया।

'अभिसन्धि' पद का अर्थ 'अभिप्राय' अथवा 'गूढ़ अभिप्राय' आदि मानने पर भी आपत्ति वैसी ही बनी रहती है। उक्त विचार के अनुसार जब आत्मा बदलता रहता है, तो 'मेरा यह अभिप्राय था' अथवा 'अमुक कार्य मैंने इस अभिप्राय से किया' इत्यादि लोकव्यवहार सर्वथा असंपन्न होगा। जिसने किया उसे फल नहीं मिला; जो फल भोगता है उसने किया नहीं; यह अव्यवस्था आत्मा को ब्रह्म का आभास–प्रतिबिम्ब मानने पर बराबर बनी रहती है। ऐसे ही प्रत्येक आत्मा को विभु मानने पर प्रत्येक के कर्म व भोग का प्रत्येक के साथ सम्पर्क होने से अव्यवस्था बनी रहेगी। फलतः आत्मा न ब्रह्म का आभास है और न विभु है। सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता ब्रह्म की सत्ता पृथक् है, तथा अल्पज्ञ अणु जीवात्मा की पृथक्। तब सांकर्य की संभावना नहीं रहती ॥५२॥

शिष्य ने जिज्ञासा की, आत्मा को ब्रह्म का आभास आदि न मानकर उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करना सत्य है, पर उसे विभु मानने में क्या दोष है ? सांकर्य अथवा धर्माधर्म के अनियम का निवारण तो देहादि सम्बन्ध से होसकता है ? आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥५३॥

[प्रदेशात्] प्रदेश से [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो ठीक) [न] नहीं, [अन्तर्भावात्] अन्तर्भाव से। देहादि प्रदेश से सांकर्य व अनियम आदि दोषों का निवारण होजायगा, यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि यह कथन स्वयं आपत्तिक्षेत्र के अन्तर्गत आजाता है।

आत्मा को विभु मानने पर उसके धर्म-अधर्म संकल्प ज्ञान यत्न आदि सब देह-प्रदेश में होते हैं। विभु होते हुए भी आत्मा अन्तःकरण आदि के सहयोग से शरीर में ही ज्ञान धर्म आदि वृत्तियों का लाभ करता है, कहीं अन्यत्र नहीं। वहीं कर्मों का अनुष्ठान और वहीं भोग होने से तथा अन्य आत्माओं के देह सर्वथा पृथक् होने से सांकर्य आदि दोष प्राप्त न होंगे। जिस आत्मा का जो शरीर है, वह वहीं करता व भोगता है, तब अव्यवस्था की कोई आशंका नहीं रहती।

आचार्य का समाधान है, जिस आधार पर उक्त वाद में प्रथम आपत्ति कीगई

है; यह कथन उसीमें आजाता है। तात्पर्य यह है, कि जिस एक आत्मा का किसी एक देह के साथ सम्बन्ध कहा जाता है, समस्त आत्माओं के विभु होने से उस देह के साथ उन सबका वैसा ही सम्बन्ध है। तब प्रत्येक शरीर में प्रत्येक आत्मा को प्रत्येक कर्म-फल की प्राप्ति होना मानना चाहिये। यदि कहा जाय, कि एक विशिष्ट आत्मा को उसके धर्माधर्म के अनुसार वह देह प्राप्त हुआ है, इसलिये उसको वहां कर्म-भोग आदि प्राप्त होगा, अन्य को नहीं। इस कथन में कोई सार नहीं। कारण यह है, कि जिन धर्माधर्मों को जिस आत्मा से सम्बद्ध कहाजाता है, अन्य समस्त आत्मा वहां पर ठीक उसीकी तरह विद्यमान हैं। तब एक ही आत्मा से उनके सम्बन्ध का नियामक कौन होगा? किसी आत्मा की कृति या भोग कभी ऐसे संभव नहीं होसकते, जो अन्य आत्माओं के सम्बन्ध से सर्वथा रहित होकर किये जासकें। इसलिये जीवात्माओं को विभु मानने पर सांकर्यादि दोषों की प्राप्ति अवश्यम्भावी है। देहादि प्रदेश के आधार पर इन दोषों का निवारण अशक्य है।

कहा जासकता है, आत्माओं को विभु मानने पर एक आत्माद्वारा किये गये कर्म आदि का दूसरे न करने वाले आत्माओं पर यदि आरोप होना माना जाता है; तो आत्माओं के अणु माने जाने पर भी परब्रह्म के सर्वत्र व्याप्त होने से आत्मकर्मों को न करनेवाले ब्रह्म पर भी उन कर्मों का आरोप माना जाना चाहिये। न करने पर वह भी कर्मों का भागी बने। पर जैसे यहां व्यापक ब्रह्म न करने पर जीवात्म-कर्मों का भागी नहीं बनता; ऐसे ही एक जीवात्मा के किये कर्मों का व्यापक भी अन्य जीवात्मा उन कर्मों को न करने के कारण उनके भागी नहीं बनेंगे। तब जीवात्माओं को विभु क्यों न मानलिया जाय?

इस विषय में ध्यान देने की बात है, कि ब्रह्म कर्म-भोग की भावना से कभी प्रकृति-सम्पर्क अर्थात् देहादि-सम्बन्ध में नहीं आता। इसलिये वह कर्म-भोग के क्षेत्र से बाहर है। जीवात्मा ऐसा नहीं है, अतः जीवात्माओं के विभु मानने पर उक्त दोषों की सम्भावना निश्चित है। इसके अतिरिक्त यदि जीवात्माओं के समस्त कर्म-भोग देहप्रदेश में ही संभव हैं, तब उनके विभु होने में न कोई प्रमाण है, न प्रयोजन। फलतः आत्मा अणु है, कर्त्ता है, चेतन होने से ब्रह्म के अंश जैसा है, अर्थात् अल्पशक्ति अल्पज्ञ है। वह अपने रूप में स्वतन्त्र तत्त्व हैं। गतप्रकरण से जीवात्मा के विषय में यह सब निश्चय किया गया। ऐसा जीवात्मा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिये ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकारी होता है; जिसके लिये प्रस्तुत शास्त्र का प्रारम्भ है ॥५३॥

इति द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः

अथ द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः ।

गत तृतीयपाद में आकाश आदि की उत्पत्ति का विवेचन तथा जीवात्मा के स्वरूप का उपपादन किया गया। जीवात्मा के भोगापवर्ग के साधन इन्द्रियादि के विषय में आवश्यक विवेचन इस चतुर्थपाद में प्रस्तुत किया जाता है।

इस पृष्ठभूमि पर शिष्य आशंका करता है, आकाश आदि तत्त्वों की उत्पत्ति का निर्देश करने वाले तैत्तिरीय उपनिषद् [२।१] के सन्दर्भ में इन्द्रियों का निर्देश नहीं है; इससे प्रतीत होता है, कि इन्द्रियों की उत्पत्ति नहीं मानी जानी चाहिये। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तथा प्राणाः ॥१॥

[तथा] वैसे [प्राणाः] प्राण–इन्द्रियां अथवा करण। जैसे आकाश आदि तत्त्व उत्पन्न होते हैं, वैसे प्राण उत्पन्न होते हैं।

आकाश आदि तत्त्वों का उत्पादक ब्रह्म है, गत प्रकरणों में विस्तार के साथ इसका निश्चय किया है। जैसे आकाश आदि का उत्पादक ब्रह्म है, वैसे इन्द्रिय आदि करणों की रचना में ब्रह्म कारण है। यद्यपि यह निश्चय कर दिये जाने पर, कि समस्त विश्व की रचना का कारण ब्रह्म है, इन्द्रियादि करणों की रचना का कारण वह सिद्ध हो-जाता है; फिर भी उपनिषदों में इस विषय के विभिन्न लेख होने से उनके सामञ्जस्य के लिये इसका विशेषरूप से विवेचन आवश्यक है।

तैत्तरीय उपनिषद् [२।१] के 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सभूतः' इत्यादि सन्दर्भ में जहां अन्य भूत-भौतिक तत्त्वों की उत्पत्ति का निर्देश है, वहां प्राणों–करणों का उल्लेख नहीं है; अतः इनकी उत्पत्ति के विषय में सन्देह किया जासकता है। वस्तुतः उपनिषदों का मुख्य विषय जगत् के उत्पाद-विनाश आदि का क्रमपूर्वक वर्णन करना नहीं, उन्हें मुख्यरूप से केवल इतना अभीष्ट है, कि जगत् का उत्पन्न करनेवाला एक चेतनतत्त्व ब्रह्म है, और वह जगत् व जगदुपादानतत्त्व से भिन्न है; यह स्पष्ट होना चाहिये। जिससे उसका वास्तविक स्वरूप समझा जासके। इसकारण उपनिषदों में जहां जैसा प्रसंग है, उसके अनुसार जागतिक तत्त्वों का निर्देश कर उनके उत्पादक के रूप में ब्रह्म का उल्लेख हुआ है। ऐसी स्थिति में यदि किन्हीं पदार्थों की उत्पत्ति का एक जगह निर्देश नहीं है, तो अन्यत्र संभव होसकता है। इसके अनुसार अनेक स्थल हैं, जहां प्राणों की उत्पत्ति का निर्देश है। मुण्डक उपनिषद् [२।१।८] में कहा–'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' सात प्राण उससे उत्पन्न होते हैं। इससे पूर्व [२।१।३] कहा–'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' यहां पर सब इन्द्रियों की उत्पत्ति का 'इन्द्रिय' पदद्वारा स्पष्ट निर्देश है। उपनिषदों के प्रतिपाद्य अर्थविषयक उक्त भावना के अनुसार इन निर्देशों

में किसीप्रकार के विरोध की आशंका नहीं कीजानी चाहिये ।

तैत्तिरीय उपनिषद् [२।१] के सन्दर्भ में भी करणों के उत्पाद की भावना अभिलक्षित होती है । वहां आगे पद हैं–'रेतसः पुरुषः' यहां पुरुष की उत्पत्ति से तात्पर्य 'देह' से है । देह की उत्पत्ति सदा करणों के सहित होने से देह की उत्पत्ति बताने पर करणों की उत्पत्ति का कथन स्वतः होजाता है ।

सूत्र में 'प्राण' पद करणवाचक है । उपनिषदों में इस पद का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। उनमें एक अर्थ 'करण' है। इसके लिये छान्दोग्य उपनिषद् [५।१।६–६] तथा बृहदारण्यक [२।१।१७, २०] के प्रसंग प्रमाण हैं। मुण्डक उपनिषद् [२।१।८] का सन्दर्भ प्रथम उद्धृत किया गया है। वस्तुतः शरीरवर्त्ती जिन क्रियाओं का 'प्राण' पद से बोध होता है, वे क्रिया समस्त इन्द्रियों व करणों का 'व्यापार' हैं, करणों की वृत्तियां। करणों के अस्तित्व में ही शरीर के अन्दर यह व्यापार संभव है, इसी आधार पर 'प्राण' पद का प्रयोग इन्द्रियों व करणों के लिये होता है। उपनिषदों में 'प्राण' पद कहीं 'बुद्धि' [महत्तत्त्व–आद्यकार्य] अर्थ में प्रयुक्त है, जैसे मुण्डक उपनिषद् [२।१।३] में, और कहीं 'इन्द्रियों के गोलक' अर्थ में। इसका विवेचन उन-उन प्रसंगों के अनुसार समझ लेना चाहिये ॥१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, कदाचित् तैत्तिरीय [२।१] में उत्पत्ति का उल्लेख न होने से करणों की अन्यत्र उत्पत्ति का वर्णन औपचारिक–गौण हो, तो यह उत्पत्ति-विषयक सन्देह वैसा ही बना रहेगा ? सूत्रकार आचार्य ने कहा—

गौण्यसम्भवात् ॥२॥

[गौण्यसम्भवात्] गौणी उत्पत्ति के असंभव होने से। प्राणों की उत्पत्ति को गौणी अर्थात् औपचारिक कहना संभव नहीं है ।

यदि किसी प्रतिपाद्य अर्थ के विषय में कोई बाधक हेतु उपस्थित होजाय, तो उस अर्थ को गौण मानाजासकता है। पर यहां करणों की उत्पत्ति के विषय में कोई बाधक हेतु नहीं है, इसलिये उसे गौणी कहना सम्भव नहीं ।

प्राणों के उत्पत्तिविषयक वचन को गौण इसी आधार पर कहा जासकता है, कि तैत्तिरीय उपनिषद् [२।१] के सन्दर्भ में उनकी उत्पत्ति का निर्देश नहीं । पर गत-सूत्र की व्याख्या में यह स्पष्ट कर दिया है, कि वहां पुरुष [–देह] की उत्पत्ति के कथन से 'प्राणों–करणों' की उत्पत्ति का कथन स्वतः होजाता है । इसलिये प्राणों की उत्पत्ति का गतसूत्र से किया गया अतिदेश सर्वथा युक्त है ॥२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, इन्द्रियों का प्रादुर्भाव आकाश आदि के पहले होजाता है, अथवा अनन्तर होता है ? आचार्य ने कहा—

तत्प्राक् श्रुतेश्च ।।३।।

[तत्प्राक्] उनसे पहले [श्रुतेः] श्रुति से [च] और (स्मृति से)। श्रुति और स्मृति से यह जाना जाता है, कि प्राण-इन्द्रियां आकाश आदि से पहले उत्पन्न होजाती हैं।

श्रुति और स्मृति में प्रतिपादित सृष्टि-उत्पत्तिक्रम के अनुसार इन्द्रियों की उत्पत्ति पहले तथा आकाश आदि की उनके अनन्तर होती है। मुण्डक उपनिषद् [२।१।१-३] में 'अक्षर'-प्रकृति से साधारणरूप में विविध सृष्टि की उत्पत्ति कहकर तथा अक्षर-प्रकृति से परात्पर ब्रह्म का निर्देश कर, इन कारणों से जो जगत् बनता है, उसका निर्देश इस क्रम से किया-'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी'। प्राण, मन, सब इन्द्रिय [पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय], आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी। यहां 'प्राण' पद बुद्धितत्त्व का बोधक है, और यह 'अहंकार' का उपलक्षण है। अपने साथ वह 'अहंकार' तत्त्व का बोध करा देता है। उसके अनन्तर मन, तथा इन्द्रियां उत्पन्न होजाती हैं। इनके अनन्तर आकाश आदि की उत्पत्ति का क्रम है। सांख्यस्मृति में इस विषय का विस्तृत विवेचन है, वहां सृष्टि-उत्पत्ति के इसी क्रम को निश्चित किया है।[1] तैत्तिरीय उपनिषद् [२।१] के सन्दर्भ में केवल भूतों की उत्पत्ति का उल्लेख हुआ है, जिसका प्राणी-जगत से सीधा संपर्क है; वहां इतना निर्देश अभीष्ट है, जो प्रसंग के लिये अपेक्षित है। सृष्टि-उत्पत्ति का वहां पूर्ण विवरण अनावश्यक है, क्योंकि यह उसका प्रतिपाद्य विषय नहीं। इसीप्रकार उपनिषदों के विभिन्न प्रसंगों में सृष्टि के अपेक्षित अंशों का प्रसंगानुसार उल्लेख हुआ है। उनमें आपाततः विभिन्नता देखकर उनके परस्पर विरोध की संभावना नहीं कीजानी चाहिये।

प्रश्न उपनिषद् [६।४] के 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः। अन्नमन्नाद् वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च' सन्दर्भ में इन्द्रियों का उल्लेख आकाश आदि के अनन्तर हुआ है। इससे न तो यह संभावना कीजानी चाहिये, कि इन्द्रियों की सृष्टि आकाश आदि के अनन्तर होती है; और न यह, कि पूर्वोक्त मुण्डक उपनिषद् [२।१।३] के सन्दर्भ से इसका विरोध है। क्योंकि यहां न तो सृष्टि-तत्त्वों का वर्णन अपेक्षित है, और न उनके क्रमनिर्देश की भावना है, यह सन्दर्भ के पदों से स्पष्ट है। इस प्रसंग के प्रारम्भ में 'षोडशकल' पुरुष का निर्देश है; प्रस्तुत सन्दर्भ में उस पुरुष की केवल उन सोलह कलाओं का उल्लेख है, जिनके

१. इसके लिये देखें, सांख्यदर्शन, अध्याय १, सूत्र २६ से ३०; तथा ३६ से ३८। यह सूत्रसंख्या हमारे सम्पादित एवं व्याख्यात सांख्यदर्शन की है। इसमें ३५ जोड़कर सांख्यदर्शन के अन्य किसी भी संस्करण में उक्त स्थलों को देखा जासकता है।

कारण पुरुष 'षोडशकल' कहा जाता है। इसकी तुलना उपनिषद् के सृष्टि-उत्पत्ति प्रसंगों से नहीं कीजानी चाहिये। फलतः यह निश्चित होता है, कि इन्द्रियों की उत्पत्ति सृष्टिक्रम में आकाश आदि से पहले होजाती है।

अथवा इस सूत्र की योजना गतसूत्र के 'असंभव' हेतु की पुष्टि में की जासकती है। प्राणों की उत्पत्तिश्रुति को गौण कहना असंभव है; क्यों असंभव है? इसमें हेतु दिया-'तत्प्राक्श्रुतेः'। उत्पत्ति के विभिन्न प्रसंगों में जहां इन्द्रिय का उल्लेख है, वहां अन्य तत्त्वों का है। उन प्रसंगों में उत्पत्तिवाचक 'जायते, असृजत, प्रभवन्ति' आदि पदों का एक बार पाठ प्रत्येक तत्त्व के साथ सम्बद्ध रहता है, वह इन्द्रिय के साथ गौण हो और अन्य तत्त्वों के साथ मुख्य, ऐसा नहीं मानाजासकता। सन्दर्भों में 'इन्द्रिय' पद के पाठ से पहले उत्पत्तिवाचक पद के श्रवण से इन्द्रियों की उत्पत्ति को गौण नहीं समझना चाहिये। प्रस्तुत सूत्र की ऐसी योजना यद्यपि अधिक स्वारस्यपूर्ण नहीं है। यह एक साधारण बात है, कि एक सन्दर्भ में अनेक पदों के साथ एक क्रिया का सम्बन्ध समानरूप से माना जाता है। फिर उत्पत्तिश्रुति की गौण कल्पना इस आधार पर की गई है, कि कतिपय उत्पत्तिप्रसंगों में 'प्राणों' का उल्लेख नहीं है। इसका यह समाधान शिथिल है, कि उत्पत्तिवाचक पद का सन्दर्भपठित प्रत्येक पदार्थ के साथ सम्बन्ध है ॥३॥

शिष्य आशंका करता है, छान्दोग्य उपनिषद् [६।५।४] के कतिपय वाक्यों के आधार पर यह प्रतीत होता है, कि इन्द्रियों से पहले भूतों की उत्पत्ति होजाती है, वहां 'वाक्' को तेजोमयी कहा है, इससे ज्ञात होता है, कि तेज वाक् का कारण है, कारण अवश्य कार्य से पूर्व होना चाहिये। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तत्पूर्वकत्वाद् वाचः ॥४॥

[तत्पूर्वकत्वात्] तत्पूर्वक-तेजपूर्वक होने से [वाचः] वाक् के। वाग्व्यवहार का प्रयोजक है तेज, यही भाव उपनिषद् में वर्णित है।

सूत्र का 'तत्' सर्वनाम पद विचार से उपस्थित 'तेज' का बोध कराता है। 'पूर्व' पद प्रयोजककारण का निर्देश करता है। 'वाक्' पद वाग्व्यवहार को उपलक्षित करता है। छान्दोग्य [६।५।४] के उक्त प्रसंग में तीन वाक्य हैं-'अन्नमयं हि सोम्य! मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक्'। इन वाक्यों का आपाततः यह अर्थ समझा जाता है, कि मन अन्न का, प्राण जलों का और वाणी तेज का विकार हैं; एवं अन्न आदि मन आदि के कारण हैं। उपनिषद् के प्रसंग का गम्भीरतापूर्वक विचार करने से स्पष्ट होता है, कि मन आदि की व्यवहारशक्ति को उत्तेजित व अभिव्यक्त करने के लिये अन्न आदि प्रयोजकमात्र हैं, मन आदि के उपादान नहीं, यही भाव उपनिषद् में प्रकट किया गया है। प्रसंग से स्पष्ट है, श्वेतकेतु को पन्द्रह दिन तक आहार छोड़कर केवल जल लेकर उपवास के लिये कहा गया। इसके परिणामस्वरूप मन सहित सब

ज्ञानेन्द्रियों की व्यवहारशक्ति क्षीण होगई, तेज–गति के शिथिल होजाने से सब कर्मेन्द्रियां अपना कार्य छोड़ बैठीं । समस्त इन्द्रियों–करणों का सामान्यव्यापार प्राण जल के सहारे जैसे-तैसे चलता रहा, इस अवस्था को बतलाने के लिये उक्त वाक्य कहे गये हैं। इससे स्पष्ट होता है, कि अन्न आदि मन आदि के कार्य करने की शक्ति को अभिव्यक्त व उत्तेजित करते हैं । इसी आशय से उक्त वर्णन है । इन वाक्यों का तात्पर्य अन्न आदि को मन आदि का उपादान बताने में नहीं है[1] ॥४॥

प्राण अर्थात् करणों की उत्पत्ति के विषय में निश्चय होजाने पर शिष्य उनकी संख्या के विषय में जिज्ञासा करता है। क्योंकि विभिन्न स्थलों में इन्द्रियों [प्राणों] की विभिन्न संख्या का उल्लेख है । इसी भावना से सूत्रकार ने कहा—

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥५॥

[सप्त] सात [गतेः] गति से [विशेषितत्वात्] विशेषित होने से [च] तथा। गति से तथा विशेषित होने से सात प्राण समझने चाहियें ।

उपनिषदों तथा अन्य वैदिक साहित्य के विभिन्न स्थलों में प्राणों की विविध संख्याओं का उल्लेख है । मुण्डक उपनिषद् [२।१।८] में सात प्राण बताये । तैत्तिरीय आरण्यक [१।७।२; ५।४।४] तथा (५४६) तैत्तिरीय संहिता [५।१।७।१] में 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः' सिर में रहने वाले सात प्राण कहे। बृहदारण्यक के एक स्थल [३।२।१] में 'ग्रह' पद से आठ प्राणों का उल्लेख किया है–पांच ज्ञानेन्द्रिय, दो कर्मेन्द्रिय [वाक्, हस्त] तथा एक आन्तर इन्द्रिय मन । ये आत्मा को बांधने वाले हैं, इसलिये इनको 'ग्रह' कहा । बृहदारण्यक में अन्यत्र [३।९।४] ग्यारह प्राण गिनाये हैं–'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः' पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय दस, और ग्यारहवां मन। इस प्रसंग में 'आत्मा' पद का प्रयोग 'मन' के लिये हुआ है, क्योंकि यह समस्त इन्द्रियों के साथ प्राप्त–सम्बद्ध रहता है । बृहदारण्यक के अन्य स्थलों [२।४।११, तथा ४।५।१२] में बारह करणों का निर्देश है–दस बाह्यकरण तथा मन और बुद्धि दो अन्तःकरण। प्रश्न उपनिषद् [४।८] में तेरह करणों का निर्देश है। इन सब निर्देशों के आधार पर सन्देह होता है, कि वस्तुतः कितने प्राण अर्थात् करण हैं ?

आचार्य सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र से ज्ञानसाधन करणों और अगले सूत्र से कर्मसाधन करणों को बताया है । उपनिषदों में जहां जैसा प्रसंग है, उसके अनुसार करणों का उल्लेख है; प्रत्येक स्थल में उनके संख्यानिर्धारण की कोई भावना नहीं । आचार्य ने उन सभी करणों का दो रूप में विभाजन बताया–ज्ञानसाधन करण और कर्मसाधन ।

१. इसके विस्तृत विवेचन के लिये देखें हमारी रचना–'सांख्यसिद्धान्त' पृ० २९३–२९७।

समस्त स्थलों में इसप्रकार समझ लेना चाहिये, कि कहां कितने करणों–प्राणों का किस रूप से उल्लेख हुआ है। इन उल्लेखों में परस्पर विरोध की आशंका करना सर्वथा निराधार है।

इस भावना के साथ यथाक्रम उन सन्दर्भों पर विचार करें, जहां प्राणों की किसी संख्या का निर्देश है। पहले मुण्डक उपनिषद् [२।१।८] का वाक्य सामने आता है–'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' परमात्मा से सात प्राण उत्पन्न होते हैं। इसी कण्डिका में आगे वर्णन है–ये प्राण अपने विषय का बोध कराने में साधन होते हैं, सात इनके विषय, सात विषयज्ञान, तथा सात लोक–जिनमें ये प्राण विचरण करते हैं। इन समस्त तत्त्वों का उत्पादक परमात्मा है, यह प्रकरण का तात्पर्य है।

ये सात प्राण कौनसे हैं? इसकी स्पष्ट व्याख्या उपलब्ध नहीं। कहीं दो आंख दो नाक दो कान एक मुख को गिनकर सात संख्या बताई है, कहीं पांच ज्ञानेन्द्रिय एक कर्मेन्द्रिय वाक् और एक आन्तर इन्द्रिय मन को लेकर सात संख्या पूरी की हैं। इनमें वस्तुतः देखा जाय, तो पहले में इन्द्रियों के गोलकों की गणना है, इन्द्रिय तो वहां चार हैं–चक्षु, घ्राण, श्रोत्र और रसन। 'मुख' से 'वाक्' का ग्रहण किया जासकता है। आचार्य शंकर ने मुण्डक उपनिषद् [२।१।८] के इस सन्दर्भ की व्याख्या में 'सप्त शीर्षण्याः प्राणाः' कहकर व्याख्या की है। यह वाक्य अनेक ब्राह्मण व आरण्यक ग्रन्थों में है। पर वहां 'पञ्च शीर्षण्याः प्राणाः' [श० ११।२।६।४] पाठ भी उपलब्ध होता है। वस्तुतः ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में ऐसे उल्लेख विभिन्न निमित्तों के आधार पर हैं; इनमें इन्द्रियों की गणना निर्धारित करने की भावना नहीं है। इस आशय का एक मन्त्र अथर्ववेद [१०।२।६] में है–'कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'। कौन देव शिर भाग में सात इन्द्रियच्छिद्रों को विशेषरूप से घढ़ कर बनाता है, जो दो कान दो नासिका दो चक्षु और मुख के रूप में हैं। स्पष्ट है, कि यह कथन इन्द्रिय गोलकों के विषय में है, 'वि ततर्द' क्रियापद इस भाव को और अधिक स्पष्ट कर देता है, जिसका अर्थ है–काट छीलकर बनाना। इन्द्रियों की गणना में इसका तात्पर्य संभव प्रतीत नहीं होता।

मुण्डक उपनिषद् के सात प्राणों की दूसरी व्याख्या में पांच ज्ञानेन्द्रिय, वाक् और मन को गिना है। इन्द्रियकथन की दृष्टि से शीर्षण्य सात प्राणों की यह गणना उपयुक्त कही जासकती है। 'प्राण' पद का अर्थ 'करण' समझने पर 'बुद्धि' की गणना इसमें नहीं होती। इन्हीं सात में 'हस्त' इन्द्रिय को और मिलाकर 'आठ ग्रह' के रूप में बृहदारण्यक [३।२।१] का उल्लेख है। इन दोनों स्थलों में एक या दो कर्मेन्द्रियों को शेष सबका उपलक्षण मानलिया जाय, तो इन्द्रियों की संख्या का भेद न रहकर इन सब उल्लेखों में समानता स्पष्ट होजाती है।

आचार्य शंकर ने जहां नौ इन्द्रियों का उल्लेख किया है, वहां वाक्य उद्धृत

किया-'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा द्वाववाञ्चौ' इसका मूलस्थान मुद्रित पुस्तकों में [तै० सं० ५।१।७।१] दिया गया है। पर वहां 'द्वाववाञ्चौ' ये पद नहीं हैं। यदि कहीं ऐसा पाठ मानलिया जाय, तो इसका अभिप्राय देह के केवल नौ छिद्रों का निर्देश करना है, इन्द्रियों का नहीं। देह के इन नौ छिद्रों व नवद्वारों का उल्लेख अनेकत्र श्रुति-स्मृतियों में पाया जाता है। अथर्ववेद [१०।२।३१] में 'अष्टचक्रा नवद्वारा···पूः' का वर्णन है। अन्यत्र 'नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः' [अनुपलब्धमूल] कहा है। नाभि को छिद्र-समान मानकर नौ छिद्रों के साथ इसे जोड़ दस संख्या कही है। ग्यारह संख्या का स्थल बृहदारण्यक [३।९।४] से उद्धृत किया गया है। इन्द्रियों की दृष्टि से यह सर्वथा युक्त है। पर वहां ग्यारह 'रुद्र' की गणना का प्रसंग है। शरीर छोड़कर जाते समय ये प्राणियों को रुलाते हैं, इसकारण इनकी 'रुद्र' संज्ञा है, यह बताना अभीष्ट है।

जब 'प्राण' पद का अभिप्राय 'करण' लिया जाता है, तब बारह और तेरह की संख्या सामने आती है। ज्ञान व कर्म के साधन इन्द्रियों से अतिरिक्त 'अहंकार' तथा 'बुद्धि' दो करण और हैं। जहां अहंकार का बुद्धि में अन्तर्भाव मानलिया गया, वहां बारह, अन्यथा तेरह करणों के रूप में प्राणों को बताया गया है; जैसे प्रश्न उपनिषद् [४।८] में। फलतः प्राणों के विभिन्न वर्णनों में—चाहे वह इन्द्रियरूप से है चाहे करण-रूप से—उनको ज्ञानसाधन और कर्मसाधन इन दो विभागों में समझलेना आवश्यक है। इसी आशय से सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में प्रथम ज्ञानसाधन करणों का निर्देश किया है।

सूत्र के 'गति' पद का अर्थ 'ज्ञान' है। ज्ञान से सात करण जाने जाते हैं। ज्ञान के साधन होने से इनका निश्चय होता है। इनमें पांच करण बाह्यसाधन हैं—चक्षु आदि पांच बाह्य ज्ञानेन्द्रिय। दो उनके अत्यन्त सहयोगी आन्तर करण हैं—मन और बुद्धि। कोई ज्ञान इनके सहयोग बिना पूरा नहीं होपाता। तात्पर्य यह, कि आत्मा को किसी-का ज्ञान होने के ये सात करण हैं। यहां 'अहंकार' का बुद्धि में अन्तर्भाव कर सात ज्ञानसाधन करणों का निर्देश है। 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' सन्दर्भ में 'प्राण' पद से ये सात करण ग्राह्य हैं। 'सप्त शीर्षण्याः प्राणाः' [ऐ० आ० १।५।१] वाक्य में इन सात को विशेषित किया गया है, विशेषतया शिरोभाग में रहने से इनका निर्देश है। फलतः ज्ञानसाधन करण सात हैं।

व्याख्याकारों ने सूत्र के 'गति' पद का साधारण 'जाना' अथवा 'उत्क्रमण' अर्थ लेकर बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।२] के 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' इत्यादि सन्दर्भ को इस सूत्र का लक्ष्यप्रदेश माना है, और यह कहा है, कि वहां सात प्राणों के उत्क्रमण [गति—जाने] का निर्देश होने से प्राण सात समझने चाहियें। यह प्रतिपादन कर इसे पूर्वपक्ष का सूत्र कहा है, अगला सूत्र उत्तरपक्ष का। परन्तु सूत्र की ऐसी व्यवस्था चिन्तनीय है। कारण यह है, कि बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।२] के उक्त सन्दर्भ में आठ करणों का निर्देश है, सात का नहीं। आचार्य शंकर ने इस यथार्थता

पर लीपापोती करने का प्रयास किया है। क्योंकि आचार्य 'बुद्धि' को करण मानने के लिये तैयार नहीं। यद्यपि उपनिषद् में यहां 'मन' और 'विज्ञान' [बुद्धि] का पृथक् निर्देश है, पर सूत्रगत सात [सप्त] संख्या की तुक मिलाने के लिये इन दोनों को एक लिख दिया है[1]। यदि विज्ञानपदवाच्य बुद्धि की यहां उपेक्षा कीजाती है, तो अगले[2]–'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' [बृ० ४।४।२] वाक्य की क्या संगति होगी? जब प्राणी मृत्युशय्या पर होता है, आत्माद्वारा देह छोड़े जाने का समय आता है, तब समस्त करण अपने व्यापार से विरत होकर उस हृदयदेश में सीमित होते हैं, जहां आत्मा का निवास है। तब उस देह में रहते आत्मा का बाह्य संसार से नाता टूट जाता है, उसका देखना, सुनना, सूंघना, बोलना, छूना, चखना, मनन करना, निश्चय करना आदि सब बन्द होजाता है। समस्त करण आत्म-प्रदेश में एकीभूत होजाते हैं। अब आत्मा देह को छोड़ता है।

'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' आत्मा का उत्क्रमण होते ही 'प्राण' उत्क्रमण करजाता है। प्राण का उत्क्रमण होते ही अन्य सब प्राण उत्क्रमण करजाते हैं। यहां विचारणीय है, कि आत्मा के उत्क्रमण पर जिस 'प्राण' का उत्क्रमण बतलाया, वह क्या है? वह केवल बुद्धितत्त्व होसकता है; समस्त ज्ञान बुद्धिद्वारा आत्मा में समर्पित होते हैं, वह सब प्राणों [करणों] में मुख्य है। उसके उत्क्रमण के साथ समस्त करण उत्क्रमण करजाते हैं। प्रसंगवश यह समझ लेना चाहिये, जैसे राजा की सवारी निकलने पर आगे राजा, पीछे मन्त्री और उसके पीछे अन्य कर्मचारी व प्रजाजन होते हैं; ऐसे ही आत्मा राजा, बुद्धि मन्त्री और अन्य करण प्रजाजन के समान हैं। यद्यपि राजा मन्त्री प्रजाजन जैसे एक दूसरे के आगे पीछे होते हैं, ऐसी पंक्तिबद्धता आत्मा और करणों के निष्क्रमण में नहीं है। आत्मा और समस्त प्राण–करण देह से एक साथ निकलते हैं, इनके देह छोड़ने में एक क्षण के किसी अंश का भी अन्तर नहीं होता। आत्मा जैसे ही देह को छोड़ता है, तत्काल समस्त करण देह को छोड़जाते हैं। प्राण-रूप करणों से आवृत आत्मा एक देह को छोड़ देहान्तर को प्राप्त होता है, यह तथ्य तृतीयाध्याय के प्रारम्भ में निश्चित किया गया है।

इस विवेचन के अनुसार निश्चित है, कि बृहदारण्यक के उक्त वाक्य [४।४।२]

१. 'अन्यत्र विज्ञानमष्टममनुक्रान्तं, कथं सप्तानामेवानुक्रमणम्? नैष दोषः; मनोविज्ञानयोस्तत्त्वाभेदाद् वृत्तिभेदेऽपि सप्तत्वोपपत्तेः' [शां० भा० २।४।६]।

२. सन्दर्भ का पहला भाग है–'एकीभवति न पश्यतीत्याहुः, एकीभवति न जिघ्रतीत्याहुः, एकीभवति न रसयत इत्याहुः, एकीभवति न वदतीत्याहुः, एकीभवति न शृणोतीत्याहुः, एकीभवति न मनुत इत्याहुः, एकीभवति न स्पृशतीत्याहुः, एकीभवति न विजानातीत्याहुः'।

में 'विज्ञान' [बुद्धि] की उपेक्षा नहीं कीजासकती, अन्यथा उक्त वाक्य में प्रथम 'प्राण' पद का अर्थ संदिग्ध होजायगा। फलतः यहां आठ प्राणों का निर्देश होने से सूत्र के 'सप्त' पद के साथ इसका सामञ्जस्य न होने पर इस सन्दर्भ को सूत्र का लक्ष्यप्रदेश नहीं माना जाना चाहिये। वस्तुतः यहां करणों की संख्या का निर्धारण नहीं है। प्रसंग में 'वाक्' को अन्य कर्मसाधन करणों का उपलक्षण माना जासकता है। इसलिये दो भागों में विभक्त समस्त करणों का निर्देश यहां समझेजाने के लिये कोई बाधा नहीं है; जैसा कि उपनिषदों में अन्यत्र [बृ० ४।५।१२; प्र० ४।८] उपपादन किया है। इस सब विवेचन के परिणामस्वरूप यह निश्चय होता है, कि यह सूत्र पूर्वपक्ष का न होकर सिद्धान्तपक्ष का प्रतिपादन करता है। सूत्रकार ने ज्ञानसाधन करणों–प्राणों का यहां निर्देश किया, और कर्मसाधन करणों का अगले सूत्र में ॥५॥

गतसूत्र से ज्ञानसाधन करणों को समझकर शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या करण ज्ञानसाधन के रूप में ही माने जाते हैं, या अन्य भी कोई करण हैं? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥६॥

[हस्तादयः] हाथ आदि [तु] तो [स्थिते] स्थित होने पर [अतः] इसलिये [न] नहीं [एवम्] ऐसा। हाथ आदि तो हैं करण, अतः यह स्थित–निश्चित होने पर ऐसा नहीं, कि केवल ज्ञानसाधन करण हैं।

कर्म के साधन हाथ आदि करण शास्त्र में स्वीकार किये गये हैं। बृहदारण्यक [४।४।२] में ज्ञानसाधन करणों के साथ कर्मसाधन करण 'वाक्' का उल्लेख है। अन्यत्र [बृ० ४।५।१२] कर्मसाधन पांचों करणों का उल्लेख हुआ है। इसीप्रकार प्रश्न उपनिषद् [४।८] में समस्त ज्ञान-कर्मसाधन करणों का निर्देश है। कर्मसाधन करण पांच हैं–वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ। बाह्य आन्तर भेद से ज्ञानसाधन करणों की सात संख्या में मुख्यप्राण बुद्धि को अहंकार का उपलक्षण मानकर करणों की पूर्ण-संख्या तेरह होती है। प्रश्न उपनिषद् [४।८] में एक 'चित्त' नामक करण का यद्यपि पृथक् निर्देश है, पर उसे 'बुद्धि' तत्त्व से अतिरिक्त नहीं समझना चाहिये[1]। तेरह करणों में ग्यारह [दस बाह्य करण एक आन्तर करण मन] की विशिष्ट संज्ञा 'इन्द्रिय' है। इस संज्ञा का प्रवृत्तिनिमित्त अपने विषय के साथ सीधा संपर्क होना है। सूत्रकारद्वारा बारह प्राणों का निर्देश स्पष्ट होता है–सात प्रथम सूत्र से और पांच कर्मसाधन हस्त आदि प्रस्तुतसूत्र से। इस संख्या में 'अहंकार' को बुद्धि के अन्तर्गत मानलिया गया है, इसलिये

१. इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिये देखें हमारी रचना–'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ २६१–२६३।

संख्यागत विरोध की इस विषय में आशंका करना निराधार है ।।६।।

आकाश आदि के समान प्राणों का उत्पादक ब्रह्म है, यह निश्चय होजाने पर शिष्य जिज्ञासा करता है, प्राणों का परिमाण क्या होगा ? क्योंकि आकाश आदि पदार्थों में व्यापक और परिच्छिन्न दोनों प्रकार के तत्त्व देखे जाते हैं। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अणवश्च ।।७।।

[अणवः] अणु हैं, [च] और। और प्राण अणु–सूक्ष्म एवं परिच्छिन्न परिमाण हैं।

सूत्र में 'अणु' पद का अर्थ सूक्ष्म तथा परिच्छिन्न है, परमाणु के समान परिमाण से तात्पर्य यहां नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् [१।५।१३] में कहा–'त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः' ये प्राण सब बराबर हैं, सब अनन्त हैं। इससे प्राणों का व्यापक होना प्रतीत होता है, तथा चक्षु श्रोत्र नासिका आदि स्थूलरूप में देखे जाते हैं। इसलिये इनके परिमाण में सन्देह की संभावना होसकती है। इसीकारण सूत्रकार ने निर्णय किया, प्राण सूक्ष्म एवं परिच्छिन्न हैं। चक्षु नासिका आदि देहांग जो दीखते हैं, ये प्राणों–इन्द्रियों के गोलकमात्र हैं, इनके व्यापार में सहयोगी; ये स्वयं इन्द्रिय नहीं हैं। यदि प्राण स्थूल हों, तो मृत्युकाल में देह से निकलने पर दीखने चाहियें। यदि व्यापक हों, तो जीवात्मा के साथ देह से बाहर निकलने का इनका शास्त्रीय उल्लेख असंगत होगा; जो सर्वथा अवाञ्छनीय है। इसलिये प्राणों को अणु अर्थात् सूक्ष्म एवं परिच्छिन्न मानना प्रामाणिक है।

बृहदारण्यक के उक्त [१।५।१३] सन्दर्भ में प्राणों के 'सम' होने का तात्पर्य है, कि प्रत्येक प्राणी–देह में अथवा प्रत्येक आत्मा के साथ ये एक दूसरे के सर्वथा समान होते हैं। एक देह में जैसी इन्द्रियां हैं, अन्य समस्त देहों में ठीक वैसी ही इन्द्रियां होती हैं। उनमें परस्पर किसीतरह का कोई रचनाभेद नहीं होता। तात्पर्य यह, कि प्राणों–इन्द्रियों–करणों की समस्त रचना समान है। बाहर से जो भेद कहीं प्रतीत होता है, वह गोलक में विकार होजाने के कारण है। नाना व्यक्तियों में बुद्धि आदि का भेद शरीर में अनेक ग्रन्थियों की विशेष रचना व उनमें विकार के कारण प्रतीत हुआ करता[1] है। आत्मा क्योंकि अनन्त हैं, असंख्यात हैं, अतः उनके साथ सम्बद्ध प्राण भी असंख्यात हैं; यह तात्पर्य उपनिषद् के 'अनन्त' पद का है। इससे करणों की व्यापकता का संकेत नहीं मिलता।

कतिपय व्याख्याकारों ने प्रस्तुत सूत्र को अणुतत्त्वों की ब्रह्म से उत्पत्ति में

१. इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिये देखें हमारी रचना–'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ २५०–२५४।

लगाया है। जैसे ब्रह्म आकाश आदि स्थूलभूतों का उत्पादक है, वैसे सूक्ष्मतत्त्वों–तन्मात्र आदि का है। ऐसी व्याख्या यहां उत्प्रकरण प्रतीत होती है। स्थूलभूतों की उत्पत्ति सूक्ष्मतत्त्वों की रचना के विना असंभव है। इसलिये स्थूलभूतों के उत्पादकरूप में ब्रह्म का वर्णन होजाने से सूक्ष्मतत्त्वों का उत्पाद उसमें अन्तर्हित है ॥७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जब समस्त प्राण समान हैं, तो बुद्धि को उनमें विशेषता क्यों दीजाती है ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

श्रेष्ठश्च ॥८॥

[श्रेष्ठः] श्रेष्ठ है [च] और। मुख्यप्राण बुद्धि श्रेष्ठ है, इसलिये उसे विशेषता दीजाती है।

प्राणविषयक औपनिषद वर्णनों से मुख्यप्राण की श्रेष्ठता अवगत होती है। देह से मुख्यप्राण का उत्क्रमण होने से अन्य प्राणों के उत्क्रमण का वर्णन [बृ० ४।४।२] मुख्यप्राण बुद्धि की श्रेष्ठता को प्रकट करता है। उपनिषद् के अनेक प्रसंग मुख्यप्राण को स्पष्टरूप से श्रेष्ठ वर्णन करते हैं। 'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च' [छां० ५।१।१], 'अयं वै नः श्रेष्ठः' [बृ० १।५।२१], 'तान् वरिष्ठः प्राण उवाच' [प्र० २।३] इत्यादि। सर्गरचना के अवसर पर सबसे प्रथम उत्पन्न होने के कारण 'बुद्धि' प्राण का श्रेष्ठ माना जाना उपयुक्त है। 'स प्राणमसृजत' [प्र० ६।४], 'एतस्माज्जायते प्राणः' [मु० २।१।३] इत्यादि सन्दर्भों में प्राण की प्रथम उत्पत्ति का पता लगता है।

ऋग्वेद [१०।१२६।२] के 'आनीदवातं स्वधया तदेकं' मन्त्र की 'आनीत्' क्रिया के आधार पर जगद्रचना के पूर्व प्राण की विद्यमानता को मानकर मुख्यप्राण को अनुत्पन्न कहना संगत न होगा। कारण यह है, कि उक्त ऋचा में 'आनीत्' पद सर्ग से पूर्व प्रलयदशा में स्वधा–प्रकृति के साथ एकमात्र ब्रह्म के सद्भाव को प्रकट करता है, किसीप्रकार के 'प्राण' की सत्ता को सूचित नहीं करता। इसलिये प्राण [मुख्यप्राण–बुद्धि] की सर्वप्रथम उत्पत्ति में आशंका करना निराधार है। आकाश आदि तत्त्वों तथा अन्य प्राणों के समान मुख्यप्राण का उत्पादक ब्रह्म है। 'आत्मन एव प्राणो जायते' [प्र० ३।३] इस प्राण की उत्पत्ति आत्मा-परमात्मा के द्वारा होती है। फलतः मुख्य-प्राण की प्रथम उत्पत्ति तथा उसकी श्रेष्ठता निश्चित है।

इसीकारण प्राणसंवाद के अन्त में कहा—'न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुम्' [बृ० ६।१।१३] अन्य प्राणों ने मुख्यप्राण से कहा— तुम्हारे विना हम जीवित न रहसकेंगे। सृष्टिप्रक्रिया में तत्त्वों के कारणकार्यभाव पर ध्यान देने से स्पष्ट होजाता है, कि कार्य की सत्ता कारण विना नहीं रहती। अन्य करणों–प्राणों की उत्पत्ति में आद्यकार्य महतत्त्व अर्थात् बुद्धि-प्राण का सहयोग होने से अन्य प्राणों का अस्तित्व मुख्यप्राण के बिना संभव न होगा; इससे अन्य प्राणों का जीवन मुख्यप्राण पर निर्भर होना स्पष्ट

होता है ॥८॥

प्राणविषयक इतने विवरण को सुनकर शिष्य मुख्यप्राण के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा करता है। इन्द्रियों अथवा करणों को प्राण बताया गया। प्राण की श्रेष्ठता के वर्णन में श्वास प्रश्वास तथा देहवर्त्ती अन्य क्रियाओं को भी प्राण अपान व्यान आदि के रूप में प्राण कहा गया। तब सन्देह होता है, मुख्य प्राण का वास्तविक स्वरूप क्या है? आचार्य सूत्रकार ने विषय के विवेचन की भावना से कहा—

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥९॥

[न] नहीं [वायुक्रिये] वायु और उसका विकार [पृथक्] अलग [उपदेशात्] उपदेश से। मुख्यप्राण न वायुरूप है न वायु का विकाररूप, क्योंकि मुख्यप्राण का वायु से पृथक् उपदेश किया गया है।

साधारणतया लोक में श्वास प्रश्वास आदि को 'प्राण' समझा जाता है। शास्त्रीय विचारों को थोड़ा सुनने समझने वाले कहते हैं, कि प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान के रूप में 'प्राण' शरीर में रहता है। श्वास, प्रश्वास तथा प्राण, अपान आदि सब वायुरूप अथवा वायुक्रियारूप हैं, यह स्पष्ट है। शरीर में ये सब व्यापार इन्द्रियों अथवा करणों के रहते संभव हैं। किसी एक इन्द्रिय के विकृत होजाने पर वह अपने विशिष्ट व्यापार में अक्षम होती है, सामान्य व्यापार–जो समस्त करणों का सांझा व्यापार है–बराबर चलता रहता है। सूत्रकार यह बताना चाहता है, कि श्वास प्रश्वास आदि वायु उसकी क्रिया एवं समस्त करणों की क्रिया मुख्यप्राण नहीं है। बाहर से अन्दर जाने वाले वायु को श्वास और इससे विपरीत को प्रश्वास कहा जाता है, इन्हीं का अथवा इनके विपर्यासित रूप का नाम प्राण अपान है। पर यह वायु शरीर में स्वतः नहीं आता जाता; शरीर में किन्हीं निमित्तों से यह व्यवस्था है, जिसके अनुसार यह व्यापार चला करता है। वे निमित्त हैं 'करण'। शरीर में जब तक उनकी स्थिति है, यह व्यापार चलता है। जैसे श्वास प्रश्वास अथवा प्राण अपान वायुरूप हैं, ऐसे ही व्यान आदि हैं। जब हम कोई ऐसी घटना सुनते हैं, या ऐसे विषय का स्मरण करते हैं, जिससे साहस का कार्य करने की एक स्फूर्ति शरीर में पैदा होती है, वह एक क्षण में सारे शरीर को झनझना देती है। शरीर में ऐसा व्यापार 'व्यान' नामक प्राण का स्वरूप है। उलटी या हिचकी एवं प्राणों का उत्क्रमण 'उदान' नामक प्राण का स्वरूप है। आहार आदि के रसों का शरीर के प्रत्येक अंग में पहुंचाना 'समान' का स्वरूप है।

ये सब तथाकथित प्राण वायुरूप हैं। इनको प्राण इसीलिये कहा जाता है, कि ये 'प्राण' संज्ञक इन्द्रियों अथवा करणों के व्यापार हैं। ये व्यापार एवं इनकी किसी-प्रकार की क्रिया मुख्यप्राण नहीं है। वह इनसे अतिरिक्त है। तेरह करणों में ग्यारह [दस बाह्य साधन चक्षु आदि एक आन्तर साधन–मन] की संज्ञा 'इन्द्रिय' है; शेष अहंकार और

बुद्धि 'करण' हैं 'इन्द्रिय' नहीं। बुद्धि सबमें प्रधान है, इसलिये समस्त करणों का व्यापार उसके नाम पर वर्णित किया जाता है। इस विवेचन से निश्चित होता है, कि मुख्यप्राण 'बुद्धि' है। उपनिषदों में 'प्राण' पद का प्रयोग मुख्यप्राण, समस्त प्राण, अमुख्यप्राण तथा प्राणव्यापार आदि सभी अर्थों में हुआ है। कहां किस अर्थ में प्रयोग है, इसके विवेक के विना इस विषय के प्रतिपादन में बड़ा घोटाला होता है। प्रस्तुत प्रसंग में उद्धृत मुख्य सन्दर्भों में इसका विवेक ऐसे समझना चाहिये।

'एतस्माज्जायते प्राणः' [मु० २।१।३], 'स प्राणमसृजत' [प्र० ६।४], 'तान् वरिष्ठः प्राण उवाच' [प्र० २।३], 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' [बृ० ४।४।२] इत्यादि सन्दर्भों में 'प्राण' पद मुख्यप्राण का वाचक है। 'प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' [बृ० ४।४।२], यहां 'प्राणम्' पद मुख्यप्राण के लिये तथा 'प्राणाः' पद अमुख्यप्राणों के लिये प्रयुक्त है। ऐसे ही 'अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्······इमान् प्राणान् संववर्ह' [बृ० ६।१।१३] सन्दर्भ में प्रथम 'प्राणः' पद मुख्यप्राण के लिये तथा 'प्राणान्' पद अन्य प्राणों के लिये प्रयुक्त है। बृहदारण्यक के इसी [६।१] ब्राह्मण में 'प्राणन्तः प्राणेन' वाक्यांशों में 'प्राण' पद समस्त प्राणों के लिये आया है। जिस एक प्राण के उत्क्रमण का उक्त प्रसंग में निर्देश है, उसका तात्पर्य उसके विशिष्ट व्यापार को छोड़ देने में है, तथा 'अथ ह प्राणा अहंश्रेयसि व्यूदिरे' सन्दर्भ में भी 'प्राण' पद समस्त प्राणों के लिये प्रयुक्त है। 'प्राणश्च विधारयितव्यञ्च' [प्र० ४।८] में प्राण पद का प्रयोग 'प्राण-व्यापार' अर्थ में हुआ प्रतीत होता है। शरीर का संचालन व धारण समस्त करणों के सामान्यव्यापार के चालू रहते संभव होता है।

'तान् वरिष्ठः प्राण उवाच, मा मोहमापद्यथ, अहमेवैतत् पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामि, इति। तेऽश्रद्दधाना बभूवुः' [प्र० २।३], वरिष्ठ प्राण की यह उक्ति और अन्य प्राणों का उसमें श्रद्धाहीनता को प्रकट किया जाना, उपनिषत्कार की इस भावना को अभिव्यक्त करता है, कि शरीर का धारण यद्यपि समस्त करणों के व्यापार पर निर्भर है, परन्तु उसकी डोर मुख्यप्राण के अधीन रहती है। इसका बराबर ध्यान रखना चाहिये, कि प्रश्न उपनिषद् अथवा बृहदारण्यक के ऐसे प्रसंगों में किसी एक प्राण के उत्क्रमण का निर्देश कर उसके अभाव में भी देह के चालू रहने का जो वर्णन किया गया है, वह उस प्राण [इन्द्रिय] के विशिष्ट व्यापार के अभाव का द्योतक है। इस सब प्रसंग का तात्पर्य 'बुद्धि' तत्त्व को समस्त करणों [प्राणों] में मुख्य बतलाना है। वह आत्मा—राजा के प्रधानमन्त्री के समान है। अन्य समस्त प्राण [इन्द्रिय—करण] अपने विशिष्ट व्यापार से आत्मा का भोग संपन्न करने के लिये लगे हैं, वह सब आत्मा तक पहुंचाने में बुद्धि का विशिष्ट स्थान है। इससे बुद्धि का मुख्यप्राण होना निश्चित होता है। इसीका अन्य नाम 'महत्तत्त्व' है। अन्य करणों—प्राणों के समस्त व्यापार का पर्यवसान इसीमें है। तब मुख्यप्राण का ऐसा कहना उपयुक्त है, कि मैं अपने

प्राण को पांच प्रकार से विभक्त कर उसके सहारे इस शरीर का धारण व संचालन करता हूं [प्र० २।३]। उपनिषद् का यह भाव उसकी मुख्यता को स्पष्ट करता है। फलतः न वह वायुरूप है, न वायुक्रियारूप तथा न समस्त करणों का व्यापाररूप। 'इन्द्रिय' संज्ञक ग्यारह प्राणों [करणों] में भी वह नहीं आता, इसीलिये उपनिषदों के विभिन्न स्थलों में उसका पृथक् निर्देश किया गया है। इसके लिये ये [मु० २।१।३; प्र० ६।४] स्थल द्रष्टव्य हैं।

अध्यात्मशास्त्र के कतिपय प्रसंगों में प्राण को साक्षात् वायु कहा है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण [१।२६।१] तथा ऐतरेय आरण्यक [२।३।३] में बताया—'यः प्राणः स वायुः स एष वायुः पञ्चविधः प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः' जो प्राण है, वह वायु है, यह वायु पांच प्रकार का है—प्राण अपान व्यान उदान समान। यहां 'प्राण' पद मुख्य-प्राण के लिये प्रयुक्त है, उसे स्पष्ट वायु बताया है। वस्तुतः सूत्रकार के आशय के अनुसार यहां प्राण को औपचारिकरूप से वायु कहा गया है। प्राण अपान आदि वायुरूप हैं, यह निश्चित है। समस्त करणों के ये कार्य अथवा व्यापार हैं, इनके वायुरूप होने पर भी इनके निमित्त करणों—प्राणों के अनुसार जैसे इन्हें 'प्राण' कहदिया जाता है, अर्थात् कारणपद का कार्य के लिये प्रयोग करदिया जाता है; ऐसे ही प्रस्तुत सन्दर्भ में कारण के लिये कार्य-पद का प्रयोग करदिया गया है। उपनिषत्कार का ऐसा प्रयोग इनके निमित्त-नैमित्तिक-भाव को प्रकट करता है, इससे प्राण अपान आदि करणों का व्यापार हैं, यह स्पष्ट होता है। प्राधान्य की भावना से केवल मुख्यप्राण के साथ उस सम्बन्ध का उल्लेख कर दिया है।

छान्दोग्य [४।३।१–४] के 'वायुर्वाव संवर्गः······प्राणो वाव संवर्गः' इत्यादि सन्दर्भ के आधार पर भी प्राण को वायुरूप समझे जाने का भ्रम होसकता है। 'संवर्ग' का तात्पर्य है—ग्रस्त करलेने वाला, खाजाने वाला, अपने अन्दर समाविष्ट करलेने वाला। प्रलय अवसर आने पर अधिदैवत जगत् में जैसे अग्नि सूर्य चन्द्र जल आदि को वायु खा-जाता है, अपने अन्दर ग्रस लेता है; ऐसे ही अध्यात्म में मुख्यप्राण अन्य प्राणों को ग्रस लेता है। छान्दोग्य के सन्दर्भ का यही तात्पर्य है। यहां 'प्राण' को वायु नहीं बताया गया, उनकी तुलना केवल इस आधार पर है कि कार्य का लय कारण में होजाता है। इस दृष्टि से भी 'बुद्धि' तत्त्व की मुख्यता स्पष्ट होती है। अन्य समस्त करणों—प्राणों का उपादान बुद्धि है। उसका मुख्यप्राण होना स्वाभाविक है। ऐसे अन्य औपनिषद प्रसंगों का यथायथ समाधान करलेना चाहिये ॥६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यह ठीक है, कि मुख्यप्राण 'बुद्धि' तत्त्व न वायुरूप है, न वायुक्रियारूप और न करणों का व्यापाररूप है; पर वह स्वयं करण है, यह कैसे समझा जाय? साधारणतया चक्षु आदि को करण समझा जाता है, ये आत्मा के लिये भोगादि के साधन हैं। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्टयादिभ्यः ॥१०॥

[चक्षुरादिवत्] चक्षु आदि के समान [तु] तो [तत्सह–शिष्टयादिभ्यः] उनके साथ कथन किये जाने आदि से। मुख्यप्राण बुद्धितत्त्व चक्षु आदि इन्द्रियों के समान करण है, क्योंकि अध्यात्मशास्त्रों में उसका कथन चक्षु आदि करणों के साथ किया गया है।

उपनिषदों के प्राणसंवाद आदि स्थलों में सर्वत्र मुख्यप्राण को चक्षु आदि इन्द्रियों के साथ वर्णन किया है। इसलिये चक्षु आदि के समान मुख्यप्राण [बुद्धितत्त्व] आत्मा के भोग आदि में उपकरण होता है। छान्दोग्य उपनिषद् [५।१।६] में समस्त प्राणों का एकसाथ वर्णन है। वहां चक्षु वाक् आदि के समान मुख्यप्राण का उल्लेख है। इसके लिये अन्य [छा० १।२।६; बृ० १।३।१६॥४।३।१२॥४।४।२॥ ४।५।१२; प्र० ४।८] प्रसंग भी देखे जासकते हैं।

सूत्र में 'आदि' पद से मुख्यप्राण के संघात और अचेतन होने का संग्रह होता है। प्रत्येक संहत एवं अचेतन पदार्थ आत्मा के भोगादि का साधन होता है। मुख्यप्राण भी संघात है और अचेतन है, इसलिये वह आत्मा के भोगादि का साधन है। चक्षु आदि के समान वह करण है, इसमें सन्देह नहीं ॥१०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि मुख्यप्राण चक्षु आदि इन्द्रियों के साथ पठित होने से इन्द्रियों के समान करण है, तो चक्षु आदि के रूपदर्शन आदि विशेष विषय की तरह उसका भी कोई विषय होना चाहिये। विशेष विषय ग्यारह इन्द्रियों के ग्यारह ही हैं। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ॥११॥

[अकरणत्वात्] अकरण–अनिन्द्रिय होने से [च] और [न] नहीं [दोषः] दोष, [तथा हि] जैसा कि [दर्शयति] दिखलाता है–बतलाता है शास्त्र। मुख्यप्राण के इन्द्रिय न होने से उक्त दोष नहीं, जैसाकि शास्त्र प्रकट करता है।

सूत्र में 'करण' पद इन्द्रियपरक है। प्रत्येक इन्द्रिय का ग्राह्य कोई विशेष विषय रहता है। जैसे चक्षु का रूपादिदर्शन, घ्राण का गन्धादिदर्शन, मन का स्मृतिज्ञान आदि। मुख्यप्राण इन्द्रिय नहीं है, इसलिये उसका कोई विशेष विषय नहीं होता। चक्षु आदि समस्त इन्द्रियरूप करणों से जो विषय गृहीत होते हैं, उनका यथावत् निश्चयकर मुख्यप्राण [बुद्धितत्त्व] उनको आत्मा के लिये समर्पित करता है आत्मा के साथ सीधा संपर्क बुद्धि का रहता है, अन्य करण जो कुछ आत्मा के लिये करते हैं, वह सब आत्मा तक बुद्धि के द्वारा प्राप्त होता है। यह कार्य अथवा व्यापार बुद्धिरूप मुख्यप्राण का है। इसीकारण छान्दोग्य उपनिषद् [५।१।६–१२] में बताया–प्रत्येक वाक् आदि इन्द्रिय के अपने कार्य से विरत होजाने पर केवल उस इन्द्रिय के व्यापार के विना शेष समस्त जीवन-

कार्य देह में पूर्ववत् चलता रहता है। पर मुख्यप्राण जब अपने कार्य से विरत हो देह से उत्क्रमण करने लगता है, तो अन्य समस्त करणों में शिथिलता आजाती है, और शरीरपात का प्रसंग उपस्थित होजाता है। इससे स्पष्ट होता है, कि इन्द्रियों की अपने व्यापार में स्थिति का निमित्त मुख्यप्राण [बुद्धितत्त्व] है, तथा शरीरधारण का भी वह निमित्त है। जीवात्मा जिस सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित रहता है, उसके अठारह घटकतत्त्वों में 'बुद्धि' प्रधान है। देह से जीवात्मा के उत्क्रमण के साथ बुद्धि का, और बुद्धि के साथ अन्य समस्त करणों [प्राणों–इन्द्रियों] का उत्क्रमण होता है। देह का धारण, संचालन तथा अन्य समस्त प्राणों के द्वारा ग्रहण किये गये विषयों को अध्यवसायपूर्वक आत्मा तक पहुंचाना मुख्यप्राण [बुद्धि] का विशिष्ट व्यापार है।

बृहदारण्यक [१।३।१९] में कहा–'यस्मात्कस्माच्चाङ्गात् प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यति' जिस किसी अंग से प्राण निकल जाता है, वह-वह सूख जाता है। अन्यत्र [बृ० ४।३।१२] बताया–'प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायम्' प्राण से शरीर की रक्षा करता हुआ। इससे स्पष्ट होता है, कि शरीर का धारण-पोषण तथा इन्द्रियों का अपने व्यापार में अवस्थान प्राणनिमित्तक है। मुख्यप्राण के द्वारा इसकी व्यवस्था होती है। फलतः मुख्यप्राण आत्मा के भोगादिसंपादन में साधन–करण है, यद्यपि वह 'इन्द्रिय' नहीं।

सूत्रपदों का अर्थ इसप्रकार भी किया जासकता है–मुख्यप्राण को करण न माने जाने से [अकरणत्वात्] जो दोष प्राप्त होता है [दोषः], वह अब नहीं होना चाहिये [न]; जबकि मुख्यप्राण को श्रुति साधनरूप से दिखलाती है। 'प्राणेन रक्षन्' [बृ० ४।३।१२], 'तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान् प्राणानवति' [छा० १।२।९], घ्राण आदि इन्द्रियां आत्मंभरि हैं, अपने ही विषय को ग्रहण करती हैं, पर मुख्यप्राण सर्वार्थ है, सबके लिये है, इसलिये मुख्यप्राण के अवस्थान से जो खाया पिया जाता है, उससे अन्य प्राणों की रक्षा होती है। तात्पर्य यह, कि मुख्यप्राण के अवस्थान से ही अन्य प्राणों की स्थिति निर्बाध बनी रहती है। आत्मा के लिये होनेवाले इन सब कार्यों के संपादन में मुख्यप्राण साधन है, इसलिये उसे 'करण' माना जाना निश्चित है; भले ही वह 'इन्द्रिय' नहीं है। शास्त्र में उसे 'करण' बतलाये जाने से, करण न होने पर जो दोष प्राप्त होता, वह अब नहीं रहता ॥११॥

इसी अर्थ को पुष्ट करने के लिये आचार्य सूत्रकार ने कहा—

पञ्चवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते ॥१२॥

[पञ्चवृत्तिः] पांच वृत्तियों वाला [मनोवत्] मन के समान [व्यपदिश्यते] कहा जाता है, मुख्यप्राण। मनके समान मुख्यप्राण पांच वृत्तियों वाला है, ऐसा कहा जाता है।

मन और मुख्यप्राण [बुद्धि] दोनों का बाह्य विषय के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं

होता। ज्ञानग्राहक पांच बाह्य इन्द्रियों के द्वारा जो विषय गृहीत होते हैं, उन्हींका मनन मनद्वारा तथा निश्चय बुद्धिद्वारा होकर आत्मा के लिये समर्पित कर दिया जाता है। तात्पर्य यह, कि इतने व्यापार के अनन्तर किसी बाह्य विषय की अनुभूति आत्मा को होती है। आचार्य यह प्रकट करना चाहता है, कि पांच बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के अपने पृथक् विशेष विषय हैं, पर यह बात मन और मुख्यप्राण [बुद्धि] के लिये नहीं कही जासकती। इन दोनों का उसी बाह्य अर्थ के साथ संपर्क होपाता है, जो किसी बाह्य इन्द्रियद्वारा गृहीत किया जारहा हो। प्रत्येक बाह्य इन्द्रिय का अपना नियत विषय है, पर मन और मुख्य-प्राण का व्यापार समानरूप से उन पांचों विषयों में रहता है। इसलिये मन के समान मुख्यप्राण पांच वृत्तिवाला है। जैसे इन्द्रियों से संपृक्त मन उनके द्वारा गृहीत विषय का मनन कर बुद्धि को समर्पित करता है, ऐसे ही बुद्धि [मुख्यप्राण] उसका निश्चय कर आत्मा को समर्पित करता है। यह इन दोनों करणों का व्यापार है। शरीर का धारण संचालन अन्य प्राणों [इन्द्रियों] का पोषण [अपने व्यापार में नियत रहना] आदि जैसे मुख्यप्राण का व्यापार हैं, ऐसे ही पांचों ज्ञानेन्द्रियों से गृहीत मन से संकल्पित विषय का निश्चय-अध्यवसाय-पूर्वक आत्मा को समर्पित करना व्यापार है। इसके संकेत बृहदा-रण्यक उपनिषद् [१।५।३] में उपलब्ध हैं। फलतः मुख्यप्राण का 'करण' होना, आत्मा के भोगापवर्ग-संपादन में साधन होना सर्वथा प्रामाणिक है।

व्याख्याकारों ने बृहदारण्यक [१।५।३] के आधार पर प्राण, अपान, [व्या]न, उदान, समान इन पांच को मुख्यप्राण की वृत्ति बताया है, इसकी समानता के लिये जब मन की इतनी वृत्तियों का कहीं पता न लगा, तो पातञ्जलयोगदर्शनप्रतिपादित प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति इन पांच को मन की वृत्ति बताकर मुख्यप्राण के साथ पांच संख्या की समानता का प्रयास किया। पर यह सब केवल तुक भिड़ाना जैसा प्रतीत होता है। पहली बात यह, कि उपनिषद् के उक्त [बृ० १।५।३] संदर्भ में प्राण अपान आदि पांच का उल्लेख न होकर छह का हुआ है; वहां एक 'अन' नामक वृत्ति का उल्लेख है, जिसकी व्याख्या आचार्य शंकर ने इसप्रकार की है—'अन इत्येषां वृत्तिविशेषाणां सामान्यभूता सामान्यदेहचेष्टाभिसम्बन्धिनी वृत्तिः'। प्राण अपान आदि विशेष वृत्तियां हैं, एक सामान्यभूत वृत्ति है, जो देह की सामान्य चेष्टाओं [गतियों—हरकतों] के साथ सम्बन्ध रखती है। उपनिषत्कार का तात्पर्य ऐसा प्रतीत होता है, कि मुख्यप्राण की जैसे प्राण अपान आदि वृत्तियां हैं, ऐसे ही देह का संचालन धारण आदि भी उसकी वृत्ति है। जिसका उल्लेख उपनिषत्कार ने 'अन' पद से किया है। अब सूत्र के 'पञ्चवृत्तिः' पद की व्याख्या उपनिषद् के इस सन्दर्भ के आधार पर नहीं कीजानी चाहिये; क्योंकि यहां पांच वृत्तियों का उल्लेख न होकर छठी का भी है।

योगदर्शन के आधारपर मन की पांच वृत्तियां कहना अस्पष्ट है। योग में अन्तः-करण के लिये प्रायः सर्वत्र 'चित्त' पद का प्रयोग हुआ है। इस प्रसंग में भी यही बात है।

फिर ये वृत्तियां न केवल अन्तःकरणों की हैं, प्रत्युत इनके साथ बाह्य ज्ञानेन्द्रियों का भी संग्रह होता है। अन्यथा 'प्रमाण' आदि वृत्तियों को केवल 'मन' का कैसे माना जासकता है? जबकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण बाह्येन्द्रियसापेक्ष होते हैं। योगदर्शन में प्रमाण आदि को अन्तःकरण की वृत्ति इस भावना से कहा गया है, कि अन्तःकरण के निरोध से इनका निरुद्ध होना अपेक्षित है ॥१२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, प्राणों को गतसूत्र [२।४।७] में अणु–सूक्ष्म एवं परिच्छिन्न कहा गया है; क्या मुख्यप्राण भी ऐसा ही है? आचार्य सूत्रकार ने कहा—

अणुश्च ॥१३॥

[अणु] अणु है [च] और। और मुख्यप्राण अन्य प्राणों के समान अणु है।

अन्य प्राण [समस्त इन्द्रियों] और मुख्यप्राण [बुद्धि] को अणु अर्थात् सूक्ष्म–अतीन्द्रिय माना गया है। इनमें परस्पर कार्यकारणभाव की स्थिति होने पर कारण की अपेक्षा कार्य स्थूल होसकता है, फिर भी समस्त प्राण अतीन्द्रिय रहते हैं। ये सूक्ष्म और परिच्छिन्न हैं, यह तथ्य आत्मा की उत्क्रान्ति, गति, आगति आदि से स्पष्ट है, जिसका विवेचन प्रथम [ब्र० सू० २।३।१९–३२] कर दिया गया है। संसारदशा में आत्मा समस्त प्राण [करण] और तन्मात्रतत्त्वों से घटित सूक्ष्मशरीर में आवेष्टित रहता है। इसी स्थिति में इसके उत्क्रमण [एक देह को छोड़ देहान्तर में जाना] आदि हुआ करते हैं। मुख्यप्राण और अन्य समस्त प्राणों के सूक्ष्म एवं परिच्छिन्न बताये जाने तथा आत्मा की उत्क्रान्ति आदि के साथ उनका सम्बन्ध होने से आत्मा के आवेष्टन के रूप में सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व का बोध होता है।

ऋग्वेद की ऋचा [१।१६४।३८] में अमरणधर्मा जीवात्मा के साथ मर्त्य-परिणामी शरीर को 'सयोनि' बताया है, जो प्रत्येक जन्म अर्थात् प्रत्येक स्थूलदेह की प्राप्ति होने पर आत्मा के साथ सम्बद्ध बना रहता है। इसीलिये वह 'शरीर' आत्मा का 'सयोनि' है। वेद के ये पद आत्मा के आवेष्टन सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।६] में एक प्राचीन सन्दर्भ उद्धृत है–'तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य'। यहां 'लिङ्ग' पद लिङ्गशरीर अर्थात् सूक्ष्मशरीर का बोधक है। उस सूक्ष्मशरीर से सक्त–सम्बद्ध–आवेष्टित आत्मा अपने कृतकर्म के साथ जाता है, जिस शरीर में आत्मा का मन–करणसमुदाय–बैठा हुआ है। प्राणों के इस विवेचन से प्रसंगवश सूक्ष्मशरीर का अस्तित्व ध्वनित होजाता है ॥१३॥

प्राणों की रचना, संख्या, उनके व्यापार एवं मुख्य-अमुख्य होने के विषय में विवेचन किया गया। इस पृष्ठभूमि पर शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या ये प्राण देहपात के साथ अपने कारणों में लीन होजाते अर्थात् नष्ट होजाते हैं, अथवा बने रहते हैं? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ।।१४।।

[ज्योतिरादि] ज्योति आदि [अधिष्ठानं] अधिष्ठान है [तु] किन्तु [तदामननात्] उसके कथन से शास्त्र में। ज्योति आदि प्राणों के अधिष्ठान हैं, इसलिये देहपात के अनन्तर वे बने रहते हैं, शास्त्र में ऐसा कथन है।

सूत्र में 'अधिष्ठानं' पद का अर्थ 'अनुग्राहक' है। यह पद प्राणों के उपादानतत्त्व की ओर संकेत करता है। परब्रह्मद्वारा कीगई रचनाव्यवस्था के अनुसार प्राणों–करणों की रचना ऐसी कीगई है, कि वे संसारदशा में बराबर बने रहते हैं, देहपात के साथ उनका विनाश नहीं होता। सूत्र में 'ज्योतिः' पद 'अग्नि' का पर्याय है, और व्याख्याकारों के अनुसार ऐतरेय उपनिषद् के एक सन्दर्भ [२।४] की ओर संकेत करता है। ज्योति अथवा अग्नि वायु आदि पद परमात्मा और भूततत्त्व दोनों के वाचक होते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में जिज्ञासु का आशय है–शरीरपात होने की दशा के ऐसे वर्णन शास्त्र में उपलब्ध होते हैं, जिनसे शरीर के समान प्राणों का अपने कारणों में लय हो जाना प्रतीत होता है। ऐतरेय ब्राह्मण [अ० ६। ख० ६; अथवा पञ्जिका २। ख० ६]के यज्ञिय पशुहोमप्रसंग में पाठ है–'उदीचीनां अस्य पदो धत्तात् सूर्यं चक्षुर्गमयताद् वातं प्राणमन्ववसृजताद् अन्तरिक्षमसुं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमिति' यहां शरीर का पृथिवी में लय दिखाये जाने के समान चक्षु घ्राण श्रोत्र आदि प्राणों का लय भी अपने कारणों में दिखाया है। इसीके अनुसार अन्यत्र सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं–'सूर्यं ते चक्षुर्गच्छतात्··· पृथिवीं ते शरीरम्' तथा 'सूर्यं ते चक्षुः स्पृणोमि···पृथिवीं ते शरीरम्'[१]। यहां भी वही भाव है। चक्षु अन्य समस्त प्राणों का उपलक्षण माना जासकता है। इन प्रमाणों के आधार पर यह सन्देह होता है, कि शरीर के समान प्राणों का भी क्या अपने कारणों में लय उसी समय माना जाना चाहिये, जब देहपात होता है ?

आचार्य के समाधान का आशय है, ज्योति अर्थात् अग्नि आदि जिन उपादानतत्त्वों से परिणत होते हैं, वाक् आदि प्राण भी उन्हीं उपादानतत्त्वों के परिणाम हैं। परब्रह्म की रचनाव्यवस्था के अनुसार वे तत्त्व प्राणों के अनुग्राहक होकर समस्त संसारदशा में उनके अस्तित्व को बनाये रखते हैं। इस अनुग्राहकभाव का कथन शास्त्र में हुआ है। ऐतरेय उपनिषद् [२।४] में बताया–'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्' इत्यादि। अग्नि वाक् होकर मुख में प्रविष्ट हुआ, वायु प्राण [घ्राण] होकर नासाच्छिद्रों में प्रविष्ट हुआ, आदित्य चक्षु होकर आंखों में प्रविष्ट हुआ; इत्यादि कथन का तात्पर्य यही हो सकता है, कि अग्नि आदि पदार्थ वाक् आदि के अनुग्राहक हैं। ब्राह्मी व्यवस्था के अनु-

१. न्यायसूत्र ३।१।२९ के वात्स्यायन भाष्य के आधार पर।

सार प्राणों की ऐसी रचना है, कि ये अपने कारणों के व्यवस्थित रहने से सर्गकालपर्यन्त बने रहते हैं। इस रूप में ज्योति आदि कारणतत्त्वों की अनुग्राहकता को व्यक्त किया गया है। यदि पदों के साधारण अर्थों के अनुसार इसे देखा जाय, और उसीतरह इसको मानने का आग्रह किया जाय, तो इन वाक्यों से किसी वास्तविक अर्थ का समझा जाना कठिन है। अग्नि वाक् होकर मुख में और आदित्य चक्षु होकर आंखों में प्रविष्ट होगया; यदि यही यथार्थ है, तो अग्नि और आदित्य का अन्यत्र अस्तित्व न रहना चाहिये। वस्तुतः ऐसे वर्णन आलंकारिक हैं, किसी भाव को अभिव्यक्त करने का यह एक प्रकार-मात्र है।

इसी सन्दर्भ [ऐ० २।४[में आगे है–'ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्' ओषधि और वनस्पतियां लोम [रोएं] होकर त्वचा में प्रविष्ट होगईं, इसका पदों के साधारण अर्थ को लेकर कोई भाव स्पष्ट नहीं होता। न यहां किसी देवता-विशेष के इस रूप में प्रवेश होने की बात कही जासकती है, जैसा कि प्रायः सब व्याख्या-कारों ने समझा है। इसका यही तात्पर्य प्रतीत होता है, लोमों की रचना में वे तत्त्व अपेक्षित होते हैं, जो ओषधि वनस्पतियों में पाये जाते हैं, तथा अपने उपादानतत्त्वों से इस रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। यदि उन तत्त्वों को देवतारूप में वर्णन किया गया हो, तो कोई आपत्ति की बात नहीं है।

ऐसे ही छान्दोग्य उपनिषद् [३।१८।३] में बताया–'वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः, सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च' वाक् ही ब्रह्म का चौथा पाद है, वह अग्निरूप ज्योति से अभिव्यक्त होता है [भाति], और कार्यक्षम होता है [तपति]। इसी प्रसंग में वाक् के समान प्राण, चक्षु और श्रोत्र को ब्रह्म का चौथा पाद कहा है, और उनका यथाक्रम वायु आदित्य तथा दिशाओं से सामञ्जस्य स्थापित किया है। पहला अध्यात्म और दूसरा अधिदैवत है। प्रस्तुत उपासनाप्रसंग में अध्यात्म एवं अधिदैवत को सन्तुलित किया गया है। यहां यह ध्यान देने की बात है, कि अध्यात्मसृष्टि से अधिभूत अथवा अधिदैव सृष्टि अभिव्यक्त होती है। वाक् आदि अध्यात्म सृष्टि और अग्नि आदि अधिदैव है। प्रत्येक कार्य-परम्परा में उपादानतत्त्वों का अधिकाधिक समान होना आवश्यक है। इससे अध्यात्म-अधिभूत के पूर्ववर्त्ती उपादानतत्त्वों की समानता प्रमाणित होती है। इसी आधार पर इनका [वाक्-अग्नि, चक्षु-सूर्य आदि का] अनुग्राह्य-अनुग्राहकभाव स्पष्ट होता है। फलतः समस्त सर्गकाल में वाक् चक्षु आदि प्राण अग्नि आदित्य आदि के अभि-व्यञ्जक तत्त्वों द्वारा निरन्तर अनुप्राणित रहते हैं, देहपात के साथ इनका विनाश नहीं होता। 'सूर्यं चक्षुर्गच्छतात्' इत्यादि वाक्यों का तात्पर्य इनके अनुग्राह्य-अनुग्राहकभाव को बोध कराने में है, इनके विनाश या लय में नहीं। पिण्ड में ब्रह्माण्ड को सतुलित करने की भावना भी ऐसे प्रसगों में संभव है ।।१४।।

शिष्य आशंका करता है, प्राणों [इन्द्रियों–करणों] की रचना इसप्रकार ऐश्वरी

है, और ईश्वर सर्वत्र व्यापक होने से देहों में भी विद्यमान है; तो करणों द्वारा उसे भोग प्राप्त होना चाहिये ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

प्राणवता शब्दात् ॥१५॥

[प्राणवता] प्राणवाले के साथ [शब्दात्] शब्द से। प्राणों—इन्द्रियों का सम्बन्ध प्राणवाले के साथ है, यह शब्दप्रमाण से ज्ञात होता है।

पाणिनि आचार्य [५।२।९३] के अनुसार, 'इन्द्रिय' पद का निर्वचन—इन्द्र—आत्मा चक्षु आदि करणों से अनुमित होता है—किया गया है। करण विना कर्त्ता के नहीं होसकते, इसलिये चक्षु आदि करणों से कर्त्ता जीवात्मा का अनुमान होता है। 'इन्द्र' पद आत्मा का वाचक है, इसलिये इन्द्र के लिङ्ग—अनुमापक होने से चक्षु आदि करण 'इन्द्रिय' कहे जाते हैं। इनके द्वारा जो पदार्थ जाने जाते हैं, उनका द्रष्टा आत्मा है। इनकी रचना आत्मा के लिये कीगई है, आत्मा के साथ इनका संपर्क है, आत्मा की सेवा के लिये हैं, इनकी रचना ऐश्वरी होने पर भी ये आत्मा को दे दिये गये हैं। न केवल करण, अपितु समस्त जगद्रचना आत्मा के लिये है। आत्माओं के कर्मानुसार इनके भोगापवर्ग को संपन्न करने के लिये परब्रह्म जगद्रचना करता है, यह अनादि क्रम है। देहों में सर्वान्तर्यामी ब्रह्म के विद्यमान होने पर भी उसके पाप-पुण्यरूप कर्मों के अभाव में करणों अथवा अन्य साधनों से किसी भोग की प्राप्ति उसे नहीं होती; यद्यपि वह रचना उसकी है।

यह तथ्य शब्दप्रमाणद्वारा प्रमाणित होता है। ऋग्वेद [१।१६४।२०] में कहा—'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों में से केवल एक जीवात्मा कर्मानुकूल फलों को भोगता है; अन्य परमात्मा अभोक्ता रहता हुआ सदा प्रकाशित रहता है। छान्दोग्य उपनिषद् [८।१२।४] में बताया—'अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुः, अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा, गन्धाय घ्राणम्; अथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्मा, अभिव्याहाराय वाक्; अथ यो वेदेदं शृणवानीति स आत्मा, श्रवणाय श्रोत्रम्' जहां यह कृष्णतारा से उपलक्षित छिद्र जैसा विद्यमान है यह चक्षु है, वहां चक्षुद्वारा देखने के लिये पुरुष अन्य है। जो यह जानता है, कि मैं सूंघूं; वह आत्मा है; गन्धग्रहणव्यापार के लिये घ्राण है। जो जानता है, मैं यह बोलूं, वह आत्मा है; ध्वनिव्यापार के लिये वाक् है। जो यह जानता है, कि मैं सुनूं, वह आत्मा है, श्रवणव्यापार के लिये श्रोत्र है। यहां स्पष्ट ही चक्षु श्रोत्र आदि को आत्मा का करण बताया गया है। फलतः इनका करण-सम्बन्ध जीवात्मा के साथ रहता है, परमात्मा के नहीं; भले ही रमात्मा सर्वान्तर्यामी होने से देहों में विद्यमान रहे। चक्षु आदि करणरूप में जिससे सम्बद्ध हैं, उसीके लिये भोगादि का संपादन करते हैं ॥१५॥

गत दो सूत्रों में प्रतिपादित अर्थ को आचार्य सूत्रकार प्रकारान्तर से पुष्ट

करता है—

तस्य च नित्यत्वात् ॥१६॥

[तस्य] उसके [च] और [नित्यत्वात्] नित्य होने से। जीवात्मा के नित्य होने से और सर्गकाल में प्राणों–इन्द्रियों के निरन्तर बने रहने से प्राणों का प्राणवाले के साथ सम्बन्ध मरने पर [देहपात होने पर] भी नहीं टूटता।

जीवात्मा एक देह को छोड़कर जब देहान्तर में जाता है, तब उसके साथ करणों के उत्क्रमण का वर्णन शास्त्र में उपलब्ध है। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।२] में बताया–'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' जीवात्मा के देह छोड़ने पर साथ ही मुख्यप्राण देह को छोड़ता है, तत्काल अन्य प्राण देह को छोड़ आत्मा का अनुगमन करते हैं। इससे स्पष्ट है–नित्य आत्मा का करणों के साथ सम्बन्ध समस्त सर्गकाल में निरन्तर बना रहता है। मृत्यु इसमें कोई बाधा नहीं डालता। यह स्मरण रखने की बात है, कि उत्क्रमण आदि जीवात्मा में संभव हैं, परमात्मा में नहीं, इसलिये उत्क्रान्ति आदि के शास्त्रीय प्रसंगों से करणों का सम्बन्ध जीवात्मा के साथ प्रमाणित होता है, परमात्मा के नहीं।

शरीर से जीवात्मा का उत्क्रमण होने पर समस्त करण उसके साथ चले जाते हैं, इस अर्थ की पुष्टि के लिये प्रश्न उपनिषद् [२।३-४] तथा गीता [१५।८-९] के स्थल द्रष्टव्य हैं ॥१६॥

जीवात्मा के साथ सम्बद्ध प्राणों–करणों का शास्त्रीय व्यवहार में आनेवाला एक विशेष नाम आचार्य सूत्रकार स्वयं बताता है—

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥१७॥

[ते] वे प्राण [इन्द्रियाणि] इन्द्रिय हैं [तद्व्यपदेशात्] उससे अर्थात् इन्द्रिय पद से कथन होने के कारण, [अन्यत्र] अलग–अतिरिक्त [श्रेष्ठात्] श्रेष्ठ से। श्रेष्ठ अर्थात् मुख्यप्राण से अतिरिक्त वे प्राण इन्द्रिय हैं, क्योंकि शास्त्रों में 'इन्द्रिय' पद से उनका कथन किया गया है।

मुख्यप्राण को छोड़कर शेष प्राणों–करणों का एक विशेष नाम 'इन्द्रिय' है। इन करणों की 'इन्द्रिय' संज्ञा का प्रवृत्तिनिमित्त पाणिनिसूत्र [५।२।९३] में निर्दिष्ट है, जिसका उल्लेख गतसूत्र [२।४।१५] की व्याख्या में कर दिया गया है। लोक में चक्षु आदि करणों के लिये 'इन्द्रिय' पद का व्यवहार अतिप्रसिद्ध है। शास्त्र में 'इन्द्रिय' पद का प्रयोग इनके लिये अनेकत्र हुआ है। ऋग्वेद [३।३७।९] की 'इन्द्रियाणि शतक्रतो ! या ते जनेषु पञ्चसु। इन्द्र ! तानि त आ वृणे' ऋचा में चक्षु आदि करणों के लिये 'इन्द्रिय' पद का प्रयोग हुआ है। केवल ज्ञानेन्द्रियों के निर्देश की भावना से अथर्ववेद

[१६।६।५] में कहा–'इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि' छठे आन्तर इन्द्रिय मन के साथ ये पांच इन्द्रियां परब्रह्म परमात्मा ने मेरे हृदय में स्थापित की हैं । यह मन्त्र बाह्य इन्द्रियों के साथ मन की भी 'इन्द्रिय' संज्ञा होना स्पष्ट करता है ।

मुण्डक उपनिषद् [२।१।३] में मुख्यप्राण का पृथक् उल्लेख कर आगे सब इन्द्रियों का निर्देश है–'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' चक्षु आदि ज्ञानसाधन तथा वाक् आदि कर्मसाधन समस्त करणों को 'इन्द्रिय' पद से कहा गया है । मन का पृथक् निर्देश यह भेद बतलाने के लिये है, कि चक्षु आदि बाह्य इन्द्रिय हैं और मन आन्तर । मुख्यप्राण–बुद्धि की संज्ञा इन्द्रिय नहीं है, क्योंकि चक्षु आदि के रूप आदि विशेष विषय और मन के स्मृति विशेष विषय के समान बुद्धि का ऐसा कोई बाह्य विशेष विषय नहीं रहता । इसीकारण मनु आदि धर्मशास्त्रों में 'इन्द्रिय' रूप से ग्यारह करणों–प्राणों का उल्लेख है—

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।
तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥
श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता ॥
एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥ [२।८६, ६०, ६२]

इसप्रकार सूत्रकार ने स्पष्ट किया, कि मुख्यप्राण-बुद्धि के अतिरिक्त शेष समस्त प्राणों–करणों की विशेष संज्ञा 'इन्द्रिय' है, जो शास्त्र एवं लोक में प्रसिद्ध है ॥१७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, मुख्यप्राण से अतिरिक्त करणों की 'इन्द्रिय' संज्ञा क्यों कही गई ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

भेदश्रुतेः ॥१८॥

[भेदश्रुतेः] भेद की श्रुति से ! वाक् आदि प्राणों से मुख्यप्राण का भेद शास्त्र में कहा गया है, अतः मुख्यप्राण को छोड़कर शेष की संज्ञा 'इन्द्रिय' निर्धारित की है ।

चक्षु आदि से मुख्यप्राण को भिन्न बताये जाने का तात्पर्य यही है, कि 'इन्द्रिय' वर्ग से मुख्यप्राण भिन्न है । वैसे तो इन्द्रियों में भी प्रत्येक इन्द्रिय दूसरे से भिन्न है, पर उनमें कोई ऐसी समानता है, जिसके आधार पर उनका एक वर्ग है । उस वर्ग में मुख्य-प्राण नहीं आता । प्रश्न उपनिषद् [२।४] में इस भेद को निम्नप्रकार प्रकट किया है–'वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति' वाक् मन चक्षु आदि प्रसन्न हो प्राण की स्तुति करते हैं । यहां स्तोता वाक् इन्द्रिय आदि प्राण हैं, स्तुत्य मुख्यप्राण उनसे भिन्न है ।

बृहदारण्यक [१।३।२] में एक प्रसंग है–'ते ह वाचमूचुः' उन प्राणों [चक्षु

आदि] ने वाक् को कहा, असुरों पर विजय प्राप्त करो, वह पाप से विद्ध होगया, विजय प्राप्त न करसका। इसीप्रकार क्रम से सब प्राण विजय पाने में असफल रहे। इसके अनन्तर सब प्राणों ने मिलकर मुख्यप्राण को कहा–'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः' [बृ० १।३।७]; उसने असुरों पर विजय प्राप्त की। यह उपाख्यान मुख्यप्राण को वाक् चक्षु आदि के वर्ग से भिन्न प्रकट करता है। बृहदारण्यक में अन्यत्र [१।५।३] कहा–'त्रीण्यात्मनेऽकुरुत मनो वाचं प्राणम्' मन वाक् और प्राण को आत्मा के लिये किया। मन आन्तर इन्द्रिय, वाक् समस्त बाह्य इन्द्रियों का उपलक्षण होकर चक्षु आदि सब इन्द्रियों का बोधक है। 'प्राण' पद मुख्यप्राण को कहता है। यहां भी मन और वाक् आदि से इसे भिन्न कहा है। मन और वाक् का पृथक् कथन आन्तर-बाह्यभेद का द्योतक है, तथा प्राण का भिन्न कहा जाना उसके अनिन्द्रिय होने को प्रकट करता है। यद्यपि मुख्यप्राणसहित समस्त प्राणों के आत्मा का 'करण' होने पर भी उक्त भेदश्रुतियों के आधार पर मुख्यप्राण 'इन्द्रिय' वर्ग में नहीं आता ॥१८॥

शिष्य की जिज्ञासा होने पर आचार्य सूत्रकार उस कारण का निर्देश करता है, जिससे मुख्यप्राण 'इन्द्रिय' वर्ग में नहीं आता—

वैलक्षण्याच्च ॥१९॥

[वैलक्षण्यात्] विलक्षण होने से [च] तथा। तथा वाक् आदि से मुख्यप्राण के विलक्षण होने से मुख्यप्राण को छोड़कर अन्य प्राणों की 'इन्द्रिय' संज्ञा कही है।

प्रश्न उपनिषद् के चतुर्थ प्रश्न में गार्ग्य के पूछने पर महर्षि पिप्पलाद ने कहा–जैसे सूर्य के अस्त होते समय सब किरण उस तेजोमण्डल में एकत्रित होजाती हैं, और उदय होने पर फिर फैल जाती हैं; ऐसे ही सुषुप्ति अवस्था में सब प्राण मन में एकीभूत होजाते हैं। तब पुरुष न सुनता है न देखता है न सूंघता है न चखता है न छूता है न बोलता है न लेता है न चलता है; बस 'सोरहा है' यह कहा जाता है–'स्वपितीत्याचक्षते'। प्राणाग्नि केवल इस शरीर में तब जागते हैं।

यहां प्रकट किया गया–सुषुप्ति दशा में चक्षु आदि इन्द्रियां अपने विशेष विषय रूप आदि के संपर्क से विरत होजाती हैं, अर्थात् तब रूपादिग्रहण व्यापार रुद्ध होजाता है; पर श्वास, प्रश्वास, रक्तसञ्चार आदि के रूप में प्राणव्यापार चालू रहता है, जो समस्त करणों [–प्राणों] का सामान्यव्यापार माना जाता है। इसका नियमन मुख्यप्राण–बुद्धि के अधीन रहता है, इसलिये इस रूप में मुख्यप्राण का जागते रहना आवश्यक है। चक्षु आदि से मुख्यप्राण का यह वैलक्षण्य है। इसी प्रसंग में मुख्यप्राण की ओर से कहा गया–मैं इस देह का धारण करता हूं, इसे थामकर रखता हूं। मुख्यप्राण का वाक् आदि से यह भी एक वैलक्षण्य समझा जाता है, कि वाक् आदि शब्दोच्चारण आदि के हेतु हैं और मुख्यप्राण शरीरधारण का।

पर इस विषय में यह ध्यान रखना चाहिये, कि सुषुप्ति दशा में वाक् चक्षु आदि इन्द्रियां कहीं चली नहीं जातीं, मन में एकीभूत होने का इतना ही तात्पर्य है, कि अभी तक जैसे वे अपने विषय के साथ सम्बद्ध रहकर उसे मन को समर्पित करती थीं, वह व्यापार बन्द होगया है, उन्होंने विषय-सम्बन्ध को छोड़कर अपने आपको वहां मानो समर्पित कर दिया है। यह किसी विषय के वर्णन करने का एक रुचिपूर्ण ढंग है। वाक् चक्षु आदि विषय को मन में और मन बुद्धि में समर्पित करता है, वह आत्मा को समर्पित कर देती है, यह सब विशिष्टक्रम सुषुप्त दशा में नहीं रहता; यह प्राणों के विशेष व्यापार का अवरोध है, सामान्य व्यापार का नहीं। इसप्रकार श्वास-प्रश्वास आदि के रूप में प्राण-अपान आदि का निरन्तर बना रहना समस्त प्राणों का सामान्य व्यापार है। मुख्यप्राण का किसी विशेष विषय से सीधा सम्बन्ध नहीं होता, जो विषय वाक् चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों व मनद्वारा प्राप्त होते हैं, उन्हींको मुख्यप्राण आत्मा के लिये समर्पित करता है। मुख्यप्राण और अन्य प्राणों का यह महत्त्वपूर्ण वैलक्षण्य है। जिन प्राणों का विषय से सीधा सम्बन्ध होता है, जैसे चक्षु आदि का रूप आदि से तथा मन का स्मृति से; उन्हीं प्राणों की संज्ञा 'इन्द्रिय' है। मुख्यप्राण–बुद्धि को छोड़कर अन्य सब प्राणों में यह समानता है; इसीलिये बुद्धि-प्राण 'इन्द्रिय' वर्ग से बाहर रहजाता है। उपनिषदों के उक्त वर्णनों का तात्पर्य बुद्धि-प्राण को मुख्य बतलाना है, जो वास्तविक है॥१९॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, गत प्रकरण में प्राणों की सृष्टि, जीवात्मा की उत्क्रान्ति, तथा उसके साधन सूक्ष्मशरीर की सृष्टि का तथा उसके घटक अवयवों की विशेषता का वर्णन किया गया। पर क्या प्राण आदि के समान स्थूलदेह की सृष्टि भी परब्रह्म परमात्मा करता है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥२०॥

[संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिः] नाम और रूप की रचना [तु] तो [त्रिवृत्कुर्वतः] तीनों को मिलाकर बनानेवाले से, [उपदेशात्] उपदेश से। शास्त्रीय उपदेश–वर्णन से ज्ञात होता है, कि नाम और रूप की रचना, तीनों को मिलाकर बनानेवाला करता है।

सूत्र में 'संज्ञा' पद 'नाम' अर्थात् शब्द को और 'मूर्त्ति' पद 'रूप' अर्थात् किसी वस्तु के आकारविशेष को कहता है। समस्त विश्व 'नाम' और 'रूप' दो भागों में विभक्त है। किसी आकार में कोई एक पदार्थ है, जो 'रूप' पद से कहा जाता है, सूत्र में उसके लिये 'मूर्त्ति' पद का प्रयोग किया है; और उस पदार्थ का एक 'नाम' पद है, लोकव्यवहार के लिये; सूत्र में उसके लिये 'संज्ञा' पद दिया है। शास्त्र के प्रारम्भ में 'जन्माद्यस्य यतः' तथा 'शास्त्रयोनित्वात्' इन दो सूत्रों द्वारा समस्त 'रूप' और 'नाम' की उत्पत्ति का कारण ब्रह्म बताया है। नामरूपात्मक विश्व के एक अंशभूत उन उपकरणों की उत्पत्ति का उपपादन इस चतुर्थ पाद में किया गया है, जो जीवात्मा के भोगादि संपादन मे

साधन हैं। इसी प्रसंग से प्रस्तुत सूत्र में जीवमात्र के स्थूलशरीरों की उत्पत्ति में ब्रह्म कारण कहा है।

यह स्पष्ट है, कि सर्गादिकाल की अमैथुनी सृष्टि में समस्त शरीरों की रचना ब्रह्मद्वारा होती है। अनन्तर सर्गकाल की मैथुनी सृष्टि में भी उसकी व्यवस्थानुसार देहरचना हुआ करती है, स्त्री-पुरुषसंपर्क उस व्यवस्था उस प्रक्रिया का एक अंग है। रज-वीर्य के सम्मिलन के साथ जीवात्मा की उपस्थिति वहां आवश्यक है, अन्यथा वह पूतिभाव [सड़जाने] से दूषित होकर देहारम्भ में अक्षम होजाता है। ब्रह्म के सर्वव्यापक होने से उस की सत्ता वहां अनायास सिद्ध है। अतिसूक्ष्म देहारम्भक तत्त्वों के कार्योपक्रम में जीवात्मा की सत्ता अपेक्षित है, क्योंकि वह कार्य [देहारम्भ] उसके लिये होरहा है, उस समस्त व्यवस्था का नियामक परब्रह्म परमात्मा है, और उसकी यह नियामकता मूलभूत परिस्थिति है, इसलिये देह की उत्पत्ति के प्रति उसकी कारणता की उपेक्षा नहीं कीजासकती।

सूत्र में 'त्रिवृत्कुर्वत्' पद से परब्रह्म का निर्देश है। ब्रह्म के लिये प्रयुक्त किसी नाम-पद को न देकर इस विषेशण पद से उसका निर्देश एक विशिष्ट प्रयोजन को सूचित करता है। जगत् के मूल उपादानतत्त्व सत्त्व-रजस्-तमस् के मिथुनीकरण द्वारा ब्रह्म जगत् को परिणत करता है, इस भाव को अभिव्यक्त करने के लिये सूत्रकार ने उक्त पद का प्रयोग किया। जगत् के मूलभूत तीन तत्त्वों का अन्योन्यमिथुनीकरण 'त्रिवृत्करण' है। इसका कर्त्ता परब्रह्म है। इसलिये विश्व की अन्य रचनाओं के समान स्थूलदेहों की रचना में परब्रह्म कारण रहता है, यह निश्चित है। इसके संकेत उपनिषदों में उपलब्ध होते हैं। छान्दोग्य [६।३।२] में कहा–'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि। तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' उस देवता [परब्रह्म] ने ईक्षण किया, इन तीन देवताओं को इस जीवात्मा के साथ अनुप्रविष्ट होकर नाम-रूप से व्याकृत करूं। उनमें से एक-एक को लेकर तीनों को तीनों में मिथुनीभूत करूं। ब्रह्म-संकल्पद्वारा प्रकृति से जगद्रचना की यह प्रक्रिया है। देह की रचना में आध्यक्षण से जीवात्मा देहारम्भक तत्त्वों में प्रविष्ट अथवा अन्तर्निविष्ट रहता है। यद्यपि परमात्मा वहां सदा विद्यमान है, पर जीवात्मसम्बन्धी विशेष रचना के कारण यहां उसका 'अनुप्रवेश' कहा गया है। इसका तात्पर्य है–अनुगत प्रवेश, अनुकूल प्रवेश। जीवात्मा के लिये आनुकूल्य इसी दृष्टि से है, कि वह रचना उसके भोगादि की सिद्धि का साधन है।

छान्दोग्य के इस प्रसंग में मूल उपादानतत्त्व 'सत्त्व-रजस्-तमस्' के लिये यथाक्रम 'आपस्-तेजस्-अन्न' पदों का प्रयोग हुआ है। ये पद प्रसंग में अपने भौतिक अर्थ को कहते हुए मूलतत्त्वों का संकेत करते हैं।[1] जैसे परब्रह्म देह आदि मूर्त्ति-रूप की रचना में

१. इसके विशेष विवरण के लिये देखें हमारी रचना 'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ ४६–५० तथा २१३–२१८।

कारण है, ऐसे ही संज्ञा—नाम के प्रादुर्भाव में कारण हैं। ऋग्वेदादि शास्त्र का कारण ब्रह्म है, यह प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भ में बताया है। वेदों के आधार पर वस्तु—नामों का निर्देशन हुआ, यह मनुस्मृति [१।२१] से ज्ञात होता है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥

सर्ग के आदि में वेद-शब्दों से ही सबके नामों और कर्मों का अलग-अलग निश्चय किया गया। उपनिषद् [छा० ८।१४।१] में भी 'नाम' और 'रूप' दोनों का कारण होने के रूप में 'आकाश' पद से ब्रह्म का निर्देश है–'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म' आकाश नाम से व्यवहृत वह नाम और रूप का विस्तार करनेवाला है, इनमें अन्तर्यामीरूप से जो व्याप्त होरहा है, वही ब्रह्म है। फलतः ब्रह्म समस्त सूक्ष्म स्थूल रूप एवं नाम का व्याकर्त्ता है, यह सिद्ध होता है ॥२०॥

नाम-रूपात्मक जगत् के चर-अचर देहनिर्माण में परमात्मा कारण है, इस पृष्ठभूमि पर शिष्य जिज्ञासा करता है, तीन प्रकार के मूल उपादानतत्त्वों से जगद्रचना प्रारम्भ होकर जीवात्माओं के सीधे उपयोग के लिये पांच भूतों के रूप में प्रस्तुत होती है। उस दशा में इस शरीर का आरम्भ क्या पांच भूतों के सहयोग से होता है, या न्यून के? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥२१॥

[मांसादि] मांस आदि [भौमं] भूमि के विकार अथवा भूमि से पोष्य हैं, [यथाशब्दं] शब्द के अनुसार [इतरयोः] अन्य दोनों के [च] और। देह के मांस आदि धातु भूमि के विकार अथवा पोष्य हैं, और अन्य दोनों [जल—तेज] के विकार व पोष्य शब्दप्रमाण के अनुसार जानलेने चाहियें।

भूमि आदि पांचों भूत त्रिगुण मूलतत्त्व के अन्योन्यमिथुनीकरण के अनन्तर अनेक परिणामस्तरों को पार करते हुए वर्तमान स्थिति में आते हैं। पृथिवी आदि के सहयोग से प्रादुर्भूत ओषधि वनस्पति अन्न फल मूल आदि के आहार से मानव तथा अन्य प्राणियों के देहांगों का विकास व परिपोषण होता है। इसलिये देहों को पांचों भूतों के सहयोग से बना समझना चाहिये। देह की रचना जिस क्षण से प्रारम्भ होती है, उसके उपादानभूत आद्यकण पांचों भूतों के सहयोग से बने हैं, यह प्रमाणित है। अनन्तर शरीर की अभिवृद्धि एवं पुष्टि के लिये जिन पदार्थों का आहार आदि के रूप में उपयोग किया जाता है, वे सब पदार्थ पाञ्चभौतिकरूप हैं। देह के निर्माण व विकास में भौम आदि पदार्थों का उपयोग किस अंश तक है, इसके संकेत शास्त्र में मिलते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् [६।५।१] में कहा—'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः' खाये हुए अन्न का परिणाम तीन

प्रकार का होता है, उसका जो सबसे स्थूलभाग है, वह पुरीष [विष्ठा–मल] होजाता है, जो मध्यम है वह मांस और जो सबसे सूक्ष्म है, वह मन। स्थूलभाग सर्वांश में देह का भाग नहीं बनता, देहरचना की व्यवस्था के अनुसार वह देह से बाहर फेंक दिया जाता है। यह स्थिति देह की पोषक है। सबसे सूक्ष्म भाग मन है, इसका तात्पर्य केवल इतना है, कि वह मन को कार्यक्षम बनाये रखने में सहायक होता है। मन को यहां सब इन्द्रियों का उपलक्षण समझना चाहिये। आहार आदि के न लेने से इन्द्रियां किसप्रकार अपने कार्य में शिथिल होजाती हैं, यह बात छान्दोग्य [६।७।१–४] के उस प्रसंग से स्पष्ट होजाती है, जहां श्वेतकेतु के पन्द्रह दिन तक उपवास का वर्णन है।

यहां यह स्मरण रखना चाहिये, प्राणरूप में वर्णित समस्त इन्द्रिय अथवा करण भूतों का विकार नहीं हैं, आत्मा के भोगादि में साधनरूप से शरीर में रहते हुए इन्हें कार्यक्षम बनाये रखने में भूतों का सहयोग रहता है। निश्चित है, इन्द्रियां देह में रहते हुए देह के अंग नहीं हैं, जैसे कि मांस रुधिर अस्थि आदि अंग हैं। पृथिवी के समान जल रक्त मूत्र आदि तथा तेज अस्थि मज्जा आदि देहांगों की रचना में उपादानरूप से सहयोगी रहते हैं। देहरचना में वायु–आकाश का उपयोग सर्वप्रसिद्ध है। रक्त आदि का संचार मल-मूत्र का निस्सरण तथा ऐसे ही अन्य अनेक कार्य शरीर में वायु की उपादानता को स्पष्ट करते हैं। फलतः शरीर पांचों भूतों के सहयोग से बनता है, यह स्पष्ट होता है ॥२१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि शरीर पाञ्चभौतिक है, तो इसे केवल पार्थिव क्यों कहा जाता है? 'पृथिवीं ते शरीरम्' इत्यादि सन्दर्भों से शरीर का पार्थिव होना प्रतीत होता है। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥२२॥

[वैशेष्यात्] विशेषता से [तु] तो [तद्वादः] वह कथन है, अथवा उसका कथन है। देह के पाञ्चभौतिक होने पर भी पार्थिव कथन तो पृथिवी भाग की अधिकता के कारण है।

देह की रचना में पार्थिव तत्त्वों का अंश अधिक रहता है, इसकारण कतिपय स्थलों में देह को पार्थिव कहदिया गया है। वस्तुतः देह की रचना में पांचों भूतों का भाग है। सूत्र में 'तद्वादः' पद का दो बार पाठ अध्याय की समाप्ति का द्योतक है ॥२२॥

इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः।

इति श्रीपूर्णसिंहतनूजेन तोफादेवीगर्भजेन, बलियामण्डलान्तर्गत'छाता'वासि-श्रीकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्धविद्योदयेन बुलन्दशहरमण्डलान्तर्गत-'बनैल'–ग्रामवास्तव्येन, विद्यावाचस्पतिना उदयवीर शास्त्रिणा समुद्भाविते वैयासकिब्रह्मसूत्राणां 'विद्योदय' भाष्ये अविरोधाख्यो द्वितीयोऽध्यायः।

अथ तृतीयाध्याये प्रथमः पादः ।

पहले समन्वयाध्याय में जगत् की उत्पत्ति आदि का कारण ब्रह्म है, वही जिज्ञास्य है, इस विषय का प्रतिपादन सम्बद्ध शास्त्रीयसन्दर्भों के समन्वयपूर्वक किया गया। जगत् के कारण के विषय में श्रुति एवं स्मृति के आधार पर आपाततः प्रतीयमान विरोध का विस्तार के साथ परिहार विवेचनपूर्वक दूसरे अविरोधाध्याय में किया गया। यह तृतीय साधनाध्याय प्रारम्भ होता है। ब्रह्मज्ञान के लिये जो साधन बताये गये हैं, उनका शास्त्रानुसार यहां प्रतिपादन व विवेचन है। उसके प्रस्तुत करने में अपेक्षित जीवात्मा के परलोक गमनागमन का प्रथम निर्देश आवश्यक है। इस पृष्ठभूमि पर शिष्य जिज्ञासा करता है, गतप्रकरण में बताया गया, कि जीवात्मा का देह से उत्क्रमण होने पर प्राणरूप से वर्णित समस्त करण उसके साथ उत्क्रान्त होजाते हैं। क्या उनके साथ उत्क्रमण में और भी कोई तत्त्व रहते हैं, अथवा केवल करणों का उत्क्रमण आत्मा के साथ होता है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥१॥

[तदन्तरप्रतिपत्तौ] देहान्तर की प्राप्ति में [रंहति] जाता है (जीवात्मा), [संपरिष्वक्तः] लपेटा हुआ, [प्रश्ननिरूपणाभ्याम्] प्रश्न और निरूपण (प्रतिवचन-उत्तर) से। प्रश्न और उत्तर से यह ज्ञात होता है, कि जीवात्मा एक देह को छोड़कर दूसरे देह को प्राप्त करने में सूक्ष्मशरीर से लपेटा हुआ जाता है।

सूत्र का 'तत्' पद गतप्रकरण में 'संज्ञा-मूर्ति' पदों से कहे गये स्थूलदेह का परामर्श करता है। 'प्रतिपत्ति' पद का अर्थ 'प्राप्ति' है। 'अन्तर' पद भेद का वाचक है। 'देहभेद की प्राप्ति में' [तदन्तरप्रतिपत्तौ] पदों का तात्पर्य है—जब जीवात्मा मृत्यु के अवसर पर एक देह को छोड़ जन्म-रूप में दूसरे देह को प्राप्त करता है; तब एक देह से दूसरे देह तक जाने की दशा में जीवात्मा अकेला नहीं जाता, उसके साथ 'प्राण'[1] जाते हैं, यह स्पष्ट कर दिया गया है। बिना किसी आश्रय के प्राण रह नहीं सकते, इसी

१. गत प्रकरण में समस्त 'करणों' का 'प्राण' पद से प्रतिपादन किया गया है। 'करण' तेरह हैं—दस बाह्येन्द्रिय; मन, अहंकार, बुद्धि तीन अन्तःकरण। अहंकार की गणना बुद्धि से पृथक् न करने पर करण बारह होते हैं। इस प्रसंग में करणों के लिये 'प्राण' पद का प्रयोग है। पाठक इसका अन्य अर्थ न समझें।

अभिप्राय से जिज्ञासा है, कि उत्क्रमण की दशा में कौन ऐसे तत्त्व रहते हैं, जहां आश्रित रहकर प्राण आत्मा के उत्क्रमण में सहयोगी बनते हैं ?

सूत्रकार ने 'प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' पद से छान्दोग्य के एक प्रसंग का संकेत किया है, जिससे उक्त जिज्ञासा का समाधान होता है। स्नातक श्वेतकेतु पञ्चाल देश के राजा प्रवाहण की राजसभा में जाता है। उचित आदर सत्कार के अनन्तर राजा श्वेतकेतु से प्रश्न करता है–'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' [छा० ५।३।३] ? क्या तुम जानते हो, जैसे पांचवीं आहुति में 'आपस्' पुरुषवचन [पुरुष पद से कहेजाने योग्य] होजाते हैं ? आगे द्यौ, मेघ, पृथिवी, पुरुष, स्त्री इन पांच अग्नियों में यथाक्रम श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न, वीर्य यह पांच आहुति दिखलाकर उत्तररूप में कहा है–'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' [छा० ५।९।१] इसप्रकार पांचवीं आहुति में 'आपस्' पुरुषवाचक होजाते हैं।

उक्त दोनों–प्रश्न और उत्तर के–सन्दर्भों में 'आपस्' पद प्राणों के आश्रयभूत 'कारणशरीर' का वाचक है, आश्रित और आश्रय दोनों से घटित सूक्ष्मशरीर[1] जीवात्मा का आवेष्टन है। इससे आवेष्टित जीवात्मा एक देह को छोड़ गति के विभिन्न स्तरों को पार करता हुआ माता के गर्भ में पहुंचता है, वह उस अन्तराल गति का पांचवां स्तर है; वहां जीवात्मा से युक्त वह आवेष्टन स्थूलदेह प्राप्त कर पुरुषवचन [पुरुष पद से कहे जाने योग्य] होजाता है।

गत प्रकरण में आत्मा की उत्क्रान्ति के साथ प्राणों की उत्क्रान्ति का उपपादन होचुका है। उसीमें अपेक्षित अवशिष्ट अंश का यहां निर्देश है। प्राण कभी निराश्रित नहीं रहसकते, उनका आश्रय पांच सूक्ष्मभूतों से निर्मित वह शरीर है, जिसे 'कारण-शरीर' कहाजाता है। इसमें समस्त प्राण आश्रित रहते हैं। इस पूरे समुदाय का नाम 'सूक्ष्मशरीर' है। इसकी रचना सर्ग के आदिकाल में होजाती है, वह आत्मा के आवे-

१. सूक्ष्मशरीर के घटक अठारह तत्त्व हैं–तेरह करण [दस बाह्यकरण पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय, तीन अन्तःकरण मन, अहंकार, बुद्धि] तथा पांच सूक्ष्मभूत। अहंकार को बुद्धि से अलग न गिनकर इनकी संख्या सत्रह रहती है। इनमें करण आश्रित हैं, तथा सूक्ष्मभूत उनके आश्रय। जब आश्रित की प्रधानता [मुख्यता] का निर्देश करना अपेक्षित हो, तो इसे 'लिङ्गशरीर' कहाजाता है, क्योंकि 'करण' आत्मा के लिङ्ग होते हैं। जब आश्रय की प्रधानता अपेक्षित हो, तो इसे 'कारण-शरीर' कहते हैं। क्योंकि सूक्ष्मभूत करणों की स्थिति के आश्रय-कारण हैं। विभिन्न प्रसंगों में 'सूक्ष्मशरीर' के लिये ही इन पदों का प्रयोग होता रहता है। इस विषय के अधिक विवेचन के लिये देखें हमारी रचना 'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ १०८–११०; २६८–२७९; ४४१–४४३; ४६८–४७०।

ष्टन के रूप से समस्त सर्गकाल में बराबर बना रहता है। तात्पर्य यह, कि प्राणों के आश्रय पञ्चसूक्ष्मभूतात्मक देह से आवेष्टित जीवात्मा का उत्क्रमण हुआ करता है। आत्मा के उत्क्रमण में प्राणों के साथ पांच सूक्ष्मभूतों का सहयोग प्रस्तुत सूत्र से बताया गया है, जो अपेक्षित था। छान्दोग्य के उक्त सन्दर्भों में 'आपस्' पद से उसका निर्देश है।

यद्यपि जीवात्मा समस्त सर्गकाल में इन तत्त्वों से आवेष्टित रहता है, पर स्थूलशरीर में रहते हुए प्राणों का सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होता है। एक देह से देहान्तर में जाने तक भी आत्मा उक्त तत्त्वों से आवेष्टित रहता है, यहां इतना बताना अभीष्ट है। यदि आत्मा उस दशा में इनसे आवेष्टित न रहता होता, तो उक्तरूप में प्रश्न और उत्तर का होना अयुक्त होता। पांचवीं आहुति में 'आपस्' पुरुषवचन कैसे होते हैं ? यह प्रश्न है; और उसको बताकर–ऐसे होते हैं; यह उत्तर है। यदि उस दशा में 'आपस्' का सम्पर्क जीवात्मा से न होता, तो ये प्रश्न-उत्तर असंगत रहते। यदि स्थूलदेह के समान सूक्ष्मदेह भी तथाकथित जन्म के अवसर पर उत्पन्न होजाता है, ऐसा मानलिया जाय; तो आत्मा के उत्क्रमण में उसका कोई आवेष्टन मानना अनावश्यक होगा। ऐसा विचार ठीक नहीं; क्योंकि आत्मा का कोई कार्य प्रकृतिसहयोग के विना संभव नहीं होता। तब स्थूलदेह छोड़ने पर आत्मा के साथ किसीतरह का प्राकृतिक संपर्क न रहने से आत्मा का एक देह से देहान्तर में उत्क्रमण असंभव होगा। इसलिये आत्मा सर्गकाल में सूक्ष्मभूतनिर्मित देह से निरन्तर आवेष्टित रहता है, यह मानना आवश्यक है। तब स्थूलदेह से सम्बद्ध दशा के समान असम्बद्ध दशा में भी आवेष्टन बना रहता है, यह निश्चित है।

लिङ्गशरीर अथवा सूक्ष्मशरीर नामक आत्मसम्बन्धी आवेष्टन केवल कल्पना-मूलक नहीं है, अध्यात्मशास्त्र में इसका वर्णन उपलब्ध होता है। इस विषय में बृहदा-रण्यक [४।४।६] का सन्दर्भ विचारणीय है। ऋग्वेद की एक ऋचा [१।१६४।३८] में भी इसका संकेत मिलता है। इसका प्रथम [ब्र० सू० २।४।१३ पर] उल्लेख करदिया गया है ॥१॥

शिष्य आशंका करता है, एक देह से देहान्तरप्राप्ति के लिये गति करने में जीवात्मा सूक्ष्मशरीर अथवा कारणशरीर या लिङ्गशरीर से आवेष्टित रहता है; इस विषय में 'प्रश्ननिरूपणाभ्यां' जो हेतु दिया गया है, वह संगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि छान्दोग्य के उक्त पञ्चाग्निविद्या प्रसंग में आत्मा के किसी आवेष्टन का कोई निर्देश नहीं है। वहां केवल इतना है, कि पांचवीं आहुति योषित् में दीजाने पर 'आपस्' पुरुष-वचन होजाते हैं। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥२॥

[त्र्यात्मकत्वात्] त्रिरूप–तीन रूप होने से [तु] किन्तु [भूयस्त्वात्] बहुत

होने के कारण। किन्तु आवेष्टन के त्रिरूप होने से और निर्देशवाक्य में आहुतियों के 'आपस्-बहुल' होने के कारण वहां पठित 'आपस्' पद उस सूक्ष्म आवेष्टन का द्योतक है।

वह आवेष्टन त्र्यात्मक–त्रिरूप है–आन्तरकरण, बाह्यकरण, सूक्ष्मभूत; इन तीन रूपों में आवेष्टन परिनिष्ठित है। इनमें सूक्ष्मभूत अन्य दो के आश्रय होते हैं; तथा वे दोनों आश्रित। आश्रयरूप सूक्ष्मभूत ही वस्तुतः वह आवेष्टन है, जिसे 'सूक्ष्मदेह' कहा जाता है। एक देह को छोड़कर दूसरे देह में पहुंचने के लिये जीवात्मा की गति के स्तरों को पांच आहुति के रूप में वर्णन किया है। वे आहुति 'आपस्' रूप हैं, 'आपस्' पद जल का पर्याय है। जल द्रव अथवा तरल होते हैं, आहुति द्रव अथवा द्रव-बहुल होने से 'आपस्' पद द्वारा निर्दिष्ट हैं, वह पद उन समस्त सूक्ष्मभूतों को अभिलक्षित करता है, जो आत्मा की उस गति में आधाररूप हैं। तात्पर्य यह है, आत्मा के उत्क्रमण-अवसर की गति का पांच आहुतियों के रूप में वर्णन किये जाने से तथा आहुतियों के अप्-बहुल होने से उस त्रिरूप आवेष्टन को छान्दोग्य के उक्त [५।३।३॥५।६।१] प्रसंग में 'आपस्' पद से निर्दिष्ट किया गया है, यह निश्चित है। इससे यह समझना अयुक्त होजाता है, कि छान्दोग्य के उक्त प्रसंग में जीवात्मा के आवेष्टनरूप सूक्ष्मदेह का कोई संकेत या निर्देश नहीं है। फलतः छान्दोग्य के उक्त प्रश्न-प्रतिवचनरूप में वर्णन से सिद्ध है, कि जीवात्मा देहान्तरप्राप्ति में सूक्ष्मदेह से आवेष्टित रहता है ॥२॥

इसी विषय में सूत्रकार ने गतप्रकरण की कही बात का स्मरण कराया—

प्राणगतेश्च ॥३॥

[प्राणगतेः] प्राणों की गति से [च] भी। आत्मा के देहान्तरगमन में साथ-साथ प्राणों की गति से भी आत्मा का सूक्ष्मभूतमय आवेष्टन सिद्ध होता है।

गतप्रकरण में यह स्पष्ट किया, कि आत्मा के देहान्तर उत्क्रमण में प्राण साथ जाते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।२] में बताया–'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति, प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' जीवात्मा जब एक देह को छोड़ देहान्तर में जाता है, तब समस्त प्राण उसके साथ जाते हैं। प्राण कभी निराश्रित नहीं रहसकते, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। प्राणों की गति आश्रय के विना संभव नहीं। इससे स्पष्ट होजाता है, कि प्राणों [आन्तर-बाह्य करणों] का आश्रयरूप भूतसूक्ष्ममय देह उस गति में आवश्यक सहयोगी है। इन आश्रित और आश्रय का समुदाय सूक्ष्मदेह है, उससे संपरिष्वक्त–आवेष्टित जीवात्मा सर्गकाल में निरन्तर गति कर रहा है, यह कथन सर्वथा युक्त है ॥३॥

शिष्य आशंका करता है, देहपात होने [मृत्यु के अवसर] पर वाक् आदि प्राण तथा देह का लय अग्नि आदि में बताया है। जब प्राण अग्नि आदि में यहीं लीन होजाते हैं; तब उनका आत्मा के साथ गमन कैसे संभव है? आचार्य सूत्रकार ने आशङ्कानिर्देश-

पूर्वक समाधान किया—

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥४॥

[अग्न्यादिगतिश्रुतेः] अग्नि आदि में गति–लय सुने जाने से [इति-चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो यह ठीक) [न] नहीं, [भाक्तत्वात्] गौण होने से। अग्नि आदि में वाक् आदि प्राणों की गति बताये जाने से प्राणों का आत्मा के साथ गमन असंगत है, ऐसा कहना ठीक न होगा; क्योंकि इस विषय में लय का कथन गौण है।

आत्मा के उत्क्रमण के साथ प्राणों का उत्क्रमण जो गतसूत्र में निर्दिष्ट किया गया, वह युक्त प्रतीत नहीं होता। कारण यह है, कि मृत्यु के अवसर पर वाक् आदि प्राणों की गति अग्नि आदि में शास्त्रद्वारा बताई गई है। बृहदारण्यक उपनिषद् [३।२।१३] में निर्देश है–'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं' जब इस मृत पुरुष की वाक् अग्नि में चली जाती है, लीन होजाती है; प्राण वायु में और चक्षु आदित्य में। यहां देहपात के अनन्तर पुरुष के वाक् आदि प्राणों का लय अग्नि आदि में बताया गया है। तब यह कैसे संभव होसकता है, कि प्राण आत्मा के साथ उत्क्रमण करते हैं? प्राणों का उत्क्रमण न होनेपर उनके आश्रयरूप सूक्ष्मभूतमय देह का उत्क्रमण भी अनपेक्षित है, तब यह कथन निराधार रहजाता है, कि सूक्ष्मदेह से आवेष्टित आत्मा का उत्क्रमण होता है।

आचार्य समाधान करता है, बृहदारण्यक के उक्त प्रसंग में वाक् आदि प्राणों का अग्नि आदि में लय का वर्णन गौण है। जिस गुणविशेष के कारण कोई शब्द अपने मुख्य अर्थ से हटा दिया जाता है, उसे 'भक्ति' कहते हैं। भक्ति से अर्थप्रतिपादन में प्रवृत्त पद 'भाक्त' कहा जाता है। गुणविशेष के आधार पर उसे 'गौण' कहते हैं। पुरुष के जीवनकाल में अग्नि आदि, वाक् आदि प्राणों को अपने-अपने विषय के प्रकाशन की शक्ति का अभिव्यञ्जक होने से अनुगृहीत करते हैं। देहपात होने पर प्राण आत्मा के साथ उत्क्रमण कर जाते हैं, तब यह भूतानुग्रह स्वतः निवृत्त होजाता है। इस अनुग्रह-निवृत्तिरूप गुण की अपेक्षा से यह कहा जाता है, कि वाक् आदि प्राण अग्नि आदि में चले जाते हैं। अनुग्रह की निवृत्ति को वाक् आदि का अग्नि आदि में लय कह दिया गया है।

यह तथ्य बृहदारण्यक के इसी सन्दर्भ के अगले अंश से स्पष्ट होजाता है। आगे कहा–'आकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशाः' आत्मा आकाश में, लोम ओषधियों में, केश वनस्पतियों में चले जाते हैं, लीन होजाते हैं। यदि यह सब कथन भाक्त न होकर मुख्य होता, तो आत्मा का आकाश में लय नहीं कहा जासकता था। आत्मा नित्य चेतनतत्त्व है, उसका लय कहीं संभव नहीं; फिर आकाश जड़ में लय कहना तो सर्वथा असंगत होता। ऐसे ही लोमों का ओषधियों में और केशों का वनस्पतियों में लय कहा; लोम और केश किसीप्रकार ओषधि वनस्पतियों में लीन होजाते हों, यह असंभव है।

इसलिये यह कथन निश्चितरूप से भाक्त है। एक सन्दर्भ में आधा कथन भाक्त हो और आधा मुख्य, ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं। इसलिये उक्त सन्दर्भ का समस्त कथन गौण है, यही समझना चाहिये। फलतः प्राणविशिष्ट सूक्ष्मदेह से आवेष्टित जीवात्मा का उत्क्रमण होता है, इसमें कोई दोष नहीं ॥४॥

शिष्य पुनः आशंका करता है, आत्मा की देहान्तर गति के आहुतिरूप में जो पांच स्तर बताये गये, वहां प्रथम आहुति में सूक्ष्मदेह के द्योतक 'आपस्' का होमद्रव्य के रूप में उल्लेख नहीं है; तब–पांचवीं आहुति में 'आपस्' पुरुषवचन होजाते हैं–यह कथन ठीक नहीं रहता। जब यह प्रश्न–प्रतिवचनरूप हेतु ठीक न रहा, तो उसका साध्य–आत्मा संपरिष्वक्त गति करता है–निर्हेतुक होने से असिद्ध होगा? आचार्य सूत्रकार ने आशंका-निर्देशपूर्वक समाधान किया—

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥५॥

[प्रथमे] पहले में [अश्रवणात्] न सुने जाने से [इति-चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो वह ठीक) [न] नहीं, [ताः] वे [एव] ही [हि] क्योंकि [उपपत्तेः] उपपन्न–सिद्ध होने से। प्रथम आहुतिस्तर में 'आपस्' का श्रवण नहीं है, यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि वहां प्रथम आहुति से वे 'आपस्' ही सिद्ध होते हैं।

छान्दोग्य [५।४।१-२] के पञ्चाग्निविद्याप्रसंग में द्युलोक आदि पांच अग्नियों की कल्पना कर उनमें होम्य द्रव्यरूप से श्रद्धा आदि का निर्देश किया है–'असौ वाव लोको गौतमाग्निः,'''तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति' राजा प्रवाहण ने आरुणि गौतम को कहा–हे गौतम! वह लोक [द्युलोक] अग्नि है। उस अग्नि में देव श्रद्धा को होमते हैं। इस प्रथम आहुति में होम्य द्रव्य 'श्रद्धा' कहा है, वह 'आपस्' नहीं है, द्रवरूप नहीं है। तब पांचवीं आहुति में 'आपस्' पुरुषवचन होजाते हैं, यह कथन संगत नहीं कहा जासकता। आस्तिकभाव से युक्त बुद्धि का नाम श्रद्धा है। ऐसी श्रद्धा का द्रवरूप [आपस्] होना संभव नहीं। इसप्रकार पांचवीं आहुति में 'आपस्' के पुरुषवचन होने का प्रश्न-प्रतिवचनरूप वर्णन असंगत होगया, तब उसके आधार पर जीवात्मा देहान्तर-गमन में सूक्ष्मभूतों से संपरिष्वक्त रहता है, यह कैसे सिद्ध होगा?

आचार्य ने समाधान किया, प्रथम आहुति में होम्य द्रव्य 'आपस्' नहीं बताया गया, यह कथन अयुक्त है। क्योंकि वहां 'श्रद्धा' पद से 'आपस्' ही उपपन्न–सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह, कि जहां जो शब्द जिस अर्थ को प्रकट करने के अभिप्राय से प्रयुक्त किया जाता है, वहां उसका वही अर्थ समझना चाहिये, यह एक व्यवस्था है। ऋग्वेद [९।४६।४] में एक ऋचा का अंश है–'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' यद्यपि 'गो' पद के पृथिवी, एक पशु आदि अनेक अर्थ हैं, पर उक्त वाक्य में 'गो' पद का प्रयोग गाय के विकार दूध के अर्थ में किया गया है–सोम को दूध के साथ पकावें। यहां 'गो' पद का अन्य कोई

अर्थ नहीं लिया जासकता [निरु० २।५]। तथा जैसे 'गङ्गायां गुरुकुलम्' लौकिक वाक्य में 'गंगा' पद 'गंगातट' का वाचक है; ऐसे ही छान्दोग्य के उक्त सन्दर्भ में–जब यह कहा गया, कि–पांचवीं आहुति में 'आपस्' पुरुषवचन होजाते हैं, तो प्रथम आहुति को 'आपस्' रूप मानाजाना चाहिये। छान्दोग्य सन्दर्भ के उपक्रम और उपसंहार में समान कथन है, उसमें किसी व्यतिक्रम की संभावना नहीं होसकती।

उक्त प्रसंग में 'आपस्' पद सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित जीवात्म-पुरुष का निर्देश करता है। देह को छोड़कर जीवात्मा जिस भावना को लेकर चलता है, उसका श्रद्धामय आहुति के रूप में वर्णन किया–'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः' [गी० १७।३]। मनुष्य श्रद्धामय है, जिसकी जो श्रद्धा होती है, वह वैसा ही होता है। मृत्युकाल की भावना को गीता के एक अन्य [८।६] श्लोक में कहा है–'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः' अपने जन्मभर के कार्यों के अनुसार अन्तकाल में जो भावना प्रबल होकर उभर आती हैं, उन्हींके अनुसार वह देहान्तर को प्राप्त होता है। इसीका मूल छान्दोग्य [३।१४।१] में कहा–'यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति' जैसे कार्य पुरुष इस लोक [देह] में करता है, उसके अनुसार यहां से छोड़कर होता है। ऐसी भावनाओं के अनुसार 'आपस्' पदवाच्य सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित पुरुष की गति के प्रथम स्तर को 'श्रद्धा' रूप आहुति कहकर वर्णन किया गया है। फलतः 'श्रद्धा' पद से 'आपस्' का ही कथन होता है। अन्यत्र [तै० ब्रा० ३।२।४] स्पष्ट 'श्रद्धा' को 'आपस्' बताया है–'श्रद्धा वा आपः'। इस सब विवेचन से सिद्ध है–जीवात्मा देहान्तरप्राप्ति में सूक्ष्मदेह से संपरिष्वक्त [आबद्ध–आवेष्टित] हुआ गति करता है॥५॥

शिष्य आशंका करता है, छान्दोग्यवर्णित पञ्चाग्निविद्या के प्रसंग में केवल सूक्ष्मदेह [आपस्] की गति का निर्देश है, वहां आत्मा का उल्लेख नहीं है, तब यह कैसे निश्चय किया जाय, कि वहां सूक्ष्मदेह से संपरिष्वक्त जीवात्मा की गति का वर्णन है? आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः॥६॥

[अश्रुतत्वात्] न सुना हुआ होने से [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो ठीक) [न] नहीं, [इष्टादिकारिणाम्] इष्ट आदि कर्म करनेवालों की [प्रतीतेः] प्रतीति से–सम्बन्ध से। पञ्चाग्निविद्या के प्रसंग में आत्मा का श्रवण न होने से जीवात्मा सूक्ष्मदेह से बंधा हुआ गति नहीं करता, ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि इष्ट आदि कर्म करने वालों की गति का जो परिणाम कहा है, वही पञ्चाग्निविद्या में है, उस सम्बन्ध से पञ्चाग्निविद्या में आत्मा की गति के कथन का निश्चय होता है।

पञ्चाग्निविद्या के प्रसंग में प्रश्न-प्रतिवचनद्वारा सूक्ष्मदेहवाच्य 'आपस्' की गति

का उल्लेख है, वहां आत्मा का नाम नहीं सुना जाता। तब उसके आधार पर यह कैसे कहा जासकता है, कि सूक्ष्मदेह से आवेष्टित जीवात्मा गति करता है? इसलिये गतसूत्र-द्वारा 'रंहति संपरिष्वक्तः' कथन असंगत होजाता है।

आचार्य ने कहा, ऐसा समझना ठीक नहीं, क्योंकि आगे छान्दोग्य [५।१०।३] के इसी प्रकरण में कहा गया, कि जो व्यक्ति गृहस्थ आश्रम का पालन करते हुए वेद-वेदाङ्ग आदि विद्याओं का अध्ययन कर अग्निहोत्र आदि कर्म, विद्यालय चिकित्सालय अतिथिशाला आदि की स्थापना तथा विविध प्रकार के अन्य दान आदि कर्म का अनुष्ठान करते हैं, वे पितृयाण मार्ग से गति करते चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं। इनके विषय में कहा–'एष सोमो राजा' [छा० ५।१०।४] एकवचन जाति के अभिप्राय से है। ये सब सोम राजा बन जाते हैं। अर्थात् चन्द्रलोक में भोग्यों को उपभोग करने योग्य दिव्य देहों को धारण करलेते हैं। कर्मानुसार उनको वैसे देह प्राप्त होते हैं, वैसी योनियों में वे जन्म लेते हैं। इष्ट आदि कर्म करने वाले जीवात्माओं की गति का यहां जो परिणाम कहा; वही पञ्चाग्निविद्या में प्रथम आहुति का है–'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति, तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति' [छा० ५।४।२] उस द्युलोकरूप अग्नि में जब देव श्रद्धा को होमते हैं, तब उस आहुति से सोम राजा प्रादुर्भूत होजाता है। इसप्रकार इष्ट आदि कर्म करने वाले जीवात्माओं को जो सोम राजा बनना कहा है, वही द्युलोक में श्रद्धा आहुति का फल बताया है। दोनों के इस समान फल-सम्बन्ध से स्पष्ट होता है, कि इष्टादिकर्त्ता जीवात्माओं के समान पञ्चाग्निविद्यावर्णित प्रथमाहुतिरूप में सूक्ष्मदेह से आवेष्टित जीवात्मा वहां जाता है, केवल 'आपस्' पदवाच्य सूक्ष्मदेहमात्र नहीं। इससे गतसूत्र का 'रंहति संपरिष्वक्तः' कथन सर्वथा निर्दोष है ॥६॥

शिष्य आशंका करता है, इष्ट आदि कर्म करने वाले व्यक्तियों को तो चन्द्रलोक अवस्था में पहुंचने पर 'देवों का अन्न', 'देवों का भक्ष्य' बताया गया है; तब उन्हें कर्म-फलभोग वहां प्राप्त होता है, यह कैसे कहा जासकता है? सूत्रकार ने समाधान किया—

भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात् तथा हि दर्शयति ॥७॥

[भाक्तं] गौण [वा] तो [अनात्मवित्त्वात्] आत्मवित्–आत्मज्ञानी न होने से [तथा] वैसा [हि] निश्चय से [दर्शयति] दिखलाता है। अन्न या भक्ष्य कहना तो गौण है; ऐसा इसलिये कहा गया, क्योंकि वे जीवात्मा आत्मज्ञानी नहीं होते, निश्चय से शास्त्र वैसा बतलाता है।

इष्ट आदि कर्म करने वाले जीवात्माओं को छान्दोग्य [५।१०।४] के उक्त प्रसंग में देवों का अन्न एवं देवों का भक्ष्य कहा है–'तद् देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति' जिस इष्ट आदि कर्म करने वाले को 'सोम राजा' कहा है, वह देवों का अन्न है, उसको देव खाजाते हैं। ऐसा ही उल्लेख बृहदारण्यक [६।२।१६] में है–'ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति,

तांस्तत्र देवा······भक्षयन्ति' चन्द्र को प्राप्त होकर वे इष्टादिकारी देवों के अन्न होजाते हैं, उनको वहां देव खाजाते हैं। यह वर्णन इसका बाधक है, कि इष्टादिकारी जीवात्मा चन्द्रलोक में दिव्यदेह प्राप्तकर सुखादि का उपभोग करते हैं।

आचार्य ने बताया, इष्टादिकारी जीवात्माओं को देवों का अन्न एवं भक्ष्य कथन गौण हैं। वस्तुतः नित्य चेतन जीवात्मा किसीका अन्न व भक्ष्य नहीं बनता। उन प्रसंगों में जीवात्मविषयक ऐसा वर्णन इसीकारण है, कि वे आत्मज्ञानी नहीं होते। भोगों के भोगने की उत्सुकता उनमें बनी रहती है। इसी भावना से वे इष्टादि कर्मों का अनुष्ठान करते हैं। उस दशा में वे उन दिव्य भोगों का उपभोग क्या करते हैं, वे दिव्य भोग ही इन्हें खाजाते हैं; 'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः' [वैरा० श० ७] यह भर्तृहरिवाक्य उनपर चरितार्थ होता है। आत्मज्ञानी न होने से उन्हें शीघ्र फलभोग के अनन्तर पुनः इस जन्म-मरण के चक्र में आजाना पड़ता है। इसी भावना से इष्टादिकारियों को देवों का अन्न कहा गया है, वस्तुतः नहीं।

शास्त्र इस तथ्य को निश्चयपूर्वक बतलाता है। छान्दोग्य [८।१।६] में कहा-'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' जैसे यहां कर्म से संचित लोक क्षीण होजाता है, ऐसे ही पुण्य से प्राप्त परलोक क्षीण होजाता है। तात्पर्य यह, कि अपने कर्मों के अनुसार जन्म लेने पर कर्मफल भोगने के अनन्तर यहां जैसे शरीर छोड़ देना पड़ता है, ऐसे ही पुण्य से प्राप्त परलोक पुण्यफल भोगलेने पर छूट जाता है। इससे स्पष्ट है-इस लोक के समान परलोक में भोग प्राप्त होता है। मुण्डक उपनिषद् [१।२।१०] में बताया-'इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति' जो व्यक्ति यज्ञ याग, बावड़ी कुआ, तालाब, धर्मशाला आदि के अनुष्ठान को सर्वोच्च कल्याण का साधन समझते हैं, वे भोग के स्थान परलोक में अपने कर्मफलों को भोगकर इस मानवलोक अथवा इससे भी निकृष्ट तिर्यक् आदि योनियों में शेष कर्मानुसार जन्म लेते हैं। इससे परलोक में भोगों का प्राप्त होना प्रमाणित होता है। प्रश्न उपनिषद् [५।४] में कहा है-'सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते' सोमलोक में ऐश्वर्य का उपभोग कर फिर यहां आजाता है। ये सब प्रसंग स्पष्ट करते हैं, कि इष्टादि कर्मों का अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति परलोक मे कर्मानुसार फलों का भोग करते हैं; वहां वे देवों का ऐसा भक्ष्य नहीं बनजाते, कि देव उनको चबाजाते या निगलजाते हों। इसलिये इष्टादिकारी व्यक्तियों को देवों का जो अन्न या भक्ष्य कहागया है, वह सर्वथा गौण है।

यह भी इस प्रसंग में जानलेना चाहिये, कि कर्मदेवों [कर्म से देवत्व को प्राप्त करने वालों] को जो आजानदेवों [अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र पृथिवी आदि नैसर्गिक देवों] का अन्न व भक्ष्य कहा है, वह इसलिये भी भाक्त समझना चाहिये, कि वह केवल पञ्चाग्निविद्या की प्रशंसा का द्योतक है, जो एक आत्मविद्या है। ऐसी भावना आशु-

विनाशी कर्मफलों की ओर से जिज्ञासु में उपेक्षावृत्ति को उत्पन्न कर आत्मज्ञान की ओर प्रवृत्त करने में सहायक होती है; उक्त कथन का यही तात्पर्य है। वे देव खाते-पीते कुछ नहीं हैं–'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति, एतदेवाऽमृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' [छा० ३।६।१] वे तो इस आत्मरूप अमृत को देखकर ही तृप्त रहते हैं। फलतः यह सब विवेचन इस तथ्य को स्पष्ट करता है, कि अपने कर्मफलों के भोग के लिये जीवात्मा समस्त सर्गकाल में एक देह से देहान्तर को सूक्ष्मभूतमय देह से आवेष्टित हुआ गति किया करता है। इसलिये गतसूत्र [३।१।१] का 'रंहति संपरिष्वक्तः' कथन सर्वथा निर्दोष है ॥७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, इष्टादिकारी जीवात्माओं का परलोक में कर्मफलोपभोग पूरा होजाने पर उनकी क्या गति होती है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥८॥

[कृतात्यये] किये कर्मों का फलोपभोग पूरा होजाने पर [अनुशयवान्] संचित कर्मसंस्कारों से युक्त [दृष्टस्मृतिभ्याम्] श्रुति स्मृति से [यथेतं] जैसे गया (वैसे आजाता है), [अनेवं] न इसप्रकार–प्रकारान्तर से [च] और। इष्ट आदि किये कर्मों का फल भोगलेने पर शेष बचे कर्मसंस्कारों से युक्त आत्मा जैसे यहां से गया वैसे तथा अन्य प्रकार से फिर यहां वापस आजाता है। यह सब श्रुति स्मृति से जाना जाता है।

इष्ट आदि कर्मों को करने वाले जीवात्मा परलोक में उन कर्मों के फलों का उपभोग कर शेष कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में पुनः यहां जन्म ले लेते हैं। इष्ट आदि जिन विशिष्ट कर्मों का फल उन जीवात्माओं ने भोगलिया है, उनसे अतिरिक्त कर्मों के संस्कार अथवा कर्मजन्य धर्माधर्मरूप अदृष्ट उन आत्माओं में बने रहते हैं, सूत्र में उन्हीं को 'अनुशय' पद से कहा है। अनुशय वाले वे जीवात्मा जिस मार्ग से परलोक गये [यथेतम्], उसीके अनुसार फलभोग के अनन्तर लौट आते हैं। इसी अर्थ को छान्दोग्य [५।१०।५] के उक्त प्रसंग में बताया–'तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्' भोगद्वारा कर्मों का क्षय होने तक परलोक में निवास कर अनन्तर उसी मार्ग से फिर लौट आते हैं, जिससे गये। कर्मानुसार विभिन्न योनियों में उनका जन्म होता है, इसका भी छान्दोग्य [५।१०।७] में वर्णन है।

अनुशयसहित जीवात्मा यहां वापस आते हैं, यह अर्थ श्रुति और स्मृति से प्रमाणित होता है। मुण्डक उपनिषद् [१।२।१०] में बताया– इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति' यज्ञ याग, वापी कूप तडाग, धर्मशाला विद्यालय चिकित्सालय आदि के अनुष्ठान व रचना को सुख का सर्वश्रेष्ठ साधन मानने वाले पुरुष अन्य आत्मज्ञान आदि को मोहावेश में नहीं जानपाते। वे स्वर्गदशा में इष्ट आदि कर्मों से प्राप्त सुखों का उपभोग कर इस लोक में मानव तथा तिर्यक् आदि योनियों में कर्मानुसार जन्म लेते हैं। इसीप्रकार बृहदा-

रण्यक [४।४।६] में कहा—'प्राप्यान्त कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' यह पुरुष जो कुछ यहां करता है, वह परलोक में भोगा जाकर जब पूरा होजाता है, पुनः कर्मानुष्ठान के लिये वह आत्मा इस लोक में आजाता है। बृहदारण्यक के एक अन्य सन्दर्भ [६।२।१६] में यही भाव प्रकट किया है। सांख्यस्मृति [६।५६] में कहा—'चन्द्रादिलोकेऽप्यावृत्तिर्निमित्तसद्भावात्' कर्मानुसार फलों को भोगने के लिये चन्द्र आदि लोक-लोकान्तरों अथवा अवस्थाओं में प्राप्त हुए भी आत्माओं को कर्मफलभोग के अनन्तर उस लोक से इस लोक में लौट आना होता है; क्योंकि पुनः पुनः जन्म-मरण आवृत्ति का निमित्त अविवेक अभी तक बना रहता है। फलतः परलोक से इष्टादिकारी आत्मा का पृथिवीलोक की ओर जो आगमन होता है, वह सानुशय आत्मा का होता है, यह श्रुति-स्मृति से सिद्ध है ॥८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है. गतसूत्र में अनुशयसहित आत्मा की परलोक से आवृत्ति कही, परन्तु श्रुति में 'अनुशय' का निर्देश नहीं है। वहां पुण्य-पाप चरण को जन्म का निमित्त बताया है। 'चरण' का अर्थ आचरण व आचार है, सूत्र में उसीको निमित्त बताना उपयुक्त था। आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक अन्य आचार्यद्वारा किया समाधान प्रस्तुत किया—

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥९॥

[चरणात्] चरण—आचरण से [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो ठीक) [न] नहीं, [उपलक्षणार्था] उपलक्षण के लिये है [इति] यह [कार्ष्णाजिनिः] कार्ष्णाजिनि। आचरण से जन्म होना, कहना चाहिये अनुशय से नहीं; यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि कार्ष्णाजिनि आचार्य कहता है, कि श्रुति में 'चरण' पद कर्म का उपलक्षण है, द्योतक है।

छान्दोग्य उपनिषद् [५।१०।७] में कहा है—'तद्य इह रमणीयचरणाः······ रमणीयां योनिमापद्येरन्···कपूयचरणाः···कपूयां योनिम्' यहां जो रमणीय आचरण करते हैं, वे रमणीय योनियों में जन्म लेते हैं, जो निन्दित आचरण करते हैं, वे निन्दनीय योनियों में। इस सन्दर्भ में 'अनुशय' का निर्देश न होकर जन्म का निमित्त 'आचरण' बताया है। आचरण चरित्र अथवा कर्मानुष्ठान को कहते हैं, और अनुशय है—जिन कर्मों के फल भोगलिये हैं, उनसे अतिरिक्त कर्मों के संस्कार। ये दोनों परस्पर भिन्न हैं। इसलिये छान्दोग्यसन्दर्भ के अनुसार गतसूत्र में 'अनुशय' को जन्म का निमित्त न कहकर 'आचरण' को कहना चाहिये। कार्ष्णाजिनि आचार्य के विचार को प्रकट करते हुए सूत्रकार ने बताया—छान्दोग्य की आचरणश्रुति अर्थात् 'चरण' पद कर्म का उपलक्षण है। तात्पर्य यह, कि जो कर्म संस्काररूप से अथवा धर्माधर्मरूप से आत्मा में सञ्चित रहते हैं, उन्हींका नाम 'अनुशय' है। छान्दोग्य का 'चरण' पद उसी अर्थ का द्योतक है।

यद्यपि 'कर्म' और 'चरण' का अनेक स्थलों पर भिन्नरूप से उल्लेख हुआ है—

'यथाकारी यथाचारी तथा भवति' [बृ० ४।४।५] जैसा कर्म होता है, जैसा आचरण होता है, वैसा पुरुष होता है। तथा 'यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि,⋯यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि' [तै० १।११।२] जो हमारे अनिन्द्य कर्म हैं, उनका सेवन करना चाहिये, जो हमारे अच्छे आचरण हैं, उन्हें तुमको अपनाना चाहिये। इन स्थलों में कर्म और आचरण को एक दूसरे से अलग दिखाया गया है। फिर भी यह सोचकर कि सद्यस्क कर्मानुष्ठान 'आचरण' है, उसके अनन्तर जो संस्कार आत्मा में उन कर्मों के रहजाते हैं, अथवा विशिष्ट कर्मानुष्ठान से जो धर्म-अधर्म आत्मा में सञ्चित रहते हैं, उन्हें कर्म अथवा 'अनुशय' पद से कहा जाता है, इस भेद के कारण उनका पृथक् निर्देश हुआ है। कोई आचरण, संस्कार अथवा धर्माधर्मरूप में जाये विना जन्म का निमित्त नहीं होपाता। आचरण या कर्मानुष्ठान तात्कालिक क्रियारूप हैं, अगला जन्म लेने तक उनका रहना सम्भव नहीं। उनसे जो संस्कार या अदृष्ट [धर्माधर्म] आत्मा में निहित होते हैं, उनके अनुसार आगे जन्म होता है। तब उसे आचरण से हुआ कहा जाय, या अनुशय से; इसमें कोई अन्तर नहीं। आचार्य कार्ष्णाजिनि के कथन का यही तात्पर्य है ॥९॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि 'अनुशय' ही जन्म का कारण है, तो शास्त्र में 'चरण' को कारण बताया जाना निरर्थक होगा, जो अवाञ्छनीय है। सूत्रकार ने जिज्ञासानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥१०॥

[आनर्थक्यम्] अनर्थक होना (होगा श्रुति का) [इति चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो वह ठीक) [न] नहीं, [तदपेक्षत्वात्] उसकी अपेक्षा वाला होने से। 'अनुशय' को जन्म का निमित्त मानने से 'चरण' श्रुति का अनर्थक होना प्राप्त होगा; यह ठीक नहीं, क्योंकि अनुशय आचरण की अपेक्षा करता है।

सूत्र के 'तद्-अपेक्षत्वात्' में 'तत्' पद 'चरण' का परामर्श करता है। गतसूत्र में 'अनुशय' को जन्म का निमित्त बताने पर, छान्दोग्य में 'चरण' को जन्म का निमित्त कहना निरर्थक नहीं है; क्योंकि अनुशय आचरण की अपेक्षा करता है। आचरण अथवा कर्मानुष्ठान एक बात है। 'अनुशय' अदृष्ट [धर्माधर्म] एवं संस्कारों का नाम है। आचरण के विना अनुशय का होना संभव नहीं। शुभ-अशुभ कर्मानुष्ठान से धर्माधर्मरूप 'अनुशय' बनता है। इसलिये 'अनुशय' को जन्म का निमित्त कहने पर आचरण को निमित्त बताना निरर्थक नहीं। आत्मा के देहसंयोगरूप जन्म के समय यद्यपि अनुशय का अस्तित्व है, आचरण का नहीं। पर आचरण के विना अनुशय बन नहीं सकता; इसलिये छान्दोग्य में जन्म के निमित्तरूप से 'चरण' का निर्देश सार्थक है, व्यर्थ नहीं ॥१०॥

उक्त विषय में सूत्रकार आचार्य बादरि के विचार को प्रस्तुत करता है—

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥११॥

[सुकृतदुष्कृते] सुकृत और दुष्कृत–अच्छे और बुरे कर्म [एव] ही, [इति] ऐसा [तु] तो [बादरिः] बादरि आचार्य कहता है। अच्छे और बुरे कर्म ही 'चरण' पद का अर्थ हैं; इसे अनुशय का उपलक्षण मानने की आवश्यकता नहीं; यह बादरि आचार्य का विचार है।

विहित और प्रतिषिद्ध कर्मों की तरह शुभ-अशुभ आचरण भी सुकृत और दुष्कृत हैं। तात्पर्य यह, कि आचार एक धर्मविशेष है, अन्य कुछ नहीं। इसलिये छान्दोग्य [५।१०।७]का 'चरण' पद शुभ-अशुभ कर्मों का ही वाचक है। फलतः गतसूत्र [३।१।८] में जो 'अनुशय' को जन्म का निमित्त कहा है, उसका न छान्दोग्य-वचन के साथ कोई असामञ्जस्य है, न 'चरण' पद की अनर्थकता है और न इसको कर्म का उपलक्षण मानने की आवश्यकता रहती है। 'यथाकारी यथाचारी' [बृ० ४।४।५] आदि प्रयोगों में जो कर्म और चरण शब्दार्थ का भेद प्रतीत होता है, वह ब्राह्मण-परिव्राजकन्याय से अवान्तर भेद का द्योतक कहा जासकता है। 'आचार' एक लौकिक बर्त्ताव है, और कर्म अग्निहोत्र आदि अनुष्ठान का नाम है। पर अच्छा या बुरा बर्त्ताव भी शुभ-अशुभ कर्म ही है। लौकिक वैदिक सब प्रकार के कर्म आत्मा में जो संस्कार या धर्माधर्म की स्थिति को बनाते हैं, वे ही आगे जन्म का निमित्त हैं। 'चरण' पद से इन सबकी अभि-व्यक्ति होती है। रमणीयचरण और कपूयचरण पदों का पुण्यकर्मा और पापकर्मा अर्थ होने में कोई बाधा नहीं है। यह बादरि आचार्य का विचार है। कर्म और चरण पदों को साधारणतया समान अर्थवाला मानने पर दोनों पदों का साथ प्रयोग [बृ० ४।४।५ तै० १।११] विधेय अर्थ के प्रतिपादन में दृढ़ता के लिये किया जाना संभव है ॥११॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, इष्ट आदि कर्म करने वाले जीवात्मा चन्द्रलोक में प्राप्त हो, वहां कर्मों का फल भोगकर पुनः इस लोक में जन्म लेते हैं, यह निश्चय किया गया। पर जो इष्ट आदि कर्म नहीं करते, उनकी क्या गति होती है? सूत्रकार ने इस विषय का निश्चय करने के लिये उपक्रम किया—

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥१२॥

[अनिष्टादिकारिणाम्] इष्ट आदि कर्मों के न करनेवालों का [अपि] भी [च] और [श्रुतम्] सुना गया है (चन्द्रलोकगमन)। तथा जिन्होंने इष्ट आदि कर्म नहीं किये, अथवा अनिष्ट कर्म किये हैं उनका भी चन्द्रलोकगमन उपनिषद् में वर्णित है।

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् [१।२] में कहा है—'ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' जो कोई इस लोक से प्रयाण करते हैं, वे सब चन्द्रलोक को ही जाते हैं। इस सन्दर्भ में 'सर्व' पद यह प्रकट करता है, कि चाहे कोई इष्ट आदि कर्म

का करनेवाला हो अथवा इष्ट को न कर अनिष्ट का करनेवाला हो, इस लोक से प्रयाण करने पर सबका चन्द्र में जाना होता है। पुनः देहप्राप्ति के लिये चन्द्रलोक जाना इसलिये आवश्यक है–छान्दोग्य [५।६।१] के अनुसार पांचवीं आहुति में 'आपस्' को पुरुषवचन का उल्लेख होने से चन्द्र में न जाने पर पांच संख्या की पूर्त्ति न होगी। उसके सामञ्जस्य के लिये प्रत्येक आत्मा की चन्द्रगति समानरूप से मानी जानी चाहिये। इष्ट आदि कर्म करने वालों, न करने वालों तथा अनिष्ट कर्म करने वालों की चन्द्रस्थानप्राप्ति के समान होने पर भी इतनी विशेषता रहती है, कि इष्ट आदि कर्म न करने वालों को वहां भोग की प्राप्ति नहीं होती। फलतः सभी आत्माओं के लिये चन्द्रलोकप्राप्ति साधारण है, यह अवगत होता है॥१२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि सभी की गति मृत्यु के अनन्तर समान है, तो इष्ट आदि कर्म करने की विशेषता क्या रही ? यह प्रकट करने को सूत्रकार ने कहा—

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥१३॥

[संयमने] यम के लोक में [तु] तो [अनुभूय] अनुभव करके–भोगकर (पाप-फल को) [इतरेषां] अन्यों का [आरोहावरोहौ] चढ़ना-उतरना (होता है) [तद्गति-दर्शनात्] उनकी गति देखे जाने से। इष्ट आदि न करने वाले आत्मा यमलोक में पाप का फल भोगकर चन्द्रमार्ग से यहां लौट आते हैं, उनका आरोह और अवरोह ऐसा ही है, क्योंकि आत्मा की ऐसी गति का वर्णन शास्त्रों में देखा जाता है।

सूत्र में 'तु' पद गतिसमानता की व्यावृत्ति का सूचक है। इष्ट आदि कर्मों को न करनेवाले चन्द्रलोक–स्वर्गनामक सुखविशेष की अवस्था–को प्राप्त नहीं होते; प्रत्युत वे यमलोक में पापों का फल भोगकर वहां से चन्द्रलोक होते हुए इस लोक में आजाते हैं। जगत् के नियन्ता परमात्मा का नाम 'यम' है, आत्माओं के पापकर्मफलभोग के लिये उसने विविध कृमि कीट आदि निम्न योनियों की व्यवस्था की है। यम का वह सदन सूत्र के 'संयमन' पद का अर्थ है। पापकर्मा आत्माओं का तीव्रवेदनारूप फलभोग द्वारा वहां अच्छी तरह नियमन किया जाता है। 'इस लोक' का तात्पर्य है–साधारण मानव योनि। इसके अनुसार सूत्रार्थ होता है–इष्ट आदि शुभ कर्मों को न करनेवाले पापात्मा मानव मृत्यु के अनन्तर चन्द्रलोक न जाकर पापफलों को भोगने के लिये निम्न योनियों में नियन्ता [यम] परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार चले जाते हैं। जब भोगे जाकर पाप समाप्त होजाते हैं, तब अन्य अवशिष्ट साधारण कर्मानुसार [सञ्चित कर्मानुसार] वे पुनः चन्द्रलोकमार्गद्वारा यहां साधारण मानवयोनि में जन्म लेते हैं। ऐसे आत्माओं का आरोह [मानव योनि के अनन्तर अन्य योनियों में पापफल भोगकर चन्द्रलोक में जाना] और अवरोह [चन्द्रलोक से पुनः मानवयोनि में जन्म लेना] ऐसे ही हैं। शास्त्र में उन आत्माओं की गति का ऐसा वर्णन देखा जाता है।

कठ उपनिषद् [२।६] में नाचिकेतोपाख्यान के प्रसंग से बताया–'न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे' धन के मोह से मोहित हुए अज्ञानी प्रमादी को परलोक नहीं सूझता। बस यही लोक [जन्म] है, दूसरा कोई नहीं; ऐसा समझनेवाला आत्मा बार-बार मेरे वश में आता है। यह धनगर्वीले मदमत्त अज्ञानी मानव जीवन का सच्चा चित्र है। परलोक [परजन्म] की चिन्ता न कर इष्टादि धर्मानुष्ठान की उपेक्षाद्वारा विविध पापराशिसंचय में सुखातिशय का अनुभव करता हुआ अमूल्य मानवजीवन को व्यर्थ नष्ट कर देता है। तब उस नियन्ता [यम] की व्यवस्था के अनुसार यामी यातनाओं को भोगने के मार्ग पर चल पड़ता है [–पुनः पुनर्वशमापद्यते मे]। परमात्मा इस रूप में जीवात्माओं के पापपुण्यफलों का नियन्ता है, इस आशय से 'यम राजा' के रूप में उसका अथर्ववेद [१८।३।१३] के एक मन्त्र में वर्णन है–'वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत'। जो धर्मानुष्ठान नहीं करता, वह जन्म-मरण के अनवरत चक्र में फंसा रहता है। इस विवेचनद्वारा सूत्रकार ने निश्चय किया, सुखभोग के लिये चन्द्रलोक को केवल इष्टादिकारी प्राप्त होते हैं, अनिष्टादिकारी नहीं। 'आपस्' पांचवीं आहुति में पुरुषवचन होजाते हैं [छा० ५।६।१] इस शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार वे आत्मा उस नियत मार्ग से केवल गुजरते हैं, जिसे शास्त्र में चन्द्रलोक कहा है ॥१३॥

इसी विषय की दृढ़ता के लिये सूत्रकार ने कहा—

स्मरन्ति च ॥१४॥

[स्मरन्ति] स्मरण करते हैं–समझकर बतलाते हैं [च] और। उपनिषत्कार तथा अन्य आचार्यों ने इस अर्थ को समझकर बतलाया है।

कठ उपनिषद् [२।६] के नाचिकेतोपाख्यान में इस विषय के वर्णन का उल्लेख गतसूत्र की व्याख्या में कर दिया है। मनुस्मृति के बारहवें अध्याय में इस विषय का विस्तृत वर्णन है। सात्त्विक राजस तामस कर्मों के अनुसार कर्त्ता को क्या फल प्राप्त होते हैं। प्रारम्भ के इक्यासी श्लोकों में विभिन्न पापगतियों का संक्षेप से उल्लेख है; उसके अनन्तर उन कर्मों का वर्णन है, जो अभ्युदय एवं निःश्रेयस के साधन हैं। ऐसे शुभ कर्मों के ज्ञान व अनुष्ठान के लिये वेद को वहां सर्वश्रेष्ठ प्रमाण बताया है। फलतः अभ्युदय आदि की प्राप्ति के लिये शास्त्रप्रतिपादित मार्ग का अनुसरण करना फलप्रद है। जो उस मार्ग पर नहीं चलते, वे अन्धकारमय योनियों में दुःख भोगते हैं ॥१४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, वह संयमन–यम का सदन (घर) कहां है, जहां अनिष्टादिकारी विविध यातनाओं का अनुभव कर पुनः इस लोक [मानव योनि] में आकर जन्म लेते हैं ? सूत्रकार ने बताया—

अपि च सप्त ॥१५॥

[अपि, च] किञ्च, अपितु [सप्त] सात। यम का घर और कहीं नहीं, अपितु वही है, जहां सात [इन्द्रिय] बैठे रहते हैं।

परमात्मा सर्वत्र व्यापक सर्वान्तर्यामी है, प्रस्तुत प्रसंग में उसका कोई घर बताने का तात्पर्य नहीं, जीवात्माओं के कर्म व फलभोग की दृष्टि से नियन्ता के नियम व व्यवस्थाओं का निर्देश करना मुख्य लक्ष्य है। सूत्रकार ने बताया सात इन्द्रियां जहां बैठी रहती हैं, वही उसका घर है। मानव योनि तथा उसके अतिरिक्त वे विविध योनियां हैं, जहां जीवात्मा पुण्य-पाप कर्मों का फल भोगता है। सूत्र का 'सप्त' पद सात इन्द्रियों से युक्त देह का बोधक है। मानवदेह का त्यागकर जीवात्मा उन योनियों में जाता है, जहां पाप कर्मों के फलों को भोगता है। वे योनियां एक दूसरे की अपेक्षा निम्न, निम्नतर, निम्नतम एवं और अधोऽधः कोटि की हैं, उनकी वैसी स्थिति की दृष्टि से रौरव, महारौरव, वह्नि, वैतरणी, कुम्भीपाक, तामिस्र, अन्धतामिस्र आदि भेद-उपभेदों की कल्पना करली गई है, जिनकी भीषण यातनाओं का वर्णन विविध पौराणिक साहित्य में उपलब्ध होता है। उन्हीं योनियों को प्रस्तुत प्रसंग में 'संयमन' पद से निर्दिष्ट किया है, क्योंकि यह सब उस अचिन्त्यशक्ति नियन्ता की व्यवस्था के अनुसार उसके नियन्त्रण में हुआ करता है ॥१५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि नियन्ता परमात्मा इसी कार्य में लगा रहता है, तो उसके विश्वनियन्ता होने में विरोध आता है। सूत्रकार समाधान करता है—

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥१६॥

[तत्र] वहां [अपि] भी [च] और [तद्व्यापारात्] उसका व्यापार–नियन्त्रण होने से [अविरोधः] विरोध नहीं। और वहां भी उसका व्यापार होने से कोई विरोध नहीं होता।

परब्रह्म परमात्मा सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी सर्वनियन्ता है, वह जीवात्मा की तरह परिच्छिन्न नहीं, जो एक जगह किसी एक विषय में व्यापृत होने पर अन्यत्र नियमन न करसके। इसलिये परमात्मा जैसे समस्त जीवात्माओं के कर्मानुसार फलों का प्रदाता है, ऐसे ही वह सकल विश्व का नियन्त्रण सदा करता है, यह उसका स्वभाव है, उसकी व्यवस्था के अनुसार निर्बाधरूप से अनादि अनन्त संसार का संचालन होता रहता है।

परमात्मा ने प्रत्येक कार्य के लिये अलग अधिष्ठाता नियत किये हुए हैं, उनके और आगे उनके कर्मचारी या गुमाश्ते हैं, उन्हींके द्वारा वह विश्व का संचालन करता है; कर्म और उनके फलों का ब्यौरा रखनेवाला भी कोई चित्रगुप्त नामक अधिष्ठाता है; इत्यादि सब कल्पनामात्र है, और यह आसुरीदर्शन का आर्यदर्शन पर प्रभाव का

परिणाम है। जिस आसुरीदर्शन में राजा को ही ईश्वर माना जाता है, तथा वह अपने राज्य की व्यवस्था मन्त्री अन्य कर्मचारी एवं गुमाश्तों आदि के द्वारा करता है, ऐसी व्यवस्था के जनप्रिय होने से उसकी देखा-देखी ईश्वर को माननेवाले आर्यपरम्परा के पराभिभूत व्यक्तियों ने ईश्वर के एक विशाल दरबार की कल्पना कर डाली; अनन्तर उसको उसी रूप में यथार्थ माना जाने लगा। उस अयथार्थ मार्ग पर चल-पड़ने से न मालूम कितनी मिथ्या कल्पनाओं को जन्म देना पड़ा, कालान्तर में समस्त समाज उस जाल में जकड़ गया। परमात्मा की व्यवस्था को मोटे तौर पर समझने-समझाने के लिये उदाहरण के रूप में ऐसी कल्पनाओं का भले ही आश्रय लेलिया जाय, पर उनके ऐसे स्वरूप की यथार्थता पर विश्वास करना अज्ञता का सूचक है। सूत्रकार आचार्य ने यही बताया, कि सर्वनियन्ता परब्रह्म का नियन्त्रण सर्वत्र सर्वदा समानरूप से संचालित रहता है, इसलिये वह जब एकत्र नियन्त्रण करता है, अन्यत्र कैसे करेगा ? ऐसी आशंका करना सर्वथा निस्सार है।

वेदादि शास्त्रों में परब्रह्म के ऐसे स्वरूप को स्पष्ट बताया है। यजुर्वेद [४०।१] में कहा-'ईशावास्यमिदं सर्वम्' यह सब परमात्मा से व्याप्त है। आगे कहा-[यजु० ४०।५] 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' वह समस्त विश्व के अन्दर और बाहर परिपूर्ण है। बृहदारण्यक उपनिषद् [३।७।१] में बताया-'य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतान्यन्तरो यमयति' वह इस लोक और परलोक तथा सब भूतों को उनमें व्याप्त रहता हुआ नियन्त्रित करता है। वह अचिन्त्यशक्ति है, उसे अपने कार्य के लिये किसी अधिष्ठाता कर्मचारी या गुमाश्ते की आवश्यकता नहीं रहती ॥१६॥

इष्टादि कर्म न करनेवाले चन्द्रलोक को प्राप्त नहीं होते; इस विषय की अन्य प्रकार से उपपत्ति के लिये सूत्रकार ने कहा—

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥१७॥

[विद्याकर्मणोः] विद्या और कर्म का [इति] यह [तु] तो [प्रकृतत्वात्] प्रकरण होने से। यह चन्द्रलोकप्राप्ति तो विद्या और कर्म का फल है, क्योंकि यह उन्हीं-का प्रकरण है।

सूत्र के 'विद्या' पद का अर्थ उपासना है। इष्ट [यज्ञ याग आदि] और पूर्त्त [कूप तड़ाग विद्यालय आदि का निर्माण] आदि के लिये 'कर्म' पद का प्रयोग है। विद्या और कर्म का जो अनुष्ठान करते हैं, उनकी गति के दो मार्ग छान्दोग्य [५।३।२-५।१०।८] के इस प्रसंग में बताकर आगे एक तीसरे मार्ग का उल्लेख हुआ है। राजा प्रवाहण ने श्वेतकेतु से प्रश्न किया-क्या तुम जानते हो, वह लोक भर क्यों नहीं जाता, जबकि अनेकानेक प्राणी देह त्यागकर यहां से वहां जाते है ? श्वेतकेतु के द्वारा कोई उत्तर न दिये जाने पर यथावसर प्रवाहणद्वारा उपनिषत्कार ने बताया-इस लोक से परलोक जानेके

दो मार्ग हैं–देवयान और पितृयाण। जो व्यक्ति एकान्तवासी होकर श्रद्धा-तपस्यापूर्वक उपासना करते हैं, उनका मार्ग देवयान है [छा० ५।१०।१]। जो व्यक्ति समाज के बीच आबादियों में रहकर इष्ट पूर्त्त तथा दान आदि शुभ कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वे पितृयाण मार्ग से चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं [छा० ५।१०।३-४]। इसी प्रसंग में आगे कहा–'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन, तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेति, एतत् तृतीयं स्थानं, तेनासौ लोको न सम्पूर्यते' [छा० ५।१०।८] जो प्राणी इन दोनों मार्गों द्वारा परलोक नहीं जाते, वे क्षुद्र डाँस मच्छर कृमि कीट आदि योनियों में निरन्तर जल्दी-जल्दी जन्मते मरते रहते हैं। यह तीसरा मार्ग है, इसीकारण परलोक भरता नहीं।

इस प्रसंग में पहले दो मार्ग यथाक्रम उपासक और कर्मिष्ठों के हैं। इनमें इष्ट और पूर्त्त आदि कर्मों के करनेवाले की गति चन्द्रलोकप्राप्ति बताई है। सूत्र में विद्या–उपासना का निर्देश प्रसंगवश है। सूत्रकार का आशय यह स्पष्ट करने में है, कि चन्द्र-लोक की प्राप्ति इष्टादिकारी व्यक्ति को होती है, यह इस प्रसंग से स्पष्ट होता है। जो इष्टादिकारी नहीं हैं, उनकी तीसरी गति है। यह छान्दोग्य के इस प्रकरण से अवगत है। कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् [१।२] में जो चन्द्रलोक में सबके जाने का उल्लेख है, वह उन सबके जाने का समझना चाहिये, जो अधिकारी हैं। वहां इष्ट आदि कर्मों का फल भोगना है, जिन्होंने ये कर्म नहीं किये, उनका जाना व्यर्थ है।

इस आशय को ऋग्वेद [१०।१४।८] की एक ऋचा में कहा है–'सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्त्तेन परमे व्योमन्। हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः' अपने पूर्वजों के साथ संगत होओ, नियमपूर्वक किये गये इष्ट व पूर्त्त के द्वारा उत्कृष्ट स्वर्ग में प्राप्त होओ। पाप को छोड़कर फिर इस घर–पृथ्वीलोक में आओ, तथा शोभन कान्तियुक्त मानवदेह को प्राप्त करो। यही मन्त्र अथर्ववेद [१८।३।५८] में भी पढ़ा गया है। इससे इष्ट और पूर्त्त आदि कर्म करनेवालों को स्वर्ग–सुखविशेषप्राप्ति का संकेत मिलता है। प्रस्तुत प्रसंग में 'चन्द्रलोकप्राप्ति' का जो उल्लेख है, उसका तात्पर्य लोकान्तर [जन्मान्तर] में सुखविशेषप्राप्ति है। वह दिव्यदेहप्राप्तिद्वारा इस लोक में भी ऐहिक ऐश्वर्य साधनों के सहयोग से संभव है ।।१७।।

शिष्य जिज्ञासा करता है, मानवदेहप्राप्ति के लिये सबका चन्द्रलोक जाना संभव होसकता है; क्योंकि पांचवीं आहुति में मानवदेह प्राप्ति का निर्देश कर आहुति-संख्या का नियम किया है। पांच संख्यापूर्ति चन्द्रलोक में जाये विना संभव नहीं। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

न तृतीये तथोपलब्धेः ।।१८।।

[न] नहीं [तृतीये] तीसरे में [तथा] वैसे [उपलब्धेः] उपलब्धि से। तीसरे

मार्ग में पांचवीं आहुति की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि शास्त्र में वैसा उपलब्ध होता है।

छान्दोग्य [५।१०।८] में जहां तृतीयमार्ग का वर्णन किया है, वहां यह स्पष्ट उपलब्ध होता है, कि जिन आत्माओं की गति उक्त दोनों मार्गों [देवयान–पितृयाण] से नहीं होती, उनके लिये वह तीसरा मार्ग है, जहां कृमि कीट आदि क्षुद्र योनियों में निरन्तर जन्मना मरना चलता रहता है। इष्ट आदि कर्म करनेवालों को देहपात के अनन्तर चन्द्रलोक प्राप्त होता है, वहां उन कर्मों का फल भोगकर पुनः उनके मानवदेहप्राप्ति में पांचवीं आहुति का नियम उपनिषद् [छा० ५।३।३] में बताया गया है। चन्द्रलोक प्राप्ति के लिये जिनके कर्म ही नहीं, उनका न वहां जाना अपेक्षित है, और न उनके लिये पांचवीं आहुति का नियम। यह नियम तभी लागू होता है, जब वे विविध क्षुद्र योनियों में अपने पापकर्मों के फलों का उपभोग कर उन कर्मों के समाप्त होजाने पर मिश्रित सञ्चित कर्मों के अनुसार पुनः मानवदेह प्राप्त करते हैं। यदि इष्टादिकारी के लिये पांचवीं आहुति में मानवदेह प्राप्त करने का कथन है, तो इसका यह अभिप्राय नहीं, कि अन्यत्र विना पांचवीं आहुति के मानवदेह प्राप्त नहीं होता। इसलिये कर्मानुसार जिनका चन्द्रलोक में आरोह-अवरोह संभव है, उनको पांचवीं आहुति मे मानवदेह प्राप्त होता है। जिनकी चन्द्रलोकप्राप्ति संभव नहीं, उनको आहुतिसंख्यानियम के विना ही मानव-देह कर्मानुसार यथावसर प्राप्त होगा। ऐसी व्यवस्था भी मानली जाय, तो इसमें कोई आपत्ति की बात नहीं है। फलतः मानवदेहप्राप्ति के लिये चन्द्रलोक में सबक [illegible] ाना आवश्यक नहीं ॥१८॥

उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये सूत्रकार ने लोकप्रमाण प्रस्तुत किया—

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥१९॥

[स्मर्यते] स्मरण किया जाता है [अपि] भी [च] और [लोके] लोक में। लोक और शास्त्र में यह स्मरण किया गया है, कि अयोनिज सृष्टि में आहुतिसंख्या का नि[illegible]म नहीं।

लोक में यह कहा सुना जाता है, कि सर्ग के आदि अवसर पर प्राणियों का प्रा-दुर्भाव अयोनिज होता है। वहां पुरुषविषयक और योषित्विषयक दोनों आहुतियों का अभाव रहता है। दर्शनशास्त्र में अयोनिज सृष्टि का स्मरण किया है। वै[illegible]षिक दर्शन [४।२।११] में बताया–'सन्त्ययोनिजाः' सर्गादि काल में प्राणियों का अयोनिज प्रादुर्भाव होता है। जैसे आदि सर्ग के अवसर का अयोनिज सृष्टि में आहुतिसंख्या के नियम का अभाव है, ऐसे अन्यत्र भी होसकता है। मानवदेह की प्राप्ति के लिये यह कोई सार्वत्रिक प्रतिबन्ध नहीं है ॥१९॥

इसी विषय में सूत्रकार ने चालू सर्गकाल का लौकिक दृष्टान्त प्रस्तुत किया—

दर्शनाच्च ॥२०॥

[illegible]नात्] देखे जाने से [च] और (लोक में)। और लोक [illegible] जाने से।

गतसूत्र से 'लोके' पद का यहां अनुवर्त्तन है। न केवल आदि सर्गकाल में, अपितु अब भी लोक में प्राणियों का अयोनिज प्रादुर्भाव देखा जाता है। समस्त प्राणियों का विभाजन शास्त्रकारों ने चार वर्गों में किया है–जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज। समस्त मानव और पशु प्रथम वर्ग में आजाते हैं। समस्त पक्षी, सरीसृप एवं प्रायः जलचर द्वितीय वर्ग में। शेष सूक्ष्म कृमि कीट आदि तृतीय तथा लता वृक्ष वनस्पति आदि चौथे वर्ग में आते हैं। यहां तीसरे चौथे वर्ग के प्राणियों में पुरुष-योषिद्विषयक दो आहुतियों का प्रायः अभाव रहता है; इस आधार पर ऐसे प्राणियों का प्रादुर्भाव आज चालू सर्ग-काल में भी अयोनिज समझा जाता है। फलतः मानवदेहप्राप्ति के लिये आहुतिसंख्या का नियम किसी विशेषस्थिति के लिये है, सार्वत्रिक नहीं। इसलिये इष्ट आदि कर्म न करनेवालों को भोगार्थ चन्द्रलोक प्राप्ति नहीं होती, यह निश्चित है ॥२०॥

प्रसंगवश शिष्य जिज्ञासा करता है, गतसूत्र की व्याख्या में प्राणियों के चार वर्ग बताये गये, परन्तु छान्दोग्य [६।३।१] में तीन का उल्लेख है। इसका सामञ्जस्य कैसे होगा? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥२१॥

[तृतीयशब्दावरोधः] तीसरे शब्द से अवरोध–संग्रह है [संशोकजस्य] संशोकज–स्वेदज का। छान्दोग्य के तीसरे उद्भिज्ज शब्द से स्वेदज का संग्रह होजाता है:

छान्दोग्य उपनिषद् [६:३:१] में बताया–'तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति–आण्डजं, जीवजं, उद्भिज्जमिति'। इन प्राणियों के तीन ही बीज–मौलिक वर्ग हैं–आण्डज, जीवज [जरायुज] और उद्भिज्ज; यहां स्वेदज का निर्देश नहीं है। सूत्रकार ने कहा, यहां के तृतीय शब्द–उद्भिज्ज–से स्वेदज का संग्रह होजाता है। यह पद दोनों वर्गों का बोधक है, उस एक समानता के आधार पर जिसका ऊपर संकेत किया गया है; ये दोनों वर्ग प्रायः अयोनिज होते हैं।

अन्यत्र शास्त्र में चारों का उल्लेख हुआ है। ऐतरेय उपनिषद् [३।३] में कहा–'बीजानीतराणि चेतराणि च अण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि च' यहां चारों वर्गों का स्पष्ट उल्लेख है। निमित्तवश जहां नहीं किया गया, वहां भी समझ लेना चाहिये, यह एक शास्त्रीय मर्यादा है।

इस प्रसंग का सारांश इतना है, कि इष्ट आदि कर्मों को करनेवाले आत्मा पितृयाण मार्ग से परलोक को प्राप्त होते हैं, तथा उपासना आदि द्वारा ज्ञानमार्ग का आश्रयण करनेवाले देवयान से। इन दो मार्गों का संकेत वेद [ऋ० १०।८८।१५; यजु० १९।४७] में उपलब्ध होता है—

द्वे स्रुती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥

यजुर्वेद में 'स्रुती' पद के स्थान पर 'सृती' पाठ है, अर्थ दोनों पदों का समान है। अपने पूर्वज पितरों और देवों के दो मार्ग सुनता हूं, जो मर्त्यरूप से यहाँ आते व जाते हैं। यह समस्त प्राणिजगत् इन मार्गों से आता जाता है। प्राणियों के आवागमन की इस गति का क्षेत्र द्युलोक व पृथिवीलोक के बीच है। माता-पिता के द्वारा जन्म को प्राप्त होकर सांसारिक विषयभोगरूप एक गति है, तथा आत्मज्ञानी गुरुओं के सम्पर्क में रह आत्मज्ञानद्वारा मोक्षप्राप्ति दूसरी गति है। इन्हींको पितृयाण व देवयान मार्ग कहा जाता है। यही पितृलोक व देवलोक हैं। ये कर्म आदि का फल भोगने की अवस्था हैं : इसीके अनुसार इष्ट आदि कर्म करनेवाले पितृलोक और उपासक देवलोक को प्राप्त होते हैं : बृहदारण्यक (१।५।१६) में यही कहा–'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः'। जो न इष्ट आदि कर्म करते हैं न उपासना, ऐसे पापी आत्माओं का बार-बार सत्वर जन्म-मरण का क्रम निरन्तर चला रहता है, यह तीसरा मार्ग है। वे पापफलों को भोगने के लिये लगातार कर्मानुसार जन्मते मरते रहते हैं [कठ० २।२।७] ॥२१॥

अपने किये इष्ट आदि कर्मों का फल भोगने के लिये इष्टादिकारी चन्द्रलोक में जा, जब उन कर्मों का फल भोग चुकते हैं; तब उस अवस्था से पुनः पृथिवीलोक में उनका अनुशय [सञ्चित कर्माशय] सहित आवर्त्तन होता है, यह निश्चय किया गया। इस पृष्ठभूमि पर शिष्य जिज्ञासा करता है, आवर्त्तन का जो प्रकार शास्त्र में बताया है, वहां निर्देश है, कि वह आत्मा आकाश में आता है, आकाश से वायु, वायु से धूम, धूम से अभ्र आदि होजाता है; इसका क्या आशय है ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥२२॥

[साभाव्यापत्तिः] सदृश स्थिति को प्राप्त होता है [उपपत्तेः] उपपत्ति–युक्ति से। आवर्त्तन के समय इष्टादिकारी आत्मा की स्थिति आकाशादि के सदृश होती है; ऐसा मानना युक्तियुक्त है।

छान्दोग्य उपनिषद् [५।१०।५-६] में जहां चन्द्रलोक में भोगों को भोगकर इष्टादिकारी आत्मा के पुनः आवर्त्तन का वर्णन है, वहां कहा है–'अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते यथेतमाकाशम्, आकाशाद्वायुम्, वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति, अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति' भोगद्वारा इष्ट आदि कर्मों के क्षीण होजाने पर इसी मार्ग को फिर वापस होते हैं, जैसे वहां पहुंचे आकाश होकर। यद्यपि जाने और आने की अवस्थाओं में अन्तर है, पर इनको समान केवल इतने आधार पर कहा गया है, कि जैसे जाते समय पृथिवी से आकाश में होकर चन्द्रलोक पहुंचते हैं, ऐसे ही चन्द्रलोक से आकाश [अन्तरिक्ष] में होकर पृथिवी पर वापस आजाते हैं। इस अवरोहण [आवर्त्तन–वापस आना] में जिज्ञासा यह है, कि उक्त उपनिषत्संदर्भ में कहा

गया है–वह आकाश से वायु को आता है, वायु होकर धूम होजाता है, धूम होकर अभ्र होजाता है; इत्यादि वाक्यों में उस इष्टादिकारी आत्मा का आकाश वायु धूम अभ्र आदि होजाने का तात्पर्य क्या तद्रूप होजाना है, अथवा उनके सदृश व अनुकूल होजाने का है? सूत्रकार ने बताया, उक्त कथन का अभिप्राय आत्मा का 'साभाव्य' होजाना है। सूत्र के 'साभाव्य' पद का अर्थ 'सादृश्य' है। साभाव्य–समान भाव का होजाना; जैसी स्थिति आकाश वायु आदि की है, उसके अनुकूल होजाना।

चन्द्रलोक में भोग के अनन्तर भोगसाधन दिव्य शरीर के क्षीण होजाने पर सूक्ष्मदेह से आवेष्टित आत्मा आकाश [अन्तरिक्ष] में अवस्थित होता है, तात्पर्य यह, कि आकाश के समान उसकी भी स्थिति सूक्ष्म है। अनन्तर वह वायु के आवरण [घेरा] में आता है, वायु जैसा चलता है, उसीके अनुसार उसका संचरण होता रहता है। तब वह अभ्र होजाता है, अर्थात् अभ्रों के मध्य आजाता है। 'अभ्र' मेघों की वह अवस्था है, जब वे वाष्परूप होते हैं। उसके अनन्तर अभ्र मेघ होजाते हैं, वह आत्मा उनके साथ मेघरूप होजाता है, अर्थात् मेघों के मध्य आजाता है। मेघ जब बरसते हैं, वह आत्मा भी धाराओं के साथ पृथिवी पर आजाता है। तब ओषधि वनस्पति अन्न आदि में अनुशयी होकर बैठ जाता है ओषधि आदि को किसीके द्वारा प्रयोग करने पर रसपाकक्रम से वीर्य में जा पुनः योषित्पुरुषसंपर्क होने पर देहधारण करता है। वर्षा के साथ पृथिवी पर आकर देहधारण की स्थिति तक पहुंचना बहुत कठिनता से होपाता है। यह कोई निश्चय नहीं, कि प्रत्येक अन्न आदि का ठीक उपयोग होकर वह आवश्यक रूप से देहधारण की अवस्था तक पहुंच सकेगा। अन्न ओषधि आदि के अथवा उनके विकारों के पानी में बहजाने या धूल में मिलजाने पर वह फिर वाष्प अथवा वायु के द्वारा मेघ में पहुंच जाता है, पुनः बरसता है, फिर ऐसे ही मेघ में जाने की संभावना बनी रहती है, इस चक्र से निकलना बड़ा कठिन होता है। यह सब क्रम कर्मानुसार चला करता है।

वह आत्मा इन अवस्थाओं में वायु मेघ आदि के सदृश रहते हैं, अर्थात् उनके अनुकूल इनकी गति बनी रहती है, ये तद्रूप नहीं बन जाते; इसमें सूत्रकार ने हेतु दिया है–उपपत्ति। प्रमाणों एवं युक्ति के आधार पर किसी वस्तु की सिद्धि का नाम 'उपपत्ति' है। सूक्ष्मदेह से आवेष्टित आत्मा किसी भी दशा में वायुरूप अथवा मेघरूप आदि नहीं होसकता। वैसे कोई एक वस्तु दूसरी का रूप नहीं होती; फिर आत्मा तो चेतनतत्त्व है, उसका वायु आदि के साथ तादात्म्य होना सर्वथा युक्तिप्रमाण के विरुद्ध है। इसलिये उपनिषद् के कथन का वही तात्पर्य होसकता है, जो प्रथम वर्णन किया है।

प्रसंगवश यह और जानलेना चाहिये, कि जिन आत्माओं को अपने कर्मों के अनुसार स्थावर योनि प्राप्त हुई है, वे उन अनुशयी आत्माओं से अतिरिक्त होते हैं। अनुशयी आत्मा का किसीतरह का स्थूलदेह नहीं है। कर्मानुसार स्थावर योनि में प्राप्त हुए देह का वह अभिमानी आत्मा है, जिसे वहां कर्मानुसार दुःखानुभूति होती है।

मनु[1] में इनका 'अन्त.संज्ञ' नाम दिया गया है। इसके विपरीत अनुशयी आत्मा सर्वथा अज्ञान अवस्था में रहता है, जैसे कि एक घोर मूर्च्छा की अवस्था होती है। इसलिये अन्न आदि के उपयोग में हिंसा की कल्पना का अवकाश नहीं रहता ॥२२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, अवरोहण के अवसर पर आत्मा का जो आकाश आदि के साथ सादृश्य कहा गया, उसके काल का क्या कोई नियम है ? वह अवस्था जल्दी समाप्त होती है, या चिरकाल लेलेती है ? अथवा उसका कोई नियम ही नहीं ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

नातिचिरेण विशेषात् ॥२३॥

[न] नहीं [अतिचिरेण] अति चिर से [विशेषात्] विशेष वचन से। आगे कहे विशेष वचन से यह ज्ञात होता है, कि आकाश वायु अभ्र आदि स्तरों में अतिचिर से अवरोहण नहीं होता।

वर्षा द्वारा यहां आकर आत्मा की स्थिति व्रीहि यव आदि अन्न व वनस्पति आदि में अनुशयी होकर रहने की बताई है—'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्' [छ० ५।१०।६]। यहां व्रीहि आदि में अनुशयीरूप से प्राप्त आत्मा के अवरोहणस्तर को कठिनता से पार होनेवाला अति दुस्तर [दुर्निष्प्रपतरं] बताया है; इस विशेष कथन से यह ज्ञात होता है, कि आकाश से लेकर व्रीहिस्तर में आने से पूर्व तक की अवस्थाओं को पार करने में अधिक काल नहीं लगता। यदि सब अवस्थाओं को पार करने में समानप्राय समय लगता होता, तो यहां उक्तरूप से विशेष कथन करना अनावश्यक था। फलतः स्पष्ट होता है—आकाशभाव से व्रीह्यादि-भाव की प्राप्ति तक अल्पकाल में अवरोहण पूरा होजाता है, इसमें अधिक काल नहीं लगता ॥२३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, इष्टादिकारी आत्मा की व्रीह्यादिभाव में प्राप्ति पहले आकाश आदि में प्राप्ति के समान है, अथवा व्रीहि आदि में अपने कर्मों का फल भोगने के लिये जन्म है ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ॥२४॥

[अन्याधिष्ठितेषु] अन्य आत्माओं से अधिष्ठितों में [पूर्ववत्] पहले के समान [अभिलापात्] कथन से। अन्य आत्माओं से अधिष्ठित व्रीहि आदि में अनुशयी

१. तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः॥
मनुस्मृति, १।४९॥

आत्माओं का संपर्कमात्र होता है, जैसे पहले कहे वायु आदि में; क्योंकि उपनिषद् में इस विषय पर समान कथन है।

इष्टादिकारी आत्माओं के परलोक से अवरोहण में वर्षा के साथ पृथिवी पर आने के अनन्तर उपनिषद् [छा० ५।१०।६] में कहा–'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते' यहां 'जायन्ते' क्रियापद से यह भाव प्रकट होता है, कि वे अनुशयी कहेजानेवाले आत्मा अवरोहण की इस स्थिति में आने पर व्रीहि यव आदि के रूप में जन्म लेलेते हैं। तो क्या यह उनका मुख्य जन्म समझना चाहिये, अथवा वायुभाव आदि में जैसा पहले वायु आदि के साथ केवल संपर्क व संश्लेष बताया गया है, वैसा व्रीहि आदि के साथ संपर्कमात्र समझना चाहिये?

सूत्रकार ने बताया, पूर्वोक्त वायुभाव आदि के समान यहां व्रीहिभाव आदि में संपर्कमात्र अनुशयी आत्माओं का समझना चाहिये। व्रीहि आदि के रूप में कर्मानुसार जन्म लेनेवाले आत्मा दूसरे होते हैं, जो उन स्थावर देहों के अधिष्ठातारूप में वहां उपस्थित हैं। 'स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्' [कठ० २।२।७] अन्य आत्मा अपने उपार्जित कर्म व विज्ञान के अनुसार वृक्ष व्रीहि यव आदि स्थावरभाव को प्राप्त होते हैं, अर्थात् फलभोग के लिये इन योनियों में जन्म लेते हैं। इसप्रकार व्रीहि आदि रूप में जन्मलेनेवाले अधिष्ठाता आत्मा अन्य हैं; इष्टादिकारी तो परलोक से अवरोहण के अवसर पर वर्षा के साथ पृथिवी पर आ व्रीहि यव आदि में संश्लिष्ट होकर रहते हैं, ठीक उसी तरह जैसे पहले वायुभाव आदि में बताये गये हैं। कारण, यह है, कि उपनिषद् में इनका समानरूप से कथन हुआ है। इनके कथन में समानता है–कर्मव्यापार का निर्देश न होना। जैसे वायुभाव आदि विना कर्मों के कहा है, अर्थात् उस अवस्था में अनुशयी आत्मा को किसीप्रकार के कर्मों का भोग प्राप्त नहीं होता, ऐसे ही व्रीहिभाव आदि में अनुशयी को कर्मफलभोग नहीं कहा। जहां कर्मफलभोग अपेक्षित है, वहां 'रमणीयचरणाः·······कपूयचरणाः' [छा० ५।१०।७] इत्यादि निर्देश किया गया है। इसलिये व्रीहिभाव आदि में वायुभाव आदि के समान अन्य आत्माओं से अधिष्ठित व्रीहि आदि में अनुशयी आत्माओं का संश्लेषणमात्र होता है, कर्मफलभोग नहीं होता। इसके अनुसार उक्त वाक्य में 'जायन्ते' क्रियापद का प्रयोग मुख्य न होकर गौण समझना चाहिये। वह इनके 'जन्म' को न कहकर केवल संपर्क को कहता है। अनुशयी आत्मा व्रीहि यव आदि होजाते हैं, इसका इतना ही तात्पर्य है, कि वे व्रीहि यव आदि में संश्लिष्ट होजाते हैं।

यदि ऐसा न माना जाय, और 'जायन्ते' क्रियापद के मुख्यार्थ के लिये आग्रह किया जाय, तो यह निश्चित है, कि व्रीहि आदि के काट लिये जाने पर अभिमानी व अधिष्ठाता आत्मा वहां नहीं रहता। किसी भी देह के काट डाले जाने पर आत्मा वहां नहीं रहता, यह सर्वानुभवसिद्ध है। व्रीहि पौधे के बीज अथवा दाने उसके सन्ततिरूप

हैं; उनमें अधिष्ठाता आत्मा दूसरे बैठे हुए हैं, जो कालान्तर में सहयोगी निमित्तों के सहयोग से समानजातीय अंकुर आदि के रूप में प्रादुर्भूत होते हैं। यदि उन दानों या बीजों को पीस दिया जाता है, या पका दिया जाता है, तो वे अधिष्ठाता आत्मा वहां नहीं रहते, प्रवासित होजाते हैं; परन्तु अनुशयी आत्मा उस अवस्था में भी निरन्तर वहां संश्लिष्ट रहते हैं, वहां किसीप्रकार के सुख-दुःख का उन्हें अनुभव नहीं होता, घोर मूर्च्छित जैसी यह अवस्था उनकी निरन्तर उस समय तक बनी रहती है, जब तक उनके भोगाधिष्ठान देह का आरम्भ नहीं होता। ये अनुशयी आत्मा ही अन्नादि का उपयोग करने पर रसपाक आदि के अनन्तर वीर्य आदि के रूप में जा, पांचवीं आहुति में पुरुषवचन होते हैं। यदि 'जायन्ते' क्रियापद को वहां मुख्यार्थ माना जाता है, तो व्रीहि आदि के अधिष्ठाता आत्माओं का इसरूप में पांचवीं आहुति तक पहुंचना असंभव है। वे तो व्रीहि आदि के काट लिये जाने पर उस देह को छोड़ जाते हैं। फलतः अनुशयी आत्माओं का व्रीहि आदि में संपर्कमात्र मानना प्रामाणिक एवं शास्त्रीय है ॥२४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि व्रीहि आदि में अनुशयी आत्मा संश्लिष्ट रहते हैं, और अधिष्ठाता आत्मा दूसरे; तो इन सब अवस्थाओं में उनके काटने कूटने पीसने छड़ने पकाने आदि में उन आत्माओं को पीड़ा पहुंचेगी, इसकारण अन्न आदि का उपयोग हिंसापूर्ण होने से अशुद्ध होगा, अभोज्य होगा; यह व्यवहार शास्त्रीय कैसे माना जासकता है ? आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥२५॥

[अशुद्धम्] अशुद्ध है (अन्नादि का उपयोग), [इति-चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो वह ठीक) [न] नहीं [शब्दात्] शब्द से। अन्नादि का उपयोग अशुद्ध नहीं है, यह शब्द से जाना जाता है।

जीवात्मा को किसीप्रकार का दुःख या सुख भोगाधिष्ठान देह के आश्रय विना नहीं होता। यह तथ्य समस्तशास्त्रसंमत है। आत्मा को पीड़ा पहुंचना या पीड़ा का अनुभव होना उस समय तक संभव नहीं, जब तक वह भोगाश्रय देह के साथ संबद्ध नहीं होता, संबन्ध होने पर वह उस देह का अधिष्ठाता व अभिमानी आत्मा होता है। 'हिंसा' पद का प्रयोग वहीं संभव व यथार्थ है, जहां ऐसे आत्मा के देह को काटा-पीटा जाय। इष्टादिकारी आत्माओं का समस्त अवरोहण काल में ऐसा कोई देह नहीं होता। व्रीहि आदि में उनका संश्लेषणमात्र है, वहां कोई भोगायतन देह उनका नहीं है। आत्मा स्वरूप से निरवयव है। उसका कूटा पीटा जाना असंभव है। इसलिये व्रीहि आदि के कूटे पकाये जाने पर अनुशयी आत्मा को किसी कष्ट या पीड़ा के होने की संभावना नहीं कीजासकती। तब यहां हिंसा का कहना सर्वथा निराधार है। इसलिये वह अन्न अशुद्ध व अभोज्य नहीं कहा जासकता।

व्रीहि आदि में जो अधिष्ठाता व अभिमानी आत्मा हैं, जिन्हें कर्मफलोपभोग के लिये यह योनि प्राप्त हुई है, वे आत्मा फसल के पक जाने पर उस देह को छोड़ जाते हैं। उस अवस्था में व्रीहि आदि का काटना हिंसाजनक नहीं है। बीज अथवा दाने में जो उससे उत्पन्न होनेवाले देह का अभिमानी आत्मा बैठा है, उसका अभी बीज अवस्था में भोगायतन देह आरम्भ नहीं हुआ। उस देह का आरम्भ अंकुर की प्रथम अवस्थाओं से होपाता है। यह बीज एकप्रकार से व्रीहि आदि का बीर्यरूप है, जिससे कालान्तर में सजातीय देह का आरम्भ होना है। इसे व्रीहिसन्तान की प्रथम अवस्था कहा जासकता है। यहां आगे बननेवाले देह का जो अधिष्ठाता आत्मा बैठा है, इस दशा में उसे दुःखादि का भोग असंभव है, क्योंकि अभी भोगाश्रय देह उसे प्राप्त नहीं है। इसलिये बीज आदि के कूटने पीटने में उसे पीड़ा की संभावना न होने से इस आधार पर भी हिंसा का स्वरूप वहां नहीं बनता। अतः अन्न अशुद्ध व अभोज्य नहीं होता।

कुक्कुटाण्ड का उपयोग हिंसा की सीमा में आजाता है, क्योंकि वह देह की भ्रूण अवस्था है। दाने की भ्रूण अवस्था वह है, जब वह अंकुरित होने के लिये उन्मुख रहता है। अंकुरित होने पर व्रीहि का जन्म हो चुका है, मानना चाहिये। सूत्रकार का आशय है, कि शास्त्र से यह प्रमाणित है, कि आत्मा का जब तक भोगाश्रय देह के साथ सम्बन्ध नहीं होता, तब तक उसे सुख-दुःख आदि का अनुभव होना संभव नहीं। अन्न की ऐसी अवस्था है, इसमें अनुशयी आदि आत्माओं का सम्पर्क रहने पर भी भोगाश्रय देह न होने से उनको अन्न के कूटने पकाने आदि में न कष्ट होता, न यहां हिंसा का अवसर है। मनु [१।४६] ने इन योनियों को 'अन्तःसंज्ञ' कहा है।

जीवन में अनेक कार्यकलापों के प्रसंग से अनिवार्यरूप में हिंसा होजाती है। ऐसी हिंसा इस प्रकरण का विषय नहीं है। फिर भी यह ध्यान रखने की बात है, कि राष्ट्रीय जातीय अथवा सार्वजनिक अतिशय अभ्युदय की प्राप्ति में यदि थोड़ी-बहुत हिंसा होती है, तो वह सामाजिक दृष्टि से क्षम्य समझी जाती है। आत्मिक उन्नति में वह भी बाधक है। चिकित्सक थोड़ा कष्ट पहुंचाकर स्वास्थ्य प्रदान करता है, वहां हिंसा की अणुमात्र भी कल्पना नहीं कीजासकती। चिकित्सक की भावना बड़ी पवित्र और उच्च होती है, यदि उसमें स्वार्थ का धुंगार न दिया गया हो। 'अहिंसन् सर्व-भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः' [छा० ८।१५।१] इत्यादि सन्दर्भ में 'तीर्थ' पद का भाव राष्ट्र अथवा समाजसम्बन्धी कार्य ही समझना चाहिये। राष्ट्ररक्षा के लिये युद्ध में होनेवाली तथाकथित हिंसा की भी यही स्थिति है ॥२५॥

इष्टादिकारी आत्माओं का परलोक से अवरोहण का वर्णन करते हुए छान्दोग्य [५।१०।६] में कहा है—जो अनुशयी आत्माओं से संपृक्त उस अन्न को खाता है, और रेतःसिञ्चन करता है, तद्रूप ही अनुशयी होजाते हैं। इस पृष्ठभूमि पर शिष्य जिज्ञासा करता है, अनुशयी आत्माओं का रेतःसिग्भाव व्रीह्यादिभाव के समान संपर्कमात्र है

अथवा अनुशयी रेतःसिग्रूप ही होजाते हैं ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

रेतःसिग्योगोऽथ ॥२६॥

[रेतःसिग्योगः] वीर्यसेचन करनेवाले के साथ योग [अथ] अनन्तर। व्रीहि आदि के साथ संपर्क के अनन्तर अनुशयी आत्माओं का रेतःसेक्ता के साथ सम्बन्ध होता है।

छान्दोग्य [५।१०।६] के उक्त प्रसंग में कहा है–'यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः-सिञ्चति तद्भूय एव भवति' जो-जो अन्न खाता है, जो वीर्यसेचन करता है, वही रूप अनुशयी आत्मा का होजाता है। यहां 'तद्भूय एव भवति' वाक्य का यह अर्थ नहीं, कि अद्यमान अन्न के साथ संपृक्त अनुशयी आत्मा रेतःसेक्ता का रूप होजाता है। वस्तुतः रेतःसेक्ता पृथक् आत्मा है, और अनुशयी पृथक्। एक आत्मा अन्य आत्मा नहीं बन-सकता। इसलिये वाक्य का यही अर्थ है, कि अनुशयी आत्मा अद्यमान अन्न के साथ जिस योनि के रेतःसेक्ता से संपृक्त होकर मातृकुक्षि में पहुंच जाता है, उसी योनि का देह धारण करता है। इसलिये जैसे अनुशयी आत्माओं का व्रीह्यादिभाव व्रीहि आदि के साथ संपर्कमात्र है, ऐसे ही रेतःसिग्भाव रेतःसेक्ता के साथ संपर्कमात्र समझना चाहिये।

अद्यमान अन्न के साथ अनुशयी होकर इस स्तर तक आये आत्मा के विषय में यह बात ध्यान देने की है, आत्मा अपने रूप में एक स्वतन्त्र चेतनतत्त्व है, जिस अद्य-मान अन्न के साथ वह अनुशयीरूप में संपृक्त है, उस अन्न का उपयोग जिस प्राणी ने किया है, उस प्राणी के देह में रसपाकद्वारा वह अन्न वीर्यरूप में परिणत होता है, अनुशयी आत्मा वहां भी संपृक्त है। आगे वीर्यसेचन होने पर उस अनुशयी आत्मा को उसी आकार के देह की प्राप्ति होती है, जिस देह में अन्न का वीर्यपरिपाक हुआ है। यदि उसी अन्न को कोई अन्य प्राणी खाता, तो अनुशयी आत्मा को वैसा देह प्राप्त होता। इसके अनुसार 'तद्भूय एव भवति' वाक्य में यह भावना निहित है, कि अन्न का जो भोक्ता है, उस अन्न में अनुशयी आत्मा को उसी भोक्ता के देह की आकृतिवाला देह प्राप्त होता है। देह के उपादानभूत उस अनुशयीसंपृक्त अन्न में अनन्त आकृतियां विद्यमान हैं, अनुशयी आत्मा के लिये वही आकृति उभरती है, जिस देहाकृतिवाला प्राणी उस अन्न का उपभोग करता है। साजात्यप्रजनन में यह मूलभूत सिद्धान्त गम्भीरतापूर्वक विवेचनीय है ॥२६॥

आचार्य सूत्रकार ने छान्दोग्य [५।१०।७] के अगले सन्दर्भ के आधार पर उक्त अर्थ का उपपादन किया—

योनेःशरीरम् ॥२७॥

[योनेः] योनि के अनुसार [शरीरम्] शरीर। रेतःसेचन के अनन्तर उस योनि के अनुसार अनुशयी आत्मा को शरीर प्राप्त होता है।

सूत्र में 'अथ' पद की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र से समझलेनी चाहिये। रेतःसेक्ता जब योषित् में रेतःसेचन करदेता है, तब अनुशयी आत्मा को उसी योनि [जाति] के अनुसार शरीर की प्राप्ति होती है। योषिद्गर्भ में उसी क्षण से शरीर की रचना प्रारम्भ होजाती है। छान्दोग्य [५।१०।७] में रेतःसिग्भाव के अनन्तर कहा–'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्⋯अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्' जो यहां अच्छे आचरण करनेवाले होते हैं, वे अच्छी योनियों में प्राप्त होते हैं; तथा जो बुरे आचरण करनेवाले हैं, वे नीच योनियों में जन्म लेते हैं।

इष्टादिकारी आत्माओं के परलोक से अवरोहण में उनके पुनः देहधारण तक स्थिति का वर्णन प्रस्तुत प्रसंग में है। इसमें स्पष्ट किया गया है, कि वे आत्मा वायु मेघ वर्षा आदि द्वारा पृथिवी पर आ, अन्नादि में अनुशयी होकर उपस्थित होते हैं। अनन्तर अन्न के आहार व परिपाक वीर्यद्वारा योषिद्गर्भ में पहुंच देहधारण करते हैं। अवरोहण के प्रारम्भ से लेकर देहधारण तक वे किसीप्रकार के सुख-दुःख से अन्वित नहीं रहते; क्योंकि तब भोगायतन देह के साथ उनका सम्बन्ध नहीं होता। उनकी यह यात्रा घोर मूर्च्छा जैसी अवस्था में पूरी होती है। इस यात्रा में वायु से लेकर रेतस् तक सब भाव एकप्रकार से उन आत्माओं के वाहन हैं। फलतः यह स्पष्ट होता है, कि इन सबके संपर्क में वे आत्मा आते हैं, उनका अधिष्ठातृभाव वहां नहीं होता। देह प्राप्त होने पर होता है। इसीमें सुख दुःख आदि की अनुभूति होती है, यह आत्मा का भोगायतन देह माना जाता है ॥२७॥

इति तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः।

अथ तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः।

प्रथम पाद में पञ्चाग्निविद्या के आधार पर जगत् में जीवात्मा की वैराग्यभावना को जगाने के लिये इस लोक से परलोकगमन और वहां से आगमन की प्रक्रिया का विस्तृत निरूपण किया गया। अब परब्रह्म के प्रति भक्त्यतिशय की भावना को उभारना अपेक्षित है, क्योंकि यह उपासना का मुख्य प्रयोजक है। उपासनाद्वारा ब्रह्म को प्राप्त किया जासकता है। भक्ति का उद्रेक तब तक नहीं होता, जब तक अपने से विलक्षण अचिन्त्यशक्ति परब्रह्म का साधारणज्ञान न हो। इसके लिये प्रथम जीवात्मा की संसारगति का वर्णन किया है, अब उसकी विशेष अवस्थाओं का वर्णन, तथा परब्रह्म में इन सब स्थितियों के अभाव का निरूपण अपेक्षित है। उसके लिये यह द्वितीय पाद का आरम्भ

है। जीवात्मा की तीन अवस्था बताई गईं–जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति। जाग्रत एक सर्वजन-विदित प्रसिद्ध अवस्था है, उसका निरूपण अनावश्यक समझ जीवात्मा की स्वप्न अवस्था का वर्णन करने की भावना से पहला पूर्वपक्षसूत्र कहा—

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥१॥

[सन्ध्ये] स्वप्न में [सृष्टिः] सृष्टि–रचना [आह] कही जाती है [हि] निश्चय से। स्वप्न में निश्चयपूर्वक सृष्टि अर्थात् रचना का कथन शास्त्रद्वारा किया जाता है।

सूत्र में 'सन्ध्य' पद का अर्थ 'स्वप्न' है, क्योंकि यह जाग्रत और सुषुप्ति की सन्धि में होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।३।६] में कहा–'सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्'। स्वप्न का वर्णन करते हुए आगे कहा–'स यत्र स्वपिति' जब वह सोजाता है, तब 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' [बृ० ४।३।१०] स्वप्न में वहां न रथ होते हैं, न बैल या घोड़े और न सड़कें; पर यह उन सबकी वहां सृष्टि–रचना करलेता है। इस विषय में यह सन्देह है, कि क्या वहां जाग्रत के समान सच-मुच रथ आदि पदार्थों की रचना करली जाती है, अथवा वह उन पदार्थों का विपरीत ज्ञानमात्र है? पूर्वपक्षरूप में सूत्रकार ने कहा, स्वप्न में उन पदार्थों की रचना करली जाती है, क्योंकि उपनिषद् के उक्त वाक्य में स्पष्टरूप से 'सृजते' कहा है, जिसका मुख्य अर्थ है–सृष्टि करलेता है। इसी सन्दर्भ के अन्त में कहा–'स हि कर्त्ता' क्योंकि वह कर्त्ता है। स्वप्न में उस रचना का करनेवाला जीवात्मा है। इसप्रकार जीवात्मा स्वप्न अवस्था में रथ आदि पदार्थों की रचना करलेता है, यह मानना युक्त है। वहां रथ आदि का विपरीतज्ञानमात्र है, यह कहना उपयुक्त न होगा ॥१॥

इसी विषय में सूत्रकार ने अन्य हेतु का निर्देश किया—

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥२॥

[निर्मातारं] निर्माता–रचनेवाला [च] और [एके] एक शाखाध्यायी [पुत्रा-दयः] पुत्र आदि [च] और। कठ शाखा के आचार्यों ने स्वप्न में आत्मा को निर्माता बताया है, पुत्र आदि वे अर्थ हैं, जिनका वह निर्माण करता है।

कठ उपनिषद् [२।२।८] में पाठ है–'य एष सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः' प्रत्येक 'काम' की रचना करता हुआ यह जो पुरुष सोये हुओं में जागता है। यहां 'काम' पद से पुत्र आदि अभिप्रेत हैं। यद्यपि 'काम' पद का प्रयोग इच्छाविशेष के अर्थ में होता है, तथापि प्रकरण के अनुसार यहां उसका तात्पर्य पुत्र आदि से है। जिन अर्थों की कामना कीगई है, उनको प्रथम बताया–'शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्' यहां सौ-सौ वर्ष की आयु वाले बेटे पोते तथा बहुतसे पशु हाथी सोना घोड़ा आदि वरने के लिये कहा गया है। इन सब काम्य अर्थों को बताकर

आगे कहा—'कामानां त्वा कामभाजं करोमि' [कठ० १।२४], मैं तुझे सब कामों का भागी बनाता हूं। इससे प्रकट है, कि पहले जो पुत्र आदि काम्य अर्थ कहे हैं, उन्हींको लक्ष्य कर यहां [२।२।८ में] 'काम' पद का प्रयोग है। इसलिये उक्त सन्दर्भ में 'काम' पद का इच्छाविशेष अर्थ न समझकर पुत्र आदि काम्य अर्थों में उसका तात्पर्य समझना चाहिये। स्वप्न में उनके निर्माण का कथन यह स्पष्ट करता है, कि जाग्रत के समान स्वप्न में भी उनकी रचना वास्तविक है, विपरीतज्ञानमात्र नहीं। बृहदारण्यक [४।३।१४] में कहा—'अथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्तः' आत्मा का यह जागरित देश ही है, क्योंकि जो जागते हुए देखता है, वह सोते हुए। फलतः जाग्रत के समान स्वप्न की सृष्टि को भी यथार्थ मानना चाहिये ॥२॥

ऐसा पूर्वपक्ष प्रस्तुत होने पर आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्तपक्ष कहा—

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥३॥

[मायामात्रं] विपरीत ज्ञानमात्र (है, स्वप्न) [तु] तो [कार्त्स्न्येन] पूर्णरूप से [अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्] न प्रकट हुए स्वरूपवाला होने से। स्वप्न तो वस्तुतः विपरीत ज्ञानमात्र है, क्योंकि वहां वस्तु का स्वरूप पूर्णरूप से प्रकट नहीं होता।

स्वप्न में जो रथ आदि पदार्थों का दर्शन होता है, वह केवल विपरीतज्ञानमात्र है, उनका वहां निर्माण नहीं होता, वह प्रतीतिमात्र है, धोखा है, भ्रान्ति है। 'माया' पद का अर्थ निघण्टु [३।९] में 'प्रज्ञा' अर्थात् 'ज्ञान' किया है। यहां सामान्यज्ञान को न कहकर यह पद विपर्ययज्ञानविशेष का बोधक है। इसका यह अर्थ लोक एवं शास्त्र में प्रसिद्ध है। स्वप्न में रथ आदि का वास्तविक अस्तित्व न होकर वह केवल विपरीतज्ञान इसलिये माना जाता है, वहां अर्थ का अभिव्यञ्जन पूर्णरूप [कार्त्स्न्य] से नहीं होपाता। पूर्णरूप से न होने [कार्त्स्न्य] का तात्पर्य है—किसी वस्तु का उचित देश एवं काल में उचित निमित्तों से न होना। स्वप्न में दीखनेवाले पदार्थों में ये सब बात रहती हैं।

स्वप्न में शरीर के अन्दर हम बड़े-बड़े पहाड़ नदी जंगल सड़कें नगर रथ घोड़ा आदि देखते हैं। यह इनके दीखने का उचित देश नहीं है; इनका इसप्रकार वास्तविक अस्तित्व देह के अन्दर सर्वथा असंभव है। सोने का समय रात्रि है, और स्वप्न सब रात्रि में देखे जाते हैं। पर उस काल में दिन सूर्य तथा वहां होनेवाले सब कार्यों को देखते हैं। इन सबके लिये वह उचित काल नहीं है। फिर थोड़े काल में स्वप्न के अन्दर कई दिन और महीने बीतते दिखाई देते हैं, यह भी कालविषयक अनौचित्य है। अनेक बार स्वप्न में दीखती एक वस्तु तत्काल बदल जाती है, अभी जो घोड़ा दीखता है, वही कुत्ता दीखने लगता है। फिर उस अवस्था में हमारे चक्षु आदि करण सर्वथा निर्व्यापार रहते हैं, पर स्वप्न में सब इन्द्रियों का व्यापार प्रतीत होता है। यह सब निमित्तविषयक अनौचित्य है। बिना निमित्त वस्तु का बदलजाना तथा बिना करणव्यापार के देखना आदि। फिर

स्वप्न में देह के अन्दर रथ आदि के निर्माण की कल्पना भी नहीं कीजासकती, वहां एक लकड़ी का छोटा टुकड़ा भी नहीं समासकता, रथ का कारखाना कैसे चलेगा ? इसके अतिरिक्त यह ज्ञातव्य है, कि जाग्रत में प्रतीत होनेवाले अर्थों की बाधा नहीं होती, परंतु स्वप्न में देखे पदार्थ जागते ही बाधित होजाते हैं, उनका कुछ पता नहीं लगता। जागने पर तो क्या, कभी-कभी स्वप्न में ही उनकी बाधा होजाती है। अभी जो रथ दीखता है, क्षण में वही पेड़ बन जाता है, वही क्षण में पत्थर। ये सब स्थितियां स्पष्ट करती हैं, कि स्वप्न में पदार्थ का अस्तित्व वास्तविक नहीं है, वह विपर्ययज्ञानमात्र है।

देशविषयक अनौचित्य के विषय में कहा जासकता है, कि स्वप्न में रथ नदी पर्वत आदि पदार्थ देह के अन्दर दीखते हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिये। प्रत्युत अपने-अपने देश में स्थित हुए दीखते हैं। उस दशा में आत्मा मनसहित देह से बाहर जाकर उन्हें देखता है। तब स्वप्न में चलना ठहरना आदि का होना संभव होसकता है। बृहदारण्यक में कहा—'बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्' [४।३।१२] वह अमर [पंछी] घोंसले से बाहर चलकर वहां पहुंचजाता है, जहां उसकी कामना है। स्वप्न में जीव सूक्ष्मदेह के साथ बाहर जा विद्युत् वेग से घूमघामकर अतिशीघ्र अपने स्थूलदेह में लौट आता है। ऐसी स्थिति में देशविषयक अनौचित्य का कहना असंगत है।

स्वप्न में देशविषयक अनौचित्य का यह समाधान ठीक नहीं है। पहली बात यह है, कि स्थूलदेह से आत्मा के बाहर निकल जाने पर देह जीवित नहीं रहसकता, श्वास-प्रश्वास की गति, रक्तसंचार आदि क्रिया तत्काल रुद्ध होजायेंगी, आत्मा चाहे कितने भी अल्पकाल के लिये बाहर जाय। शयनकाल में ये सब क्रिया यथावत् होती रहती हैं। इसके अतिरिक्त अनेक बार व्यक्ति अपने आपको शयनकक्ष से बहुत दूर देखता है, कहीं पर्वत पर चढ़ रहा है, नदी में स्नान कर रहा है, तत्काल नींद टूट जाती है, पर तब वह अपने शयनकक्ष में ठीक वैसा ही जागता है जैसा सोया था, न पर्वत पर चढ़ने का वेष है, न नदी में स्नानकाल का नग्न देह। फिर स्वप्नकाल में अन्य व्यक्ति उस स्थूलदेह को शयनकक्ष में लेटा देखते हैं, जबकि स्वप्नद्रष्टा अपने आपको अपने स्थूलदेह के साथ पर्वत पर चढ़ता और नदी में स्नान करता देखता है। इससे स्पष्ट होता है, कि स्वप्न देह में दीखते हैं, देह से बाहर नहीं। बृहदारण्यक [२।१।१८] में बताया—'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तते' अपने शरीर में यथारुचि घूमा करता है। इसलिये स्वप्न में आत्मा शरीर के अन्दर रहता है, बाहर नहीं जाता, यह निश्चित है। इस विषय में 'बहिष्कुलायादमृतश्च-रित्वा' [बृ० ४।३।१२] इत्यादि सन्दर्भ को गौण समझना चाहिये। स्वप्न में देह के अन्दर रहता आत्मा ऐसा प्रतीत होता है, जैसे बाहर चला गया हो। तात्पर्य यह, कि जैसे स्वप्न में रथ आदि की सत्ता नहीं, उनकी भ्रान्त प्रतीतिमात्र है, ऐसे ही स्वप्न में चलना-फिरना आदि केवल भ्रम है।

इस सब विवेचन से स्पष्ट होता है, स्वप्न में दीखनेवाले पदार्थों की वहां कोई

वास्तविक सत्ता नहीं है। बृहदारण्यक [४।३।१०] में स्वप्न के स्वरूप का निर्देश करते हुए स्पष्ट कहा–'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति' न वहां रथ हैं, न रथ में जुड़नेवाले घोड़े या बैल और न सड़कें। स्वप्न में इनकी सत्ता का शास्त्र निषेध करता है। स्वप्न वस्तुतः विपर्ययज्ञानमात्र है। जाग्रत अवस्था में व्यक्ति जो देखता है, वही स्वप्न में स्मृतिरूप से उभरता है। निद्रादोष के कारण उसमें जाग्रत जैसी व्यवस्था नहीं रहती। स्वप्न केवल स्मृतिरूप है, यह तथ्य इसकारण भी प्रमाणित है, कि जन्मान्ध व्यक्ति को रूपविषयक स्वप्न कभी नहीं होता, न वह स्वप्न में कभी अपने आपको चक्षु-वाला देखता है। जाग्रत अवस्था में अनुभूत प्रत्येक विषय स्वप्न में स्मृतिरूप से भासता है। उपनिषद् [बृ० ४।३।१४] में स्पष्ट बताया–'यानि ह्येव जाग्रत् पश्यति तानि सुप्तः' जाग्रत अवस्था में जिन वस्तुओं को देखता है, सोता हुआ उन्हींको देखता है। इसलिये स्वप्न स्मृतिमात्र है। वहां जो जाग्रत अवस्था से विपरीत अटपटी-सी बातें प्रतीत होती हैं, उसका कारण उपनिषद् [बृ० ४।३।२०] में बताया–'यदेव जाग्रद् भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यते' जाग्रत अवस्था में जिस भय को देखता है, स्वप्न में उसे अविद्या–अज्ञान के कारण भय मानलेता है। वस्तुतः भय का वहां कोई कारण उपस्थित नहीं रहता। वस्तुस्थिति को न जानने का कारण उस समय निद्रादोष है। उसीके कारण तब स्मृतिक्रम में अविद्या–अज्ञान अर्थात् विपर्यय होजाता है।

यद्यपि प्रश्न उपनिषद् [४।५] में कहा है–'दृष्टं चादृष्टं च, श्रुतं चाश्रुतं च, अनुभूतं चाननुभूतं च' दृष्ट अदृष्ट, श्रुत अश्रुत, अनुभूत अननुभूत सब स्वप्न में प्रतीत होता है; तब स्वप्न को स्मृतिमात्र समझना अप्रामाणिक होगा, यह कहा जासकता है। परन्तु प्रश्नोपनिषद् के सन्दर्भ में ऐसी भावना नहीं है, उसका केवल इतना तात्पर्य है, कि जाग्रत अवस्था में वस्तुसमुदाय जैसा अथवा जिसप्रकार देखा जाता है, स्वप्न में अनेक बार वैसा नहीं दीखता, इसी भावना से अदृष्ट अश्रुत एवं अननुभूत का देखना स्वप्न में कहा है। यह अयथाभाव अविद्या के कारण स्वप्नद्रष्टा समझता है। इसीलिये 'अथ रथान्'·········सृजते' [बृ० ४।३।१०] इत्यादि सन्दर्भ में 'सृजते' क्रियापद का मुख्य अर्थ न लेकर गौण अर्थ समझना चाहिये। जाग्रत में देखे हुए से स्वप्न में कुछ व्यतिक्रम होने से 'सृजते' कह दिया गया है; वस्तुतः वहां किसी रथ आदि का सर्जन–निर्माण नहीं होता। उस अवस्था में आत्मा को कर्त्ता [बृ० ४।३।१०] भी स्वप्न-दर्शन की सृष्टि का हेतु होने से कहा गया है, रथादि पदार्थ का स्रष्टा होने से नहीं।

'य एष सुप्तेषु जागर्त्ति' [कठ० २।२।८] इत्यादि सन्दर्भ के आधार पर जो जीवात्मा को स्वप्न में निर्माता कहा गया है; वस्तुतः वह जीवात्मा का प्रसंग न होकर सार्वकालिक परब्रह्म का वर्णन है। 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' [कठ० १।२।१४] से प्रकरण परब्रह्म के वर्णन का है, तथा निगमन भी 'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म' [कठ० २।२।८] इत्यादि से परब्रह्मविषयक है। फलतः स्वप्न में किसी वस्तु की सृष्टि नहीं होती,

स्वप्न केवल विपर्ययज्ञानरूप है, स्मृतिमात्र है, यह निश्चित होता है ॥३॥

इसी विषय में सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥४॥

[सूचकः] सूचक [च] भी [हि] क्योंकि [श्रुतेः] श्रुति से [आचक्षते] कहते हैं [च] और [तद्विदः] उसके–स्वप्न के जाननेवाले। स्वप्न के जाननेवाले कहते हैं, कि स्वप्न भावी शुभ-अशुभ का सूचक होता है, क्योंकि श्रुति से यह निश्चयपूर्वक जाना-जाता है।

अनेक स्वप्न आगे होनेवाले शुभ-अशुभ के सूचक होते हैं, यह छान्दोग्य उपनिषद् [५।२।९] के एक सन्दर्भ से ज्ञात होता है–'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धि तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने' जब काम्य कर्मों में स्वप्न के अन्दर किसी स्त्री को देखता है, तो उस स्वप्नदर्शन में समृद्धि–सिद्धि अर्थात् सफलता समझनी चाहिये। ऐतरेय आरण्यक [३।२।४] में आता है–'पुरुष कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति' जब वह काले रंग के काले दान्तों वाले पुरुष को देखता है, वह इसको मारडालता है। ऐसी आकृति का स्वप्न में दीखना मृत्यु का द्योतक है, मृत्युकाल समीप आनेवाला है, यह इससे सूचित होता है। स्वप्नशास्त्र के जानकार कहते हैं, कि स्वप्न में हाथी या घोड़े पर चढ़ना अथवा चंवर छत्र आदि का प्राप्त होना शुभ की सूचना देता है। स्वप्न में तैल मर्दन तथा गधे या ऊंट पर सवारी करना अशुभ का–रोग आदि होने का सूचक होता है।

स्वप्न की इन स्थितियों को शुभ-अशुभ का सूचक बतलाना यह स्पष्ट करता है, कि ये पदार्थ न वहां उत्पन्न होते हैं, न वस्तुतः वैसी घटना [हाथी आदि पर चढ़ना] वहां होती है; यह केवल अपनी आन्तरिक प्रबल भावनाओं के प्रभाव से प्रतीतिमात्र होता है। तात्पर्य यह, कि जो घटना जाग्रत अवस्था में हमारे अनुभव में आती हैं, वे निद्रादोष से कुछ विपर्यस्त होकर प्रबल संस्कारों के उभार से उस रूप में प्रतीत होती हैं। इसलिये स्वप्न को विपर्ययज्ञानमात्र समझना प्रमाणसिद्ध है, वहां किसी नई सृष्टि का होना संभव नहीं ॥४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जाग्रत अवस्था में पुरुष के जैसे बन्ध और मोक्ष पाये जाते हैं, वैसे यह कभी स्वप्नदशा में देखता है। उनकी प्रतीति स्वप्न में कैसे होजाती है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥५॥

[पराभिध्यानात्] दूसरे के गहरे चिन्तन से [तु] तो [तिरोहितं] तिरोहित अभिभूत है [ततः] उस कारण से [हि] क्योंकि [अस्य] इसके–स्वप्नद्रष्टा के [बन्ध-विपर्ययौ] बन्ध और मोक्ष। अन्यपदार्थों के गहरे चिन्तन से बुद्धिसत्त्व आच्छादित रहता

है, उसीकारण स्वप्न में बन्ध-मोक्ष प्रतीत हेहो हैं।

जिज्ञासा का आशय यह है, कि स्वप्न में जिस व्यक्ति को बन्ध व मोक्ष की प्रतीति होती है, वह विषय उसका अनुभूत नहीं है, फिर भी वैसी प्रतीति का होना स्वप्न में नई सृष्टि की संभावना को प्रकट करता है। सूत्रकार का तात्पर्य है, व्यक्ति जाग्रत दशा में उन विषयों का गंभीरतापूर्वक तीव्र चिन्तन करता है, उन संस्कारों से बुद्धिसत्त्व प्रभावित होता है, उसीसे स्वप्न में वैसी प्रतीति होजाती है।

सूत्र के 'पर' पद का तात्पर्य रथ वेश्म आदि से लेकर मोक्षपर्यन्त वे सब पदार्थ हैं, जिनका व्यक्ति के जीवन से सम्पर्क रहता है। 'अभिध्यान' पद का अर्थ है—गम्भीर चिन्तन। रथादि साधारण पदार्थों से लेकर मोक्षपर्यन्त विषयों का गंभीर चिन्तन करने से उस विषय के जो संस्कार आत्मा में बैठते हैं, उनसे बुद्धिसत्त्व तिरोहित—अभिभूत रहता है। तात्पर्य यह, कि उन संस्कारों के तीव्र होने के कारण उनके उभरने में बुद्धिसत्त्व सहयोग करता है, स्वाप्नप्रतीति के रूप में वे उद्बुद्ध होजाते हैं। इसप्रकार स्वप्न में मोक्ष एवं सद्यः अनन्तर बन्ध की प्रतीति का निमित्त वे तीव्र संस्कार हैं, जो जाग्रत में उस विषय के गंभीर चिन्तन से आत्मा में उत्पन्न होगये हैं। इसलिये जैसे जाग्रत में अनुभूत अन्य विषयों का स्वप्न में संस्कारवश प्रतिभास होता है, वैसे बन्ध-मोक्ष का होता है, इसमें कोई विशेषता नहीं है। सूत्र में 'विपर्यय' पद मोक्ष का बोधक है, क्योंकि मोक्ष, बन्ध का विपर्यय—उलट है। फलतः ऐसी प्रतीति से स्वप्न में नई सृष्टि की कल्पना करना सर्वथा निराधार है ॥५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, फिर ये ऐसे विचित्र स्वप्न किन कारणों से हुआ करते हैं? आचार्य ने समाधान किया—

देहयोगाद्वा सोऽपि ॥६॥

[देहयोगात्] देहसम्बन्ध से [वा] अथवा (अन्य से) [सः] वह [अपि] भी। देहसम्बन्ध से अथवा अन्य कारण से भी स्वप्न होता है।

स्वप्न का कारण संस्कार बताया गया, परन्तु संस्कारों का बनना और बनकर कालान्तर में उद्बुद्ध हो प्रतीति का कराना देहयोग से होता है। आत्मा का सम्बन्ध जबतक देह के साथ न हो, तबतक न संस्कार उत्पन्न होते हैं, न उद्बुद्ध होकर किसी प्रतीति को करा सकते हैं। आत्मा देहसम्बन्ध के बिना किसीतरह का अनुभव करने में असमर्थ रहता है। जब अनुभव न होगा, संस्कार भी न होंगे। फिर संस्कारों के उद्बोधन से स्वप्न का होना भी देहसम्बन्ध के बिना संभव नहीं। इसलिये स्वप्न के होने में आत्मा का देहसम्बन्ध एक महत्त्वपूर्ण कारण है।

सूत्र में 'वा' पद इस निमित्त के बिकल्प का द्योतक है। स्वप्नों की विचित्रता में जहां संस्कार निमित्त हैं, वहां देहगत-विशेपता तथा धर्म-अधर्म भी कारण होतें हैं। देह

में वात पित्त कफ धातुओं की विषमता स्वप्नों के वैचित्र्य में निमित्त है। देह में वात प्रधान होने पर उड़ने के स्वप्न अधिक आते हैं, पित्त की प्रधानता में अग्नि एवं अन्य चमकदार पदार्थ प्रायः दीखते हैं, कफ की प्रधानता में नदी पर्वत हरे जंगल खेत आदि के दृश्य सामने आया करते हैं। कभी इस विचित्रता में धर्म-अधर्म भी कारण होते हैं। धर्म के उभार में शुभ, उल्लासभरे व सुखद स्वप्न आते हैं, ऐसे ही अधर्म के कारण भयजनक, निन्दित व दुःखप्रद स्वप्न दिखाई देते हैं। स्वप्नों की विचित्रता के ये सब कारण संभव हैं।

आचार्य शंकर ने इन दो [५, ६] सूत्रों की जो व्याख्या की है, वह कुछ अस्पष्ट है, तथा प्रकरण के अनुकूल नहीं है। इन सूत्रों में प्रकरणानुसार स्वप्नविषयक चर्चा का होना अभिमत समझना चाहिये ॥६॥

जीवात्मा की स्वप्न अवस्था का निरूपण किया गया, अब सुषुप्ति अवस्था की परीक्षा होनी चाहिये, इस भावना से आचार्य सूत्रकार ने कहा—

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥७॥

[तदभावः] उसका अभाव–स्वप्न का अभाव (सुषुप्ति है), [नाडीषु] नाड़ियों में [तच्छ्रुतेः] उनकी श्रुति से [आत्मनि] आत्मा-परमात्मा में [च] और। स्वप्न का अभाव सुषुप्ति है, तब जीवात्मा नाड़ियों और परमात्मा में अवस्थित रहता है, यह उस विषय की श्रुति से ज्ञात होता है।

सुषुप्ति अवस्था जीवात्मा की कब होती है, इसके कई प्रकार उपनिषदों में देखे जाते हैं। छान्दोग्य [८।६।३] में बताया—'यत्र···स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति' जब आत्मा स्वप्न नहीं देखता है, तब उन नाड़ियों में बैठा होता है। बृहदारण्यक [२।१।१९] में कहा—'अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' जब यह आत्मा सुषुप्त होता है, जब कुछ नहीं जानपाता, हिता नामक बहत्तर हजार नाड़ियां हृदयदेश से पुरीतत् की ओर फैलती हैं, उनके साथ सम्बन्ध विच्छिन्न कर आत्मा 'पुरीतत्' में शयन करता है। अन्यत्र छान्दोग्य [६।८।१] में कहा–'यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य ! तदा सम्पन्नो भवति' जब यह पुरुष [जीवात्मा] सुषुप्ति अवस्था में होता है, तब 'सत्' से सम्बद्ध होता है, परमात्मा से मिला रहता है। यही बात बृहदारण्यक [४।३।२१] में बताई–'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' परब्रह्म से संपृक्त हुआ यह न बाह्य अर्थ को जानता है, न आन्तर को। इन सब स्थलों में तीन आधारों पर अथवा तीन प्रकार से सुषुप्ति अवस्था का होना बताया—१. नाड़ियों में आत्मा का बैठ जाना; २. पुरीतत् में शयन करना; ३. परमात्मा में संपृक्त होजाना। विचारणीय यह है, कि सुषुप्ति के इन सब स्थानों का

विकल्प है, अथवा समुच्चय ? ये सब अलग-अलग सुषुप्ति के स्थान हैं, अथवा इन सब में एक ही सुषुप्ति होती है ?

सूत्रकार ने बताया, नाड़ियों और परमात्मा में इकट्ठा ही आत्मा का बैठना सुषुप्ति अवस्था है। परमात्मा के जानने का स्थान मस्तिष्कगत हृदयाकाश है; जीवात्मा का वही निवास है। वहां से समस्त शरीर में नाड़ीजाल बिछा हुआ है। वह नाड़ियों का मूल केन्द्रस्थान है, वह प्रदेश जिस आवेष्टन से घिरा रहता है, उसका नाम 'पुरीतत्' है। सुषुप्ति दशा में पुरीतत् से बाहर की ओर फैले नाड़ीजाल के साथ आत्मा का सम्बन्ध विच्छिन्न होजाता है, तब उक्त तीनों प्रकार के कथन में कोई अन्तर नहीं रहता। नाड़ियों में बैठ जाता है, अर्थात् नाड़ियों के मूलकेन्द्र में बैठा होता है, अथवा पुरीतत् में सोता है, अथवा परब्रह्म में संपृक्त होता है; ये सब कथन सुषुप्ति के एक ही स्थान को बताते हैं। यद्यपि आत्मा सदा वहीं रहता है, परब्रह्म से संपृक्त रहता है, पर जाग्रत और स्वप्न में आत्मा बाह्य और आन्तर विषयों से नाड़ीजाल व इन्द्रिय आदि द्वारा सम्बद्ध रहता है; वह सम्बन्ध तीसरी दशा में नहीं रहता, इसी आधार पर केवल ब्रह्म से संपर्क अथवा हृदयाकाश में शयन की बात कही गई है।

व्यावहारिक दृष्टि से यह ऐसी स्थिति है, जैसे कोई व्यक्ति अपने मकान के शयनकक्ष [सोने के कमरे] में पलंग पर सोया है; उसे इन सब रूपों में कहा जासकता है, कि वह मकान में सोया है, वह शयनकक्ष में सोया है, वह पलंग पर सोया है। इन सबमें एक ही शयनस्थान का निर्देश है। उपनिषद् के उक्त कथनों में पुरीतत् घर [मकान] के समान है, हृदयाकाश शयनकक्षस्थानीय है, अर्थात् कमरे की तरह है, परब्रह्म पलंग के स्थान पर समझा जासकता है। फलतः उपनिषद् के उक्त प्रसंगों में सुषुप्ति के एक स्थान का निर्देश है, वे सब अलग-अलग सुषुप्तिस्थान नहीं हैं ॥७॥

सुषुप्ति का एक स्थान है, इस तथ्य को प्रकारान्तर से प्रमाणित करने के लिये सूत्रकार ने कहा—

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥८॥

[अतः] इसलिये [प्रबोधः] जागना [अस्मात्] इससे—परमात्मा से। क्योंकि परमात्मा सुषुप्तिस्थान है, इसलिये उपनिषद् में कहा गया—इससे जागना—संगत होता है।

सुषुप्तिवर्णन के प्रसंग में कहा—'कुत एतदागात्' [बृ० २।१।१६] यह कहां से आगया ? अजातशत्रु ने सोये हुए पुरुष को जगाकर बालाकि से यह पूछा। इसके उत्तर में वहां कहा है—'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोका···व्युच्चरन्ति' जैसे अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियां उठ खड़ी होती हैं, ऐसे इस आत्मा [परमात्मा] से सब प्राण—इन्द्रियां उठ खड़े होते हैं और सब लोक। छान्दोग्य [६।१०।२] में बताया—'सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे' सत् से आकर

नहीं जानते कि हम सत् से आये हैं। 'सत्' का तात्पर्य यहां ब्रह्म है। जहां से जागने का कथन है, वहां सोना अर्थात् उसे शयनस्थान मानना उचित है। परमात्मा से जागने का कथन यह स्पष्ट करता है, कि सुषुप्ति का वही स्थान है। शरीरावयव के रूप में उसका वर्णन करने की भावना से उसे पुरीतत् हृदयाकाश अथवा नाड़ी जाल कहा गया है। ऐसे निर्देश का आधार केवल यह है कि वह आत्मा का निवास है, और आत्मा को परमात्मा का साक्षात्कार वहीं होसकता है। वह अवस्था ऐसी है, कि जब जीवात्मा का बाह्य आन्तर जगत् से भोगरूप संपर्क नहीं रहता; इसी आधार पर सुषुप्ति का स्थान ब्रह्म कहा है। जीवात्मा को यहां ब्रह्म का किसीतरह का ज्ञान नहीं होता, इसी कारण इसे तामस अथवा अज्ञान अवस्था माना जाता है ॥८॥

'अग्नि से चिनगारी के समान' दृष्टान्त के आधार पर कतिपय व्याख्याकारों ने जो यह समझा है, कि जीवात्मा और लोक आदि ब्रह्म के अंश अथवा कार्य एवं परिणाम हैं, वह निराधार है। कारण यह है, कि अग्नि और चिनगारी के पृथग्भाव को प्रकट करने में दृष्टान्त का तात्पर्य है। सोने और जागनेवाला निश्चित ही शयनस्थान से अतिरिक्त तत्त्व है। अन्यथा दृष्टान्त का असामञ्जस्य होगा। इस पृष्ठभूमि पर शिष्य जिज्ञासा करता है, परमात्मा में अविभाग को प्राप्त हुआ जीवात्मा क्या वही प्रबुद्ध होता है, या अन्य? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥९॥

[सः] वह [एव] ही [तु] तो [कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः] कर्म, अनुस्मृति, शब्द और विधि से। जो सोता है, वही आत्मा तो प्रबुद्ध होता है, यह कर्म, अनुस्मृति, शब्द और विधि से जाना जाता है।

यदि जलराशि में जल की एक बूंद डाल दी जाय, उसी बूंद को जलराशि में से निकालना अशक्य है। क्या सुषुप्ति अवस्था का ऐसा ही स्वरूप है? जहां जीवात्मा परमात्मा की गोद में पहुंचा अथवा परमात्मा में प्रविष्ट हुआ कहा जाता है। वहां से पुनः बाहर आने के लिये आग-चिनगारी का दृष्टान्त है। इससे सुषुप्ति अवस्था के अन्दर जीवात्मा का परमात्मा में जलराशि में जलविन्दु के समान अविभाग को प्राप्त होजाना प्रतीत होता है। ऐसी दशा में सुषुप्ति के अनन्तर उसी आत्मा का प्रबुद्ध होना दुःसंपाद्य है।

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया, सुषुप्ति के अनन्तर वही आत्मा जागता है, जो सोया था; इसलिये जलराशि में जलविन्दु के समान जीवात्मा परब्रह्म में उस समय अविभाग को प्राप्त नहीं होता। बाह्य आन्तर जगत् से तब जीवात्मा का सम्बन्ध न होने की दशा को ऋषियों ने उस रूप में वर्णन किया है; वस्तुतः जीवात्मा स्वरूप से कभी परब्रह्मरूप में प्राप्त नहीं होता। सुषुप्ति अवस्था भी ऐसी है। जीवात्मा का तब ब्रह्म से पृथक् रहना निश्चित है। उपनिषद् में इस स्थिति को प्रकट करने के लिये

'सुप्तः' 'संपरिष्वक्तः' 'संपन्नः' इत्यादि पदों का प्रयोग है; इनसे यह तात्पर्य कदापि प्रकट नहीं होता, कि तब जीवात्मा ब्रह्मस्वरूप होजाता है। इसका केवल इतना तात्पर्य है, कि वह उसके संपर्क में चला जाता है। यह कथन भी जगत् के साथ संपर्क न रहने पर आधारित है। जीवात्मा सुषुप्ति में ब्रह्म के साथ अविभाग को प्राप्त नहीं होता, इस विषय में सूत्रकार चार हेतु प्रस्तुत करता है—१. कर्म, २. अनुस्मृति, ३. शब्द, ४ विधि।

'कर्म' पद का तात्पर्य प्रतिदिन किया जानेवाला कार्य है। जो व्यक्ति एक कार्य को प्रारम्भ करता है, वह उस दिन अधूरा रहजाता है, उसे वह अगले दिन पूरा करता है। वह जानता है, इतना कार्य मैंने कल किया, शेष आज करना है। यह व्यवहार तभी संभव होसकता है, जब यह माना जाय, कि जो व्यक्ति कल सोया था, वही आज प्रातः जागा है; सुषुप्ति दशा में उसकी वही स्थिति निर्बाध बनी रहती है। 'अनुस्मृति' का अर्थ प्रत्यभिज्ञा है। इसका तात्पर्य है, पहले अनुभूत अर्थ को उसी रूप में पहचानना। प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर व्यक्ति अपने आपको अपने अन्य स्त्री पुत्र पशु मकान आदि को उसी रूप में पहचानता है, जिस रूप में उनको पहले जाना है। इससे प्रकट होता है, कि जो आत्मा सोया था, वही उठा है। 'शब्द' प्रमाण से यह अर्थ सिद्ध होता है। बृहदारण्यक [४।३।१६] में बताया—'पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव' यह आत्मा जैसे जाग्रत से स्वप्न और स्वप्न से सुषुप्त दशा में जाता है, जागने के लिये ठीक वैसे वापस आजाता है। सुषुप्त से स्वप्न में और स्वप्न से पुनः जाग्रत दशा में आजाता है। यह वर्णन प्रकट करता है, कि सोने से पहले और पीछे की स्थिति में वही एक आत्मा रहता है। सुषुप्त दशा में वह ब्रह्म के साथ अविभाग को प्राप्त नहीं होता। छान्दोग्य के स्थलों [६।६।३॥८।३।२] में भी यह अर्थ कहा है। सूत्र में 'विधि' पद का अर्थ है—विधान अर्थात् शास्त्र का आदेश। वेद आदेश देता है—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' [यजु० ४०।२] कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। यदि प्रत्येक दिन सुषुप्त दशा में आत्मा ब्रह्मस्वरूप होजाय, तो यह विधान निरर्थक होगा; तथा अन्तःकरण की शुद्धि एवं आत्मज्ञान के लिये जिन विधियों व उपासनाओं का अनुष्ठान किया जाता है, वह सब व्यर्थ होगा। फलतः यह निश्चित होता है, कि सोकर आत्मा वही जागता है, जो सोया था। सुषुप्त दशा में ब्रह्म के साथ आत्मा अविभक्त होजाता है, ऐसा समझना युक्त नहीं ॥६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जाग्रत अवस्था में कभी कोई व्यक्ति अचानक बेहोश होजाता है, अथवा तीव्र आघात व विशिष्ट औषध आदि के प्रयोग से ऐसी दशा होजाती है। यह उक्त दशाओं में से कौनसी दशा होगी? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

मुग्धेऽर्द्धसंपत्तिः परिशेषात् ॥१०॥

[मुग्धे] मोह अथवा मूर्च्छा में [अर्द्धसंपत्तिः] आधी सुषुप्त दशा [परिशेषात्]

परिशेष से। जब व्यक्ति मोह अथवा मूर्च्छा को प्राप्त होता है, उसकी वह आधी सुषुप्त दशा समझनी चाहिये; परिशेष से यह ज्ञात होता है।

देही आत्मा की एक मूर्च्छा अवस्था देखी जाती है। जब कोई व्यक्ति इस दशा को प्राप्त होता है, उसे मूर्च्छित अथवा मुग्ध कहा जाता है। यह अवस्था न जाग्रत है न स्वप्न। उन दोनों दशाओं में विषय का ज्ञान होता रहता है, मूर्च्छा में वह नहीं होता। इसे सुषुप्त कहना कठिन है, क्योंकि मूर्च्छा में सुषुप्ति से कुछ विलक्षणता देखी जाती है। मूर्च्छा दशा में कभी-कभी देर तक सांस नहीं आता, मुख कान्तिहीन प्रतीत होता है, शरीर में कम्पन और नेत्र कभी फटे-से दिखाई देते हैं। सुषुप्ति में यह सब नहीं होता, वहां सांस निरन्तर समानरूप से चलता रहता है, मुख की कान्ति में तिलमात्र अन्तर नहीं आता, न शरीर कांपता है न आंखें फटी दीखती हैं; सुषुप्ति दशा में व्यक्ति प्रसन्नवदन दिखाई देता है, तथा हाथ के स्पर्शमात्र से जाग जाता है, पर मूर्च्छित व्यक्ति बलपूर्वक झकझोरने पर भी चेत में नहीं आता। फिर मूर्च्छा और सुषुप्ति के कारण भी भिन्न हैं, मूर्च्छा तीव्र आघात आदि से होती है, और सुषुप्ति थकावट से। इसलिये मूर्च्छा को सुषुप्ति नहीं माना जासकता।

देही की एक अवस्था मृत्यु है, पर मूर्च्छा मृत्यु भी नहीं। मूर्च्छा में प्राणों की गति बनी रहती है, और देह गरम रहता है; मृत्युदशा में यह सब नहीं रहता। तब मूर्च्छा को कौनसी अवस्था माना जाना चाहिये? जाग्रत आदि के अतिरिक्त अन्य कोई अवस्था तो है नहीं? सूत्रकार ने बताया, मूर्च्छा को अर्द्धसुषुप्ति कहा जासकता है, क्योंकि यही एक ऐसी अवस्था बचजाती है, जिसमें मूर्च्छा की कुछ समानता है। किसीप्रकार के ज्ञान आदि का न होना समानता है, दोनों में आकार आदि का उक्त वैलक्षण्य होने से 'अर्द्ध' कहा है। इसप्रकार मूर्च्छा को अर्द्धसुषुप्ति समझना चाहिये ॥१०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जीवात्मा की स्वप्न आदि अवस्थाओं का उपपादन किया गया; क्या इन अवस्थाओं से ब्रह्म का सम्बन्ध होता है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥११॥

[न] नहीं [स्थानतः] स्थान से [अपि] भी [परस्य] पर को [उभयलिङ्ग] दोनों धर्मवाला [सर्वत्र] सब जगह [हि] क्योंकि। जीवात्मा के संपर्क से और स्वतः परमात्मा को स्वप्न आदि नहीं होते, क्योंकि सर्वत्र श्रुति स्मृति में परमात्मा का अन्दर बाहर दोनों जगह स्थित रहनेवाला बताया है।

सूत्र में 'पर' पद जीवात्मा और प्रकृति तथा उसके कार्यों से भिन्न परब्रह्म का निर्देश करता है। परब्रह्म सर्वान्तर्यामी होने से जीवात्मा में विद्यमान रहता है, 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः''''यस्यात्मा शरीरम्' [श० ब्रा० १४।६।७।३०]। जो आत्मा

में स्थित रहता है, आत्मा से भिन्न है, आत्मा जिसका शरीर है। जीवात्मा परब्रह्म का वासस्थान है, इसलिये सूत्र में 'स्थान' पद जीवात्मा का निर्देश करता है। जीवात्मा को स्वप्न आदि होते हैं, वह परमात्मा का वासस्थान होने से उसको भी स्वप्न आदि अवस्था होनी चाहियें। सूत्रकार ने बताया 'स्थानत:' अर्थात् जीवसम्पर्क से परब्रह्म को स्वाप आदि नहीं होते। सूत्र में 'अपि' पद 'स्वत:' का बोधक है। तात्पर्य यह, कि परमात्मा को स्वाप आदि अवस्थाओं का प्राप्त होना न जीवसम्पर्क से संभव है, न स्वत:; जीवात्मा की तरह परमात्मा को स्वतन्त्ररूप से यह अवस्था प्राप्त होती हों, यह भी नहीं है।

कारण यह है, कि परमात्मा सर्वत्र श्रुति स्मृतियों में प्रत्येक वस्तु के अन्दर और बाहर स्थित रहनेवाला बताया गया है। पानी क्यारी के आकारधर्मवाला उसी समय होता है, जब वह केवल क्यारी से घिरा रहता है। पर जब पानी क्यारी के अन्दर बाहर सब जगह आप्लावित रहता है, तब वह क्यारी के आकाररूप धर्म से प्रभावित नहीं होता। यदि परब्रह्म केवल जीवात्मा में अन्तर्यामीरूप से विद्यमान रहता, तो यह संभावना हो-सकती थी, कि वह जीवात्मा के स्वप्न आदि धर्मों से प्रभावित हो; परन्तु वह अन्दर और बाहर इन दोनों धर्मों के साथ सदा सर्वत्र समानरूप से विद्यमान रहता है। इसलिये जीवात्मा में अन्तर्यामीरूप से विद्यमान होते हुए भी परब्रह्म में जीवात्मा के स्वाप आदि धर्मों का कोई प्रभाव नहीं होता।

यह तथ्य श्रुति स्मृतियों से प्रमाणित है, कि परब्रह्म प्रत्येक वस्तु के अन्दर बाहर सब जगह रहता है—'स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्' [ऋ० १०।९०।१] 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' [यजु० ४०।५], वह पृथिवी आदि सब लोक लोकान्तरों को सब ओर से घेरे है और वह उनसे भी आगे अनन्तरूप में विद्यमान है। वह सब पदार्थों के अन्दर और बाहर विद्यमान रहता है। फलतः जीवात्मा के संपर्क से परब्रह्म को स्वाप आदि का होना संभव नहीं। जीवात्मा को स्वप्न आदि अवस्था अभि-मानी देह के साथ संबन्ध होने पर होती हैं। परब्रह्म को स्वतः स्वप्न आदि अवस्थाओं का होना इसीलिये असंभव है, कि उसका कोई अपना अभिमानी देह नहीं होता। ऐसे देह की प्राप्ति कर्मानुसार फल भोगने के लिये होती है; परब्रह्म के कोई कर्म न होने से फलभोग के लिये ऐसे देह का प्राप्त होना असंभव है। परब्रह्म को वेद 'अकायम्' [यजु० ४०।८] कहता है। इसलिये स्वतः उसको स्वप्न आदि अवस्थाओं का होना किसी प्रकार संभव नहीं॥११॥

शिष्य आशंका करता है, शास्त्र में स्थानभेद से ब्रह्म का भेद, अंगवर्णन तथा उसके शरीर का वर्णन उपलब्ध होता है; तब पूर्वसूत्रोक्त अर्थ कैसे संभव होगा? आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥१२॥

[न] नहीं [भेदात्] भेद से [[illegible]] ऐसा यदि (कहो, तो वह ठीक

[न] नहीं, [प्रत्येकं] प्रत्येक में [अतद्वचनात्] न वैसा कथन होने से। शास्त्र में भेद-कथन से पूर्वसूत्र में प्रतिपादित अर्थ ठीक नहीं; ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि शास्त्र में प्रत्येक जगह भेद का कथन नहीं है, अभेद का कथन है।

स्वतः और परतः [स्थानतः] परमात्मा की स्वप्न आदि अवस्थाओं का जो निषेध किया गया, वह युक्त प्रतीत नहीं होता, कारण यह है, कि परमात्मा एक होते हुए स्थानभेद से उसका भेद शास्त्र में कहा है। जैसे एक आकाश घट पट मठ आदि स्थानभेद से भिन्नरूप में व्यवहृत होता है, ऐसे एक ब्रह्म उन-उन स्थानों के भेद से भिन्नरूप में व्यवहृत होता है। स्थानयोग से आदित्यपुरुष अक्षिपुरुष वैश्वानर आदि ब्रह्म के नामों का पृथक् निर्देश है। उसका रूप हिरण्यश्मश्रु और हिरण्यकेश वर्णन किया है। यद्यपि यह उसका वास्तविक रूप नहीं है, आदित्यस्थान के सम्बन्ध से इस रूप का वर्णन है। जैसे यहां आदित्यधर्म का सम्बन्ध ब्रह्म से बताया गया, ऐसे ही जीवात्मधर्म स्वप्न आदि का सम्बन्ध ब्रह्म से मानाजाना चाहिये। फिर ब्रह्म के देह व देहांगों का वर्णन शास्त्र में उपलब्ध है, तब इस रूप में देही होने पर उसे स्वप्न आदि होने चाहियें। छान्दोग्य [५।१८।२] में वर्णन है–'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ' वैश्वानर आत्मा का मूर्धा द्युलोक है, चक्षु सूर्य है, प्राण वायु है, देह का मध्यभाग अन्तरिक्ष है, वस्ति [मूत्राशय] जल है, पैर पृथिवी है। मुण्डक उपनिषद् [२।१।४] में कहा–'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा' द्युलोक उस परब्रह्म की मूर्धा है, चन्द्र सूर्य चक्षु हैं, दिशा श्रोत्र हैं, विस्तृत वेद वाणी है, वायु प्राण तथा समस्त विश्व हृदय है, पृथिवी पैररूप है, यह ब्रह्म समस्त विश्व का अन्तरात्मा है। वेदों के पुरुष सूक्तों में उस ब्रह्म को सहस्र सिर आँख व पैरवाला बताया है। इन वर्णनों से ब्रह्म जीवात्मा के समान देही प्रतीत होता है, तब स्वप्न आदि अवस्था उसकी जीवात्मा के समान संभव हैं।

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया, ब्रह्म के विषय में उक्त कथन ठीक नहीं है। कारण यह है, कि शास्त्रीय प्रसंगों में सर्वत्र ब्रह्म को एकरूप वर्णन किया गया है। उक्त प्रसंगों में जहाँ देह व देहांगों का उल्लेख है, वह सब आलंकारिक है, ब्रह्म की सर्वव्यापकता व सर्वान्तर्यामिता को प्रकट करता है। जो देहांग ऐसे वर्णनों में बताये गये हैं, वह ऐसे देहांग नहीं हैं जैसे जीवात्मा के। वह केवल उसके विश्वरूप व विराट्‌रूप की कल्पना है, ब्रह्म की महत्ता व सर्वशक्तिमत्ता को प्रकट करने के लिये। इसी तथ्य को यजुर्वेद [३२।८] में कहा–'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु' यह समस्त विश्व जिसमें एक घोंसले के समान है; उसीमें यह विश्व बनता चलता और बिगड़ता रहता है, वह सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी परमात्मा एकमात्र सब विश्व में ओत-प्रोत है। 'अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च' [कठ

२।३।८] 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' [श्वे० ६।११] 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' [मुण्ड० २।१।४] इत्यादि सन्दर्भ तथा ऐसे अन्य अनेक [तै० ३।१०; बृ० २।५।१; छा० १।७।५; मुण्ड० २।१।२; यजु० १३।४६; अथर्व० १०।७।३२-३३] सन्दर्भ ब्रह्म की एकता का वर्णन करते हैं। इसलिये स्थानभेद से उसका भेद एवं विराट् वर्णन से उसके–जीवात्मसदृश देह के समान–देह की कल्पना करना सर्वथा निराधार है। फलतः स्वप्न आदि अवस्थाओं का उसमें मानाजाना संभव नहीं ॥१२॥

प्रकारान्तर से सूत्रकार ने उक्त अर्थ को दृढ़ करने की भावना से कहा—

अपि चैवमेके ॥१३॥

[अपि] भी [च] और [एवं] इसप्रकार [एके] कई। कई और भी शाखावाले इसप्रकार वर्णन करते हैं।

अथर्ववेदी आचार्यों ने माण्डूक्य उपनिषद् में प्रथम जीवात्मा के समान परब्रह्म के जागरितस्थान स्वप्नस्थान आदि का निर्देश किया है, तथा इसप्रकार स्वप्न आदि अवस्थाओं के साथ उसका सम्बन्ध प्रकट किया है। अन्त में उपेक्षापूर्वक स्वयं उसका प्रत्याख्यान कर दिया है–'नान्तः प्रज्ञं, न बहिः प्रज्ञं, नोभयतः प्रज्ञं, न प्रज्ञानघनम्' [मा० ७] यहां पहले वाक्य से ब्रह्म का स्वप्न अवस्था के साथ सम्बन्ध प्रतिषिद्ध किया है, द्वितीय वाक्य से जाग्रत अवस्था, तृतीय से मूर्च्छा तथा चौथे वाक्य से सुषुप्ति अवस्था का प्रतिषेध है। प्रथम जो सम्बन्ध प्रकट किया है, वह–इस वाक्यशेषद्वारा निषेध किये जाने से–औपचारिक व आलंकारिक कहा जासकता है।

अन्यत्र भी ब्रह्म के नानात्व का निषेध उपलब्ध होता है–'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' [कठ० २।१।११] शुद्ध अन्तःकरण से उसको जानने का प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये, इस अनन्त विश्व में किसी रूप से वह नाना [अनेक] नहीं है। वह जीवात्मा जन्म-मरण के चक्र में पड़ा रहता है, जो उसे नाना [अनेक] देखता है। फलतः परब्रह्म परमात्मा एकमात्र है, उसका भेदवर्णन औपचारिक है। तथा स्वप्न आदि अवस्थाओं का उसके साथ सम्बन्ध साक्षात् प्रतिषिद्ध किया गया है। इसलिये ब्रह्म के साथ स्वप्न आदि अवस्थाओं का सम्बन्ध किसीतरह सम्भव नहीं।

परमात्मा सर्वान्तर्यामी होने से आत्मा में स्थित रहता भी उसके धर्मों व अवस्थाओं से प्रभावित नहीं होता, वह समस्त गुण-दोषरहित होकर अपने विशुद्धरूप में अवस्थित रहता है। श्वेताश्वतर [१।१२] में कहा–'एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्। भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म मे तत्' नित्य ही आत्मा में स्थित यह ब्रह्म ज्ञातव्य है, इससे परे और कोई ज्ञातव्य नहीं है। भोक्ता जीवात्मा, भोग्य प्रकृति और नियन्ता परमात्मा को मानकर सब कह दिया गया,

समस्त विश्व इन तीन में आजाता है, इनको मानकर अन्य कुछ शेष नहीं रहजाता. मेरे लिये यह त्रिविध तत्त्व ब्रह्म है; महत्त्वपूर्ण हैं। तात्पर्य यह, कि ये तीनों अपनी-अपनी जगह हैं, कोई किसी अन्य के धर्मों से प्रभावित नहीं होता। फलतः परब्रह्म में स्वप्नादि जीवात्मधर्मों का संचरित होना सम्भव नहीं ॥१३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, शास्त्र में ब्रह्म को रूपवाला और रूपरहित बतानेवाले दोनों प्रकार के सन्दर्भ मिलते हैं, फिर उसे रूपरहित ही क्यों माना जाता है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥१४॥

[अरूपवत्] न रूपवाला [एव] ही, [हि] क्योंकि अथवा निश्चय से [तत्प्रधानत्वात्] उसके (अरूपता के) प्रधान होने से–मुख्य होने से। निश्चय से परब्रह्म अरूपवाला है, क्योंकि उसका मुख्यरूप से वैसा वर्णन किया गया है।

सूत्र के 'अरूपवत्' पद में 'रूप' का अर्थ है–आकार। जीवात्मा या परमात्मा का कोई आकार नहीं है, पर जीवात्मा देह के कारण आकारवाला कहाजाता है। साधारणतया देह के हाथ पैर सिर आदि अंग होते हैं, पर अनेक कृमि कीट आदि के देहों में ये अंग नहीं रहते, फिर भी वह देह है, और उसके कारण वह आत्मा देही अथवा आकारवाला कहा जाता है। परन्तु परमात्मा का ऐसा कोई रूप, आकार अथवा देह नहीं होता, वह निस्सन्देह अरूपवत् है, अशरीरी है। शास्त्र में मुख्यरूप से उसका ऐसा वर्णन है। 'अकायम्' [यजु० ४०।८] 'अशरीरम्' [कठ० १।२।२२] 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' [कठ० १।३।१५] 'दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः' [मुण्ड० २।१।२] 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः' [बृ० ३।८।८] 'अपाणिपादो···अचक्षुः···अकर्णः' [श्वे० ३।१६] इत्यादि अनेक शास्त्रीय वचनों द्वारा परब्रह्म को मुख्यरूप से शरीर तथा शरीरांगों से सर्वथा रहित बताया है, इसलिये ब्रह्म को सदा ऐसा समझना चाहिये।

जिन सन्दर्भों में उसके देह व देहांगों का कथन है, वह उसके एक काल्पनिक विराट् स्वरूप का वर्णन है। वह केवल औपचारिक व आलंकारिक है। केवल गौण वर्णन, जिसका तात्पर्य ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता व सर्वान्तर्यामिता को प्रकट करना मात्र है। 'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' [छा० ३।१४।४] इत्यादि वाक्य तथा उक्त देहांगादिवर्णनविषयक समस्त वचन इसीप्रकार के हैं। फलतः जब ब्रह्म सर्वथा अशरीरी है, तब उसका स्वप्नादि अवस्थाओं से सम्बन्ध नहीं होसकता, यह निश्चित है ॥१४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है यदि ब्रह्म अरूप-अशरीरी है, तो उसके ऐसे रूप का वर्णन करनेवाले शास्त्रवचन क्या व्यर्थ हैं? आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में बताया—

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥१५॥

[प्रकाशवत्] प्रकाश की तरह [च] और [अवैयर्थ्यात्] न व्यर्थ होने से। ब्रह्मविषयक प्रकाशवचनों की तरह रूपादिविषयक वचनों के व्यर्थ न होने से। जैसे ब्रह्म के प्रकाशविषयक वर्णन व्यर्थ नहीं हैं, ऐसे रूपादिविषयक वर्णन व्यर्थ नहीं हैं।

शास्त्र में कहा—'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' [बृ० ४।४।१६] देव ज्योतियों के भी ज्योति उस अमृत की आयुभर उपासना करते हैं। लोक व शास्त्र में सूर्य अग्नि आदि ज्योति अर्थात् प्रकाशतत्त्व कहे जाते हैं। प्रस्तुत वाक्य में कहा, कि वह अमृत—परब्रह्म इन प्रकाशों का प्रकाश है। तब क्या परब्रह्म को ऐसा या इससे अति-तीव्र प्रकाश माना जाता है? सूर्य आदि भौतिक प्रकाश हैं. ब्रह्म चाहे इनकी अपेक्षा अतितीव्र प्रकाश हो, पर उसे ऐसा प्रकाश नहीं माना गया। ऐसा न माने जाने पर भी उक्त वाक्य व्यर्थ नहीं है, ब्रह्मविषयक ऐसे वर्णन का कुछ प्रयोजन है। उसे प्रकाशों का प्रकाश कहने का तात्पर्य है, वह इन प्रकाशों को उत्पन्न करनेवाला, इन सबका नियन्ता है। इन पदों का साधारण लोकप्रसिद्ध अर्थ लेकर वाक्यों की व्याख्या करना, और उसके अनुसार सामञ्जस्य न होने पर इनको व्यर्थ समझना ठीक नहीं है। ऐसे वर्णनों का विशेष अभिप्राय है। ये पद ब्रह्म के चेतनस्वरूप को प्रकट करते हैं। वह चेतनस्वरूप अमृत सत प्रकाशमय लोक-लोकान्तरों का उत्पादक नियन्ता व प्रेरक है, यह प्रकट करना प्रस्तुत वर्णन का प्रयोजन है; इसलिये इसे व्यर्थ नहीं कहा जासकता। यही बात रूपादि के वर्णन में है।

यह निश्चय किया जाचुका है, कि ब्रह्म का कोई रूप या शरीर नहीं है। परन्तु वेद व वैदिक साहित्य में अनेकत्र उसका ऐसा वर्णन उपलब्ध होता है। 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्' [ऋ० १०।८१।३; अथर्व० १३।२।२६; यजु० १७।१९] 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' [ऋ० १०।९०।१; यजु० ३१।१] 'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति' [श्वे० ३।१६] ऐसे वर्णनों का प्रयोजन ब्रह्म के विराट् रूप व उसके सर्वान्तर्यामी होने को बतलाना है। उक्त समस्त वाक्यों के शेषभाग में इसका निर्देश है। 'द्यावाभूमी जनयन् देव एकः' [ऋ० १०।८१।३] उसे 'विश्वतश्चक्षुः' आदि इसलिये कहा है, कि वह सब विश्व का उत्पादक है। आगे 'स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा [विश्वतो वृत्वा, ऋ०] अत्यति-ष्ठत्' वह परपुरुष समस्त भुवनकोश को व्याप्त कर ठहरा हुआ है, इसलिये उसे 'सहस्र-शीर्षा' आदि कहा गया। 'सहस्र' पद अनेक अथवा असंख्य का द्योतक है। ये सिर आदि उसके निज अंग नहीं है; उसने सबको आवृत किया हुआ है, अथवा वह सबमें अन्तर्यामी होकर व्याप्त होरहा है, वह सबका आलम्बन है; इसी प्रयोजन से उसका उक्त वर्णन है। श्वेताश्वतर के वाक्य में यही भाव स्पष्ट किया—'सर्वमावृत्य तिष्ठति' [३।१६] वह सब-

को अपने अन्दर समेटे ठहरा हुआ है। फलतः भौतिक प्रकाश व उसके समान न होता हुआ भी वह प्रकाशों का प्रकाश विशेष प्रयोजन से बताया गया है, उसका विराट् वर्णन भी सप्रयोजन है, व्यर्थ नहीं ॥१५॥

इस अर्थ को स्पष्ट व दृढ़ करने के लिये सूत्रकार ने बताया, कि ऐसे आधारों पर शास्त्र ब्रह्म को प्रकाशस्वरूप अथवा चेतनस्वरूप कहता है—

आह च तन्मात्रम् ॥१६॥

[आह] कहता है [च] और [तन्मात्रम्] तन्मात्र–तत्स्वरूप। और शास्त्र उसको प्रकाशमात्र व चेतनमात्र कहता है।

सूत्र में 'तत्' पद प्रकाश का परामर्श करता है, जो ब्रह्म के चेतनभाव का द्योतक है। ऋग्वेद [६।९।५] में कहा–'ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः' जन्म-मरण के प्रवाह में बहते प्राणियों के हृदय में वह निश्चल ज्योति सर्वव्यापक चेतन ब्रह्म बैठा है। यहां ब्रह्म को ज्योतिःस्वरूप कहना उसके चेतनभाव को प्रकट करता है। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।५।१३] में बताया–'एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' जैसे नमक का डला नमक ही नमक है, ऐसे यह परब्रह्म अन्दर बाहर की स्थिति से रहित चेतनमात्र है। ऐसे वह आनन्दमात्र है–'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' [बृ० ३।९।२८], 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' [तै० ३।६], 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' [मुं० २।२।७]। ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप केवल ऐसा है। ऐसे स्वरूप को प्रकट करने के लिये शास्त्रों में उक्त वर्णन किये गये हैं। फलतः देहांगादि वर्णनों को व्यर्थ नहीं समझना चाहिये ॥१६॥

अन्य श्रुति स्मृतियों में इस अर्थ की पुष्टि कीगई है, सूत्रकार ने कहा—

दर्शयति चाथो अपि स्मर्य्यते ॥१७॥

[दर्शयति] दिखलाता है [च] भी [अथो] और [अपि] भी [स्मर्यते] स्मरण किया जाता है–स्मृति में प्रतिपादित हुआ है। ब्रह्म के ज्योतिर्भाव को उपनिषदादि शास्त्र दिखलाता है और स्मृति भी उसका प्रतिपादन करती है।

ब्रह्म ज्योतिःस्वरूप है, ऐसे वर्णनद्वारा उपनिषद् उसके चेतनमात्र होने का वर्णन करते हैं। 'तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः' [मुं० २।२।९] वह शुद्ध परब्रह्म अग्नि सूर्य आदि सबका प्रकाशक प्रेरक है। 'यदतः परो दिवो ज्योतिः' [छा० ३।१४।७) जो समस्त लोक लोकान्तरों से पर–उत्कृष्ट ज्योतिः है, वह ब्रह्म है। 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य' [छा० ८।१२।३] उस परज्योति को प्राप्त होकर। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' [कठ० २।२।१५] उस चेतनस्वरूप परब्रह्म के प्रताप से ही यह सब विश्व प्रकाश में आता है। 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते' [गीता १३।१७]

ब्रह्म का ज्योतिरूप में वर्णन उसके चेतनस्वभाव को अभिव्यक्त करता है। ये सब वर्णन सप्रयोजन हैं ॥१७॥

इसी विषय को पुष्ट करने के लिये सूत्रकार ने कहा—

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥१८॥

[अतः] इसलिये [एव] ही [च] और [उपमा] उपमा–सादृश्य [सूर्यकादिवत्] सूर्य आदि के समान। क्योंकि ब्रह्म प्रकाशस्वरूप है, इसलिये ही सूर्य अग्नि आदि के साथ उपमा दीजाती है।

वेदादि शास्त्रों में जो वाणी एवं मन आदि के अविषय परब्रह्म चेतन की उपमा सूर्य आदि के साथ दीगई हैं, उसका यही कारण है, कि उस प्रकाशस्वरूप वर्णन से उसके चेतनभाव व नियन्तृभाव को स्पष्ट किया जाय। अन्धकार जड़ का प्रतीक माना जाता है, और प्रकाश चैतन्य का। प्रकाशदशा में समस्त प्राणी गतिशील होजाते हैं, अन्धकार इसमें बाधक होता है। तम से आच्छादित संसार गतिशून्य-सा एकीभूत हुआ प्रतीत होता है। वेद [यजु० ३१।१८] में मानो इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए बताया–'वेदाह-मेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्' वह महान पुरुष आदित्यवर्ण है, और तम से परे है, उसे हम जानें। यहां 'आदित्यवर्ण' पद ब्रह्म को प्रकाशस्वरूप बताता हुआ उसके चेतनभाव को प्रकट करता है; इसीलिये उसे 'तमसः परस्तात्' तम से–अन्धकार से परे बताया, वह जड़ से भिन्नतत्त्व है। कठ उपनिषद् [२।१।१३] में कहा–'···पुरुषो ज्योति-रिवाऽधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य' हृदयदेश में ज्ञेयभाव से निवास करनेवाला वह पुरुष परब्रह्म धूमरहित ज्योति के समान है। वह समस्त विश्व का अतीत–अनागत का नियन्ता है। यहां धूमरहित ज्योति के समान ब्रह्म को बताने का तात्पर्य है, कि वह केवल प्रकाशस्वरूप है, तम का वहां लेश भी नहीं। फलतः उसके विशुद्ध चेतनस्वरूप को प्रकट करने के लिये सूर्य अग्नि आदि की उपमा उसे दीगई हैं। उसका चेतनभाव उसके ईशान–नियन्ता होने का आधार है। इसीलिये अन्यत्र [केन० १।३] कहा–'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' वह विदित से अन्य है और अविदित से ऊपर। विदित यह व्यक्त जगत् है और अविदित है–इसका उपादानकारण अव्यक्त प्रकृति। यह व्यक्त-अव्यक्त-रूप समस्त विश्व जड़तत्त्व है, परब्रह्म इससे परे है, भिन्न है; इसमें अन्तर्यामीरूप से व्याप्त रहता हुआ इस सबका नियन्त्रण करता है ॥१८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, ब्रह्म के लिये सूर्य आदि की जो उपमा दीजाती है, क्या सूर्य के समान उसको परिच्छिन्न भी मानलेना चाहिये? होसकता है, जैसे सूर्य एक जगह रहता सब लोक को प्रकाशित करता है, वैसे ब्रह्म एकदेश में रहता हुआ समस्त विश्व को प्रेरित करता रहे? उसका समस्त तत्त्वों में अन्तर्यामीरूप से रहना प्रतिबिम्ब-प्रक्रिया के अनुसार सम्पन्न होसकेगा। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥१९॥

[अम्बुवत्] जल में जैसे [अग्रहणात्] न ग्रहण से [तु] तो [न] नहीं [तथात्वं] वैसा होना। जल में जैसे किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब गृहीत होता है, वैसे ब्रह्म का कहीं प्रतिबिम्ब गृहीत नहीं होसकता, इसलिये ब्रह्म का परिच्छिन्न होना तथा प्रतिबिम्बद्वारा अन्तर्यामी होना युक्त नहीं।

सूत्र में 'अम्बु' पद दर्पण आदि का उपलक्षण है। स्वच्छ जल आदि में सूर्य तथा अन्य रूपादियुक्त सावयव दृश्य पदार्थों के प्रतिबिम्ब का ग्रहण होता है; ब्रह्म ऐसा तत्त्व नहीं है। सूर्य आदि की जो उपमा ब्रह्म के लिये दीजाती हैं, वह केवल प्रकाश अंश की भावना से हैं। किसी उपमा या दृष्टान्त की उपमेय से सर्वात्मना तुलना नहीं होती। सूर्यप्रकाश की उपमा से ब्रह्म का चेतनभाव केवल अभिलक्षित होता है। क्योंकि सूर्य व सूर्यप्रकाश स्वतः जड़तत्त्व है, उसका स्वरूपगत सादृश्य चेतन से कुछ नहीं है। पर उसकी वह स्थिति परब्रह्म की प्रेरणा से बनपाती है; तथा प्रकाश समस्त विश्व को अभिव्यक्त करता है; अन्य पदार्थों से इस विशेषता तथा अभिव्यक्तिरूप समानता के कारण सूर्य आदि की उपमा ब्रह्म के लिये दीजाती हैं। उसकी परिच्छिन्नता आदि का आरोप ब्रह्म में करना सर्वथा अप्रामाणिक है।

वेद आदि शास्त्रों में सर्वत्र ब्रह्म को सर्वान्तर्यामी व सर्वव्यापक बताया है, 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' [यजु० ४०।५; ईशा० ५] वह परब्रह्म सबके अन्दर बाहर व्याप्त रहता है। जगत् की उत्पत्ति आदि के कारण ब्रह्म के एक-देशी होने की कल्पना नहीं कीजासकती। न ब्रह्म का प्रतिबिम्ब संभव है, और न एक-देशी होने से सर्वान्तर्यामी न रहने पर उसके द्वारा जगत् की उत्पत्ति आदि संभव है। इसलिये जैसे जल दर्पण आदि में अन्य सूर्य आदि पदार्थों के प्रतिबिम्ब का ग्रहण होता है, ऐसे ब्रह्म का कहीं प्रतिबिम्ब संभव न होने से उसके एकदेशी होने की कल्पना सर्वथा अमान्य है ॥१९॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, ब्रह्म सर्वान्तर्यामी है, प्रत्येक वस्तु में व्याप्त रहता है; तो उस वस्तु के वृद्धि और ह्रास से ब्रह्म प्रभावित होना चाहिये? अर्थात् उसमें भी वृद्धि आदि हों? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥२०॥

[वृद्धिह्रासभाक्त्वं] बढ़ने घटने का भागी होना [अन्तर्भावात्] अन्दर होने से—अन्तर्यामी होने से, [उभयसामञ्जस्यात्] दोनों का समान सन्तुलन होने से [एवम्] ऐसा। गतसूत्र से यहां 'न' पद की अनुवृत्ति है। अन्तर्यामी होने से ब्रह्म, वस्तु के बढ़ने घटने का भागी होगा, यह कथन युक्त नहीं है; क्योंकि ऐसा दोनों पदार्थों के सामञ्जस्य

से होता है।

ब्रह्म सर्वान्तर्यामी है, इसका तात्पर्य है, वह प्रत्येक वस्तु के अन्दर विद्यमान है। तब उस वस्तु के बढ़ने घटने का प्रभाव ब्रह्म पर होना चाहिये; उस वस्तु के अनुसार वह भी घटे बढ़े। पर वेदादि शास्त्रों में उसका स्वरूप बढ़ने घटनेवाला नहीं माना गया, 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' [बृ० २।५।१९] वह ब्रह्म पूर्व पर तथा अन्दर बाहर से रहित है। जो घटे बढ़ेगा, उसमें पूर्व पर आदि भाव होंगे। यह स्थिति उसके सर्वान्तर्यामी होने में बाधक है; फिर वस्तु के बढ़ने घटने का प्रभाव उस पर मानना होगा। सूत्रकार ने बताया, अन्तर्यामी होने से [अन्तर्भावात्] ब्रह्म को जो वृद्धि और ह्रास का भागी होनेवाला बताया गया, वह युक्त नहीं है। कारण यह है, कि इस-प्रकार वृद्धि-ह्रास के भागी परस्पर वे पदार्थ होसकते हैं, जहां दोनों का सामञ्जस्य हो, सन्तुलन हो, सब प्रकार समानरूपता हो। ब्रह्म के सर्वान्तर्यामी होने पर किसी ऐसी वस्तु के साथ उसका सारूप्य नहीं है, जो घटने बढ़ने वाली है। ऐसी समस्त वस्तु अशुद्ध अचेतन विकारी परिणामशील होती हैं, ब्रह्म ऐसा कदापि नहीं है; इसलिये अन्तर्यामी से व्याप्त वस्तु में वृद्धि-ह्रास होने पर उसके प्रभाव से अन्तर्यामी ब्रह्म में बढ़ने घटने की सम्भावना नहीं कीजासकती। फलतः जगत् के जन्मादि का कारण ब्रह्म न परिच्छिन्न है, और न किसी वस्तु के बढ़ने घटने का वह भागी होता है ॥२०॥

सूत्रकार ने इस तथ्य को शास्त्र में देखे जाने का निर्देश कर पुष्ट किया—

दर्शनाच्च ॥२१॥

[दर्शनात्] देखे जाने से [च] भी। अन्तर्यामी ब्रह्म के वृद्धि-ह्रास नहीं होते, यह शास्त्र में देखे जाने से भी प्रमाणित होता है।

कठ उपनिषद् [२।२।११] में कहा–'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' जैसे सब लोकों के देखने में उपकारी चक्षु के समान सूर्य चक्षुगत दोषों से लिप्त नहीं होता; ऐसे समस्त विश्व में अन्तर्यामी होकर रहनेवाला एक ब्रह्म लोकदुःख से–वस्तुगत विकारों से–लिप्त नहीं होता। क्योंकि वह उनसे सर्वथा भिन्नस्वरूप है। बृहदारण्यक [४।४।२२] में बताया–'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान् नो एवासाधुना कनीयान्' सबका नियन्ता अधिष्ठाता वह ब्रह्म न किसीके साधु कर्म से बढ़ता है और न किसीके असाधु कर्म से घटता है।

इस प्रकरण में निश्चय किया गया, कि अन्तर्यामी परब्रह्म वस्तुमात्र से संपृक्त रहने पर भी उनके वृद्धि-ह्रास से जैसे घटता बढ़ता नहीं; ऐसे ही हृदयस्थित जीवात्मा में व्याप्त रहता भी वह उसकी स्वप्न आदि अवस्थाओं से प्रभावित नहीं होता। जीवात्मा के निवास हृदयाकाश में परब्रह्म के शयन करने का उल्लेख बृहदारण्यक

[४।४।२२] में इसप्रकार है–'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' वह यह नित्य महान आत्मा–जो यह हृदय के बीच आकाश [चेतन] है उसमें–शयन करता है; जो यह [–हृदयाकाश] इन्द्रियों के बीच घिरा [प्राणेषु] विज्ञानमय [जीवात्मा] है। हृदय में इन्द्रियों से घिरे जीवात्मा का निवास है; वहां महान आत्मा–परब्रह्म शयन करता है। आत्मा को परब्रह्म का साक्षात्कार यहीं होता है; इसी अभिप्राय से ऐसा वर्णन है। जीवात्मा की स्वप्नादि अवस्था होने पर वहां विद्यमान परमात्मा का इन अवस्थाओं से कोई सम्बन्ध नहीं रहता ॥२१॥

जीवात्मा की स्वप्न आदि अवस्थाओं से परब्रह्म का कोई सम्बन्ध नहीं, इसका उपपादन किया गया। इस पृष्ठभूमि पर शिष्य आशंका करता है, यदि एकत्र रहते जीवात्मा की स्वप्नादि अवस्था का सम्बन्ध परब्रह्म से नहीं, तो परब्रह्म के वहां रहने में ही क्या प्रमाण है? तब ब्रह्म का अस्तित्व सन्देह में पड़ जाता है। अन्यत्र [बृ० २।३।६] 'नेति नेति' कहकर उसका निषेध भी किया गया है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥२२॥

[प्रकृतैतावत्त्वं] प्रकृत में इतने होने का [हि] निश्चय से [प्रतिषेधति] प्रतिषेध करता है [ततः] उसके अनन्तर [ब्रवीति] कहता है [च] और [भूयः] फिर। 'नेति नेति' वाक्यद्वारा निश्चय से प्रकृत में इतने होने का प्रतिषेध करता है; और फिर आगे उसीको कहता है।

हृदयदेश में एकत्र रहते जीवात्मा की स्वप्न आदि अवस्थाओं का सम्बन्ध ब्रह्म से नहीं होता; यह निश्चय ब्रह्म के अस्तित्व में कोई बाधा नहीं डालता। जगत् के जन्म आदि का कारण बताकर और उसे प्रत्येक प्रकार से सिद्धकर परब्रह्म के अस्तित्व का निर्णय कर दिया गया है। 'नेति नेति' वाक्य किस प्रकरण में है, और किसका निषेध करता है? यह विचारणीय है।

बृहदारण्यक उपनिषद् [२।३।१] में एक प्रकरण का प्रारम्भ किया–'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च' ब्रह्म के दो रूप हैं–मूर्त्त और अमूर्त्त। द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में कहा गया है–'ब्रह्म ते ब्रवाणि' तेरे लिये ब्रह्म का कथन करता हूं। यह ब्रह्म के प्रतिपादन का प्रकरण चालू है। उसी प्रसंग से द्वितीयाध्याय के तीसरे ब्राह्मण के प्रारम्भ में उक्त वाक्य है, जिसके द्वारा मूर्त्त-अमूर्त्तरूप में ब्रह्म का निर्देश है। यहां पृथिवी जल तेज को मूर्त्त तथा वायु आकाश को अमूर्त्त कहकर विस्तार के साथ इसका प्रतिपादन है। अन्त में ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप की ओर संकेत करने की भावना से उपदेश किया–'अथात आदेशो नेति नेति' [बृ० २।३।६] अब इसके अनन्तर उस 'आदेश' को बतलाते हैं, वह 'यह नहीं है, यह नहीं है'। यहां 'आदेश' पद ब्रह्म का वाचक है,

क्योंकि समस्त शास्त्र उसीका कथन करते हैं। 'न इति, न इति' पदों से प्रकरण के प्रारम्भ में कहे मूर्त्त-अमूर्त्त का प्रतिषेध किया गया है, अर्थात् ब्रह्म न मूर्त्त है न अमूर्त्त है। इन पदों से प्रस्तुत प्रसंग में पृथिवी आदि पांच भूतों का निर्देश है। यहां बताया, ब्रह्म का यह स्वरूप नहीं है, वह इनसे अन्य एक अभौतिक तत्त्व है। 'नेति नेति' पदों से ब्रह्म का निषेध न होकर उसके पूर्वोक्त मूर्त्त-अमूर्त्तरूप होने का प्रतिषेध किया है। क्योंकि आगे उसको बताया है–'अन्यत् परमस्ति' [बृ० २।३।६] वह पूर्वोक्त मूर्त्त-अमूर्त्त से अन्य तथा उनसे 'पर' है, उत्कृष्ट है। आगे उसका नाम बताया–'अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति' सत्य का सत्य उसका नाम है। संसार में जो जीवन है, जीवन का चिह्न है, वह सब सत्य है, वह ब्रह्म उस सत्य का भी सत्य है [प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यम्, बृ० २।३।६]।

संसार में जीवन का स्वरूप–जो साधारणतया सबके लिये अवगत है–जीवात्मा है। पूर्वोक्त मूर्त्त-अमूर्त्त से ऊपर वह सत्य है, अविनाशी अपरिणामी तत्त्व है। परब्रह्म उस सत्य का भी सत्य है, इन सबसे पर है, इनका ध्येय है प्राप्य है। यह वर्णन प्रश्न उपनिषद् के चतुर्थ प्रश्न के उस उपदेश का स्मरण कराता है, जहां पृथिवी आदि समस्त भूत व इन्द्रियों का कथन कर उनके द्रष्टा श्रोता बोद्धा विज्ञानात्मा पुरुष का कथन उनसे पर मानकर किया, तथा विज्ञानात्मा [जीवात्मा] को भी आगे अविनाशी पर आत्मा [परमात्मा] में प्रतिष्ठित बताया है [प्रश्न ४।८-६]। इससे प्रमाणित होता है, 'नेति नेति' पदों से ब्रह्म का प्रतिषेध न होकर प्रकरण के अनुसार इस बात का निषेध है, कि वह पूर्वोक्त 'मूर्त्त-अमूर्त्त' इतना नहीं है, वह इससे पर है। इसीलिये आगे उसका वर्णन है, कि वह इनसे अन्य है, पर है और सत्य का सत्य है। 'नेति नेति' से ब्रह्म का निषेध विवक्षित होने पर आगे फिर उसका ऐसा वर्णन असंगत होता ॥२२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि ब्रह्म है और इन सबसे पर है, तो वह दीखता क्यों नहीं? और उसके दो रूप–मूर्त्त-अमूर्त्त किस प्रयोजन से कहे गये? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तदव्यक्तमाह हि ॥२३॥

[तत्] वह–ब्रह्म [अव्यक्तं] अव्यक्त है [आह] कहता है [हि] क्योंकि। क्योंकि वेदादि शास्त्र कहता है, कि वह ब्रह्म अव्यक्त है, इन्द्रियग्राह्य नहीं है।

मूर्त्त-अमूर्त्त से पर होता हुआ ब्रह्म इन्द्रियादि से ग्राह्य न होने के कारण नहीं दीखता, न दीखने का कारण उसका अभाव नहीं है। वह इन्द्रियादि से प्राप्त नहीं किया जाता, यह उपनिषदों में बताया है–'नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा' [कठ० २।३।१२] वह वाणी मन व चक्षु आदि से जाना नहीं जासकता। मुण्डक उपनिषद् [१।१।६] में कहा–'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' वह इन्द्रिय आदि करणों के द्वारा अदृश्य एवं

अग्राह्य है, इन्द्रियों से न देखा जाता है, न जाना जाता है । मुण्डक [३।१।८] में आगे कहा–'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा' वह चक्षु वाणी तथा अन्य तप कर्म आदि साधनों से नहीं जाना जाता । बृहदारण्यक [३।६।२६] में बताया–'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते' इस सन्दर्भ में 'नेति नेति' पदों से ब्रह्म को मूर्त्त-अमूर्त्त तथा नाम-रूपात्मक जगत् से भिन्न बताकर 'स एष आत्मा' इन पदों से उसके अस्तित्व का अवधारण किया गया है । वह होता हुआ भी इन्द्रियादि से जाना नहीं जाता, क्योंकि इन्द्रियां कार्य जगत् का ग्रहण करसकती हैं, अव्यक्त ब्रह्म का नहीं । कठ उपनिषद् [२।१।१] में कहा है–'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' परमात्मा ने इन्द्रियों को बाह्यविषय बनाया है, इसलिये वे बाहर को देखती हैं, अन्तरात्मा को नहीं । ब्रह्म के मूर्त्त-अमूर्त्त दो रूप कहने का प्रयोजन यही है, कि उसकी जगद्रूप रचनाद्वारा क्रमशः उसके यथार्थ स्वरूप का बोध विधिपूर्वक कराया जासके ॥२३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि ब्रह्म इन्द्रियादि से जाना नहीं जाता, तो वेदादि शास्त्रों में उसके जानने का उल्लेख क्यों हुआ है ? 'य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः' [ऋ० १।१६४।२३] जो उसको जानलेते हैं, वे अमृत का भोग करते हैं । 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति' [यजु० ३१।१८] उसीको जानकर दुःख के पार जाता है । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' [तै० २।१] ब्रह्म को जाननेवाला मोक्ष को प्राप्त होता है । इत्यादि वचनों में ब्रह्म के जानने का उल्लेख है ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया–

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥२४॥

[अपि] भी [संराधने] आराधन होने पर [प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्] श्रुति और स्मृति से । अव्यक्त ब्रह्म भी विधिपूर्वक साधना होने पर जाना जाता है, यह श्रुति-स्मृति से अवगत होता है ।

यद्यपि ब्रह्म अव्यक्त है, पर योगीजन विधिपूर्वक आराधना करने पर उसके अव्यक्त स्वरूप को जानते हैं । 'अव्यक्त' पद का अर्थ है, अकार्य अथवा अपरिणामी । व्यक्त कार्य को कहते हैं, ब्रह्म ऐसा नहीं है; इसलिये वह अव्यक्त है । इन्द्रियां केवल व्यक्त को जानपाती हैं, अतः ब्रह्म इन्द्रियों का अविषय है । वह जाना नहीं जाता, ऐसी बात नहीं है । दीर्घकाल तक निरन्तर आस्था रखते हुए विधिपूर्वक जो उपासना व ध्यान आदि उसके विषय में किये जाते हैं, उनसे समाधि अवस्था प्राप्त होने एवं इन्द्रियों व मन आदि समस्त करणों की वृत्तियों के लीन होजानेपर शुद्ध केवल जीवात्मा उस अव्यक्तस्वरूप का साक्षात्कार करलेता है । परब्रह्म का यह महान अनुग्रह है, जब जीवात्मा उसके स्वरूप का साक्षात् दर्शन करता है । श्रुति एवं स्मृतियों के द्वारा इस तथ्य को प्रकट किया गया है ।

ब्रह्मज्ञान का निर्देश करनेवाले कतिपय वेदवचनों का सूत्र की अवतरणिका में उल्लेख है। कठ उपनिषद् [१।२।२३] में बताया–'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' जिसपर ब्रह्म का अनुग्रह है, वह इसे प्राप्त करलेता है, ब्रह्म अपने स्वरूप को उसके लिये प्रकाशित करदेता है। मुण्डक उपनिषद् [३।१।८] में कहा–'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' आत्मा की स्वच्छ शान्त स्थिति से विशुद्ध अन्तःकरणवाला व्यक्ति ब्रह्म का ध्यान करता हुआ उसे साक्षात् करलेता है। 'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्' [श्वे० २।१५] योगी आत्मतत्त्वद्वारा ब्रह्मतत्त्व को ऐसे देखलेता है, जैसे एक दिये से दूसरा दिया प्रज्वलित करलिया जाता है। मनुस्मृति [६।६५] में कहा–'सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः' योगसमाधिद्वारा परमात्मा की सूक्ष्मता–अव्यक्त स्वरूप का दर्शन करे। महाभारत [१२।२४०।२१ गो० पू० सं०] में बताया–'तं पश्यन्ति महात्मानो ब्राह्मणा ये मनीषिणः धृतिमन्तो महाप्राज्ञाः सर्वभूतहिते रताः' महात्मा मनीषी धैर्यशाली महाप्राज्ञ ब्रह्मज्ञानी उस परमात्मा का दर्शन करलेते हैं। फलतः ब्रह्म इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जाता; योगी आत्मसाक्षात्कार होने पर उसे जानलेता है, यह शास्त्र से प्रमाणित है ॥२४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, ब्रह्मज्ञान का स्वरूप क्या है ? और ब्रह्मज्ञान होजाने पर जीवात्मा की क्या स्थिति होती है ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥२५॥

[प्रकाशादिवत्] प्रकाश आदि के समान [च] और [अवैशेष्यं] अविशेषभाव, [प्रकाशः] प्रकाश [च] तथा [कर्मणि] संराधन कर्म में [अभ्यासात्] निरन्तर अनुष्ठान से। संराधन–उपासना ध्यान समाधि आदि–कर्म में निरन्तर अनुष्ठान से जो आत्मा में ब्रह्म का प्रकाश होजाता है, यही ब्रह्मज्ञान है। इस दशा में आत्मा का ब्रह्म के साथ अविशेषभाव होजाता है, प्रकाश आदि के समान।

जब जिज्ञासु विधिपूर्वक यम नियम आदि का पालन करता हुआ ध्यान धारणा आदि के निरन्तर अनुष्ठान से असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था को प्राप्त होता है, तब आत्मा में वह एक अनुपम दिव्य प्रकाश का अनुभव करता है; इसीका नाम ब्रह्मज्ञान है। इस अवस्था को प्राप्त होकर जीवात्मा का ब्रह्म के साथ अविशेषभाव होजाता है। 'विशेष' भेद को कहते हैं। अभीतक ब्रह्म और जीवात्मा का जो संराध्य-संराधक एवं उपास्य-उपासकरूप में भेद रहा है, वह अब न रहकर अविशेषभाव–अभेदभाव होजाता है। वह आत्मा ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है, इस रूप से उसकी वैसी स्थिति होजाती है। उसकी अपनी सत्ता बनी रहने पर भी तब संसारदशा का जीवभाव प्रतीत नहीं होता।

इस अर्थ को समझाने के लिये सूत्रकार ने उदाहरण दिया–प्रकाश आदि के समान। सूत्र के 'आदि' पद से जल जैसे तरलद्रव्य तथा दूसरे ऐसे अतरल द्रव्यों का

संग्रह होजाता है, जो अन्य के साथ उस जैसे प्रतीत होने लगते हैं। प्रकाश प्रकाश में, जल जल में, दूध दूध में, तेल तेल में, मिल जानेपर एकसमान प्रतीत होते हैं, पर उस अवस्था में भी उनका अपना निजी अस्तित्व बना रहता है, रेत के ढेर में अन्यत्र से मुट्ठीभर रेत उठाकर मिला देने पर वह एकजैसा ढेर प्रतीत होता है, पर मुट्ठीभर रेत के कण उस अवस्था में भी अपना अस्तित्व खो नहीं बैठते। ब्रह्मज्ञान होनेपर ब्रह्मानन्द में डूबे हुए, ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हुए जीवात्मा का अस्तित्व इसीप्रकार बना रहता है ॥२५॥

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को स्पष्ट करने की भावना से सूत्र कहा—

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥२६॥

[अतः] इससे [अनन्तेन] अनन्त के साथ, [तथा हि] जैसाकि [लिङ्गम्] लिङ्ग है—शास्त्रीय प्रमाण है। ब्रह्म के साथ आत्मा के इस अविशेषभाव से अनन्त परब्रह्म के साथ जीवात्मा अवस्थित होजाता है, जैसाकि इस विषय में शास्त्रीय प्रमाण प्रकट करते हैं।

पूर्वसूत्रगत 'अवैशेष्य' पद का यही अभिप्राय है, कि तब आत्मा अनन्त के साथ अर्थात् परब्रह्म परमात्मा के साथ अवस्थित रहता है। यद्यपि संसारदशा में जीवात्मा सर्वव्यापक परमात्मा से अलग नहीं रहता, पर प्राकृत धर्मों से अभिभूत रहने के कारण अपनी इस संलग्नता का उसे भास नहीं होपाता। यह अविवेक की दशा है। समाधिद्वारा इन सब प्रवृत्तियों का विलय होजाने पर वह इस स्थिति का अनुभव करलेता है। यह तथ्य वेदादि वचनों से प्रमाणित होता है। यजुर्वेद [३२।११] में बताया—'उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनाऽऽत्मानमभिसंविवेश' सृष्टि के आदि में प्रादुर्भूत वेदवाणी का सेवन कर, उसके अनुसार आचरण कर जब जिज्ञासु आत्मसाक्षात्कार करलेता है, तब अपने आत्मा से ऋत के आत्मा में संविष्ट होजाता है। परमात्मा में जीवात्मा के संवेश का स्वारस्य इसीमें है, कि वह तब ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। माण्डूक्य उपनिषद् [१२] में कहा—'अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव, संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद' जीवात्मा की जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तीन अवस्थाओं का वर्णन कर उन अवस्थाओं से रहित समस्त प्रपञ्च से असंपृक्त कल्याणमय एकमात्र ब्रह्म की चौथी अवस्था है, जो लोक में अव्यवहार्य है, ऐसा परमात्मा ही है, जो 'ओम्' नाम से कहा जाता है। जो इसप्रकार परब्रह्म को जानलेता है, वह अपने स्वरूप से परमात्मा में संविष्ट होजाता है। संवेश का इसके अतिरिक्त और कोई तात्पर्य संभावित नहीं, कि ब्रह्मज्ञानी अनन्त ब्रह्म के साथ ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। इस विवेचन से निश्चित होता है, कि कार्य-कारण अथवा मूर्त्त-अमूर्त्तरूप जगत् से भिन्न है वह ब्रह्म, जिसके सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामीरूप का दर्शन योगीजन निर्विकल्प समाधि में

करते हैं। ब्रह्मज्ञान से आत्मा मोक्षस्थिति को प्राप्त करलेता है ॥२६॥

उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है, कि आत्मा मोक्षदशा में परब्रह्म से भिन्न रहता है, ब्रह्मस्वरूप नहीं। इस पृष्ठभूमि पर शिष्य जिज्ञासा करता है, अध्यात्मशास्त्रों में ऐसे वर्णन हैं, जिनसे मोक्ष में जीवात्मा की ब्रह्मरूपता प्रतीत होती है 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' [बृ० ४।४।६] इत्यादि। इसका सामञ्जस्य कैसे होगा ? सूत्रकार ने समाधान किया—

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥२७॥

[उभयव्यपदेशात्] दोनों कथन होने से [तु] तो [अहिकुण्डलवत्] अहिकुण्डल के समान। शास्त्रों में दोनों प्रकार का कथन होने से अहिकुण्डल के समान उसका स्पष्टीकरण होजाता है।

इस विषय में 'अहिकुण्डल' दृष्टान्त की यथार्थता को विचारना चाहिये। 'अहि' का अर्थ सांप है। सांप स्वभावतः रस्सी की तरह का एक लम्बे शरीर का प्राणी है। यह ध्यान रखना चाहिये, कि दृष्टान्त सदा विवक्षित अंश में अभिप्रेत होता है, उसकी प्रत्येक स्थिति की तुलना चालू प्रसंग में नहीं कीजाती। सांप स्वभावतः लम्बे आकार का होता हुआ भी प्रायः कुण्डल मारकर बैठता है। यह उसकी एक तात्कालिक स्थिति है, तब भी उसका वास्तविक स्वरूप निर्बाध बना रहता है। इस दृष्टान्त के अनुसार परब्रह्म अहिस्थानीय है, वह आनन्दस्वरूप है। मोक्ष में जीवात्मा के द्वारा उस आनन्द का अनुभव करना 'कुण्डल' स्थानीय है। सर्प जब कुण्डली मारकर बैठता है, तब वह कुछ संकुचित प्रतीत होता है, मोक्ष में आत्माद्वारा अनुभूत उस आनन्द की स्थिति को इससे तुलना किया गया है। आनन्द सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी है, पर परिच्छिन्न अल्पज्ञ अल्पशक्ति आत्माद्वारा उसकी अनुभूति सर्पकुण्डल के समान संकुचित है; फिर भी वह आनन्दस्वरूप से सदा अबाध निर्विकल्प बना रहता है। जैसे कुण्डल सर्प का वास्तविक आकार न होते हुए भी उस दशा में सर्प की वस्तुसत्ता अबाध है, वही अवस्था जीवात्माद्वारा आनन्दानुभूति होने पर आनन्द की है। इस भावना से अभेद का वर्णन है; पर जैसे कुण्डल कभी स्वभावतः-स्वरूपतः सर्परूप नहीं, ऐसे ही जीवात्मा कभी आनन्दस्वरूप नहीं, सर्प कुण्डलाकार में देखा जाता है, पर वस्तुतः कुण्डलाकार नहीं; ऐसे ही जीवात्मा आनन्दानुभव करता है, पर स्वरूपतः आनन्द नहीं। इस दृष्टि से उनके भेद का वर्णन है। शास्त्र में दोनों तरह के वर्णनों का इस रूप में सामञ्जस्य समझा जासकता है। मोक्षदशा में जीवात्मा का ब्रह्म के साथ 'अवैशेष्य' कथन का यही अभिप्राय शास्त्रानुगत है ॥२७॥

इस अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने प्रकारान्तर से समझाया—

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥२८॥

[प्रकाशाश्रयवत्] प्रकाश के आश्रय के समान [वा] अथवा [तेजस्त्वात्] तेज

होने से।

प्रकाश के आश्रय जैसे अग्नि विद्युत् सूर्य आदि हैं, वे स्वयं प्रकाशस्वरूप हैं। पर जब वह प्रकाश दूसरी वस्तु पर पड़ता है, तो वह प्रकाशक अर्थात् प्रकाश करनेवाला कहा जाता है। 'प्रकाश' अथवा 'प्रकाशक' पदों से कहाजानेवाला तत्त्व एकमात्र तेज है; फिर भी वह प्रकाश्य वस्तु से अतिरिक्त है। वह वस्तु प्रकाशित होने पर स्वयं प्रकाशस्वरूप नहीं होती। इसीप्रकार ब्रह्म आनन्दरूप है, उस आनन्द से मोक्षदशा में जीवात्मा आनन्दित होता है, तब आनन्दरूप ब्रह्म आनन्द देनेवाला कहा जाता है। इतने से उसके आनन्दस्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता; इसी आधार पर अभेद का वर्णन है। जिस दूसरे पर आनन्द का प्रभाव होता है, अर्थात् मोक्षदशा में जीवात्मा जब उस आनन्द का अनुभव करता है, तब वह आनन्दरूप नहीं होजाता; आनन्द के साथ एकमात्र होकर अभिन्न नहीं होजाता। इस आधार पर शास्त्र में उनके भेद का वर्णन है ॥२८॥

इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने पूर्वोक्त कथन का स्मरण कराया—

पूर्ववद्वा ॥२९॥

[पूर्ववत्] पहले की तरह [वा] अथवा। अथवा पहले कहे हुए के समान प्रस्तुत अर्थ को समझना चाहिये।

इसी प्रकरण [३।२।१६] में पहले कहा गया है—'आह च तन्मात्रम्' ब्रह्म का स्वरूप चेतनमात्र, प्रकाशमात्र अथवा आनन्दमात्र है। वह जीवात्मा की स्थिति में कभी नहीं होता। यदि वह जीवात्मा की अवस्था में आता है, तो वह सर्वज्ञ आनन्दमात्र नहीं रहपाता। इसलिये ब्रह्म जीवात्मा से सदा भिन्न है, यह निश्चित है ॥२९॥

प्रस्तुत अर्थ को पुष्ट करने के लिये आचार्य सूत्रकार ने कहा, जीवात्मा को ब्रह्म होने का शास्त्र में प्रतिषेध उपलब्ध होता है—

प्रतिषेधाच्च ॥३०॥

[प्रतिषेधात्] प्रतिषेध से [च] और। शास्त्र के वर्णन से ज्ञात होता है, कि शास्त्र जीवात्मा के ब्रह्म होने का प्रतिषेध करता है।

छान्दोग्य उपनिषद् [८।१२।३] में कहा—'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' परम ज्योति परब्रह्म को प्राप्त होकर जीवात्मा अपने रूप से अभिनिष्पन्न रहता है, सिद्ध रहता है, वह स्वरूप का परित्याग नहीं करता, आत्मा आत्मा ही बना रहता है, ब्रह्म नहीं होजाता। शतपथ ब्राह्मण [१४।४।२।१७] में बताया—'शृण्वन् श्रोत्रं······मन्वानो मनो भवति' इत्यादि। मोक्षदशा में जब जीवात्मा सुनना चाहता है, अथवा संकल्प आदि करना चाहता है, तो कर सकता है। यदि उस दशा में जीवात्मा ब्रह्म होजाता हो, तो ब्राह्मण ऐसा वर्णन न करता। मोक्षदशा में जीवात्मा की अपनी

स्थिति बनी रहती है। इसीकारण अन्यत्र [तै० २।७] कहा–'रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' वह ब्रह्म रस है, आनन्दस्वरूप है, निश्चय से यह जीवात्मा उस रस को प्राप्त कर आनन्दयुक्त होजाता है। इससे मोक्षदशा में आत्मा और ब्रह्म का अपने-अपने रूप में अवस्थित रहना स्पष्ट होता है।

इस सबके आधार पर 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' [बृ० ४।४।६] इत्यादि वाक्यों का तात्पर्य आत्मा को ब्रह्म बताने में न होकर इतने अंश में है, कि उस दशा में जीवात्मा ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है, संसारप्रपञ्च से तब सर्वथा विनिर्मुक्त है, इसलिये उसका वैसा वर्णन किया गया है। इसी भावना से अन्यत्र [मु० ३।१।३] जीवात्मा का ब्रह्म के साथ परम समभाव प्रकट किया है–'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'। यदि ऐसा न माना जाय, तो उक्त वाक्य में 'उपैति' क्रिया का सामञ्जस्य कैसे होगा ? प्राप्त होना अथवा उसमें डूब जाना भेद मानने पर संभव होसकता है।

२७वें सूत्र से यहां तक के चार सूत्रों की व्याख्या निम्नप्रकार भी संभव है।

शिष्य जिज्ञासा करता है, मूर्त्त और अमूर्त्त से विलक्षण तथा उनके कारण जिस ब्रह्म का निरूपण किया गया, वह ज्ञानस्वरूप है, अथवा ज्ञान का आश्रय है ? अध्यात्म-शास्त्र में दोनों प्रकार के उल्लेख उपलब्ध हैं। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥

[उभयव्यपदेशात्] दोनों प्रकार के कथन से [तु] तो [अहिकुण्डलवत्] अहि-कुण्डल के समान। दोनों प्रकार के कथन से ब्रह्म को कुण्डलाकार अहि के समान समझना चाहिये।

जैसे कुण्डलस्वरूप में स्थित सर्प 'कुण्डल' तथा 'कुण्डलवाला' दोनों प्रकार से लोक में व्यवहृत होता है; ऐसे ही ज्ञानस्वरूप होता हुआ ब्रह्म ज्ञान का आश्रय तथा ज्ञान-रूप दोनों प्रकार वर्णित किया है। 'ज्ञानं ब्रह्म' [ऐ० ३।१], 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' [तै० २।१], 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' [बृ० ३।९।२८] इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है। तथा 'यो विश्वाऽभि विपश्यति' [ऋ० ३।६२।९], 'यः सर्वज्ञः सर्व-वित्' [मु० १।१।९], 'स विश्वकृद् विश्ववित्' [श्वे० ६।१६] इत्यादि सन्दर्भों से ब्रह्म का ज्ञानाश्रय होना प्रतीत होता है। ब्रह्म वस्तुतः ज्ञानस्वरूप है, परन्तु जब विश्व को उसके ज्ञान का विषय बताया जाता है, तब ऐसा [ज्ञानाश्रयरूप] वर्णन है। फलतः यह वर्णन आपेक्षिक है, विश्वविषयकज्ञान की अपेक्षा से यह वर्णन है। जैसे लम्बा सांप कुण्डलाकार हुआ, 'सांप कुण्डल' है, 'सांप कुण्डल मारे बैठा है' दोनों प्रकार व्यवहृत होता है, ऐसे ब्रह्म का वर्णन 'ज्ञान' व 'ज्ञानाश्रय' दोनों रूप में हुआ है।

सूत्रकार ने अन्य दृष्टान्त से इसी अर्थ को स्पष्ट किया—

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥

[प्रकाशाश्रयवत्] प्रकाश के आश्रय की तरह [वा] अथवा [तेजस्त्वात्] तेज

होने से। प्रकाश के आश्रय तेज की तरह ब्रह्म को ज्ञान का आश्रय समझना चाहिये, क्योंकि ब्रह्म को तेज के समान कहा गया है।

वेद [यजु० २२।१] में कहा–'तेजोऽसि शुक्रममृतम्' हे परमेश्वर! तू अमरण-धर्मा बलशाली तेज है। अन्यत्र [तै० ब्रा० ३।१२।९] कहा–'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' जिस तेज से दीप्त हुआ सूर्य तपता है। अग्नि विद्युत् सूर्य आदि तेज हैं। वह तेज जैसे प्रकाशस्वरूप होता हुआ प्रकाश्य वस्तु के सम्बन्ध से प्रकाशक अर्थात् प्रकाश करनेवाला–प्रकाश का आश्रय कहा जाता है; ऐसे ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ज्ञेय जगत् के सम्बन्ध से ज्ञान का आश्रय–जाननेवाला वर्णित हुआ है। यह सब ज्ञेय जगत् उस ज्ञानस्वरूप परब्रह्म से भिन्न है। इसलिये जगद्विषयक ज्ञान की भावना से उसका 'सर्वज्ञ' 'सर्ववित्' रूप में शास्त्रीय वर्णन युक्त समझना चाहिये।

सूत्रकार उक्त अर्थ को चेतनसाधर्म्य से स्पष्ट करता है—

पूर्ववद्वा ॥

[पूर्ववत्] पूर्व के समान [वा] अथवा। अथवा पूर्व के समान ब्रह्म का निश्चय करलेना चाहिये।

सूत्र में 'पूर्व' पद जीवात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है। वह मध्यम होने से जैसे प्रकृति से 'पर' है वैसे ब्रह्म से 'पूर्व' है। उसका प्रकृति-परमात्मा के मध्य में होना वेदद्वारा प्रमाणित है–'तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः' [१।१६४।१] उस परब्रह्म परमेश्वर का भरणीय-पोषणीय [भ्राता] कर्मफलों का भोक्ता [अश्न] जीवात्मा मध्यम है। इस चालू तृतीयाध्याय से पूर्व द्वितीय अध्याय में जीवात्मा का निरूपण होने से भी पूर्ववर्णित जीवात्मा का ग्रहण सूत्र के 'पूर्व' पद से किया जासकता है। जीवात्मा यद्यपि ज्ञानस्वरूप है, पर शास्त्र में उसका वर्णन द्रष्टा श्रोता घ्राता मन्ता बोद्धा आदि बताकर ज्ञानाश्रय-रूप से किया जाता है [प्र० ४।९], ऐसे ज्ञानस्वरूप ब्रह्म का वर्णन विश्वजगत् के ज्ञातृ सम्बन्ध से–'यो विश्वाभि विपश्यति' [ऋ० ३।६२।९] जो समस्त विश्व को अच्छी-तरह देखता जानता है, इत्यादि वाक्यों द्वारा ज्ञानाश्रयरूप में किया जाता है।

इसी विषय में आचार्य सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

प्रतिषेधाच्च ॥

[प्रतिषेधात्] प्रतिषेध से [च] और। और गुणगुणिभाव के प्रतिषेध से ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप समझना चाहिये।

यद्यपि अल्पमति जिज्ञासुओं के लिये आचार्यों ने गुणगुणिभाव की कल्पना की है, और उससे आपाततः गुण तथा गुणी का परस्पर भेद प्रतीत होता है। प्रारम्भ में पदार्थ को समझने में उससे सुविधा होसकती है, इस भावना से वह ठीक है; पर वस्तुतः इनमें कोई भेद नहीं होता। संभवतः इसीकारण सांख्य में पदार्थमात्र के मूल उपादान-तत्त्व को 'गुण' पद से कहा गया है, जो वेद [अथर्व० १०।८।४३] मूलक है। इसलिये

ब्रह्म को वस्तुस्थिति में ज्ञान का आश्रय न मानकर ज्ञानस्वरूप समझना सर्वथा युक्त है। 'प्रज्ञानं ब्रह्म' [ऐ० ३।१] 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' [तै० २।१] 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' [श्वे० ६।११] इत्यादि सन्दर्भ उसके ज्ञानस्वरूप होने को प्रमाणित करते हैं। जहां अन्य की अपेक्षा से उसके ज्ञान का वर्णन है, उसे अन्यापेक्ष होने के कारण औपचारिक समझना युक्त होगा।

जैसे ब्रह्म ज्ञान-चेतना का आश्रय न होकर ज्ञानस्वरूप है, चेतनस्वरूप है, ऐसे ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, आनन्द का आश्रय नहीं। प्रस्तुत शास्त्र के आरम्भ में [ब्र० सू० १।१।२–१९] ब्रह्म के इसी स्वरूप का वर्णन किया है; वह सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है। चेतनस्वरूप के समान ब्रह्म के आनन्दस्वरूप का शास्त्रों में 'स्वर्यस्य च केवलम्' [अथर्व० १०।८।१], 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' [मुं० २।२।७] 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' [तै० २।७] 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' [तै० ३।६] 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' [बृ० ३।९।२८] इत्यादि सन्दर्भों द्वारा विस्तार के साथ वर्णन है। फलतः उपादानोपादेयरूप इस मूर्त्त-अमूर्त्तलक्षण जगत् से सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म सर्वथा भिन्न है, यह शास्त्रद्वारा प्रमाणित होता है। इसी आधार पर ब्रह्म को अन्यत्र [बृ० २।५।१९] अपूर्व अनपर आदि बताया गया है–'तदेतद् ब्रह्मापूर्व' न उससे कोई पूर्व है न अपर है, न आगे है न पीछे। न उसका कोई अन्दर है न बाहर। यह सब व्यवहार कार्य जगत् में संभव है। ब्रह्म इससे विलक्षण है ॥३०॥

सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म इस सब कार्यकारणरूप जगत् से भिन्न है, यह निश्चय किया गया। अब ब्रह्म से 'पर' अन्य कोई तत्त्व नहीं है, इसका निश्चय करने की भावना से आचार्य ने प्रस्तुत प्रकरण का प्रारम्भ किया। इस पृष्ठभूमि पर शिष्य आशंका करता है, अध्यात्मशास्त्र के अनेक प्रसंगों से यह प्रतीत होता है, कि ब्रह्म से 'पर' कोई अन्य तत्त्व है, उसका सामञ्जस्य कैसे होगा? सूत्रकार ने प्रथम आशंका को सूत्रबद्ध किया—

परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥३१॥

[परं] पर है [अतः] इससे–ब्रह्म से, [सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः] सेतु, माप, सम्बन्ध और भेद के कथन से। ब्रह्म के विषय में सेतु, माप, सम्बन्ध और भेद का कथन होने से प्रतीत होता है, कि ब्रह्म से पर अन्य कोई तत्त्व है।

सूत्र में 'व्यपदेश' पद 'सेतु' आदि सबके साथ जुड़ जाता है, सेतुव्यपदेश, उन्मान-व्यपदेश, सम्बन्धव्यपदेश और भेदव्यपदेश से ज्ञात होता है, कि ब्रह्म से 'पर' अन्य तत्त्व है। सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म से 'पर' अन्य कोई तत्त्व है, यह 'सेतुव्यपदेश' से जाना जाता है। ब्रह्म के विषय में कहा–'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः' [छा० ८।४।१] 'एष सेतुर्विधरणः' [बृ० ४।४।२२] 'यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म' [कठ० १।३।२] 'सेतुं तीर्त्वा' [छा० ८।४।२]। यह जो आत्मा है वह विधारक–मर्यादा में रखनेवाला–सेतु है,

वह अक्षर ब्रह्म है, जो कर्मिष्ठ जीवात्माओं का सेतु है, सेतु से पार होकर; इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म को 'सेतु' कहा गया है। लोक में 'सेतु' पद नदी आदि जल के पुल अथवा बांध आदि के लिये प्रसिद्ध है। यह दूसरे किनारे पर पहुंचाने वाला होता है। जब ब्रह्म ऐसा सेतु है, तो उससे परे प्राप्त होने योग्य कोई अन्य तत्त्व सिद्ध होता है।

उन्मानव्यपदेश से यह अर्थ सिद्ध होता है। 'उन्मान' पद का अर्थ है–माप। वेद के पुरुषसूक्तों में कहा है–'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' [ऋ० १०।६०।३; यजु० ३१।३; अथर्व० १९।६।३], उसका एक पाद समस्त भूत है, और अमृत तीन पाद द्युलोक में। माण्डूक्य उपनिषद् [२] में कहा–'अयमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्' यह सर्वव्यापक तत्त्व ब्रह्म है, यह चार पादवाला है। छान्दोग्य [४।५।२] में 'ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणि' हे सोम्य! तेरे लिये मैं ब्रह्म के पाद [भाग–अंश] कहता हूं, कहकर आगे उसके चार पाद और सोलह कलाओं का वर्णन है। इससे ब्रह्म का माप सिद्ध होता है। जो तत्त्व मापा हुआ है, परिमित है, उससे 'पर' कोई तत्त्व अवश्य सिद्ध होता है। क्योंकि माप तभी संभव है, जब उससे परे कोई अन्य वस्तु हो।

सम्बन्धव्यपदेश ब्रह्म से 'पर' किसी तत्त्व का साधक है। छान्दोग्य [८।१२।३] में कहा–'परं ज्योतिरुपसंपद्य' पर ज्योति को प्राप्त होकर। 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः' [बृ०४।३।२१] प्राज्ञ आत्मा के साथ [illegible] सम्बद्ध है। एक परिमित का सम्बन्ध दूसरे परिमित के साथ होता है, कोई प्राप्ता एक प्राप्तव्य को पाकर आगे दूसरे प्राप्तव्य को पाने का यत्न करता है और पाता है। जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त करता है, दोनों का सम्बन्ध यहां कहा गया है। आगे अन्य प्राप्तव्य नहीं रहा, इसमें कोई प्रमाण नहीं। जैसे ब्रह्म प्राप्तव्य है, आगे अन्य कोई प्राप्तव्य होसकता है, इसप्रकार जीवात्मा का यह ब्रह्म के साथ सम्बन्ध उससे परे अन्य किसी तत्त्व को सिद्ध करता है।

भेदव्यपदेश ब्रह्म से पर किसी तत्त्व का साधक है। वेद [ऋ० १।२२।२१; यजु० ३४।४४] में कहा–'तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत् परमं पदम्' मेधावी सतर्क उपासक आत्मज्ञानी उस पद को पाते हैं, जो परब्रह्म का परम पद है। कठ उपनिषद् [१।३।९] में कहा–'सोऽध्वनः पारमाप्नोति यद् विष्णोः परमं पदम्' वह अध्वा के पार पहुंच जाता है, जो विष्णु का परम पद है। इन वचनों में विष्णु के किसी परम पद का वर्णन है, वह विष्णु-परब्रह्म से अवश्य परे होना चाहिये। छान्दोग्य [१।६।६; १।७।५] में कहा–आदित्य के अन्दर जो पुरुष है, और अक्षि के अन्दर जो पुरुष है, इनके रूप अंग और नाम एक हैं, पर इनका ईश्वरभाव सीमित और क्षेत्र दोनों के पृथक् हैं [छा० १।६।८; १।७।६]। यह वर्णन ब्रह्मविषयक है। जब उसका ईश्वरभाव सीमित व क्षेत्रिक है, तब अवश्य उससे परे अन्य तत्त्व होना चाहिये; अन्यथा ऐसा वर्णन संभव न होगा। इन सब हेतुओं से यह प्रतीत होता है, कि ब्रह्म से 'पर' कोई अन्य तत्त्व होना चाहिये ॥३१॥

आचार्य सूत्रकार ने यथाक्रम इनका समाधान किया—

सामान्यात्तु ॥३२॥

[सामान्यात्] समानता से [तु] तो। यह सेतु-व्यपदेश तो समानता से हुआ है।

ब्रह्म को जो सब लोकों का सेतु बताया है, उसका तात्पर्य ऐसा नहीं, जैसा लोक में सेतु देखा जाता है। उसकी किसी समानता के आधार पर ऐसा निर्देश है। सेतु जलों का विधारण-नियन्त्रण करता है, ब्रह्म समस्त लोकों का विधारण-नियन्त्रण करता है। लौकिक सेतु की इसी समानता से ब्रह्म के लिये सेतु पद का प्रयोग हुआ है। यह भाव पूर्वोक्त सन्दर्भों से स्वतः स्पष्ट होता है—'स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय' [छा० ८।४।१] 'एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय [बृ० ४।४।२२]। जैसे लोक में जल का सेतु—बांध आदि न होने पर जल बिखर जाते हैं, फैल जाते हैं; ऐसे ही परब्रह्म समस्त लोकों का सेतु है, इनका विधारक है, नियन्त्रण में रखने वाला है, यदि ऐसा न हो, तो ये लोक बिखर जायें, छिन्न-भिन्न होजायें। फलतः जल के समान सब लोकों को नियन्त्रण में रखने की समानता से ब्रह्म को 'सेतु' कहा गया है। इसलिये सेतुव्यपदेश से कोई ऐसा तत्त्व सिद्ध नहीं होता, जो ब्रह्म से पर हो ॥३२॥

आचार्य सूत्रकार यथाक्रम 'उन्मानव्यपदेशात्' हेतु के विषय में समाधान प्रस्तुत करता है—

बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥३३॥

[बुद्ध्यर्थः] जानने के लिये [पादवत्] पाद के समान। लोकसिद्ध पाद—अंश के समान जो ब्रह्म का व्यपदेश है, वह उसे जानने के लिये है।

सूत्र में 'बुद्धि' पद का अर्थ 'जानना' है। लोक में जैसे एक बड़े सिक्के रुपये के मूल्य को समझने के लिये उसके छोटे अंशों का मूल्य जानलेना आवश्यक होता है, उनके जानलेने पर रुपये का मूल्य सुगमता से जानलिया जाता है; ऐसे मूर्त्त-अमूर्त्तरूप जगत् से भिन्न परमसूक्ष्म परब्रह्म का समझना सर्वसाधारण के लिये अत्यन्त कठिन होता है। यद्यपि सामने दीखते विश्व को समझना भी अति कठिन है, पर जब यह कहा जाता है, कि यह समस्त विश्व उस परब्रह्म परमात्मा के एक अंशमात्र के समान है, तो परब्रह्म की अतिशय महानता का कुछ अवभास जिज्ञासु को होजाने की संभावना रहती है। इस रीति पर ब्रह्म को समझने में सुगमता होजाती है, इसीकारण उसके पाद व अंश का वर्णन जहां-तहां हुआ है। छान्दोग्य [४।५।२] के प्रसंग में जो ब्रह्म के चार पाद व सोलह कलाओं का वर्णन है, वह उपासनापूर्वक ब्रह्म के यथार्थस्वरूप को जानने के लिये है। फलतः ब्रह्मविषयक उन्मान—माप का कथन उसके वास्तविक अंशों को नहीं बतलाता; प्रत्युत उसका तात्पर्य ब्रह्म के यथार्थस्वरूप को सुगमता से समझाने में है ॥३३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, ब्रह्म वस्तुतः सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी एकमात्र तत्त्व है, जानने के लिये भी उसमें उन्मान–माप का कथन कैसे उपयुक्त व समञ्जस कहा जासकता है ? जो स्वरूप से अपरिमित है, उसे मित कैसे कहा जाय ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ॥३४॥

[स्थानविशेषात्] स्थानविशेष से [प्रकाशादिवत्] प्रकाश आदि के समान। प्रकाश आदि के समान स्थानविशेष के सम्बन्ध से ब्रह्म में उन्मान–माप का कथन संभव है।

सूत्र में 'आदि' पद से आकाश का ग्रहण है। सूर्य का प्रकाश जैसे अत्यधिक व्याप्त होता हुआ खिड़की, मकान या अन्य किसी स्थानविशेष के कारण सीमितरूप में व्यवहृत होता है, एवं आकाश व्याप्त होता हुआ स्थानविशेष के सम्बन्ध से खण्डरूप में व्यवहृत होता है; ऐसे लोक-लोकान्तर आदि स्थानविशेष के सम्बन्ध से सर्वव्यापक ब्रह्म में माप का व्यवहार औपचारिकरूप से होजाता है। इस विषय के वैदिक वर्णनों का ऐसा ही तात्पर्य समझना चाहिये, क्योंकि सर्वव्यापक एकमात्र ब्रह्म में वस्तुस्थिति से उन्मान–माप का वर्णन असंभव है। अन्यथा शास्त्रवचनों का असामञ्जस्य होगा। ऐसे वचनों के निगूढ़ तात्पर्य पर ध्यान देना अपेक्षित होता है ॥३४॥

क्रमप्राप्त 'सम्बन्धव्यपदेश' और 'भेदव्यपदेश' इन दोनों आक्षेप हेतुओं का समाधान आचार्य सूत्रकार अग्रिम एक सूत्र से प्रस्तुत करता है—

उपपत्तेश्च ॥३५॥

[उपपत्तेः] उपपत्ति से–सिद्ध होने से [च] और। जीव और ब्रह्म के सम्बन्धव्यपदेश तथा भेदव्यपदेश के सिद्ध होने से ये हेतु ब्रह्म से परे किसी तत्त्व के साधक नहीं।

'परं ज्योतिरुपसंपद्य' [छा० ८।१२।३] अथवा 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः' [बृ० ४।३।२१] इत्यादि वाक्यों द्वारा जीव-ब्रह्म का जो संबन्ध प्रकट किया है, वह सर्वथा उपपन्न है, प्रमाणसिद्ध है। यहाँ जीवात्मा ब्रह्म का प्राप्ता है और ब्रह्म प्राप्तव्य है। इससे यह किसीप्रकार प्रमाणित नहीं होता, कि सम्बन्ध सदा दो परिच्छिन्न तत्त्वों का संभव है। न यह प्रमाणित होता है कि प्राप्तव्य ब्रह्म से 'पर' कोई तत्त्व अवश्य होना चाहिये। ब्रह्म अपरिच्छिन्न है, सर्वव्यापक है, सर्वान्तर्यामी है, यह शास्त्रद्वारा पूर्णरूप से प्रमाणित है–'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा, कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' [श्वे० ६।११] वह एकमात्र देव सब जड़-चेतन तत्त्वों में व्याप्त है, सबका साक्षी है, प्रकृति से भिन्न है। जो तत्त्व अपरिच्छिन्न एवं सर्वव्यापी है, उससे 'पर' होने की कल्पना ही असंभव है। अन्यथा उसकी सर्वव्यापिता को तिलाञ्जलि देनी होगी। अतः जीव-ब्रह्म का प्राप्तृ-प्राप्तव्यभाव सम्बन्ध प्रमाणसिद्ध है,

वेदादि शास्त्रों ने इसे स्वीकार किया है। ब्रह्म से परे किसी तत्त्व का यह साधक नहीं।

भेदव्यपदेश भी ब्रह्म से परे किसी तत्त्व को सिद्ध नहीं करता। 'यद्विष्णोः परमं पदम्' [ऋ० १।२२।२१; कठ० १।३।६] इत्यादि सन्दर्भों में–विष्णु का जो परम पद है–इस 'विष्णोः' पद की षष्ठी विभक्ति को देखकर यह कल्पना की गई, कि विष्णु का वह 'पद' विष्णु से भिन्न है, क्योंकि षष्ठी विभक्ति का प्रयोग साधारणरूप से 'भेद' अर्थ में होता है। वस्तुतः विष्णु का पद अर्थात् ब्रह्म का पद, ब्रह्म का स्वरूप ही है; वह परम है, सर्वोत्कृष्ट है, यही तथ्य इन सन्दर्भों द्वारा प्रकट किया है। किसीका स्वरूप उससे कभी भिन्न नहीं होसकता। अभेद में भेद की कल्पना करके षष्ठीविभक्ति का प्रयोग प्रायः देखा जाता है, 'राहोः शिरः' 'पुरुषस्य चैतन्यम्' इत्यादि प्रयोगों को प्रामाणिक माना जाता है। आत्मज्ञानी अध्वा के पार ब्रह्म के उस परम पद को प्राप्त करलेता है [कठ० १।३।६], इत्यादि वर्णन प्रकट करता है, कि ब्रह्म सबसे पर है। ब्रह्म को जानने के जो साधन हैं, वही अध्वा है मार्ग है, वह अध्वा उस समय पूरा होजाता है, जब ब्रह्म का साक्षात्कार होजाय। यही ब्रह्म की प्राप्ति है, यही उसका परम पद है, 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' [यजु० ३१।१८] उसीको जानकर संसार के बन्धन से पार आत्मा जाता है, अन्य कोई मार्ग उस परम पद को प्राप्त करने का नहीं है। ऐसे अभिप्राय से यह भेदव्यपदेश है; इससे सिद्ध नहीं होता, कि ब्रह्म से परे कोई तत्त्व होना चाहिये।

छान्दोग्य [१।६।६–८; १।७।५–६] में अक्षिपुरुष तथा आदित्यपुरुष का जो वर्णन है, वह ब्रह्मपुरुष की सर्वव्यापिता को प्रकट करता है। अक्षि-अभिलक्षित आत्माधिष्ठित देह में जो पुरुष है, वही आदित्य आदि लोक-लोकान्तरों में है, वह एकमात्र ब्रह्मतत्त्व सर्वत्र परिपूर्ण है, यही उक्त वर्णन का तात्पर्य है। उनके किसी सीमित शासनप्रदेश का बतलाना उपनिषद् का तात्पर्य नहीं है। मानव आदि देहों में जीवात्मा का जो अस्तित्व है, वह वहां अधिष्ठाता होकर बैठा है, वह अपने कर्म करने में स्वतन्त्र और फलभोग में परापेक्ष रहता है; यह भाव उपनिषद् के इस प्रसंग में अधिदैवत और अध्यात्मभेदद्वारा प्रकट किया गया है। यह वर्णन ब्रह्म से अतिरिक्त किसी परतत्त्व का साधक नहीं है ॥३५॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त अर्थ को पुष्ट करने के लिये कहा–शास्त्र ब्रह्म से परे किसी तत्त्व के होने का स्पष्ट प्रतिषेध करता है—

तथाऽन्यप्रतिषेधात् ॥३६॥

[तथा] और [अन्यप्रतिषेधात्] अन्य के प्रतिषेध से। तथा शास्त्र में ब्रह्म से पर अन्य किसीके प्रतिषेध किये जाने से ब्रह्म से परे कोई तत्त्व नहीं, यह निश्चित होता है।

कठ उपनिषद् [१।३।११] में स्पष्ट कहा–'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा

सा परा गतिः' ब्रह्मपुरुष से पर कोई तत्त्व नहीं है, वह परत्व की काष्ठा है, गतिशील संसारी आत्माओं की वह परा गति है, सबसे अन्तिम प्राप्ति है; उसके आगे अन्य प्राप्ति की संभावना नहीं। ऋग्वेद [१०।१२९।२] में इसी अर्थ को कहा–'तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास' उस परब्रह्म से पर अन्य कुछ नहीं रहता। परब्रह्म के इस सर्वव्यापी भाव को प्रकट करने के लिये अन्यत्र कहा–'यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्' [श्वे० ३।९] जिससे पर और अपर कुछ नहीं है। सर्वव्यापी ब्रह्म में पर-अपर का व्यवहार संभव नहीं; तब उससे परे किसी तत्त्व की कल्पना करना सर्वथा निराधार है। अन्यत्र कहा–'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरम्' [बृ० २।५।१९] वह यह ब्रह्म है, जिससे न कोई पूर्व है न पर है। यह इसीलिये कहा जासकता है, कि वह सर्वत्र परिपूर्ण है।

'पर' पद का प्रयोग उत्कृष्ट अर्थ में भी होता है। प्रथम उद्धृत सन्दर्भों में यह अर्थ अवभासित है। अर्थ की इस भावना से श्वेताश्वतर [६।९] में कहा–'न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके न चेशिता' न उसका कोई पति है, न उसपर शासन करने वाला। वह सत्ता सबसे पर है, सर्वोत्कृष्ट है। वही सबका पति है और सबका शासिता है। 'प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि' [मनु० १२।१२२] सबके प्रशासिता अति-सूक्ष्म दुर्ज्ञेय ब्रह्म को जानने का यत्न करना चाहिये। इन सब शास्त्रीय वचनों के आधार पर निश्चित होजाता है, कि ब्रह्म से पर अन्य कोई तत्त्व नहीं है ॥३६॥

प्रकरण का उपसंहार करता हुआ आचार्य सूत्रकार कहता है—

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥३७॥

[अनेन] इससे [सर्वगतत्वं] सर्वगत–सर्वव्यापक होना [आयामशब्दादिभ्यः] विस्तार के शब्द आदि से। इस प्रतिषेध के द्वारा ब्रह्म का सर्वव्यापक होना सिद्ध होता है, क्योंकि इस विषय में विस्तारवाचक शब्दों का प्रयोग हुआ है।

'अनेन' पद से सूत्रकार गतसूत्रद्वारा किये गये प्रतिषेध का अतिदेश करता है। ब्रह्म से पर किसी तत्त्व के होने का प्रतिषेध कर दिये जाने से ब्रह्म का सर्वव्यापी होना सिद्ध होता है। इसप्रकार के ब्रह्मविषयक वर्णनों में ब्रह्म के लिये विस्तारवाचक शब्दों का प्रयोग है। व्यापी अर्थ को कहनेवाले शब्द विस्तारवाचक हैं–पर, ज्यायान्, विभु आदि। वेदों में वर्णन है–'परो दिवा पर एना पृथिव्याः' [ऋ० १०।८२।५; यजु० १७।२९] वह द्युलोक और पृथिवीलोक इन सबसे 'पर' है। 'एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः' [ऋ० १०।९०।३; यजु० ३१।३; अथर्व० १९।६।३] यह सब विश्व तो केवल उसकी महिमा है, वह पुरुष इससे 'ज्यायान्' है, बहुत बड़ा है। छान्दोग्य [३।१४।३] में कहा–'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' वह पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ और इन सभी लोक-लोकान्तरों से 'ज्यायान्' है, महान है। शतपथ ब्राह्मण [१०।६।३।२] में कहा–'ज्यायान् दिवो ज्यायानाकाशात्'

वह द्युलोक और आकाश से 'ज्यायान्' है। यजुर्वेद [३२।८] में बताया–'स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु' वह परमात्मा सर्वव्यापक होता हुआ सब प्रजाओं में ओत-प्रोत है। 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्' [मुं० १।१।६] अत्यन्त सूक्ष्म सर्वत्र व्यापक विभु नित्य परमात्मा को जानने का यत्न करना चाहिये।

'सर्वगत' और 'सर्वव्यापी' शब्दों से अनेकत्र परमात्मा का वर्णन हुआ है। 'सर्वगत' का उदाहरण ऊपर की पंक्ति में आगया। 'सर्वव्यापी' पद से वर्णन किया–'सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्' [श्वे० १।१६] जैसे दूध के प्रत्येक कण में घी व्याप्त रहता है, ऐसे विश्व के समस्त कण-कण में व्याप्त परमात्मा को जानना अभीष्ट है, जो निगूढ ब्रह्म सबसे पर है। इन सब तथा ऐसे अनेक अन्य प्रमाणवाक्यों से निश्चित होता है, कि परब्रह्म परमात्मा सर्वगत–सर्वव्यापक है; वह सबसे पर है, उत्कृष्ट है; उससे परे अन्य कोई तत्त्व नहीं है ॥३७॥

ब्रह्म की सर्वव्यापिता का निश्चय होजाने पर आचार्य सूत्रकार कहता है, कि ऐसी स्थिति होने से ब्रह्म सब जीवात्माओं के कर्मों का फलप्रदाता होता है—

फलमत उपपत्तेः ॥३८॥

[फलं] फल [अतः] इससे [उपपत्तेः) उपपत्ति–युक्ति से। सर्वव्यापक परमात्मा से जीवात्माओं के कर्मों का फल प्राप्त होता है; उपपत्ति–युक्ति से यह सिद्ध है।

जीवात्मा जो शुभाशुभ कर्म करता है, उनके फलों की प्राप्ति का नियमन परब्रह्म के अधीन है। कोई अशुभ करके उनका फल भोगना नहीं चाहता। फिर जीवात्मा अल्पज्ञ अल्पशक्ति है, वह उन सब साधन व सामग्री आदि को अपने सामर्थ्य से प्रस्तुत नहीं करसकता, जो फल भोगने के लिये अपेक्षित हैं। उसे अपने समस्त कर्मों का बोध भी नहीं रहता, तब भोगेगा कैसे? कर्म तात्कालिक हैं, वे स्वयं कालान्तर में तथा जड़ होने के कारण फल उत्पन्न नहीं करसकते। कर्मजन्य धर्म-अधर्म जड़ होने से स्वयं फलप्रदान में अक्षम रहते हैं। ब्रह्म सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापक है, सर्वज्ञ चेतन है, इसकारण वह जीवात्माओं के कर्मफलों की व्यवस्था करने में समर्थ है। ब्रह्म जगत् के जन्म आदि का कारण है, वह संसार की रचना जीवात्मकर्मों की अपेक्षा रखते हुए इस रीति पर करता है, कि विविध शुभाशुभ कर्मों के फलों को सुविधा के साथ भोगा जासके। इस स्थिति को सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जानसकता, कि अमुक कर्म का फल कब कहां किस रीति पर किन साधनों द्वारा किन परिस्थितियों में भोगा जाना है। जो इस सबकी व्यवस्था करता है, वही कर्मफलों का प्रदाता है; कर्मों के अनुसार फलों का वितरण करता है। विश्व में समस्त ऐश्वर्य व विभूतियों को परब्रह्म ने निहित किया है; आत्मा अपनी कमाई के अनुसार उसमें से अपना भाग प्राप्त करता रहता है। यह सब ब्रह्मद्वारा कीगई व्यवस्था से चलता है; इसलिये वही कर्मफलप्रदाता है, यह युक्त

है। यह स्थिति ब्रह्म के सर्वव्यापक होने के कारण उपपन्न होती है ।।३८।।

शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या यह केवल युक्ति से सिद्ध होता है, अथवा इसमें श्रुति आदि प्रमाण हैं ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

श्रुतत्वाच्च ।।३९।।

[श्रुतत्वात्] श्रुत होने से [च] भी। न केवल उपपत्ति से, अपितु श्रुत होने से भी ब्रह्म फलप्रदाता सिद्ध होता है।

वेद तथा अन्य वैदिक साहित्य के आधार पर यह प्रमाणित होता है, कि केवल ब्रह्म समस्त प्राणियों के लिये उनके उपयुक्त विविध साधनों की व्यवस्था करता है। ऋग्वेद [१।१।६] में कहा–'यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत् तत् सत्यमङ्गिरः' प्रकाशस्वरूप सर्वज्ञ परमात्मा प्राणीमात्र के लिये कल्याण का करनेवाला है। वह सर्वान्तर्यामी है, सुख का विस्तार करनेवाली उसकी ही यह सच्ची व्यवस्था है। आत्माओं के कर्मफलप्रदानरूप में वह सबका कल्याण करता है। अन्यत्र कहा–'अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्' [ऋ० १०।४८।१] प्राणिमात्र के लिये मैं भोजन [भोग्य पदार्थों] का वितरण करता हूं। 'अहं दधामि द्रविणं हविष्मते' [ऋ० १०।१२५।२] जिसने अपने आपको अन्यों के लिये अर्पण कर दिया है, उसके लिये सब ऐश्वर्य मेरे पास हैं। यजुर्वेद [३६।८] में कहा–'शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे' हमारे दोपायों चोपायों के लिये सदा कल्याण प्राप्त हो। यह सबके कल्याण के लिये परब्रह्म से प्रार्थना है। इससे स्पष्ट है, वह कर्मफलप्रदानद्वारा सबका कल्याण करता है। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।२४] में कहा–'स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानः' वह सर्वव्यापक नित्य परमात्मा 'अन्नाद' है, समस्त भोग्यपदार्थों को सबप्रकार देनेवाला है, वह प्राणियों के लिये धनों-ऐश्वर्यों का दान करता है। इसीलिये श्वेताश्वतर [६।११] में उसे सब कर्मों का अध्यक्ष कहा गया है, क्योंकि कर्मों का फलप्रदान उसीके अधीन है ।।३९।।

आचार्य सूत्रकार ने उक्त विषय में जैमिनि के विचार को प्रस्तुत किया—

धर्मं जैमिनिरत एव ।।४०।।

[धर्मं] धर्म को [जैमिनिः] जैमिनि आचार्य [अतः, एव] इससे ही, इस पूर्वोक्त हेतु से ही। श्रुतत्वात्–श्रुति में कहे जाने हेतु से ही आचार्य जैमिनि फल देने में धर्म को प्रधान मानता है।

सूत्र में 'धर्म' पद 'अधर्म' तथा सब संस्कारों का उपलक्षण है। विचारणीय यह है, कि ब्रह्म कर्मों की अपेक्षा के विना फल देता है, अथवा कर्मों की अपेक्षा से ? कर्मों की अपेक्षा न कर अपनी इच्छा से फल देने में तो ब्रह्म में वैषम्य-नैर्घृण्य आदि दोषों की प्राप्ति होगी। किसीको सुखी किसीको दुःखी आदि वह स्वयं बनाता है, तो वह

पक्षपाती व निर्दय होजाता है। यदि कर्मों की अपेक्षा से फल देता है, तो कर्मद्वारा स्वतः फल मिलजायगा; बीच में ब्रह्म को फलदातारूप से मानने की क्या आवश्यकता है ? शास्त्र में अनेक वर्णन ऐसे हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है, कि फल पुण्य अथवा अपुण्य-कर्म से मिलता है। कठ उपनिषद् [२।२।७] में कहा–'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्' आत्मा शरीर प्राप्त करने के लिये विविधयोनियों में प्राप्त होते हैं, कोई स्थावर योनि में जाते हैं, यह सब कर्म और अपने उपार्जित विज्ञान के अनुसार हुआ करता है। अन्यत्र कहा–'पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' [बृ० ४।४।५] पुण्यकर्म से पुरुष पुण्यवाला–सुखी होता है, पापकर्म से दुःखी। इन वचनों से स्पष्ट है, कि सुख और दुःख के देनेवाले पुण्य और पाप हैं; इसलिये फल प्रदान में उन्हींको प्रधान मानना चाहिये ॥४०॥

आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में अपना विचार प्रस्तुत किया—

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥४१॥

[पूर्वं] पहला [तु] तो [बादरायणः] बादरायण [हेतुव्यपदेशात्] हेतु बताये जाने से। बादरायण का कहना है, कि पहले कहा ब्रह्म फलप्रदान में प्रधान कारण मानना चाहिये; क्योंकि वह समस्त विश्व के जन्मादि का हेतु है।

सब शास्त्र ब्रह्म को कार्यमात्र का हेतु मानते हैं, और ऐसा वर्णन करते हैं; इसलिये कर्मफलों का प्रदाता भी ब्रह्म को मानना युक्त है। माण्डूक्य उपषिद् [६] में ब्रह्म को सबका कारण बताया–'एष योनिः सर्वस्य'। श्वेताश्वतर [६।६] में कहा–'स कारणं करणाधिपाधिपः' वह सबका कारण है, और करण–इन्द्रियों का जो अधिप आत्मा है, वह उन आत्माओं का भी अधिपति है। बृहदारण्यक [५।६।१] में कहा–'सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च' वह सबका नियन्ता है, अधिपति है; जो कुछ यह है, उस सबका वह प्रशासन व संचालन करता है। यजुर्वेद [३६।८] में बताया–'इन्द्रो विश्वस्य राजति' परमात्मा सबका नियन्ता है। इसके अनुसार बृहदारण्यक में कहा–'स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानां राजा' [२।५।१५]।

समस्त विवेचन का तात्पर्य यह है, कि फलप्रदान में कर्मों की उपेक्षा नहीं होती, कर्मों के अनुसार परमात्मा फलप्रदान करता है। परन्तु कर्म स्वतन्त्ररूप से फल-प्रदान नहीं करसकते, क्योंकि वे जड़ हैं, चेतन ब्रह्म से नियन्त्रित कर्म फलों के निमित्त होते हैं; इसलिये मुख्यरूप में ब्रह्म को फलप्रदाता माना गया है, इसके अतिरिक्त वह समस्त विश्व का हेतु है, जिस रूप में वह सबका हेतु है, उसी रूप में वह कर्मफलों के देने का हेतु है। जैमिनि और बादरायण के विचारों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जैमिनि कर्मों की कारणता पर बल देना चाहता है, क्योंकि ब्रह्म कर्मों का फलप्रदाता है, वह भी फलप्रदान में कर्मों की अपेक्षा करता है। बादरायण का केवल इतना तात्पर्य

है, कि कर्म जड़ होने से स्वतः फलरूप से परिणत होने में असमर्थ रहते हैं; अतः चेतन होने तथा कार्यमात्र का हेतु होने से मुख्यरूप में ब्रह्म को फलप्रदाता मानना प्रमाण-संगत है। फलप्रदान की निमित्तता से कर्मों को हटाया नहीं जासकता, क्योंकि फल तो कर्मों का मिलना है। कर्मचारी को पारिश्रमिक व्यवस्थानुसार स्वामी देता है, परिश्रम स्वतः फलरूप नहीं बनता, पर वह पारिश्रमिकरूप फल परिश्रम के अनुसार होता है। फलप्राप्ति में उस परिश्रम की उपेक्षा नहीं कीजासकती ॥४१॥

इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः।

अथ तृतीयाध्याये तृतीयः पादः।

गतग्रन्थ में ब्रह्म के स्वरूप का विविधप्रकार से ऊहापोहपूर्वक विवेचन प्रस्तुत किया गया; अब ब्रह्म की उपासना के विषय में विचार किया जाता है। विभिन्न उपनिषदों में ब्रह्म की विविध उपासनाओं का वर्णन है। विचारणीय है, कि वे उपासना क्या एकदूसरे से भिन्न हैं, अथवा वास्तविकरूप में सब एक हैं ? यदि वे भिन्न हैं, तो एक उपासना में जो विशेषता कही गई है, उसका दूसरी में उपसंहार अर्थात् संग्रहण नहीं होगा; यदि वे सब एक हैं, तो एक की विशेषता का दूसरे में संग्रहण होजायगा, उपासनाविषयक इस विचार का यही प्रयोजन है। उपनिषद् आदि अध्यात्मशास्त्रों में 'उपासना' के लिये 'विद्या' 'विज्ञान' 'उपासन' 'प्रत्यय' आदि पदों का व्यवहार होता है। दहर, शाण्डिल्य, वैश्वानर आदि अनेक विद्याओं–उपासनाओं–का उल्लेख होने से उनके नाम, फल तथा रूप आदि में भेद देखा जाता है। उनकी एकता का निर्णय करने की भावना से सूत्रकार ने इस पाद का आरम्भ किया। उक्त विषय में अपना निश्चित विचार प्रकट करने के लिये प्रथम सूत्र कहा—

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥१॥

[सर्ववेदान्तप्रत्ययं] सब वेदान्तों–उपनिषदों से प्रतीत होनेवाली–जानी गई उपासना एक हैं, [चोदनाद्यविशेषात्] चोदना–विधि आदि के अविशेष–भेद न होने से। उपनिषदों में जो विभिन्न उपासना बताई गई हैं वे एक हैं; क्योंकि उनके विधायक वाक्य [विधि–चोदना] आदि में कोई भेद नहीं है।

उपनिषदों में ब्रह्म की उपासनाओं के जो वर्णन हैं, उनके भेद के अनेक आधार कहे जासकते हैं। नामों का भिन्न होना एक निमित्त है, जैसे दहर, शाण्डिल्य, वैश्वानर,

उद्गीथ आदि। उपासनाओं का प्रतिपादन करनेवाले उपनिषदों का परस्पर भेद अन्य कारण है। उपासनाओं के फलों का भेद तीसरा कारण होसकता है। उपास्य का भेद भी उपासनाओं के भेद का कारण संभव है। इन सब भेदसाधनों का विवेचन यथावसर आगे किया गया है। प्रस्तुत सूत्र से आचार्य अपना यह निश्चित विचार प्रकट कर देना चाहता है, कि समस्त उपनिषदों में ब्रह्मोपासन का जो वर्णन है, उसमें एकमात्र ब्रह्म के उपास्य होने के कारण उपासनाओं में कोई भेद नहीं समझना चाहिये। इनमें जो आपाततः भेद प्रतीत होता है, उसका कारण है, विभिन्न उपनिषदों में ब्रह्म की विविध विशेषताओं को लेकर उन-उन उपासनाओं का वर्णन होना। जब उन विशेषताओं–गुणों–का एकदूसरे में समाहार करलिया जाता है, तो वे सब उपासना एकरूप में आजाती हैं, उनमें कोई भेद नहीं रहता। इसी तथ्य को आचार्य ने सूत्र के हेतुपद से प्रकट किया है। 'चोदना' पद का अर्थ है, विधि–किसी अर्थ का विधायक [विधान करने-वाला] पद। जैसे–'उपासीत, वेद, ध्यायीत, द्रष्टव्यः, निदिध्यासितव्यः, इत्यादि पद हैं। प्रत्येक उपनिषद् में समानरूप से ब्रह्मोपासना के लिये इनका प्रयोग हुआ है। इससे निश्चित होता है, सर्वत्र उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्मोपासन एकरूप है, अभिन्न है।

सूत्र के 'आदि' पद से उपासनाओं के फल व उपास्य के रूप का ग्रहण होता है। विभिन्न उपासनाओं के फल में कोई भेद नहीं। सबका फल ब्रह्मज्ञान है। जैसे सर्वत्र विधि समान है, ऐसे सब उपनिषदों में समानरूप से ब्रह्मज्ञान को उपासनाओं का फल बताया है। उपास्यरूप से एकमात्र ब्रह्म के स्वरूप में किसीप्रकार के भेद की संभावना नहीं, इसलिये उपासनाओं का भेद अमान्य है। फलतः उपनिषदों में सब उपासनाओं को एकरूप मानना प्रमाणसंगत है। यह व्यवस्था उन उपासनाओं केलिये है, जो विभिन्न उपनिषदों में एक नाम से बताई गई हैं, जैसे पञ्चाग्निविद्या, प्राणविद्या आदि ॥२॥

शिष्य आशंका करता है, विभिन्न उपनिषदों में उपासना यदि एकरूप हैं, तो एक जगह कह देने से फिर अन्यत्र उन्हें क्यों कहा गया? ऐसा कथन पुनरुक्त दोष से दूषित होता है। आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥२॥

[भेदात्] भेद से [न] नहीं, [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहो तो वह ठीक) [न] नहीं, [एकस्याम्] एकमें [अपि] भी। प्रतिपादक अथवा विशिष्ट वर्णन के भेद से उपासनाओं में भेद है, यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा भेद एक में भी संभव है।

विधि आदि की समानता से उपनिषदों में सर्वत्र वर्णित ब्रह्मोपासन अभिन्न हैं, एकरूप हैं, यह कथन युक्त प्रतीत नहीं होता; क्योंकि विभिन्न उपनिषदों में उपासनाओं का भेद स्पष्टरूप से प्रतीत होता है। छान्दोग्य [५।१०–१७] में वैश्वानर विद्या का वर्णन है, जो उसी [छा० ८।१।१] में वर्णित दहरविद्या के साथ मेल नहीं खाती;

इनसे भिन्न बृहदारण्यक [२।५।१–१६] में मधुविद्या का वर्णन है। ये सब उपासना परस्पर भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त छान्दोग्य [५।१०।१०] में वर्णित पञ्चाग्निविद्या में केवल पांच अग्नि कही हैं; परन्तु बृहदारण्यक [६।२।१४] में वर्णित इसी उपासना में छह अग्नि उल्लिखित हैं। यह स्पष्ट भेद इन उपासनाओं में देखा जाता है, इसलिये इनको एकरूप मानना प्रमाणसंगत प्रतीत नहीं होता।

आचार्य सूत्रकार ने बताया, इसप्रकार के भेद उपासना की वास्तविक एकरूपता में कोई अन्तर नहीं डालते। प्रथम यह जानलेना आवश्यक है, कि उपासना की एकरूपता क्या है? उपनिषदों में सर्वत्र एकमात्र ब्रह्म की उपासना का वर्णन है, यही उपासना की एकरूपता है। एक बात को विभिन्न स्थानों में प्रकारान्तर से कहदेने पर उसमें किसी तरह के भेद का अवकाश नहीं होता। यदि एक बात को देवदत्त मथुरा में यज्ञदत्त को कहता है; तो उसी बात को दिल्ली में विष्णुमित्रद्वारा देवमित्र को कहने पर कोई पुनरुक्त दोष नहीं होता। विभिन्न उपनिषदों में ब्रह्मोपासन के विषय में ऐसी ही स्थिति है। वैश्वानर, दहर, उद्गीथ, शाण्डिल्य, मधु आदि नामों से जिन विद्याओं–उपासनाओं का उल्लेख हुआ है, उनके ये विभिन्न नाम किन्हीं विशेष प्रासंगिक निमित्तों के आधार पर रख दिये गये हैं; उपासना का लक्ष्य एकमात्र ब्रह्म है, और फल सबका समान है, यह उन उपासनाओं के उपसंहार-प्रसंग से स्पष्ट है। उपासना के लिये ब्रह्मस्वरूप को स्पष्ट करने की भावना से किन्हीं विभिन्न प्रकारों का आश्रय भले लिया जाय, वह उपासना की पूर्वोक्त एकरूपता को विच्छिन्न नहीं करता।

पञ्चाग्निविद्या तथा इसीतरह अन्यत्र भी यदि कहीं किन्हीं गुणों का न्यूनाधिक कथन होता है, तो उससे उपासना की मूलभावना में कोई अन्तर नहीं आता। दोनों स्थलों में पांच अग्नियों का उल्लेख है। ये अग्नि तथा उनमें समिधा आदि सब कल्पनामूलक हैं; अन्त्येष्टि के अग्नि में कल्पना की निवृत्ति के लिये उसका वर्णन अग्नि और समिधा आदि की यथार्थता के रूप में किया है, छठे अग्नि के ध्यान आदि के लिये नहीं। ऐसे अग्नि का वर्णन बृहदारण्यक [६।२।१४] के समान छान्दोग्य [५।६।२] में भी हैं; तब उपासना के भेद का कोई आधार नहीं रहता। यदि अधिक कहे गुण को उपासना का अंग माना जाता है, तो उसका जहां कथन नहीं हुआ, वहां उपसंहार समझलेना चाहिये, उसे वहां जोड़ लेना–मिला लेना अभीष्ट है। अपेक्षित स्थलों में गुणों के उपसंहार से समस्त उपासनाओं के सामञ्जस्य की स्थापना के लिये सूत्रकार ने इस प्रसंग का प्रारम्भ किया है; इसी आधार पर यह पाद [३।३] 'गुणोपसंहारपाद' नाम से व्यवहृत होता है। फलतः प्रक्रियागत इतनी साधारण न्यूनाधिकता से उपास्य का भेद नहीं होता, न उसके अनुसार उपासना का भेद। इसप्रकार ब्रह्मोपासन में समस्त शास्त्र की एकरूपता निश्चित होती है ॥२॥

शिष्य आशंका करता है, उक्तरूप से भले ही उपासना में भेद न हो, पर धर्म-

भेद से भेद मानना चाहिये। मुण्डक [३।२।१०] में ब्रह्मविद्या के 'शिरोव्रत' धर्म का कथन है। जो इस धर्म का पालन करता है, वही इस उपनिषद् में वर्णित ब्रह्मोपासना का अधिकारी है, अन्य नहीं। यह व्यवस्था अन्य उपनिषदों में वर्णित उपासनाओं के लिये नहीं है। इससे उपासनाओं में भेद प्रतीत होता है। सूत्रकार ने समाधान किया—

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥३॥

[स्वाध्यायस्य] स्वाध्याय के [तथात्वेन] उसप्रकार से [हि] क्योंकि [समाचारे] सम्यक्—ठीक आचरण होने पर [अधिकारात्] अधिकार से [च] तथा [सववत्] यज्ञ के समान [च] और [तन्नियमः] उसका नियम। क्योंकि उसप्रकार ठीक आचरण होने पर स्वाध्याय के अधिकार से यज्ञ के समान स्वाध्याय में 'शिरोव्रत' का नियम है, ब्रह्मोपासन में नहीं।

मुण्डक उपनिषद् अथर्ववेदीय है। इस उपनिषद् का अध्ययन करने के लिये यह एक व्यवस्थित परम्परा रही है, कि जो 'शिरोव्रत' धर्म का विधिपूर्वक आचरण करता है, उसी को इस उपनिषद् के अध्ययन में अधिकार है। 'एकर्षि' नामक अग्नि में स्वयं श्रद्धापूर्वक हवन करना तथा ब्रह्म को जानने की उत्कट अभिलाषा रखना 'शिरोव्रत' धर्म है; इसका पूर्णरूप से विधिपूर्वक अनुष्ठान करनेवाला जिज्ञासु मुण्डक उपनिषद् के अध्ययन में अधिकारी होता है [मु० ३।२।१०]। यह 'शिरोव्रत' धर्म मुण्डक उपनिषद् के अध्ययन में अधिकार के लिये आवश्यक कहा है, ब्रह्मोपासन के लिये नहीं। जैसे यज्ञ में मन्त्रों के द्वारा देवता के स्मरण का नियम है, ऐसे मुण्डक उपनिषद् के अध्ययन में 'शिरोव्रत' धर्म के विधिवत् आचरण का नियम है।

यद्यपि मुण्डक में उद्धृत उक्त सन्दर्भ [३।२।१०] में 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत' उनको ही ब्रह्मविद्या का उपदेश करे, यह शिरोव्रती के लिये 'ब्रह्मविद्या' के उपदेश का कथन है, तथापि इसका तात्पर्य ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक मुण्डक उपनिषद् के अध्ययन में पर्यवसित है; क्योंकि आगे उपसंहार वाक्य में स्पष्ट कहा है—'नैतदचीर्णव्रतोऽधीते' [मु० ३।२।११] जिसने उक्त 'शिरोव्रत' धर्म का अनुष्ठान नहीं किया, वह इस उपनिषद् के अध्ययन में अधिकारी नहीं है। यहां स्पष्ट 'अधीते' क्रियापद कहकर अध्ययन का निषेध उसके लिये किया है, जो उक्त व्रत का आचरण नहीं करता। फलतः यह धर्मनियम स्वाध्याय अर्थात् उपनिषद् के अध्ययन का है, ब्रह्मविद्या—ब्रह्मोपासना का नहीं; इसलिये इसके आधार पर विभिन्न उपनिषदों में उपासना के भेद का कहना असंगत है॥३॥

आचार्य सूत्रकार उक्त अर्थ को श्रुतिबल से प्रमाणित करने के लिये सूत्र कहता है—

दर्शयति च ॥४॥

[दर्शयति] दिखलाती है [च] और। और श्रुति ब्रह्मोपासना की एकता को

दिखलाती है।

उपासना की एकता का आधार है–उपास्य ब्रह्म का एकमात्र होना। वेद तथा वैदिक साहित्यद्वारा ब्रह्म के एकमात्र होने और केवल उसकी उपासना के विषय में विस्तृत वर्णन है। ऋग्वेद [१।५२।१४] में कहा–'एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक्' एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ने अपने से अतिरिक्त इस समस्त विश्व को अपने नियन्त्रण में किया हुआ है। उसीकी उपासना करनी योग्य है। अन्यत्र [ऋ० ५।८१।१; यजु० ५।१४; ११।४; ३७।२] बताया–'युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः' मेधावी ब्रह्म-जिज्ञासु जन अपने मन और बुद्धि को उस महान सर्वज्ञ उपास्य ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये लगाते हैं। वह समस्त प्राणियों के प्रत्येक कार्य को जाननेवाला एकमात्र तत्त्व है, विश्व के उत्पादक उस देव की अतिशय स्तुति उपासना करनी चाहिये। और कहा–'एतोन्विन्द्रं स्तवाम सखायः स्तोम्यं नरम्। कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत्' [ऋ० ८।२४।१९; अथर्व० २०।६५।१) आओ, हम सब मिलकर विश्व के नेता सञ्चालक उपास्य परमेश्वर की उपासना करें; जो एक ही समस्त विश्व को नियन्त्रित किये है।

इसीप्रकार उपनिषदों में वर्णन किया–'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा' [कठ० २।२।१२] एकमात्र जगन्नियन्ता परमेश्वर समस्त विश्व में अन्तर्यामी होकर व्याप्त है। 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' [श्वे० ६।११] एक देव समस्त विश्व में छिपा है। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति······तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्' [कठ० १।२।१५] समस्त वेद जिस एक तत्त्व का कथन करते हैं, उस तत्त्व को मैं संक्षेप से तुम्हें बताता हूं, वह 'ओम्' है, वह परमेश्वर है। ब्रह्म एकमात्र तत्त्व है, उसके नानात्त्व व अनेकता की उपनिषदों में निन्दा की गई है [तै० २।७।१]। फलतः उपास्य ब्रह्म के एकमात्र होने से ब्रह्मोपासन की एकता प्रमाणसिद्ध है।

शाण्डिल्यविद्या आदि के आधार पर जो अध्यात्मशास्त्र के विभिन्न प्रसंगों में उपासनाविषयक भेद कहा गया; वहां भेद न होकर अभेद दृष्टिगोचर होता है। शाण्डिल्यविद्या के रूप में छान्दोग्य [३।१४।२] द्वारा जिन गुणों से युक्त उपास्य ब्रह्म का निर्देश है, वैसे ही ब्रह्म का वर्णन शतपथ ब्राह्मण [१०।६।३।२] में है। इसलिये वाजसनेयी और छन्दोगों की वर्णित शाण्डिल्यविद्या में कोई अन्तर नहीं है। इसीप्रकार वैश्वानर उपासना के विषय में दोनों जगह समानता है। इसके लिये शतपथ ब्राह्मण [१०।६।१।१०] और छान्दोग्य [५।१८।१] के निर्दिष्ट प्रसंग देखे जासकते हैं। इस प्रकरण से सूत्रकार का आशय स्पष्ट होता है, कि अध्यात्मशास्त्रों में एकमात्र ब्रह्म के उपास्य कहेजाने से उपासनाविषयक समानता निश्चित है ॥४॥

ब्रह्मोपासना की सर्वत्र समानता का निश्चय कर सूत्रकार ने उसका प्रयोजन बताया—

उपसंहारोऽर्थाभेदाद् विधिशेषवत् समाने च ।।५।।

[उपसंहारः] उपसंहार–संग्रह [अर्थाभेदात्] अर्थ–प्रयोजन के एक [-अभेद] होने से [विधिशेषवत्] विधिशेष की तरह [समाने] समान में [च] और। तथा सर्वत्र समान ब्रह्मोपासन में प्रयोजन एक होने से एकत्र कहे गुणों का अन्यत्र उपसंहार करलेना चाहिये; जैसे विधिशेषों का करलिया जाता है।

इस तथ्य का निश्चय होजाने पर, कि अध्यात्मशास्त्रों में ब्रह्मोपासन सर्वत्र समान है; यह अपेक्षित रहता है, कि विभिन्न शास्त्रों में वर्णित उपासनाओं की एकता का जो इतना बलपूर्वक उपपादन किया गया है, उसका प्रयोजन क्या है ? यदि उपासनाओं को भिन्न माना जाय, तो क्या आपत्ति है ?

सूत्रकार का आशय है, उपासनाओं के भिन्न होने पर उपास्य के भेद की आशंका कीजासकती है, जो सर्वथा अशास्त्रीय है। विभिन्न उपनिषदों में जो विविध उपासनाओं का वर्णन है, उनमें भेद की आशंका के लिये यह आधार मिलता है, कि एक जगह उपास्य का जिन गुणों से युक्त वर्णन किया है, अन्यत्र उससे न्यूनाधिक गुण कहे हैं; इससे आशंका होसकती है, कि विभिन्न गुणों से युक्त उपास्य भिन्न हैं, और उनकी ये उपासना भी परस्पर भिन्न हैं। इस आशंका की जड़ को उखाड़ फेंकने के लिये सूत्रकार ने कहा, कि जब सब उपासना समान हैं, तब विभिन्न प्रसंगों में उपास्य के न्यूनाधिक गुणवर्णन का कोई महत्व नहीं रहता। एक जगह कहे गये गुणों का दूसरी जगह उपसंहार–संग्रह–सम्बन्ध करलेना चाहिये, जहां उनका कथन नहीं हुआ है। इसप्रकार विभिन्न प्रसंगों के वे समस्त उपास्यवर्णन एक दूसरे के समान होजाते हैं। उपासनाओं की एकता के उपपादन का यही प्रयोजन स्पष्ट होता है, कि उपास्यविषयक भेद की आशंका को निर्मूल कर दिया जाय।

उपसंहार की यह रीति कर्मकाण्ड में मानी जाती है। अग्निहोत्र आदि विशिष्ट कर्मों के अंग होते हैं, उन-उन कर्मों के प्रसंग में सर्वत्र अग्निहोत्र आदि का निर्देश नहीं होता; पर उन कर्मों के अङ्ग होने से अनुक्त स्थलों में अग्निहोत्र आदि का सम्बन्ध मानलिया जाता है। ऐसे ही ब्रह्मोपासनों में यदि कहीं उपास्यवर्णन में अन्यत्र किये गये वर्णन से न्यूनता है, तो वहां वर्णित प्रसंग की विशेषताओं का सम्बन्ध समझ लेना अभीष्ट है। इससे उपास्यभेद की आशंका निर्मूल होजाती है ।।५।।

शिष्य आशंका करता है, ब्रह्म की उपासना भले ही सर्वत्र समान हो, पर गुणों का एक दूसरे में उपसंहार नहीं माना जाना चाहिये; क्योंकि उपासना का विधान करनेवाले शब्द से ऐसा जाना जाता है। सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ।।६।।

[अन्यथात्वं] अन्यथा होना [शब्दात्] शब्द से [इति, चेत्] ऐसा यदि [कहो.

तो वह ठीक] [न] नहीं [अविशेषात्] अविशेष से–भेद न होने से। उपसंहार से अन्यथा–गुणों का उपसंहार न–होना शब्द से जाना जाता है; यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि वहां उपास्य व उसके गुणों का कोई भेद नहीं है।

'आत्मेत्येवोपासीत' [बृ० १।४।७] तथा 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' [मुं० २।२।५] इत्यादि शब्दों से केवल आत्मा–परब्रह्म परमात्मा की उपासना का विधान है। यदि एक दूसरे में गुणों का उपसंहार माना जाय, तो केवल उस रूप में ब्रह्म की उपासना का विधान असंगत होगा। उक्त वाक्यों में 'एव' पद पढ़ा है, जो उपासना में ब्रह्म के अतिरिक्त गुणों के समावेश का निषेध करता है, इससे प्रतीत होता है, कि उपासनाओं में एक जगह कहे गुणों का अन्यत्र उपसंहार नहीं होना चाहिये।

सूत्रकार ने समाधान किया, उपासनाओं में ब्रह्म के जिन विशेष गुणों का वर्णन है, वे गुण ब्रह्म का स्वरूप हैं, ब्रह्म से उनका भेद नहीं है। जिज्ञासु को ब्रह्म के स्वरूप का बोध कराने के लिये उन विशेष पदों द्वारा उसका निर्देश शास्त्र में किया गया है। जिनको गुणवाचक पद कहा जाता है, वे वस्तुतः ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं। एकमात्र ब्रह्म के अनन्तशक्ति होने से विविध विशेषताओं के साथ उसका वर्णन समुचित है। अतः एक उपासना में कहे गये उन विशेषतारूप गुणों का अन्य उपासनाओं में सम्बन्ध माने जाने पर कोई दोष प्राप्त नहीं होता। उपासना का विधान करनेवाले उपनिषद् के उक्त वाक्यों में 'एव' पद ब्रह्म से अतिरिक्त उपास्य का निषेध करता है, ब्रह्मगुणों का नहीं। अध्यात्मशास्त्रों में ब्रह्मस्वरूप का वर्णन उसकी विविध विशेषताओं के निर्देश द्वारा किया गया है, वही संभव है। 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' [श्वे० ६।११] इत्यादि वाक्यों में 'निर्गुण' पद का तात्पर्य ब्रह्म को त्रिगुणात्मक प्रकृति से अतिरिक्त बताने में है।

इसीके अनुसार छान्दोग्य [१।२।१–७] तथा बृहदारण्यक [१।३।१–७] में वर्णित उद्गीथ उपासना में किसीप्रकार के भेद की आशंका का अवकाश नहीं रहता; क्योंकि दोनों स्थलों की वर्णित उपासना में कोई भेद नहीं है। वहां प्राणरूप से ब्रह्मोपासना का समान वर्णन है ॥६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, उपक्रम भेद से उपासनाओं में भेद क्यों न माना जाय? छान्दोग्य [३।१४।१] में ब्रह्म की उपासना का उपक्रम–'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इस सब जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय करनेवाला ब्रह्म है, यह समझकर शान्त हो ब्रह्म की उपासना करे–इसप्रकार किया गया है; पर शतपथ ब्राह्मण [१०।६।३।१] में 'सत्यं ब्रह्मेत्युपासीत' सत्य ब्रह्म है, इस रूप में उपासना करे–कहकर किया गया है। यहां उपासना के उपक्रम में स्पष्ट भेद है; तब उपासना में भेद मानना होगा, इसकारण गुणों के उपसंहार की संभावना न रहेगी। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवत् ॥७॥

[न] नहीं [वा] भी [प्रकरणभेदात्] प्रकरण के भेद से [परोवरीयस्त्वादिवत्] परोवरीयस्त्व आदि के समान । प्रकरण के भेद से भी उपासनाओं में भेद नहीं, परोवरीयस्त्व आदि की तरह ।

पूर्वसूत्र से 'अन्यथात्वं' और 'अविशेषात्' इन दो पदों की अनुवृत्ति इस सूत्र में समझनी चाहिये । सूत्र में 'प्रकरण' पद का अर्थ है-प्रस्ताव, प्रक्रम, उपक्रम, किसी विषय का आरम्भ कर निरूपण करना । इसप्रकार सूत्र का अर्थ होगा-विभिन्न स्थलों में उपक्रमपूर्वक विषयनिरूपण के भेद से भी उपासनाओं में अन्यथात्व नहीं होगा, अर्थात् उनमें भेद अथवा गुणों का परस्पर असंबन्ध नहीं होगा । क्योंकि उन प्रकरणों में सर्वत्र उपास्य अविशेष-अभिन्न-एकमात्र रहता है । उदाहरण दिया, परोवरीयस्त्व आदि गुणों-विशेषताओं से युक्त उपासनाओं के समान ।

छान्दोग्य में उद्गीथ उपासना दो रूप में वर्णित है-प्रथम [१।६।६] स्थल में बताया-'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः' इस हिरण्यश्मश्रुत्व आदि गुणों से विशिष्ट उपासना को उद्गीथ कहा है । आगे [छा० १।९।१-२] 'आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' । स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः' इसप्रकार परोवरीयस्त्व [सबसे बड़ा होना] गुणविशिष्ट उद्गीथ बताया है । यद्यपि यह एक शाखा में वर्णित एक उद्गीथ उपासना है, पर प्रकरण से इसमें आपाततः भेद प्रतीत होता है । सूत्रकार ने बताया, इन दोनों प्रकरणों में एकमात्र अविशेष ब्रह्म की उपासना उद्गीथरूप में कही है । केवल निरूपणप्रकार के भेद से उपास्य निरूपणीय तत्त्व में भेद नहीं होसकता । पहले प्रसंग में ब्रह्म के चेतन-प्रकाशस्वरूप की भावना से उपासनाविधान है; जबकि दूसरे में उसके सर्वव्यापकस्वरूप की भावना से । उपास्य सर्वत्र एकमात्र ब्रह्म है । ऐसे ही अन्य समस्त प्रसंगों में केवल निरूपणप्रकार के भेद से उपासनाओं में भेद नहीं माना जासकता । उस अवस्था में परस्पर गुणों के उपसंहार के लिये कोई बाधा सामने नहीं आती ।

छान्दोग्य [३।१४।१] में जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयकर्त्ता के रूप में ब्रह्म की उपासना है, शतपथ [१०।६।३।१] में सत्य-ब्रह्म के रूप में । ऐसे ही 'प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे' [छा० १।२।२] तथा 'त्वं न उद्गाय' [बृ० १।३।२] इत्यादि प्रसंगों में उपासना का भेद नहीं है । इन प्रसंगों में 'प्राण' पद ब्रह्म के लिये प्रयुक्त हुआ है, 'ओम्' नाम के आधार पर यह उपासना कीजाती है, इसलिये इसका नाम 'उद्गीथ' उपासना है । 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' [छा० १।१।१] से इसका वर्णन प्रारम्भ होता है । बृहदारण्यक के उक्त (१।३।१-२४) प्रसंग में 'प्राण' पद ब्रह्म का बोधक है । वही उद्गीथ है । इस पद का निर्वचन करते हुए कहा है-'प्राणो वा उत् प्राणेन हीदं सर्वमुत्तब्धं

वागेव गीथा, उच्च गीथा चेति स उद्गीथः' [बृ० १।३।२३], 'उद्गीथ' पद में 'उत्' बोध्य 'प्राण' है, क्योंकि उसीसे यह सब जगत् टिका हुआ है। 'उत्' पद उत्तब्ध अर्थ का निर्देश करता है। 'वाक्' गीथा है, 'उत्' और 'गीथा' को मिलाकर 'उद्गीथ' बना। विश्व को विधारित [उत्तब्ध] करने वाला 'प्राण' ब्रह्म है, और उसका गान करने वाला [गीथा] पद 'वाक्' [ओम्-रूप] है। इस भाव को स्वयं आगे उपनिषद् [बृ० १।३।२४] में स्पष्ट किया–'वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायत्' वह 'वाक्' और 'प्राण' द्वारा उद्गीथ बनकर सामने आता है। 'ओम्' उपासनाद्वारा ब्रह्म को प्राप्त करना उद्गीथ विद्या है, जिसका छान्दोग्य, बृहदारण्यक के उक्त दोनों स्थलों में समान-वर्णन है। इन प्रसंगों में उद्गीथ उपासना का कोई भेद नहीं है। फलतः अध्यात्म-शास्त्रों में वर्णित समस्त ब्रह्मोपासनों में एकता व गुणोपसंहार सर्वथा युक्त है ॥७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, उद्गीथ उपासना एक रहो, पर विभिन्न नामों से जो अनेक उपासना कही गई हैं, वे यदि भिन्न नहीं हैं, तो उनके विभिन्न नाम क्यों दिये गये ? आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥८॥

[संज्ञातः] संज्ञा से [चेत्] यदि, [तत्] वह [उक्तं] कह दिया है, [अस्ति] है [तु] तो [तत्, अपि] वह भी। संज्ञा अर्थात् नाम के भेद से उपासनाओं में भेद यदि कहा जाय, तो उस विषय में पहले कह दिया गया है। संज्ञाभेद में भी संज्ञी का एक होना तो निश्चित है।

विभिन्न उपासनाओं में उपास्य के अनेक नाम उपलब्ध होते हैं। ब्रह्म, वैश्वानर, अक्षर, दहर, ज्योतिः, प्राण, भूमा, आकाश आदि अनेक नामों से उपास्य भिन्न होने चाहियें, जब उपास्य भिन्न होंगे, तो उपासनाओं का भेद स्वतः सिद्ध होजायगा; उस दशा में परस्पर गुणों के उपसंहार का अवकाश नहीं रहता। इसप्रकार संज्ञा के आधार पर उपासनाओं में भेद अवश्य माना जाना चाहिये।

सूत्रकार ने बताया, कि इस विषय में कहदिया गया है। विस्तार के साथ इसका प्रतिपादन सूत्रकार ने प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के बीसवें सूत्र से लगाकर प्रथम अध्याय की समाप्तिपर्यन्त किया है। प्राण, आकाश, भूमा, ज्योतिः, अक्षर, दहर, वैश्वानर आदि पदों से जिस उपास्य का वर्णन हुआ है, वह एकमात्र ब्रह्म है। अध्यात्म-शास्त्रवर्णित समस्त उपासनाओं में उपास्यरूप से उपस्थित केवल एक ब्रह्म है। नामों का भेद उपासनाओं में प्रायः परब्रह्म परमात्मा के अनेक विशेष गुणों का वर्णन होने के कारण है, कहीं ऐसे ही अन्य निमित्त हैं। किसी उपासना का नाम प्रतिपादक के आधार पर चल गया है। जैसे शाण्डिल्यविद्या आदि। फलतः इन नामों के विभिन्न होने पर सर्वत्र उपासनाओं में एकमात्र ब्रह्म उपास्य तो निश्चित है, इसलिये उपासनाओं के अभेद

एवं गुणोपसंहार को अन्यथा नहीं किया जासकता ॥८॥

शिष्य आशंका करता है, संज्ञाभेद से ब्रह्मोपासनाओं में भेद न रहो, पर स्थान-भेद से भेद मानना चाहिये। यह उपासना कहीं हृदय में, कहीं द्युलोक में, कहीं आदित्य, में कहीं चक्षु और कहीं सर्वत्र बताई गई है। स्थान के भेद से उपास्य स्थानी का भिन्न होना निश्चित है। जब उपास्य भिन्न होगा, तो उपासना स्वतः भिन्न मानी जायेंगी; उस दशा में गुणोपसंहार का प्रश्न नहीं उठता। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥९॥

[व्याप्तेः] व्याप्ति से [च] तथा [समञ्जसम्] युक्त है। ब्रह्म के सर्वत्र व्यापक होने से सब स्थानों में उसकी उपासना का विधान उचित है।

अध्यात्ममार्ग पर चलनेवाले ब्रह्मजिज्ञासु और मुमुक्षु अनेक स्तर के व्यक्ति होते हैं। साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने इन उपासनाओं का जो वर्णन किया है, उनमें से जिज्ञासु यथोपदेश यथारुचि, यथास्तर उपासना का अनुष्ठान कर सकता है। ब्रह्म क्योंकि सर्वत्र व्याप्त है, इसलिये हृदय आदि सब स्थानों में उसकी उपासना का विधान है, और उसके अनुसार उपासना कीजाती है। ब्रह्म के सर्वत्र व्यापक होने से उपयुक्त विभिन्न स्थानों में उसकी उपासना का विधान सर्वथा उचित है। एकमात्र व्यापक तत्व का–देशविशेष में उसकी उपासना किये जाने से–कोई भेद नहीं होता। जब उपास्य का भेद संभव नहीं, तो उपासनाओं का अभेद और परस्पर गुणोपसंहार अन्यथा नहीं होसकता, भले ही उपासनाओं का स्थानभेद रहे। कोई व्यापक तत्त्व स्थानविशेष से परिच्छिन्न–भिन्न नहीं होजाता। फलतः उपासनाओं का अभेद और वहां वर्णित गुणों का परस्पर में सम्बन्ध प्रमाणित होता है ॥९॥

समस्त अध्यात्मशास्त्रों में एकमात्र ब्रह्म की उपासना समान है, और वहां वर्णित गुणों का परस्पर उपासनाओं में सम्बन्ध अभीष्ट है, इस निर्धारित अर्थ का निगमन करते हुए सूत्रकार कहता है—

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥१०॥

[सर्वभिदात्] सब में अभेद से [अन्यत्र] दूसरे स्थलों में [इमे] ये। ये आगे कहे जानेवाले गुण दूसरे स्थलों में संबद्ध कर लिये जाते हैं; क्योंकि सब अध्यात्मशास्त्रों में ब्रह्म की उपासनाओं का अभेद है।

समस्त अध्यात्मशास्त्रों में ब्रह्म की उपासनाओं के अभेद से आगे कहे जानेवाले सब ब्रह्मगुणों का अन्यत्र सम्बन्ध होजाता है। जो गुण एक जगह शास्त्र में कहे हैं, अन्य उपासनास्थलों में नहीं कहे, वहां भी उन गुणों का अनुसन्धान करलेना चाहिये। ये सब उपासनाओं में उपकारक हैं। न कहे गये स्थलों में उनको जोड़लेना सर्वथा उपयुक्त है ॥१०॥

शिष्य ने जिज्ञासा की, वे कौनसे गुण हैं, एकत्रवर्णित जिनका अन्यत्र सम्बन्ध हो जाता है ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥११॥

[आनन्दादयः] आनन्द आदि [प्रधानस्य] प्रधान के–परब्रह्म के। परब्रह्म के वे आनन्द आदि गुण हैं।

सूत्र में 'प्रधान' पद ब्रह्म का बोधक है, क्योंकि वह समस्त चेतन-अचेतन जगत् का स्वामी है, अधिष्ठाता है। सूत्र के 'आदि' पद से सत्य, ज्ञान, व्यापकता आदि का ग्रहण होता है। ब्रह्म के आनन्द, सत्य, ज्ञान, आदि ऐसे गुण हैं, जिनका सब उपासनाओं में सम्बन्ध समझना चाहिये, चाहे वहां इनका कथन न किया गया हो। कारण यह है, कि समस्त उपासनाओं में उपास्य तत्त्व एकमात्र ब्रह्म है, और ये गुण ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में इन गुणों का जैसा स्पष्ट व विस्तृत वर्णन है, अन्यत्र नहीं, इसलिये अन्यत्र वर्णित उपासनाओं में जिज्ञासु को ब्रह्म के ऐसे स्वरूप का ध्यान करना आवश्यक होने से वहां इन गुणों का सम्बन्ध समझलेना चाहिये ॥११॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म के प्रियशिरस्त्व आदि गुणों का भी कथन है, क्या उनका भी सर्वत्र उपासनाओं में सम्बन्ध अपेक्षित है ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥१२॥

[प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः] प्रियशिरस्त्व आदि की अप्राप्ति है [उपचयापचयौ] उपचय–वृद्धि, अधिकता और अपचय–ह्रास, न्यूनता [हि] क्योंकि [भेदे] भेद में (होते हैं)। प्रियशिरस्त्व आदि गुणों की अन्यत्र उपासनाओं में प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि उपचय-अपचय भेद में होते हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद् [२] में आनन्द–सत्य–ज्ञानस्वरूप ब्रह्म का वर्णन प्रारम्भ कर आगे कहा है–'तस्य प्रियमेव शिरो मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्षः' [तै० २।५] प्रिय ही उसका सिर है, मोद दायां भाग और प्रमोद बायां भाग है। प्रिय, मोद, प्रमोद आदि यहां ब्रह्म के गुण कहे हैं। जैसे आनन्द, सत्य आदि गुणों का अन्यत्र उपासनाओं में उपसंहार अपेक्षित है, वैसे प्रियशिरस्त्व आदि गुणों का भी मानना चाहिये। एक प्रसंग में कुछ गुणों का उपसंहार हो, कुछ का न हो, ऐसा मानना प्रामाणिक नहीं कहा जासकता।

आचार्य ने बताया, प्रियशिरस्त्व आदि गुणों का अन्यत्र उपासनाओं में संबन्ध नहीं होता। कारण यह है, कि प्रिय, मोद, प्रमोद आदि सुखानुभूति के न्यूनाधिकभाव को प्रकट करते हैं। प्रिय साधारण सुख, उससे अधिक मोद, उससे भी अधिक प्रमोद। इस प्रकार एक दूसरे की अपेक्षा से ये न्यूनाधिक होते हैं। गुणों का यह उपचय-अपचय अर्थात्

न्यूनाधिकभाव केवल भेद होने पर संभव है, अभेद में नहीं। साधनों एवं अनुकूलता की न्यूनाधिकता से एक भोक्ता में अथवा भोक्ताओं के अनेक होने पर यह न्यूनाधिकभाव होसकता है। परन्तु ब्रह्म एकमात्र तत्त्व है–'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' [छा० ६।२।१]। वह पूर्ण है, आप्तकाम है। ब्रह्म के एकरूप होने से कोई भेदपूर्ण स्थिति उसका गुण उसका स्वरूप नहीं होसकता। यह भोक्ता का गुण संभव है, जो उस आनन्दस्वरूप ब्रह्म को पा लेता है, वह उस आनन्द के अंशमात्र का इस रूप में भोग करता है।

वस्तुस्थिति यह है, कि आनन्द, सत्य, ज्ञान, व्यापकता आदि ब्रह्म का स्वरूप है, उनका उपसंहार अन्यत्र उपासनाओं में अपेक्षित है। प्रिय, मोद, प्रमोद आदि के रूप में तैत्तिरीय का वर्णन औपचारिक है, कल्पनापूर्ण है। ब्रह्म के न कोई भाग हैं न अंग। वस्तुतत्त्व की यथार्थता तक पहुंचने के लिये यह एक सुरुचिपूर्ण रीति पर अलंकाररूप वर्णन है। यह ब्रह्म का स्वरूप नहीं है, इसलिये इनका उपसंहार अन्य उपासनाओं में अवाञ्छनीय है ॥१२॥

आनन्द आदि का अन्यत्र उपासनाओं में क्यों उपसंहार किया जाता है ? सूत्रकार ने स्पष्ट किया —

इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥१३॥

[इतरे] अन्य–दूसरे [तु] तो [अर्थसामान्यात्] अर्थ की समानता से। प्रियशिरस्त्व आदि से अन्य आनन्द आदि गुण तो सर्वत्र उपासनाओं में संबद्ध होजाते हैं, क्योंकि उनमें उपास्य अर्थ समान है।

प्रियशिरस्त्व आदि ब्रह्म के नैमित्तिक गुण हैं, वे ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का बोध नहीं कराते। उससे अतिरिक्त [इतर] आनन्द, सत्य, ज्ञान, अभय, अमृत, व्यापकता आदि गुण ब्रह्म का स्वरूप हैं। उपास्य के ऐसे रूप का साक्षात्कार करना उपासना का लक्ष्य है; यही उपास्य समानरूप से समस्त उपासनाओं में अभिप्रेत है, इसीलिये आनन्द आदि गुणों का सर्वत्र उपासनाओं में सम्बन्ध माना गया है। ब्रह्मस्वरूप को समझाने के लिये अनेक निमित्तों के आधार पर जो उसका वर्णन अथवा गुणगान हुआ है; उन गुणों का उपसंहार उपासनाओं में अपेक्षित नहीं है। साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये उपासना में उन्हें उपयोगी नहीं बताया ॥१३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, आनन्द आदि ब्रह्मगुणों का सर्वत्र उपासनाओं में उपसंहार होजाता है, यह निर्णय ठीक है; परन्तु यह अभी विचारणीय है, कि यदि ब्रह्म सर्वोत्कृष्ट होने से उपास्य है, तो कठ उपनिषद् में इन्द्रियों से लगाकर प्रकृतिपर्यन्त तत्त्वों को जो एकदूसरे से पर–उत्कृष्ट बताया है, उत्कृष्टता के आधार पर क्या इन 'अर्थ' आदि को उपास्यकोटि में समझना चाहिये ? और फिर इस धर्म का क्या अन्य सर्वत्र उपासनाओं में उपसंहार किया जाना चाहिये ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥१४॥

[आध्यानाय] आध्यान–चिन्तन के लिये [प्रयोजनाभावात्] प्रयोजन न होने से। ब्रह्म को इन्द्रियादि-प्रकृतिपर्यन्त तत्त्वों से पर–उत्कृष्ट बतलाया जाना उसके चिन्तन के लिये है; कोई प्रयोजन न होने से 'अर्थ' आदि तत्त्व उपासना के न लक्ष्य होते हैं, और इसीलिये न उनका कहीं अन्य उपासनाओं में उपसंहार होता।

कठ उपनिषद् [१।३।१०-११] में वर्णन है–'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥' इन सन्दर्भों में 'बुद्धि' पद अहंकार तत्त्व के लिये तथा 'आत्मा महान्' महत्तत्त्व के लिये प्रयुक्त हैं। 'अव्यक्त' पद प्रकृति का और 'पुरुष' ब्रह्म का वाचक है। परब्रह्म के अतिशय सूक्ष्म सर्वोत्कृष्ट स्वरूप को समझाने की भावना से इन्द्रियादि-प्रकृतिपर्यन्त पदार्थों का सूक्ष्मता के आधार पर तारतम्य दिखाकर पुरुष को इसकी पराकाष्ठा कहा है; उससे पर और कोई तत्त्व संभव नहीं। परब्रह्म के ऐसे स्वरूप का आध्यान–चिन्तन–उपासन करने के लिये यह वर्णन है, जिससे ब्रह्म के ऐसे स्वरूप को समझकर उपासनाओं में उसका ध्यान किया जासके।

इस प्रसंग में इन्द्रियों से अर्थों की परता–सूक्ष्मता इन्द्रियगोलकों की स्थिति से तुलना कर प्रकट की गई है। दूसरे से 'अर्थ' आदि के 'पर' कहे जाने पर भी उनको उपास्य-कोटि में नहीं माना जासकता, क्योंकि उनकी उपासना का कोई प्रयोजन नहीं है। परब्रह्म की उपासना का प्रयोजन तो मोक्षप्राप्ति सर्वत्र शास्त्र में वर्णित है। इसलिये उपास्य तत्त्व सर्वत्र एकमात्र ब्रह्म समझना चाहिये। इसी आधार पर 'अर्थ' आदि के परता-गुण का उपसंहार अन्यत्र उपासनाओं में सर्वथा अनपेक्षित है।

यदि कहा जाय, कि बहिर्मुख चित् को सबसे 'पर' सर्वान्तर पुरुष परब्रह्म में प्रवेश कराने के लिये यह इन्द्रियादि परम्परा एक साधन है, और यही इसका प्रयोजन है। तब इसके प्रयोजन का अभाव नहीं रहेगा। ठीक है, परन्तु ब्रह्मोपासना में इसका कोई उपयोग नहीं है। उपासना में तो ब्रह्म के सत्य चेतन आनन्द अभय अमृत आदि स्वरूप का ध्यान किया जाता है, इसलिये ब्रह्मस्वरूप को बतलानेवाले गुणों का उपसंहार उपासनाओं में स्वीकार्य है। इन्द्रियादि की यह तारतम्य-परम्परा न उपास्य-कोटि में है, न इनका अन्यत्र उपासनाओं में सम्बन्ध अभीष्ट है॥१४॥

उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

आत्मशब्दाच्च ॥१५॥

[आत्मशब्दात्] आत्मा शब्द से [च] भी। अगले वाक्यशेष में प्रयुक्त आत्मा शब्द से भी यह प्रमाणित होता है, कि ब्रह्मस्वरूप का निरूपण करने वाले गुणों का उपासना

में उपसंहार होता है, अन्य का नहीं।

कठ उपनिषद् के उक्त प्रसंग में कहा है–'विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः। सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' [कठ० १।३।९] जिस व्यक्ति ने अन्तःकरण को वश में कर आत्मज्ञान प्राप्त करलिया है, वह संसारमार्ग के पार को पालेता है, वह सर्वव्यापक ब्रह्म का परम पद है। उसी परम पद को स्पष्ट करने के लिये अगली दसवीं ग्यारहवीं दो कण्डिकाओं का अवतरण हुआ, जिनके अन्त में कहा गया–'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः' [कठ० १।३।११] पुरुष से पर कुछ नहीं है, वह परता की पराकाष्ठा है, वही परमपद है। उसीका आगे वाक्यशेष में अन्तर्यामी आत्मा के रूप में वर्णन है–'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' [कठ० १।३।१२] यह अन्तर्यामी आत्मा समस्त भूतों में विद्यमान रहता भी प्रतीत नहीं होता। आत्मदर्शी ज्ञानी पवित्र अन्तःकरणद्वारा इसका अनुभव करते हैं। यहां उसी परत्व की पराकाष्ठा परम पद को समस्त भूतों में अन्तर्यामी आत्मा बताया है। यह परब्रह्म परमात्मा से अतिरिक्त अन्य कोई 'अर्थ' आदि सम्भव नहीं। इसलिये पहली कण्डिकाओं (१०-११) का तात्पर्य परब्रह्म के प्रतिपादन में है; अन्यथा उसे सर्वान्तर्यामी आत्मा कहना उपयुक्त न होता।

प्रसंगवश इन्द्रियादि-प्रकृतिपर्यन्त पदार्थों का जिस क्रम से यहां वर्णन है, उसका अपना–अर्थतत्त्व का प्रतिपादनरूप–महत्त्व भले रहो, और सर्वान्तर पुरुष के समझने में उसका उपयोग चाहे यथार्थरूप से माना जाय; पर उपासना का वह अंग नहीं है; यह इस 'आत्मा' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट होजाता है। इन्द्रिय, अर्थ आदि के लिये अन्तर्यामी-रूप से 'आत्मा' पद का प्रयोग अनभिमत है। 'आत्मा महान्' में महत्तत्व का विशेषण 'आत्मा' उसकी अनन्त रचना का द्योतक है, अन्तर्यामीभाव का नहीं। इसलिये यहां उस पद का प्रयोग उक्त अर्थ की भावना को देखते औपचारिक ही समझना चाहिये ॥१५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, 'गूढोत्मा न प्रकाशते' सन्दर्भ में 'आत्मा' पद से परमात्मा का क्यों ग्रहण किया जाता है, जीवात्मा का क्यों नहीं? अगले 'यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञः' [कठ० १।३।१३] इत्यादि सन्दर्भ में जीवात्मा का वर्णन है, तो यहां भी उसीका ग्रहण होना चाहिये। आचार्य सूत्रकार ने बताया—

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥१६॥

[आत्मगृहीतिः] आत्मा का ग्रहण [इतरवत्] अन्यत्र के समान [उत्तरात्] उत्तर से–अगले वाक्य से। उक्त सन्दर्भ में 'आत्मा' पद से परमात्मा का ग्रहण है, जैसे अनेक अन्य स्थलों में; यह उत्तरवाक्य से निश्चित होता है।

'गूढोत्मा न प्रकाशते' [कठ० १।३।१२] इत्यादि सन्दर्भ में 'आत्मा' पद से परमात्मा का ग्रहण होता है, यह न केवल इस सन्दर्भ में पठित लिंगों से, अपितु जिस

अगले सन्दर्भ को जीवात्मविषयक कहा गया, उसके उत्तरवाक्य से भी। वह सन्दर्भ है–'यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञः, तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्, तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि' [कठ० १।३।१३], ब्रह्मजिज्ञासु व्यक्ति (प्राज्ञः) वाक् का मन में नियन्त्रण करे, मन को ज्ञान आत्मा में रोके, ज्ञान को महत् आत्मा में और उसको शान्त आत्मा में नियन्त्रित करे, लगावे। यहां 'वाक्' सब इन्द्रियों का उपलक्षण है। क्योंकि सब इन्द्रियां अपना विषय मन को सुपुर्द करती हैं, अतः अभ्यासी जिज्ञासु उनका नियमन मन में करे। 'ज्ञान' पद यहां 'अहंकार' तत्त्व को कहता है, क्योंकि अहंभाव ही देह में आत्मा के अस्तित्व को जनाता है। मन इसको प्राप्त होता है, इसलिये इसे 'आत्मा' कहा गया। ज्ञान आत्मा में अर्थात् अहंकार में मन का नियन्त्रण किया जाता है; और उसका नियन्त्रण 'महत् आत्मा' में अर्थात् बुद्धितत्त्व में। इसप्रकार समस्त इन्द्रियवृत्तियों के अन्तर्हित होजाने पर केवलमात्र शुद्ध बुद्धि को 'शान्त आत्मा' परब्रह्म परमात्मा में नियन्त्रित–संलग्न कर दिया जाता है, तब जिज्ञासु उस परब्रह्म की अनुभूति करपाता है।

इस सन्दर्भ के उत्तरवाक्य–'तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि' में 'आत्मा' पद का प्रयोग परमात्मा के लिये होकर जीवात्मा की उस अवस्था को प्रकट करता है, जहां अन्तर्यामी परमात्मा उसके लिये प्रकाशित होजाता है। ऐसा व्यक्ति आत्मदर्शी कहा जाता है। बारहवीं कण्डिका में जिसका वर्णन है, उसीकी दर्शनप्रक्रिया का तेरहवीं कण्डिका में उल्लेख हुआ है। गूढ आत्मा पहले अप्रकाशित है, सूक्ष्मदर्शी पवित्र बुद्धिद्वारा उसे देखते हैं। कैसे देखते हैं? इसीका वर्णन तेरहवीं कण्डिका में है। इसलिये इसका उत्तरवाक्य इस तथ्य का निश्चायक है, कि पूर्व सन्दर्भ में 'आत्मा' पद से परमात्मा का ग्रहण होता है।

अन्यत्र अनेक सन्दर्भों में 'आत्मा' पद का प्रयोग परमात्मा परब्रह्म के लिये हुआ है–'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' [तै० २।१] 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत्' [ऐ० १।१] इत्यादि सृष्टिप्रकरणों में आत्मा पद का प्रयोग परब्रह्म के लिये हुआ है। अगले [उत्तर] प्रसंग से इसका निश्चय होजाता है, जहां कहा गया है–'लोकान्नु सृजा इति,...स इमाँल्लोकानसृजत' [ऐत० १।१-२] लोक-सर्जन परब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसीका धर्म नहीं है। इसीप्रकार वेद में अनेकत्र 'आत्मा' पद परमात्मा के लिये प्रयुक्त है–'तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्' [अथर्व० १०।८।४४] उस अकाय धीर अमृत स्वयम्भू आनन्दस्वरूप पूर्ण एवं सर्वशक्तिमान् आत्मा को जानकर मृत्युरूप संसारभय से पार होजाता है। यहां 'आत्मा' पद परब्रह्म का निर्देश करता है। उसका साक्षात्कार संसार–जन्ममरण के अनवरत प्रवाह–से पार होने का मार्ग है [यजु० ३१।१८] ॥१६॥

शिष्य आशंका करता है, किस पद का प्रयोग किस अर्थ में हुआ है, यह पद-पदार्थसम्बन्ध से ज्ञात होता है। इसके अनुसार 'आत्मा' पद जीवात्मा का वाचक

होता है, तब इससे परब्रह्म का ग्रहण कैसे ? आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

अन्वयादिति चेत् स्यादवधारणात् ।।१७।।

[अन्वयात्] अन्वय से [इति, चेत्] ऐसा यदि [कहो तो वह] [स्यात्] होवे [अवधारणात्] अवधारण से । 'आत्मा' पद का प्रयोग अन्वय से जीवात्मा के लिये माना जाय, तो इसका निश्चय अवधारण से करना चाहिये ।

सूत्र के 'अन्वय' पद से यहां पद-पदार्थसम्बन्ध का ग्रहण होता है । शब्दतत्त्व को समझनेवाले आचार्यों ने 'आत्मा' पद का निर्वचन 'अत्' धातु से किया है [उणा० ४।१५३], जिसका अर्थ है–'सातत्यगमन' । व्याख्याकारों ने लिखा–'अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोति व्याप्नोति वा योऽन्यन्तराणि स आत्मा' जो निरन्तर कर्मफलों को प्राप्त करता तथा एक देह से देहान्तर को प्राप्त होता रहता है वह आत्मा है। इसके अनुसार 'आत्मा' पद का अर्थ जीवात्मा माना जाना उपयुक्त है ।

सूत्र में 'अवधारण' पद का तात्पर्य है, पूर्वापर प्रसंग के आधार पर किसी अर्थ का निश्चय करना । 'आत्मा' पद का निर्वचन न केवल 'अत्' धातु से, अपितु 'आप्, आ+दा, अद्' धातुओं से भी आभिधानिक करते हैं । जिनका अर्थ होता है–सर्वत्र व्याप्त होना, सबका आदान करना अर्थात् सबको नियन्त्रण में रखना तथा कारण में विश्व का लय करना । इन धात्वर्थों के आधार पर 'आत्मा' पद परब्रह्म का वाचक सिद्ध है । 'अत्' धातु के 'सातत्यगमन' अर्थ में भी 'निरन्तर सर्वत्र प्राप्त होना' भाव अभिव्यक्त होता है, जो 'आत्मा' की सर्वव्यापकता को प्रकट करता है, यह धर्म परमात्मा अर्थ का द्योतक है। तात्पर्य यह, कि 'आत्मा' पद का प्रयोग जीवात्मा-परमात्मा दोनों के लिये संगत है। पर कहां जीवात्मा के लिये और कहां परमात्मा के लिये, इसका निश्चय प्रयोग के पूर्वापर प्रसंग के आधार पर किया जाना चाहिये। जैसे कठ उपनिषद् [१।३।१३] के सन्दर्भ में सर्वत्र 'आत्मा' पद परमात्मा के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ, केवल अन्तिम वाक्य में परमात्मा का वाचक है। क्योंकि बिखरे हुए विषय को आगे 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं' [कठ० १।३।१५] इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा उसीमें समेटा गया है।

इस सब विवेचन से यह परिणाम स्पष्ट होता है, कि विभिन्न उपासनाओं में परस्पर उन्हीं गुणों का उपसंहार समझना चाहिये, जो ब्रह्मस्वरूप के बोधक हैं। इस-प्रकार समस्त उपासनाओं की एकता प्रतिपादित होती है, वहां उपास्य तत्त्व एकमात्र ब्रह्म रहता है । अध्यात्मशास्त्रों में प्रयुक्त 'आत्मा' पद के व्याख्यान में अनेक स्थलों पर कतिपय व्याख्याकारों ने घोटाला किया है। विभिन्न स्थलों में इस पद का प्रयोग जीवात्मा, परमात्मा तथा साधारण 'व्यापक' अर्थ को लेकर हुआ है। कहां किस अर्थ में प्रयोग सम्भव है, पूर्वापर प्रसंग के आधार पर इस विवेचन की उपेक्षा कीगई है। फलस्वरूप

अर्थतत्त्व स्पष्ट न होकर उलझ गया है। उपास्य और उपासक के रूप से वर्णित प्रसंगों में इस घोटाले ने दोनों को एक बनाकर शास्त्र के प्रतिपाद्य यथार्थ को धूमिल कर दिया है। इस विषय में ऐसी व्याख्या की उपेक्षा कीजानी चाहिये, जिससे ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप में बाधा आने की सम्भावना हो ॥१७॥

सर्वत्र उपासनाओं में अपूर्वता गुण के उपसंहार को बतलाने की भावना से आचार्य सूत्रकार ने कहा—

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥१८॥

[कार्याख्यानात्] कार्य के आख्यान–कथन से [अपूर्वम्] अकारण (गुण उपसंहृत होता है)। समस्त विश्व ब्रह्म का कार्य है, इस कथन से ब्रह्म के अपूर्वता गुण का उपसंहार उपासनाओं में समझना चाहिये।

सूत्र के 'अपूर्वम्' पद में 'पूर्व' पद का अर्थ 'कारण' है। ब्रह्म अपूर्व है, इसका तात्पर्य हुआ–ब्रह्म अकारण है, अर्थात् ब्रह्म का कोई कारण नहीं। यह तथ्य इस हेतु से जाना जाता है, कि सब जगत् को ब्रह्म का कार्य कहा गया है। यदि ब्रह्म का कोई कारण होता, तो ब्रह्म का सब कार्य है, अथवा ब्रह्म सबका कारण है; यह कथन संगत न होता। जो कार्यमात्र का कारण होता है, वह अन्य किसीका कार्य नहीं होता। ब्रह्म को सबका कारण अध्यात्मशास्त्रों में बताया गया है–'एष योनिः सर्वस्य' [माण्डू० ६], यह परमात्मा सबका उत्पत्तिस्थान है। 'अक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्' [मु० १।१।७] अक्षर–परब्रह्म से सर्गकाल में सब जगत् प्रादुर्भूत होता है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' [छा० ३।१४।१] यह सब जगत् ब्रह्म से प्रादुर्भूत होता, उसीमें लीन और धारित होता है, यह समझ शान्तचित्त हो ब्रह्म की उपासना करे। जगत् के उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का कर्त्ता ब्रह्म है, यह स्पष्ट होता है। 'स विश्वकृत्' [श्वे० ६।१५] वह सबका उत्पादक है। इसप्रकार ब्रह्म को सबका कारण बताया गया है, वह किसीका कार्य नहीं। इसीकारण वह 'अपूर्व' है। इसीको बृहदारण्यक उपनिषद् [२।५।१६] में कहा–'तदेतद् ब्रह्म अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्, अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' वह यह ब्रह्म अपूर्व है, अनपर है, अनन्तर है, अबाह्य है। यह आत्मा है–सर्वव्यापक है, महान है, सबका अनुभव करनेवाला है अर्थात् सर्वज्ञ है। उक्त आधारों पर ब्रह्म को यहां 'अपूर्व' कहा गया है। यह ब्रह्म के स्वरूप का बोधक है। इस अपूर्वता गुण का उपसंहार सर्वत्र उपासनाओं में अभीष्ट है ॥१८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, बृहदारण्यक [२।५।१६] के उक्त सन्दर्भ में कहे अन्य 'अनपरमनन्तरम्' इत्यादि गुणों के विषय में क्या मन्तव्य है? क्या अपूर्वता गुण के समान उनका भी उपसंहार मानना चाहिये? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

समान एवं चाभेदात् ॥१६॥

[समानः] समान [एवं] ऐसे [च] ही [अभेदात्] अभेद से (उपास्य के)। अपूर्वता गुण की तरह ही 'अनपरता' आदि गुणों का उपसंहार समान है, उपास्य ब्रह्म के अभेद होने से।

जैसे ब्रह्म के 'अपूर्वता' गुण का सर्वत्र उपासनाओं में उपसंहार मान्य है, ऐसे 'अनपरता' आदि गुणों का उपसंहार मान्य है। क्योंकि यहां एकमात्र ब्रह्म उपास्य है। अपूर्वता आदि सब गुणों के द्वारा ब्रह्मस्वरूप को प्रस्तुत किया गया है। जब उपास्य एक है, तो सर्वत्र उपासनाओं में इन गुणों के उपसंहार के लिये कोई बाधा नहीं। ब्रह्म 'अनपर' है, 'अपर' पद का अर्थ है—आगे परिणत हुआ कार्य, जैसे मट्टी से परिणत हुआ घड़ा; यहां मट्टी 'पर' और घड़ा 'अपर' समझा जायगा। ऐसा अपर—परिणत हुआ कार्य— जिसका नहीं है, वह 'अनपर' है। तात्पर्य यह, कि परमात्मा स्वयं किसी कार्य-रूप में परिणत नहीं होता। वह कार्य जगत् का उत्पादक है, स्वयं जगद्रूप में परिणत नहीं; इसलिये वह 'अनपर' है। यह गुण परब्रह्म के स्वरूप का बोधक है। ब्रह्म में कोई अन्तर—मध्य अवकाश—छीदापन नहीं, अतः वह 'अनन्तर' है। उसके बाहर कुछ नहीं, अथवा सर्वत्र पूर्ण होने से बाहर-भीतर ऐसा व्यवहार उसमें कुछ नहीं; इसलिये वह 'अबाह्य' है। इसी आधार पर कहा—वह 'आत्मा' है, सर्वव्यापक है, महान [ब्रह्म] है, सर्वज्ञ [सर्वानुभूः] है। परब्रह्म के स्वरूप का बोधक होने से इन गुणों का उपसंहार समानरूप से सर्वत्र उपासनाओं में अभीष्ट है ॥१६॥

शिष्य आशंका करता है, यदि ब्रह्म की विभिन्न उपासनाओं में वर्णित गुणों का एक दूसरे में इसलिये उपसंहार होजाता है कि वहां एक ब्रह्म की उपासना है; तो वेद तथा वैदिक उपनिषद् आदि के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में पठित ब्रह्म के गुणों का वैदिक उपासनाओं में उपसंहार होना चाहिये। सूत्रकार ने आशंका को स्वयं सूत्रबद्ध किया—

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॥२०॥

[सम्बन्धात्] सम्बन्ध से [एवम्] इसप्रकार [अन्यत्र] दूसरी जगह [अपि] भी। एक ब्रह्म की उपासना होने रूप सम्बन्ध से इसप्रकार दूसरी जगह वर्णित गुणों का भी उपसंहार वैदिक उपासनाओं में होना चाहिये।

ब्रह्म को किसी देशविशेष में निवास करनेवाला मान, उसके एकदेशीस्वरूप की कल्पना कर उसी रूप में उसकी उपासना का वर्णन जब होता है, तो उसके एक-देशिता आदि गुणों का उपसंहार उपनिषद् आदि में वर्णित वैदिक उपासनाओं में होना चाहिये; क्योंकि उन अवैदिक वर्णनों में भी एकमात्र ब्रह्म की उपासना का निरूपण है। इन दोनों में ब्रह्मोपासन की समानता का होना सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध से यदि

अन्यत्र वर्णित एकदेशिता साकारता आदि गुणों का उपसंहार वैदिक उपासनाओं में मानलिया जाय, तो वेदादि में वर्णित ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का बोध करानेवाले सर्वव्यापिता सर्वान्तर्यामिता सकलजगत्कर्तृता आनन्दरूपता आदि गुणों में बाधा आती है। इसके स्पष्ट निर्णय की अभिलाषा ही आशंका का आधार है[1] ॥२०॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त आशंका का समाधान किया—

न वा विशेषात् ॥२१॥

[न] नहीं [वा] निश्चयपूर्वक [विशेषात्] विशेष से। निश्चय से उक्त आशंका ठीक नहीं; क्योंकि ब्रह्मस्वरूप के वर्णन में वेदादि अध्यात्मशास्त्रों का कथन विशेषता रखता है।

दर्शनकारों तथा अन्य साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने ऐकमत्य से वेदों का निर्भ्रान्त निर्बाध प्रामाण्य स्वीकार किया है। उसीके अनुसार अन्य उपनिषदादि अध्यात्मशास्त्रों का प्रामाण्य है, जहां ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये उपासना आदि उपायों का विस्तृत वर्णन है। इन शास्त्रों में ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का उल्लेख है। उसके प्रामाण्य में किसी आशंका का अवकाश नहीं है। इन अध्यात्मशास्त्रों में ब्रह्म की जिन उपासनाओं का वर्णन है, वहां परस्पर गुणों का उपसंहार मान्य है। विभिन्न उपासनाओं में ब्रह्म की

---

१. इस सूत्र में जिन निर्देशों का संकेत है, वे पुराणसाहित्य में उपलब्ध होते हैं। पुराणों का निर्माण वेदव्यास ने किया, जो इन सूत्रों के निर्माता हैं, ऐसा कहा जाता है। संभवतः पुराणों का पर्याप्तभाग वेदव्यास से पहले वर्त्तमान रहा है। यह अधिक प्रामाणिक प्रतीत होता है, कि उसने पुराणों का संकलन किया, कुछ निर्माण भी। वर्त्तमान पुराणों का अधिक भाग वेदव्यास के अनन्तर निर्मित हुआ है, निर्माणकाल भी विभिन्न हैं, तथा निर्माता भी। यह निर्माण पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों में वृद्धिरूप से हुआ है। वेदव्यास के पूर्व ऐसी भावना बन चुकी थी, कि उपास्य देव कैलाश आदि किसी देशविशेष में निवास करता है। वह मानव जैसा देहादिधारी साकार है, स्त्रीपुत्रादि परिजनवाला है। ऐसी मान्यता के पर्याप्त प्राचीन काल के चिह्न उपलब्ध हैं। मोइन्जोदारो आदि में उपास्य एवं पूज्य देव के रूप में शिवलिङ्ग आदि का स्पष्ट पता लगता है।

वेदव्यास ने अपने से प्राचीन पुराणों का संकलन किया, जिनमें पर्याप्त प्राचीन इतिहास तथा जनता की तात्कालिक विविध धार्मिक भावनाओं का संग्रह रहा होगा। उनका उसी रूप में संकलन होना उचित था, पर दार्शनिक दृष्टि से यथाभूत अर्थ को उपपादित करने की भावना का आश्रय ले सूत्रकार ने ब्रह्मस्वरूप के विषय में यह विवेचन प्रस्तुत किया है, ऐसा प्रतीत होता है।

विभिन्न विशेषताओं को लक्ष्य किया गया है, इसलिये आपाततः उनमें भेद की प्रतीति होती है, पर सब उपासनाओं में उपास्य केवल चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म रहता है। वह आपाततः प्रतीयमान भेद उपासनाओं में एक दूसरे का बाधक न हो, इस भावना से गुणों के परस्पर उपसंहार को आचार्यों ने निश्चित किया है। ब्रह्मस्वरूप के विषय में वेदादि सत्य शास्त्रों की यह विशेषता है। इसलिये वैदिक उपासनाओं में वेदादि से अनभिमत उन गुणों का उपसंहार सर्वथा अमान्य है, जिनके द्वारा ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होता। फलतः एकदेशिता, साकारता आदि का संबन्ध औपनिषद उपासनाओं में अभीष्ट नहीं है ॥२१॥

इस विषय में स्वयं सूत्रकार ऋषिवचनों को प्रमाणरूप से प्रस्तुत करने का निर्देश करता है—

दर्शयति च ॥२२॥

[दर्शयति] दिखलाता है [च] और। और शास्त्र इस तथ्य को दिखलाता है।

ऋषियों के वचन वेदानुकूल सत्य शास्त्र है। ऐसा शास्त्र बतलाता है, कि वेद को जाने बिना ब्रह्म का यथार्थ बोध नहीं होता। तैत्तिरीय ब्राह्मण [३।१२।९] में बताया—'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' जो वेद को नहीं समझता, वह उस महान पर-ब्रह्म परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानपाता। बृहदारण्यक उपनिषद् के एक प्रसंग में—जब ब्रह्मस्वरूप को जानने के लिये प्रश्न किया गया है—कहा, 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' [बृ० ३।९।२६] उस 'औपनिषद' पुरुष के विषय में पूछता हूं। यहां ब्रह्मपुरुष को 'औपनिषद' कहा है, जिसका यथार्थ वर्णन उपनिषदों में किया गया हो। इसीप्रकार मुण्डक उपनिषद् [३।२।६] में कहा—'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' वेदान्त-जनित विज्ञान से जिन्होंने ब्रह्मरूप अर्थ को ठीक निश्चितरूप में जानलिया है। वेदान्त अर्थात् उपनिषदों में ब्रह्म को जानने के जिन उपायों का वर्णन है, उनके अनुसार जिन्होंने यथार्थ ब्रह्मस्वरूप को जानलिया है, वे मोक्ष को प्राप्त होते हैं। ये सब वचन स्पष्ट करते हैं, कि ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करने में वेद तथा वेदानुकूल उपनिषदादि अध्यात्मशास्त्रों की विशेषता है। इसलिये इन शास्त्रों में प्रतिपादित जो ब्रह्म का स्वरूप है, तदनुकूल गुणों का ब्रह्मोपासनों में परस्पर उपसंहार अपेक्षित है। अन्य ग्रन्थों में प्रतिपादित ब्रह्मस्वरूप का इन उपासनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं।

आचार्य शंकर ने गत तीन सूत्रों [२०—२२] का लक्ष्यप्रदेश बृहदारण्यक [५।५।१-२] वर्णित आदित्यपुरुष—अक्षिपुरुष—उपासना माना है। वहां आदित्यपुरुष का रहस्यनाम 'अहः' और अक्षिपुरुष का 'अहं' बताया है। इन नामों का उपसंहार इन दोनों [आदित्यपुरुष—अक्षिपुरुष] उपासनाओं में होता है, या नहीं? यह आशंका उठा-कर आचार्य ने इक्कीसवें सूत्र से उपसंहार का निषेध किया है। वस्तुतः गुणों के उप-

संहार के प्रकरण में नाम के उपसंहार का अवतरण अनपेक्षित है। ये नाम ब्रह्मस्वरूप के बोधक न होने से इनके उपसंहार का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर इनमें उपास्य का स्वरूप दोनों जगह समान है, तब स्वरूपबोधक गुणों के उपसंहार में कोई बाधा नहीं; नाम का उपसंहार भले न हो। उपासनाओं की एकता व गुणों के परस्पर उपसंहार की कसौटी यह है, कि उपासनाओं में सर्वत्र एकमात्र ब्रह्म उपास्य देव है। यदि किन्हीं गुणों का कहीं आम्नान नहीं हुआ, तो आम्नात स्थल से उनको अन्यत्र समझ लेना चाहिये, जिससे गुणभेद उपासना का भेदक न रहे। प्रस्तुत सूत्रों का लक्ष्यप्रदेश जिस रूप में आचार्य शंकर ने प्रकट किया है, वह चिन्त्य है ॥२२॥

आचार्य सूत्रकार ने अन्य गुणों का उपसंहार बतलाने के लिये सूत्र कहा—

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥२३॥

[संभृतिद्युव्याप्ती] संभृति और द्युव्याप्ति [अपि] भी [च] और [अतः] इससे–पूर्वोक्त हेतु से। पूर्वोक्त अभेद हेतु से संभृति और द्युव्याप्ति गुणों का भी उपसंहार उपासनाओं में अभिप्रेत है।

सूत्र में 'संभृति' पद का अर्थ है–सम्भरण–धारण अथवा पोषण, तथा 'द्युव्याप्ति' पद का अर्थ है–समस्त विश्व में व्याप्त होना। ब्रह्म के इन गुणों का वर्णन अथर्ववेद [१६।२२।२१] के एक मन्त्र में किया–'ब्रह्म ज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान' ब्रह्म ने महान शक्तियों को धारण किया हुआ है, जगत् के उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करने की शक्ति का वही आधार है। परमात्मा महान द्युलोक आदि को सदा से व्याप्त कर विद्यमान है। यहां जगत् के जन्मादि की सम्भृति और द्युव्याप्ति ब्रह्मगुणों का वर्णन है। ब्रह्म की उपासनाओं में इन गुणों का उपसंहार होना चाहिये, या नहीं? इस आशंका के समाधान में सूत्रकार ने बताया, पूर्वोक्त अपूर्वता आदि गुणों के समान सर्वत्र ब्रह्मोपासनाओं में इन गुणों का उपसंहार समझना चाहिये। ये गुण ब्रह्म के स्वरूप के बोधक हैं। उपासनाओं में ब्रह्म के उस स्वरूप का ध्यान किया जाता है।

सूत्रकार ने इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिये सूत्र में हेतुपद दिया है–'अतः'। इससे–पूर्वोक्त हेतु से! यह 'इदम्' पद पूर्वोक्त 'अभेदात्' हेतु का परामर्श करता है। उपास्य के अभेद से उसके संभृति आदि गुणों का उपासनाओं में उपसंहार अभीष्ट है। उपास्य के सर्वशक्तिसम्पन्न पूर्णरूप को उपासना में ध्यान करना अपेक्षित होता है। इसकेलिये जो उपयोगी गुण हैं, उनका उपसंहार उपासनाओं में होना चाहिये। ब्रह्म के अनन्त गुण अनन्त सामर्थ्य हैं, अल्पज्ञ जीव उन सबको जान नहीं सकता; इसलिये सर्वज्ञकल्प ऋषियों ने उन ध्यानोपयोगी गुणों का यथासंभव निर्देश किया है। सूत्रकार का उसी दिशा में यह प्रयास है। संभृति आदि ब्रह्मगुणों के वर्णन के लिये ऋग्वेद [२।१६।२] द्रष्टव्य है ॥२३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, आनन्द [ब्र० सू० ३।३।११] आदि द्युव्याप्ति [ब्र० सू० ३।३।२३] पर्यन्त जितने गुण उपसंहार के योग्य निर्धारित किये गये, क्या उन सबका सर्वत्र उपासनाओं में विना किसी भेद के उपसंहार समझना चाहिये, अथवा उन्हीं गुणों का उपसंहार करना चाहिये, जो किसी जगह नहीं कहे गये ? आचार्य सूत्रकार ने दृष्टान्त के साथ समाधान किया—

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ॥२४॥

[पुरुषविद्यायाम्] पुरुषविद्या में [इव] जैसे [च] और [इतरेषां] दूसरों का [अनाम्नानात्] न पढ़े जाने से। उपासना में उन गुणों का उपसंहार करना चाहिये, जो वहां नहीं पढ़े गये; जैसे पुरुषविद्या में किया जाता है।

जिस उपासना में पर-पुरुष ब्रह्म की उपासना कीजाती है, उसको पुरुषोपासना अथवा पुरुषविद्या कहते हैं। विद्या और उपासना पद एक अर्थ के वाचक हैं, यह पहले बताया जाचुका है। इस पुरुषविद्या का वर्णन विस्तार के साथ वेदों के पुरुषसूक्तों [ऋ० १०।९०; यजु० ३१; साम० ६१७–६२१; अथर्व० १९।६] में उपलब्ध होता है। उस वर्णन में उपास्य ब्रह्मपुरुष के द्युव्यापिता [सर्वव्यापकता] समस्त जगत् के जन्मादि की कारणता, सर्वान्तर्यामिता आदि गुणों का कथन है; आनन्द आदि का कथन वहां नहीं है। वे अन्यत्र जिस रूप में कहे गये हैं; उनका उपसंहार यहां पुरुषविद्या में होजाता है। जिन गुणों का यहां कथन कर दिया गया है, उनका उपसंहार इस उपासना में नहीं होता, भले ही वे अन्यत्र पढ़े गये हों। जैसे पुरुषविद्या में अपठित गुणों का उपसंहार होता है, ऐसे अन्य सब विद्याओं में समझना चाहिये। गुणों के उपसंहार का कारण है, किसी उपासना में ब्रह्म के स्वरूपबोधक अपेक्षणीय गुणों का आम्नान–कथन न होना। जिन गुणों का किसी उपासना में कथन कर दिया गया है, उन गुणों का अन्यत्र से वहां उपसंहार करना निष्प्रयोजन है। इसलिये सर्वत्र उपासनाओं में वहां पठित गुणों से इतर गुणों का अन्यत्र से उपसंहार होता है, इस विषय में यह एक व्यवस्था है ॥२४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि किसी विद्या में अनुक्त गुणों का अन्यत्र से उपसंहार अभिप्रेत है, तो क्या ब्रह्मोपासनाओं में वेध [बींधना] आदि गुणों का उपसंहार मान्य होना चाहिये ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

वेधाद्यर्थभेदात् ॥२५॥

[वेधादि] वेध–बींधनाआदि [अर्थभेदात्] अर्थभेद से। वेध आदि गुणों का उपसंहार नहीं होता, अर्थ के भेद से।

सूत्र में 'अर्थ' पद का अर्थ–प्रयोजन अथवा फल है। यद्यपि सूत्र में निषेधार्थक पद नहीं है, तथापि इक्कीसवें सूत्र से मण्डूकप्लुति न्याय के अनुसार यहां सम्बन्ध समझ-

लेना चाहिये। अर्थबल से भी उसका आकर्षण माना जासकता है। 'वेधादि' के आदि पद से भेदन विनाशन आदि का संग्रह होता है। वेदों में 'अग्नि' पद से तेजःस्वरूप परब्रह्म को संबोधन कर उपासनापूर्वक प्रार्थना है—

यज्ञैरिषूः संनममानो अग्ने वाचा शल्यॉं अशनिभिर्दिहानः।
ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान् प्रतीचो बाहून् प्रति भङ्ध्येषाम्॥

[ऋ० १०।८७।४; अथर्व० ८।३।६]

अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम्।
प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात् क्रविष्णुर्वि चिनोतु वृक्णम्॥

[ऋ० १०।८७।५; अथर्व० ८।३।४]

हे अग्ने! तेजःस्वरूप परब्रह्म! हमारे यज्ञ और स्तुति उपासनाओं से प्रसन्न आप बाणों को नवाते उनकी नोकों को वज्रयुक्त करते हुए उनसे राक्षसों को हृदय में बींध डालो; उनकी विरोधी भुजाओं को काट डालो। हे अग्ने! राक्षसों के चमड़े को छील दो, हिंसाशील वज्र उन्हें शीघ्र मार डाले, उनकी पोरियों को तोड़ डालो, मांसभक्षी भेड़िये आदि मांसाभिलाषी होकर उनके कटे टुकड़ों को चुन लेजायें। 'जम्भैः सं धेह्यभि यातुधानान्' [ऋ० १०।८७।३; अथर्व० ८।३।३] डाढ़ों से राक्षसों को चबा डाल। 'मन्योर्मनसः शरव्या जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान्' [ऋ० १०।८७।१३; अथर्व० ८।३।१२], क्रुद्ध मन से छोड़े गये तीक्ष्ण बाणद्वारा राक्षसों को हृदय में बींध डाल। यह वर्णन दुष्टात्माओं के प्रति ब्रह्म के दण्डविधान का संकेत है। ब्रह्म के आनन्द सर्वव्यापिता अन्तर्यामिता जगत्कर्तृता आदि गुणों के समान क्या इन वेध आदि गुणों का ब्रह्मापासनाओं में उपसंहार होना चाहिये?

आचार्य ने बताया, इन गुणों का उपसंहार उपासनाओं में नहीं होता; क्योंकि इनका प्रयोजन भिन्न है। ब्रह्म की उपासना का प्रयोजन मोक्षप्राप्ति है। मुमुक्षु उपासक सोम्य भावनाओं से युक्त रहता है, वह आनन्द सर्वान्तिर्यामी सर्वकर्त्ता आदि रूप में ब्रह्म का ध्यान करता हुआ उपासना करता है। परन्तु साधारणजन असंस्कृतबुद्धि होने से विरोधीजनों अथवा दुष्टात्माओं के हृदयवेधक आदि रूप में भगवान् का स्मरण करता है, उसका प्रयोजन मोक्षप्राप्ति न होकर केवल दुष्ट को दण्ड दिलाने की भावना है। इसलिये मोक्षफलक ब्रह्मोपासनाओं में वेधादि का उपसंहार अभीष्ट नहीं है; प्रयोजन भिन्न होने से इन गुणों का वहां कोई उपयोग नहीं॥२५॥

अर्थभेद से ब्रह्मोपासनाओं में वेधता आदि गुणों का उपसंहार नहीं होता, इस निर्णय के आधार पर शिष्य जिज्ञासा करता है, यह अर्थ–प्रयोजन क्या है? क्या वासना आदि का त्याग–नाश, अथवा केवल मोक्षप्राप्ति? इसविषय में छान्दोग्य [८।१३।१] का सन्दर्भ संदेहजनक है। आचार्य सूत्रकार ने विवेचनपूर्वक बताया—

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत् तदुक्तम् ॥२६॥

[हानौ] हानि में [तु] तो [उपायनशब्दशेषत्वात्] उपायनशब्द के सान्निध्य से [कुशा-छन्दस्तुति-उपगानवत्] कुशा, छन्दस्तुति और उपगान की तरह [तत्] वह [उक्तम्] कहा है। छान्दोग्य में प्रयुक्त पद हानि–त्याग अर्थ में है, उपायनशब्द के सान्निध्य से; जैसा कि कुशा, छन्दस्तुति और उपगान में होता है; यह अन्यत्र [पूर्व-मीमांसा में] कहा है।

छान्दोग्य उपनिषद् [८।१३।१] में सन्दर्भ है–'अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य। धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि' जैसे घोड़ा रोमों को, ऐसे पापों को झाड़कर; जैसे राहु के मुख से चन्द्रमा, ऐसे पापों से छूटकर; आत्मज्ञानी शरीर को त्याग नित्य ब्रह्मरूपलोक को प्राप्त होता हूं, ऐसी स्थिति का अनुभव करता है। यहां विचारणीय है, कि 'पापं विधूय' में 'विधूय' पद का अर्थ क्या है? क्या इसका अर्थ हानि–परित्याग है, अथवा अन्य कुछ? धात्वर्थ के आधार पर इसका अर्थ–कंपाकर, झटकाकर या झाड़कर–होता है। घोड़ा जैसे अपने देह व अयालों को हिलाकर–झटकाकर धूल-मट्टी से साफ करलेता है, वहां रोमों का परित्याग नहीं होता; ऐसे ही ब्रह्मोपासना से आत्मज्ञानी के पाप अथवा सुकृत-दुष्कृत साफ़ स्वच्छ परिष्कृत होजाते हैं, उनका त्याग नहीं होता; क्या यही अर्थ उक्त सन्दर्भ में समझना चाहिये, अथवा 'विधूनन' का अर्थ हानि–परित्याग होना युक्त है?

सूत्रकार ने बताया, उक्त सन्दर्भ के 'विधूय' पद में विधूनन का अर्थ हानि–परित्याग है। इस पद का यहां 'हानि' अर्थ में प्रयोग है। ब्रह्मोपासना का फल–प्रयोजन पाप आदि समस्त वासनाओं का परित्याग–नाश होकर मोक्ष प्राप्त करना है। पापरूप वासनाओं व सुकृत-दुष्कृत के छूटे विना मोक्ष प्राप्त नहीं होता, अतः उपासना का अर्थ–प्रयोजन पाप आदि का नाश है। छान्दोग्य के उक्त सन्दर्भ में 'विधूय' पद से इसी भाव को प्रकट किया है। इसीके साथ सन्दर्भ के 'राहोर्मुखात् प्रमुच्य' अंश में 'मुच्' धातु का प्रयोग है, जिसका अर्थ 'परित्याग–छोड़ना' है। जो अर्थ यहां 'मुच्' धातु से कहा है, वही अर्थ पहले वाक्य में 'धूञ्' धातु से अभिप्रेत है। घोड़ा जब अयालों को हिलाता या देह को झटकारता है, तो वहां अनेक जीर्ण रोम छूटकर अलग होजाते हैं। यदि धात्वर्थ पर अधिक बल दिया जाय, तो उक्त अंश का अर्थ होगा–आत्मज्ञानी पाप को चलायमान करदेता है; इसका तात्पर्य है, उस अवस्था में समस्त पापादि वासना नाश की ओर चल पड़ती हैं, प्रारब्ध का भोगना तो आत्मज्ञानी को भी अपरिहार्य है, भोगने में कुछ काल लगजाता है; इसप्रकार पाप धीरे-धीरे वहां से चलदेते हैं। इससे विधूनन का तात्पर्य विनाश में पर्यवसित होता है, इसलिये उक्त सन्दर्भ में इसका यही अर्थ उपयुक्त हो-

सकता है।

सूत्रकार ने इसकी सिद्धि में हेतु दिया, अन्यत्र सुकृत-दुष्कृत के विधूनन के साथ 'उपायन' शब्द कहा है। 'उपायन' पद का अर्थ है—उपादान, लेना, ग्रहण करना। कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् [१।४] में कहा—'तत् सुकृतदुष्कृते धूनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्' आत्मज्ञानी सुकृत-दुष्कृत को दूर करदेता है, उसके प्रिय बान्धव सुकृत को और अप्रिय दुष्कृत को ग्रहण करलेते हैं। इस वाक्य में 'उपयन्ति' क्रियापद है। यह उपायन, सुकृत-दुष्कृत का ग्रहण ज्ञातियों द्वारा तभी सम्भव है, जब दूसरे से परित्याग करदिया जाय। कोई वस्तु एक से परित्याग किये विना अन्य से ग्रहण नहीं कीजाती। इसलिये 'उपायन' शब्द के सान्निध्य से इस वाक्य में 'धूनुते' का अर्थ परित्याग करदेना है। यही अर्थ छान्दोग्य के सन्दर्भ में समझना युक्त है।

यद्यपि किसी अन्य के किये सुकृत-दुष्कृत किसी अन्य को प्राप्त नहीं होते, न ये ऐसे पदार्थ हैं, जिनका देना लेना होसके। वस्तुतः यह एक औपचारिक वर्णन है। इसका केवल इतना तात्पर्य है, कि आत्मज्ञानी के सुकृत-दुष्कृत नष्ट होजाते हैं, वह इन्हें उन लोगों के लिये छोड़ जाता है, जो अभी संसार में लिप्त हैं। सुकृत करनेवाले उसके प्रिय हैं, अनुकूल होते हैं, उसकी भावना रहती है—सब सुकृत करें। इसके विपरीत दुष्कृत करनेवाले उसके अप्रिय हैं। संसारी जन सुकृत-दुष्कृत करने के लिये रहजाता है, उपासक आत्मज्ञानी इनका परित्याग कर मोक्ष को प्राप्त होजाता है।

आशंका होती है, कौषीतकि में 'उपायन' शब्द के सान्निध्य से 'विधूनन' का अर्थ हानि—विनाश—परित्याग रहो, पर छान्दोग्य में उसका अतिदेश कैसे होगा? वहां उपायन का अभाव है। सूत्रकार ने इस विषय में बताया, यह बात अन्यत्र कहदीगई है—[तदुक्तम्]। पूर्वमीमांसा में जैमिनि ने कहा है—'अपि तु वाक्यशेषः स्यात्' [१०।८।३] अन्यत्र कहा गया अर्थ, उस विषय के अन्यत्र कहे गये अर्थ का शेष अर्थात् अंग होजाता है। छान्दोग्य और कौषीतकि दोनों में 'विधूनन' का समान प्रयोग है, तब एक जगह पठित 'उपायन' का दूसरी जगह वैसे प्रसंग में सम्बन्ध होना प्रामाणिक है। इसलिये कौषीतकि के समान छान्दोग्य ये विधूनन का अर्थ 'हानि' अर्थात् परित्याग व नाश है, यह निश्चित होता है।

एक जगह पठित अर्थ दूसरी जगह पठित अर्थ का शेष होजाता है, इस विषय में सूत्रकार ने कतिपय दृष्टान्त प्रस्तुत किये—'कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्'। इसमें कुशा, छन्दस्तुति, उपगान ये तीन दृष्टान्तस्थल हैं, इनका यथाक्रम विवरण निम्नप्रकार है—

१—कुशा—भाल्लविशाखा में पाठ है—'कुशा वानस्पत्याः स्थ ता मा पात' वनस्पति से बनी हुई कुशा स्थित हैं, वे मेरी रक्षा करें। यज्ञ में उद्गाता स्तोत्रों को गिनने के लिये लकड़ी की बनी सलाईयां पास रखलेते हैं, उनको यहां 'कुशा' कहा गया है। सामान्यरूप से यही कहा है, कि वे वनस्पति की बनी हों, किस वनस्पति से बनी हों, यह विशेष वहां नहीं बताया गया। पर अन्यत्र शाट्यायनियों की शाखा में कहा है—

'औदुम्बराः कुशाः' वे कुशा उदुम्बर–गूलर की बनी होनी चाहियें। इस विशेषवचन से सर्वत्र ये कुशा गूलर वनस्पति की बनी ग्रहण कीजाती हैं। समान अपेक्षा होने पर एक शाखा में कहा अर्थ दूसरी शाखा में अंगभाव से सम्बद्ध होजाता है। जैसे शाट्यायनियों की शाखा में बताये गये कुशाविषयक विशेषवचन का भाल्लविशाखा में संबन्ध प्रामाणिक है; ऐसे ही कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् [१।४] में कहे विशेषवचन–उपायन का छान्दोग्य [८।१३।१] में सम्बन्ध होजायगा। यही आगे के उदाहरणों में समझना चाहिये।

२–**छन्दस्तुति**—जैसे कहीं छन्दों द्वारा स्तुति के पूर्वापर प्रसंग में देव-असुर छन्दों का विशेष उल्लेख न कर सामान्यरूप से कहा–'छन्दोभिः स्तुवते' छन्दों के द्वारा स्तुति करते हैं। देव-असुर छन्दों में से स्तुति के लिये किसका पहले प्रयोग किया जाय, किसका पीछे; यह नहीं बताया। परन्तु पैङ्गियों की शाखा में पाठ है–'देवच्छन्दांसि पूर्वाणि' देवच्छन्दों का पहले प्रयोग करना चाहिये। इसके अनुसार सर्वत्र यह निर्णय कर लिया जाता है, कि स्तुति में देवच्छन्दों का प्रयोग पहले हो, असुरच्छन्दों का पीछे। एकचरण में नौ तक अक्षरोंवाले छन्द असुरच्छन्द कहे जाते हैं, दश आदि अक्षरवाले छन्द देवच्छन्द।

३–**उपगान**—एक शाखा में कहा गया–'ऋत्विज उपगायन्ति' ऋत्विज् उपगान करते हैं। यह एक सामान्य वचन है, इससे ब्रह्मा आदि समस्त ऋत्विजों द्वारा उपगान प्राप्त होता है। यह निश्चय नहीं होता, कि कौनसा ऋत्विज् गावे, कौनसा न गावे। पर तैत्तिरीय संहिता [७।३।१] में कहा–'नाध्वर्युरुपगायेत्' अध्वर्यु उपगान न करे। इससे यह निर्णय होजाता है, कि उपगान में अध्वर्यु सम्मिलित नहीं होता, उससे अतिरिक्त शेष सब ऋत्विज् उपगान करते हैं। ॥२६॥

यह निश्चय किया गया, कि छान्दोग्य [८।१३।१] के सन्दर्भ में 'विधूनन' का अर्थ हानि अर्थात् विनाश है। इस पृष्ठभूमि पर शिष्य जिज्ञासा करता है, उपासना के फलस्वरूप ब्रह्मसाक्षात्कार होजाने पर क्या केवल पाप की हानि होती है? अथवा पाप-पुण्य दोनों की? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

साम्पराये तर्त्तव्याभावात् तथा ह्यन्ये ॥२७॥

[साम्पराये] परलोक में [तर्त्तव्याभावात्] तैरने–पार होने योग्य के अभाव से [तथा हि] जैसाकि [अन्ये] दूसरे। ब्रह्मज्ञानी को परलोक में भोगद्वारा पार होने योग्य कुछ शेष नहीं रह-जाता, इसलिये ब्रह्मज्ञान होने पर पुण्य-पाप दोनों की निवृत्ति होजाती है, जैसाकि अन्य शाखावाले कहते हैं।

उपासना के फलस्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार होजाने पर ब्रह्मज्ञानी उपासक के लिये मोक्षप्राप्ति के अतिरिक्त परलोक में भोक्तव्य कुछ शेष नहीं रहता, जिसे मोक्षप्राप्ति से पहले भोगकर पार करना अपेक्षित हो। इससे यह परिणाम निकलता है, कि ब्रह्मज्ञान होनेपर पापभोग के समान सांसारिक पुण्यभोग भी नहीं रहता। ब्रह्मज्ञानी समस्त

संसारी पुण्य-पाप को पार कर जाता है। इस विषय में श्वेताश्वतर [१।१०] कहता है– 'तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' ब्रह्म के अभिध्यान उपासन से समाधिद्वारा तत्त्वभाव–यथार्थ आत्मज्ञान–को प्राप्त होकर समस्त संसार-भावनाओं की निवृत्ति होजाती है। गीता [४।३७] में कहा–'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' ब्रह्मज्ञानरूप अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है। संसारबन्धन में रखनेवाले सभी पुण्य-पाप कर्मों के भस्म होजाने का यहां निर्देश है।

अन्यत्र पुण्य-पाप दोनों का विनाश ब्रह्मज्ञान से स्पष्ट बताया है–'तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' [मुं० ३।१।३] ब्रह्मज्ञानी पुण्य और पाप दोनों को झाड़कर–परित्यागकर निर्दोष हुआ परम समता को प्राप्त होता है। कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् [१।४] के उक्त प्रसंग में भी स्पष्ट कहा–'तत् सुकृतदुष्कृते धूनुते' तब सुकृत-दुष्कृत दोनों का विनाश होजाता है। इसलिये गतसूत्र में जिन भावनाओं की हानि का निर्देश है, उनमें पाप-पुण्य दोनों का समावेश है ॥२७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि ऐसा है, तो छान्दोग्य के उक्त सन्दर्भ [८।१३।१] का सामञ्जस्य कैसे होगा ? वहां सी केवल पाप के विधूनन–नाश का निर्देश है ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

छन्दत उभयाविरोधात् ॥२८॥

[छन्दतः] इच्छा से–इच्छानुसार [उभयाविरोधात्] दोनों के अविरोध से। वक्ता की इच्छा से छान्दोग्य में 'पाप' पद पाप-पुण्य दोनों के लिये प्रयुक्त समझना चाहिये, क्योंकि दोनों जगह के वचनों में अविरोध आवश्यक है।

मुण्डक उपनिषद् [३।१।३] में जब ब्रह्मज्ञान से पुण्य-पाप दोनों के विनाश का स्पष्ट निर्देश है, तब छान्दोग्य [८।१३।१] का इससे विरोध नहीं होना चाहिये। अविरोध के लिये यही मार्ग है, कि छान्दोग्यपठित 'पाप' पद को पाप-पुण्य उभयपरक माना जाय। मोक्षप्राप्ति में बाधक है–संसारक्रम का चालू रहना, अर्थात् निरन्तर देहादिबन्धन में आते रहना। इसके लिये पाप-पुण्य दोनों प्रकार के कर्म समानरूप से निमित्त हैं। पापकर्मों के फलोपभोग के लिये जैसे देहादि की प्राप्ति आवश्यक है, ऐसे ही पुण्यकर्मों के फलोपभोग के लिये। ब्रह्मज्ञान होजाने पर–जबकि निरन्तर देहादि प्राप्ति का अवसान होजाता है, तभी–मोक्ष प्राप्त होना संभव है। इसलिये ब्रह्मज्ञान होजाने से पापकर्मों के समान–संसारबन्धन में लानेवाले–पुण्यकर्मों का भी उस समय विनाश होजाता है। अन्यथा ब्रह्मज्ञान होजाने पर मोक्षप्राप्ति का न होना एक आपत्ति होगी। इसके अनुसार छान्दोग्य के प्रवक्ता ने मोक्ष के अत्यन्त विरोधी 'पाप' पद के निर्देश से पाप-पुण्य दोनों को प्रकट किया है। फलतः मुण्डक और छान्दोग्य के सन्दर्भों में अविरोध की भावना से छान्दोग्य के 'पाप' पद का तात्पर्य सुकृत-दुष्कृत दोनों के कथन करने में है, यह वक्ता

की इच्छा के अनुसार निश्चित होता है। फिर छान्दोग्य में ऐसा कोई संकेत नहीं, कि केवल पाप का विधूनन होता है, पुण्य का नहीं होता। लोक में 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' कौओं से दही की रखवाली करना, यह कहने का इतना अर्थ नहीं होता, कि केवल कौओं से रक्षा करना, कुत्ते आदि से नहीं। वक्ता का तात्पर्य समस्त प्राणियों से रक्षा करने का समझा जाता है। ऐसा ही प्रस्तुत प्रसंग में समझना चाहिये ॥२८॥

शिष्य आशंका करता है, ब्रह्मोपासनद्वारा आत्मज्ञान होजाने पर देहपात के अनन्तर ज्ञानी को ब्रह्मप्राप्ति यहीं होजायगी; फिर देवयानमार्ग से ज्ञानियों की गति का जो उल्लेख हुआ है, वह निरर्थक होगा। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥२६॥

[गतेः] गति का [अर्थवत्त्वम्] अर्थवाली-प्रयोजनवाली-फलवती होना [उभयथा] दोनों प्रकार से स्वीकार होने के कारण [अन्यथा] नहीं तो [हि] निश्चय से [विरोधः] विरोध होगा। गति फलवती है, ब्रह्मोपासन दोनों प्रकार का स्वीकार किया गया है, अन्यथा निश्चित ही शास्त्र में विरोध होगा।

ब्रह्मोपासन दो प्रकार का स्वीकार किया जाता है, एक गतिवाला, दूसरा गतिहीन। ब्रह्मोपासन करते हुए जब कोई बाधा सामने आजाती हैं, पूर्ण ब्रह्मज्ञान नहीं हो-पाता; ब्रह्मसाक्षात्कार से पहले शरीर छूट जाता है; ऐसे ज्ञानियों की गति देवयान मार्ग से होती है। यह ब्रह्मोपासन गतिवाला कहा जाता है। ब्रह्मोपासना में निरन्तर संलग्न ऐसे आत्मा लोकान्तर अर्थात् जन्मान्तर में ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये सतत प्रयत्नशील रहते हैं। यदि तब भी ब्रह्मसाक्षात्कार में कोई अनिवार्य बाधा आजाती हैं, सद्यः साक्षात्कार की संभावना नहीं रहती; तो उपासनाद्वारा जिस गति को आत्मा ने प्राप्त किया है, उसके फल विशेषऐश्वर्य आदि की प्राप्ति उसे अवश्य होती है। इसलिये यह गति फलवती है, निरर्थक नहीं। यदि वहां आत्मा को ब्रह्मसाक्षात्कार होजाता है, उसमें कोई बाधा नहीं आतीं; तो इस अवस्था में उस गति का यही फल होजाता है; तब भी गति निरर्थक नहीं।

जब किसी एक देहपात से पूर्व ब्रह्मोपासनद्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार होजाता है, तो यह ब्रह्मोपासन गतिहीन है। तात्पर्य यह है, कि ऐसे ब्रह्मज्ञानी के लिये देवयान आदि किसी गति की अपेक्षा नहीं रहती; वह देहपात के तत्काल अनन्तर ब्रह्म को प्राप्त हो-जाता है–'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' [बृ० ४।४।६]।

ऐसा ब्रह्मोपासन गतिहीन समझा जाता है। जब गति नहीं, तब उसके सफल विफल होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ब्रह्मोपासन के उभयथा स्वीकार किये जाने से गति की अर्थवत्ता–सफलता प्रमाणित होती है। यदि ऐसा न माना जाय, तो उन शास्त्रवचनों में विरोध होगा, जहां एक जगह देवयानमार्ग से ज्ञानी की गति का उल्लेख है, और

दूसरी जगह नहीं है। कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् [१।३] में 'स एतं देवयानं पन्थानमासाद्य' इत्यादि सन्दर्भद्वारा देवयानमार्ग से गति का उल्लेख है । मुण्डक [३।१।३] में 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' तथा बृहदारण्यक [४।४।७] में 'अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' सन्दर्भद्वारा बताया है, कि जीवात्मा ब्रह्मज्ञान होजाने पर जन्म-मरण के सतत बन्धन से छूट यहीं ब्रह्म को प्राप्त होजाता है । सन्दर्भ में 'अत्र' पद ब्रह्मज्ञानी के लिये गति का निवारण करता है, वह तो देहपात के अनन्तर यहीं ब्रह्म को प्राप्त होजाता है । सारांश यह, कि अपूर्ण ज्ञानी के विषय में गति का उल्लेख है । जिसने पूर्ण ब्रह्म-साक्षात्कार करलिया है, उसके लिये गति अनपेक्षित है ।।२६।।

शिष्य जिज्ञासा करता है, जिस उपासक को ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हुआ, उसकी गति का उल्लेख कैसे उपपन्न माना जासकता है ? क्योंकि देवयानगति ब्रह्मज्ञानी की बताई गई है, जब उसने ज्ञान उपलब्ध नहीं किया, तो उसकी गति का यह उल्लेख कैसे ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ।।३०।।

[उपपन्नः] उपपन्न है–युक्त है, [तल्लक्षणार्थोपलब्धेः] उसके हेतु का फल प्राप्त होने से [लोकवत्] लोक में जैसे । देवयानगति ब्रह्मोपासक की है, यह युक्त है, गति के हेतु उपासना का फल प्राप्त होने के कारण; जैसा कि लोक में देखा जाता है ।

सूत्र के 'तल्लक्षणार्थोपलब्धेः' पद में 'तत्' गति का, 'लक्षण' हेतु का और 'अर्थ' प्रयोजन–फल का बोधक है । गति का हेतु ब्रह्मोपासना है । उपासक की देवयानगति ब्रह्मोपासन के कारण होती है । ब्रह्मोपासन का फल ब्रह्मसाक्षात्कार है, उपासक को देवयानगतिद्वारा लोकान्तर में जानेपर ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होजाती है । तब ब्रह्मोपासक की देवयानगति बताना सर्वथा उपपन्न है । देवयानगति उपासक का एक ऐसा स्तर है, जहां ब्रह्मसाक्षात्कार की पूर्ण संभावना है । यह स्थिति उस समय आती है, जब ब्रह्म-साक्षात्कार होने के सद्यः पूर्व किन्हीं प्रतिबन्धों के कारण देहपात होजाता है । ब्रह्मोपासनाओं का फल ब्रह्मसाक्षात्कार है, वह चाहे निर्बाध दशा में इसी जन्म में होजाय, अथवा वर्त्तमान देह का पतन होने पर; इसमें कोई अन्तर नहीं आता ।

ऐसे ब्रह्मोपासकों को देहपात के अनन्तर देवयानगतिद्वारा लोकान्तर में ब्रह्म-साक्षात्कार होता है, यह शास्त्र बताता है । प्रश्न उपनिषद् [५।५] में कहा–'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्, । स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' ओंकार-द्वारा कीगई ब्रह्मोपासना उपासक को ब्रह्मलोक लेजाती हैं । जीवात्माओं के भोग के लिये निर्मित पृथिव्यादि लोक-लोकान्तरों से पर जीवात्मतत्त्व है, उससे पर सर्वान्तर्यामी पुरुष–परब्रह्म को वह उपासक वहां साक्षात् कर लेता है । ऐसे उपासकों के पाप क्षीण हो-जाते हैं, 'पाप्मना विनिर्मुक्तः' [प्र० ५।५], पुण्य भी क्षीणप्राय रहते हैं । पाप-पुण्य का

सर्वात्मना क्षय ब्रह्मसाक्षात्कार के अनन्तर होता है। वह चाहे चालू देह के रहते हो, अथवा देहपात के अनन्तर। देहपात के अनन्तर होनेवाले ब्रह्मसाक्षात्कार में कभी बाधा आजाती हैं। इसका संकेत गतसूत्र की व्याख्या में किया गया है, जहां ब्रह्मसाक्षात्कार से पहले विशेषऐश्वर्यरूप फलप्राप्ति का उल्लेख है, और विवेचन अगले सूत्र में है।

देवयानगति ब्रह्मोपासक की है, इसकी पुष्टि के लिये सूत्रकार ने लोकदृष्टान्त का निर्देश किया। लोक में किसी विशेष अर्थ की प्राप्ति के लिये एक प्रदेश से अन्य प्रदेश में जाना पड़ता है। यदि किसीको प्रदेशान्तर में जाने से पूर्व उस अर्थ की प्राप्ति होजाती है, तो उस व्यक्ति का जाना सर्वथा अनावश्यक है। ऐसे ही जिस उपासक को ब्रह्मसाक्षात्कार यहीं हो जाता है, उसके लिये देवयानगति अनावश्यक है। जिसको ऐसा नहीं होता, उसके लिये गति का उल्लेख है, क्योंकि वहां उस उपासक को गति के हेतु–उपासना का फल–ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त होना है। इसलिये ब्रह्मोपासक के लिये देवयानगति का बताया जाना सर्वथा उपपन्न है ॥३०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, देवयानमार्ग से उपासनाओं के अनुसार जो ब्रह्मोपासक ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं, क्या उन सबको नियम से ब्रह्मोपासनाओं का फल ब्रह्मसाक्षात्कार होजाता है, अथवा किसीको नहीं भी होता? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥३१॥

[अनियमः] अनियम [सर्वासाम्] सबका [अविरोधः] विरोध नहीं [शब्दानुमानाभ्याम्] श्रुति और स्मृति से। उपासनाओं के फलस्वरूप ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर प्रत्येक उपासक को ब्रह्मसाक्षात्कार होजाता है, ऐसा नियम नहीं, इसमें कोई विरोध नहीं; यह श्रुति और स्मृति से ज्ञात होता है।

विविध उपासनाओं को करते हुए जो उपासक देवयानगति से ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं, वहां सबको ब्रह्मसाक्षात्कार होजाता हो, ऐसा नियम नहीं है। ब्रह्मसाक्षात्कार का प्रयोजक साधनसम्पत्ति का पूर्ण होना है। यदि उससे पूर्व उपासना में कोई अनिवार्य बाधा उपस्थित होजाती है, तो ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होपाता। ऐसा उपासक अनुष्ठित उपासनाओं के ऐश्वर्यादि फलोपभोग के लिये इस लोक में विशिष्ट देहादि सम्बन्ध को प्राप्त होता है। इसी भावना से गीता [८।१६] में कहा है–'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन' हे अर्जुन! ब्रह्मलोक तक से उपासक यहां फिर लौट आते हैं। जिनको वहां ब्रह्मसाक्षात्कार होजाता है, वे मोक्ष को प्राप्त होजाते हैं, सतत आवर्त्तमान जन्म-मरण के चक्र से छूट जाते हैं। उनके विषय में शास्त्र ने बताया–'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते' [छा० ४।१५।६] देवयानमार्ग से ब्रह्मलोक को प्राप्त आत्मा ब्रह्मसाक्षात्कार होजाने पर इस मानव आवर्त्त में लौटकर नहीं आते। इसप्रकार श्रुति

और स्मृति के आवर्त्तन और अनावर्त्तन कथन में कोई विरोध नहीं है। यह कथन ब्रह्म-साक्षात्कार के न होने और होने के आधार पर है। फलतः देवयानमार्ग से ब्रह्मलोकप्राप्ति में आवश्यकरूप से ब्रह्मसाक्षात्कार होजाता है, अथवा नहीं होता है; ऐसा नियम नहीं है। साधनसम्पत्ति के अनुसार दोनों स्थिति संभव हैं।

अथवा प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या इसप्रकार कीजासकती है–उपनिषदों में वर्णित उपासनाओं में किन्हींके साथ देवयानगति का उल्लेख है, किन्हींके साथ नहीं। छान्दोग्य [५।१०।१] में पञ्चाग्निविद्या और उपकोसलविद्या [४।१५।५] के साथ देवयानपथ का उल्लेख है। तथा मधुविद्या, शाण्डिल्यविद्या, वैश्वानरविद्या आदि में इसको नहीं पढ़ा गया। इसलिये जिनके साथ पढ़ा गया है, उन्हींका फल देवयानगति होना चाहिये, अन्य मधु आदि उपासनाओं का नहीं। इसका अन्यत्र उपसंहार भी नहीं माना जाना चाहिये; क्योंकि यदि ऐसा उपनिषत्कार को अभीष्ट होता, तो वह दो विद्याओं के साथ इसे क्यों पढ़ता ? एक जगह कहने पर ही सर्वत्र उपसंहार होजाता। ऐसी स्थिति में सूत्रकार ने बताया–जिन उपासनाओं के साथ देवयानगति का उल्लेख है, उन्हींका यह फल हो, ऐसा नियम नहीं है; प्रत्युत विना किसी नियम के यह उन सब उपासनाओं का फल है, जो ब्रह्मलोक की प्राप्ति के लिये कीजाती हैं। इसलिये उक्त आधार पर इनमें कोई विरोध नहीं है। क्योंकि यह श्रुति और स्मृति के अनुसार होने से प्रमाणित है। कर्ममार्गी और ज्ञानमार्गियों की दो गतियों का वर्णन श्रुति-स्मृति में उपलब्ध है। वेद में कहा–'द्वे स्रुती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत' [ऋ० १०।८८।१५]। बृहदारण्यक उपनिषद् [६।२।१५-१६] में देवयान-पितृयाण का विशद उल्लेख है। इस विषय में उपनिषदों के ये स्थल द्रष्टव्य हैं–प्रश्न उपनिषद् [१।१०], मुण्डक उपनिषद् [१।२।११]। गीता [८।२६] में इसका स्पष्ट उल्लेख है। इन गतियों में जैसे समस्त यज्ञ आदि कर्मानुष्ठान का फल पितृयाणगति है; ऐसे समस्त ब्रह्मोपासनाओं का फल देवयानगति है। भले ही किन्हीं उपासनाओं के साथ इसका उल्लेख न हुआ हो। सब उपासनाओं की फलस्वरूप गति समान होने पर भी प्रत्येक उपासना ब्रह्मसाक्षात्कार की प्रयोजक है, ऐसा नियम नहीं है। उन उपासनाओं का ऐश्वर्यादिप्राप्ति फल अवश्य होता है ॥३१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, ब्रह्मसाक्षात्कार होजाने पर आत्मा मोक्ष का अधिकारी होजाता है, तब वह मोक्षदशा में कब तक अवस्थित रहता है ? सूत्रकार ने बताया—

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥३२॥

[यावदधिकारं] जब तक अधिकार है, तब तक [अवस्थितिः] ठहरना है [आधिकारिकाणाम्] अधिकारवालों का। ब्रह्मसाक्षात्कार से जिनको मोक्षाधिकार प्राप्त होगया है, उनका अधिकारपर्यन्त वहां ठहरना होता है।

अध्यात्मशास्त्रों में जहां आत्मा की मोक्षदशा का वर्णन है, वहां कुछ संकेत ऐसा

उपलब्ध होते हैं, जिनसे इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है, कि मोक्ष में मुक्तात्मा के रहने का कितना अधिकार है। छान्दोग्य [४।१५।६] में कहा–'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते' देवयानमार्ग से ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए ब्रह्मज्ञानी इस मानव आवर्त्त में नहीं लौटते। जिस मानवसर्ग में वे मोक्ष को प्राप्त होते हैं, उसमें लौटकर नहीं आते। यहां 'इमम्' पद के पढ़े जाने से यह स्पष्ट होता है, कि उस मानवकल्प में वे मोक्ष से नहीं लौटते, पर कल्पान्तर में लौट आते हैं। ऐसे ही छान्दोग्य उपनिषद् में अन्यत्र [८।१५।१] कहा–'स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्त्तते' इसप्रकार ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर–जितना वहां रहने का अधिकार है–ब्रह्मलोक में निवास करता है, इस बीच वह लौटकर नहीं आता। बृहदारण्यक उपनिषद् [६।२।१५] में बताया–'तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति' यहां 'पराः परावतः' पद काल की किसी अत्यधिक सीमा का संकेत करते हैं, अनन्त होना तात्पर्य इन पदों का नहीं है। आगे 'तेषां न पुनरावृत्तिः' पद उस कालावधि में आवृत्ति का निषेध करते हैं। इसप्रकार ब्रह्मसाक्षात्कर्त्ता आत्मा मोक्ष में अपने अधिकारपर्यन्त ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं। इस विषय का विस्तृत विवेचन शास्त्र के अन्तिम भाग में किया गया है, यहां केवल प्रसंगागत उल्लेख है ॥३२॥

प्रासंगिक विचार समाप्त कर आचार्य सूत्रकार ने पुनः गुणोपसंहार प्रकरण का अनुसरण करते हुए सूत्र कहा—

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत् तदुक्तम् ॥३३॥

[अक्षरधियां] अक्षर बुद्धियों (उपासनाओं) का [तु] तो [अवरोधः] उपसंहार [सामान्यतद्भावाभ्यां] समानता से और वही होने से [औपसदवत्] औपसद की तरह [तत्] वह [उक्तम्] कहा है। अक्षर उपासनाओं में कहे धर्मों का उपसंहार तो अन्य उपासनाओं में होता है; क्योंकि सर्वत्र उपास्य ब्रह्म समान है, और वही अस्थूलता आदि धर्म हैं। औपसद के समान, वह अन्यत्र [पूर्वमीमांसा में] कहा है।

बृहदारण्यक उपनिषद् [३।८।८] में अक्षरब्रह्म की उपासना का वर्णन इसप्रकार है–'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्ति–अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' इत्यादि। इसीप्रकार मुण्डक उपनिषद् [१।१।६] में परा विद्या का स्वरूप बतलाते हुए कहा–'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रम्' इत्यादि। इन प्रसंगों तथा ऐसे अन्य [माण्डू० १; छा० १।४।१] प्रसंगों में कुछ विशेषताओं के निराकरणद्वारा ब्रह्मस्वरूप के बोध कराने का प्रयास किया गया है। जिज्ञासा है, इन अस्थूल, अनणु तथा अदृश्य, अग्राह्य आदि गुणों का सर्वत्र ब्रह्मोपासनाओं में उपसंहार होना चाहिये, अथवा नहीं ? पूर्वपक्ष है, नहीं होना चाहिये; क्योंकि जो गुण जहां

अपेक्षित हैं, वे वहां पढ़े गये हैं, उनका उपयोग वहीं होना चाहिये, अन्यत्र नहीं। सूत्रकार ने बताया, अक्षरब्रह्मविषयक उपासनाओं में कहे गये धर्मों का उपसंहार सर्वत्र उपासनाओं में होता है; क्योंकि सब उपासनाओं में उपास्य ब्रह्म समान है, इसके अतिरिक्त गुणों का निर्देश सर्वत्र प्रायः वही है। एक जगह कहे गुण अन्यत्र ब्रह्मस्वरूप का बोध कराने में सहायक होते हैं। इसलिये अक्षर उपासना में कहे गये अस्थूल आदि गुणों का सर्वत्र उपासनाओं में सम्बन्ध समझना अभीष्ट है।

सूत्रकार ने इस विषय में दृष्टान्त दिया—औपसदवत्। चार दिन में संपन्न होनेवाला एक 'चतूरात्र' नामक अहीन यज्ञ है, उसमें अध्वर्यु पुरोडाश की कुछ आहुतियां देता है, उनका नाम 'उपसद्' है। ये आहुतियां 'अग्नेर्वेर्होत्रं वेरध्वरम्' [ताण्ड्य० २१।१०।११] इत्यादि मन्त्रों से दीजाती हैं। ये मन्त्र ताण्ड्यब्राह्मण के हैं, जो सामवेद का ब्राह्मण है, इसलिये इन मन्त्रों का उच्चारण उद्गाता ऋत्विज् को करना चाहिये, अध्वर्यु को नहीं। परन्तु इस अनुष्ठान का प्रधानकार्य पुरोडाशप्रदान है, जो नियमानुसार अध्वर्यु के द्वारा किया जाता है। इसलिये मन्त्रोच्चारण पुरोडाशप्रदान का अङ्ग होकर अध्वर्युद्वारा किया जाता है। जैसे यहां पुरोडाशप्रदान करनेवाले अध्वर्यु के साथ उद्गाताद्वारा किये जाने वाले मन्त्रोच्चारण का सम्बन्ध होजाता है; ऐसे ही अस्थूल आदि गुणों का विभिन्न शाखाओं में पढ़े जानेपर भी सर्वत्र उपास्य ब्रह्म के साथ सम्बन्ध समझ लेना चाहिये।

इस विषय को पूर्वमीमांसा में कहा है—'गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः' [मी० सू० ३।३।९] गुण और मुख्य के व्यतिक्रम (उलट) में मुख्य के साथ मन्त्र का सम्बन्ध होता है, क्योंकि गुण मुख्य को संपन्न करने के लिये होता है। अतः मुख्य उपास्य ब्रह्म के साथ गुणों का सम्बन्ध सर्वत्र उपासनाओं में अभिप्रेत है ॥३३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, ऐसे कितने गुणों का उपसंहार सर्वत्र उपासनाओं में किया जाना चाहिये? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

इयदामननात् ॥३४॥

[इयत्] इतना [आमननात्] शास्त्र में कहे जाने से। उतने गुणों का उपसंहार समझना चाहिये, जितने गुणों का शास्त्र में कथन किया गया है।

जगत् के उत्पत्ति–स्थिति–प्रलय के कारण, अचिन्त्यशक्ति परब्रह्म परमात्मा के गुणों की कोई सीमा नहीं है। फिर भी ब्रह्मजिज्ञासु जनों के लिये यह कहा जासकता है, कि अध्यात्मशास्त्रों के द्वारा उपासनाओं में उपयोगी जितने गुणों का वर्णन हुआ है, उनका एक उपासना से दूसरी में उपसंहार होता है, यह आचार्यों ने निर्णय किया है। अल्पज्ञ अल्पशक्ति जिज्ञासु सर्वगुणसम्पन्न परब्रह्म के स्वरूप की उपासना करने में अक्षम रहता है; इसलिये शास्त्रों में विधिमुख से कथित सत्-चित्-आनन्द, जगत्कर्तृत्व आदि

गुणों को तथा निषेधमुख से कहे गये अस्थूल, अनणु, अतमः, अकाय, अव्रण आदि गुणों को यथावत् जानकर इनका उपयोग उपासना में अपेक्षित है, इसलिये शास्त्रों में कहे जाने के कारण इतने गुणों का परस्पर उपासनाओं में सर्वत्र उपसंहार समझना चाहिये ॥३४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, उपासनाओं में शास्त्रोक्त ब्रह्मगुणों का सर्वत्र उपसंहार होता है, यह ठीक है; परन्तु ब्रह्म की उपासना करनी कहां चाहिये ? प्रसंगवश सूत्रकार ने बताया—

अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः ॥३५॥

[अन्तरा] मध्य में [भूतग्रामवत्] भूतसमूह में जैसे [स्वात्मनः] अपने आत्मा के। अपने आत्मा के मध्य में ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। आत्मा में ब्रह्म ऐसे ही व्याप्त है जैसे भूतसमूह में।

गतसूत्र से 'आमननात्' हेतुपद की यहां अनुवृत्ति है, । शास्त्र में कहे जाने से यह ज्ञात होता है, कि ब्रह्म की उपासना उपासक को अपने आत्मा के मध्य में करनी चाहिये। ब्रह्म आत्मा में वैसे ही व्याप्त है, जैसे अन्य समस्त भूतसमूह में। अन्यत्र व्याप्त रहते हुए भी उसकी उपासना आत्मा में संभव है। अथवा 'भूतग्राम' पद का अर्थ देह है, क्योंकि यह मानवदेह भूतों का समूह है। देह में स्थित जैसे आत्मा को जाना जाता है, ऐसे आत्मा में स्थित परब्रह्म को जानने के लिये वहीं उसकी उपासना करनी अपेक्षित है। कठ उपनिषद् [१।२।१२] में कहा—'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं······अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा···' वह कठिनता से जाना जाता है, देह के अन्दर हृदयगुहा में प्रविष्ट आत्मा के भीतर वह अनुप्रविष्ट है। आत्मा में समाधिलाभ होने पर उसे जाना जाता है। शास्त्रों के द्वारा आत्मा में स्पष्ट ब्रह्म की स्थिति को बताया है—'अयमन्तरात्मन् पुरुषः' [शत० १०।६।३।२], 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' [कठ० २।१।१२], यह पहले से वर्णित पुरुष आत्मा के अन्दर है। हृदयरूप अंगुष्ठमात्र प्रदेश में जानने योग्य वह ब्रह्मपुरुष आत्मा के मध्य स्थित रहता है। 'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः' [कठ० २।२।१२], आत्मा में स्थित उस ब्रह्म को जो धीर जिज्ञासु साक्षात् करते हैं। 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः' [शत० ६।७।३०] जो आत्मा में ठहरता हुआ आत्मा से भिन्न है। 'एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ' [श्वे० २।१५] इसप्रकार वह परब्रह्म परमात्मा आत्मा में गृहीत होता है, जाना जाता है। इससे निश्चित होता है, ब्रह्म की उपासना हृदयदेशस्थित आत्मा में करनी चाहिये ॥३५॥

शिष्य आशंका करता है, उपासक को अपने आत्मा में ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये, ऐसा यदि माना जाता है; तो शास्त्र में अन्य प्रकार से उपासनाविषयक जो उपदेशविशेष किया गया है, वह अनुपपन्न होजाता है ? आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥३६॥

[अन्यथा] अन्य प्रकार से कथित [भेदानुपपत्तिः] उपदेशविशेष की अनुपपत्ति-असिद्धि होगी, [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो वह ठीक) [न] नहीं; [उपदेशान्तरवत्] अन्य उपदेश के समान (होने से)। आत्मा में ब्रह्म की उपासना मानने पर अन्यथा कथित उपासनाविशेष असिद्ध होजायेंगे; ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि अन्य उपदेशों की तरह उपासनाविषयक उपदेश सिद्ध रहेंगे।

छान्दोग्य में वर्णित वैश्वानर उपासना में 'तान् होवाच' [५।१८।१] इत्यादि सन्दर्भ से आदित्य आदि में ब्रह्मोपासना की निन्दा कर द्युलोक से लेकर पृथिवीपर्यन्त समस्त विश्व में व्याप्त विराट् ब्रह्मस्वरूप की उपासना का विधान किया है। ब्रह्म के उस स्वरूप को अगले 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य' [छा० ५।१८।२] इत्यादि सन्दर्भ से स्पष्ट किया है। ब्रह्म के ऐसे उपास्य विराट् स्वरूप का उपदेश मुण्डक उपनिषद् [२।१।४] में 'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे' इत्यादि सन्दर्भ से किया है। अथर्ववेद [१०।७।३२] में 'यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धानं' इत्यादि मन्त्र से उसी उपास्य विराट् स्वरूप का वर्णन है। यह समस्त विश्व में विराट् रूप से उपदिष्ट उपासना असिद्ध होगी, यदि हृदयस्थित आत्मा में ब्रह्म की उपासना का विधान स्वीकार किया जाता है। क्योंकि उपासना के आत्मप्रदेश से द्युलोकादि पृथिवीपर्यन्त प्रदेश भिन्न है। इनमें पहले के स्वीकार करने से दूसरा असिद्ध होजाता है।

सूत्रकार ने बताया, ऐसा समझना उपयुक्त न होगा। कारण यह है, कि अधिकारिभेद से उपासनाओं के उपदेश में भले ही कुछ भेद हो, पर समस्त ब्रह्मोपासना आत्मा में संभव हैं। सूत्र में 'उपदेशान्तर' पद का अर्थ है—उपासनाविषयक उपदेश से अन्य उपदेश, अर्थात् कर्मविषयक उपदेश। अधिकारिभेद से जैसे कर्मोपदेश का भेद होजाता है, ऐसे उपासनाविषयक उपदेशभेद भी उपपन्न होजायगा। अग्निहोत्र कर्म अधिकारिभेद से बाह्य और अध्यात्म दो प्रकार का बताया गया है। ब्रह्मचारी गृहस्थ आदि बाह्य अग्नि में द्रव्याहुति देकर बाह्य अग्निहोत्र करते हैं। परन्तु विरक्त जिज्ञासु वैश्वानर उपासक के लिये छान्दोग्य [५।१८।२; ५।१९।१; ५।२४।२-३] के प्रसंगों में अध्यात्म अग्निहोत्र का उपदेश है, जहां छाती को वेदि, लोमों को बर्हि, हृदय को गार्हपत्य अग्नि आदि बताया है, तथा आगे इसका 'अग्निहोत्र' नाम से उल्लेख किया है—'य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति'। जैसे इन उपदेशों में अधिकारिभेद से भेद है, पर इनमें से कोई असिद्ध नहीं है; ऐसे ही उपासनाओं के उपदेश में भेद संभव है; पर उनमें से किसीको असिद्ध नहीं माना जाना चाहिये। ब्रह्मजिज्ञासु को ब्रह्म के आनन्दरूप आदि का ध्यान व उपासना आत्मा में करने चाहियें। अन्य ऐश्वर्यादि कामनावालों के लिये ब्रह्माण्ड में नानाविध प्रदेश उपासना के कल्पना किये जासकते हैं।

वस्तुतः उपास्य ब्रह्म की उपासना का स्थान आत्मा ही है। कोई उपासक ब्रह्म का जिस किसी रूप में ध्यान करता है, वह केवल आत्मा में संभव है। उपासनाविषयक समस्त उपदेशों का स्वारस्य आत्मप्रदेश में उपासना से अतिरिक्त नहीं है। आत्मा में ब्रह्मोपासना कर्त्तव्य है, इस गुण का सर्वत्र उपासनाओं में उपसंहार समझना चाहिये। फलतः उपासनाओं के उपदेशों में कोई अनुपपत्ति नहीं है ॥३६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, ब्रह्मोपासक को यह कैसे ज्ञात होता है, कि उसकी उपासना पूर्णरूप से सम्पन्न होगई है? उपासना के सम्पन्न होने की परम अवधि क्या है? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॥३७॥

[व्यतिहारः] व्यतिहार है [विशिंषन्ति] विशेषरूप से प्रतिपादन करते हैं [हि] क्योंकि [इतरवत्] अन्य के समान। उपासनासिद्धि की परम अवधि व्यतिहार है, क्योंकि आचार्य एक को दूसरे के समान प्रतिपादित करते हैं।

सूत्र के 'व्यतिहार' पद का अर्थ है–उपास्य और उपासक की परस्पर एकरूपता की प्रतीति होना। जब उपासक उपासना करते-करते उपास्य के साथ अपनी एकरूपता का अनुभव करने लगता है, यह अवस्था उपासना की परम अवधि समझनी चाहिये। इसीका नाम ब्रह्मसाक्षात्कार है। उपासकद्वारा ब्रह्मानन्द की अनुभूति उपासक की उपास्य के साथ एकरूपता की प्रतीति है। यह स्थिति प्राप्त होने पर उपासना का लक्ष्य पूरा होजाता है। एक को दूसरे के समान प्रतीति की स्थिति का आचार्यों ने विशेषरूप से प्रतिपादन किया है। ऐतरेय आरण्यक में बताया–'योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्' [२।२।४।६] जो मैं हूं, वह वह है; जो वह है, वह मैं हूं। उपासना की परमावधि को पहुंचने पर उपासक आत्मा इसप्रकार ब्रह्म के साथ एकरूपता का अनुभव करता है। उपासकद्वारा ब्रह्मानन्द की अनुभूति का यह स्वरूप है। ब्रह्म आनन्दरूप है, उपासना की परम अवधि पर वह अपने आपको उपासक के लिये विवृत्त कर देता है, प्रकट कर देता है–'तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्' [मुण्ड० ३।२।३]। तब आत्मा उस आनन्दसागर में निमग्न रहता है–'तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम' [मुण्ड० ३।२।४]। इसलिये उपासना की परम अवधि व्यतिहार अर्थात् उपास्य-उपासक की एकरूपता का अनुभव होना है ॥३७॥

ब्रह्मोपासनाओं में सामान्यरूप से गुणोपसंहार का विचार किया गया। अब कतिपय विशिष्ट उपासनाओं में गुणोपसंहार का विचार प्रारम्भ किया जाता है, जहां-तहां अन्य प्रासंगिक अर्थ का भी निर्णय किया जायगा। प्रथम विशिष्ट उपासना में गुणोपसंहार के लिये सूत्र कहा—

सैव हि सत्यादयः ॥३८॥

[सा] वह [एव] ही [हि] जिससे [सत्यादयः] सत्य आदि। जिससे वह ही उपासना हैं, इसलिये सत्य आदि गुणों का उपसंहार उनमें परस्पर होता है।

छान्दोग्य उपनिषद् [३।१४।१-३] में शाण्डिल्यविद्या का वर्णन है। ऐसे ही बृहदारण्यक [५।६।१] में वर्णन है। क्या ये एक उपासना है, अथवा विभिन्न उपनिषदों में वर्णन होने से पृथक् उपासना हैं ? सूत्रकार ने बताया, दोनों जगह वही उपासना है। इसलिये सत्य आदि गुणों का–जो दोनों उपनिषदों में उल्लेख है परस्पर उपसंहार समझ लेना चाहिये। ऐसे ही शतपथ ब्राह्मण [१०।६।३।२] में 'स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपम्' इत्यादिरूप से जो शाण्डिल्य उपासना का वर्णन है, वह भी यही है। यह सर्वत्र एक उपासना है, शाण्डिल्य इसके उपज्ञ हैं, विभिन्न आचार्यों ने वर्णन किया है। एक विद्या होने से गुणोपसंहार अभीष्ट है।

इसीप्रकार–'स यो हैतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमाँल्लोकान्' [बृ० ५।४।१] जो इस महान पूजनीय पहले से ही विद्यमान को–सत्य ब्रह्म है–इस रूप में जानलेता है, वह इन लोकों को जीतलेता है; इत्यादि वाक्य से सत्यब्रह्म की उपासना का प्रतिपादन कर आगे कहा है–'तद्यत्तत्सत्यं, असौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः' [बृ० ५।५।२] वह जो सत्य है वह आदित्य है, जो यह इस मण्डल में पुरुष है, और जो यह दाईं आंख में पुरुष है। यहां सत्यब्रह्म का प्रतिपादन है; क्या ये सत्यब्रह्म की उपासना दो हैं, या एक है ? फलभेद से दो होनी चाहियें, पहली का फल लोकजय है, और दूसरी का पाप–दुःख का नाश व परित्याग है–'हन्ति पाप्मानं जहाति च' (बृ० ५।५।३, ४)। सूत्रकार ने बताया–यह एक उपासना है। क्योंकि दोनों जगह सत्य आदिरूप ब्रह्म का वर्णन है। फलभेद यहां कोई नहीं। लोकजय तथा दुःख का नाश व परित्याग एक ही परिणाम का बोध कराते हैं। लोक अर्थात् संसार पर विजय पाना, व दुःखों का नाश होना एकही बात है। केवल कहने के प्रकार का भेद है, अर्थ का कुछ नहीं। यहां गुणों का उपसंहार एक उपासना होने से अभिप्रेत है ॥३८॥

यथावसर दहर उपासना के विषय में सूत्रकार ने कहा—

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥३९॥

[कामादि] काम आदि [इतरत्र] दूसरी जगह [तत्र] वहां [च] और [आयतनादिभ्यः] आयतन–आश्रय आदि से। वहां छान्दोग्य में कहे सत्यकाम आदि गुण दूसरी जगह बृहदारण्यक में उपसंहार करलेने चाहियें, क्योंकि दोनों जगह आश्रय आदि का अभेद है।

छान्दोग्य उपनिषद् [८।१।१] में 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं

वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इसप्रकार हृदय के अन्दर दहर आकाश है, इत्यादि रूप से दहर उपासना का कथन कर आगे 'एष आत्माऽपहतपाप्मा···सत्यकामः सत्यसंकल्पः' [छा० ८।१।५] उसके सत्यकाम आदि गुण बताये हैं। तथा बृहदारण्यक [४।४।२२] में 'स वा एष महानज आत्मा······य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' वह महान नित्य आत्मा–यह जो हृदय में आकाश है–वहां स्थित है, यह कहकर हृदयाकाशस्थ ब्रह्म के वशित्व आदि गुण बताये हैं। जिज्ञासा है, छान्दोग्य और बृहदारण्यक इन दोनों में कही गई यह दहरविद्या एक है, अथवा भिन्न हैं? छान्दोग्य में दहर आकाश को उपास्य कहा, और बृहदारण्यक में हृदयाकाशस्थित आत्मा को उपास्य बताया है। इसकारण स्वरूप में भेद होने से ये भिन्न उपासना होनी चाहियें।

गतसूत्र से यहां 'सैव' पदों की अनुवृत्ति है। सूत्रकार ने बताया–छान्दोग्य और बृहदारण्यक दोनों जगह पठित दहरविद्या वही है, अर्थात् एक है। क्योंकि दोनों जगह हृदयरूप आश्रय एक बताया है। उपासना का आश्रय हृदय दोनों जगह समान है। छान्दोग्य में 'आकाश' पद ब्रह्म का वाचक है, इसका विस्तृत वर्णन प्रथम [ब्र० सू० १।३।१४।]कर दिया गया है। जब दोनों जगह दहर उपासना एक है, तब छान्दोग्यवर्णित सत्यकामत्व आदि गुणों का बृहदारण्यक में और बृहदारण्यकवर्णित वशित्व आदि गुणों का छान्दोग्य में उपसंहार करलेना चाहिये। इन गुणों से युक्त एकमात्र ब्रह्म दोनों जगह उपास्य एवं ज्ञेय है ॥३९॥

इन उपासनाओं के विषय में सूत्रकार ने एक अन्य विशेषता का निर्देश किया—

आदरादलोपः ॥४०॥

[आदरात्] आदर से [अलोपः] लोप न हो। आदर से इन उपासनाओं का अनुष्ठान करना चाहिये, जिससे इनका लोप–विच्छेद न हो।

परब्रह्म की उपासना आदर-सत्कारपूर्वक अर्थात् पूर्ण श्रद्धा के साथ निरन्तर दीर्घकाल तक करते रहना अपेक्षित होता है। तभी इसके उपयुक्त फल प्राप्त होने की आशा रहती है। ब्रह्मज्ञान का प्राप्त करना अतिदुर्गम पथ है। इसलिये इसके साधनभूत ब्रह्मोपासनाओं में जिज्ञासु उपासक को श्रद्धापूर्वक निरन्तर प्रयत्नशील रहना आवश्यक है, जिससे अनुष्ठीयमान उपासना में कोई विच्छेद न आपाये। इस विषय में शास्त्र उपासक को सचेत करता है–'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति' [मु० १।३।१४] सदा सचेत अनवरत अभ्यासशील रहने पर ही इस दुर्गम पथ को पार किया जासकता है। अध्यात्मशास्त्र ब्रह्मोपासना के विषय में उपासक के आदरातिशय का स्वयं स्पष्ट बोध कराता है। छान्दोग्य [५।१०।१] में कहा–'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' जो उपासक श्रद्धा और तप के साथ एकान्त में सतत उपासनारत रहते हैं, वे सफल हो ब्रह्म को प्राप्त

होते हैं। ऐसे ही बृहदारण्यक [६।२।१५] में बताया–'ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते' और ये जो एकान्त अरण्य में निवास करने वाले वानप्रस्थ तथा परिव्राजक श्रद्धापूर्वक सत्य ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं। यहां श्रद्धायुक्त हो उपासना का विधान होने से उपासना में आदरातिशय का भाव प्रकट होता है ॥४०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, उपासक को ब्रह्मोपसनाओं में इतने आदरातिशय के लिये क्यों कहा गया है ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥४१॥

[उपस्थिते] उपस्थित–प्राप्त होने पर [अतः] इससे [तद्वचनात्] शास्त्रवचन से। इस आदरपूर्ण उपासनाक्रम से ब्रह्मज्ञान प्राप्त होजाने पर उपासक को मोक्षलाभ होजाता है; यह शास्त्र कहता है।

निरन्तर दीर्घकाल तक श्रद्धापूर्वक ब्रह्मोपासन से उपासक को ब्रह्मसाक्षात्कार होजाता है, और उससे मोक्षलाभ; इसीलिये उपासक का उपासनाओं में आदरातिशय होना बताया गया है। यह बात शास्त्रवचन से प्रमाणित है। छान्दोग्य उपनिषद् [३।१४।४] में कहा–'एष म आत्माऽन्तर्हृदये, एतद्ब्रह्म, एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि इति, यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः' यह पूर्वोक्त सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक मेरे हृदय के भीतर विद्यमान है, यह ब्रह्म है, यहां से देह छोड़कर मैं इसको प्राप्त होता हूं। ब्रह्मसाक्षात्कार होने से जिसको यह विश्वास है, निःसन्देह वह मोक्षलाभ करता है। यह महर्षि शाण्डिल्य ने कहा। उपसनाओं में श्रद्धा न होने से उनका विधिवत् अनुष्ठान संभव नहीं; तब न ब्रह्मसाक्षात्कार होगा, न मोक्षलाभ। ऐसा न हो, इसीलिये ब्रह्मोपासनाओं में आदरातिशय का कथन है। समस्त उपासनाओं में इस भावना का सम्बन्ध अपेक्षित है। इसका स्वारस्य इस तात्पर्य में है, कि ब्रह्म में श्रद्धातिशय उपासना-फल को जल्दी लाने में महान सहायक है। प्रत्येक उपासना का इसी पूर्णश्रद्धा के साथ अनुष्ठान करना उपासक के लिये अत्यावश्यक है ॥४१॥

ब्रह्मोपासना से ब्रह्मज्ञान होजाता है, इस पृष्ठभूमि पर शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या उपासना सीधा ब्रह्मज्ञान को प्रादुर्भूत करती है, अथवा केवल प्रतिबन्ध को हटा देती है, तब ज्ञान स्वयं प्रादुर्भूत होजाता है ? आचार्य सूत्रकार ने निर्णय दिया—

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् ॥४२॥

[तन्निर्धारणानियमः] उनके निर्धारण का नियम नहीं [तद्दृष्टेः] ब्रह्मदर्शन से [पृथक्] अलग है [हि] क्योंकि [अप्रतिबन्धः] प्रतिबन्ध न होना [फलम्] फल। क्योंकि ब्रह्मदर्शन से अप्रतिबन्धरूप फल पृथक् है, इसलिये ऐसा नियम नहीं, कि ब्रह्मोपासना से केवल प्रतिबन्धनाश होता है अथवा केवल ब्रह्मज्ञान।

ब्रह्मज्ञान के होने में जो चित्तविक्षेप आदि प्रतिबन्धक हैं, दीर्घकाल एवं निरन्तर श्रद्धापूर्वक अनुष्ठित ब्रह्मोपासना से उनका समूल उच्छेद होजाता है, शुद्धान्तःकरण होने पर कीगई उपासना ब्रह्मज्ञान को प्रादुर्भूत करती है। इसलिये प्रतिबन्धनाश और ब्रह्मदर्शन दोनों ब्रह्मोपासना के फल हैं। ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि उपासना से प्रतिबन्ध का नाश होजाना उसका फल है, और वही स्थिति ब्रह्मज्ञान की है, उससे अतिरिक्त और कुछ ब्रह्मज्ञान नहीं। अथवा उपासना से बिना प्रतिबन्धनाश के ब्रह्मज्ञान होजाता है। आचार्य का आशय है, कि उपासना से प्रतिबन्ध का नाश होता है, और ब्रह्मज्ञान का प्रादुर्भाव भी। ये दोनों पृथक् फल हैं।

उपासनाद्वारा शुद्ध अन्तःकरण से ब्रह्मज्ञान का होना मुण्डक [३।१।६] में बताया–'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' पूर्ववर्णित इस सूक्ष्म सर्वव्यापक तत्त्व को शुद्धचित्त से जानना चाहिये। योगदर्शन [१।२६] में इस अर्थ को स्पष्ट कहा है–'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' तब आत्मचेतन का ज्ञान और अन्तराय का अभाव होजाता है। अगले सूत्रों [१।३०-३१] में अन्तरायों–प्रतिबन्धों का विस्तृत उल्लेख है। साक्षात्कार आत्मा का हो, या ब्रह्म का; इसमें कोई विशेष भेद नहीं है। चेतन और अचेतन के विवेक का साक्षात्कार होना ही आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान है। ब्रह्मज्ञान होने का तात्पर्य है, कि आत्मा स्वरूप का साक्षात्कार कर चुका है, आत्म-साक्षात्कार होजाने पर ब्रह्मसाक्षात्कार अनायास होजाता है। आशय यह है, कि यह साक्षात्कार ब्रह्मोपासना से प्रतिबन्धनिवारणपूर्वक होता है। इसलिये उपासना के ये दोनों पृथक् फल हैं ॥४२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, प्रतिबन्धनिवृत्ति यदि उपासना का ब्रह्मज्ञान से पृथक् फल है, तो ब्रह्मज्ञान का साधन उपासना को क्यों कहा जाता है? सूत्रकार ने बताया—

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥४३॥

[प्रदानवत्] प्रदान के समान [एव] ही [तत्] वह [उक्तम्] कहा है। जैसे प्रदान यज्ञ के वैगुण्य का निराकरण करता हुआ यज्ञ का साधन होता है, ऐसे ही उपासना ज्ञान का साधन है, यह अन्यत्र [मीमांसाशास्त्र में] कहा है।

विद्वान् ब्राह्मणों को यथावसर जो वस्त्र सुवर्ण आदि धन दिया जाता है, वह 'दान' कहाता है। वेदि पर बैठकर यज्ञ का अनुष्ठान करनेवाले ऋत्विजों को यज्ञ के अन्त में जो वस्त्र धन आदि दिया जाता है, उसका नाम यज्ञदक्षिणा है। इसको प्रकृष्ट दान होने के कारण 'प्रदान' कहा जाता है। यदि यज्ञ के अन्त में ऋत्विजों को दक्षिणा न दीजाय, तो वह यज्ञ पूर्ण नहीं समझा जाता, वह अधूरा रहने से विगुण अथवा विकृत होजाता है। जैसे यह 'प्रदान' यज्ञ के वैगुण्य को हटाता हुआ यज्ञ को पूर्ण करने का साधन है; ऐसे ही ब्रह्मोपासना प्रतिबन्धों का निराकरण करती हुई ब्रह्मज्ञान का साधन

है। यज्ञ की समाप्ति पर दक्षिणा के विषय में मीमांसाशास्त्र में कहा–'दीक्षादक्षिणं तु वचनात् प्रधानस्य' [३।७।११], यह दीक्षा और दक्षिणा, अंग और प्रधान दोनों कर्मों के लिये हैं, अथवा केवल प्रधान कर्म के लिये ? यह आशंका होने पर सूत्रकार ने कहा–दीक्षा एवं दक्षिणा प्रधान कर्म का अंग हैं [प्रधानस्य]। क्योंकि–यह ज्योतिष्टोम याग की दीक्षा है और यह दक्षिणा है–इत्यादि वाक्यों से उनका प्रधान कर्म के साथ स्पष्ट सम्बन्ध पाया जाता है।

अथवा सूत्रार्थ ऐसा होसकता है–शिष्य जिज्ञासा करता है, एक ब्रह्म की उपासना अनेक गुणविशिष्टरूप में बताई गई है। क्या वह एक उपासना है, अथवा गुणभेद से भिन्न ? आचार्य ने बताया–**प्रदानवदेव तदुक्तम्**। प्रदान के समान ही उस विषय में कहा गया समझना चाहिये। जैसे कहा–'इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालं, इन्द्रायाधिराजाय, इन्द्राय स्वराजे' यहां विभिन्न विशेषणों के साथ कहे गये एक इन्द्र के लिये पृथक् पुरोडाश आहुतियों का विधान है। अर्थात् तीन रूप में कहे गये इन्द्र के लिये पुरोडाश की तीन आहुतियां पृथक् दीजाती हैं। इस त्रिपुरोडाश इष्टि में आहुतिप्रदान के समान उपासनाओं में भी विशिष्टगुणों के अनुसार प्रक्रियाभेद संभव है। तात्पर्य यह, कि जैसे उक्त इष्टि में एक देवता इन्द्र को गुणविशेष के आधार पर आहुतिरूप में तीन वार पृथक् पुरोडाश द्रव्य प्रदान किया जाता है, वह प्रदानक्रिया के रूप में भिन्न होने पर भी उद्देश्यरूप में देवता एक है। उपासना में भी गुणभेद से बाह्य प्रक्रिया में कुछ रहो, पर उपास्य ब्रह्म सर्वत्र उपासनाओं में एक है। यहां गुणों का उपसंहार संभव है। वस्तुतः उपासना में बाह्यरूप से कोई प्रातीतिक भेद होने पर लक्ष्यरूप से ब्रह्मोपासनाओं में किसीतरह के भेद की संभावना नहीं करनी चाहिये ॥४३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, ब्रह्मोपासन से ब्रह्मज्ञान होजाता है, यह ठीक है; पर ब्रह्मज्ञान होजाने पर निश्चितरूप से मोक्ष प्राप्त होता है, इसमें क्या प्रमाण है ? अर्थात् ब्रह्मज्ञान मोक्ष का निर्बाध साधन है, ऐसा क्यों माना जाय ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥४४॥

[लिङ्गभूयस्त्वात्] लिङ्गों–प्रमाणों की बहुतायत से [तत्] वह ब्रह्मज्ञान [हि] क्योंकि [बलीयः] अतिशय बलवान् [तत्] वह [अपि] भी। क्योंकि ब्रह्मज्ञान मोक्ष-साधन में अतिशय बलवान् है, यह प्रमाणों की बहुतायत से ज्ञात होता है; वह भी शास्त्रों में कहा है। गतसूत्र से यहां 'उक्तम्' पद की अनुवृत्ति है।

अध्यात्मशास्त्रों में अनेक प्रमाण इस तथ्य को बतानेवाले उपलब्ध हैं, कि मोक्ष का साक्षात् साधन ब्रह्मज्ञान है। मुण्डक उपनिषद् [३।२।६] में कहा–'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' जो उस परमैश्वर्ययुक्त ब्रह्म को जानलेता है, वह ब्रह्म

ही होजाता है; अर्थात् ब्रह्मरूप मोक्षपद को प्राप्त करलेता है। तैत्तिरीय उपनिषद् [२।१] में कहा—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' ब्रह्मज्ञानी परम—मोक्ष को प्राप्त करलेता है। छान्दोग्य [७।१।२] में बताया—'तरति शोकमात्मवित्' सर्वव्यापक परमात्मा का साक्षात्कार करनेवाला शोक—दुःख को तरजाता है; दुःख से छूटकर परमानन्द मोक्ष को प्राप्त होजाता है। मुण्डक उपनिषद् [३।१।८] में अन्यत्र कहा—'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' चक्षु, वाणी, अन्य इन्द्रियों, कष्टसहन अथवा कर्मसाधन से वह प्राप्त नहीं होता, शुद्धान्तःकरण होकर उपासक ज्ञानप्रसाद से—विशुद्ध ब्रह्मज्ञान के द्वारा—उस मोक्षानन्द का अनुभव करपाता है। अन्य दर्शन [सां० ३।२३] में भी 'ज्ञानान्मुक्तिः' ज्ञान से मुक्ति होना बताया है। फलतः ब्रह्मज्ञान मोक्षलाभ में दृढ़ निर्बाध साधन है, यह निश्चित होता है। 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति' [यजु० ३१।१८] इत्यादि वेदवचन भी इस विषय में अनुसंधेय हैं। ऋग्वेद [८।१६४।२३] तथा अथर्ववेद [१०।८।४४] भी द्रष्टव्य हैं ॥४४॥

शिष्य आशंका करता है, ब्रह्मज्ञान मोक्ष का साधन है, यह निश्चय किया गया। परन्तु अध्यात्मशास्त्रों में ऐसे वचन उपलब्ध होते हैं, जिनसे प्रतीत होता है, कि कर्म भी ब्रह्मज्ञान का अथवा मोक्ष का साधन माना जाना चाहिये। यदि ऐसा है, तो ज्ञान को निर्बाध मोक्ष का साधन कैसे माना जासकता है ? दयार्द्रहृदय आचार्य ने विषय को स्पष्ट करने की भावना से आशंका को स्वयं सूत्रबद्ध किया—

पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रियामानसवत् ॥४५॥

[पूर्वविकल्पः] पूर्व के साथ विकल्प [प्रकरणात्] प्रकरण से [स्यात्] होवे [क्रियामानसवत्] क्रिया के साथ मानस की तरह। उपासना से पूर्व किये कर्म के साथ ज्ञान का मोक्ष के प्रति विकल्प होना चाहिये, प्रकरण से यह प्रतीत होता है; जैसे बाह्य क्रिया के साथ मानसक्रिया का विकल्प होता है।

ईशावास्य उपनिषद् [२] में 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' इत्यादि सन्दर्भ से जीवनपर्यन्त कर्म करने का विधान किया। आगे 'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति' [६] इत्यादि सन्दर्भ से आत्मज्ञान का उपदेश देकर ज्ञान से अमृत की प्राप्ति का उल्लेख किया है [११]। इस प्रकरण से प्रतीत होता है, कि मोक्ष के प्रति कर्म के साथ ज्ञान का विकल्प होना चाहिये। मोक्ष कभी कर्म से प्राप्त होजाता है, कभी ज्ञान से। अन्यथा समान प्रकरण में दोनों का विधान करना अनपेक्षित था।

बाह्य और मानस कर्म के विकल्प का प्रतिपादन कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् [२।४-५] में उपलब्ध होता है। प्रथम 'एता आज्याहुतीर्जुहोति—वाचं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा' इत्यादि सन्दर्भ से वाक्, प्राण आदि के बाह्य-कर्म का उल्लेख कर आगे इसीका

मानसकर्म के रूप में वर्णन है–'अथातः······आन्तरमग्निहोत्रमिति चाचक्षते, यावद्वै पुरुषो भाषते न तावत्प्राणितुं शक्नोति, प्राणं तदा वाचि जुहोति; यावद्वै पुरुषः प्राणिति न तावद् भाषितुं शक्नोति वाचं तदा प्राणे जुहोति' इत्यादि । अब आगे आन्तर–मानस अग्निहोत्र का कथन करते हैं, जब तक पुरुष बोलता रहता है, प्राण नहीं लेसकता; उस समय वाणी में प्राण का होम होता है । जब तक पुरुष प्राण लेता है, तब तक बोल नहीं सकता, तब प्राण में वाणी का होम होता है । आगे कहा–ये अमृत आहुति हैं, अनन्त हैं, सोते जागते निरन्तर बिना बाधा के यह होम चालू रहता है । जो अन्य बाह्य आहुतियां हैं, वे अन्तवाली हैं, पहले विद्वान् वह होम नहीं करते रहे । इस प्रसंग में बाह्य और आन्तर क्रिया के विकल्प का स्पष्ट वर्णन है । ऐसे ही ईशोपनिषद् के प्रकरण से मोक्ष के प्रति ज्ञान और कर्म का विकल्प प्रतीत होता है, चाहे कर्म से मोक्ष प्राप्त करे, चाहे ज्ञान से । अर्थात् कर्म और ज्ञान स्वतन्त्ररूप से मोक्ष के साधन हैं ।

ज्ञान से मोक्ष होता है, यह निर्विवाद है, उसी प्रकरण में कर्म का विधान होने से उसे भी मोक्ष का साधन मानना चाहिये, अन्यथा उस प्रकरण में इसका विधान क्यों किया गया ? दोनों को इकट्ठा साधन मानने पर केवल ज्ञान मोक्ष का साधन न रहेगा; इसलिये दोनों का समुच्चय नहीं माना जासकता । फलतः मोक्ष के प्रति ज्ञान, कर्म का विकल्प मानना अधिक उपयुक्त है ॥४५॥

इसी अर्थ को सूत्रकार ने अगले सूत्र से पुष्ट किया—

अतिदेशाच्च ॥४६॥

[अतिदेशात्] अतिदेश से [च] और । और अतिदेश से उक्त अर्थ की पुष्टि होती है ।

ईशावास्य उपनिषद् में आगे कर्म से दुःख को पार करना अथवा ज्ञान से अमृत को पाना, इन दोनों का स्पष्ट निर्देश किया है । 'विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह, अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' [११], 'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते' [१४] । मृत्यु के पार जाना और अमृत का पाना समान अर्थ हैं, पहला कर्म का फल बताया और दूसरा ज्ञान का । इस अतिदेश से भी मोक्ष के प्रति ज्ञान और कर्म का विकल्प मानना चाहिये । अपने-अपने मार्ग से दोनों के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है । दोनों मोक्ष के स्वतन्त्र साधन हैं ।

पूर्वसूत्र में कहे गये अर्थ का पूर्णरूप से अतिदेश मनुस्मृति [४।२१–२४] के निम्नश्लोकों में उपलब्ध होता है—

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा । नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥
एतानेके महायज्ञान् यज्ञशास्त्रविदो जनाः । अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥
वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा । वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम् ॥
ज्ञानेनैवापरे विप्रा यजन्त्येतैर्मखैः सदा । ज्ञानमूलां क्रियामेषां पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा ।

निर्दिष्ट पांच महायज्ञों का यथाशक्ति परित्याग न करे। यहां बाह्यकर्मरूप यज्ञ का विधान है। आगे कहा–यज्ञशास्त्र के विशेषज्ञ कतिपय विद्वान् इन महायज्ञों को न करने की इच्छा रखते हुए इन्द्रियों में ही निरन्तर होम का अनुष्ठान करते हैं। वाणी और प्राण में अक्षय यज्ञसिद्धि को देखते हुए, वाणी में प्राण और प्राण में वाणी को होमते हैं। इसप्रकार ज्ञानचक्षु से इन यज्ञों की ज्ञानमूलक क्रिया को देखते हुए अन्य विद्वान् ज्ञान-द्वारा ही इन यज्ञों से यजन करते हैं। इष्टफल की प्राप्ति के लिये कर्म और ज्ञान की समान साधनता का यहां अतिदेश होने से मोक्ष के प्रति कर्म और ज्ञान की समानरूप से साधनता का पता लगता है ॥४६॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त आशंका का समाधान किया—

विद्यैव तु निर्धारणात् ॥४७॥

[विद्या] विद्या–ज्ञान [एव] ही [तु] तो [निर्धारणात्] निर्धारण से। अध्यात्मशास्त्रों में इसका निर्धारण–निश्चय करदियेजाने से विद्या–ज्ञान ही तो मोक्ष का साधन है।

सूत्र का 'तु' पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है। 'एव' पद मोक्ष के अन्य किसी साधन का निवारण करता है। केवल ज्ञान मोक्ष का साधन है, उससे अन्य कोई नहीं। क्योंकि अध्यात्मशास्त्रों में ऐसा निर्धारण किया गया है। 'निर्धारण' पद का तात्पर्य है–अन्य को हटाकर एक का प्रतिपादन करना। वेद और वैदिक साहित्य में यह निश्चय किया है, कि केवल आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान मोक्ष का साधन है; तात्पर्य, चेतन का साक्षात्कार होना चाहिये। ऋग्वेद [१।१६४।२३] में बताया–'य इत्तद्विदुस्तेऽमृतत्वमानशुः' जो उसको ही जानते, हैं वे अमृत–मोक्षभाव को प्राप्त करते हैं। वेद में 'इत्' पद 'एव' के अर्थ में आता है। यजुर्वेद [३१।१८] में कहा–'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' उसको ही जानकर मृत्यु का अतिक्रमण करपाता है। अथर्ववेद [१०।८।४४] में कहा–'तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः' उसको ही जानकर मृत्यु का भय नहीं रहता। मुण्डक उपनिषद् [२।२।५] में बताया–'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः' उस ही अकेले को जानो, जो सर्वव्यापक है; अन्य कथनों को छोड़ो; यह सर्वव्यापक ब्रह्म अमृत का आधार है। इन सभी सन्दर्भों में 'एव' पद का प्रयोग कर इसका निर्धारण कर दिया है, कि केवल चेतन-साक्षात्कार से मोक्ष प्राप्त होता है। फलतः आत्मज्ञान ही मोक्ष का साधन है।

ईशावास्य उपनिषद् में अथवा अन्यत्र जहां कहीं कर्म का प्रतिपादन ऐसे प्रकरणों में किया गया है, वहां वह कर्म और ज्ञान के क्रमिक समुच्चय का द्योतक है। वे निष्काम कर्म अन्तःकरण की शुद्धि के प्रयोजक होते हैं; ऐसे धर्माचरण के साथ ब्रह्मोपासना करने से ज्ञान और ज्ञान से मोक्षलाभ होता है। ये कर्म अन्तःकरण शुद्धि

के द्वारा प्रतिबन्धों को हटाकर आत्मज्ञान में सहयोग देते हैं। इसीकारण ज्ञानप्रकरण में इनका उल्लेख हुआ है। आगे अतिदेशस्थल में यही अर्थ स्पष्ट होता है। मृत्यु बाधा है, कर्म से बाधाओं अर्थात् प्रतिबन्धों का निवारण होता है। अन्तःकरण के मल विक्षेप आदि ज्ञान के घोर प्रतिबन्धक हैं, जो निरन्तर मृत्यु के लाने में सहायक हैं। निष्काम कर्म इन प्रतिबन्धों को नहीं पनपने देते। इसप्रकार कर्मों से मृत्यु को पारकर शुद्धान्तः-करण उपासक ज्ञान का लाभ करता है, उससे निर्बाध मोक्ष की प्राप्ति होती है। फलतः मोक्षप्राप्ति में साधन केवल ज्ञान है, यह निश्चित है ।।४७।।

इसी अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार ने अन्य हेतु कहा—

दर्शनाच्च ।।४८।।

[दर्शनात्] दर्शन से [च] और। इस विषय में अन्य लिंगों–प्रमाणों के देखे जाने से ज्ञान मोक्ष का साधन निश्चित होता है।

वेद तथा अन्य वैदिक साहित्य में ऐसे निर्देश बहुतायत से देखेजाते हैं, जिनसे यह तथ्य प्रमाणित होजाता है, कि मोक्ष का साधन केवल ज्ञान है, अन्य कोई स्वतन्त्र साधन मोक्ष का नहीं है। ऐसे कतिपय प्रमाणों का उल्लेख प्रसंगवश 'लिङ्गभूयस्त्वात्' [३।३।४४] इत्यादि सूत्र की व्याख्या में अभी पीछे कर दिया गया है ।।४८।।

शिष्य जिज्ञासा करता है, श्रुति में कहे गये इस विषय के प्रमाणवचनों की प्रकरण से बाधा होजायगी। इसलिये प्रकरणबोधित अर्थ–मोक्ष के प्रति कर्म ज्ञान का विकल्प–स्वीकार क्यों न किया जाय? आचार्य ने बताया—

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ।।४६।।

[श्रुत्यादिबलीयस्त्वात्] श्रुति आदि के अधिक बलवाला होने से [च] और [न] नहीं [बाधः] बाध। प्रकरण की अपेक्षा श्रुति आदि अधिक बलवाले माने गये हैं, इसलिये प्रकरण से श्रुतिवचनों की बाधा नहीं होगी।

प्रकरणसामर्थ्य से श्रुतिवचनों की बाधा नहीं होती; क्योंकि श्रुति आदि प्रकरण से अधिक बलवान् होते हैं, यह मीमांसासूत्र [३।३।१४] में निश्चित कर दिया गया है। श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या, इनमें से किन्हीं दो की जब एक साथ एक अर्थ में प्राप्ति होती है, तो पूर्व की अपेक्षा पर दुर्बल माना जाता है; अर्थात् पूर्व प्रमाण से पर की बाधा होजाती है, तथा पूर्व के अनुसार कार्य होजाता है। जैसे– 'ऐन्द्रर्चा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' ऐन्द्री ऋचा से गार्हपत्य अग्नि के समीप स्थित हो; इस मन्त्र का इन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यरूप लिंग से इन्द्र के उपस्थान में अन्वय हो, अथवा 'गार्हपत्यम्' इस द्वितीया श्रुति से गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान में? इन्द्रलिंग से श्रुति की कल्पना करके जब तक उक्त वाक्य को इन्द्र के उपस्थान में अंग कहना होगा;

उससे पूर्व ही 'गार्हपत्यम्' इस प्रत्यक्ष द्वितीया श्रुति से शीघ्र मन्त्र का गार्हपत्य के उपस्थान में अंगत्वरूप से अन्वय होजाता है। इस कारण लिंग से श्रुति प्रबल है। लिंग, वाक्य आदि सबकी अपेक्षा से श्रुति बलवान होती है। बलवान् दुर्बल की बाधा कर सकता है, दुर्बल बलवान की नहीं; इसलिये श्रुति से प्रकरण की बाधा संभव है। प्रकरण का सामञ्जस्य पीछे (३।३।४७) सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट कर दिया गया है। इसलिये मोक्ष के प्रति कर्म और ज्ञान का विकल्प है, ऐसा समझना अयुक्त है ॥४९॥

मोक्ष के प्रति कर्म और ज्ञान का विकल्प नहीं माना जासकता, इसको अधिक दृढ़ करने के लिये सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम् ॥५०॥

[अनुबन्धादिभ्यः] अनुबन्ध आदि से [प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत्] अन्य विद्याओं के अलग होने के समान [दृष्टः] देखा गया [च] और [तत्] वह [उक्तम्] कहा है। विभिन्न विद्याओं के फल पृथक् देखे जाते हैं, इसीतरह अनुबन्ध आदि कारणों से कर्म और ज्ञान का फल पृथक् देखा जाता है, अतः मोक्ष के प्रति कर्म व ज्ञान का विकल्प नहीं कहा जासकता, वह अन्यत्र कहा है।

सूत्र में 'अनुबन्ध' पद का अर्थ फल और 'प्रज्ञा' का उपासना है। 'आदि' पद से फल के साधन तथा उपासना करने के प्रकार आदि का ग्रहण होता है। अनेक उपासना व कर्मानुष्ठान किसी विशेष फल की प्राप्ति के लिये किये जाते हैं। वह विशेष फल उसी उपासना व कर्मानुष्ठान से प्राप्त होता है, अन्य से नहीं। इससे स्पष्ट है, कि फलभेद के कारण उन उपासनाओं में परस्पर भेद होता है। तब किसी एक फल की प्राप्ति के लिये उपासनाओं में विकल्प की कल्पना नहीं की जासकती। इसीप्रकार ज्ञान और कर्म के फल पृथक् हैं। ज्ञान का फल अमृतप्राप्ति अर्थात् मोक्ष है, और कर्म का फल है—मृत्यु को तर जाना अर्थात् प्रतिबन्धों को हटा देना। फिर इनके साधन और अनुष्ठान के प्रकार भिन्न हैं। अतः अपने कार्य के लिये इनका विकल्प नहीं होसकता।

ज्ञान-कर्म के फलभेद को शास्त्र में बताया गया है। ईशावास्य उपनिषद् [११] में कहा—'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' 'अविद्या' पद कर्म और 'विद्या' ज्ञान के लिये प्रयुक्त हैं। मनुस्मृति [१२।१०४] में बताया—'तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्। तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते' तप और विद्या जिज्ञासु ब्राह्मण के लिये परम कल्याण करनेवाले हैं। तप से पाप—बाधाओं को नष्ट करता है, विद्या से अमृत को पाता है। इसप्रकार ज्ञान और कर्म के फलभेद का निश्चय होने पर फलोत्पाद के लिये इनमें विकल्प का होना संभव नहीं। उपासनाओं के विकल्प का विचार करते समय आचार्य सूत्रकार ने विकल्प के लिये फल की एकता का आगे 'विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्' [३।३।५९] सूत्र में स्वयं वर्णन किया है। इसलिये मोक्ष के प्रति ज्ञान

और कर्म का विकल्प कहना सर्वथा अयुक्त है ।।५०।।

शिष्य जिज्ञासा करता है, मोक्ष के प्रति ज्ञान का कर्म के साथ विकल्प न हो, पर उपासना के साथ होना संभव है; क्योंकि ये दोनों एकप्रकार से प्रज्ञास्वरूप हैं । इस रूप में दोनों के समान होने से विकल्प मानलेना चाहिये ? सूत्रकार ने समाधान किया—

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ।।५१।।

[न] नहीं [सामान्यात्] समानता से [अपि] भी [उपलब्धेः] उपलब्धि के कारण [मृत्युवत्] मृत्यु पद की तरह [न हि] नहीं [लोकापत्तिः] लोकसंहार की प्राप्ति । पृथक् फल की उपलब्धि के कारण नाम की समानता से भी ज्ञान का उपासना के साथ विकल्प नहीं होसकता । जैसे 'मृत्यु' पद की समानता से लोकसंहार की प्राप्ति नहीं होती ।

'ज्ञान' स्वरूप से विद्या अथवा प्रज्ञा है; उपासना को भी 'विद्या' कहा जाता है । वह एकप्रकार से ज्ञानरूप है । इन दोनों की यह समानता होने पर मोक्ष के प्रति इनका विकल्प माना जासकता है । इसके विपरीत सूत्रकार का आशय है, कि जब इन दोनों के फल पृथक् जाने जाते हैं, तो नाममात्र की समानता से मोक्ष के प्रति इनका विकल्प नहीं होसकता । केवल नामसाम्य से उपासना सीधा मोक्ष प्राप्त करा दे, यह संभव नहीं । जैसे 'मृत्यु' नाम अग्नि और परमात्मा दोनों का है—'अग्निर्वै मृत्युः' [बृ० ३।२।१०], यहां अग्नि को 'मृत्यु' कहा है, क्योंकि यह किन्हीं वस्तुओं का संहार कर डालती है । 'स एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः' [शत० १०।५।२।३] यहां परमात्मा को मृत्यु कहा है, क्योंकि यह समस्त विश्व का संहार करता है । दोनों का किसी निमित्त से नाम समान होने पर यह संभव नहीं, कि परमेश्वर के समान अग्नि के द्वारा समस्त विश्व का संहार किया जाना प्राप्त हो जाये । साधारण संहार निमित्त के आधार पर 'मृत्यु' नाम समान है, पर कार्यभेद—फलभेद के कारण समस्त लोकसंहार के प्रति जैसे अग्नि—परमेश्वर का विकल्प समञ्जस नहीं कहा जासकता है, ऐसे ही केवल प्रज्ञा या विद्या नामसाम्य से मोक्ष के प्रति ज्ञान व उपासना का विकल्प नहीं माना जासकता; क्योंकि इनका फल पृथक्-पृथक् है । ज्ञान का फल मोक्ष तथा उपासना का चित्तदोष-निवृत्ति है ।।५१।।

इतने विवेचन के अनन्तर सूत्रकार ने उक्त विषय में प्रसंग का उपसंहार करते हुए अपना निश्चय प्रस्तुत किया—

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ।।५२।।

[परेण] पर से—ज्ञान से [च] क्योंकि [शब्दस्य] शब्द का—श्रुति का [ताद्विध्यं] उसका विधायक होना [भूयस्त्वात्] बहुत होने से [तु] तो [अनुबन्धः] सम्बन्ध है । ज्ञान से मोक्ष होता है, बहुत अधिक प्रतिपादन से शब्द (श्रुति) इसका विधायक है,

इसीलिये तो ज्ञान का मोक्षफल से सम्बन्ध निश्चित होता है ।

उपासना से पूर्व कर्मानुष्ठान की स्थिति रहती है, पश्चात् ज्ञान की; इसलिये सूत्र में 'पर' पद ज्ञान का बोधक है । पर से अर्थात् ज्ञान से मोक्ष होता है, यह निश्चय है। क्योंकि शब्दरूप वेदादिशास्त्र का–ज्ञान से मोक्षप्राप्ति का–विधायक होना इसकारण सिद्ध है, कि शास्त्र में इस विषय का पर्याप्त विस्तार के साथ प्रतिपादन किया गया है। ऐसे अनेक सन्दर्भों का उल्लेख इसी प्रसंग के पहले सूत्रों की व्याख्या में आगया है। इसलिये ज्ञान से मोक्ष होता है, उसीका मोक्ष के साथ सीधा सम्बन्ध है, यह सब प्रमाणों से निश्चित है । निदिध्यासन का अभ्यास करते हुए जबतक ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होजाता तबतक शास्त्रप्रतिपादित मार्ग से जिज्ञासु को निरन्तर इस दिशा में प्रयास करते रहना चाहिये ।।५२।।

उपासक ज्ञान से मोक्ष पाता है, इस पृष्ठभूमि पर शिष्य जिज्ञासा करता है–यह उपासक कौन है ? क्योंकि कतिपय विचारकों ने देह से अतिरिक्त कोई आत्मतत्त्व नहीं माना । उपासना आदि के रूप में जो अनुष्ठान किये जाते हैं, वे देह के साथ होते देखे जाते हैं । तब यदि केवल देह उपासक है, तो वह कालान्तर में यहीं नष्ट होता देखा जाता है, फिर मोक्ष किसे ? दयालु आचार्य ने प्रथम इसी जिज्ञासा को सूत्रबद्ध किया—

एक आत्मनः शरीरे भावात् ।।५३।।

[एके] कतिपय–कोई आचार्य [आत्मनः] आत्मा के [शरीरे] शरीर में [भावात्] होने से । कोई कहते हैं, कि आत्मा के नाम से कहे जानेवाले सब कार्य देह में होते हैं; इसलिये ज्ञान से उपासक आत्मा मोक्ष में जाता है, यह कहना अयुक्त है ।

कई विचारक ऐसा मानते हैं, कि जो कुछ उपासना आदि अनुष्ठान तथा अन्य कार्य किये जाते हैं, वे सब देह के द्वारा होते देखे जाते हैं । इसलिये आत्मा नाम का कोई तत्त्व देह से अतिरिक्त नहीं माना जाना चाहिये । जब देह कार्य करने में असमर्थ होजाता है, तब उसे 'मरा हुआ' कहा जाता है । दूसरे सम्बन्धी देह उसे जला देते हैं, पानी में बहा देते या भूमि में गाड़ देते हैं, अथवा उसे ऐसे ही पड़ा छोड़दिया जाता है, पशु पक्षी खा-जाते हैं । जड़तत्त्व विभिन्न देह आदि के रूप में जब परिणत होते हैं, तो उनमें एक विशेष शक्ति का उद्भव होजाता है, उसीको चेतना कहा जाता है, वह जड़तत्त्व का धर्म समझना चाहिये । जैसे घट के अवयवों में जलाहरण की शक्ति न होने पर भी घट बनजाने पर वह होजाती है; तन्तुओं में शीतादिनिवारण की शक्ति न रहने पर भी कपड़ा बनजाने पर उस शक्ति का प्रादुर्भाव होजाता है; ऐसे ही देहावयव जड़तत्त्वों में चेतना न होने पर भी देहरचना के साथ वहां चेतनाशक्ति का प्रादुर्भाव होजाता है । इसलिये देह से अतिरिक्त कोई चेतन आत्मा वहां रहता है, यह अमान्य है । उस दशा में यह कहना अयुक्त होगा, कि कोई अन्य चेतन आत्मा ज्ञानद्वारा मोक्ष पाता है ।।५३।।

आचार्य सूत्रकार ने इसका समाधान किया—

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥५४॥

[व्यतिरेकः] भेद है [तद्भावाभावित्वात्] उसके रहते भी न होनेसे [न] नहीं [तु] तो [उपलब्धिवत्] उपलब्धि के समान। आत्मा का देह से व्यतिरेक–भेद मानना चाहिये, न कि अभेद; क्योंकि देह के रहते हुए भी उससे कार्य नहीं होपाते। दृष्टान्त है–उपलब्धि की तरह।

सूत्र में 'उपलब्धि' पद का अर्थ है–इन्द्रियादि साधनों द्वारा होनेवाला साधारण ज्ञान। ज्ञेय विषय का ग्रहण होते हुए भी ज्ञान, जैसे ज्ञेय विषयरूप नहीं, प्रत्युत उससे भिन्न होता है; ऐसे ही चेतन आत्मा देह से भिन्न है। क्योंकि किन्हीं अवसरों पर देह के रहते हुए उसमें चेतना नहीं देखी जाती; जैसे मृत देह में। यदि चेतना देह का धर्म होता, तो देह के अन्य धर्म गन्ध रूप आदि के समान मृत देह में रहता; उसका न रहना स्पष्ट करता है, कि चेतना देह का धर्म नहीं है। इसलिये चेतनतत्त्व देह से सर्वथा अतिरिक्त मानना चाहिये। उसी तत्त्व का नाम 'आत्मा' है। उपासना अनुष्ठान आदि सब कार्य वही करता है, उन कार्यों के लिये देह केवल साधन है। किसी कार्य के संपादन के लिये साधन का होना आवश्यक है। उपासना तथा अन्य अनुष्ठान आदि समस्त कार्यों के सम्पादन के लिये देह के साथ आत्मा का सम्बन्ध उसके आवश्यक साधन के रूप में होता है। इसीके सहयोग से आत्मा ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्त अपने सब कार्यों को सम्पन्न करता है, और मोक्ष पाता है। इसलिये देहातिरिक्त चेतन उपासक आत्मा का ज्ञानद्वारा मोक्ष होता है, यह कथन सर्वथा प्रामाणिक है ॥५४॥

यहां तक मध्यगत प्रासंगिक विचार को समाप्त कर, पुनः प्रकरण का अनुसरण करते आचार्य सूत्रकार ने उपासनाविषयक विवेचन के लिये सूत्र कहा—

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥५५॥

[अङ्गावबद्धाः] अंगों में संबद्ध उपासना विधि [तु] तो [न] नहीं [शाखासु] शाखाओं में [हि] ही, [प्रतिवेदम्] प्रत्येक शाखा में। अंगों में संबद्ध उपासनाविधि जिन शाखाओं में पढ़ी हैं, उन्हीं में नहीं समझनी चाहियें; उनका अनुवर्त्तन प्रत्येक शाखा में होजाता है।

सूत्र में 'वेद' पद वेदशाखाओं के लिये प्रयुक्त है। ज्योतिष्टोम आदि कर्मों के अंगभूत उद्गीथ आदि उपासनाविधियों का वर्णन विभिन्न शाखाओं में किया गया है। जिज्ञासा है, जिस शाखा में उस उपासनाविधि का निर्देश है, उसीके साथ उस विधि का उपयोग होना चाहिये, अथवा अन्य शाखाओं में उसका अनुवर्त्तन होजाता है? विभिन्न-शाखागत ज्योतिष्टोम आदि के वर्णन [illegible] उद्गीथ आदि उपासना का उल्लेख है,

कहीं नहीं। इसी आधार पर जिज्ञासा है, कि जहां नहीं है, वहां इसका अनुवर्त्तन होना चाहिये, या नहीं? सूत्रकार ने बताया, जिस शाखा में पढ़ा है, उसीके साथ यह व्यवस्थित है, ऐसी बात नहीं है। प्रत्युत प्रत्येक शाखा में इसका अनुवर्त्तन करलेना चाहिये। 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' [छा० १।१।१] यह उद्गीथ उपासना का विधान सामान्यरूप से किया गया है, यहां ऐसा कोई निर्देश नहीं है, जिससे इसका अनुष्ठान किसी विशेष शाखा से व्यवस्थित होता हो। इसलिये किसी शाखा में–जहां ज्योतिष्टोम का प्रसंग है–इसका अनुवर्त्तन होजायगा। ऐसे ही अन्य 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' [छा० २।२।१], 'अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः' [शत० १०।५।४।१] इत्यादि उपासनाओं के विषय में समझना चाहिये। इनका उपसंहार यथाप्रसंग सब शाखाओं में होजाता है ॥५५॥

शिष्य आशंका करता है, प्रत्येक शाखा के स्वर आदि अपने भिन्न होते हैं, इसकारण उद्गीथ आदि का परस्पर भेद होने से अन्य शाखा में उसका अनुवर्त्तन करने पर स्वर आदि का विरोध होगा? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

मन्त्रादिवद्वाऽविरोध. ॥५६॥

[मन्त्रादिवत्] मन्त्र आदि के समान [वा] अथवा [अविरोधः] विरोध नहीं। जैसे किसी एक वेद के मन्त्रों का अन्य वेदप्रतिपादित कर्म में विनियोग होजाता है, ऐसे ही एक शाखा की उपासनाविधि का अन्यत्र अनुवर्त्तन होजायगा।

तैत्तिरीय संहिता [७।५।५।२] में कहा–'आध्वर्यवे सजनीयं शस्यम्' अध्वर्युकर्तृक कर्म में 'सजनीय' सूक्त का उच्चारण करना चाहिये। अध्वर्युसम्बन्धी वेद यजुर्वेद है। उसके द्वारा किये जानेवाले कर्म में यजुर्वेद के मन्त्रों का प्रयोग होना अभीष्ट है, पर संहिता ने 'सजनीय' सूक्त के उच्चारण का विधान किया। 'स जनास इन्द्रः' इत्यादि पदों से उपलक्षित सूक्त 'सजनीय' है। यह ऋग्वेद [२।१२] का सूक्त है। आध्वर्यव कर्म में इसका उपयोग होने पर अपने स्वर के अनुसार इसका उच्चारण किया जाता है, इसलिये इसके प्रयोग में स्वरादिनिमित्तक कोई विरोध नहीं। इसीप्रकार शाखान्तर में उपासनाविधि के अनुवर्त्तन से कोई विरोध नहीं होगा। जिस शाखा के अनुसार अनुष्ठान होगा, स्वर आदि उसीके अनुसार माना जायगा।

सूत्र में 'आदि' पद से कर्म एवं गुण का संग्रह होता है। एक शाखा से दूसरी शाखा में गुणोपसंहार के अनेक प्रसंग पीछे आचुके हैं। कर्म का अनुवर्त्तन भी एक शाखा से दूसरी शाखा में देखा जाता है। जिन शाखाओं में समित् आदि प्रयाजों को नहीं पढ़ा गया, उनमें भी गुणविधि से प्रयाजों के अनुवर्त्तन का निर्देश मैत्रायणी संहिता [१।४।१२] में बताया–'ऋतवो वै प्रयाजाः समानत्र होतव्या ऋतूनां प्रतिष्ठित्यै' विशेष ऋतुओं में किये जानेवाले प्रयाज समानदेश में अनुष्ठित किये जाने चाहियें, इससे ऋतुओं की उप-

युक्त स्थिति रहती है। ऋतुविपर्यय की संभावना नहीं रहती। इसप्रकार अंग उपासनाओं के अनुवर्त्तन में कोई आपत्ति नहीं है।

अथवा सर्वत्र मन्त्रों के आदि में उच्चारण होने से सूत्र में 'मन्त्रादि' पद का अर्थ 'ओम्' है। जैसे सर्वत्र मन्त्रों के आदि में 'ओम्' का उच्चारण होने से शाखाभेद के आधार पर कोई विरोध नहीं माना जाता, ऐसे ही उद्‌गीथ आदि उपासनाविधियों के शाखान्तर में अनुवर्त्तन से कोई विरोध न होगा। फलतः आश्रयभूत कर्माङ्गों के अनुवर्त्तन के समान आश्रित उपासनाविधियों का शाखान्तरों में अनुवर्त्तन माना जाना अभीष्ट है ॥५६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि प्रत्येक कर्म में अङ्गभूत उपासनाओं का अनुवर्त्तन माना जाता है; तो वैश्वानर उपासना के विषय में क्या व्यवस्था होगी ? क्योंकि वहां व्यष्टि समष्टि दोनों प्रकार की उपासनाओं का वर्णन है; किसका अनुवर्त्तन होगा ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ॥५७॥

[भूम्नः] समष्टि का [क्रतुवत्] यज्ञ के समान [ज्यायस्त्वं] बड़ापन–प्रधानता [तथा हि] जैसे कि [दर्शयति] दिखलाता है। दर्श-पूर्णमास आदि याग के समान समष्टि उपासना का अनुवर्त्तन होगा, जैसा कि शास्त्र दिखलाता है।

छान्दोग्य उपनिषद् [५।११] में वैश्वानर उपासना का वर्णन है। वहां द्यौ आदि एक-एक अंग में वैश्वानर की उपासना व्यष्टिरूप में बताई है [५।१२।१]त । आगे 'सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु' [छा० ५।१८।१] इत्यादि में समष्टि उपासना का निर्देश है। यहां जिज्ञासा है, कि व्यष्टि और समष्टि दोनों उपासनाओं का उल्लेख होने से दोनों को अभिप्रेत माना जाय, या केवल एक समष्टि को ? दोनों उपासनाओं और उनके फलों का पृथक् निर्देश होने से प्रतीत होता है, कि दोनों उपासना अनुष्ठेय हैं। सूत्रकार ने बताया, भूमा–अङ्गी वैश्वानर–की समष्टि उपासना का प्रधान होना [ज्यायस्त्वं] प्रामाणिक है। क्योंकि इसकी प्रधानता को शास्त्र दिखलाता है। जैसे दर्श-पौर्णमास आदि यागों में प्रयाज आदि अंगों के समेत एक प्रधान प्रयोग अनुष्ठेय होता है, प्रयाज आदि अंगों का पृथक्-पृथक् प्रयोग नहीं। इसीकारण व्यष्टि उपासना का जहां निर्देश है, साथ ही वहां उसकी निन्दा का उल्लेख है, [छा० ५।१२–१७]। छान्दोग्य के इस वर्णन के अनुसार प्राचीनशाल आदि कतिपय जिज्ञासु केकय देशों के राजा अश्वपति के पास वैश्वानरविद्या की जानकारी के लिये जाते हैं। व्यष्टि उपासना की निन्दाद्वारा राजा ने उन्हें उस उपासना से हटाकर समष्टि उपासना का वर्णन कर उसमें प्रवृत्त किया [छा० ५।१८।१-२]। इससे वैश्वानर समष्टि उपासना की प्रधानता एवं अनुष्ठेयता का निश्चय होता है। व्यष्टि उपासना वहां विधेय नहीं, अनुवादमात्र में उसका तात्पर्य है ॥५७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, शास्त्र में अनेक उपासनाओं का वर्णन है, पर उन

सबमें उपास्य एकमात्र ब्रह्म है; तब इन सबको एक क्यों न माना जाय? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

नाना शब्दादिभेदात् ॥५८॥

[नाना] नाना हैं [शब्दादिभेदात्] शब्द आदि के भेद से। विधान और प्रकार के भेद से उपासना नाना हैं, एक दूसरे से भिन्न हैं।

दहर शाण्डिल्य वैश्वानर आदि उपासनाओं का विधान विभिन्न उपनिषदों में किया गया है। यद्यपि इन सब उपासनाओं में उपास्य तत्त्व एकमात्र ब्रह्म है, फिर भी इतने आधार पर इन सब उपासनाओं को एक नहीं माना जासकता; क्योंकि इनके विधायक शब्द परस्पर भिन्न हैं। 'वेद, उपासीत, ध्यायीत, क्रतु कुर्वीत' इत्यादि विधायक शब्दभेद से उपासना का भेद होता है। जैसे 'जुहोति' और 'यजति' आदि विधिशब्दों के भेद से कर्म का भेद माना जाता है। सूत्र के 'आदि' पद से गुण और प्रकारभेद का ग्रहण होता है। उपास्य के एक होने पर भी किसी उपासना में ब्रह्म किन्हीं गुणों से युक्त उपासा जाता है, तथा अन्य उपासना में अन्य गुणों से युक्त। उन उपासनाओं के अनुष्ठानप्रकार भी परस्परं भिन्न हैं; इन कारणों से दहर आदि विद्याओं का परस्पर भेद समझना चाहिये। पाद के प्रारम्भ में परस्पर गुणोपसंहार से जिन उपासनाओं की एकता का प्रतिपादन है, वह उन्हींका है, जो एक उपासना विभिन्न स्थानों में वर्णित हैं। जैसे पञ्चाग्निविद्या, प्राणविद्या आदि ॥५८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि उपासना नाना हैं, तो अनुष्ठान में उनका विकल्प माना जाना चाहिये, या समुच्चय? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥५९॥

[विकल्पः] विकल्प [अविशिष्टफलत्वात्] समान फल होने से। सब उपासनाओं का फल समान है, इसलिये उनके अनुष्ठान में विकल्प मानना युक्त है।

यदि किसी एक लक्ष्य स्थान पर पहुंचने के लिये एक से अधिक मार्ग उपयुक्त हैं, तो यह आवश्यक नहीं, कि लक्ष्य पर पहुंचनेवाला एक व्यक्ति प्रत्येक मार्ग से जावे; वह किसी एक मार्ग से लक्ष्य को पासकता है। उपासनाओं में सबका लक्ष्य ब्रह्मप्राप्ति है। किसी एक उपासना के अनुष्ठानद्वारा लक्ष्य को प्राप्त किया जासकता है। इसलिये उपासनाओं में विकल्प अभिमत है, समुच्चय नहीं। याज्ञिक कर्मों के फल भिन्न होते हैं, इसलिये उनमें समुच्चय संभव है। एक व्यक्ति विभिन्न फलों की प्राप्ति के लिये अनेक यज्ञकर्मों का अनुष्ठान करता है। पर उपासनाओं में फलभेद न होने से किसी उपासनाद्वारा उसे पाया जासकता है। वह फल है—एकमात्र ब्रह्मज्ञान ॥५९॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, उपासनाओं में कुछ काम्य उपासना हैं, उनमें विकल्प

या समुच्चय के लिये क्या व्यवस्था होनी चाहिये ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ॥६०॥

[काम्याः] काम्य उपासना [तु] तो [यथाकामं] इच्छानुसार [समुच्चीयेरन्] समुच्चय से की जायें—इकट्ठी की जायें, [न] नहीं [वा] अथवा, [पूर्वहेत्वभावात्] पहले हेतु के न होने से। काम्य उपासनाओं में 'समान फल' पहले हेतु के न होने से इच्छानुसार उनमें चाहे समुच्चय माना जाय, अथवा न माना जाय।

छान्दोग्य उपनिषद् [३।१५।१–७] में 'कोशविज्ञान' नामक एक काम्य उपासना का वर्णन है। यह उपासना पुत्र के दीर्घजीवी होने की कामना से कीजाती है। इसीके आगे [छा० ३।१६] स्वयं पिता के [अपने] दीर्घजीवी होने की कामना से कीजानेवाली उपासना का वर्णन है। इन काम्य उपासनाओं में करनेवाले उपासक की अपनी इच्छा है; जिस फल की वह कामना रखता है, उस उपासना का अनुष्ठान करे। यदि अनेक फलों की कामना रखता है, तो इकट्ठे अनेक उपासनाओं का अनुष्ठान करेगा। इसलिये काम्य उपासनाओं में यह कामनायुक्त उपासक की इच्छा पर निर्भर है, कि वह एक कामना रखता है, अथवा एक से अधिक। उसीके अनुसार उपासनाओं का इकट्ठे किया जाना अथवा न किया जाना संभव है। कारण यह है, कि इन उपासनाओं में उस हेतु का अभाव है, जो पहले सूत्र में निर्दिष्ट किया गया है। वह हेतु है—उपासनाओं का समान फल होना। काम्य उपासनाओं में ब्रह्मज्ञानरूप एक फल नहीं है, किन्तु उच्चावच लौकिक कामनाओं के अनुसार उनके विभिन्न फल हैं। फलतः काम्य उपासनाओं में विकल्प या समुच्चय का कोई नियम नहीं है ॥६०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, उक्त निर्णय के अनुसार अङ्गभूत उपासनाओं में विकल्प या समुच्चय की क्या व्यवस्था होनी चाहिये ? आचार्य सूत्रकार ने इसके उपयुक्त विवेचन के लिये प्रथम पूर्वपक्ष स्थापित किया—

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥६१॥

[अङ्गेषु] अंगों में [यथाश्रयभावः] आश्रय के अनुसार होना। अङ्ग उपासनाओं में आश्रय के अनुसार विधान होता है।

कर्मों के अंगभूत उद्गीथ आदि उपासनों के अनुष्ठान में काम्य उपासनाओं के समान अनियम मानना चाहिये, अथवा विकल्प या समुच्चय का कोई नियम ? यह जिज्ञासा का स्वरूप है। पूर्वपक्षरूप में सूत्रकार ने कहा, समुच्चय मानना ठीक होगा। कारण यह है, आश्रय के अनुसार अंग में अनुष्ठान होना चाहिये। अंगभूत उपासना का आश्रय कर्म है। कर्म में अनुष्ठान का यह प्रकार है, कि समस्त अंग मिलकर कर्म को सम्पन्न करते हैं; जैसे प्रयाज अनुयाज आदि सब अंग मिलकर दर्श पूर्णमास आदि यागों

का सम्पादन करते हैं। ऐसे अंग उपासना सब मिलकर अपनी प्रधान उपासना का संपादन करें। इसप्रकार अंग उपासनाओं के अनुष्ठान में समुच्चय मानना संगत है ॥६१॥

इसी विषय में सूत्रकार ने अन्य हेतु कहा—

शिष्टेश्च ॥६२॥

[शिष्टेः] शासन–विधान से [च] भी। शास्त्रीय विधान से भी यह ज्ञात होता है।

कर्म के अंगभूत उद्गीथ आदि का जैसे शास्त्र में विधान है, ऐसे अंगाश्रित उपासनाओं का विधान है–'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' [छा० १।१।१] 'ओम्' इस अक्षर उद्गीथ की उपासना करे। जब आश्रय के समान विधान है, तो अनुष्ठान भी उसके समान होना चाहिये। इससे अंग उपासनाओं में समुच्चय का होना प्रमाणित होता है ॥६२॥

सूत्रकार ने इसी प्रसंग में अन्य हेतु कहा—

समाहारात् ॥६३॥

[समाहारात्] समाहार से–कमी को पूरा करने से। कर्म में हुई कमी को पूरा करने से अंग उपासनाओं में यथाश्रयभाव का पता लगता है।

छान्दोग्य [१।५।५] में 'य उद्गीथः स प्रणवः, यः प्रणवः स उद्गीथः' जो उद्गीथ है वह प्रणव है, जो प्रणव है वह उद्गीथ है; इसप्रकार प्रणव और उद्गीथ की एकता उपासना का विधान कर उसके फल का कथन किया–'होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनु समाहरति' [छा० १।५।५] ऋग्वेदियों के प्रणव एवं सामवेदियों के उद्गीथ की एकता को जाननेवाला उद्गाता सामगान की अशुद्धि को होता के बैठने की जगह से [होतृषदनात्] ठीक करदेता है। कर्म की कमी को पूरा करदेना समाहार है। यदि उद्गाता के साथ प्रत्येक अंग-उपासना का सम्बन्ध न हो, तो उद्गाताद्वारा कीगई अशुद्धि का होतासम्बन्धी स्थान से ठीक कियेजाने का कथन नहीं किया जासकता। इससे अंग उपासनाओं में आश्रय के अनुसार समुच्चय माना जाना प्रमाणित होता है ॥६३॥

पूर्वोक्त अर्थ की पुष्टि के लिये सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥६४॥

[गुणसाधारण्यश्रुतेः] गुण के साधारण होने की श्रुति से [च] भी। अंग उपासनाओं के अनुष्ठान में समुच्चय इसलिये भी मानना चाहिये, क्योंकि गुण–अर्थात् कर्म के अंग उपासनासहित 'ओम्'–का सब कर्मों में समानरूप से होना श्रुति बतलाती है।

छान्दोग्य उपनिषद् [१।१।९] में कहा है–'तेनेयं त्रयी विद्या वर्त्तते, ओमित्या-

श्रावयति, ओमिति शंसति, ओमित्युद्गायति' उस 'ओम्' से यह त्रयी–ऋक्, यजुः, साम-रूप–विद्या प्रवृत्त होती है। अध्वर्यु ओम् कहकर सुनाता है, होता ओम् कहकर स्तुति करता है, उद्गाता ओम् कहकर गान करता है। यहां त्रयीविद्या के साथ 'ओम्' का समान सम्बन्ध बताया है; जो कर्म के अंगभूत उद्गीथ आदि उपासनाओं के अनुष्ठान में समुच्चय का द्योतक है। यहां गुण–अर्थात् उपासना के आश्रय ओम्–को सब वेदों का सांझा बताया है, इससे यह जाना जाता है, कि ओम् के आश्रित उपासनाओं के अनुष्ठान में समुच्चय होना चाहिये।

तात्पर्य यह, उद्गीथ एक गान है, जो एक कर्म का अंग है। उद्गीथ और प्रणव एक हैं। उद्गीथ जिस कर्म का अंग है, वह कर्म उद्गीथ के प्रयोग के विना पूरा नहीं होता, उद्गीथ का प्रयोग कर्म में आवश्यक है; यही उद्गीथ का कर्म के साथ समुच्चय है। जैसे उद्गीथ का आश्रय कर्म है, ऐसे उद्गीथोपासना का आश्रय उद्गीथ है। जब कर्म के साथ उद्गीथ का समुच्चय है, तो उद्गीथ के साथ उपासना का समुच्चय होना चाहिये। कर्म के साथ उद्गीथ गान आवश्यक है और उसके साथ उपासना। इसप्रकार कर्म के साथ उपासना का नियत समुच्चय प्राप्त होता है। गत चार सूत्रों द्वारा इसी भाव को पूर्वपक्षरूप में प्रकट किया है ॥६४॥

आचार्य सूत्रकार इस विषय में निर्णय देता है—

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥६५॥

[न] नहीं [वा] अथवा [तत्सहभावाश्रुतेः] उनके सहभाव की श्रुति न होने से। कर्म और उपासना के सहभाव की श्रुति न होने से इनका समुच्चय नहीं है।

जैसे कर्म के साथ उसके अंगों का सहभाव शास्त्र में स्पष्ट बताया है, ऐसे उपासनाओं के सहभाव का कहीं निर्देश नहीं है। इसी पाद के पिछले एक सूत्र [३।३।४२] में निर्णय किया है, कि कर्म का फल अन्य है, और उपासना का अन्य। इसप्रकार कर्म-जनित फल की प्राप्ति के लिये उपासना के विना केवल कर्म का अनुष्ठान किया जाता है। इसलिये यह आवश्यक नहीं, कि कर्म के साथ उपासना का नियत सहभाव हो। छान्दोग्य [१।१।१०] में कर्म और उपासना को एक दूसरे से भिन्न बताया है, और उपासना के विना कर्मानुष्ठान का निर्देश किया है। यह अलग बात है, कि साथ में उपासना के अनुष्ठान से शीघ्र व अधिक फल प्राप्त होता है।

कर्म के साथ उपासना के समुच्चय के लिये जो हेतु प्रथम दिये गये हैं, उन सबका इससे निराकरण होजाता है। कर्म के अङ्गभूत उद्गीथ आदि तथा उनके आश्रित उपासनाओं का शास्त्रद्वारा विधान यद्यपि समान है, फिर भी इनके शास्त्रनिर्दिष्ट फलभेद के कारण कर्म और उपासना का समुच्चय अमान्य है। अन्य दो हेतु–समाहार और गुणसाधारण्य–अर्थवादमात्र हैं, वे स्वयं इस अर्थ के साधक नहीं, अन्य कोई प्रमाण इसको

सहारा देनेवाला दिखाई नहीं देता; इसलिये यह युक्त प्रतीत होता है, कि जिस उपासना में जिसकी अभिरुचि है, वह उसका अनुष्ठान करसकता है। यह आवश्यक नहीं, कि कर्माङ्गों के साथ जो उसासना सम्बद्ध हैं, अथवा उन अंगों के आश्रित हैं; उनका अंगों के साथ नियत अनुष्ठान किया जाय; और इसप्रकार मुख्य कर्म के साथ उपासनाओं का समुच्चय माना जाय। वस्तुस्थिति यह है, कि अंग का अनुष्ठान ऋतु के लिये है, ऋतु की पूर्णता को संपन्न करता है; पर उपासना का अनुष्ठान पुरुष के लिये है, वह पुरुषार्थ को सिद्ध करता है। भिन्न प्रयोजन होने से इनका समुच्चय सर्वथा अनपेक्षित है ॥६५॥

उक्त विषय में आचार्य सूत्रकार ने अन्य उपोद्वलक प्रस्तुत किया—

दर्शनाच्च ॥६६॥

[दर्शनात्] देखे जाने से [च] भी। एक जानकार ब्रह्मा के द्वारा सब ऋत्विज् आदि की रक्षा का उल्लेख देखे जाने से समुच्चय के अनियम का पता लगता है।

छान्दोग्य उपनिषद् [४।१७।१०] में कहा–'एवंविद् ह वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति' ऐसा जाननेवाला ब्रह्मा, यज्ञ यजमान और सब ऋत्विजों की रक्षा करता है। यहां एक ब्रह्मा के ज्ञान से अन्य सब ऋत्विजों की रक्षा का निर्देश है। यदि अङ्गाश्रित उपासना कर्मों में सर्वत्र अंगों के समान आवश्यकरूप से अनुष्ठित की जाती होतीं; तो सभी ऋत्विज् आदि उनके जानकार रहते; एक ब्रह्माद्वारा उन सबकी रक्षा का प्रतिपादन न होता। कर्मों के अनुष्ठान में जैसे सब ऋत्विज् उन कर्मों और उनके अंगों के विषय में पूर्णज्ञाता होते हैं; यदि उपासनाओं का भी कर्म के साथ अंगोंके समान नियत समुच्चय होता; तो प्रत्येक ऋत्विज् को उसका जानकार होना आवश्यक होता; तब एक जानकार ब्रह्मा के द्वारा इस विषय में अन्य ऋत्विजों की रक्षा करने का उल्लेख अनावश्यक था। इससे स्पष्ट होता है, कि कर्म के साथ उपासनाओं का नियत समुच्चय नहीं है। इसलिये यथाकाम जैसा जहां अभिलषित हो, समुच्चय अथवा विकल्प, उसके अनुसार अनुष्ठान करलेना चाहिये; यही सूत्रकार का तात्पर्य है ॥६६॥

इति तृतीयाऽध्यायस्य तृतीयः पादः।

अथ तृतीयाऽध्याये चतुर्थः पादः।

ज्ञान के साधन उपासनाओं का विचार गत पाद में किया गया। अब यह विचार प्रस्तुत किया जाता है, कि ब्रह्मज्ञान स्वतन्त्ररूप से पुरुषार्थ का साधन है। मोक्ष ही परम

पुरुषार्थ है। उसकी प्राप्ति में ब्रह्मज्ञान साधनरूप से अन्य किसीकी अपेक्षा नहीं करता। आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में स्वनामनिर्देशपूर्वक प्रथम सूत्र कहा—

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॥१॥

[पुरुषार्थः] पुरुषार्थ [अतः] इससे [शब्दात्] शब्द से [इति] यह [बादरायणः] बादरायण। गत पाद में विचारित उपासना-जनित ज्ञान से पुरुषार्थ–मोक्ष होता है, यह शब्द अर्थात् शास्त्र से जाना जाता है। यह बादरायण मानता है।

ज्ञान मोक्ष का साधन है, इस विषय में यह संशय किया जासकता है, कि यह ज्ञान कर्म का अंग होकर मोक्ष का साधन माना जाना चाहिये, अथवा स्वतन्त्ररूप से ? आचार्य ने अपने मन्तव्य की दृढ़ता प्रकट करने के लिये अपने नाम का निर्देश करते हुए कहा, ज्ञान से साक्षात् मोक्ष सिद्ध होता है। मोक्ष के लिये ज्ञान अन्य किसी साधन सहयोगी की अपेक्षा नहीं करता। वह पुरुषार्थ के प्रति स्वतन्त्र कारण है, किसी का अंग होकर नहीं। आत्मा को जब ब्रह्मसाक्षात्कार होजाता है, तब मोक्ष के लिये उसे अन्य कोई साधन अपेक्षित नहीं होता, जिसका अंग अथवा साथी बनकर ज्ञान मोक्ष प्राप्त कराये। यह तथ्य शब्द से अर्थात् शास्त्र से जाना जाता है। अध्यात्मशास्त्रों के अनेक वचन इस अर्थ को स्पष्ट करते हैं। उन वचनों का प्रसंगवश यथास्थान पहले उल्लेख कर दिया गया है, फिर भी कतिपय सन्दर्भों को प्रतीकरूप से यहां उद्धृत कियाजाता है—

'य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः' [ऋ० १।१६४।२३] 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' [यजु० ३१।१८] 'तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः' [अथर्व० १०।८।४४] 'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्' [कठ० २।२।१२] 'तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथाः' [प्र० ६।६] 'तमेवैकं जानथ आत्मानममृतस्यैष सेतुः' [मु० २।२।५] 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' [तै० २।१] 'तरति शोकमात्मवित्' [छा० ७।१।३] 'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' [श्वे० ३।१] इत्यादि वैदिक वचन ज्ञान से मोक्ष होना बतलाते हैं। अन्य दर्शनों में भी ऐसा माना गया है–'ज्ञानान्मुक्तिः' [सां० ३।२३] 'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्' [वैशे० १।१।४] 'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः' [न्या० १।१।१] ज्ञान एवं तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस–मोक्ष प्राप्त होता है। मनुस्मृति [१२।८५] में भी इस अर्थ को स्वीकार किया है–'सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्। तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः' इन सबमें से आत्मज्ञान उत्कृष्ट है, यह सब ज्ञानों में प्रधान है श्रेष्ठ है, क्योंकि इससे मोक्ष प्राप्त होता है। इन सब शास्त्रीय वचनों से यह ज्ञात होता है, कि ब्रह्मज्ञान स्वतन्त्र मोक्ष का साधन है ॥१॥

अपने मन्तव्य को निर्बाध सिद्ध करने की भावना से आचार्य ने जैमिनि के विचार को पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत किया—

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॥२॥

[शेषत्वात्] शेष होने से [पुरुषार्थवादः] पुरुषार्थ का कथन [यथा] जैसे [अन्येषु] अन्यों में [इति] यह [जैमिनिः] जैमिनि। ज्ञान से पुरुष के लिये फल का जो कथन किया गया है, वह कर्म का अंग होने से अर्थवादमात्र है; जैसे अन्य द्रव्य संस्कार आदि के फल का कथन अर्थवाद है; यह जैमिनि आचार्य का विचार है।

पारलौकिक कर्मों में प्रवृत्ति होने के लिये यह आवश्यक है, कि–आत्मा देह से अतिरिक्त है–यह ठीक तरह समझ लिया जाय; अन्यथा उन कर्मों में किसीकी प्रवृत्ति होना संभव नहीं। उन कर्मों का फल स्थूलदेह के छूट जाने पर आत्मा को परलोक में मिलता है, यह आस्था उसी दशा में होसकती है, जब देह से अतिरिक्त आत्मा को जान-लिया जाता है। अध्यात्मविद्या का यही उपयोग है, कि यागादि कर्म में कर्त्तारूप से अंग-भूत होकर उपस्थित होनेवाले आत्मा का इसप्रकार ज्ञान करा दे, कि यह देह आदि से अतिरिक्त तत्त्व है। फल केवल कर्मानुष्ठान से मिलता है, कर्त्ता आत्मा कर्म का अंग है। उसके ज्ञान से जो फल का निर्देश है, वह केवल अर्थवाद है। जैसे कर्म के अन्य अंगों के फल का निर्देश अर्थवाद माना गया है। यज्ञ का एक पात्र 'जुहू' है, वह पात्र जिसका पलाश की लकड़ी से बना हो, उसे पाप का स्पर्श नहीं होता। यह फल अर्थवादमात्र है। इसका तात्पर्य इतने में है, कि जुहू पलाश की होनी चाहिये–'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' [तै० सं० ३।५।७।२]। यज्ञ के अवसर पर यजमान के संस्कार के लिये उसकी आंख को आंजा जाता है; उसका फल बताया–यह शत्रु की आंख का उच्छेद करना है–'यदंक्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृंक्ते' [तै० सं० ६।१।१।५]। यह फलनिर्देश अर्थवाद है, इसका केवल इतना तात्पर्य है, कि संस्कार के लिये यजमान की आंख को आंजना आवश्यक है। इसीप्रकार आत्मज्ञान के फल का जो निर्देश किया गया है–'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि वह अर्थवादमात्र है, जिसका केवल इतना तात्पर्य है, कि कर्म में कर्त्तारूप से अंगभूत होकर उपस्थित आत्मा को अनुष्ठान से पूर्व देहातिरिक्तरूप में जानलेना आवश्यक है। फलतः ज्ञान को स्वतन्त्ररूप से मोक्ष का साधन कहना अप्रामाणिक है ॥२॥

इसी अर्थ को सूत्रकार शिष्टाचारद्वारा प्रमाणित करता है—

आचारदर्शनात् ॥३॥

[आचारदर्शनात्] आचरण देखा जाने से। ज्ञानी व्यक्ति कर्मानुष्ठान करते रहे हैं, ऐसे आचरण का शास्त्र में उल्लेख है।

छान्दोग्य उपनिषद् [५।११।५] में कहा है–'यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि' ब्रह्मज्ञान की शिक्षा के लिये आये हुए प्राचीनशाल आदि महाश्रोत्रिय विद्वानों से ब्रह्मवेत्ता

अश्वपति कह रहा है, कि हे भगवन्तः ! मैं यज्ञ करनेवाला हूं । यह ज्ञानी अश्वपति-द्वारा यज्ञ किये जाने का उल्लेख है। इसीप्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् [३।१।१] में ब्रह्मवेत्ता जनकद्वारा यज्ञ किये जाने का वर्णन है–'जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे' विदेह देशों के राजा जनक ने बहुत दक्षिणा वाले यज्ञ से यजन किया। ज्ञानी शिष्टजनों द्वारा कर्म के आचरण का यह निर्देश स्पष्ट करता है, कि ज्ञान का कोई स्वतन्त्र फल नहीं, वह कर्म का अंग है, और फल कर्मानुष्ठानद्वारा प्राप्त होता है ॥३॥

इसी विषय में आचार्य सूत्रकार ने अन्य हेतु कहा—

तच्छ्रुतेः ॥४॥

[तच्छ्रुतेः] उस विषय की श्रुति से। ज्ञान कर्म का अंग है, यह श्रुति–शब्द-प्रमाण से निश्चित होता है।

छान्दोग्य उपनिषद् [१।१।१०] में कहा–'यदेव विद्यया करोति···तदेव वीर्य-वत्तरं भवति' जिस कर्म को विद्या से करता है, वह अधिक बलवान होता है। यहां 'विद्यया' इस तृतीयान्त पद से स्पष्ट होता है, कि विद्या कर्म का अंग है। कर्म के संपादन में जैसे अन्य साधन उसके अंग हैं, ऐसे विद्या अर्थात् ज्ञान कर्म का अंग है ॥४॥

इसीके लिये सूत्रकार ने अन्य हेतु कहा—

समन्वारम्भणात् ॥५॥

[समन्वारम्भणात्] समान आरम्भण से। फलोत्पादन में विद्या-कर्म दोनों के सहकारी होने से।

बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।२] में सन्दर्भ है–'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' परलोक जाते जीवात्मा के लिये विद्या और कर्म दोनों सहकारी होते हैं। जब फल-प्राप्ति में दोनों का सहयोग है, तो अकेले ज्ञान को स्वातन्त्र्य से फलोत्पादक नहीं माना जासकता। उसका उपयोग कर्म का अंग होकर संभव है ॥५॥

इसी विषय में आचार्य ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

तद्वतो विधानात् ॥६॥

[तद्वतः] उस वाले–विद्यावाले को [विधानात्] विधान से। ज्ञान प्राप्त किये को कर्म के विधान से–ज्ञान कर्म का अंग है–यह अवगत होता है।

छान्दोग्य उपनिषद् [८।१५।१] में वर्णन है–'आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य यथा-विधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः' गुरु की सेवा से बचे हुए समय में विधिपूर्वक आचार्यकुल से वेद पढ़कर समावर्त्तन के अनन्तर स्नातक कुटुम्ब के साथ रहता हुआ स्वाध्याय करता रहे, इत्यादि सन्दर्भ में वेदार्थज्ञान-

वाले को कर्म में अधिकार बतलाया है। इसप्रकार ज्ञानी को कर्मों का विधान करने से स्पष्ट होता है, कि ज्ञान कर्म का अंग है ॥६॥

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ की पुष्टि के लिये अन्य हेतु कहा—

नियमाच्च ॥७॥

[नियमात्] नियम से [च] भी। नियम से भी ज्ञान कर्म का अंग जाना जाता है।

यजुर्वेद [४०।२] में बताया—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' कर्मों को करता हुआ ही यहां सौ बरस जीने की इच्छा करे। ज्ञानी के लिये आयुभर कर्मानुष्ठान का यह नियम पाये जाने से निश्चित है, कि पुरुष को फल कर्म से प्राप्त होता है। अन्यत्र [शत० १२।४।१।१] कहा—'एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रं, जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा' यह एक बुढ़ापे या मृत्युपर्यन्त की व्यवस्था है, जो यह अग्निहोत्र का अनुष्ठान है; बुढ़ापा या मृत्यु आने से ही यह छूटता है। आयुपर्यन्त कर्मानुष्ठान के ये नियम व व्यवस्था ज्ञान को कर्म का अंग माने जाने में प्रमाण हैं। इसलिये मोक्ष आदि फल भी कर्म से माने जाने चाहियें, ज्ञान का उपयोग कर्म के अंगरूप में होता है, स्वतन्त्र ज्ञान पुरुषार्थ का साधन नहीं ॥७॥

इस विस्तृत पूर्वपक्ष का आचार्य सूत्रकार ने समाधान करते हुए अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया—

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥८॥

[अधिकोपदेशात्] अधिक के उपदेश से [तु] तो [बादरायणस्य] बादरायण का [एवं] इसप्रकार [तद्दर्शनात्] उसके देखे जाने से। बादरायण का तो कहना है, कि यहां अधिक का उपदेश होने से ज्ञान कर्म का अंग नहीं है; क्योंकि अधिक का उपदेश अध्यात्मशास्त्र में देखा जाता है।

कर्म में जितना आत्मज्ञान उपयुक्त है, उतने का उपदेश जैमिनि आचार्य ने किया है। कर्मों के लिये आत्मा का देह से पृथक् होना जानलेना पर्याप्त है। इतना ज्ञान अनुमान व शब्दप्रमाण से होजाता है। यह ज्ञान कर्म का अङ्ग कहा जासकता है। परन्तु वेदान्तशास्त्र के रूप में उपदेश उससे अधिक है, जो आत्मा एवं परब्रह्म के साक्षात् दर्शन के लिये है। शरीरादि प्रकृतिपर्यन्त समस्त जड़तत्त्वों से चेतन आत्मतत्त्व सर्वथा पृथक् है, तथा समस्त चेतन-अचेतन विश्व का अधिष्ठाता एवं जगत् के जन्म आदि का कारण सर्वज्ञ सर्वशक्ति सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म हैं; इन दोनों का साक्षात् दर्शन ही ज्ञान है, वही मोक्ष का साधन है, यह उपदेश बादरायण का वेदान्त में है। ऐसा ज्ञान कर्म का अंग नहीं होसकता। इस ज्ञान से तो कर्मों का समूल उच्छेद होजाता है, यह कर्म का अंग कैसे? स्वयं सूत्रकार ने आगे [३।४।१६] इसका उल्लेख किया है।

आत्मज्ञानविषयक यह उपदेश अध्यात्मशास्त्रों में देखा जाता है। 'तद्यदात्मविदो विदुः' [मुं० २।२।९] आत्मज्ञानी उस ब्रह्म को जानलेते हैं। 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' [मुं० ३।२।७] निरन्तर अभ्यासी उपासक आत्मज्ञान से आनन्दरूप ब्रह्म का साक्षात् दर्शन करलेता है। श्वेताश्वतर [२।१५] में कहा— 'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्' आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से ब्रह्मतत्त्व का ऐसे अनायास साक्षात्कार होजाता है, जैसे एक दीप के प्रज्वलित करलिये जाने पर अन्य प्रदीप अनायास प्रज्वलित करलिये जाते हैं। आत्मा को अनुमान आदि के आधार पर देह से पृथक् जानलेना अपराविद्या के अन्तर्गत है, आत्मा एवं ब्रह्म का साक्षात् दर्शन पराविद्या है। कर्मसमूह का उच्छेदक होने से यह ज्ञान कर्म का अंग होना संभव नहीं।

दोनों आचार्यों के विचार में कोई विरोध नहीं है। एक ने तत्त्व का जिस स्तर तक उपदेश किया है, दूसरे ने अधिकारी की दृष्टि से कुछ आगे बढ़कर अपेक्षित अधिक उपदेश किया है। अपने स्तर पर दोनों उपयुक्त हैं। दोनों विचारों की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये आचार्य ने यहां यह विवेचन प्रस्तुत किया है। इस सबका तात्पर्य इतने में है, कि अपराविद्या के अन्तर्गत आत्मज्ञान कर्म का अंग रहो, परन्तु पराविद्या के रूप में जो साक्षात् आत्मदर्शन है, उसीको प्रस्तुत प्रसंग में 'ज्ञान' और मोक्ष का साधन बताया है, वह कर्म का अंग नहीं ॥८॥

ज्ञान को कर्म का अंग बताने में जो हेतु दिये हैं, उनके विषय में आचार्य सूत्रकार यथाक्रम अपना विचार प्रस्तुत करता है—

तुल्यं तु दर्शनम् ॥९॥

[तुल्यं] तुल्य [तु] तो [दर्शनम्] दर्शन। 'आचारदर्शनात्' हेतु से जो ज्ञान को कर्म का अंग बताया, वह दोनों में तुल्य है।

सूत्र का 'तु' पद इस अर्थ का बोधक है, कि आचारदर्शन हेतु ज्ञान को कर्म का अंग सिद्ध करने में असमर्थ है। कारण यह है, कि कर्मानुष्ठान के लिये जैसे शिष्टों के आचरण का शास्त्र से पता लगता है, ऐसे कर्म के त्याग का भी पता लगता है। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।२२] में वर्णन है—'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति, एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति। ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इसी लोक—ब्रह्मलोक अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति की इच्छा करते हुए संन्यासी जन सबका त्याग कर देते हैं। इसीकारण मूर्द्धन्य विद्वान् सन्तति आदि की कामना नहीं करते, सन्तति से हम क्या करेंगे? जब यह आत्मा यह लोक हमारा है। इसीकारण वे आत्मजिज्ञासु पुत्र, धन और यश आदि का सर्वथा परित्याग कर जीवनयात्रा के लिये भिक्षाचरण किया

करते हैं। कर्मानुष्ठान गृहस्थ आदि आश्रमों में किया जाता है, आत्मजिज्ञासुओं द्वारा उसके परित्याग का यहां स्पष्ट वर्णन है। अन्यत्र कहा–'एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार' [बृ० ४।५।१५] अपनी प्रिया भार्या मैत्रेयी के लिये अमृतप्राप्ति के साधन ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया, और–'प्रव्रजिष्यन्नस्मि' [बृ० ४।५।२] मैं संन्यास लेनेवाला हूं–इस पूर्वप्रतिज्ञा के अनुसार, 'इतना ही अमृत है' कहकर याज्ञवल्क्य ने सबका परित्याग करदिया। इसप्रकार कर्म के अनुष्ठान और कर्म के त्याग में शास्त्रीय निर्देश तुल्य होने से ज्ञान को कर्म का अंग समझना अप्रामाणिक है। कर्मों के आचरण का जो शास्त्र में विधान है, वह सब अन्तःकरण की शुद्धि आदि में उपयोग की भावना से है। ज्ञान को कर्म का अंग बताने में उसका तात्पर्य नहीं है ॥९॥

अब 'तच्छ्रुतेः' हेतु के विषय में सत्रकार ने कहा—

असार्वत्रिकी ॥१०॥

[असार्वत्रिकी] सार्वत्रिकी नहीं। 'यदेव विद्यया' [छा० १।१।१०] इत्यादि औपनिषद श्रुति सार्वत्रिक–सर्वविद्याविषयक नहीं है।

छान्दोग्य के प्रसंग से यह निश्चित है, कि 'यदेव विद्यया' इत्यादि कथन केवल प्रकरणप्राप्त उद्गीथविद्या के विषय में है, सब विद्याओं–उपासनाओं के विषय में नहीं। प्रारम्भ से 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' उद्गीथविद्या का उपक्रम है। इससे इतना प्रतीत होता है, कि उद्गीथउपासना कर्म के अङ्गभूत उद्गीथसाम से संबद्ध है। ऐसा उपासनाओं के विषय में प्रथम [ब्र० ३।३।६५-६६] निश्चय कर दिया गया है, कि कर्म के साथ इनका सहभाव आवश्यक नहीं है। इसलिये यह हेतु ज्ञान को कर्म का अंग सिद्ध करने में असमर्थ है ॥१०॥

आचार्य सूत्रकार ने क्रमप्राप्त 'समन्वारम्भणात्' हेतु के विषय में बताया—

विभागः शतवत् ॥११॥

[विभागः] विभाग [शतवत्] सौ के समान। विद्या का विभाग जानना चाहिये, सौ के विभाग की तरह।

जैसे सौ मुद्राओं का विभिन्न स्थानों में विनियोग करने के लिये उनका विभाजन कर लिया जाता है; ऐसे विद्या का विभाजन समझना चाहिये। परा और अपरा भेद से दो प्रकार की विद्या मानी गई है। 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' [बृ० ४।४।२] इस वाक्य में 'विद्या' पद से अपराविद्या का कथन है पराविद्या का नहीं। कारण यह है, कि कामना करनेवाले का यह प्रकरण है। इसके विषय में आगे कहा है–'इति नु कामयमानः' [बृ० ४।४।६] यह कामना करनेवाले के विषय में कहा। वहीं आगे कहा–'अथाकामयमानः' [बृ० ४।४।६] अब कामना न करने वाले का प्रकरण प्रारम्भ करते

हैं। ब्रह्मजिज्ञासु का प्रकरण कामना रखनेवाले से अलग करदिया है। पराविद्या वह है, जिससे ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है, यह कामना का क्षेत्र नहीं है। कामनावाले के प्रकरण में कियागया कथन पराविद्या के अन्तर्गत नहीं आता। 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' [बृ० ४।४।२] यह अपराविद्या का प्रसंग है। यहां विद्या और कर्म का विभाग सौ के विभाग के समान समझना चाहिये। एक से भूमि खरीदी, दूसरे से बैल। मालिक ने कहा–इनको सौ रुपये दे दो। सौ का विभाग कर पचास भूमिवाले को और पचास बैलवाले को देदिये जाते हैं। ऐसे ही परलोकयात्री के विद्या और कर्म सहायक होते हैं, इस कथन का यही अर्थ है, कि विद्यावाले के लिये विद्या और कर्मवाले के लिये कर्म सहायक हैं। इसप्रकार विभाग करने पर विद्या और कर्म परलोकयात्रा में सहायक होते हैं, इस कथन से–विद्या कर्म का अंग है–यह सिद्ध नहीं होता ॥११॥

आचार्य सूत्रकार ने अगले 'तद्वतो विधानात्' हेतु के विषय में बताया—

अध्ययनमात्रवतः ॥१२॥

[अध्ययनमात्रवतः] केवल अध्ययन करनेवाले को। कर्म करने का विधान केवल वेदाध्ययन करनेवाले को है।

'आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य' [छा० ८।१५।१] इत्यादि छान्दोग्यसन्दर्भ के द्वारा यदि ब्रह्मज्ञानी के लिये स्वाध्याय आदि कर्मानुष्ठान का विधान होता, तो अवश्य यह कहा जासकता था, कि ज्ञान कर्म का अंग है। पर यहां ब्रह्मज्ञानी के लिये स्वाध्याय आदि कर्म का विधान नहीं है; प्रत्युत उसके लिये है, जिसने केवल वेदार्थ को जाना है। सन्दर्भ में 'वेदमधीत्य' पद हैं, वेद का अध्ययन कर। 'अध्ययन' पद का तात्पर्य है–आचार्य से अर्थसहित वेदपदों का ग्रहण करना। ऐसे व्यक्ति के लिये उक्त सन्दर्भ में स्वाध्याय आदि कर्म का विधान है, ब्रह्मज्ञानी के लिये नहीं। इसलिये ज्ञान कर्म का अंग नहीं माना जासकता ॥१२॥

क्रमप्राप्त 'नियमात्' हेतु के विषय में सूत्रकार ने कहा—

नाविशेषात् ॥१३॥

[न] नहीं [अविशेषात्] अविशेष से। नियम हेतु ज्ञान को कर्म का अंग सिद्ध नहीं करता, क्योंकि वह नियम का वचन एक सामान्य कथन है।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' [यजु० ४०।२; ईशा० २] इत्यादि सन्दर्भ में यह विशेष कथन नहीं है, कि आयुपर्यन्त कर्म करते रहना अज्ञानी के लिये आवश्यक है, अथवा ज्ञानी के लिये। यह एक सामान्य कथन है। निष्काम कर्म का अनुष्ठान ब्रह्मज्ञान के सम्पादन के लिये किया जाता है। इसलिये ऐसे कर्मों का अनुष्ठान उसी व्यक्ति के लिये अपेक्षित है, जिसे अभी तक ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ। आयुपर्यन्त कर्मानुष्ठान का यह नियम उसीके

लिये कहा गया है, जिसे अपेक्षा हो। ज्ञानी तो कर्म करने न करने में स्वतन्त्र होता है। इसप्रकार सामान्य कथन होने पर अज्ञानी के लिये यह नियम होसकता है। ऐसी स्थिति में इस नियम के आधार पर ज्ञान को कर्म का अंग सिद्ध नहीं किया जासकता ॥१३॥

'नियम' हेतु का आचार्य सूत्रकार ने अन्य समाधान किया—

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥१४॥

[स्तुतये] स्तुति के लिये [अनुमतिः] अनुमति [वा] अथवा। अथवा कर्म की स्तुति के लिये आयुपर्यन्त कर्मानुष्ठान की अनुमति है।

ज्ञान का फल मोक्ष है, यह निश्चित है। उस ज्ञान का लाभ करने में कर्म बड़े सहायक होते हैं, इसलिये कर्म अवश्य स्तुति के योग्य हैं। ऐसे कर्मों का त्याग करना ज्ञानी के लिये उचित नहीं। इसलिये शिष्टाचार के पालन करने अथवा लोकसंग्रह के लिये ज्ञानी जीवनपर्यन्त कर्मानुष्ठान करता रहे, इसीकी अनुमति 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इत्यादि शास्त्रवचन देता है। यह कर्म की स्तुति के लिये है। इससे ज्ञान कर्म का अंग सिद्ध नहीं होता।

अथवा 'ईशावास्यमिदं सर्व' इत्यादि ब्रह्मज्ञान का प्रकरण है। तब कर्मानुष्ठान का सम्बन्ध ज्ञानी से होसकता है। ऐसी स्थिति में ज्ञान की स्तुति के लिये यह कर्मानुष्ठान की अनुमति समझनी चाहिये। ज्ञान का इतना माहात्म्य है, कि ज्ञानी कर्म करता हुआ भी उनसे अभिभूत नहीं होता। इसीको वाक्यशेष में कहा–'न कर्म लिप्यते नरे' ज्ञानी पुरुष में कर्म का लेप नहीं होता, ज्ञान का इतना सामर्थ्य है। इसप्रकार कर्मानुष्ठान का यह कथन ज्ञान की स्तुति के लिये समझना चाहिये ॥१४॥

उक्त अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार ने अन्य उपोद्बलक प्रस्तुत किया—

कामकारेण चैके ॥१५॥

[कामकारेण] इच्छानुसार [च] और [एके] कतिपय। और कोई शाखावाले ज्ञानी को उसकी अपनी इच्छानुसार कर्म करना बताते हैं।

कौषीतकि और वाजसनेयि शाखाध्यायी ज्ञानी के लिये अपनी इच्छा के अनुसार अग्निहोत्र आदि कर्मों के परित्याग का उल्लेख करते हैं। कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् [२।५] में कहा–'अथ या अन्या आहुतयोऽन्तवत्यस्ताः कर्ममय्यो भवन्ति, एतद्ध वै पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहुवाञ्चक्रुः' और जो अन्य आहुतियां अन्तवाली हैं, वे कर्ममयी होती हैं; उन अग्निहोत्ररूप आहुतियों को पूर्वज्ञानी नहीं होमते। इसीप्रकार वाजसनेयि शाखान्तर्गत बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।२२] में बताया–'एतद् ह स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते, किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति। ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' यह

जाना जाता है, कि मूर्द्धन्य ज्ञानी सन्तति की कामना नहीं करते; कर्मानुष्ठानबहुल गृहस्थ आदि आश्रमों में जाने की इच्छा नहीं रखते। वे विचारते हैं, प्रजा से हम क्या करेंगे? यह सब धनसम्पत्ति, कर्मानुष्ठान और सन्तति आदि से हमें क्या करना है? जब हमारे लिये यह परब्रह्म परमात्मा सब कुछ है। यह विचार वे पुत्र वित्त और यश आदि की कामनाओं को दूर फेंक भिक्षाचरण से जीवन पूरा करदेते हैं। इन प्रसंगों में ज्ञानियों की इच्छा के अनुसार अग्निहोत्र आदि कर्मों के परित्याग का उल्लेख है। यदि ज्ञान कर्म का अंग माना गया होता, तो ज्ञानियों के लिये कर्मपरित्याग का निर्देश न किया जाता। इससे स्पष्ट होता है, कि शास्त्र ज्ञान को कर्म का अंग नहीं मानता ॥१५॥

इसी विषय में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

उपमर्दं च ॥१६॥

[उपमर्दं] उपमर्द-नाश को [च] और। और कतिपय शाखाध्यायिओं ने ज्ञान से कर्म के उपमर्द को पढ़ा है।

गतसूत्र से यहां 'एके' पद की अनुवृत्ति करलेनी चाहिये। एक अन्य शाखाध्यायी यह कहते हैं, कि ज्ञान से कर्मों का विनाश होजाता है। ब्रह्मज्ञान होजाने पर सञ्चित कर्म फलोत्पादक नहीं रहते—'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' [मुं० २।२।८] उस परावर—परब्रह्म परमेश्वर का साक्षात्कार होजाने पर इस ब्रह्मज्ञानी आत्मा के कर्म क्षीण होजाते हैं, उनमें फलोत्पादन का सामर्थ्य नहीं रहता। यदि ज्ञान कर्म का अंग होता, तो ज्ञान से कर्मों के क्षय का निर्देश असंगत था; अंग अंगी का नाश करे, यह अनुपपन्न है। इसलिये भी ज्ञान को कर्म का अंग समझना अप्रामाणिक है ॥१६॥

प्रस्तुत विषय की पुष्टि में सूत्रकार ने अन्य उपोद्बलक उपस्थित किया—

ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ॥१७॥

[ऊर्ध्वरेतस्सु] ऊर्ध्वरेताओं में [च] और [शब्दे] शास्त्र में [हि] क्योंकि। ऊर्ध्वरेताओं में ज्ञाननिष्ठा एवं कर्म का अभाव देखा जाता है, क्योंकि शास्त्र में ऐसे ऊर्ध्वरेताओं का निर्देश है।

नैष्ठिक ब्रह्मचर्यपूर्वक ब्रह्मज्ञान के लिये प्रयत्नशील त्यागी पुरुष ऊर्ध्वरेता कहे जाते हैं। इनके दो आश्रम हैं—नैष्ठिक ब्रह्मचर्य तथा ब्रह्मचर्य से सीधा संन्यास। इन ऊर्ध्वरेताओं के आश्रमों में ब्रह्मज्ञान के लिये निष्ठा शास्त्रविहित है, अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मों का उनके लिये नियत विधान नहीं देखा जाता। ऊर्ध्वरेताओं के इन आश्रमों का उल्लेख शास्त्र में उपलब्ध है। छान्दोग्य [५।१०।१] में कहा—'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' ये जो अरण्य में श्रद्धा एवं तपश्चरणपूर्वक उपासना करते हैं। मुण्डक उपनिषद् [१।२।११] में कहा—'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष-

चर्यां चरन्तः' जो शान्त ब्रह्मजिज्ञासु भिक्षाचरण करते तथा तपस्या व श्रद्धापूर्वक उपासना करते हुए अरण्य में निवास करते हैं। 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' [ब्र० ४।४।२२] विरक्त जन ब्रह्मप्राप्ति की अभिलाषा रखते हुए सब त्याग-कर संन्यासी होजाते हैं।

इसीप्रकार छान्दोग्य के एक प्रसंग [२।२३।१-२] में धर्म के तीन स्कन्ध–आधार बताये हैं। उनका अनुष्ठान–आचरण करनेवाले पुण्यसाध्य सुखों को प्राप्त करते हैं। वहां मोक्ष की प्राप्ति उन्हींके लिये बताई है, जो ब्रह्मसंस्थ हैं; जिन्होंने ब्रह्मचर्यादितपः-श्रद्धापूर्वक ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया है। इन ऊर्ध्वरेता आश्रमियों के लिये उक्तरूप से शास्त्र में ज्ञाननिष्ठा का विधान है। कर्म के अभाव में ये ब्रह्मज्ञानद्वारा मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसलिये मोक्षप्राप्ति में ज्ञान स्वतन्त्र कारण है, कर्म का अंग होकर नहीं। विस्तृत विवेचनद्वारा सूत्रकार ने यह निश्चय किया, कि ज्ञान को कर्म का अंग नहीं समझना चाहिये ॥१७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, ऊर्ध्वरेताओं के जिन आश्रमों का प्रसंगवश गतसूत्र में निर्देश है, आचार्य जैमिनि उन आश्रमों की स्थिति को नहीं मानता। इसमें क्या निर्णय होना चाहिये ? इसके विवेचन के लिये सूत्रकार ने प्रथम जैमिनि के विचार को प्रस्तुत किया—

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥१८॥

[परामर्श] अनुवाद–कथनमात्र को [जैमिनिः] जैमिनि [अचोदना] विधि का अभाव [च] और [अपवदति] निन्दा करता है [हि] क्योंकि। उक्त शास्त्रवचनों में अन्य आश्रमों का अनुवाद–कथनमात्र है, विधि नहीं है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानता है। क्योंकि कर्मत्याग की शास्त्र निन्दा करता है।

गतसूत्र के निर्देशानुसार जिन उपनिषद् वाक्यों में ऊर्ध्वरेताओं के नैष्ठिक ब्रह्म-चर्य तथा संन्यास आश्रम का ब्रह्मजिज्ञासुओं के लिये वर्णन है, उस विषय में जैमिनि आचार्य का कहना है, कि आश्रम केवल एक गृहस्थ है, जहां कर्मानुष्ठान के लिये विधान है। 'ये चेमेऽरण्ये' [छा० ५।१०।१] 'एतमेव प्रव्राजिनः' [बृ० ४।४।२२] 'त्रयो धर्म-स्कन्धाः' [छा० २।२३।१] इत्यादि सन्दर्भों में कर्मत्याग की दृष्टि से जिन आश्रमों का निर्देश है, वह केवल अनुवाद है, किसी अन्य निमित्त से आश्रमों का कथनमात्र है, यह विधिवाक्य नहीं हैं, जिससे उन आश्रमों को शास्त्रीय विधि के अनुसार मानाजाय।

इसके अतिरिक्त शास्त्र कर्मत्याग की निन्दा करता है। तैत्तिरीय संहिता [१।५।२।१] में कहा–'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते' वह वीरघाती है, जो देवों के सम्बन्ध की अग्नि का परित्याग करता है। यहां अग्निहोत्र आदि कर्मों का त्याग करने-वाले की निन्दा कीगई है। तथा गृहस्थाश्रम के लिये प्रशंसापूर्वक शास्त्र निर्देश करता

है–'आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' [तै० १।११] शिष्य के स्नातक होने पर आचार्य उपदेश करता है–आचार्य के लिये अनुकूल धन लाकर अपने सन्ततिक्रम का उच्छेद न करना। अब स्नातक होकर गृहस्थाश्रम का पालन करो, जिससे सन्ततिक्रम का सूत्र टूट न जाय। क्योंकि सन्ततिहीन व्यक्ति का लोक सुखपूर्ण नहीं होता–'नापुत्रस्य लोकोऽस्ति' [ऐ० ब्रा० ७।१३।१२]। ये शास्त्रवचन गृहस्थ आश्रम के परित्याग का निषेध करते हैं। जब शास्त्र ऐसे आश्रम के लिये सहारा नहीं देता, जहां कर्म का त्याग कियाजाय, तब आयु के किसी भाग में सम्पादन कियेजानेवाले ज्ञान को कर्म का अंग क्यों न माना जाय? यह जैमिनि आचार्य के मन्तव्य का अभिप्राय है ॥१८॥

आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में अपने नामनिर्देश के साथ निर्णय किया—

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥१९॥

[अनुष्ठेयं] अनुष्ठान के योग्य [बादरायणः] बादरायण [साम्यश्रुतेः] समानता के शब्द से। उक्त सन्दर्भों में सब आश्रमों के लिये समान कथन होने से गृहस्थ आश्रम की तरह अन्य आश्रम भी अनुष्ठान के योग्य हैं, यह बादरायण कहता है।

छान्दोग्य [२।२३।१] के सन्दर्भ में सब आश्रमों का वर्णन समानरूप से उपलब्ध है। सन्दर्भ इसप्रकार है–'त्रयो धर्मस्कन्धाः–यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः, तप एव द्वितीयः, ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति। ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' धर्म के तीन आधार हैं, यज्ञ–अग्निहोत्र आदि कर्म, अध्ययन–वेदादि सत्यशास्त्रों का स्वाध्याय, दान–यज्ञप्रसंग से बाहर उपयुक्त पात्र को धन आदि प्रदान करना; यह सब धर्म का एक स्कन्ध–आधार है। यह गृहस्थ आश्रम के विषय में निर्देश है। धर्म का दूसरा आधार–तप है, यह तपःप्रधान वानप्रस्थ आश्रम का निर्देश है। आचार्यकुल में निवास करता हुआ ब्रह्मचारी धर्म का तीसरा आधार है, जबकि वह विविध कठोर नियमों के पालन से अपने देह आदि के कष्टों की चिन्ता न करता हुआ आचार्यकुल में निवास करता है। इससे ब्रह्मचर्य आश्रम का निर्देश है। इन तीनों आश्रमों में कर्मानुष्ठान की समानता है, इसलिये इनका इकट्ठा वर्णन कर समानरूप से फल का निर्देश है–'सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति' यथाविधि पालन किये गये ये आश्रम पुण्यलोकों की प्राप्ति के साधन होते हैं। इसके अनन्तर चतुर्थ संन्यास आश्रम का निर्देश है–'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' कर्मप्रधान आश्रमों के अतिरिक्त इस कर्मत्यागप्रधान संन्यास आश्रम का इस रूप में कथन किया है। कामनामूलक कर्मों का परित्याग कर निरन्तर श्रद्धापूर्वक उपासना आदि द्वारा जिसने ब्रह्मसाक्षात्कार करलिया है, वह 'ब्रह्मसंस्थ' होता है; इससे त्यागपूर्ण ज्ञानैकप्रधान संन्यास आश्रम का निर्देश है, जिसका फल अमृतप्राप्ति है।

छान्दोग्य के इस प्रसंग में सब आश्रमों का समानरूप से निर्देश है। विधि-

वाक्यद्वारा किसी एक आश्रम का निर्देश किया हो, अन्य का न किया हो; ऐसा नहीं है। इसलिये किसी एक आश्रम को अथवा कर्मप्रधान आश्रमों को वेदप्रतिपाद्य माना जाय, तथा ज्ञानप्रधान संन्यास आश्रम को वैदिक न माना जाय; इस मान्यता को शास्त्र-संगत नहीं कहा जासकता। इसके अतिरिक्त जाबालोपनिषद् [४] में विधिवाक्यद्वारा संन्यास आश्रम का निर्देश है। वहां पाठ है–'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्। ···यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' ब्रह्मचर्य पूरा कर गृहस्थ होवे, गृहस्थ होकर वानप्रस्थ तथा वानप्रस्थ होकर संन्यास ग्रहण करे। यदि गृहस्थ आदि न करना हो, तो ब्रह्मचर्य आश्रम के अनन्तर संन्यास ले लेवे। अथवा जिस दिन पूर्ण वैराग्य होजाय, उसी दिन संन्यास आश्रम में प्रवेश करे। अन्य आश्रमों के समान यहां स्पष्ट संन्यास का विधान है। इसलिये गृहस्थ आदि के समान संन्यास आश्रम वैदिक एवं अनुष्ठेय है, यह सूत्रकार आचार्य बादरायण का विचार है ॥१९॥

आचार्य सूत्रकार ने 'प्रव्रजन्ति' इत्यादि पदों को प्रकारान्तर से विधिरूप समझने के विषय में सूत्र कहा—

विधिर्वा धारणवत् ॥२०॥

[विधिः] विधि [वा] अथवा [धारणवत्] धारण के समान। अथवा धारण-विधि के समान 'प्रव्रजन्ति' को प्रव्रज्या आश्रम की विधि समझना चाहिये।

तैत्तिरीय संहिता में महापितृयज्ञ के अन्तर्गत प्रेताग्निहोत्रप्रसंग का सन्दर्भ है–'अधस्तात् समिधं धारयन्ननुद्रवेत्, उपरि हि देवेभ्यो धारयति' [तै० सं० अनुपलब्ध]। नीचे समिधा को धारण करता हुआ हवि को लेजाये, क्योंकि ऊपर देवों के लिये धारण कीजाती है। जैसे यहां 'धारयति' को दैवहोम में स्रुग्दण्ड के ऊपर समिधा धारण किये जाने की विधि माना गया है; ऐसे ही 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' [बृ० ४।४।२२] सन्दर्भ के 'प्रव्रजन्ति' को प्रव्रज्या की विधि मानना सर्वथा प्रामाणिक है। धारण को विधि इसीलिये माना गया है, कि वह अपूर्व है, अर्थात् अन्य किसी विधि-वाक्य से प्राप्त नहीं है। इसके लिये मीमांसा [३।४।१५] में कहा है–'विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्' अपूर्व होने से धारण [धारयति] में विधि मान्य है। यही न्याय 'प्रव्रज्या' [प्रव्रजन्ति] के लिये लागू होता है। फलतः संन्यास आश्रम के विधिविहित होने पर उसका अनुष्ठेय होना तथा अन्यत्र अनुवाद या कथन होना सर्वथा संगत है ॥२०॥

शिष्य आशंका करता है, 'प्रव्रजन्ति' को प्रव्रज्या की विधि कहना संगत न होगा, उस सन्दर्भद्वारा ब्रह्मलोक की केवल स्तुति किया जाना प्रतीत होता है। आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥२१॥

[स्तुतिमात्रं] स्तुतिमात्र [उपादानात्] उपादान–ग्रहण–कथन करने से [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो वह ठीक) [न] नहीं [अपूर्वत्वात्] अपूर्व होने से। बृहदारण्यक के उक्त [४।४।२२] वाक्य में विधि नहीं, क्योंकि उसका तात्पर्य केवल ब्रह्मलोक की स्तुति करने में है; ऐसा समझना ठीक न होगा, क्योंकि विधि का प्रयोजक अपूर्व हेतु वहां विद्यमान है।

बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।२२] के सन्दर्भ में 'प्रव्रजन्ति' पद प्रव्रज्या–संन्यास आश्रम का विधि नहीं है, वह केवल ब्रह्मलोक की स्तुति का बोधक है। कारण यह है, कि उक्त वाक्य में 'लोकमिच्छन्तः' का स्पष्ट उपादान है। ब्रह्मलोक की कामनावाले सबका परित्याग करदेते हैं, इस कथन से ब्रह्मलोक की स्तुति का भाव प्रकट होता है, वह लोक इतना महत्त्वपूर्ण है, कि उसकी प्राप्ति के लिये सबकुछ परित्याग करदियाजाता है। इसमें प्रव्रज्या की भावना गौण रहजाती है, मुख्य ब्रह्मलोक की स्तुति है। इसलिये 'प्रव्रजन्ति' को प्रव्रज्या का विधि नहीं माना जाना चाहिये।

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया, ऐसा समझना युक्त न होगा। कारण यह है, कि विधि का प्रयोजक 'अपूर्व' हेतु होता है। 'अपूर्व' का तात्पर्य है, अन्य किसी वाक्य से उस अर्थ का प्राप्त न होना। इसी आधार पर मीमांसा [३।४।१५] में 'धारयति' को विधि माना गया है। वही आधार यहां है। प्रव्रज्या अन्य वाक्य से प्राप्त न होने के कारण 'अपूर्व' है, इसलिये 'प्रव्रजन्ति' से उसका बिधान मानना प्रामाणिक है। 'अपूर्व' हेतु जहां होगा, उसे विधि मानने में शास्त्रीय बाधा कोई नहीं है। फलतः ब्रह्मलोक प्राप्ति के लिये प्रव्रज्या–संन्यास आश्रम का यहां विधान है, यह प्रामाणिक है।

इसीप्रकार 'स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः' [छा० १।१।३] यह जो रसों के क्रम में आठवां रस उद्गीथ [ओम्] है, यह सब रसों में उत्तम, सबसे उच्चस्थानीय है; तथा 'इयमेव ऋगग्निः साम' [छा० १।६।१] यह पृथिवी ऋचा है अग्नि साम है; इत्यादि वाक्यों में उद्गीथ उपासना का विधान समझना चाहिये, केवल उनकी स्तुति नहीं, क्योंकि यहां उद्गीथ आदि उपासना का इस रूप में कोई विधायक वाक्य समीप न होने से यह अपूर्व [अप्राप्त] है; इसलिये उद्गीथ उपासना के विषय में रसतमत्व आदि रूप से ध्यान करने की यह स्वतन्त्र विधि है। 'इयमेव जुहूः······स्वर्गो लोक आहवनीयः' [ऐ० ब्रा० ५।२६] यह पृथिवी ही जुहू है, आहवनीय अग्नि स्वर्गलोक है, यहां विधि नहीं है। यह कर्म के अंग जुहू को पृथिवी और आहवनीय को स्वर्गलोक कहकर जुहू और आहवनीय की केवल स्तुति कीगई है; क्योंकि यहां जुहू आदि की विधि समीप होने से यह अपूर्व न होकर उस विधि की स्तुति मानी जाती है, जिसका यह अंग है। फलतः 'प्रव्रजन्ति' [बृ० ४।४।२२] में प्रव्रज्या की विधि मानना

शास्त्रसंमत है ॥२१॥

इसी विषय में आचार्य सूत्रकार ने अन्य उपोद्बलक प्रस्तुत किया—

भावशब्दाच्च ॥२२॥

[भावशब्दात्] भाव–क्रिया–प्रव्रज्या के कहे जाने से [च] और। तथा शास्त्र में प्रव्रज्या के ग्रहण किये जाने का कथन है, इससे भी प्रव्रज्या-आश्रम की विधि का निश्चय होता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् [४।५।१] में–'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुः–मैत्रेयी च कात्यायनी च' याज्ञवल्क्य की मैत्रेयी और कात्यायनी दो भार्या थीं, इत्यादि से प्रकरण का प्रारम्भ कर अन्त में कहा–'एतावदरे खल्वमृतत्त्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज' [बृ० ४।५।२५] अरे मैत्रेयि ! इतना ही अमृतप्राप्ति का मार्ग है, यह कहकर याज्ञवल्क्य ने प्रव्रज्या–संन्यास को ग्रहण किया। यदि 'प्रव्रजन्ति' [बृ० ४।४।२२] में प्रव्रज्याविधि स्वीकार न कीगई होती, तो उपनिषद् में यहां याज्ञवल्क्य के प्रव्रज्या ग्रहण का निर्देश न होता। यह प्रव्रज्याग्रहणविषयक शब्द सिद्ध करता है, कि 'प्रव्रजन्ति' में प्रव्रज्या की विधि है। उसीके अनुसार याज्ञवल्क्य के प्रव्रज्याग्रहण का निर्देश है ॥२२॥

शिष्य आशंका करता है, मैत्रेयि-याज्ञवल्क्य, एवं अन्य इसप्रकार की आख्यायिका केवल मनोरञ्जन के लिये हैं। इनके आधार पर किसी शास्त्रीय अर्थ का निर्धारण नहीं किया जाना चाहिये ? आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥२३॥

[पारिप्लवार्थाः] पारिप्लव के लिये [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहो तो वह ठीक) [न] नहीं [विशेषितत्वात्] विशेषतायुक्त होने से। आख्यायिका सब पारिप्लव के लिये हैं, ऐसा कहना संगत नहीं, क्योंकि ये विशेषता से युक्त हैं।

अश्वमेध आदि दीर्घयागों में यजमान को उपयुक्त समय पर जो आख्यायिका सुनाई जाती हैं, उनका नाम 'पारिप्लव' है। आश्वलायन श्रौतसूत्र में कहा है–'पारिप्लवमाचक्षीत' [१०।६।१०] याग के अवसरों पर इसप्रकार की आख्यायिकाओं का कहना केवल मनोरञ्जन के लिये होता है, उनका अपने उस रूप में कोई प्रामाण्य नहीं रहता। मैत्रेयि-याज्ञवल्क्य [बृ० ४।५।१], प्रतर्दन-दैवोदासि [कौषी० ३।१], भृगु-वरुण [तै० ३।१], श्वेतकेतु-अरुण [छा० ६।१।१] इत्यादि आख्यायिका भी केवल मनोरञ्जन के लिये कही जासकती हैं, जिससे विषय का वर्णन रुचिपूर्ण रीति पर होसके। इन कथाओं की घटना अपनेरूप में कोई महत्त्व नहीं रखती। इससे याज्ञवल्क्य का प्रव्रज्याग्रहण करना विहित सिद्ध नहीं होता।

आचार्य सूत्रकार ने बताया, ऐसा समझना युक्त नहीं है। कारण यह है, कि

पारिप्लवप्रसंग में कोई आख्यायिका चाहे जहां से कहदी जाय, अथवा कल्पना से घढ़कर सुनादी जाय; ऐसा नहीं होसकता। वे आख्यायिका विशेषरूप से निर्दिष्ट करदी गई हैं। शतपथब्राह्मण के अश्वमेधनिरूपण प्रकरण [१३।४।३।१–१५] में पारिप्लव आख्यायिकाओं का निर्देश है। अश्वमेध सांवत्सरिक याग है। छत्तीस दशाहों में यह सम्पन्न होता है। इन दशाहों के प्रत्येक दिन एक विशिष्ट आख्यायिका कहे जाने का ब्राह्मण में उल्लेख है। उनमें पहले दिन कही जानेवाली आख्यायिका का निर्देश इसप्रकार है–'मनुर्वैवस्वतो राजा इत्याह' [श० १३।४।३।३]। ऐसे ही दस दिन की दस विशिष्ट आख्यायिकाओं का निर्देश है। यह क्रम छत्तीस दशाह चलता रहता है। प्रत्येक दशाह में समानरूप से उन्हीं कथाओं का प्रवाह चालू रहता है, इसीलिये इनको 'पारिप्लव' कहा जाता है [श० १३।४।३।१५] 'परिप्लव' पद का अर्थ प्रवाह है। क्योंकि पारिप्लव कथा विशेषित करदी गई हैं, इसलिये मैत्रेयि-याज्ञवल्क्यसंवादरूप आख्यायिका तथा ऐसी अन्य औपनिषद आख्यायिकाओं को 'पारिप्लव' आख्यायिकाओं के अन्तर्गत अथवा उनके समान नहीं माना जासकता, ये कथा पारिप्लव कथाओं से सर्वथा अतिरिक्त हैं। पारिप्लव कथा यजमान के मनोरञ्जन अथवा सम्पत्ति-आपादन के लिये रहें; परन्तु इन कथाओं का प्रयोजन ब्रह्मविद्या का उपदेश है। जिज्ञासु इस गहनतत्त्व को सरलतापूर्वक समझ सकें, इस भावना से महर्षियों की जीवनघटनाओं के आधार पर उन तत्त्वों का उद्घाटन किया है, अपने स्वरूप में यहां वर्णित घटना प्रमाणरूप हैं। याज्ञवल्क्य ने प्रव्रज्या ग्रहण की, यह निर्देश उक्त विवेचन के अनुसार 'प्रव्रजन्ति' में प्रव्रज्या की विधि माने जाने को पुष्ट करता है। प्रव्रज्या-आश्रम में कर्म का अभाव होने पर भी ज्ञानसम्पत्ति का लाभ होता है, इसलिये ज्ञान को कर्म का अङ्ग नहीं माना जाना चाहिये ॥२३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि औपनिषद कथा पारिप्लव नहीं, तथा ज्ञान कर्म का अंग नहीं; तो इससे परिणाम क्या निकला? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥२४॥

[तथा] वैसे [च] और [एकवाक्यतोपबन्धात्] एकवाक्यतासंबन्ध से। और उक्तप्रकार से ज्ञान कर्म का अंग न होने पर अध्यात्मसन्दर्भों के एकवाक्यतासंबन्ध से ज्ञान स्वतन्त्र रूप से मोक्ष का साधन है, यह निश्चित होता है।

औपनिषद आख्यान जब पारिप्लव के लिये नहीं हैं, तो उनका अपने प्रकरण की अध्यात्मविद्या के लिये उपयोगी होना सर्वथा मान्य है। क्योंकि उसके साथ आख्यानों की एकवाक्यता देखी जाती है। जैसे मैत्रेयि-याज्ञवल्क्य आख्यान की एकवाक्यता 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' [बृ० ४।५।६] इत्यादि वाक्य के साथ देखी जाती है। फलस्वरूप जितने सन्दर्भ परमपुरुषार्थ मोक्ष के साधन को प्रस्तुत करते हैं, उन सबका तात्पर्य मोक्षसाधनरूप में ज्ञान को बतलाना है–'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' [यजु० ३१।१८] 'य इतद्विदुस्ते

अमृतत्वमानशुः' [ऋ० १।१६४।२३] 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' [तै० उ० २।१] इन सबके एकवाक्यतासम्बन्ध से यह निश्चित होता है, कि ज्ञान सहयोगीरूप में अन्यसाधन की अपेक्षा न करता हुआ स्वतन्त्ररूप से मोक्षप्राप्ति का साधन होता है। मोक्षसाधनरूप में ब्रह्मज्ञान के प्रतिपादक सन्दर्भों की एकवाक्यता शास्त्र के प्रारम्भ में विस्तार के साथ उपपादित करदी गई है ॥२४॥

उक्त अर्थ को और स्पष्ट करते हुए आचार्य सूत्रकार ने कुछ अधिक बताया—

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥२५॥

[अतः] इससे [एव] ही [च] और [अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा] अग्नीन्धन–अग्निहोत्र आदि की अपेक्षा नहीं। क्योंकि मोक्षप्राप्ति का साधन केवल ज्ञान है, इसलिये उस दशा में अग्निहोत्र आदि कर्मानुष्ठान की अपेक्षा नहीं होती।

परमपुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि में ज्ञान स्वतन्त्र है, कर्म आदि की उसे अपेक्षा नहीं होती। कर्म का उपयोग अन्तःकरण की शुद्धि आदि के लिये होता है, इसका यथावसर अनेकत्र उपपादन करदिया गया है। इसीलिये ब्रह्मज्ञान के मार्ग पर चलते हुए उपासक को मोक्षसिद्धि में अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनुष्ठान अनपेक्षित है। ज्ञानी महात्मा लोक-संग्रह आदि के लिये कर्मानुष्ठान किया करते हैं; मोक्षप्राप्ति के लिये ज्ञान की समकक्षता में वह अपेक्षित नहीं रहता ॥२५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, मोक्ष की सिद्धि में ज्ञान कर्म की अपेक्षा नहीं करता; पर ज्ञान के होने में कर्म की अपेक्षा होती है, या नहीं ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥२६॥

[सर्वापेक्षा] सबकी अपेक्षा [च] और [यज्ञादिश्रुतेः] यज्ञादि के प्रतिपादक शब्द से [अश्ववत्] अश्व के समान। ज्ञान के होने में सब कर्मों की अपेक्षा होती है, क्योंकि ज्ञान के लिये यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान को शास्त्र ने बताया है, अश्व के समान।

यह ठीक है, कि मोक्षप्राप्ति में ज्ञान कर्म की अपेक्षा नहीं रखता; पर स्वयं ज्ञान की उत्पत्ति में कर्मों की अपेक्षा रहती है। कर्म का विधायक शास्त्र निरर्थक नहीं है। इन्द्रियों के द्वारा होनेवाला साधारण विषय का ज्ञान जैसे प्रतिबन्धक के हटे बिना नहीं होता; ऐसे अन्तःकरण से उपासनासहयोगद्वारा होनेवाला आत्मज्ञान तबतक नहीं होता, जबतक उसके प्रतिबन्धक न हट जायें। आत्मज्ञान के प्रतिबन्धक अन्तःकरण के कषाय–मल हैं। जबतक अन्तःकरण राग द्वेष ईर्ष्या मद मात्सर्य आदि के उत्पन्न करने में प्रवृत्त रहता है, तबतक आत्मज्ञान नहीं होसकता। अन्तःकरण के इन मलों को नष्ट करने में निष्काम कर्मानुष्ठान महान साधन है। शुद्ध अन्तःकरण आत्मज्ञान कराने में समर्थ होता है। तब यह मानना चाहिये, कि कर्म अन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक है। इस

तथ्य को बृहदारण्यक उपनिषद [४।४।२२] में स्पष्ट किया–'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' ब्रह्मजिज्ञासु इस परमात्मा को वेदाध्ययन यज्ञ दान तप इन्द्रियनिग्रह से जानना चाहते हैं। यहां 'विविदिषन्ति' क्रियापद से स्पष्ट है, कि जिसको ब्रह्म की विविदिषा–जिज्ञासा है, उसे यज्ञादि का अनुष्ठान करना चाहिये। यहां ज्ञान की उत्पत्ति के लिये शास्त्र ने कर्मानुष्ठान का स्पष्ट उल्लेख किया है। इससे सिद्ध है, कि मोक्षप्राप्ति में भले ज्ञान स्वतन्त्र साधन रहो, पर स्वयं ज्ञान के उत्पादन में अग्निहोत्र आदि सब कर्मों के अनुष्ठान की अपेक्षा रहती है, यह निश्चित है। जैसे अश्व शत्रु के मारने में अपेक्षित नहीं है, पर शत्रु को मारनेवाले सैनिक को वह शत्रु के समीप पहुंचा देता है। ऐसे ही कर्म मोक्षसाधन ज्ञान को उत्पन्न करने में सहायक होता है ॥२६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, ज्ञान की उत्पत्ति में अन्तःकरणशुद्धिद्वारा कर्म सहायक-साधन हैं, तो क्या ज्ञानोत्पत्ति में अन्य भी कोई साधन होते हैं ? सूत्रकार ने बताया—

शमदमाद्युपेतः स्यात् तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥२७॥

[शमदमाद्युपेतः] शम दम आदि से युक्त [स्यात्] होवे [तथापि] तो भी [तु] तो [तद्विधेः] उनके विधान से [तदङ्गतया] उसके साधन के रूप में [तेषां] उनके [अवश्यानुष्ठेयत्वात्] अवश्य अनुष्ठेय होने से। ज्ञानोत्पत्ति में कर्मों की अपेक्षा होने पर भी तो ब्रह्मजिज्ञासु को शम दम आदि से युक्त होना चाहिये, क्योंकि ज्ञानोत्पत्ति में उनका विधान है; ज्ञान के साधन के रूप में उनके–शम दम आदि के–अवश्य अनुष्ठेय होने के कारण।

यज्ञादि कर्म अन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्ति में उपकारक हैं, पूर्ण साधन नहीं हैं। इसलिये जिज्ञासु को शम दम आदि से युक्त होना आवश्यक है। सूत्र के 'आदि' पद से उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान का ग्रहण है। अध्यात्मग्रन्थों में इसे 'षट्क-संपत्ति' कहा जाता है। शम आदि छहों का पूर्ण आचरण तथा 'ओम्' के आधार पर ब्रह्म की उपासना ब्रह्मसाक्षात्कार के परमसाधन हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।२३] में इनका विधान है–'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति' इसलिये ऐसा जाननेवाला मुमुक्षु पुरुष शान्त, दान्त, विरक्त, सहनशील और एकाग्र होकर आत्मा में ही आत्मा को देखता है। यहां स्पष्ट शम दम आदि को ज्ञान का साधन बताया है।

ब्रह्मज्ञान के लिये अध्यात्मशास्त्रों में साधनचतुष्टय का उल्लेख प्रायः देखा जाता है। ये चार साधन विवेक, वैराग्य, षट्कसंपत्ति और मुमुक्षुता कहे जाते हैं। इस विषय के समस्तशास्त्रों का सार केवल इतना है, कि इन साधनों के साथ प्रणव का निरन्तर ध्यान करते रहने से ब्रह्मज्ञान का प्रादुर्भाव होजाता है। उस स्थिति में एक दिव्य आनन्द

की अनुभूति होने लगती है, यही उसके साक्षात्कार की परख है। उस स्थिति का निरन्तर बने रहना जीवन्मुक्त अवस्था है, शरीर छूट जाने पर वही मुक्त अवस्था है। इसप्रकार यज्ञानुष्ठान आदि से अन्तःकरणशुद्धि होकर शम दम आदि साधनों के साथ प्रणव की उपासना ब्रह्मज्ञान के साधन हैं, यह निश्चित होता है ।।२७।।

शिष्य जिज्ञासा करता है, उपासक के लिये आहार आदि के विषय में क्या नियम होना चाहिये ? क्योंकि शास्त्र में देखा जाता है, कि इस मार्ग पर चलनेवाले के लिये कुछ भी अनन्न–अभक्ष्य–नहीं रहता। आचार्य सूत्रकार ने बताया—

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ।।२८।।

[सर्वान्नानुमतिः] सब अन्नों की अनुमति [च] और [प्राणात्यये] प्राणों के लिये संकट आने पर [तद्दर्शनात्] वैसा देखे जाने से। जब प्राणों पर संकट आ बने, तभी जो कुछ आहार मिले उसे उपयोग करने की अनुमति शास्त्र देता है; क्योंकि शास्त्र में ऐसी घटना का उल्लेख देखा जाता है।

छान्दोग्य उपनिषद् [५।२।१] में लिखा है–'न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवति' जो यह जानता है, कि प्राण–जीवन–के लिये यह अन्न है, उसके लिये कुछ भी अनन्न नहीं रहता, अर्थात् सब कुछ उसके खाने योग्य होता है। ऐसा उल्लेख बृहदारण्यक [६।१।१४] में है। मनुस्मृति [५।२८] में भी कहा–'प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत्। स्थावरं जंगमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम्' यह जो कुछ स्थावर और जंगम है, सब प्रजापति ने प्राण का भोजन बनाया है। जिज्ञासा है, कि क्या इसे उपासक के लिये विधि मानना चाहिये ? कि वह प्रत्येक अवस्था में चाहे जो कुछ खासकता है ? आचार्य ने बताया, यह सब आहार की अनुमति केवल प्राणसंकट उपस्थित होने के अवसर के लिये है। इसका निश्चय शास्त्र में उल्लिखित एक घटना से होता है।

छान्दोग्य [१।१०।१] में उल्लेख है–कुरुदेश में टिड्डियों ने फसल खा ली और दुर्भिक्ष पड़ गया। चक्र का पुत्र उषस्ति नामक ऋषि कई दिन का भूखा-प्यासा अपनी पत्नी के साथ घूमता फिरता इभ्यग्राम में आगया। यह पीलवानों का गांव था। उषस्ति ने एक महावत को पकौड़े खाते देखा, भूख से व्याकुल उसने पकौड़े मांगे। महावत ने कहा–इन उच्छिष्ट पकौड़ों के अतिरिक्त और नहीं हैं। उषस्ति ने उन झूठे पकौड़ों की मांग की। महावत ने वे सब बचे पकौड़े उसे दे दिये। ऋषि ने कुछ खाये, कुछ पत्नी के लिये और कुछ अगले दिन को रख लिये। जब महावत ने पानी के लिये पूछा, तो ऋषि ने उसके घर का पानी लेने से मना कर दिया। तब महावत ने कहा–आपने झूठे पकौड़े तो खा लिये, पर पानी के लिये नकार कर रहे हैं, ऐसा क्यों ? उषस्ति ने कहा–'न वा अजीविष्यमिमानखादन्, कामो म उदपानम्' [छा० १।१०।४] इनको विना खाये मैं जीवित न रहता, जल पीने के लिये मुझे यथेष्ट मिल सकता है। इससे यह स्पष्ट होता

है, कि प्राणसंकट आने पर प्राणरक्षा के लिये जो आहार मिले, उसका उपयोग करलेना चाहिये। पानी के लिये निषेध करने से स्पष्ट होता है, स्वस्थ अवस्था में निषिद्ध आहार आदि का ग्रहण कदापि न करना चाहिये। फलतः उपासक के लिये शुद्ध सात्विक आहार का ग्रहण करना ही उपयुक्त है।

उपनिषद् तथा मनु आदि के आहारसम्बन्धी सन्दर्भ साधारण कथनमात्र हैं। परमात्मा ने संसार की समस्त विभूतियां जीवन के लिये प्रदान की हैं, उनका यथायथ उपयोग जीवन के लिये होना चाहिये, यही उन वाक्यों का निष्कर्ष है। आहार में उच्छृंखलता के लिये शास्त्र किसीतरह का सहारा नहीं देता। उपासक को तो इस विषय में और भी सावधान रहना चाहिये। विषयों के आकर्षण राग आदि को बढ़ाकर उपासक को पथभ्रष्ट करसकते हैं ॥२८॥

उक्त अर्थ की पुष्टि के लिये आचार्य सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अबाधाच्च ॥२९॥

[अबाधात्] न बाध से [च] भी। प्राणसंकट में सब आहार की अनुमति से शास्त्र की बाधा भी नहीं होती।

ज्ञानार्थी उपासक के लिये आहारशुद्धि के विषय में उपनिषत्कार बताता है—'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' [छा० ७।२६।२] आहार की शुद्धि में अन्तःकरण की शुद्धि होती है, और अन्तःकरण की शुद्धि होने पर निश्चित ब्रह्मज्ञान का मार्ग प्रशस्त होता है। शास्त्र का यह कथन उसी दशा में अबाधित रहता है, जब केवल प्राणसंकट उपस्थित होने पर भक्ष्य-अभक्ष्य सब आहार के ग्रहण करलेने की अनुमति स्वीकार कीजाय, सर्वदा न कीजाय। सदा सब आहार की छूट होने पर तो छान्दोग्य का उक्त कथन निरर्थक होजाता है। आहारविषयक शास्त्र अबाधित रहे, इसलिये केवल प्राणसंकट में सब आहार की अनुमति स्वीकार्य है ॥२९॥

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को स्मृतिद्वारा प्रमाणित किया—

अपि च स्मर्यते ॥३०॥

[अपि, च] और भी [स्मर्यते] स्मरण किया जाता है—स्मृति से बतलाया जाता है। तथा यह अर्थ स्मृति ने भी बताया है।

मनुस्मृति [१०।१०४] में बताया—'जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः। आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते' जीवन संकट में पड़ जाने पर जो व्यक्ति जहां-तहां से अन्न खा लेता है, वह पाप से ऐसे लिप्त नहीं होता, जैसे आकाश कीचड़ से। इससे स्पष्ट होता है, कि केवल प्राणसंकट में जो आहार मिल जाय, वह ग्राह्य है, सर्वदा ऐसा नहीं होना चाहिये ॥३०॥

आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में अन्ततः मन्त्रप्रमाण का संकेत किया—

शब्दश्चातोऽकामकारे ॥३१॥

[शब्दः] शब्द [च] और [अतः] इसलिये [अकामकारे] न यथेच्छ करने में। और इसलिये यथेच्छ न करने में शब्द प्रमाण है।

प्राणसंकट के अवसर को छोड़कर अन्य किसी दशा में उपासक आहार आदि के लिये कामचारी [इच्छानुसार जो सामने आया खा पी लेनेवाला] न होवे, यह शब्द-प्रमाण से निश्चित होता है। सर्वमान्य शब्दप्रमाण वेद है। वेद में बताया—'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरोऽगात्' क्रान्तदर्शी ऋषियों ने सात मर्यादा स्थापित कीं, इन सातों में कोई प्रवेश न करे, यदि इनमें से एक में भी कोई प्रवेश करता है, तो वह पापी होजाता है। वे सात त्याज्य मर्यादा हैं—चौर्य, परस्त्रीगमन [अथवा गुरुपत्नीगमन], ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, सुरापान, पुनः पुनः पापाचरण, पाप कर उसे झूठ बोल छिपाने का यत्न करना। यदि खान-पान आदि में यथेच्छ आचरण किया जाय, तो सुरापान आदि में प्रवृत्ति होगी, और मर्यादा का उल्लंघन होगा। वेद उसे पाप बताता है। इन त्याज्य आचरणों का छान्दोग्य [५।१०।९] तथा मनुस्मृति [११।५४] में भी उल्लेख है। ऐसे पापियों के साथ संसर्ग करना भी उतना ही पाप है। इसलिये उपासक को आहार आदि के विषय में कामचारी होना निषिद्ध है। इसी आधार पर मनु [११।९५] ने बताया—'यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्। तद् ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः' देवों का आहार लेनेवाले ब्राह्मण को दूषित अपवित्र अन्न, मद्य, मांस आदि का उपयोग नहीं करना चाहिये। ब्रह्मज्ञान के मार्ग पर चलनेवाले उपासक के लिये यह सर्वथा त्याज्य है। अतः आहार आदि में कामचार नहीं ॥३१॥

उपासक के लिये आहारविषयक विवेचन के अनन्तर शिष्य जिज्ञासा करता है, उपासक अनाश्रमी तो होगा नहीं, तब ब्रह्मज्ञान के मार्ग पर चलते हुए उसे आश्रम कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये, अथवा नहीं ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

विहितत्वाच्चाश्रमकर्माऽपि ॥३२॥

[विहितत्वात्] विहित होने से [च] और [आश्रमकर्म] आश्रमों के लिये बताये गये कर्म [अपि] भी। उपासक जिस आश्रम में हो, उसके लिये बताये गये कर्मों का भी उसे अनुष्ठान करना चाहिये, क्योंकि वे कर्म आश्रम के लिये शास्त्रद्वारा विहित हैं।

ब्रह्मज्ञान के लिये प्रयत्नशील उपासक को जैसे शास्त्र शुद्ध आहार आदि के ग्रहण करने का विधान करता है, ऐसे अपने आश्रम-कर्मों के अनुष्ठान के लिये आदेश देता है। प्रश्न उपनिषद् [१।१०] में बताया—'तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मान-मन्विष्यादित्यमभिजयन्ते' तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा एवं उपासनाद्वारा आत्मा को ढूंढकर

आदित्यमार्ग को जीतलेते हैं। बृहदारण्यक [४।४।२२] में कहा–'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' वेदाध्ययन यज्ञ दान तप आदि से ब्राह्मण उस ब्रह्म को जानने की इच्छा रखते हैं। इसीप्रकार मनुस्मृति [४।१४] में बताया–'वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः। तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्' अपने आश्रम के लिये वेदोक्त कर्मों को आलस्यरहित होकर यथाशक्ति करता हुआ उपासक मोक्षरूप परम गति को प्राप्त करलेता है। इन्हीं भावनाओं को 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति'[1] इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट किया गया है। गतसूत्र [३।४।२६] में ज्ञानोत्पत्ति के लिये यज्ञादि कर्मों की आवश्यकता बताई है; यहां ज्ञानार्थी उपासक के लिये आश्रमधर्म के रूप में उनके अनुष्ठान का निरूपण है, इसलिये पुनरुक्ति की आशंका का अवसर नहीं ॥३२॥

अपने आश्रमकर्मों के अनुष्ठान में आचार्य सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

सहकारित्वेन च ॥३३॥

[सहकारित्वेन] सहकारी होने से [च] और। तथा ज्ञानोत्पत्ति में सहकारी होने से आश्रमकर्मों का अनुष्ठान उपासक के लिये आवश्यक है।

विधिपूर्वक आश्रमकर्मों का अनुष्ठान ज्ञान के प्रादुर्भाव में रुकावट डालनेवाले दुष्कर्मों का उच्छेद कर अन्तःकरण को शुद्ध करदेता है, रुकावटों के न रहने पर ज्ञानोत्पत्ति में इनसे बड़ी सहायता मिलती है; इसप्रकार आश्रमकर्मों का अनुष्ठान ज्ञानोत्पत्ति में सहकारी होता है। अपना ज्ञानमार्ग निर्बाध बनाने के लिये उपासक को इन कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है। जिन कर्मों को ज्ञानोत्पत्ति में सहकारी बताया है, वे आश्रमकर्म हैं, कोई अतिरिक्त नहीं। कर्म के विहित होने पर भी अनुष्ठान में कभी उसकी उपेक्षा हो सकती है, पर ज्ञान के प्रादुर्भाव में सहकारिता को समझते हुए उपेक्षा की संभावना कम है। इस आशय से सूत्रकार ने यह अर्थ स्पष्ट किया है ॥३३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, ज्ञान के प्रादुर्भाव के लिये उपासना के सहकारी जो कर्म हैं, क्या वे आश्रमकर्मों से भिन्न हैं, अथवा वे ही हैं? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ॥३४॥

[सर्वथा] सब प्रकार से [अपि] भी [ते] वे [एव] ही [उभयलिङ्गात्] दोनों प्रकार के प्रमाण से। सब प्रकार से विद्या के सहकारी और आश्रमकर्म वे ही हैं, भिन्न नहीं, इस विषय में श्रुति और स्मृति दोनों प्रकार के प्रमाण उपलब्ध हैं।

गतसूत्र [३।४।२६] में ब्रह्मोपासना के साथ जिन सब कर्मों के अनुष्ठान की

---

१. तुलना करें—'य एनं (अग्निहोत्रं) यावज्जीवं जुहुयात्' जै० ब्रा० १।३७॥

आवश्यकता बतलाई है, आश्रमकर्मों के रूप में उन्हींका विधान है, वे ज्ञान के प्रादुर्भाव में उपासना के सहकारी हैं। ऐसा नहीं है, कि विद्या के सहकारी कर्म अन्य हों और आश्रमकर्म अन्य हों। दोनों रूप में किये जानेवाले वे एक ही कर्म हैं। इसमें श्रुति और स्मृति दोनों प्रमाण हैं। वेद में बताया–'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' [ऋ० १०।९०।१६; यजु० ३१।१६] अध्यात्ममार्ग पर चलनेवाले उपासक यज्ञ-द्वारा यजनीय परमात्मा की उपासना करते हैं, वे धर्म सबमें श्रेष्ठ हैं। बृहदारण्यक [४।४।२२] में कहा–'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' ब्रह्मज्ञान के लिये प्रयत्नशील उपासक वेदाध्ययन, यज्ञ, दान तथा अक्लेशकर तप के द्वारा उस परब्रह्म को जानना चाहते हैं। इसीप्रकार मनुस्मृति [२।२८] में कहा–'स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः। महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' वेदाध्ययन, व्रत-नियम, होम अग्निहोत्र आदि, तीनों वेदों में प्रतिपादित कर्म ज्ञान उपासना, पक्षेष्टि–दर्श पूर्णमास, सुसन्तान, पञ्च महायज्ञ तथा अग्निष्टोम आदि यज्ञों द्वारा देहाधिष्ठित आत्मा को ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बनाया जाता है। इन सब प्रमाणों से स्पष्ट है, कि आश्रमकर्म और उपासना में सहकारी कर्म एक हैं। वे कर्म आश्रमों में विहित हैं, जो विद्या के सहकारी हैं। इसलिये ब्रह्मोपासना के साथ आश्रमकर्मों का अनुष्ठान अपरिहार्य समझना चाहिये ॥३४॥

आचार्य सूत्रकार ने इसी विषय में अन्य उपोद्बलक प्रस्तुत किया—

अनभिभवं च दर्शयति ॥३५॥

[अनभिभवं] न दबने को [च] इसलिये [दर्शयति] दिखलाता है। क्योंकि आश्रमकर्म और विद्यासहकारी कर्म एक हैं, इसलिये शास्त्र न दबने को दिखलाता है।

छान्दोग्य उपनिषद् [८।५।३] में कहा–'एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति' ब्रह्मचर्य आदि आश्रमधर्मपूर्वक जब आत्मा के जानने के लिये प्रयास किया जाता है, तब राग द्वेष आदि के द्वारा वह आत्मज्ञान का प्रयास उच्छिन्न नहीं होपाता, राग द्वेष आदि उसे दबा नहीं सकते। ब्रह्मचर्य आश्रमकर्म है, उसको यहां स्पष्ट ही विद्या का सहकारी कहा है। इससे फलित होता है–आश्रमकर्म और विद्या के सहकारी कर्म एक हैं। यज्ञ आदि आश्रमकर्म हैं, वे भी इसीप्रकार विद्या के सहकारी हैं ॥३५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या उपासक को शम दम आदि के समान आश्रम-कर्मों का अनुष्ठान ज्ञानोत्पत्ति के लिये आवश्यक है, अथवा उनके विना भी ज्ञानप्राप्ति के लिये प्रयास करता रहे? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥३६॥

[अन्तरा] विना [च] और [अपि] भी [तु] तो [तद्दृष्टेः] वैसा देखेजाने

से। आश्रमकर्म के विना भी ज्ञान का प्रादुर्भाव होजाता है, क्योंकि शास्त्र में वैसा होना देखा जाता है।

यदि यह माना जाय, कि ज्ञानप्राप्ति के लिये शम दम आदि के समान आश्रम-कर्म अवश्य अनुष्ठेय हैं, तो अनाश्रमी व्यक्ति का ज्ञानप्राप्ति के लिये प्रयास करने का अधिकार नहीं रहता। क्योंकि ज्ञानप्राप्ति के लिये आश्रमकर्म आवश्यक है, और अनाश्रमी व्यक्ति आश्रमकर्मों के अनुष्ठान में अधिकारी नहीं रहता, तो आत्मज्ञान प्राप्त करने का भी वह अधिकारी नहीं रहेगा। अनाश्रमी वह व्यक्ति समझना चाहिये, जिसकी भार्या नहीं रही, और महिला का पति नहीं रहा, वह पुरुष विधुर एवं महिला विधवा अनाश्रमी हैं, जबकि उन्होंने अन्य आश्रम की दीक्षा नहीं ली। तात्पर्य यह, कि गृहस्थ अवस्था में वह जिन यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान में अधिकारी है, वह स्थिति दोनों में से किसी एक के न रहने पर नहीं रहती। इसलिये वह गृहस्थ आश्रम नियमपूर्वक नहीं रहा, अन्य आश्रम की दीक्षा ली नहीं; तब वह व्यक्ति अनाश्रमी रहता है। यदि आत्मज्ञान के लिये आश्रमकर्म आवश्यक हैं, तो ऐसा व्यक्ति उन कर्मों के अनुष्ठान में अधिकारी न रहने के कारण आत्मज्ञान के लिये प्रयत्नशील नहीं होसकेगा। सूत्रकार ने बताया, आश्रमकर्मों के अनुष्ठान के विना शम दम उपासना आदि साधनों द्वारा आत्मज्ञान के लिये प्रयास किया जासकता है, और ऐसे व्यक्तियों को ज्ञान प्राप्त हुआ है, यह शास्त्र से जाना जाता है। रैक्व [छा० ४।१–३] और वाचक्नवी गार्गी [बृ० ३।८।१–१२] के प्रसंग इसके लिये स्पष्ट उदाहरण हैं। इसलिये ज्ञानप्राप्ति के लिये आश्रमकर्म संभव होने पर सह-कारी अवश्य हैं, पर शम दम आदि के समान आवश्यक नहीं ॥३६॥

इसी विषय को आचार्य सूत्रकार ने स्मृति से प्रमाणित करने का निर्देश किया—

अपि च स्मर्यते ॥३७॥

[अपि] भी [च] और [स्मर्यते] स्मृतिद्वारा बताया जाता है। और यह अर्थ स्मृतिद्वारा भी बताया जाता है।

मनुस्मृति [२।८७] में कहा—'जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्या-दन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते' जप के द्वारा ही ब्राह्मण सिद्धि को प्राप्त करता है, मोक्षप्राप्ति के योग्य होजाता है, इसमें सन्देह नहीं। अन्य याग आदि कुछ करे या न करे, वह परमात्मा का प्रिय ब्रह्मज्ञानी कहा जाता है। यागादि आश्रमकर्मों के विना केवल प्रणव जप आदि के द्वारा ब्रह्मजिज्ञासु सिद्धि को प्राप्त करलेता है। यहां याग आदि के अनुष्ठान का सर्वथा निषेध नहीं है, क्योंकि वह शास्त्रीय कर्म हैं; यह ओङ्कार उपासना की श्रेष्ठता को प्रकट करता तथा स्पष्ट करता है। याग आदि के न करने पर भी प्रणव उपासना से ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जासकता है। कतिपय ब्रह्मज्ञानी महायोगी व्यक्ति कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त रहे हैं, ऐसा इतिहास से जाना जाता है। ऐसे एक संवर्त्त नामक

ऋषि का वर्णन महाभारत[1] में उपलब्ध होता है। यह अंगिरा के आठ पुत्रों में से तृतीय पुत्र था। आत्मज्ञानी के लिये अनुपयोगी होते हुए भी समाजव्यवस्था को सुनियमित रखने की भावना से ये महानुभाव यज्ञादि अनुष्ठानों में प्रवृत्ति रखते थे ॥३७॥

उक्त विषय में सूत्रकार ने अन्य उपोद्बलक प्रस्तुत किया—

विशेषानुग्रहश्च ॥३८॥

[विशेषानुग्रहः] विशेष अनुग्रह [च] और। यागादि के विना ज्ञानप्राप्ति होजाने पर विशेष अनुग्रह समझना चाहिये।

याग आदि आश्रमकर्मों का अनुष्ठान न किये जाने पर भी प्रणव उपासना से जहां ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है, उसमें परब्रह्म परमात्मा के विशेष अनुग्रह की भी उपेक्षा नहीं कीजासकती। उपनिषद् [कठ० १।२।२३] में कहा–'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' संभव है अन्य साधन असफल होजायें; पर जिस ब्रह्मोपासक को परब्रह्म परमात्मा अपने प्रसाद से संपन्न कर देता है, उसे ब्रह्मसाक्षात्कार में कोई सन्देह नहीं। वह निहाल हो-जाता है। यह परमात्मा का महान अनुग्रह होता है।

पूर्वजन्म के विशेष कर्मों का भी यह अनुग्रह है, कि अब यागादि कर्मानुष्ठान विना ही प्रणव उपासना से सिद्धि प्राप्त होजाती है। कर्मानुसार अन्तःकरण शुद्ध होने पर ही जीवन के प्रथम भाग से व्यक्ति अध्यात्म की ओर प्रवृत्त होजाता है। आश्रम-कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक न होने पर भी जो विशेष कर्म–यम नियम आदि का पालन, शम दम आदि हैं, उनका अनुग्रह–उनका सहयोग ज्ञानप्राप्ति के लिये रहता ही है। उनकी किसी भी तरह उपेक्षा नहीं कीजानी चाहिये। इनकी आवश्यकता को बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।२३] में बताया–'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति' जिससे कि ऐसा जानता हुआ शान्त दान्त उपरत तितिक्षु उपासक समाधि अवस्था को प्राप्त कर अपने आत्मा में ही परमात्मा का साक्षात्कार कर-लेता है। फलतः शम आदि साधन ज्ञान के लिये अत्यावश्यक हैं ॥३८॥

इसी भाव को स्पष्ट करते हुए आचार्य सूत्रकार ने बताया—

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॥३९॥

[अतः] इससे–आश्रमकर्म से [तु] तो [इतरत्] दूसरा–शम दम आदि साधन [ज्यायः] अधिक उत्तम हैं–अन्तरंग हैं, [लिङ्गात्] लिङ्ग से [च] और। श्रुति और

---

१. देखें—आदि० ६६।५; सभा० ७।१६; वन० १२६।१३–१७; अनुशा० ८५।३०-३१ ॥

स्मृति प्रमाण से जाना जाता है, कि आश्रमकर्म की अपेक्षा शम दम आदि ज्ञान के अन्त-रंग साधन हैं; इसलिये इनका अनुष्ठान ज्ञानप्राप्ति में अत्यावश्यक है।

मुण्डक उपनिषद् [१।२।१३] में कहा—'तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्त-चित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' पूर्ण ब्रह्मज्ञानी अपने समीप आये प्रशान्तचित्त तथा शम आदि साधनसम्पन्न जिज्ञासु के लिये जिस रीति से सत्य अविनाशी पुरुष को जाना जाता है, उस ब्रह्मविद्या का यथा-यथ उपदेश करे। इससे स्पष्ट है, ब्रह्मज्ञान के मार्ग पर अग्रसर होने के लिये जिज्ञासु को शम दम आदि से युक्त होना आवश्यक है। इस विषय में बृहदारण्यक [४।४।२२] का सन्दर्भ तथा भगवद्गीता [१३।७—११] का प्रसंग भी द्रष्टव्य हैं। इस विवेचन का सार इतना है—ब्रह्मजिज्ञासु को ज्ञानप्राप्ति के लिये प्रणव उपासना के साथ शम दम आदि साधनों का अनुष्ठान आवश्यक है। आश्रमकर्मों का अधिकार होने पर इच्छानुसार अनुकूलता की स्थिति में अनुष्ठान करे, अनुकूलता न होने पर न करे। फिर भी न करने से करना अच्छा है ॥३९॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, ऊर्ध्वरेता व्यक्तियों के नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम हैं, यह विवेचन किया गया। इन आश्रमों में ब्रह्मचर्य से वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम में जाना, अथवा गृहस्थ से वानप्रस्थ व संन्यास आश्रम में जाना यह आरोह का क्रम है। इसमें पहले किये कर्मों के समान पुनः करने की इच्छा से अथवा अन्य राग आदि के कारण अवरोह भी संभव है, या नहीं? नैष्ठिक ब्रह्मचर्य से वानप्रस्थ वा संन्यासी होकर, अथवा गृहस्थ से वानप्रस्थ वा संन्यासी होकर पुनः गृहस्थ में प्रवेश होसकता है, या नहीं? इस विषय में क्या निश्चय है? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॥४०॥

[तद्भूतस्य] वैसे हुए को—नैष्ठिक ब्रह्मचारी व वानप्रस्थ आदि हुए को [न] नहीं [अतद्भावः] न वह होना—उस आश्रम से नीचे उतरना [जैमिनेः] जैमिनि का [अपि] भी [नियमातद्रूपाभावेभ्यः] नियम और न वैसा होने के अभाव से। नैष्ठिक ब्रह्मचारी व वानप्रस्थ आदि होकर गृहस्थ में वापस नहीं आता, यह जैमिनि का और बादरायण का भी मत है; क्योंकि शास्त्र का ऐसा नियम है, और आरोह के समान अवरोह का कहीं उल्लेख नहीं है।

ऊर्ध्वरेता आश्रमियों का ऊपर के आश्रम में जाकर किसी भी निमित्त से उस आश्रम को छोड़कर पुनः गृहस्थ आश्रम में आजाना युक्त नहीं है। शास्त्र में ऐसा ही नियम बताया गया है। छान्दोग्य [२।२३।१] में कहा—'अत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्' धर्म के तीन स्कन्ध—आधारों का वर्णन करते हुए यह तीसरा आधार बताया है—जीवन-पर्यन्त आचार्य कुल में अपने आपको नियम व तपस्याओं के साथ रहते हुए क्षीण कर-

देना, अर्थात् इन्हीं कार्यों में जीवन को पूरा करदेना। नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिये शास्त्र का यह नियम है। यदि वह गृहस्थ आश्रम में जाता है, तो नैष्ठिकता से प्रच्युत होजाता है। स्मृति में बताया—'आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः। भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्धते' [मनु० ६।३४] पूर्व आश्रम से उत्तर आश्रम में जाकर अर्थात् ब्रह्मचर्य से गृहस्थ और उससे वानप्रस्थ आश्रम का पालन कर अग्निहोत्र आदि करते तथा जितेन्द्रिय रहते हुए भिक्षा बलिदान और चिर सेवा से जब श्रान्त होजाय, तब संन्यास आश्रम में प्रवेश करे। इसप्रकार आश्रमधर्मों का पालन करता हुआ मरकर परलोक में उन्नति को प्राप्त करता है। आश्रमों का यहां आरोह है, अवरोह नहीं। इसीप्रकार जाबाल उपनिषद् [४] में कहा है—'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृहीभवेत् गृहीभूत्वा वनी भवेत्, वनीभूत्वा प्रव्रजेत्;…ब्रह्मचर्यादेव वा प्रव्रजेत्' यह आश्रमों का आरोहक्रम तो शास्त्र में वर्णित है, परन्तु उत्तर आश्रम से पुनः पूर्व आश्रम में आये, ऐसा अवरोह का वर्णन कहीं उपलब्ध नहीं होता; न शिष्टों का ऐसा आचार देखा जाता है। फलतः ऊर्ध्वरेता आश्रमों से गृहस्थ में आना शास्त्र एवं आचारविरुद्ध होने से सर्वथा अनुचित है; यह जैमिनि और बादरायण दोनों आचार्यों का विचार है ॥४०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि कदाचित् किसीप्रकार कोई ऊर्ध्वरेता आश्रमी अपने आश्रम से गिर जाता है, तो क्या उसका कोई प्रायश्चित्त संभव नहीं ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

नाधिकारिकमपि पतनानुमानात् तदयोगात् ॥४१॥

[न] नहीं [आधिकारिकं] अधिकार में कहा गया [अपि] भी [पतनानुमानात्] पतन के अनुमान से [तदयोगात्] उसका योग—सम्बन्ध न होने से। प्रायश्चित्ताधिकार [मी० ६।८।२१] में कहा गया—कोई प्रायश्चित्त पतित ऊर्ध्वरेता के लिये नहीं है, क्योंकि पतन के निश्चय होने पर उससे प्रायश्चित्त का सम्बन्ध नहीं।

मीमांसा [६।८।२२] में अवकीर्णी ब्रह्मचारी आदि के प्रायश्चित्त का उल्लेख है। वह उपकुर्वाण ब्रह्मचारी के विषय का है, नैष्ठिक ऊर्ध्वरेताओं का नहीं। यदि नैष्ठिक ऊर्ध्वरेता अपने व्रत से पतित होता है, तो उसके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं। तात्पर्य यह, कि अपने मार्ग से भ्रष्ट होकर वह पुनः उस मार्ग पर चलसकेगा, ऐसी आशा उससे नहीं रखनी चाहिये। स्मृति में कहा है—'आरूढो[1] नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते

---

१. **तुलना करें—अत्रिसंहिता, श्लो० २६६, स्मृतिसन्दर्भ, प्रथम भाग, मनसुखराय मोर संस्करण, पृष्ठ ३७७। प्रस्तुत श्लोक का पूर्वार्द्ध अत्रिसंहिता के पाठ से मिलता है। परन्तु उत्तरार्द्ध में वहां पतित नैष्ठिक के प्रायश्चित्त का उल्लेख है; जबकि प्रस्तुत श्लोक में प्रायश्चित्त असंभव कहा है। यह श्लोक शांकरभाष्य में उद्धृत है।**

पुनः। प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्धयेत्स आत्महा' नैष्ठिक धर्म पर आरूढ़ होकर जो उससे स्खलित होजाता है, उस आत्मघाती का कोई प्रायश्चित्त नहीं, जिससे वह पुनः शुद्ध होसके। इसलिये ऊर्ध्वरेता व्यक्ति जब अपने स्तर से पतित होजाता है, ब्रह्मचर्यादि व्रतों का पालन नहीं करसकता, तो वह अध्यात्ममार्ग पर चलने का अधिकारी नहीं रहता। उस दिशा में उसके लिये प्रयत्न करना सर्वथा निष्फल है ॥४१॥

इस विषय में सूत्रकार ने किन्हीं अन्य आचार्यों का विचार प्रस्तुत किया—

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत् तदुक्तम् ॥४२॥

[उपपूर्वं] 'उप' जिसके पहले है ऐसा पातक–उपपातक [अपि] भी [तु] तो [एके] कोई आचार्य [भावं] होना [अशनवत्] भोजन के समान [तत्] वह [उक्तं] कहा है। कई आचार्य ऐसा कहते हैं, कि अवकीर्णी होना उपपातक है, इसलिये इसका प्रायश्चित्त मानना चाहिये, जैसे अभक्ष्य-भोजन का प्रायश्चित्त होता है, वह कहा है।

कोई आचार्य ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक महानुभावों के अधःपतन को उपपातक बताते हैं; उनका तात्पर्य है, कि जैसे अभक्ष्य-भक्षण उपपातक का प्रायश्चित्त माना जाता है, ऐसे ही नैष्ठिक अवकीर्णी का प्रायश्चित्त स्वीकार कियाजाना चाहिये। अभक्ष्य-भोजन के विषय में मनु [११।१६०] ने कहा–'अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता। अज्ञानभुक्तं तूत्तार्यं शोध्यं वाप्याशुशोधनैः' अपने आपको पवित्र रखने की कामना-वाला व्यक्ति अभोज्य–प्रतिषिद्ध अन्न का उपयोग न करे। यदि प्रमाद से कभी खाया जाय, तो तत्काल वमन करदेना चाहिये; यदि ऐसा सम्भव न हो, तो ज्ञात होने पर उप-युक्त प्रायश्चित्तद्वारा शीघ्र शुद्धि करलेवे। यह प्रमाद से किये भोजन के विषय में है। यदि ज्ञानपूर्वक ऐसा किया गया है, तो शुद्धि के लिये इसी अध्याय के [१५७-१५८] श्लोकों में उपयुक्त प्रायश्चित्त का निर्देश है। जैसे अभक्ष्य-भोजन उपपातक का यह प्रायश्चित्त है; ऐसे ही नैष्ठिक ऊर्ध्वरेता व्यक्ति के अधःपतन का प्रायश्चित्त है। तैत्ति-रीय आरण्यक [२।७] के वातरशन आदि मुनियों के संवाद में आता है–'तान् ऋषयो-ऽब्रुवन् पवित्रं नो ब्रूत येनारेपसः स्यामेति। त एतानि सूक्तान्यपश्यन्' ऋषियों ने कहा, हमारे लिये पवित्र कहो, जिससे हम दोषरहित होवें। वे इन सूक्तों [ऋ० १०।१३६] के द्रष्टा हुए। यह प्रसंग आरम्भ कर आगे बताया–'यदर्वाचीनमेनो भ्रूणहत्यायास्तस्मान् मुच्यते' [तै० आ० २।८] भ्रूणहत्या से जो न्यून पाप है, उससे छुट जाता है। भ्रूणहत्या महापातक है। जो पातक उसके न्यून है, वह उपपातक है। नैष्ठिक ऊर्ध्वरेता का अव-कीर्णी होना भी उपपातक है। वह महापातक उस अवस्था में है, जब नैष्ठिक गुरुतल्पग हो, इसलिये उपकुर्वाणक ब्रह्मचारी के प्रायश्चित्त के समान नैष्ठिक का भी प्रायश्चित्त मानना चाहिये। उक्त ऋचाओं से यथाविधि होमद्वारा वह प्रायश्चित्त संभव है। प्रमाद-वश अथवा ज्ञानपूर्वक किये गये दोनों प्रकार के दोषों का प्रायश्चित्त मनु [११।४५]

ने बताया है। अन्त [११।२३९] में महापातकियों का पाप से छुटकारा उग्र तपद्वारा बताया है। इसलिये यदि कभी नैष्ठिक ऊर्ध्वरेता अवकीर्णी होजाय, तो उसका प्रायश्चित्त होना कतिपय आचार्य मानते हैं ॥४२॥

उक्त विषय में आचार्य सूत्रकार अपनी व्यवस्था का निर्देश करता है—

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥४३॥

[बहिः] बाहर [तु] तो [उभयथा] दोनों प्रकार से [अपि] भी [स्मृतेः] स्मृति से [आचारात्] शिष्टाचार से [च] और। नैष्ठिक का अवकीर्णी होना चाहे उपपातक हो या महापातक तथा उसका प्रायश्चित्त होवे या न होवे; दोनों प्रकार से उसका बहिष्कार होना ही चाहिये। यह स्मृति और शिष्टाचार से प्रमाणित होता है।

ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक के पतित होने पर चाहे उस पतन को उपपातक माना जाय या महापातक; तथा चाहे प्रायश्चित्त हो या न हो, वह प्रत्येक अवस्था में शिष्टसमाज के साथ व्यवहार रखनेयोग्य नहीं रहता; इसलिये उस ऊंचे आध्यात्मिक शिष्टसमाज से उसका बहिष्कार अवश्य होजाना चाहिये। उस अवस्था में प्रायश्चित्त होजाने पर भी ऐसे व्यक्तियों की मानस दुष्प्रवृत्तियां सर्वथा दूर होजाने की संभावना कम रहती है। वे दोष फिर उभर सकते हैं, इसलिये उस समाज से उनका दूर रहना श्रेयस्कर है। मनु [११।१९०] ने इस विषय में कहा—'बालघ्नाँश्च कृतघ्नाँश्च विशुद्धानपि धर्मतः। शरणागतहन्तॄँश्च स्त्रीहन्तॄँश्च न संवसेत्' बालक को मारदेनेवाले, किये उपकार का अपकार से नाश करनेवाले, आत्मरक्षा के लिये शरण में आये व्यक्ति को मारदेनेवाले तथा स्त्रीघाती व्यक्ति ने यदि प्रायश्चित्तद्वारा अपने आपको शुद्ध करलिया है, तो भी उसका सहवास न करे, अर्थात् उसका सामाजिक बहिष्कार करदेना चाहिये। इसीप्रकार आश्रमभ्रष्ट नैष्ठिक आदि के साथ समान व्यवहार त्याज्य है। लोक में शिष्ट-समाज का ऐसा आचरण देखा जाता है ॥४३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, मोक्षसाधन ज्ञान के उपपादन प्रसंग से उपासक और उसके आश्रमसम्बन्धी विवेचन की यथार्थता को समझा; पर यह ज्ञातव्य है, कि उपासनाओं के अंगभूत कर्मों का अनुष्ठान उपासक यजमान करे, अथवा ऋत्विक्? इस विषय में आचार्य सूत्रकार ने पूर्वाचार्य आत्रेय के विचार को पूर्वपक्षरूप से प्रस्तुत किया—

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥४४॥

[स्वामिनः] स्वामी को—यजमान को [फलश्रुतेः] फलश्रुति से [इति] यह [आत्रेयः] आत्रेय। श्रुति उस कर्म के फल का मिलना यजमान को बताती है, इसलिये कर्मानुष्ठान यजमान को करना चाहिये, फल उसे मिलता है, जो करता है। यह आत्रेय का विचार है।

उपासना के अंगभूत कर्मों का फल स्वामी को अर्थात् उपासक यजमान को मिलता है, ऐसा शब्दप्रमाण से ज्ञात होता है। छान्दोग्य [२।३।२] में बताया–'वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान् वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते' इसके लिये बरसता है, निश्चय वह बरसालेता है जो यह जानता हुआ वृष्टि में पञ्चविध साम की उपासना करता है। उपासना करनेवाले यजमान को यहां फलप्राप्ति का निर्देश है। यह सर्वथा उचित है, क्योंकि उपासना के फल का वही अधिकारी है, जिसने उसका अनुष्ठान किया है। क्योंकि अंग उपासनाओं का फल उपासक यजमान को बताया गया है, अतः यजमान को अंग उपासनाओं का अनुष्ठान करना चाहिये। यह आत्रेय आचार्य का मत है ।।४४।।

सूत्रकार ने एक अन्य पूर्वाचार्य के विचार को उक्त विषय में सिद्धान्तरूप से प्रस्तुत करते हुए अपना अभिमत बताया—

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ।।४५।।

[आर्त्विज्यं] ऋत्विजों का कर्म [इति] यह [औडुलोमिः] औडुलोमि आचार्य [तस्मै] उसके लिये [हि] क्योंकि [परिक्रीयते] परिक्रीत किया–मोल लिया–जाता है। अङ्ग उपासना ऋत्विजों का कर्म है, क्योंकि उसके अनुष्ठान के लिये यजमानद्वारा ऋत्विजों को मोल ले लिया जाता है; यह औडुलोमि आचार्य का विचार है।

कर्म के अङ्गभूत उपासनाओं का अनुष्ठान यजमानद्वारा न किया जाकर ऋत्विजों द्वारा किया जाना चाहिये। यह ऋत्विजों का कार्य है, क्योंकि यजमान के द्वारा उस समय उस कर्म के पूर्ण अनुष्ठान के लिये ऋत्विजों का वरण किया जाता है, तथा उस निमित्त से ऋत्विजों को उपयुक्त पारिश्रमिक दिया जाता है। इसप्रकार ऋत्विज उस अनुष्ठान के लिये यजमानद्वारा परिक्रीत होते हैं। पूर्णरूप से उस अनुष्ठान को सम्पन्न करना ऋत्विजों का कर्म है। इसलिये उस कर्म के अंगभूत उपासनाओं का अनुष्ठान भी ऋत्विजों का कर्म है, यजमान का नहीं। कर्मानुष्ठानों में यजमानद्वारा ऋत्विजों का वरण करना सर्वत्र प्रसिद्ध है। छान्दोग्य [१।२।१३] में उल्लेख है–'तं ह बको दाल्भ्यो विदाञ्चकार। स ह नैमिशीयानामुद्गाता बभूव' दल्भ के पुत्र बक नामक ऋषि ने उस प्राण को जानलिया, वह नैमिशारण्य के निवासी सत्रयाजियों का उद्गाता बना। इस विषय में उषस्ति चाक्रायण का उपाख्यान [छा० १।१०-११] द्रष्टव्य है। जहां स्पष्टरूप से यह उल्लेख है, कि यजमान ने शुल्क देकर यज्ञानुष्ठान के लिये उसका वरण किया। इसप्रकार कर्म के अंगभूत उपासनाओं का अनुष्ठान ऋत्विजों द्वारा किया जाना चाहिये; उन्हींका यह कर्म है, यजमान का नहीं।

इस विषय में कहा जासकता है, कि ऋत्विजों द्वारा किये गये कर्म का फल यजमान को कैसे मिलेगा? जो कर्म करता है, उसीको फल मिलना चाहिये? वस्तुतः ऐसे स्थलों में अनुष्ठान का कर्त्ता यजमान ही होता है, ऋत्विज तो उसके साधनमात्र

हैं। ऋत्विजों द्वारा कर्म का अनुष्ठाता यजमान रहता है, वही उसके फल का भोक्ता है। जैसे योद्धाओं द्वारा किये गये युद्ध के जय-पराजयरूप फल का भोक्ता राजा होता है। जैसे योद्धा राजाद्वारा परिक्रीत हैं, ऐसे यजमानद्वारा ऋत्विज परिक्रीत होते हैं। उनके तात्कालिक व्यापार व श्रम का फल उनको शुल्करूप में प्राप्त होता है; उस अनुष्ठान का फल यजमान कर्त्ता को मिलता है। इसमें कोई दोष नहीं। ऋत्विज परार्थ अनुष्ठान करते हैं; जिसके लिये करते हैं, फल उसीको मिलना शास्त्रानुमत है। अन्यथा मकान बनानेवाले शिल्पियों [राजों] का स्वत्व मकान में निवास का होजाना चाहिये; स्वामी को अर्द्धचन्द्र दे दिया जाय ॥४५॥

आचार्य सूत्रकार उक्त अर्थ में श्रुतिप्रमाण का निर्देश करता है—

श्रुतेश्च ॥४६॥

[श्रुतेः] श्रुति से [च] और। और श्रुति से यह अर्थ प्रमाणित होता है।

शतपथ ब्राह्मण [१।३।१।२६] में लिखा है–'यां वै कां च यज्ञ ऋत्विज आशिषमाशासते यजमानस्यैव सा' यज्ञ में ऋत्विज जो कोई आशीष् मांगते हैं. वह यजमान की ही होती है। इससे स्पष्ट है, कि यज्ञ में ऋत्विजों द्वारा मांगे जानेवाले आशीर्वाद सब यजमान के लिये होते हैं। ऋत्विजों द्वारा किये गये अनुष्ठान का फल यजमान को प्राप्त होता है। इसीप्रकार छान्दोग्य [१।७।८-९] में कहा–'तस्माद् हैवंविदुद्गाता ब्रूयात्। कं ते काममागायानि' इसलिये ऐसा जाननेवाला उद्गाता यजमान को कहता है, मैं तुम्हारी किस कामना का गान करूं। स्पष्ट है, जिस कामना का गान उद्गाता कर रहा है, वह यजमान की कामना है; उसीको उसका फल प्राप्त होता है। उद्गाता केवल उस गान-कथन का द्वार है, साधन है। इससे ऋत्विजों द्वारा अनुष्ठित कर्म का फल यजमान को प्राप्त होना प्रमाणित होता है। फलतः कर्म के अंगभूत उपासनाओं का अनुष्ठान ऋत्विजों द्वारा किया जाना चाहिये, यजमान द्वारा नहीं ॥४६॥

प्रासंगिक विवेचन के अनन्तर शिष्य जिज्ञासा करता है, ज्ञान के बहिरंग साधन यज्ञादि तथा अन्तरंग साधन शम दम आदि का निर्देश किया गया; क्या ज्ञान के ये ही साधन हैं, या अन्य भी कोई साधन शास्त्र में बताये गये हैं? आचार्य सूत्रकार ने कहा—

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥४७॥

[सहकार्यन्तरविधिः] अन्य सहकारी का विधान [पक्षेण] पक्ष से–विकल्प से [तृतीयं] तीसरा [तद्वतः] उस वाले को–उपासना वाले को–ब्रह्मजिज्ञासु उपासक को [विध्यादिवत्] विधि आदि के समान। ब्रह्मज्ञान के लिये उपासक को तीसरे अन्य सहकारी का अनुष्ठान विहित है, विधि-निषेध के समान वह विकल्प से होता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् [३।५।१] के कहोलब्राह्मण में कहा है–'तस्माद् ब्राह्मणः

पाडित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्, बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः, अमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' इसलिये जो ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] होना चाहे, वह पाण्डित्य शास्त्रश्रवण अर्थात् शास्त्राध्ययन को अच्छीतरह संपन्न कर बलपूर्वक ठहरने की इच्छा करे। श्रवण का बल मनन है, सुने हुए का जबतक अच्छीतरह मनन नहीं किया जाता, तबतक वह दृढ़ नहीं होता। इसलिये ब्रह्मज्ञानविषयक श्रवण के अनन्तर उसका गम्भीरतापूर्वक मनन करे। जब श्रवण व मनन को ठीक तरह संपन्न करलेवे, तब वह मुनि होजावे। तात्पर्य, मौनशील होकर अन्य व्यवहारों से अलग होकर निदिध्यासन में तत्पर होजावे। जब उपासक अमौन अर्थात् श्रवण–मनन को और मौन अर्थात् निदिध्यासन को पूर्णरूप से संपन्न करलेता है, तब वह ब्राह्मण–ब्रह्मज्ञानी होजाता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में अन्तिम पद हैं–'अथ ब्राह्मणः' 'अथ' पद का अर्थ आनन्तर्य है, इसके अनन्तर वह ब्राह्मण होजाता है। यह कथन स्पष्ट करता है, कि इसके पहले ब्राह्मण बनने के साधन कहे जाने चाहियें; जिनके अनुष्ठान के अनन्तर उपासक ब्राह्मण–ब्रह्मज्ञानी होजाता है। इससे प्रमाणित होता है, कि सन्दर्भ में पहले जो कुछ कहा गया है, वह ब्रह्मज्ञान का साधन है। इससे ब्रह्मज्ञान के साधनों का विधान यहां अवगत होता है।

ज्ञान के प्रथम साधन यज्ञादि हैं, द्वितीय साधन शम दम आदि हैं, तृतीय साधन ये श्रवण-मनन-निदिध्यासन हैं। प्रथम साधन बहिरंग हैं, उनको अनुकूलता के अनुसार करना न करना उपासक की इच्छा व स्थिति पर निर्भर है; पर शम दम आदि ज्ञान के अन्तरंग साधन हैं। श्रवण-मनन-निदिध्यासन भी अन्तरंग साधन हैं, इनका अनुष्ठान आवश्यकरूप से उस समय तक किया जाना चाहिये, जबतक ब्रह्मज्ञान न होजाय। ब्रह्मज्ञान होजाने पर ज्ञानी श्रवण मनन आदि में यथाकाम बरतसकता है। उस अवस्था में जैसे विधि-निषेध उसपर कुछ प्रभाव नहीं रखते, ऐसे श्रवण मनन आदि को समझना चाहिये। जैसा कि बताया–'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्। तस्यैव स्यात् पदवित् तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन' [बृ० ४।४।२३] यह ब्रह्मज्ञानी की नित्य महिमा है, जो वह कर्म से न बढ़ता है न घटता है। उस महिमा के स्वरूप को जाननेवाला होवे, उसको जानकर ब्रह्मज्ञानी पापकर्म से लिप्त नहीं होता। छान्दोग्य [४।१४।३] तथा तैत्तिरीय उपनिषद् [२।९] में ब्रह्मज्ञानी की इस स्थिति को बताया गया है। उस दशा में ब्रह्मज्ञानी के द्वारा श्रवण आदि के अनुष्ठान करने या न करने पर उसका कुछ बनता बिगड़ता नहीं, इसलिये तब इन्हें करे या न करे, यह विकल्प है, जैसे विधि-निषेध का। ब्रह्मज्ञानी के ऐसे स्वातन्त्र्य को बृहदारण्यक के उक्त सन्दर्भ [३।५।१] में प्रश्नोत्तररूप से प्रकट किया है–'स ब्राह्मणः केन स्यात् ?' उस ब्रह्मज्ञानी को किस आचरण के साथ रहना चाहिये ? उत्तर दिया–'येन स्यात् तेनेदृश एव' जिस आचरण से रहे, उससे ऐसा ही रहता है; वह प्रत्येक विहित-निषिद्ध आचरण में समानरूप रहता है; उसपर तब इनका कोई प्रभाव नहीं होता। सूत्रकार का आशय है, जैसे ब्रह्मज्ञानी

का विहित-निषिद्ध आचरण में स्वातन्त्र्य है, ऐसे श्रवण आदि में समझना चाहिये।

शास्त्र में फिर भी विहित आचरण को श्रेष्ठ बताया है, क्योंकि उन महान आत्माओं का आचरण अन्य समाज के लिये अनुकरणीय आदर्श होता है। मुण्डक उपनिषद् [३।१।४] में कहा–'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' आत्मा में विचरण करनेवाला अन्य बाह्यव्यापार से विरत होकर आत्मज्ञान में तत्पर रहनेवाला जो ज्ञान ध्यान पुण्य अनुष्ठानों में संलग्न रहता है, वह ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ है। स्वातन्त्र्य होने पर भी ब्रह्मज्ञानी के लिये विहित का आचरण तथा निषिद्ध का परित्याग लोकसंग्रह की भावना से अच्छा है। इस विषय में गीता के श्लोक [३।२०–२५] द्रष्टव्य हैं ॥४७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, विधि-निषेध में स्वातन्त्र्य ऊर्ध्वरेता आश्रमी के लिये भले योग्य हो, पर गृहस्थ के लिये ऐसे स्वातन्त्र्य की कभी सम्भावना नहीं कीजासकती। तब शास्त्र में गृहाश्रमी से विद्या का उपसंहार क्यों किया गया है ? आचार्य ने बताया—

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥४८॥

[कृत्स्नभावात्] सबके होने से [तु] तो [गृहिणा] गृहाश्रमी से [उपसंहारः] उपसंहार है। गृहस्थ आश्रम में ज्ञान के सब साधनों का संभव होने के कारण गृहाश्रमी से विद्या का उपसंहार किया गया है।

छान्दोग्य [८।१५।१] में कहा–'अभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः, ···आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सं प्रतिष्ठाप्य, अहिंसन् सर्वभूतानि···एवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते' गुरु की सेवा से बचे समय में वेदाध्ययन पूरा कर स्नातक बन गृहस्थ के साथ कुटुम्ब में रहते हुए, पवित्र स्थान में आत्मचिन्तन तथा इन्द्रिय संयम कर, किसी प्राणी को दुःख न दे, आयुपर्यन्त इसप्रकार जो आचरण करता है, वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। यहां गृहस्थ आश्रम से ब्रह्मलोकप्राप्तिरूप विद्या का उपसंहार स्पष्ट है; तब प्रव्रज्या आश्रम एवं विधि-निषेध में स्वातन्त्र्य का अवकाश कहां रहता है ? ऐसी स्थिति में गतसूत्र का 'विध्यादिवत्' निर्देश युक्त नहीं समझा जाना चाहिये। यह जिज्ञासा होने पर सूत्रकार ने बताया, उपासक के लिये शम दम निदिध्यासन आदि के साथ अनेक यज्ञादि आश्रमकर्मों का अनुष्ठान बहुत परिश्रम तथा विविध साधनों की अपेक्षा रखता है। ऐसी व्यवस्था गृहस्थ आश्रम में अधिक सुविधा के साथ होसकती है। इस भावना से उपनिषत्कार ने गृहाश्रमी के साथ ब्रह्मविद्या के उपसंहार का निर्देश किया है। ब्रह्मजिज्ञासु को विषयासक्ति और अन्य बाह्यव्यापार से विरत होना आवश्यक है। यदि यह गृहस्थ आश्रम में संभव है, तो अतिप्रशस्त है। इसीलिये उक्त सन्दर्भ में 'स्वाध्यायमधीयानः, आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सं प्रतिष्ठाप्य, अहिंसन् सर्वभूतानि' इत्यादि वाक्यों का समावेश है। ऐसे गृहाश्रमी के साथ विद्या का उपसंहार सर्वथा युक्त है। इससे ऊर्ध्वरेता आश्रमों का कोई विरोध नहीं है ॥४८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, ज्ञान के जितने साधन बताये गये, उनमें मुनि-आश्रमियों द्वारा अनुष्ठेय निदिध्यासन ज्ञान का साक्षात् साधन है, उसीका अनुष्ठान नियम से किया जाना चाहिये। तब ज्ञान की सिद्धि में न अन्य आश्रम अपेक्षित हैं न अन्य साधन; क्योंकि वे ज्ञान के साक्षात् साधन नहीं हैं। आचार्य सूत्रकार ने बताया—

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥४९॥

[मौनवत्] मुनि-आश्रम के समान अथवा मुनि-आश्रमियों से अनुष्ठेय निदिध्यासन के समान [इतरेषां] अन्य आश्रमों का अथवा अन्य शम दम आदि साधनों का [अपि] भी [उपदेशात्] उपदेश होने से। शास्त्र में जैसे मुनि-आश्रम का उपदेश है, वैसे अन्य आश्रमों का है। अथवा जैसे मुनि-आश्रमियों द्वारा अनुष्ठेय निदिध्यासन ज्ञान साधन है, ऐसे शम दम आदि तथा अन्य आश्रमियों द्वारा अनुष्ठेय पुण्याचरण ज्ञान के साधन शास्त्रोपदिष्ट हैं।

जिसप्रकार निदिध्यासन का ज्ञानसाधन के रूप में शास्त्रद्वारा उपदेश हुआ है; ऐसे विवेक वैराग्य शम दम आदि का भी ज्ञानसाधन के रूप में शास्त्र ने उपदेश किया है। इसलिये ज्ञानप्राप्ति के लिये यथावसर सभी शास्त्रोपदिष्ट साधनों का अनुष्ठान करना आवश्यक है। अन्य यथावसर अपेक्षित साधनों की उपेक्षा करके केवल किसी एक साधनद्वारा ज्ञानार्जन संभव नहीं। यद्यपि ज्ञानसंपादन के लिये ऊर्ध्वरेता आश्रम अथवा संन्यासरूप मुनिआश्रम अधिक सुविधाजनक होसकते हैं, पर इस सुविधा का लाभ अन्य आश्रमों के आचरण व सहयोग के बिना संभव नहीं, इसलिये ज्ञानसंपादन में अन्य आश्रमों की उपेक्षा नहीं कीजासकती। ज्ञानप्राप्ति के लिये संन्यास आश्रम जितना उपयोगी है, अन्य आश्रमों की उपयोगिता में कोई न्यूनता नहीं है। ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का पालन उनके लिये अत्यावश्यक है। जैसे ज्ञान के सब साधनों का शास्त्र में समानरूप से उपदेश है, और वे सब यथावसर अनुष्ठेय हैं; इसीप्रकार सब आश्रमों का शास्त्र में उपदेश है, तथा सब आश्रमों में ज्ञानसाधनों का अनुष्ठान व आचरण चालू रहसकता है। इसके लिये किसी एकमात्र साधन तथा एकमात्र आश्रम की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिये। सदा इसके लिये प्रयत्नशील रहना सूत्रकार का आशय है॥४९॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, निदिध्यासनपर्यन्त ज्ञानसाधनों का निरूपण तो किया गया, पर इनके आचरण का विशेष प्रकार क्या है? जिससे इस दिशा में [illegible]तर उन्नति होती रहे? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥५०॥

[अनाविष्कुर्वन्]न प्रकट करता हुआ[अन्वयात्]अन्वय से–सम्बन्ध से। ब्रह्मज्ञानी गुरुद्वारा उपदिष्ट साधन का अनुष्ठान करते हुए उसे प्रकट न कर निरन्तर उसमें

तत्पर रहे, क्योंकि प्रकट न करने का साधनों की सफलता के साथ गहरा सम्बन्ध है।

विवेक, वैराग्य, यम-नियम आदि का पालन, शम, दम, तितिक्षा, श्रवण-मनन-निदिध्यासन जितने ये ज्ञानसाधन कहे हैं, इस विषय में ब्रह्मज्ञानी गुरु जैसा उपदेश देता है, उसका श्रद्धापूर्वक निरन्तर अनुष्ठान अभ्यास करते रहना चाहिये। इसप्रकार अनुष्ठान से अनुकूल ज्ञानप्राप्ति होती है। जब तक साधनानुष्ठान से सफलता प्राप्त न होजाय, अपनी इन प्रवृत्तियों को कभी प्रकट नहीं करना चाहिये। सांसारिक जनों में अनेक प्रकार की प्रवृत्तियां होती हैं। उपासक की इन भावनाओं के प्रकट होने पर अनेक अनुकूल प्रतिकूल प्रवृत्तियां उसे घेरने लगती हैं, तथा विविध विघ्नों की न केवल आशंका होजाती है, अपितु विघ्न उपस्थित होजाते हैं। अनेक बार उपासक अपनी प्रवृत्तियों के प्रकट होजाने पर अभिमान, दम्भ, राग, द्वेष आदि में पड़ मार्गभ्रष्ट होजाता है। लोक में कहावत है–'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' कल्याणकारी कार्यों में प्रायः बहुत प्रकार के विघ्न आते रहते हैं। विघ्नों के आने पर उपासक यत्न करता हुआ भी अपने कार्य में सफल नहीं होपाता; इसलिये अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को पूर्ण सफलता प्राप्त होने से पहले प्रकट न करना अत्यन्त आवश्यक है। मनुस्मृति [२।११०] में बताया–'जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्' बुद्धिमत्ता इसीमें है, कि ज्ञानी होता हुआ भी लोक में अज्ञ के समान व्यवहार करे। अन्य अनेक स्मृतियों में ऐसे निर्देश उपलब्ध होते हैं॥५०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, अनुष्ठित ज्ञानसाधन क्या इसी जन्म में ज्ञान उत्पन्न करदेते हैं, अथवा परजन्म में? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥५१॥

[ऐहिकं] इस जन्म में होना [अपि] भी [अप्रस्तुतप्रतिबन्धे] प्रस्तुत प्रतिबन्ध के न होने पर [तद्दर्शनात्] उसके–ऐहिक ज्ञान के–देखे जाने से। किसी प्रतिबन्ध के प्रस्तुत न होने पर इस जन्म में भी ज्ञान होजाता है; क्योंकि ऐसा देखा जाता है।

कोई मुमुक्षु उपासक ज्ञान के यज्ञादि बहिरंग साधन तथा शम दम आदि अन्तरंग साधनों का अनुष्ठान इसी भावना से करता है, कि वह अपने इसी जीवन में आत्मज्ञान प्राप्त करले। यदि ऐसा निश्चय हो, कि चालू जीवन में ज्ञान न होगा, तो ज्ञानसाधन के अनुष्ठानों के प्रति उपेक्षा होसकती है। सूत्रकार ने बताया, जब ज्ञानसाधनों का अनुष्ठान यथाविधि चालू हो, उस अवस्था में यदि कोई इस कार्य में रुकावट डालनेवाला [प्रतिबन्ध] कर्मफल-भोग उपस्थित नहीं होता, एवं अनुष्ठान विधिपूर्वक निरन्तर चलता रहता है, तो उसी जन्म में ज्ञानप्राप्ति होना संभव रहता है। यदि कोई प्रबल विघ्न आजायें, तो साधनानुष्ठान होने पर भी सफलता प्राप्त नहीं होती, कभी अनुष्ठान ही विच्छिन्न होजाता है। विघ्न बाधाओं के अभाव में साधनानुष्ठान सफलता प्राप्त कराने में समर्थ रहते हैं। कठ उपनिषद् [१।२।७] में इसी

भावना से कहा–'शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः' श्रवण मनन निदिध्यासन आत्मज्ञान के साधन हैं; इनका अनुष्ठान करते हुए भी बहुत से जिज्ञासु आत्मा को नहीं जानपाते। शास्त्र से जाना जाता है, कि शैशव में वामदेव कपिल शुकदेव आदि को ज्ञान प्राप्त हो-गया। इससे ज्ञात होता है, कि एक जन्म के संचित साधनों से जन्मान्तर में ज्ञान प्राप्त होजाता है। इसलिये सामान्यरूप से यह नहीं कहा जासकता, कि उसी चालू जीवन-काल में निश्चय से ज्ञानप्राप्ति होजाती है। ऐसे असफल योगियों की गति के विषय में अर्जुन ने गीता [६।३७] में प्रश्न किया है। ऐसे व्यक्तियों की पुण्यलोकप्राप्ति तथा श्रेष्ठकुलों में उत्पत्ति बताकर कहा है–'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्' [गी० ६।४३] पूर्वदेह में संचित ज्ञानसाधनों का वह जन्मान्तर में लाभ उठाता है। इसप्रकार 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' [गी० ६।४५] अनेक जन्मों में सफलता को प्राप्त कर मोक्ष पाजाता है। इसलिये ज्ञानप्राप्ति इस जन्म अथवा परजन्म में रुकावटों के न रहने पर होपाती है, यह निश्चित विचार है ॥५१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जो स्थिति साधन के फल ज्ञान की प्राप्ति में है, क्या वही ज्ञान के फल मोक्षप्राप्ति में है? आचार्य सूत्रकार ने बताया–

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थाधृतेस्तदवस्थाधृतेः ॥५२॥

[एवं] इसप्रकार [मुक्तिफलानियमः] मुक्तिफल का नियम नहीं [तदवस्था-धृतेः] ज्ञानप्राप्ति की अवस्था में मुक्तिप्राप्ति का निश्चय होने से। जैसे इस जन्म में साधनानुष्ठान होने पर जन्मान्तर में ज्ञान होने की बात है, ज्ञान होजाने पर मुक्तिरूप फल के प्राप्त होने में ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि ज्ञान होजाने पर मुक्ति का प्राप्त होना निश्चित है।

जिसप्रकार यज्ञादि तथा शम दम आदि साधनों के ज्ञानरूप फल प्राप्त होने में इस जन्म अथवा परजन्म का नियम है; ऐसा नियम ज्ञान के फल मोक्ष की प्राप्ति में नहीं। ऐसा कभी नहीं होता, कि आत्मज्ञान इस जन्म में होजाय, और मोक्ष अगले जन्म में हो। ज्ञान होजाने पर मोक्ष न होकर आत्मा का अन्य देह ग्रहण करना संभव नहीं। ज्ञान होजाने पर मोक्ष होना सर्वथा निश्चित है। इसलिये जिस चालू जीवन में ज्ञान प्राप्त होता है, उस देह के छूटने पर निश्चितरूप से आत्मा मुक्ति को प्राप्त करलेता है। मुक्ति के लिये उसे जन्मान्तर में देहधारण करने की आवश्यकता नहीं रहती, जबकि एक जन्म में ज्ञानसाधनों का अनुष्ठान होने पर सफलता न मिलने की दशा में ज्ञानप्राप्ति के लिये जन्मान्तर का होना आवश्यक है।

ज्ञान होजाने पर मोक्ष का उसी जन्म में होना शास्त्र स्पष्ट बतलाता है–'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' [मु० ३।१।३] जब यह चेतन आत्मा जगत्कर्त्ता परब्रह्म

परमेश्वर का साक्षात्कार करलेता है, तब वह ज्ञानी समस्त कामनाओं से रहित होकर परब्रह्म को प्राप्त होजाता है। अन्यत्र कहा—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' [कठ० २।३।१४; बृ० ४।४।७] जब हृदयस्थित समस्त कामना छूट जाती हैं, तब यह मर्त्य अमृत हो यहीं ब्रह्म को प्राप्त करलेता है। इसप्रकार जैसे ज्ञान होने में ऐहिक आमुष्मिक का नियम है, वैसा ज्ञान के फल मुक्ति में नहीं है। सूत्र में 'तदवस्थाधृतेः' पद का दो वार कथन अध्याय की समाप्ति का द्योतक है ॥५२॥

इति तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः।

इति श्रीपूर्णसिंहतनूजेन तोफादेवीगर्भजेन, बलियामण्डलान्तर्गत'छाता'वासि-
श्रीकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्धविद्योदयेन बुलन्दशहरमण्डलान्तर्गत–
'बनैल'–ग्रामवास्तव्येन, विद्यावाचस्पतिना उदयवीर शास्त्रिणा
समुन्नीते ब्रह्मसूत्राणां 'विद्योदय'भाष्ये
साधनाभिधानस्तृतीयोऽध्यायः ।

अथ चतुर्थाध्याये प्रथमः पादः।

तृतीय अध्याय में ब्रह्मसाक्षात्कार के साधन वैराग्य आदि निदिध्यासनपर्यन्त का निरूपण कर उपासनाविधि में उपास्य के स्वरूप का सविस्तार उपपादन किया गया। अब ब्रह्मज्ञान के फल का विस्तार के साथ प्रतिपादन करने की भावना से चतुर्थ अध्याय का प्रारम्भ है। ब्रह्मज्ञान के अन्तरंग साधनभूत निदिध्यासन की आवृत्ति का सर्वप्रथम उपदेश किया जाता है, जिससे जिज्ञासु को शीघ्र ब्रह्मज्ञान और उसके फल की प्राप्ति होसके। उस विषय में सूत्रकार ने कहा—

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥१॥

[आवृत्तिः] निरन्तर अभ्यास-दुहराना [असकृत्] अनेकवार [उपदेशात्] उपदेश से। शास्त्र में अनेकवार उपदेश से ब्रह्मज्ञान के साधन का निरन्तर अभ्यास करना ज्ञात होता है।

निदिध्यासन उस अवस्था का नाम है, जब ब्रह्म का ध्यान करते समाधि की दशा आजाती है। यह ब्रह्मज्ञान के लिये किया जाता है। अध्यात्मविद्या अथवा अध्यात्म-उपासना का यही विषय है, कि आत्मा देह में रहता भी देह से अलग एक चेतन तत्त्व है, और परमात्मा आत्मा का भी आत्मा है, तथा समस्त विश्व का अधिष्ठाता और अन्तर्यामीरूप से सर्वत्र व्याप्त है; इसको जानलियाजाय। जिज्ञासा यह है, कि जब इस विषय को एकवार जानलिया, तो इसको बार-बार दुहराने की क्या आवश्यकता है? जैसे प्रयाज आदि यज्ञांग एकवार किये जाते हैं, उससे शास्त्र का प्रयोजन पूरा होजाता है; इसीप्रकार ब्रह्म के विषय में एकवार कहदेने से ज्ञात होगया, वह सर्वशक्ति सर्वान्तर्यामी सबका अधिष्ठाता है, फिर उपासना आदि का बार-बार कथन अनावश्यक है।

सूत्रकार ने बताया, उपासना निदिध्यासन आदि का फल ब्रह्म का साक्षात्कार करना है। एकवार उपदेश से जो ज्ञान होता है, वह केवल शाब्दज्ञान है, साक्षात्कार नहीं। जबतक साक्षात्कार न होजाय, तबतक निरन्तर आवृत्ति का करना आवश्यक है; क्योंकि उपासना का यही प्रयोजन है। प्रयोजन पूरा होने तक उसके साधनों का निरन्तर अभ्यास अपेक्षित होता है। प्रयाज के एकवार करने से प्रयोजन पूरा होजाता है; पर 'व्रीहीनवहन्ति' धानों को कूटता है, यहां धान कूटने का प्रयोजन छिलका अलग हटाकर चावल को अलग करना है। जबतक चावल न निकल आये, कूटना बराबर चालू रक्खा जाता है; ऐसा नहीं होता, कि एकवार मूसल लगाकर बन्द करदिया जाय। ऐसे ही

अध्यात्म उपासनाओं के रूप में निदिध्यासन का प्रयोजन ब्रह्मसाक्षात्कार है, वह जबतक न हो, तबतक उसे निरन्तर प्रवृत्त रखना आवश्यक है। इसी आधार पर छान्दोग्य के छठे अध्याय में श्वेतकेतु को यह तत्त्व समझाने के लिये अनेकवार उपदेश दिया गया है–'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इत्यादि। इसलिये ब्रह्मज्ञानरूप फल शीघ्र प्राप्त होसके निदिध्यासन का निरन्तर अभ्यास करना आवश्यक है ॥१॥

सूत्रकार ने उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये अन्य हेतु कहा—

लिङ्गाच्च ॥२॥

[लिङ्गात्] लिङ्ग से [च] और। तथा शास्त्रीय वचन इस बात के लिङ्ग–चिह्न हैं, कि निदिध्यासन की आवृत्ति करनी चाहिये।

बृहदारण्यक उपनिषद् [४।५।६] में कहा–'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कह रहे हैं, अरे मैत्रेयि! आत्मा देखने योग्य है। मानवजीवन का यह परम लक्ष्य है, कि वह सर्वव्यापक ब्रह्म का साक्षात्कार करने का प्रयास करे। उसके साधन बताये–वह सुनने योग्य है, मनन करने योग्य है, निदिध्यासन करने योग्य है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन उसके जानने के साधन हैं। शास्त्र अथवा गुरुओं द्वारा उसके विषय में सुनना; सुनकर उसको स्वयं एकान्त में मनन करना, जिससे सुने हुए की यथार्थता परिपक्व होसके। अनन्तर शास्त्र में बताई गई उपासनाविधियों द्वारा उस तत्त्व का ध्यान करना। यह प्रक्रिया उस समय तक प्रवृत्त रक्खी जाती है, जब तक ब्रह्म का साक्षात् दर्शन नहीं होजाता। इससे उपासनाओं के रूप में निदिध्यासन के सतत प्रवृत्त रखने का पता लगता है।

इसीप्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् [२।७] में कहा–'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्ये ···अभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति' जब यह उपासक जीवात्मा अदृश्य ब्रह्म में निर्बाध प्रतिष्ठा को प्राप्त करलेता है, तब समझना चाहिये, वह अभय–बाधा-रहित–स्थिति को पहुंच गया है। इस अभय अवस्था को प्राप्त करना निरन्तर निदिध्यासन के बिना संभव नहीं। इससे उपासनाओं के रूप में निदिध्यासन की सतत आवृत्ति का बोध होता है ॥२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, निदिध्यासन का वह विषय क्या है, जिसकी निरन्तर आवृत्ति कीजानी चाहिये? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥३॥

[आत्मा] सर्वव्यापक परमात्मा [इति] यह [तु] तो [उपगच्छन्ति] स्वीकार करते हैं [ग्राहयन्ति] बोध कराते हैं, बतलाते हैं। निदिध्यासन का विषय तो यह सर्वव्यापक परमात्मा है, ऋषि एवं वेदादि शास्त्र स्वीकार करते, और ऐसा बोध कराते हैं।

वेदादि शास्त्र और उनके माननेवाले ऋषि एवं अन्य आचार्य सर्वव्यापक परमात्मा को निदिध्यासन का विषय मानते हैं, और ऐसा ही बतलाते हैं, उपासक के लिये ऐसा उपदेश करते हैं। मुण्डक उपनिषद् [२।२।६] में बताया–'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्'। 'ओम्' इस रूप में सर्वव्यापक परमात्मा का ध्यान करो। माण्डूक्य उपनिषद् [१२] में कहा–'संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद' जो ब्रह्म के पूर्ववर्णित स्वरूप को जानलेता है, वह स्वरूप से परब्रह्म परमात्मा में प्रवेश पाता है, उस आनन्द में डूब जाता है। यजुर्वेद [३२।११] में बताया–समस्त चेतन अचेतन तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को वेदादि अभ्यास धर्माचरण योगानुष्ठान आदि द्वारा जानकर उपासक सर्वव्यापक परब्रह्म में प्रवेश कर जाता है, उस आनन्द का अनुभव करने लगता है।

ऐसा एक प्रसंग बृहदारण्यक उपनिषद् [१।४।१०] में है–'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, तदात्मानमेवावेत्–अहं ब्रह्मास्मीति' सर्ग से पहले केवल यह ब्रह्म था, उसने अपने आपको जाना, कि मैं ब्रह्म हूं। इसी सन्दर्भ में आगे वर्णन है–वह समस्त कार्य जगत् का उत्पादक है, इस तथ्य को देव, ऋषि और मनुष्यों में जो जानलेता है, वह वही होजाता है, अर्थात् उस आनन्दस्वरूप का अनुभव करता है। आज भी जो उस तथ्य को जानलेता है, ब्रह्म के जगत्कर्तृत्वस्वरूप का साक्षात्कार करलेता है, वह ब्रह्म को प्राप्त होजाता है। जो उपासक उस ब्रह्म से अन्य देवता की उपासना करता है, कि उपास्य देवता अन्य है और ब्रह्म अन्य है, वह यथार्थ तत्त्व को नहीं जानपाता, अज्ञानान्धकार में पड़ा रहता है।

बृहदारण्यक के सन्दर्भ में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है, कि 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य को किसी उपासक जीवात्मा ने नहीं कहा। उपनिषत्कार की शैली के अनुसार यह वाक्य ब्रह्म के संकल्परूप में कहा गया है। उपनिषद् की शैली से स्पष्ट होता है, उपनिषत्कार ने यह वाक्य ब्रह्मद्वारा कहलाया है। आगे इस सन्दर्भ में स्पष्ट कहा है–ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई देवता उपास्य नहीं है। स्वयं उपासक जीवात्मा को यहां उपास्य ब्रह्म के रूप में नहीं कहा गया। आपाततः ऐसी भावना किसी वाक्य अथवा वाक्यांश से प्रतीत हो, तो उसे अतिशय भक्ति के उद्रेक का परिणाम जान औपचारिक समझना चाहिये, वास्तविक नहीं। क्योंकि ऐसे वर्णनों में ब्रह्म को उपासकद्वारा अपना माता, पिता, भ्राता, सखा आदि बताया गया है, जो यथार्थ नहीं कहा जासकता। इसके लिये देखें–ऋग्वेद [८।४४।२३; ८।९८।११; १०।१८६।२] के स्थल। इसी आधार पर 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि' इत्यादि सन्दर्भों का तात्पर्य समझना चाहिये। फलतः निदिध्यासन का विषय अर्थात् उपास्य देवता केवल परब्रह्म परमात्मा है, अन्य नहीं। परमपद की प्राप्ति के लिये उसीका निरन्तर ध्यान अपेक्षित होता है ॥३॥

इसी अर्थ की पुष्टि के लिये आचार्य सूत्रकार ने आगे कहा—

न प्रतीके न हि सः ॥४॥

[न] नहीं [प्रतीके] प्रतीक में [न] नहीं [हि] क्योंकि [सः] वह। किसी भौतिक प्रतीक में निदिध्यासन अथवा ब्रह्मभावना नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वह प्रतीक परब्रह्म परमात्मा नहीं है।

किसी भौतिक तत्त्व को आधार मानकर उसमें ब्रह्मभावना अथवा ब्रह्म की उपासना करना सर्वथा निष्प्रयोजन होता है। क्योंकि वह प्रतीकरूप भौतिकतत्त्व ब्रह्म नहीं है। उपासना अथवा निदिध्यासन का ऐसा आधारतत्त्व प्रतीक जड़ पदार्थ है, ब्रह्म चेतन आनन्दस्वरूप है; उन दोनों में अन्धकार और प्रकाश के समान भेद है। ब्रह्मज्ञान के लिये जड़ की उपासना करना नितान्त प्रयोजनहीन है। इसलिये उपास्यरूप में चेतन ब्रह्म का निदिध्यासन होना चाहिये, अन्य किसी तत्त्व का नहीं ॥४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, उपनिषदों में ऐसे सन्दर्भ हैं, जहां मन एवं आदित्य आदि को ब्रह्म मानकर उपासना करना कहा है, उनका क्या अभिप्राय होगा ? मन आदि जड़ पदार्थ हैं। आचार्य सूत्रकार ने बताया—

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥५॥

[ब्रह्मदृष्टिः] ब्रह्म का दर्शन [उत्कर्षात्] उत्कर्ष से। मन आदित्य आदि में ब्रह्म का दर्शन–ब्रह्मभाव का प्रकट करना–ब्रह्म के उत्कर्षरूप से है। इससे ब्रह्म के उत्कर्ष को प्रकट किया है।

छान्दोग्य उपनिषद् [३।१८।१] में सन्दर्भ है–'मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्मम्, अथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेति' मन ब्रह्म है, इसप्रकार उपासना करे, यह अध्यात्म है; और अधिदैवत है–आकाश ब्रह्म है–यह। अन्यत्र कहा–'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' [छा० ३।१९।१] आदित्य ब्रह्म है, यह आदेश है। इत्यादि वाक्यों में मन आकाश आदित्य आदि जड़ पदार्थों को ब्रह्मभाव से उपास्य कहा है, ऐसा प्रतीत होता है। तब उपास्य अथवा निदिध्यासन का विषय केवल ब्रह्म है, यह कैसे समञ्जस होगा ? आचार्य ने बताया।

परमात्मा समस्त ब्रह्माण्ड में अन्तर्यामीरूप से व्याप्त है। ब्रह्माण्ड एकप्रकार से उसका शरीर है। मन आकाश आदित्य आदि उसीके अंश हैं। जड़ शरीर चेतन अधिष्ठाता के विना सचेत नहीं रहसकता। वस्तुतः शरीररूप में उसका अवस्थित रहना चेतन अधिष्ठाता की महत्ता है, क्योंकि उसके विना शरीर का अस्तित्व शरीररूप में नहीं रहता। आकाश आदित्य आदि ब्रह्म हैं, इसका यही तात्पर्य है, कि इन सबमें ब्रह्म व्याप्त है, उसीकी व्याप्ति से इनका अस्तित्व है–'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' [कठ० २।२।१५; श्वे० ६।१४] सूर्य चांद तारे बिजलियां और अग्नि आदि कोई पदार्थ उसको

प्रकाशित नहीं करते । उसीके अस्तित्व से इनकी सत्ता है, उसीके प्रकाश से यह सब प्रकाशित हैं । इसरूप में ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये; यही उपनिषद् के उक्त वाक्यों का तात्पर्य है ।

मन अथवा अन्तःकरण समस्त इन्द्रियों को साथ लेकर शरीर में जीवात्मा के लिये प्रत्येक कार्य को संपादन करने का एक प्रधान साधन है । मन इन्द्रियों के साथ मिलकर आत्मा को विषयों की ओर आकृष्ट करता है, इन्द्रियों की अन्तर्वृत्तिदशा में वही मन जीवात्माद्वारा अनुष्ठित ब्रह्मोपासना में पूर्ण सहयोगी होता है । शुद्ध मन का सहयोग ब्रह्म के उत्कर्ष का दर्शन कराता है । मन को ब्रह्म समझकर उपासना करने का यह तात्पर्य नहीं, कि वहां मनकी उपासना करनी है, प्रत्युत यही भाव है, कि शुद्ध एकाग्रमन होकर ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये, शुद्ध आनन्दरूप उत्कृष्ट ब्रह्म के समीप अशुद्ध मन का पहुंचना संभव नहीं । फलतः मन आदि प्रतीक में ब्रह्मभावना अथवा ब्रह्मरूप से उसकी उपासना करना अभिप्रेत नहीं, उक्त सन्दर्भों से ब्रह्म के उत्कर्ष–ब्रह्म की महिमा–का दर्शन अभिप्रेत है । वही एक उपास्य तत्त्व है, इसमें उसका उत्कर्ष ही कारण है ॥५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, मन आदि प्रतीक में ब्रह्मबुद्धिनिर्देश उसके उत्कर्ष के कारण है, यह ठीक है; पर कर्म के अंग उद्गीथ आदि में आदित्यबुद्धि आदि का उपदेश किस निमित्त से किया गया है ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥६॥

[आदित्यादिमतयः] आदित्य आदि की भावना [च] और [अङ्गे] अङ्ग में [उपपत्तेः] उपपत्ति से–सिद्धि से–बनसकने से । कर्म के अङ्गभूत उद्गीथ आदि में आदित्य की भावना करना ठीक है, क्योंकि ऐसा होना सिद्ध है, बनसकता है ।

छान्दोग्य उपनिषद् [१।३।१] में आता है–'य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत' यह जो तपरहा है, उसको उद्गीथबुद्धि से उपासे; अर्थात् उद्गीथभावना से उसकी उपासना करे । यज्ञ अथवा कर्म के अङ्गभूत इन उपासनाओं के विषय में सन्देह है, कि यहां कर्म के अङ्ग उद्गीथ आदि को आदित्य आदि समझने का विधान है, अथवा आदित्य आदि को उद्गीथ आदि समझने का ? और ऐसा क्यों है ? आचार्य ने बताया, कर्म के अङ्ग उद्गीथ आदि में आदित्यभावना से उपासना करना इसलिये अभिप्रेत है, कि ऐसा करने से वह कर्म अधिक बलवाला, संपन्न फलवाला होता है । जैसे उद्गीथ–ओंकार का उच्चारण अथवा जप हृदय के अन्धकार और भय का उच्छेद करता है, ऐसे आदित्य उदय होता हुआ बाहर के अन्धकार और भय का उन्मूलन करता है । इसप्रकार व्यष्टिजीवन के साथ समष्टिजीवन की एकता का आपादन कर्मफल को सुसम्पन्न बनाता है । इसी निमित्त से उद्गीथ आदि कर्मांगों में आदित्यादि भावना का उपदेश है ।

इसीप्रकार 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' [छा० २।२।१] इत्यादि में समझना

चाहिये। हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, निधन यह पांच प्रकार का साम है, इनका अनुष्ठान यथाक्रम पृथिवी, अग्नि, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यु लोकों की भावना से किया गया फलसंपत्ति का निमित्त होता है। इसीकारण कर्मांग उद्गीथ आदि में आदित्यादि भावना का विधान है ॥६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, उपासना के लिये बैठकर खड़े होकर लेटे हुए या दौड़ते भागते करने में कोई नियम है, या जैसे चाहे करता रहे ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

आसीनः सम्भवात् ॥७॥

[आसीनः] बैठा हुआ [सम्भवात्] होसकने से। उपासना बैठे हुए करनी चाहिये, क्योंकि ऐसा संभव है।

उपासना या ध्यान उस स्थिति का नाम है, जब चित्त इधर उधर न डोले, उसमें एक विषय की वृत्ति का प्रवाह निरन्तर बहता रहे। ऐसी स्थिति चलते फिरते या दौड़ते भागते संभव नहीं। चलना दौड़ना आदि चित्तवृत्ति को विक्षिप्त करता रहता है। खड़े रहना भी उपासना के लिये उपयोगी नहीं, क्योंकि इसमें शरीरधारण की ओर मन की वृत्ति लगी रहती है। लेटकर उपासना करने में अकस्मात् निद्रा से अभिभूत होजाने का भय बना रहता है, निद्रा दबा ले, तो उपासना धरी रहजाती है। इसलिये बैठकर उपयुक्त आसन लगाकर उपासना करना सम्भव होता है। इसीलिये योगशास्त्र में इसके लिये पद्मासन सिद्धासन स्वस्तिकासन आदि अनेक उपयुक्त आसनों का विधान किया गया है। इस विषय में गीता [६।११–१४] के श्लोक द्रष्टव्य हैं ॥७॥

आचार्य सूत्रकार ने इसकी पुष्टि के लिये अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

ध्यानाच्च ॥८॥

[ध्यानात्] ध्यान से [च] भी। ध्यान से भी यह निश्चय होता है, कि उपासना बैठकर कीजानी चाहिये।

योग के आठ अंगों में ध्यान सातवां है। यह चित्त की एकाग्रता की अवस्था है, जो निश्चेष्ट बैठी हुई दशा में संभव है; खड़े चलते फिरते या लेटे रहते हुए चित्त की एकाग्रता संभव नहीं, क्योंकि ये सब अवस्था चित्त में विक्षेप उत्पन्न करनेवाली हैं, जो ध्यान का विरोधी है। इसलिये ध्यान से भी यह सिद्ध होता है, कि उपासना बैठे हुए कीजानी चाहिये ॥८॥

आचार्य सूत्रकार ने इसी विषय में अन्य उपोद्बलक प्रस्तुत किया—

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥९॥

[अचलत्वं] अचलता–निश्चलता की [च] और [अपेक्ष्य] अपेक्षा करके।

देह के निश्चेष्ट रखने की अपेक्षा करके ही उपासना करे।

ध्यान करते हुए जब समाधि की दशा आने लगती है, इसीका नाम निदिध्यासन है। ऐसी स्थिति के लिये देह के निश्चल रहने की पूरी अपेक्षा रहती है। आचार्य 'ध्यायति' का प्रयोग निश्चलता की अपेक्षा से करते हैं—'ध्यायतीव पृथिवी, ···ध्यायन्तीव पर्वताः'[छा० ७।६।१]ध्यान की महत्ता का वर्णन करते हुए उपनिषत्कार ने कहा, पृथिवी मानो ध्यान कररही है, पर्वत मानो ध्यान कररहे हैं। यह पृथिवी एवं पर्वतों की अचलता की अपेक्षा से प्रयोग है। यह भी निश्चल बैठकर उपासना करने का प्रयोजक है ।।९।।

सूत्रकार उक्त अर्थ की पुष्टि में अन्य प्रयोजक प्रस्तुत करता है—

स्मरन्ति च ।।१०।।

[स्मरन्ति] स्मरण करते हैं [च] और। और आचार्य उपासना के लिये बैठने का स्मरण करते हैं।

योगाङ्गों का अनुष्ठान करते हुए ध्यान एवं समाधिपर्यन्त दशा का प्राप्त करना निदिध्यासन है। इन योगाङ्गों में आसन का मुख्यस्थान आचार्यों ने बताया है—'यम–नियम–आसन–प्राणायाम–प्रत्याहार–धारणा–ध्यान–समाधयः, अष्टावंगानि [यो० २।२९]। उपासना के लिये आसन का महत्त्व होने के कारण योगशास्त्र में इसका पर्याप्त विस्तृत वर्णन है। मनुस्मृति [२।१०१-१०२] में जहां ब्रह्मचारी के लिये सन्ध्या करने का विधान है वहां 'समासीनः' पद का प्रयोग है। 'उपासन', 'उपासना' व 'निदिध्यासन' स्वयं ऐसे पद हैं; जिनसे इन अनुष्ठानों को बैठकर करने की भावना प्रस्फुटित होती है। फलतः उपासना बैठकर कीजानी चाहिये, यह निश्चित होता है ।।१०।।

शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या उपासना आदि के लिये स्थान-विशेष का नियम है? या जहां चाहे उपासना करने लगे? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ।।११।।

[यत्र] जहां [एकाग्रता] एकाग्रता हो [तत्र] वहां [अविशेषात्] विशेष न होने से। जहां चित्त एकाग्र होसके, वहां उपासना करनी चाहिये, इसके लिये दिशा, देश, काल आदि की कोई विशेषता नहीं है।

शास्त्र उपासना के लिये किसी देश दिशा काल आदि का कोई विशेष नियम नहीं बतलाता। उपासना का मुख्य उद्देश्य चित्त की एकाग्रता के लिये प्रयास करना है, इसके लिये जो देश व काल उपयुक्त हो, वहां उपासना करनी चाहिये। यद्यपि श्वेताश्वतर उपनिषद् [२।१०] के 'समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते श[...]लाश्रयादिभिः। मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्' सन्दर्भ में [...]त्र उपासना के लिये विशिष्ट स्थान का निर्देश है—जो सम है, शुद्ध है, कंकड़ बालू और अग्नि से रहित

है, शब्द जल तथा निवास आदि से मन के अनुकूल सुरम्य एकान्त देश है, तथापि इसका तात्पर्य चित्त की एकाग्रता के लिये उपयोगी देश बताने में है। मुख्य लक्ष्य चित्त की एकाग्रता है। उसके लिये जहां अनुकूलता हो, वही स्थान ठीक है। इसीलिये सन्दर्भ में 'मनोऽनुकूले' पद स्पष्ट कहे हैं। वेद में इसका संकेत उपलब्ध होता है–'उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत' [यजु० २६।१५] पर्वतीय एकान्त प्रदेश तथा नदियों के संगमस्थलों पर मेधावी उपासक शुद्ध अन्तःकरण से परब्रह्म की उपासना के लिये निवास करता है। एकान्त प्रदेशों के ये प्राकृतिक दिव्य दृश्य ब्रह्मचिन्तन में एकाग्रता के लिये सहायक होते हैं। इसी भावना से सांख्यदर्शन [६।३१] में कहा है–'न स्थान-नियमश्चित्तप्रसादात्' उपासना, निदिध्यासन व समाधिलाभ के लिये स्थान का कोई नियम नहीं, उसका मुख्यलक्ष्य चित्त का प्रसाद–चित्त की एकाग्रता है, उसके लिये जहां अनुकूलता हो, वही उपासना का उपयुक्त स्थान है ॥११॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, देश की तरह क्या काल का भी कोई नियम नहीं? कबतक उपासना व निदिध्यासन आदि का अनुष्ठान करना चाहिये? आचार्य ने बताया—

आ प्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम् ॥१२॥

[आ-प्रायणात्] मरणपर्यन्त [तत्र] उस विषय में [अपि] भी [हि] क्योंकि [दृष्टम्] देखा जाता है (शास्त्रवचन)। मरणपर्यन्त निदिध्यासन करता रहे, क्योंकि उस विषय में शास्त्रवचन देखा जाता है।

मृत्यु आनेतक निरन्तर उपासना करते रहना चाहिये। प्रश्न उपनिषद् [५।१] में कहा–'स यो ह वै तद्भगवन् मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत' हे भगवन्! वह जो मनुष्यों में मरणपर्यन्त ओंकार का ध्यान करता है। मरणपर्यन्त ध्यान एवं उपासना करने का तात्पर्य है–जबतक ब्रह्मज्ञान नहीं होता, तबतक उपासना करना, क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान होजाने पर फिर उपासना का प्रयोजन नहीं रहता। इसलिये ब्रह्मज्ञान होनेतक सत्कारपूर्वक निरन्तर निदिध्यासन का अभ्यास करते रहना अपेक्षित होता है ॥१२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, निदिध्यासन का निरन्तर अभ्यास करने से ज्ञान हो-जाने पर क्या होता है? आचार्य ने बताया—

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥१३॥

[तदधिगमे] उसका ज्ञान होजाने पर [उत्तरपूर्वाघयोः] अगले पिछले पापों का [अश्लेषविनाशौ] अश्लेष–न लगना और विनाश [तद्व्यपदेशात्] उसके कथन से। पर-ब्रह्म का ज्ञान होजाने पर अगले पापों का न लगना और पिछले पापों का विनाश होजाता है, क्योंकि अध्यात्मशास्त्रों में ऐसा बताया गया है।

जब निदिध्यासन के निरन्तर अभ्यास से परब्रह्म का साक्षात्कार होजाता है. तब अगले पापों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। ब्रह्मज्ञान से मोक्ष होजाने पर कोई पाप किये जाने की संभावना नहीं रहती, फिर उससे सम्बन्ध कैसा ? इसलिये पाप से अश्लेष–असम्बन्ध कहा गया। पिछले पाप ज्ञानरूप अग्नि से दग्ध होजाते हैं। इन दोनों बातों को शास्त्र में बताया है। छान्दोग्य उपनिषद् [४।१४।३] में कथन है–'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' जैसे कमल के पत्ते पर जल नहीं लगता, ऐसे ब्रह्मज्ञानी को पाप नहीं लगता। यहां ज्ञानी का अगले पाप के साथ असंबन्ध बताया है। बृहदारण्यक [४।४।२३] में कहा–'तस्यैव स्यात्पदवित्, तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन' ब्रह्म के पद को जानना चाहिये, उसको जानकर पाप कर्म के साथ सम्बन्ध नहीं होता। पिछले पाप के विनाश के विषय में छान्दोग्य [५।२४।३] का कथन है–'तद् यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' जैसे सींक के ऊपर का रुई समान फूल आग में डालते ही जल जाता है, ऐसे इस ब्रह्मज्ञानी के सब पाप नष्ट होजाते हैं। इसीप्रकार मनुस्मृति [११।२४६] में बताया–'यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात् : तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित्' जैसे अग्नि अपने तेज से प्राप्त हुए ईंधन को क्षण में जला देता है; ऐसे वेदज्ञ ब्रह्मज्ञानी उपासक ज्ञानाग्नि से सब पापों को जला डालता है। श्लोक में 'वेदवित्' के स्थान पर कहीं 'ब्रह्मवित्' पाठ स्पष्ट उपलब्ध होता है। फलत. ब्रह्मज्ञान से अगले पाप के साथ असम्बन्ध और पिछले पापों का नाश होजाता है ॥१३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, ब्रह्मज्ञानी के पाप के विषय में अश्लेष विनाश कहे; क्या उसके पुण्य की भी यही गति होती है ? आचार्य सूत्रकार ने कहा—

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥१४॥

[इतरस्य] अन्य का–पाप से अन्य पुण्य का [अपि] भी [एवं] इसप्रकार [असंश्लेषः] संश्लेष–संबन्ध नहीं [पाते] शरीरपात होने पर [तु] तो। प्रारब्धभोग के अनन्तर देह छूट जाने पर ब्रह्मज्ञानी का पाप के समान पुण्य से भी सम्बन्ध नहीं रहता।

पाप-पुण्य कर्म सांसारिक दुःख-सुख के जनक होते हैं। ब्रह्मज्ञान होने पर उपासक आत्मा मोक्ष प्राप्त करलेता है, वहां सांसारिक दुःख-सुख पाने का कोई अवसर नहीं रहता। शास्त्रकारों ने इसलिये पाप पुण्य दोनों का असंबन्ध ब्रह्मज्ञानी से बताया है। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।२२] में कहा–'उभे उ हैवैष एते तरति' यह ब्रह्मज्ञानी इन दोनों [पाप-पुण्य] को तरजाता है। कृत-अकृत किसी तरह के पाप-पुण्य का संबन्ध ब्रह्मज्ञानी से नहीं रहता। मुण्डक उपनिषद् [२।२।८] में कहा–'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' उस सर्वान्तर्यामी परब्रह्म का साक्षात्कार होजाने पर इस उपासक के समस्त कर्म क्षीण होजाते हैं। मुण्डक [३।१।३] में अन्यत्र कहा–'तदा विद्वान् पुण्य-

पापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' तब ब्रह्मज्ञानी पुण्य-पाप दोनों का उच्छेद कर निर्बाध ब्रह्म की समता को प्राप्त होता है। ब्रह्मानन्द को पालेता है।

जिस देह में रहते उपासक को ब्रह्मज्ञान होता है, वह देह ज्ञान होजाने पर उस समय तक बना रहता है, जब तक प्रारब्धकर्मों का भोगद्वारा क्षय नहीं होजाता। तात्पर्य यह, कि ज्ञानाग्नि से प्रारब्धकर्मों का क्षय नहीं होता, केवल सञ्चित कर्मों का होता है। ज्ञान होने पर भी भोग के लिये प्रारब्ध पुण्य-पाप का सम्बन्ध ज्ञानी से बना रहता है। उस काल में अन्य किये गये कर्म दग्धबीज के समान फलोत्पादक नहीं होते। इसलिये सूत्र में 'पाते' पद दिया है। शरीर का पतन होजाने पर अर्थात् प्रारब्धभोग के अनन्तर देह छूट जाने पर पाप-पुण्य का असंश्लेष होता है ॥१४॥

इसी तात्पर्य को स्पष्ट करने के लिये सूत्रकार ने अगला सूत्र कहा—

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥१५॥

[अनारब्धकार्ये] जिन्होंने कार्य का आरम्भ नहीं किया ऐसे पाप-पुण्य, दोनों [एव] ही [तु] तो [पूर्वे] पहले [तदवधेः] उनकी अवधि से। अनारब्धकार्य पहले कर्मों–पाप-पुण्य दोनों–का ही तो ज्ञान से नाश होता है, क्योंकि उन कर्मों की वही अवधि–सीमा है।

कर्म तीन प्रकार के माने जाते हैं–प्रारब्ध, क्रियमाण, सञ्चित। प्रारब्ध वे कर्म हैं, जिनको भोगने के लिये आत्मा को कोई एक देह प्राप्त हुआ है, जिन कर्मों का फल उस देह के जीवनकाल में भोग लेना है। क्रियमाण वे कर्म हैं, जो इस वर्त्तमान जीवनकाल में किये जाते हैं, उसमें कुछ ऐसे होते हैं, जो प्रारब्धकर्मों के फल भोगने में सहयोगी हैं, उनका फल प्रारब्ध कर्मों के साथ भोग लिया जाता है; कुछ ऐसे होते हैं, जिनका फल उस जीवनकाल में नहीं भोगा जाना, वे सञ्चित कर्मों की राशि में जापड़ते हैं। सञ्चित कर्म–पहले व वर्त्तमान जीवन में किये गये–वे हैं, जिनका फल वर्त्तमान जीवन में नहीं भोगा जाना। ऐसे पापपुण्य कर्मों को सूत्र में 'अनारब्धकार्य' कहा है, जिनको भोगने का कार्य अभी प्रारम्भ नहीं हुआ। उसी जीवनकाल में ब्रह्मज्ञान होजाने पर उस ज्ञानाग्नि से ऐसे सब सञ्चित कर्मों का नाश होजाता है, प्रारब्ध का नहीं; क्योंकि ब्रह्मज्ञान सञ्चित कर्मों की अवधि–सीमा है। जबतक ज्ञान न हो सञ्चित कर्म बने रहते हैं, ज्ञान होने पर उनका नाश होजाता है। प्रारब्धकर्मों का क्षय भोगद्वारा ही होता है, उनको भोगने के लिये उस अवस्था में जो अन्य कर्म किये जाते हैं, वे केवल प्रारब्धकर्मों के फल भोगवाने में सहायक होते हैं, स्वयं दग्धबीज के समान उनमें फलोत्पादन की अक्षमता रहती है। इसलिये भोगद्वारा जब प्रारब्धकर्मों का क्षय हो देह छूट जाता है, तब आत्मा मोक्ष पाजाता है। इसी अर्थ को छान्दोग्य उपनिषद् [६।१४।१] में कहा–'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' उस ब्रह्मज्ञानी को मोक्ष पाने में इतना ही विलम्ब रहता है,

जबतक वह देह से छूट जाता; उसके अनन्तर मोक्ष पालेता है ।।१५।।

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि अनारब्धकार्य [सञ्चित] पुण्य-पाप दोनों का ज्ञानाग्नि से नाश होजाता है, तो अग्निहोत्र आदि शुभ आश्रमकर्मों को कौन करना चाहेगा ? फिर इनका विधान क्यों किया गया ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ।।१६।।

[अग्निहोत्रादि] अग्निहोत्र आदि [तु] तो [तत्कार्याय] उस कार्य के लिये [एव] ही [तद्दर्शनात्] उसके देखे जाने से। शास्त्र में वह देखे जाने से निश्चय है, कि अग्निहोत्र आदि पुण्य कर्म तो उस ज्ञानरूप कार्य के लिये ही होते हैं।

अग्निहोत्र आदि आश्रमकर्मों का नाश ज्ञान से नहीं होता, क्योंकि ये कर्म ज्ञानोत्पत्ति के लिये ही किये जाते हैं। इन कर्मों के अनुष्ठान से जब ज्ञान उत्पन्न होगया, तो इन कर्मों का फल प्राप्त होगया, तब इनका ज्ञानद्वारा नाश होने का प्रश्न ही नहीं उठता, न इनका परस्पर कोई विरोध है, क्योंकि अग्निहोत्रादि कर्म तो ज्ञान का प्रयोजक है। इस तथ्य को शास्त्र में स्पष्ट बताया है–'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' [बृ० ४।४।२२] उस परब्रह्म परमात्मा को ब्राह्मण वेदाध्ययन, यज्ञ, दान तथा अनाशक तप से जानना चाहते हैं; इत्यादि वाक्यों में अग्निहोत्र आदि निष्काम नित्यकर्मों को ज्ञान का साधन बताया गया है। इनका मुख्यफल अन्तःकरण की शुद्धिद्वारा ज्ञान की उत्पत्ति है। स्वर्ग आदि फल काम्य कर्मों का माना जाता है। इसलिये जब ज्ञान उत्पन्न होगया, तो इन कर्मों का फल मिल गया। ज्ञान से इनके नाश का अवसर ही नहीं आता ।।१६।।

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि अग्निहोत्र आदि कर्मों का फल ज्ञान है, उससे इन कर्मों के नाश का अवसर नहीं; तो वे और कौनसे पुण्यकर्म हैं, जिनका नाश ज्ञान से होता है ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ।।१७।।

[अतः] इससे–अग्निहोत्र आदि निष्काम कर्म से [अन्या] अन्य [अपि] भी [हि] क्योंकि [एकेषां] एक वाजसनेयिशाखावालों के [उभयोः] दोनों के पाठ से। अग्निहोत्र आदि से अन्य भी ऐसी साधुकृत्या (शुभ कार्य) हैं, क्योंकि एक शाखावालों ने शुभ-अशुभ दोनों को पढ़ा है।

शास्त्रों में आश्रम-कर्म दो प्रकार के माने गये हैं, एक काम्य कर्म, जो विशेष फल की कामना से किये जाते हैं। दूसरे निष्काम कर्म नित्य अग्निहोत्र आदि अन्तःकरण की शुद्धिद्वारा ज्ञान के साधन होते हैं; जैसा गतसूत्र की व्याख्या में 'तमेतं वेदानुवचनेन' [बृ० ४।४।२२] इत्यादि वाजसनेयिशाखा के वचनानुसार बताया। दूसरे काम्य कर्मों

के विषय में बृहदारण्यक [६।२।१६] में कहा—'अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकान् जयन्ति' और जो यज्ञ दान तथा तप से लोकों को जीतते हैं। वाजपेय, राजसूय, सोमयाग आदि कर्मानुष्ठान विशेष कामनाओं की प्राप्ति के लिये किये जाते हैं। पहले सन्दर्भ में यज्ञ आदि पद निष्काम कर्म के लिये प्रयुक्त हैं, दूसरे में कामनायुक्त कर्मों के लिये। ऐसे काम्य कर्मों का यदि किसी उपासक को अभी फल नहीं मिला, और उसे ज्ञान होगया है, तो अन्य सञ्चित कर्मों की राशि में पड़े इन कर्मों का ज्ञानाग्नि से अन्य सबके साथ दाह होजाता है। बृहदारण्यक के उक्त [४।४।२२] सन्दर्भ में वाक्य है—'उभे उ हैवैष एते तरति' यह ब्रह्मज्ञानी दोनों पाप-पुण्य को पार करजाता है। ज्ञान होजाने पर सञ्चित पाप-पुण्य फलोत्पादक नहीं रहते। मुण्डक उपनिषद् [३।१।३] में कहा—'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय' तब ज्ञानी पुण्य-पाप दोनों का उच्छेद कर, इत्यादि वचनों में पापकर्म के साथ सकाम पुण्यकर्मों का नाश ज्ञान से बताया है। इसीके अनुसार कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् [१।४] में 'तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते' तब सुकृत दुष्कृत दोनों का नाश होजाता है, कहा। तात्पर्य यह, कि जहां अध्यात्मशास्त्रों में ज्ञान से पुण्य का नाश कहा है, वहां सर्वत्र काम्यकर्मजनित पुण्य अभिप्रेत है ॥१७॥

अग्निहोत्र आदि निष्काम नित्यकर्म ज्ञान के साधन हैं, इस निर्णय की पृष्ठभूमि में शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या केवल इन कर्मों से ज्ञान होजाता है, अथवा उपासना उसके लिये अपेक्षित है? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

यदेव विद्ययेति हि ॥१८॥

[यत्] जो [एव] ही [विद्यया] विद्या से [इति] ऐसा [हि] क्योंकि। क्योंकि शास्त्रकार 'यदेव विद्यया' ऐसा पढ़ते हैं, इसलिये विद्या—उपासना का किया जाना आवश्यक है।

छान्दोग्य उपनिषद् [१।१।१०] में कहा है—'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' प्रसंग है, वे दोनों कर्म करते हैं—जो 'ओम्' के यथार्थ रहस्य को जानता है वह भी, और जो नहीं जानता वह भी। कर्मफल दोनों को समान होना है, फिर जानना व्यर्थ है। यद्यपि उपासना और कर्म भिन्न हैं, तब उपासनासहित कर्म चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञान का उत्पादक है, अथवा उपासनारहित भी? समझाया, काम्य और निष्काम दोनों प्रकार के कर्म चित्तशुद्धि आदि में उपकारक हैं। पर जो कर्म श्रद्धापूर्वक योगविधि के अनुसार उपासनासहित किया जाता है, वही अधिक वीर्यवान् होता है। अभिलषित फल के उत्पादन में शीघ्र समर्थ होता है। उक्त सन्दर्भ में दोनों का सन्तुलन यह प्रकट करता है, कि उपासनारहित कर्म भी चित्तशुद्धि आदि में साधारण उपकारक होता है। वह शुभकर्म है, और ऐसी प्रवृत्ति कल्याणमार्ग की ओर कर्त्ता को उन्मुख रखती है। इस दिशा में निष्काम कर्म अधिक उपकारक होता है, पर केवल

कर्मद्वारा ज्ञान का प्रादुर्भाव नहीं होता, उपासनासहित कर्म इसके लिये सक्षम माना गया है। इसमें 'ओम्' की उपासना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। फलतः जो चाहता है, कि शीघ्र ज्ञान होजाये, उसे शास्त्रविधि के अनुसार उपासनासहित कर्म का अनुष्ठान आवश्यक है ॥१८॥

अनारब्धकार्य अर्थात् सञ्चित कर्मों का ज्ञानद्वारा नाश निरूपण कर आचार्य सूत्रकार आरब्धकार्य–अर्थात् प्रारब्धकर्मों का नाश भोगद्वारा बताता है—

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते ॥१६॥

[भोगेन] भोग से [तु] तो [इतरे] दूसरे–प्रारब्ध पुण्य-पाप को [क्षपयित्वा] दूरकर–हटाकर–उच्छिन्न कर [सम्पद्यते] प्राप्त होजाता है। प्रारब्ध पाप-पुण्य को तो भोग से उच्छिन्न कर ब्रह्म को प्राप्त होजाता है।

अनारब्धकार्य [सञ्चित] सुकृत-दुष्कृत का नाश ब्रह्मज्ञान से होजाता है, यह गत पन्द्रहवें सूत्र में कहदिया है। ब्रह्मज्ञान के अनन्तर कियेगये कर्मों का संस्पर्श ज्ञानी को नहीं होता, इसलिये उसके नाश का प्रश्न नहीं। प्रारब्धकर्मों का क्षय भोग के द्वारा होता है। जब प्रारब्धकर्म भोगे जाकर क्षीण होजाते है, तब देह का पतन होजाता है, आगे देह न मिलकर वह आत्मा मोक्ष को प्राप्त होजाता है। छान्दोग्य उपनिषद् [६।१४।२] में कहा–'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' उसको उतनी ही देर है, जब तक वह देह से नहीं छूटता, अनन्तर मोक्ष को प्राप्त होजाता है। ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही ज्ञानी मोक्ष को नहीं पाता, शेष प्रारब्धकर्मों को भोगने तक चालू देह बना रहता है। भोग पूरा होजाने पर देह को छोड़ ज्ञानी ब्रह्म को प्राप्त होजाता है ॥१६॥

इति चतुर्थाऽध्यायस्य प्रथमः पादः।

अथ चतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः।

प्रथम पाद में ज्ञान के साधन कर्म और उपासना, ज्ञान के फल सञ्चित कर्मों का नाश तथा भोग से प्रारब्धकर्मों के क्षय का निरूपण किया गया। देहपात के अनन्तर आत्मा की लोकान्तर के लिये उत्क्रान्ति होजाती है। चालू पाद में इसीका विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। मृत्यु के समय धीरे-धीरे इन्द्रियां अपना कार्य छोड़ती जाती हैं, तब देह को छोड़ इस इन्द्रिय परिवार के साथ आत्मा उड़ जाता है। इस सब विवेचन के लिये प्रथम वागिन्द्रिय का लय बताया—

वाङ् मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥१॥

[वाक्] वाणी [मनसि] मन में [दर्शनात्] देखे जाने से [शब्दात्] शब्द से [च] और। मरनेवाले पुरुष की वाणी मन में लीन होजाती है, क्योंकि तब वाणी के व्यापार का अभाव देखा जाता है, और यह शब्दप्रमाण से जाना जाता है।

जब मानव का मृत्युकाल समीप आता और आत्मा देह से निकलनेवाला होता है, उस समय सबसे पहले वाणी का व्यापार बन्द होजाता है। वह कहना चाहता है, पर कह नहीं सकता, यह स्पष्ट देखा जाता है। इसी स्थिति को कहा गया, कि उस समय वाणी मन में चली जाती अथवा लीन होजाती है। शब्द से यह तथ्य प्रमाणित होता है। छान्दोग्य [६।८।६] में कहा–'अस्य सोम्य ! पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते' उद्दालक आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहरहा है–हे सोम्य ! जब यह पुरुष मरने को होता है, इसकी वाणी मन में चली जाती है। बोलने की चाहना रहते हुए भी यह बोल नहीं सकता ॥१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, वागिन्द्रिय के मन में चलेजाने पर अन्य इन्द्रियों का क्या होता है ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अत एव च सर्वाण्यनु ॥२॥

[अतः] इससे [एव] ही [च] और [सर्वाणि] सब [अनु] पीछे। पूर्वोक्त हेतु से ही और सब इन्द्रियां वाणी के पीछे चली जाती हैं।

मृत्युकाल में जब वाणी का व्यापार बन्द होजाता है, तो अन्य सब चक्षु आदि इन्द्रियां वाणी का अनुसरण करती हैं; उनके भी बाह्यव्यापार बन्द होजाते हैं। इसी स्थिति को चक्षु आदि का मन में लीन होना कहा जाता है। सूत्र के 'अतः' पद से गतसूत्र के दोनों हेतुओं का यहां आकर्षण है। मृत्यु के समय इन्द्रियों के सब बाह्य व्यापार बन्द होजाते हैं; इसे प्रत्येक समीपवर्त्ती व्यक्ति स्पष्टरूप से देखता है। तथा यह अर्थ शब्द से भी प्रमाणित होता है। प्रश्न उपनिषद् [३।९] में बताया–'तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः' जब अन्तिम श्वास बाहर निकल जाता है, उस कारण से ठण्डे हुए तेजवाला वह आत्मा, मन में लीन होते हुए इन्द्रियों के साथ पुनः जन्म को प्राप्त होता है। यहां मन में इन्द्रियों की सम्पत्ति [लय] का स्पष्ट निर्देश है। चालू देह में व्यापार को छोड़ देना ही–इन्द्रियों का मन में लय होना–कहा गया है ॥२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जिस मन में सब इन्द्रियों का लय होजाता है, उस मन का लय कहां होता है ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥३॥

[तत्] वह [मनः] मन [प्राणे] प्राण में [उत्तरात्] उत्तर से–अगले से। अगले वाक्य से ज्ञात होता है, उस मन का लय प्राण में हो जाता है।

छान्दोग्य [६।८।६] के जिस सन्दर्भ में कहा है–'वाङ् मनसि सम्पद्यते' वहीं अगले वाक्य में कहा है–'मनः प्राणे' मन प्राण में चला जाता है। यहां प्राण' पद मुख्यप्राण अथवा श्रेष्ठप्राण का बोधक है, जिसका वर्णन द्वितीय अध्याय के चतुर्थ पाद में विस्तार के साथ किया गया है। यह मुख्यप्राण बुद्धितत्त्व अथवा महत्तत्व है, जो सर्गक्रम में आद्यकार्य तथा मन आदि का कारण है। जब मृत्युकाल में सब इन्द्रियां और मन अपने व्यापार में शिथिल होजाते हैं, तब भी श्वास आदि की गति एवं हृदयस्पन्दन आदि चेष्टा बनी रहती हैं, यह केवल मुख्यप्राण–बुद्धितत्त्व के यथावस्थ बने रहने का चिह्न है। इसी अवस्था का इस रूप में वर्णन है, कि समस्त इन्द्रियों को अपने अन्दर लेकर मन का प्राण में लय होजाता है ॥३॥

प्राण का लय कहां होता है? इस जिज्ञासा पर आचार्य सूत्रकार ने बताया—

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥४॥

[सः] वह–प्राण [अध्यक्षे] अध्यक्ष–अधिष्ठाता आत्मा में [तदुपगमादिभ्यः] उसके–अध्यक्ष के उपगम आदि से। प्राण का लय आत्मा में होजाता है, यह आत्मा के उपगम आदि से ज्ञात होता है।

सूत्र में 'उपगम' पद का अर्थ है–समीप पहुंचना अर्थात् प्राप्ति। सूत्र के 'आदि' पद से अनुगमन और अवस्थान का ग्रहण होता है। अनुगमन–पीछे चल देना, और अवस्थान–उस दशा में स्थित रहना। प्राण का आत्मा में लय होजाता है, इसका तात्पर्य है कि उसका सम्बन्ध देह से छूट गया है और वह आत्मा के समीप आगया है। देह से छूटना तभी है, जब आत्मा देह से उत्क्रमण कर गया है, उड़ारी मारगया है, अब प्राण-तत्त्व–बुद्धितत्त्व का समस्त करणों को अपने में समेटकर केवल आत्मा के साथ सम्पर्क रहगया है। आत्मा के देह छोड़ते ही प्राण ने इसरूप में उसका अनुगमन किया है, और उस दशा में अवस्थित रहता है। इस सब अर्थ को बृहदारण्यक उपनिषद् [४।३।३८] में कहा–जैसे कोई राजा जब यात्रा के लिये जाने लगता है, तो सब पारिवारिक जन–जो अबतक अपने कामों में लगे हुए थे, उन्हें छोड़कर–राजा के चारों ओर आघिरते हैं; ऐसे ही अन्तकाल में–जब सांस ऊपर को उखड़ने लगता है–सब प्राण आत्मा के पास आजाते हैं–एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति'। यह सूत्र के 'उपगम' हेतु का विवरण है। इसीप्रकार अनुगमन के विषय में कहा–'एष आत्मा निष्क्रामति······शरीरदेशेभ्यः, तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' [बृ० ४।४।२] यह आत्मा शरीरदेशों से निकल जाता है, तब मुख्यप्राण उसके साथ होलेता है, उसके उखड़ते ही सब प्राण उसके पीछे होलेते हैं। इससे

मुख्यप्राण का अध्यक्ष आत्मा में लय स्पष्ट होता है। आगे कहा—'सविज्ञानो भवति' वह आत्मा सब करण और कृतकर्मों के सहित रहता है। यह अवस्थान का निर्देश है।

सूत्रद्वारा प्राण का लय अध्यक्ष आत्मा में बताया, परन्तु छान्दोग्य [६।८।६] में कहा—'प्राणस्तेजसि' प्राण का लय तेज में होता है; इन कथनों में किसी विरोध की आशंका नहीं करनी चाहिये। कारण यह है, कि उत्क्रमण आदि कार्य में अध्यक्ष—आत्मा का ही प्राधान्य रहता है; आत्मा के रहते प्राण देह में रहते हैं, आत्मा के निकलते निकल जाते हैं, तथा उसके साथ इनकी अवस्थिति रहती है। इस विशेषता के कारण बृहदारण्यक [४।४।२] द्वारा आत्मा में प्राणों के चले जाने का वर्णन है; उसकी उपेक्षा नहीं कीजासकती ॥४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, तब 'प्राणस्तेजसि' इस छान्दोग्य [६।८।६] वाक्य का क्या सामञ्जस्य होगा ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥५॥

[भूतेषु] भूतों में [तच्छ्रुतेः] उसकी श्रुति से। उस विषय के शास्त्रवाक्य से ज्ञात होता है, कि प्राणसंयुक्त आत्मा तब भूतों में अवस्थित रहता है।

देह से आत्मा का प्राणसहित उत्क्रमण निराधार नहीं होता, एक अन्य आतिवाहिक शरीर के कारणरूप सूक्ष्मभूतों में अवस्थित—संवेष्टित हुआ वह स्थूल देह से उत्क्रमण करता है। इसी अर्थ को 'प्राणस्तेजसि' [छा० ६।८।६] वाक्यद्वारा प्रकट किया गया है। इस वाक्य में 'प्राण' पद प्राणसहित अध्यक्ष आत्मा का निर्देश करता है। इसलिये गतसूत्र के साथ इसका कोई असांगत्य नहीं है। तथा यह भी स्पष्ट होजाता है, कि स्थूल शरीर को छोड़ते समय प्राणसहित आत्मा किस आधार के सहारे उत्क्रमण करता है।

समस्त सर्गकाल में आत्मा सशरीर रहता है, जबकि प्रिय और अप्रिय के संपर्क से छुटकारा नहीं होता—'न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' [छा० ८।१२।१] स्थूलशरीर के छूटजाने पर भी आत्मा सूक्ष्मशरीर से सदा आवेष्टित बना रहता है। साधारण दशा में केवल प्रलयकाल आनेपर अथवा ब्रह्मज्ञान होजाने पर आत्मा शरीरबन्धन से अलग होता है, जब उसको प्रिय और अप्रिय का संस्पर्श नहीं रहता। स्थूलशरीर में रहते सूक्ष्मशरीर का आवेष्टन बना ही रहता है। इसप्रकार मृत्युकाल में स्थूलदेह छूटने पर जिन भूतों में समवस्थित आत्मा उत्क्रमण करता है, वह सूक्ष्मभूत-परिणत सूक्ष्मशरीर है, जिसे 'कारणशरीर' भी कहा जाता है। उसीमें तेरह करण [दस बाह्य[1] और तीन अन्तःकरण] आश्रित हो अवस्थित

---

१. पांच कर्मेन्द्रिय पांच ज्ञानेन्द्रिय बाह्यकरण हैं, मन अहंकार और बुद्धि अन्तःकरण हैं। कहीं अहंकार और बुद्धि को एक मान बारह करणों का उल्लेख है। ये सब करण 'प्राण' कहे जाते हैं। इनमें 'बुद्धि' मुख्यप्राण अथवा श्रेष्ठप्राण माना जाता है।

रहते है। यह अठारह तत्त्वों से घटित सूक्ष्मदेह आत्मा का सर्गकालिक आवेष्टन है, और स्थूलदेह से उत्क्रमण का आधार। स्थूलदेह कर्मानुष्ठान और भोग का आश्रय है, ज्ञानलाभ इसी देह में रहते होता है। इस विवेचन के अनुसार 'प्राणस्तेजसि' वाक्य में 'तेजस्' पद अन्य भूतों का उपलक्षण है। उसीका प्रस्तुत सूत्र में निर्देश हुआ है ॥५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जब शास्त्र में 'प्राणस्तेजसि' यह एक 'तेजस्' भूत का स्पष्ट निर्देश है, तो उसीमें अवस्थित आत्मा का उत्क्रमण क्यों नहीं माना जाता ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॥६॥

[न] नहीं [एकस्मिन्] एक में [दर्शयतः] दोनों दिखलाती हैं [हि] क्योंकि। उत्क्रमण दशा में आत्मा एक तेजस् भूत में अवस्थित नहीं रहता, क्योंकि श्रुति और स्मृति दोनों यह दिखाती हैं।

मृत्युकाल में स्थूलदेह छूटने पर वाक् आदि बुद्धिपर्यन्त समस्त प्राणपरिवार के सहित आत्मा पांचों भूतों में अवस्थित रहकर उत्क्रमण करता है, एक में नहीं; इस तथ्य को बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।५] में इसप्रकार प्रकट किया है—स वा अयमात्मा··· पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः' जब पुराने देह को छोड़कर नवीन कल्याणतर देह को प्राप्त होनेवाला होता है, तब यह आत्मा पृथिवीमय जलमय वायुमय आकाशमय तेजोमय रहता है। यहां मरणसमय समस्त भूतों में जीवात्मा की अवस्थिति बतलाई है। पञ्चसूक्ष्मभूतात्मक कारणशरीर के साथ उपनिषद् में अन्य करणों और विविध भावनाओं के साथ रहने का भी उल्लेख है। ऐसे ही मनुस्मृति [१।२७] में कहा—'अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः। ताभिः सार्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः' पांचों भूतों की विनाशशील सूक्ष्ममात्रा जो बताई गई हैं, उनके साथ यह सब यथाक्रम उत्पन्न होता है। इससे स्पष्ट है, कि 'प्राणस्तेजसि' वाक्य में 'तेजस्' पद से केवल एक भूततत्त्व अभिप्रेत नहीं है, अपितु पांचों भूततत्त्वों का यह उपलक्षण है।

इस प्रसंग में यह स्पष्ट किया गया, कि मृत्यु के अवसर पर किसप्रकार शरीर में शिथिलता आती, चेष्टाएं नष्ट होतीं और किस क्रम से इन्द्रियां अपने व्यापार से धीरे-धीरे विरत होती जाती हैं। सर्वप्रथम वाणी का मन में लय कहा—'वाङ् मनसि सम्पद्यते'। 'वाक्' पद सब कर्मेन्द्रियों की ओर संकेत करता है। सबसे पहले कर्मेन्द्रियां अपने व्यापार को छोड़ती हैं, फिर ज्ञानेन्द्रियां। इनका मन में लय होने का यह तात्पर्य नहीं, कि ये कार्यस्वरूप का परित्याग कर मन में लीन होजाती हैं, यह अवस्था तो केवल प्रलय के अवसर पर आती है, जब कार्यमात्र के कारण में लय का प्रसंग होता है। यहां केवल इतना अभिप्रेत है, कि इन्द्रियां अपने व्यापार को छोड़ देती हैं, अभी मन संकल्प-विकल्प आदि के रूप में सक्रिय रहता है। अनन्तर मन अपनी वृत्ति को छोड़ बैठता है, तब केवल

मुख्यप्राण–बुद्धितत्त्व देह छोड़ने की भावना से अभिभूत रहता है, तथा देहान्तर की भावना उद्भूत होजाती हैं [गीता ८।६]। इन भावनाओं के साथ सूक्ष्मदेह में आवेष्टित आत्मा पूर्वदेह को छोड़ देहान्तरप्राप्ति की कामना से उड़ जाता है। ईश्वरीय व्यवस्था से प्रेरित स्वकर्मानुसार गर्भ में प्रवेश करता है। वहां उपयुक्त आहार पाकर अगले कर्म एवं फलभोग के लिये नवदेह का आरम्भ होजाता है। तब भी आत्मा सूक्ष्मदेह में आवेष्टित रहता है। यथावसर शरीररचना पूर्ण होने पर गर्भ से बाहर आता व पूर्ववत् संसार चालू होजाता है। इसप्रकार मृत्युकाल में इन्द्रिय आदि करण केवल अपने व्यापार को कैसे छोड़ देते हैं, इसी स्थिति को 'लय होना' कहा गया है, वस्तुतः इनका लय सर्गकाल में नहीं होता। यह अवसर सर्गकाल में केवल ब्रह्मज्ञान होजाने पर आता है।

बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य–आर्त्तभागसंवाद में मृत्यु के अवसर पर जब सब करण वाक् आदि कार्यविरत होजाते हैं, तब 'क्वायं तदा पुरुषो भवति' [बृ० ३।२।१३] यह जीवात्मा-पुरुष कहां रहता है, कहकर इसका आश्रय कर्म बताया है–'तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुः। अथ ह यत् प्रशशंसतुः कर्म हैव तत् प्रशशंसतुः' [बृ० ३।२।१३] याज्ञवल्क्य और आर्त्तभाग ने इस विषय में जो कहा, वह कर्म ही कहा है, जो प्रशंसित किया, वह कर्म ही प्रशंसित किया है। यहां मृत्यु के अनन्तर जीवात्मा का आश्रय 'कर्म' कहा है, तब सूक्ष्मदेह आश्रय कैसे? वस्तुतः आत्मा का आश्रय तो सूक्ष्मदेह ही रहता है, जैसा अबतक प्रतिपादन किया गया; कर्म जीवात्मा की ऊंच-नीच योनियों में गति का निमित्त है, इसी भावना से उक्त स्थल में कर्म को आश्रय कहा है। अन्यत्र भी कर्मानुसार गति का होना बताया है–'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' [बृ० ३।२।१३] तथा 'तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य' [बृ० ४।४।६] पुण्ययोनि का लाभ पुण्यकर्म से तथा पाप का पाप से होता है। सूक्ष्मदेह में आवेष्टित आत्मा अपने कर्मों के अनुसार वहां जाता है, जहां इसका मन डूबा हुआ है। गीता के एक श्लोक [८।६] में यही भाव है। फलतः जीवात्मा सब वाक् आदि करण और सूक्ष्मभूतों से घटित सूक्ष्मशरीर में आवेष्टित रहता हुआ एक देह को छोड़ देहान्तर में अपने कर्मों के अनुसार जाया करता है, यह स्पष्ट होता है ॥६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, मृत्यु के अवसर पर ऐसी गति क्या केवल उपासक की होती है, अथवा सब की? आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में कहा—

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्त्वं चानुपोष्य ॥७॥

[समाना] समान [च] ही [आसृत्युपक्रमात्] गति के आरम्भ तक [अमृतत्त्वं] अमरता को [च] क्योंकि [अनुपोष्य] अशरीर होकर। देह से निकलकर कर्मानुसार गति आरम्भ होने से पहले तक ज्ञानी और अज्ञानी की स्थिति मरणकाल में समान रहती है, क्योंकि ज्ञानी आगे अशरीर होकर अमरत्व को प्राप्त होता है।

सूत्र में पहला 'च' अवधारण और दूसरा हेतु अर्थ में है। 'अनुपोष्य' पद 'उपोष्य' के साथ नञ्समास कर बनता है। 'उपोष्य' पद निवासार्थक 'वस्' धातु से बना है। अर्थ है–समीप बसकर। आत्मा सूक्ष्मदेह के समीप बसकर सदा गति करता है, परन्तु ब्रह्म का साक्षात्कार होजाने पर जब उसके स्थूलदेह के परित्याग का अवसर आता है, तब सूक्ष्मदेह भी छूट जाता है। इसीभाव को सूत्र के 'अनुपोष्य' पद से कहा है–देह के समीप न बसकर ज्ञानी अमृतत्त्व को प्राप्त होजाता है। मृत्युकाल में जब इन्द्रियां धीरे-धीरे अपने व्यापार से विरत होकर उपसंहृत होने लगती हैं, और मस्तिष्कगत हृदयदेश में आत्मा के साथ पूर्णरूप से सिमट आती हैं, यहां तक ज्ञानी और अज्ञानी की स्थिति सर्वथा समान रहती है। अनन्तर देह से आत्मा के उत्क्रान्त होने पर अज्ञानी तो सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित हुआ कर्मानुसार देहान्तरप्राप्ति के लिये विविध योनियों में चला जाता है; पर ज्ञानी आत्मा अशरीर होकर अमृतभाव को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होजाता है। स्थूलदेह के समान उसका सूक्ष्मशरीर भी छूट जाता है, वह तब ब्रह्मानन्द में लीन होजाता है। ब्रह्मसाक्षात्कार से उद्भूत अपने स्वाभाविक सामर्थ्य के द्वारा वह उस दशा में ब्रह्मानन्द का अनुभव किया करता है, वहां उसे किसी करण व अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होती। इसलिये देह से निकलने पर ज्ञानी और अज्ञानी की गति में भेद होजाता है। इसी भाव को कठ उपनिषद् [२।३।१६] में प्रकट किया–'शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' सौ और एक हृदय की नाड़ियां हैं, उनमें से मूर्धा की ओर निकली हुई है एक सुषुम्ना। उसके द्वारा देह से बाहर आता हुआ अमरता [मोक्ष] को प्राप्त होता है। यह ज्ञानी की उत्क्रान्ति सुषुम्ना से बताई गई है, तथा अज्ञानियों की उत्क्रान्ति का कथन अन्य नाड़ियों से है–'विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' नानाप्रकार की गतिवाली अन्य नाड़ियां अज्ञानियों के उत्क्रमण में होती हैं। अज्ञानियों की कर्मानुसार विविध गति होती हैं, वहां सुषुम्ना से अतिरिक्त अन्य नाड़ियों द्वारा अज्ञानियों का देह से बाहर निकलना होता है। इसप्रकार करणों के उपसंहार तक ज्ञानी-अज्ञानी दोनों की समान गति है। अनन्तर ज्ञानी मोक्ष को पाता है, सब प्रकार के देहबन्धनों से उन्मुक्त होजाता है; अज्ञानी कर्मानुसार सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित विविध योनियों को प्राप्त होजाते हैं ॥७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, इन्द्रिय मन बुद्धि और सूक्ष्मभूतों के समुदाय से घटित सूक्ष्मशरीररूप आवेष्टन आत्मा के साथ कबतक रहता है? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥८॥

[तत्] वह [आ-अपीतेः] प्रलय तक अथवा ब्रह्मलय तक [संसारव्यपदेशात्] संसार के कथन से। वह सूक्ष्मशरीर अज्ञानियों का प्रलय तक और ज्ञानियों का ब्रह्मप्राप्ति तक रहता है, क्योंकि संसारदशा उसीको कहा जाता है।

स्थूलदेह जन्म-मरण के साथ बदलता रहता है, पर जिस सूक्ष्मशरीर का संपर्क सर्गादिकाल से जिस आत्मा के साथ होता है, वह समस्त सर्गकाल में आगे प्रलय आने तक बना रहता है। यदि किसी आत्मा को चालू सर्गकाल में ब्रह्मसाक्षात्कार होजाता है, तो जिस स्थूलदेह में साक्षात्कार होता है, उसके छूटने तक सूक्ष्मशरीर का सम्बन्ध बना रहता है; प्रारब्धकर्म भोगे जाने पर जब ब्रह्मज्ञानी का स्थूलदेह छूटता है, सूक्ष्म-शरीर भी छूट जाता है। अज्ञानियों के सूक्ष्मशरीर के घटकतत्त्व जगत् का प्रलयकाल आने पर अपने कारण में लीन होजाते हैं. तब आत्मा के साथ किसीतरह के शरीर का संपर्क नहीं रहता। ब्रह्मज्ञानी के लिये यह दशा सर्गकाल के अन्तराल में ही आजाती है। ब्रह्मज्ञान होने के अनन्तर जब स्थूलदेह छूटता है, तब सूक्ष्मशरीर उसके लिये अनावश्यक होजाता है, उसकी संसारदशा समाप्त होजाती है, सूक्ष्मशरीर के घटकतत्त्व अपने कारणों में लीन होजाते हैं। संसार उसी स्थिति का नाम है, जब आत्मा वैषयिक सुख-दुःख का अनुभव करता है, और यह क्रम निरन्तर चालू रहता है। यह सब आत्मा के साथ देह का संपर्क बने रहने पर संभव होता है। इसलिये देहसम्बन्ध ही संसार है। यह प्रलय एवं मोक्षदशा में नहीं रहता। शेषकाल में सूक्ष्मशरीर का आवेष्टन आत्मा के साथ बना रहता है ॥८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि स्थूलदेह के छूटने पर सूक्ष्मशरीर-आवेष्टन आत्मा के साथ बना रहता है, तो वह देह से सञ्चरण करते दीखता क्यों नहीं ? तथा अन्य वस्तुओं से टकराता क्यों नहीं ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥६॥

[सूक्ष्मं] सूक्ष्म [प्रमाणतः] प्रमाण से [च] और [तथा] उस प्रकार [उप-लब्धेः] उपलब्धि से। और वह शरीर जो प्रलयपर्यन्त बना रहता है अतिसूक्ष्म होता है, क्योंकि प्रमाण से वह वैसा जाना जाता है।

सूक्ष्मशररीर के घटकतत्त्व अतीन्द्रिय होने से वह शरीर अतीन्द्रिय रहता है। इसीकारण देह से बाहर निकलने अथवा सञ्चरण करते हुए वह किसी इन्द्रिय से जाना नहीं जाता। वह अतिस्वच्छ स्वभाव रहता है, इसलिये उसका किसी अन्य मूर्त्तद्रव्य से टकराव होजाने की कोई संभावना नहीं। उसके ऐसे स्वरूप की जानकारी अनुमान आदि प्रमाणों से होती है। शब्दप्रमाण से ज्ञात होता है, कि आत्मा का आश्रय यह सूक्ष्मशरीर बहुत सूक्ष्म नाड़ियों, चक्षु श्रोत्र आदि तथा शरीर के अन्य देशों से बाहर निकल जाता है, 'विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' [कठ० २।३।१६] 'चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' [बृ० ४।४।२] इससे स्पष्ट जाना जाता है, कि आत्मा का आति-वाहिक शरीर अतिसूक्ष्म है, वह न दीखता, न कहीं टकराता है ॥६॥

जीवात्मा के उस आवेष्टन के सूक्ष्म होने के कारण आचार्य सूत्रकार ने उसकी

विशेषता बताई—

नोपमर्दनातः ॥१०॥

[न] नहीं [उपमर्दन] उपमर्द-नाश से [अतः] इसलिये। क्योंकि वह सूक्ष्म है, इसलिये स्थूलदेह के नाश से उसका नाश नहीं होता।

दाह तथा अन्य कारणों से स्थूलशरीर का नाश होजाने पर सूक्ष्मशरीर का नाश नहीं होता, क्योंकि वह सूक्ष्म है। स्थूलदेह के विनाशक आग आदि स्थूलतत्त्वों का सूक्ष्मशरीर पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं होता। इससे उस शरीर का सूक्ष्म होना प्रमाणित होता है ॥१०॥

सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व में सूत्रकार लोकसिद्ध प्रमाण उपस्थित करता है—

अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥११॥

[अस्य] इसकी [एव] ही [च] और [उपपत्तेः] उपपत्ति से–युक्तिद्वारा सिद्धि से [एषः] यह [ऊष्मा] उष्णता–गरमी। स्थूलशरीर को छूने से जो गरमी प्रतीत होती है, यह इस लिङ्गशरीर की है, युक्ति से यह निश्चित होता है।

स्थूलशरीर में इसके छूने से जो उष्णता प्रतीत होती है, वह स्थूलशरीर का धर्म नहीं है। यदि स्थूलशरीर का होता, तो रूप आदि के समान मृतशरीर में भी उपलब्ध होता। जो जिसका धर्म है, वह उसके रहने पर उपलब्ध न हो, यह नहीं होसकता। अन्यथा मृत स्थूलशरीर में रूप आदि की भी उपलब्धि न होनी चाहिये। यह ऊष्मा जीवात्मा का धर्म नहीं; क्योंकि चेतन आत्मा प्राकृत धर्म का आश्रय नहीं होसकता। इससे ज्ञात होता है, कि इन दोनों से अतिरिक्त यह किसी अन्य प्राकृत वस्तु का धर्म है; वह लिङ्गशरीर संभव है। आत्मा इसीसे आवेष्टित हुआ स्थूलशरीर से उत्क्रमण करता है। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।६] में कहा–'तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य' मरणकाल में इस आत्मा का मन जहां आसक्त रहता है भावी योनि में, कर्मानुसार लिङ्गशरीर वहीं चला जाता है। सांख्यदर्शन [३।६] में लिङ्गशरीर अथवा सूक्ष्मशरीर का स्पष्ट वर्णन है। इसका अस्तित्व सब प्रकार सिद्ध है ॥११॥

शिष्य आशंका करता है, गतसूत्र [४।२।८] में जो कहा गया है, कि लिङ्गशरीर आत्मा के साथ जगत् के लयपर्यन्त बना रहता है, यह युक्त प्रतीत नहीं होता; क्योंकि उपनिषद् में प्राणों के उत्क्रमण का निषेध कहा है, जब स्थूलदेह के समान इन्द्रियादि प्राण यहीं छूट जायेंगे, तो उनसे घटित लिङ्गशरीर का आत्मा के साथ प्रलय आनेतक अवस्थित रहना, कैसे संभव होसकता है? आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥१२॥

[प्रतिषेधात्] प्रतिषेध से [इति-चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो वह ठीक) [न] नहीं [शारीरात्] शारीर–जीवात्मा से। उत्क्रमण के प्रतिषेध से यदि कहो, कि लिंग-शरीर आत्मा के साथ प्रलय आनेतक नहीं रहता; तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि वहां प्राणों के उत्क्रमण का प्रतिषेध शारीर अर्थात् आत्मा से किया गया है, शरीर से नहीं।

बृहदारण्यक उपनिषद् [३।२।११] में आता है–'यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात् प्राणाः क्रामन्त्याहो नेति ? नेति होवाच याज्ञवल्क्यः। अत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते' आर्त्तभाग ने याज्ञवल्क्य से पूछा, जब यह पुरुष मररहा होता है, तब इससे प्राणों का उत्क्रमण होता है या नहीं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया–नहीं। यहीं लीन होजाते हैं, वह फूल जाता है भरजाता है, भरा हुआ मरा हुआ सोता है। आत्मा के द्वारा देह छोड़ने के साथ यहां स्पष्ट प्राणों के उत्क्रमण का प्रतिषेध है। जब प्राण आत्मा के साथ उसके आवेष्टनरूप में न जाकर यहीं लीन होजाते हैं, स्थूलदेह के समान, तो आत्मा के साथ प्रलय आनेतक उनका रहना संभव नहीं है।

यदि माना जाय, कि यह कथन ब्रह्मज्ञानी के विषय में है, क्योंकि उसकी लोकान्तर में अन्य उपासकों व कर्मियों की गति के समान गति नहीं होती। ब्रह्मज्ञानी का लिङ्गशरीर स्थूलदेह के साथ यहीं छूट जाता और उसके घटकतत्त्व अपने कारणों में लीन होजाते हैं, आत्मा ब्रह्मानन्द को प्राप्त होजाता है। जैसे बृहदारण्यक के अन्य प्रसंग [४।४।१–६] में उल्लेख है–'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इत्यादि। ऐसा मानना उपयुक्त न होगा; कारण यह है, कि दूसरे प्रसंग [४।४।१–६] में तो स्पष्ट रूप से उपासक व कर्मियों की गति का उल्लेख कर ब्रह्मज्ञानी के विषय में उक्त वाक्य कहा गया है–उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता। पर पहले प्रसंग [३।२।११] में ऐसा कोई निर्देश नहीं है, जिससे यह जाना जासके, कि यह कथन ब्रह्मज्ञानी के विषय में है। इससे सभी आत्माओं के स्थूलदेह छूटने पर प्राणों के उत्क्रमण का प्रतिषेध स्पष्ट होता है। फलतः प्राणपदवाच्य लिंगशरीर आत्मा का स्थूलदेह छूट जाने पर आत्मा के आवेष्टनरूप में उसके साथ चला जाता और प्रलयकाल आनेतक उसके साथ बना रहता है, यह कथन अयुक्त होजाता है।

आचार्य सूत्रकार ने समझाया, ऐसा विचार ठीक नहीं है, कारण यह है, कि उपनिषद् के प्रथम प्रसंग [३।२।११] में देह से प्राणों के उत्क्रमण का प्रतिषेध नहीं है, अपितु शारीर अर्थात् शरीर में निवास करनेवाले आत्मा से प्राणों के उत्क्रमण अर्थात् अलग होजाने का प्रतिषेध है। तात्पर्य यह, कि प्राणपदवाच्य लिंगशरीर का उत्क्रमण स्थूलदेह से तो होजाता है, सम्बन्ध छूट जाता है, परन्तु आत्मा से नहीं छूटता। इसप्रकार यह प्राणसंज्ञक लिंगशरीर का आत्मा से सम्बन्ध छूटने का प्रतिषेध है। क्योंकि वहां प्रश्न

किया गया है, कि जब यह पुरुष मरता है, तो इससे [अस्मात्] प्राणों का उत्क्रमण—अलग होजाना—होता है या नहीं ? यहां पञ्चमी विभक्ति [अस्मात्] पुरुष—आत्मा से प्राणों के अलग होने न होने के विषय में प्रश्न को स्पष्ट करती है। इसीका उत्तर याज्ञवल्क्य ने दिया—मरने पर प्राण आत्मा से उत्क्रमण नहीं करते—आत्मा का साथ नहीं छोड़ते। इसलिये प्राणसंज्ञक लिंगशरीर अथवा सूक्ष्मशरीर आत्मा के आवेष्टन के रूप में उसके साथ प्रलय आनेतक बराबर बना रहता है, इस मन्तव्य में कोई बाधा नहीं है।

यदि उपनिषद् के प्रथम प्रसंग [३।२।११] में प्रकरण के अनुसार यह माना जाय, कि ब्रह्मज्ञानी के लिये यह कहागया है, और उसका तात्पर्य प्राणों के यहीं लय होजाने का है, तो उक्त आशंका के लिये कोई अवसर ही नहीं रहता। ब्रह्मज्ञानी का लिंगशरीर स्थूलशरीर के साथ छूट जाता है, यह ठीक ही है। इस मान्यता को अन्य उपासक व कर्मियों के विषय में नहीं जोड़ा जासकता ॥१२॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त कथन को अन्य प्रसंग से स्पष्ट करते हुए पुष्ट किया—

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥१३॥

[स्पष्टः] स्पष्ट [हि] जैसा कि [एकेषाम्] कईयों का। जैसाकि कई शाखावालों का स्पष्ट कथन है, कि जीवात्मा का शरीर से उत्क्रमण प्राणों के साथ होता है।

कौषीतकिशाखावाले—जीवात्मा का शरीर से उत्क्रमण प्राणों के साथ होता है—यह स्पष्ट कहते हैं—'स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति······सह ह्येतावस्मिञ्छरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' [कौ० ब्रा० उ० ३।४] जब आत्मा शरीर से उत्क्रमण करने लगता है, ये दोनों [आत्मा तथा प्राणसमूह] शरीर में साथ रहते और साथ उत्क्रमण करते हैं। अध्यात्मग्रन्थों के ऐसे प्रसंगों में 'प्राण' पद का प्रयोग इन्द्रियसमूह अथवा करण-समुदाय के लिये हुआ है, यह करणसमुदाय पांच सूक्ष्मभूतों के साथ मिलकर सूक्ष्मशरीर अथवा लिंगशरीर का घटक होता है। इसलिये ऐसे प्रसंगों में 'प्राण' पद वस्तुतः लिंग-शरीर को उपलक्षित करता है। जीवात्मा जब देह को छोड़ता है, तो वह इस लिंगशरीर से आवेष्टित रहता है। न केवल देह छोड़ते समय, अपितु सदा समस्त सर्गकाल में उसकी यही स्थिति रहती है। जीवनकाल में यह स्पष्ट है, कोई सन्देह का अधिक अवकाश नहीं रहता, पर एक देह छोड़ने पर देहान्तरप्राप्ति तक जीवात्मा की स्थिति का निश्चय करने के लिये यह विवेचन है। इससे स्पष्ट होता है, कि आत्मा के साथ लिंगशरीर का सम्बन्ध प्रलयकाल आनेतक बने रहने में कोई बाधा नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् [३।२।११] के प्रसंग में प्राणों के उत्क्रमण का जो प्रतिषेध है, उसका तात्पर्य प्रथम स्पष्ट कर दिया गया है ॥१३॥

उक्त अर्थ को आचार्य सूत्रकार स्मृति से प्रमाणित करता है—

स्मर्यते च ॥१४॥

[स्मर्यते] स्मरण किया जाता है [च] और। सूक्ष्मशरीर के साथ जीवात्मा का उत्क्रमण स्मृतियों में स्वीकार किया गया है।

मनुस्मृति [१।५५-५६] के दो श्लोकों में उक्त अर्थ का वर्णन उपलब्ध होता है–'तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः। न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्त्तितः' यह मृत्युकाल का वर्णन है। इन्द्रियां तो चिरकाल तक बनी रहती हैं, पर वे अपना व्यापार उस अवसर पर छोड़ बैठती हैं; तब यह जीवात्मा बाह्यज्ञान से दूर होजाता है, जिसे श्लोक में कहा, कि वह तमस् का आश्रय कर लेता है। उसीको स्पष्ट किया–वह अपना कोई कार्य नहीं करता; तब स्थूलशरीर से [मूर्त्तितः] उत्क्रमण कर जाता है। किस स्थिति में उत्क्रमण करता है, यह अगले श्लोक में बताया—

यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च।
समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्त्तिं विमुञ्चति॥

'अणुमात्रिक' पद का अर्थ है–अणु मात्राओं–सूक्ष्म भूततत्त्वों से युक्त जीवात्मा। सूक्ष्मभूत समस्त करणसमुदाय को लेकर लिंगशरीर के घटक होते हैं। अणु मात्राओं का प्राचीन आचार्यों ने 'पुर्यष्टक' पद से वर्णन किया है। सनन्द आचार्य का एक सन्दर्भ प्रस्तुत श्लोक की कुल्लूकभट्ट टीका में उद्धृत है–'भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासनाकर्मवायवः। अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्यष्टमृषिसत्तमैः' भूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वासना, कर्म, वायु और अविद्या इन आठ के समुदाय को ऋषियों ने 'पुर्यष्टक' कहा है। इनमें पहले चार मुख्य हैं; शेष चार उन्हीं से होनेवाली अवस्था हैं, जिनका आत्मा से संपर्क रहता है। तात्पर्य यह, कि भूत इन्द्रिय आदि से घटित लिंगशरीर में आवेष्टित आत्मा स्थावर जंगम योनियों में कर्मानुसार प्रवेश कर स्थूलदेह का ग्रहण तथा त्याग किया करता है। गीता [१५।७-८] में इसका उल्लेख है। इसप्रकार प्राण पद से कहे गये लिंगशरीर से आवेष्टित जीवात्मा का स्थूलदेह से उत्क्रमण होता है; यह क्रम प्रलयपर्यन्त बना रहता है। इसलिये आत्मा के साथ सूक्ष्मशरीर की स्थिति गतसूत्र [४।२।८] में जो प्रलय आनेतक बताई है, वह सर्वथा युक्त है॥१४॥

प्रासंगिक विचार को समाप्त कर आचार्य सूत्रकार ने प्रकृत लयक्रम के अवशिष्ट अंश को पूरा किया—

तानि परे तथा ह्याह ॥१५॥

[तानि] वे–वाक् आदि से सम्पन्न भूतसूक्ष्म [परे] परब्रह्म में [तथा] वैसा [हि] क्योंकि [आह] कहता है। वे वागादिसम्पन्न सूक्ष्मभूत परब्रह्म में लीन होजाते हैं, क्योंकि शास्त्र वैसा कहता है।

स्थूलदेह से उत्क्रान्ति के अवसर पर जीवात्मा के सहित वागादियुक्त सूक्ष्मभूत परब्रह्म में लीन होजाते हैं, जैसाकि शास्त्र में कहा–'तेजः परस्यां देवतायाम्' [छा० ६।८।६] तेज परदेवता में सम्पन्न होजाता है। इसी सन्दर्भ के वाक्य 'वाङ् मनसि सम्पद्यते' से मरणकाल में वागादि इन्द्रियों के लय का वर्णन प्रारम्भ कर 'तेजः परस्यां' वाक्य पर पूरा किया है। गतसूत्रों [४।२।१–६] में इसकी उपयुक्त व्याख्या करदी गई है, इस प्रसंग के वाक् मन प्राण तेज आदि पद समस्त करण तथा पांच सूक्ष्मभूत के उपलक्षण हैं, जो सूक्ष्मशरीर अथवा लिंगशरीर के घटक माने गये हैं। इसप्रकार प्रस्तुत सन्दर्भ से निश्चय किया, कि देह से प्रयाणकाल में जीवात्मा लिंगशरीर से आवेष्टित हुआ उत्क्रमण करता है। जीवात्मा के सहित वागादिसम्पन्न सूक्ष्मभूतों का लय जो परब्रह्म में यहां कहा, उसका केवल इतना तात्पर्य है, कि अब यह समस्त समुदाय स्थूलदेह से विच्छिन्न हो कोई वह कार्य नहीं करपाता, जो स्थूलदेह में रहते किये जाते। इस अवस्था को परब्रह्म में इनका लय होना कहा है। समाधि, सुषुप्ति, मोक्ष व प्रलय की अवस्थाओं के यह समान है। उन अवस्थाओं में स्थूलदेहसम्पादनीय कोई कार्य जैसे संभव नहीं, ऐसे ही इस प्रयाणकाल की अवस्था में रहता है। इनमें समाधि और मोक्ष ज्ञानपूर्ण अवस्था हैं, इनको सात्त्विक नाम दिया जाता है, पर सुषुप्ति और प्रलय अज्ञानपूर्ण होने से तामस कही जाती हैं। प्रयाणकाल की अवस्था भी ऐसी है। यह अवस्था एक देह को छोड़कर देहान्तर प्राप्ति तक की है। सुषुप्ति और प्रलय में जैसे आत्मा को किसीप्रकार के सुख-दुःख आदि का अनुभव नहीं होता, ऐसे इस प्रयाणदशा में है। इस अवस्था को परदेवता में लय के रूप से यहां वर्णन किया है। वस्तुतः इनका ऐसा लय कहीं नहीं होता, कि ये स्वरूप को छोड़ दें। ये सब उस अवस्था में दैहिककार्यविरत होजाते हैं, इतना ही इसका तात्पर्य है ॥१५॥

'वाङ् मनसि सम्पद्यते' में 'सम्पत्ति' का अर्थ लय किया गया। इस पृष्ठभूमि पर शिष्य जिज्ञासा करता है, इस 'लय' का क्या तात्पर्य है? क्या स्वरूप का छोड़ देना, अथवा विभाजक कार्यवैशिष्ट्य का न होना? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

अविभागो वचनात् ॥१६॥

[अविभागः] अविभाग [वचनात्] वचन से। सम्पत्ति अर्थात् लय का तात्पर्य अविभाग है; यह शास्त्रीय वचन से ज्ञात होता है।

सूत्र के 'अविभाग' पद का अर्थ है, विभक्त होकर पृथक्‌रूप से प्रतीत न होना। किसी पदार्थ के पृथक् व्यवहार के निमित्त जब नहीं रहते, तो उसका पृथक्‌रूप में व्यवहार नहीं होता, उसीको पदार्थ की 'अविभाग' अवस्था कहा जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् [६।९।१-२] में यह अर्थ एक उदाहरण देकर इसप्रकार समझाया है–'यथा सोम्य! मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहारमेकतां रसं

गमयन्ति ॥१॥ ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीति । एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे ।' जैसे हे सोम्य ! मधुमक्खियां शहद बनाती हैं, विभिन्न दिशाओं में खड़े विविध वृक्षों के रसों को इकट्ठा कर एकरूप मधुरस बना देती हैं । वे वहां विभिन्नरूप में एक दूसरे से पृथक् उपलब्ध नहीं होते—मैं उस वृक्ष का रस हूं और मैं उस वृक्ष का—ऐसा उनका विभाग नहीं रहता । इसीप्रकार समस्त प्रजा प्रतिदिन सत् में लय को प्राप्त होकर पृथक्व्यवहार का विषय नहीं रहतीं । उन्हें अपने इस लय का अवभास नहीं होता । इस अविभाग—अपृथक् व्यवहार—की स्थिति को लय अथवा सम्पत्ति शब्द से कहा गया है। मधुरूप में विभिन्न रसों के पृथक्व्यवहार के निमित्त नहीं रहते, इसलिये उन विविधरूपों में उनका पृथक् व्यवहार नहीं होता । इस विभक्त व्यवहार के अभाव को यहां 'लय' कहा है । ऐसे ही स्थूलदेह के न रहने पर इन्द्रिय मन बुद्धि आत्मा आदि का पृथक्-व्यवहार न होना इनका सत् में लय है । वस्तुतः इन्द्रिय मन आदि का स्वरूप बराबर बना रहता है । इस प्रसंग में लय का यही तात्पर्य है, वस्तु की स्वरूपहानि नहीं ॥१६॥

गति आरम्भ होने से पहले-पहले उपासक व कर्मियों की उत्क्रान्ति समान होती है, इसका विवेचन किया गया । उसके अनन्तर उत्क्रान्तिविषयक विशेषता का विवरण सूत्रकार ने प्रस्तुत किया—

तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥१७॥

[तदोकोऽग्रज्वलनं] उसके घर के अग्र का प्रकाशन [तत्प्रकाशितद्वारः] उस—अग्रप्रकाशन—से प्रकाशित हुए द्वारवाला [विद्यासामर्थ्यात्] विद्या के सामर्थ्य से [तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगात्] उस—विद्या—का शेष जो गति उसके स्मरण के सम्बन्ध से [च] और [हार्दानुगृहीतः] हृदयस्थ ब्रह्म से अनुगृहीत हुआ [शताधिकया] सौ से अधिक के द्वारा । आत्मा के घर—हृदय का अग्रभाग प्रकाशित हो आत्मा के बाहर निकलने के द्वार को प्रकाशित कर देता है—खोल देता है । इसका कारण है—विद्या उपासना का सामर्थ्य—माहात्म्य, तथा उपासना के अंगभूत, गति के साधन सुषुम्ना का अनुस्मरण; इसप्रकार हृदयस्थ ब्रह्म से अनुगृहीत उपासक आत्मा एकसौ एकवीं सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा देह से बाहर निकल जाता है ।

मरणकाल में समस्तकरण धीरे-धीरे सिमट कर आत्मा के घर हृदय में सीमित होजाते हैं । अभीतक समस्त देह में इनका जो व्यापार चलरहा था, वह समाप्त होजाता है । देह में आत्मा का निवास हृदय है, वहीं ये सब अपने अध्यक्ष के साथ सिमट आते हैं । उपनिषद् में कहा—'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' [बृ० ४।४।१] वह आत्मा इन व्यापाररत तेजस्वी करणों को मृत्यु के अवसर पर

समेटता हुआ हृदय की ओर ले आता है। तब लिंगशरीरसहित आत्मा केवल अपने निवास हृदय में अवस्थित रहता है, क्योंकि देह में होनेवाले समस्त व्यापार उस समय समाप्त हो चुकते हैं। यह अवसर देह से बाहर निकलने का आता है। तब हृदय का अग्र भाग प्रकाशित होता है; यह वह भाग है, जिससे 'हिता' नामक नाड़ियां हृदय से ऊपर की ओर निकली हुई रहती हैं। ये वे एकसौ एक नाड़ियां हैं, जिनके द्वारा आत्माओं की कर्मानुसार विभिन्न गति होती हैं। इन नाड़ियों में सुषुम्ना का सम्बन्ध मूर्धा से होता है, तथा अन्य नाड़ियों का चक्षु आदि देह के अन्य अनेक देशों से। देह से बाहर निकलने के इस हृदयद्वार के खुलने तक ज्ञानी अज्ञानी सबके लिये वाक् आदि करणों की उत्क्रांति समान रहती है। द्वार खुलने के बाद कर्मानुसार मार्ग बदल जाता है। पूर्णज्ञानी के लिये कोई मार्ग आगे नहीं रहता, उसके स्थूल-सूक्ष्म सब देह यहीं समाप्त होजाते हैं, वह ब्रह्म-संस्थ हुआ अमृत को प्राप्त होता है–'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' [बृ० ४।४।६], 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' [छा० २।२३।१]।

उपासक और कर्मियों की उत्क्रान्ति लिंगशरीर से आवेष्टित रहते होती है। हृदयद्वार खुल जाने पर हृदयस्थ ब्रह्म से अनुगृहीत हुआ तथा सुषुम्नाद्वारा अपनी गति का अनुस्मरण करता हुआ उपासक आत्मा सुषुम्ना नाड़ीद्वारा मूर्धा से होकर बाहर निकल जाता है। कर्मानुसार ऊर्ध्वलोकों को प्राप्त होकर पूर्णज्ञान होजाने पर मोक्ष को पाता है। यह सुषुम्ना नाड़ी शताधिका–एक सौ एकवीं–है। इस सब विषय को उप-निषदों में बताया–'तस्य हैतस्य हृदयाग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति' [बृ० ४।४।२] उस आत्मा के हृदय का अग्र प्रकाशित होजाता है, उससे यह आत्मा बाहर निकल जाता है। एकसौ एक नाड़ियों के विषय में कहा–'शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' [कठ० २।३।१६]। उपासक की गति एकसौ एकवीं सुषुम्ना नाड़ी से होती है, अन्य आत्माओं की गति कर्मानुसार अन्य नाड़ियों से, जिनका संबन्ध देह के विभिन्न अंगों से रहता है। इस गति को उपनिषद् में बताया–'चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' [बृ० ४।४।२] यहां मूर्धा का निर्देश उपासक के लिये तथा अन्य अंगों का कर्मियों के लिये है।

ईश्वरीय व्यवस्था से कर्मों के अनुसार देह छोड़ते समय प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आगामी योनि का पता लग जाता है, उसकी उत्सुकता मृत्युकाल के कष्ट को ढीला कर देती है, वह उसीका स्मरण करता हुआ देह को छोड़ उधर चला जाता है। कर्मी व्यक्ति के लिये यही हृदयस्थ परमात्मा का अनुग्रह है। इसप्रकार सूत्रगत केवल दूसरा हेतु कर्मी आत्मा की गति को स्पष्ट करता है, उपासक की गति को दोनों हेतु। जैसे उपा-सक उपासना के अंगभूत सुषुम्ना नाड़ीद्वार को स्मरण करता हुआ देह से बाहर निकल जाता है; ऐसे साधारण कर्मी पुरुष कर्मानुसार अपने नाड़ीद्वार को स्मरण करता हुआ

देह को छोड़ बाहर चला जाता है। सूत्रवर्णित इस हेतु के भाव को गीता [८।६] के एक श्लोक में अभिव्यक्त किया है–'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः' हे कौन्तेय! अन्तकाल में मनुष्य जिस-जिस भाव को स्मरण करता हुआ देह को छोड़ता है, उसी भाव से प्रभावित हुआ वह सदा उस-उस स्थिति को प्राप्त होता है ॥१७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, एकसौ एकवीं सुषुम्ना नाड़ीद्वारा देह से बाहर निकलता हुआ उपासक आत्मा ब्रह्मलोक जाने के लिये किस आधार का अनुसरण करता है? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

रश्म्यनुसारी ॥१८॥

[रश्म्यनुसारी] रश्मियों का अनुसरण करता हुआ। सूर्यरश्मियों का अनुसरण करता ऊपर चला जाता है।

सुषुम्ना नाड़ीद्वारा देह से बाहर निकला ब्रह्मोपासक आत्मा ब्रह्मलोक जाने के लिये सूर्यरश्मियों का अनुसरण करता है। इसका वर्णन हार्द ब्रह्मविद्या में सुस्पष्ट किया है–'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' [छा० ८।६।५] जब वह इस शरीर से बाहर निकलता है, तब इन्हीं रश्मियों के द्वारा ऊपर चढ़ जाता है। इससे नाड़ी और रश्मियों का सम्बन्ध प्रकट होता है। इसप्रकार ब्रह्मोपासक रश्मियों के सहारे ऊर्ध्वलोकों में चला जाता है। अन्यत्र कहा है–'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति' [मुण्ड० १।२।११] ब्रह्मोपासक क्षीणकर्मा होकर सूर्यद्वार से प्रयाण करते हैं। सूर्यरश्मियों द्वारा जाना ही सूर्यद्वार से प्रयाण है ॥१८॥

शिष्य आशंका करता है, यदि रात्रि में किसीकी मृत्यु हो, तो सूर्यरश्मियों से सम्बन्ध कैसे रहेगा? आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद् दर्शयति च ॥१९॥

[निशि] रात में [न] नहीं [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो वह ठीक) [न] नहीं, [सम्बन्धस्य] सम्बन्ध के [यावद्देहभावित्वात्] जबतक देह है तबतक बना रहने से, [दर्शयति] दिखलाता है [च] और। रात में मरनेवाला सूर्यरश्मियों का अनुसरण नहीं करसकता, यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि नाड़ी और रश्मियों का सम्बन्ध देह के रहनेतक बना रहता है; शास्त्र यह दिखलाता है।

साधारणरूप से यह समझा जाता है, कि सूर्यरश्मियों का संपर्क यहां से केवल दिन में रहता है, रात में नहीं। यदि किसी ब्रह्मोपासक की मौत रात में होजाती है, तो सुषुम्ना नाड़ीद्वारा देह से आत्मा के निकलने पर वह उस समय सूर्यरश्मियों का अनुसरण नहीं करसकता, क्योंकि उस समय रश्मियों का अभाव है, तब उपासक आत्मा की गति

कैसे होगी? सूत्रकार ने कहा, ऐसा विचार करना ठीक नहीं है, कारण यह है, सूर्यरश्मियों का यहां से संबन्ध बराबर बना रहता है। देह के रहते रश्मियों के सम्बन्ध का अभाव नहीं होता। ग्रीष्म की रात्रियों में भी गरमी का अनुभव होता है। रात में चांद की किरण सूर्य की ही रश्मि हैं। निरुक्त [२।२।२] में कहा—'अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते…आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवतीति' इसकी एक रश्मि चन्द्रमा को दीप्त करता है, सूर्य से इसका प्रकाश होता है। यह तो रश्मियों के दीखने के अवसर की बात है। जब यहां न चांद दीखता न सूरज, तब भी रश्मियों का संपर्क यहां से बराबर बना रहता है। फलतः नाड़ी और रश्मियों का संपर्क अटूट होने से—उपासक किसी समय मरे—गति के लिये उसे रश्मियों के अनुसरण में कोई बाधा नहीं रहती।

नाड़ी-रश्मि संबन्ध को शास्त्र दिखलाता है। छान्दोग्य उपनिषद् [८।६।२] में बताया—'तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं च, एवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं च। अमुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ताः, आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः' जैसे विस्तृत महापथ समीप और दूरस्थित दोनों ग्रामों को जाता है, ऐसे ये आदित्यरश्मियां दोनों लोकों को चलती हैं, इसको और उसको। उस आदित्य से फैलती हैं, वे इन नाड़ियों में पहुंचती हैं; इन नाड़ियों से चलती हैं, वे उस आदित्य में पहुंचती हैं। इसप्रकार नाड़ी और रश्मियों का सम्बन्ध सदा अटूट होने से मृत्युकाल में नाड़ीद्वारा देह से निकलते हुए उपासक आत्मा के—गति के लिये—रश्मियों का अनुसरण करने में किसीप्रकार के प्रतिबन्ध की आशंका करना व्यर्थ है। अन्यथा यदि रात को मरा उपासक रश्मि के न होने से सूर्यलोक को न जाय, तो उसकी उपासना निष्फल; यदि रात को विना रश्मियों के सहारे जाय, तो दिन में भी उनकी आवश्यकता नहीं। यदि रात में मरा दिन होने की प्रतीक्षा करे, तो यह भी संभव नहीं; क्योंकि छान्दोग्यश्रुति तत्काल सूर्यलोक में जाना बतलाती है—'स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति' [छा० ८।६।५] वह जितनी देर में मन फैंके, उतने में सूर्यलोक पहुंच जाता है। ऐसा कोई नियम नहीं, कि उपासक की मृत्यु दिन में हो। इसलिये उपासक किसी समय मरे, वह रश्मियों द्वारा गति करता है, यह शास्त्र बताता है ॥१६॥

इसी अर्थ का दक्षिणायन में मरे उपासक के लिये आचार्य अतिदेश करता है—

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥२०॥

[अतः] इससे [च] ही [अयने] अयन में [अपि] भी [दक्षिणे] दक्षिण। इस पूर्वोक्त हेतु से ही दक्षिणायन में मरा उपासक भी रश्मियों द्वारा ब्रह्मलोक को जाता है।

जैसे रात में मरे उपासक का उत्क्रमण के लिये रश्मियों का अनुसरण करना उपपन्न है; ऐसे कृष्णपक्ष में तथा सूर्य के दक्षिणायन होने पर मरे उपासक के उत्क्रमण

के लिये रश्मियों का अनुसरण पूर्वोक्त हेतु से सिद्ध है। क्योंकि देहगत नाड़ी का रश्मियों से सम्बन्ध–जब तक देह है–बराबर बना रहता है, यह स्थिति प्रत्येक ऋतु पक्ष तथा काल में समान है। उत्तरायण शुक्लपक्ष में मरने से सद्गति का होना जो लोकप्रसिद्ध है, उसका तात्पर्य ऐसी मृत्यु को केवल प्रशस्त बताने में है। भीष्म ने उत्तरायण की प्रतीक्षा इसी भावना से की हो, यह संभव है। इससे उनके ब्रह्मचर्यपालन और संयम का प्रभाव जगत् में विदित होसका। तात्पर्य यह, कि मृत्यु के कालविशेष में होने से आत्मा की गति का कोई सम्बन्ध नहीं। मृत्युकाल कोई हो, आत्मा की गति उसके ज्ञान और कर्मों के अनुसार होती है। ज्ञानी की गति का विवरण इन सूत्रों में विशेषरूप से किया है ॥२०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, महाभारत के–कृष्णद्वारा अर्जुन के प्रति युद्धारम्भ-कालिक उपदेश के वर्णन–प्रसंग [गीता ८।२३–२५] में आपने कालविशेष में मरने से आवृत्ति और अनावृत्ति का होना बताया है; तब यहां के कथन से उसका सामञ्जस्य कैसे होगा? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्त्ते चैते ॥२१॥

[योगिनः] योगी के [प्रति] प्रति [च] ही [स्मर्यते] कहा गया है, [स्मार्त्ते] स्मार्त्त [च] और [एते] ये दोनों। ज्ञानयोगी कर्मयोगी समझे जानेवाले व्यक्ति के प्रति ही लोकसिद्ध दृष्टि से वैसा कहा गया है; और ये दोनों गति कालविशेष में मरने से होती हैं, लोकसिद्धमात्र है।

महाभारतान्तर्गत गीता के जिस कथन का उल्लेख किया गया, वह यहां के वर्णन से प्रतिकूल नहीं है। वहां कहा है–हे भरतर्षभ! उस काल को बताता हूं, जिस काल में मरे कुछ योगी अर्थात् कर्मत्यागी ज्ञानयोगी समझे जानेवाले मनुष्य अनावृत्ति को पाते हैं, और कुछ योगी अर्थात् कर्मानुष्ठान में रत कर्मयोगी समझे जानेवाले मनुष्य आवृत्तिरूप निरन्तर पुनर्जन्म को पाते रहते हैं। ऐसा लोक में कहा या समझा जाता है। श्रीकृष्ण का भाव यह है, कि जिस अनावृत्ति एवं आवृत्ति के साथ ज्ञान-कर्म का कोई सम्बन्ध न बताकर भ्रान्ति से मरने के काल का सम्बन्ध जोड़ लिया गया है, अब मैं तुम्हें वह बताऊंगा [८।२३]। अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण के छह मास इन कालों में शरीर को छोड़कर गये ज्ञानयोगी समझे जानेवाले मनुष्य ब्रह्म को पाते हैं, ऐसा लोक में कहा जाता है [८।२४]। धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन के छह मास इन कालों में शरीर छोड़कर चान्द्र ज्योति को पाकर कर्मयोगी समझा जानेवाला मनुष्य पुनः जन्मग्रहणरूप आवृत्ति को पाता है, यह भी लोक में कहा जाता है [८।२५]। वस्तुतः कालविशेष में मरने से गति का बताया जाना, यह केवल लोकप्रसिद्ध बात है, उन व्यक्तियों के लिये जो ज्ञानयोगी अथवा कर्मयोगी लोकदृष्टि से समझे जाते हैं। इसी-

लिये आगे [८।२७] बता दिया है–हे पार्थ ! विशेष काल में मरण से गति का सम्बन्ध केवल कल्पनामूलक है, इस रूप में जो योगी इन मार्गों की वास्तविकता को जानता है, वह कभी इनसे मोहित नहीं होता। क्योंकि विशेष काल में मरने से मुक्ति मिलने की बात सर्वथा आधारहीन है, इसलिये हे अर्जुन ! तुम अपने जीवन के प्रत्येक काल में योगयुक्त बनें रहो। किसी विशेष काल में मरेंगे तो मोक्ष मिलेगा, ऐसी भ्रान्ति को त्याग दो, और अपने जीवन को योगमय–ज्ञानसम्पन्न बनाओ। पूर्णज्ञान होजाने पर कभी मृत्यु हो, उससे सद्गति में कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। फलतः उपासक की जिस रश्म्यनुसारी गति का वर्णन किया है, वह सब प्रकार प्रमाणित है।।२१।।

इति चतुर्थाऽध्यायस्य द्वितीयः पादः।

अथ चतुर्थाध्याये तृतीयः पादः।

विशिष्ट गति आरम्भ होने से पहले तक ज्ञानी अज्ञानी सबकी उत्क्रान्ति समान होती है, तथा उपासक की रश्म्यनुसारी गति होती है, इनका विवेचन द्वितीय पाद में किया गया। अब गति तथा गन्तव्य के विवेचन के लिये तृतीय पाद का आरम्भ है। अनेक गतिवर्णनों में गति के निर्धारण के लिये सूत्र कहा—

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ।।१।।

[अर्चिरादिना] अर्चि आदि से [तत्प्रथितेः] उसकी प्रसिद्धि के कारण। ब्रह्मोपासक अर्चि आदि मार्ग से ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, क्योंकि उपासक के लिये शास्त्र में यही एक मार्ग प्रसिद्ध है।

ब्रह्म की उपासना करनेवालों के लिये अध्यात्मशास्त्रों में एक मार्ग प्रसिद्ध है, जिसका नाम 'देवयान' है। इसका वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् [५।१०।१।२] में इसप्रकार किया गया है–'तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान्।१। मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत् पुरुषोऽमानवः, स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्थाः' 'अर्चि' पद का अर्थ किरण–रश्मि है। अर्चि से लेकर विद्युतपर्यन्त मार्ग के संकेत हैं। इनके सहारे से उपासक ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। 'रश्म्यनुसारी' [ब्र० सू० ४।२।१८] सूत्र में उपासक की जिस गति का संकेत है, उसीका विस्तार से यहां विवेचन है। छान्दोग्य के अतिरिक्त बृहदारण्यक [६।२।१५] में

तथा छान्दोग्य के अन्य [४।१५।४-५] प्रसंग में एवं कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् [१।३] में देवयान मार्ग का वर्णन है। इससे अध्यात्मशास्त्र में उपासकों की गति के इस मार्ग की प्रसिद्धि का पता लगता है ॥१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, बृहदारण्यक [५।१०।१] में प्रयाण के समय पुरुष का वायु में आना लिखा है, जिसका संकेत अन्यत्र बृहदारण्यक में तथा छान्दोग्य में नहीं मिलता, इसका क्या सामञ्जस्य होगा ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥२॥

[वायु] वायु को [अब्दात्] संवत्सर से [अविशेषविशेषाभ्याम्] अविशेष और विशेष के कारण। संवत्सर से वायु को प्राप्त होता है, समान और विशेष के कारण।

छान्दोग्य [५।१०।१-२] में तथा बृहदारण्यक [६।२।१५] में अर्चि से मास-पर्यन्त समान क्रम का निर्देश है। बृहदारण्यक में अन्य [५।१०।१] स्थल पर कहा—'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति, तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं, तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति' जब पुरुष इस लोक से प्रयाण करता है, वह वायु को प्राप्त होता है, वायु उसके लिये जाने का स्थान देता है, जैसा रथ के पहिये का छेद, उससे वह ऊपर को चला जाता है, वह आदित्य को प्राप्त होता है। यह वायु का विशेष कथन है, छान्दोग्य [५।१०।१-२] में इसका निर्देश नहीं है। बृहदारण्यक के अन्य स्थल [६।२।१५] में मास से देवलोक और देवलोक से आदित्य का उल्लेख है। छान्दोग्य [५।१०।१-२] में मास से संवत्सर और संवत्सर से आदित्य का निर्देश है। बृहदारण्यक के दो लेखों—वायु से आदित्य [५।१०।१] तथा देवलोक से आदित्य [६।२।१५]—से यह प्रतीत होता है, कि छान्दोग्य के संवत्सर के स्थान पर बृहदारण्यक [६।२।१५] में 'देवलोक' पढ़ा है; इसलिये इन दोनों को एक मानकर तथा वायु का विशेष निर्देश [बृ० ५।१०।१] होने से छान्दोग्य के गतिक्रम में संवत्सर से पर और आदित्य के पूर्व वायु का समावेश करलेना चाहिये।

यदि छान्दोग्य [५।१०।१-२] के संवत्सर और बृहदारण्यक [६।२।१५] के देवलोक को एक नहीं माना जाता, तो मास का संवत्सर से सम्बन्ध होने के कारण देवलोक का समावेश संवत्सर के आगे कर देवलोक के आगे वायु का समावेश करलेना चाहिए तब क्रम यह होगा—मास से संवत्सर, संवत्सर से देवलोक, देवलोक से वायु, वायु से आदित्य को प्राप्त होता है। सूत्रकार के कथन—संवत्सर से **वायु को आता है**—का सामञ्जस्य संवत्सर से देवलोक होकर वायु को प्राप्त होता **है, इस रूप में होगा।** वायु को संवत्सर के आगे और देवलोक के पूर्व इसलिये **नहीं रखना चाहिये, क्योंकि** बृहदारण्यक [५।१०।१] में विशेष निर्देश द्वारा वायु से **आदित्य को** प्राप्त होने का उल्लेख है। छान्दोग्य में 'देवलोक' नहीं, बृहदारण्यक में 'संवत्सर' नहीं, दोनों जगह

दोनों का उपसंहार करलेना चाहिये। इससे गतिक्रम का सामञ्जस्य होजाता है ॥२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्वर्णित देवयानमार्ग में अन्य लोकों का भी निर्देश है, सामञ्जस्य के लिये उनका समावेश कहां करना चाहिये ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् ॥३॥

[तडितः] विद्युत से [अधि] ऊपर [वरुणः] वरुण [सम्बन्धात्] सम्बन्ध से। विद्युत से ऊपर वरुण का सन्निवेश करें, क्योंकि इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध है।

यद्यपि 'वरुण' पद का प्रयोग वरणीय गुणयोग से परमात्मा के लिये प्रायः होता है, पर अनेकत्र अदृश्य जलों के लिये इसका प्रयोग देखा जाता है। कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् [१।३] के–'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति, स वायुलोकं स आदित्यलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्' सन्दर्भ में 'वरुण' पद का प्रयोग दूसरे अर्थ में हुआ है। वह उपासक देवयान पन्था को प्राप्त होकर पहले अग्नि (अर्चि) लोक में आता है, तब वायु आदित्य वरुण इन्द्र प्रजापति लोकों को प्राप्त होता है। छान्दोग्यक्रम के अनुसार यहां पठित वरुण का क्रम विद्युत के आगे आना चाहिए, क्योंकि विद्युत और जलों का परस्पर सम्बन्ध देखा जाता है। छान्दोग्य [७।११।१] में कहा–'विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वै' बिजली चमकती है, ध्वनि होती है, तब बरसेगा यह निश्चय होजाता है। विद्युत से जलों का सम्बन्ध होने के कारण छान्दोग्यक्रम में विद्युत के अनन्तर वरुण का समावेश उपयुक्त है। वरुण से इन्द्र, इन्द्र से प्रजापति और प्रजापति से ब्रह्मलोक यह क्रम होगा। इन सब उल्लेखों का सामञ्जस्य होकर देवयानमार्ग का पूरा क्रम आगे छठे सूत्र की व्याख्या में निर्दिष्ट है ॥३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, शास्त्र के अनुसार ब्रह्मलोक को प्राप्त होनेवाले उपासक के देवयान पन्था का निर्धारण हो गया, पर यह नहीं समझा जासका, कि अर्चि दिन पक्ष आदि क्या मार्ग के संकेतमात्र हैं, अथवा आत्मा के विश्रामस्थान हैं, या विभिन्न भोगभूमियां हैं ? अथवा अन्य कुछ हैं, तो क्या हैं ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥४॥

[आतिवाहिकाः] आगे-आगे लेजानेवाले [तल्लिगात्] उस लिंग से। ये आगे-आगे लेजानेवाले रश्मि हैं, क्योंकि उसमें शास्त्रीय प्रमाण है।

देवयान मार्ग के अर्चि दिन आदि पद न मार्ग के चिह्न हैं, न भोगभूमि और न आत्माओं के विश्रामस्थान हैं; ये उन समस्त प्रदेशों के प्रतीक हैं जहां सूर्यरश्मियों का विस्तार है। सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित आत्मा स्थूलशरीर छोड़कर ईश्वरीय व्यवस्था से देशान्तर को प्राप्त होता है। शास्त्रों ने उसका अभिलापन किया है, कि तब आत्मा

रश्मियों का अनुसरण करता अपने गन्तव्य स्थान पर पहुंच जाता है। इसमें आत्मा का सादातनिक वाहन सूक्ष्मशरीर तथा उसके तात्कालिक वाहन सूर्यरश्मि हैं। 'अर्चि' पद का स्वतः अर्थ रश्मि है, यह वहन करनेवाले का निर्देश करता है। यह मार्ग प्रकाशमय है, जो उपासक के लिये बताया गया है, गन्तव्य की प्रकाशमयस्थिति का द्योतक है। कर्मी के लिये बताया गया पितृयाणमार्ग अन्धकारमय है, जो गन्तव्य की अन्धकारमय स्थिति को लक्षित करता है। इसप्रकार दिन आदि केवल उन प्रदेशों के प्रतीक हैं, जहां रश्मियां प्रसृत हैं। ये आत्मा के भोगभूमि अथवा लोक के समान मार्गचिह्न इसलिये नहीं हैं, क्योंकि आत्मा इन्हें क्षणमात्र में लांघकर अपने गन्तव्य स्थान पर पहुंच जासकता है। छान्दोग्य [८।६।५] में कहा है–'अस्माच्छरीरादुत्क्रामति, अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते,⋯स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति' आत्मा इस शरीर से उत्क्रमण करता है, अनन्तर इन रश्मियों के द्वारा ऊपर जाता है। वह जबतक मन को फेंकता है, तबतक आदित्य को प्राप्त होजाता है। दिन आदि को भोगभूमि, विश्रामस्थान, मार्गचिह्न आदि मानने पर ऐसा संभव नहीं, कि आत्मा स्थूलदेह छोड़ क्षणमात्र में मन की गति के समान गन्तव्य स्थान में पहुंच जाय। फलतः ये सब पद केवल स्वप्रदेशस्थ रश्मियों के द्योतक हैं, जो आत्मा के अतिवाहक हैं। मुण्डक उपनिषद् [१।२।५-६] में सूर्यरश्मियों को मरणानन्तर यजमान का वाहक बताया है। रश्मियों की वाहकता विज्ञानसिद्ध है। ये चाहे सूर्यरश्मिरूप में हों, अथवा विद्युत्तरंग रूप में। यह ईश्वरीय व्यवस्था है। संभवतः अन्त में इसीकारण 'विद्युत' प्रतीक का निर्देश है।

छान्दोग्य उपनिषद् [४।१५।५-६; ५।१०।२] में आगे बताया–'तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति' वह अमानव पुरुष है, जो इनको ब्रह्म तक पहुंचाता है। यह अमानव पुरुष क्या है? प्रायः सभी व्याख्याकारों ने इसे कोई चेतनदेव अथवा दिव्य शक्ति बताया है, जो एकप्रकार से अज्ञातस्वरूप है। पर वस्तुतः यह 'अमानव पुरुष' लिंगशरीर माना जाना चाहिये, जो आत्मा को ब्रह्म तक पहुंचाता है। यह विद्युत-प्रतीक के अनन्तर ही नहीं मिलता, प्रत्युत सदा से आत्मा के साथ रहता है, वह तो सर्गकाल में आत्मा का सादातनिक आवेष्टन है, रश्मि आदि आत्मा की गति के मार्ग भले हों, पर मुख्य आश्रय लिंगशरीर अथवा सूक्ष्मशरीर है, जिसके सहयोग से आत्मा ब्रह्म का साक्षात्कार करता, अर्थात् ब्रह्म तक पहुंचता है। यह 'अमानव' इसलिये है, क्योंकि प्राकृत है। इस तथ्य को अनेक वार प्रकट किया जाचुका है, कि जिस आत्मा को यहीं देह में ब्रह्मसाक्षात्कार होजाता है, उसके लिये गति का कोई विधान नहीं, स्थूलदेह के साथ उसका सूक्ष्मदेह यहीं छूट जाता है, वह ब्रह्म को तत्काल प्राप्त होजाता है–'अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' [छा० ८।१२।३] तथा 'धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि' [छा० ८।१३।१] इत्यादि सन्दर्भ इसमें प्रमाण हैं। अन्यत्र [बृ० ४।४।६] कहा–'योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न

तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवनीयन्ते[1] ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' आत्मज्ञानी के प्राण उत्क्रमण नहीं करते, देहपात के अनन्तर यहीं अपने कारणों में लीन होजाते हैं, ब्रह्मज्ञानी आत्मा ब्रह्म को प्राप्त होजाता है।

गति का वर्णन उपासक और कर्मियों के लिये है। उपासक की देवयानगति है, जिसको पूर्ण ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ, पर जो पूर्णता के प्रायः समीप पहुंच गया है। आत्मा के आवेष्टनरूप एवं सहयोगीरूप में अवस्थित लिङ्गशरीर का परित्याग पूर्ण ब्रह्मज्ञान होने पर होता है, ऐसे उपासक को लोकान्तर में जाकर जब पूर्ण ब्रह्मसाक्षात्कार होजाता है, लिङ्गशरीर छूट जाता है। इसलिये ब्रह्म तक पहुंचानेवाला अमानव पुरुष इसीको समझना चाहिये। बृहदारण्यक के ऐसे प्रसंग में पाठ है–'तान्'''पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति' [६।२।१५] यहां उसे 'मानस पुरुष' कहा है, मनस् सम्बन्धी पुरुष। 'मनस्' पद समस्त करणों का उपलक्षण होने से 'लिङ्गशरीर' का बोधक है। इससे अर्थ अधिक स्पष्ट होजाता है। वह मानस पुरुष आत्मा के साथ चलकर आता है, विद्युत पर्यन्त समस्त प्रदेश-प्रतीक समाप्त होजाते हैं। आगे अन्य किसीका सहारा नहीं, वहां केवल लिङ्गशरीर आत्मा को ब्रह्म तक पहुंचानेवाला है। वह अब ऐसी स्थिति में आ-गया है, कि उसे वहां ब्रह्म का साक्षात्कार होजानेवाला है, उसके लिये अब स्थूलशरीर के सहयोग में जाने तथा अन्य उपायों के अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं है। जब यह अवस्था आजाती है, लिङ्गशरीर भी छूट जाता है, और आत्मा ब्रह्मानन्द की अनुभूति में संलीन होजाता है, यही मोक्ष का स्वरूप है।

आत्मा का मुख्य आतिवाहिक लिङ्गशरीर है। उपचार से रश्मि और रश्मिसहयोगी उन-उन गति के प्रदेश-प्रतीकों को आतिवाहिक मानलिया गया है। इसी अर्थ को सूत्र प्रस्तुत करता है। उपनिषद् आदि के आधार पर निरुक्त [१४।७-९] में इस विषय का उल्लेख हुआ है ॥४॥

ये अर्चि आदि आत्मा की गति के मार्ग के चिह्न अथवा भोगभूमि आदि नहीं हैं, इसको अधिक स्पष्ट करने के लिये सूत्रकार ने बताया—

उभयव्यामोहात् तत्सिद्धेः ॥५॥

[उभयव्यामोहात्] दोनों के अज्ञान से [तत्सिद्धेः] उसकी सिद्धि होने के कारण। जानेवालों को दोनों मार्गों का ज्ञान न होने से वह अर्थ सिद्ध होजाता है, कि अर्चि आदि मार्ग के चिह्न अथवा भोगभूमि नहीं हैं।

मृत्यु के अवसर पर स्थूलशरीर को छोड़कर लोकान्तर में आत्मा का जाना, यह

---

१. यह पाठ गौतम न्यायसूत्र [४।१।६०] के वात्स्यायन भाष्य में उपलब्ध है, उपनिषद् में 'इहैव समवनीयन्ते' पद नहीं हैं।

एक ईश्वरकृत व्यवस्था है। जानेवाला आत्मा इन मार्गों के विषय में कुछ नहीं जानता। इसलिये उसे मार्ग की पहचान के लिये चिह्नों की अपेक्षा होसकती है, यह प्रश्न ही नहीं उठता। आत्मा की यह यात्रा ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार होती है, आत्मा को इसे जानने का कोई अवसर नहीं, तब उसके लिये चिह्न आदि का बतलाया जाना व्यर्थ है। इस विषय में ईश्वर की जो व्यवस्था है, उसका शास्त्रानुसार वर्णन गतसूत्र में कर दिया है। सूत्र के 'व्यामोह' पद से आचार्य ने यह स्पष्ट किया, कि आत्मा का इस विषय में व्यवस्थापक रूप से कोई हाथ नहीं है।

अचि आदि पदों से बोध्य कोई ऐसी शक्तियां चेतनरूप हैं, जो आत्मा को ले-जाती हैं, यह समझना अथवा प्रस्तुत प्रकरण के सूत्रों की ऐसी व्याख्या करना चिन्तनीय प्रतीत होता है। क्या वे शक्तियां स्वतन्त्ररूप से ऐसा करती हैं? या किसीकी प्रेरणा से? स्वतन्त्ररूप से मानने पर एक व्यवस्था का होना संभव नहीं; यह एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें कभी कोई अन्तर आने की कल्पना व संभावना नहीं कीजासकती। यदि ये शक्तियां किसी से प्रेरित हैं, तो वह प्रेरक कौन है? यह यदि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म है, तो वह इस सब व्यवस्था को स्वतः करसकता है, आत्मा को लेजानेवाली किन्हीं अनेक चेतनशक्तियों को इसके लिये नियुक्त करना व्यर्थ है। प्रेरक की अक्षमता का भी वह द्योतक होसकता है। इसलिये यह समझना अधिक प्रामाणिक है, कि ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार आत्मा के आने-जाने तथा उसके अन्य कार्यों में सहयोग के लिये करणसमूह तथा सूक्ष्मभूतों से घटित लिंगशरीर अथवा सूक्ष्मशरीर आत्मा का इस अवस्था में एक देह से देहान्तर व लोकान्तर के लिये वाहक होता है।

देवयान आदि गति आत्मा के कर्मानुसार हुआ करती हैं। इनमें 'अचि' आदि क्या हैं, इसका विवेचन पीछे करदिया है। यह कहा जाचुका है, कि देह से निकलने तक प्राणों की गति उपासक व कर्मी सबकी समान होती है। अनन्तर कर्मानुसार अज्ञानी का अन्य मार्ग है, उपासक व ज्ञानी का अन्य। पूर्णज्ञानी का कोई मार्ग नहीं। देवयान ऐसे उपासक का मार्ग है, जिसे अभी पूर्णज्ञान नहीं हुआ। ऐसी स्थिति के अनेक स्तर होने पर उसे न्यून से न्यून दो भागों में अवश्य रक्खा जासकता है। एक ऐसे उपासक हैं, जिन्हें सद्यः ब्रह्मसाक्षात्कार होजाने की संभावना है, दूसरे इनसे भिन्न हैं, अर्थात् जिन्हें अभी इसके लिये कुछ विलम्ब लगना है। देवयान मार्ग पर विद्युतपर्यन्त इन दोनों स्तर के उपासकों की गति समान होती है। जो द्वितीय स्तर के उपासक हैं, वे उपासना के कल्याण फलों को भोगने के लिये विद्युतपर्यन्त आकर अनुकूल लोकों को प्राप्त होजाते हैं। जो प्रथम स्तर के उपासक हैं, उनके वे उपासनाधर्म वहां फलोन्मुख होजाते हैं, अर्थात् वे सद्यः उपासक को ब्रह्मसाक्षात्कार होजाने का मार्ग प्रशस्त करने में तत्पर होजाते हैं। इस रूप में उनके आविर्भूत होजाने का यही अवसर होता है। तब ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये संपन्न किये गये उपासना-धर्मों की अभिव्यक्ति से रश्म्यनुसारी

साधन लिंगशरीर आत्मा को आगे ब्रह्मसाक्षात्कार की स्थिति तक लेजाता है। इसी-को उपनिषद् में 'अमानव' पुरुष [छा० ६।१०।२] तथा 'मानस' पुरुष [बृ० ६।२।१५] नाम से कहा गया है ॥१५॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त भावनाओं के साथ उपासक की विद्युत के अनन्तर गति के विषय में बताया—

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥६॥

[वैद्युतेन] विद्युत में आविर्भूत हुए से [एव] ही [ततः] उससे आगे [तच्छ्रुतेः] उस विषय की श्रुति से। उपासक आत्मा विद्युत के आगे वहां आविर्भूत उपासनाधर्मों के अनुसार लेजाया जाता है, यह उस विषय की श्रुति से ज्ञात होता है।

प्रथम स्तर के उपासक स्थूलशरीर से उत्क्रमण कर रश्मियों के अनुसार जब विद्युत लोक तक पहुंच जाते हैं, तब वहां इनका उपासनाजनित विशिष्ट धर्म आविर्भूत होजाता है। उसके सहयोग से रश्म्यनुसारी लिंगशरीर इनको ब्रह्मसाक्षात्कार की स्थिति तक पहुंचाता है। यही अवस्था ब्रह्मलोक की प्राप्ति है। इस अर्थ को श्रुति बतलाती है—'चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति' [छा० ५।१०।२] जब ये उपासक चन्द्रमा से विद्युत में पहुंचते हैं, तब वहां आविर्भूत वह अमानव पुरुष इनको ब्रह्म तक लेजाता है। इसे अमानव इसलिये कहा गया, यह मानव के समान रजवीर्यसंमिश्रण से उत्पन्न नहीं होता। बृहदारण्यक [६।२।१५] में इसी भाव को बताया—'तान् वैद्युतान् पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति' विद्युत को प्राप्त हुए उन उपासकों को मानस पुरुष आकर अर्थात् उस अवसर पर आविर्भूत होकर उन्हें ब्रह्मलोकों को लेजाता है, तात्पर्य—ब्रह्मसाक्षात्कार कराकर ब्रह्म को प्राप्त करा देता है। इसका विस्तृत विवेचन गतसूत्र की व्याख्या के अनन्तर करदिया गया है। प्रश्न उप-निषद् [३।१०] में इसका संकेत है।

आचार्य शंकर ने इस सूत्र के भाष्य में श्रुतिप्रमाण के रूप से जो सन्दर्भ उद्धृत किया है, उस आनुपूर्वी का पाठ उपनिषद् में कहीं उपलब्ध नहीं होता। प्रतीत होता है, कदाचित् अपने अभिमत की सिद्धि के लिये आचार्य ने बृहदारण्यक [६।२।१५] के पाठ में थोड़ा परिवर्त्तन कर उसे उद्धृत करदिया है। आचार्य का पाठ है—'तान् वैद्युतान् पुरुषोऽमानवः स एत्य ब्रह्मलोकं गमयति'। बृहदारण्यक [६।२।१५] का पाठ है—'तान् वैद्युतान् पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति'। यहां 'मानसः' को 'अमानवः सः' कर-दिया गया है। 'मानस' पद लिंगशरीर का अभिव्यंजक है।

उपनिषदों के अनुसार सबके समन्वयपूर्वक **देवयानमार्ग**—

अर्चिः अहर् शुक्लपक्ष उत्तरायण मास	छान्दोग्य [५।१०।१], तथा बृहदारण्यक [६।२।१५] दोनों में समान

संवत्सर	—बृहदारण्यक [६।२।१५] में नहीं
देवलोक	—छान्दोग्य [५।१०।२] में नहीं; बृ० [६।२।१५] में है।
वायुलोक	—छान्दोग्य [५।१०।२] में नहीं; बृ० [५।११।१०] में है।
आदित्यलोक	—छा० [५।१०।२], बृ० [५।१०।१; ६।२।१५]
चन्द्रलोक	—छा० [५।१०।२], बृ० [५।१०।१]
विद्युल्लोक	—छा० [५।१०।२], बृ० [६।२।१५]
वरुणलोक इन्द्रलोक प्रजापतिलोक	} केवल कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् [१।३] में।
ब्रह्मलोक	—छा० [५।१०।२], बृ० [६।२।१५], कौषी० [१।३]।

इस रूप में निर्धारित होता है ॥६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, गति का निरूपण किया गया, पर अमानव पुरुष उपासक को जहां लेजाता है, उसको कहीं ब्रह्म, कहीं ब्रह्मलोक एक तथा कहीं बहुतों का निर्देश है; उपासक का गन्तव्य क्या है? क्या वह मुख्य ब्रह्म है? अथवा इस पद से बोधित अन्य कुछ? सूत्रकार ने इस विषय में आचार्य बादरि का विचार प्रस्तुत किया—

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥७॥

[कार्यं] कार्य को [बादरिः] बादरि आचार्य [अस्य] इसकी [गत्युपपत्तेः] गति बनसकने से। इस उपासक की गति बनसकने अर्थात् संभव होने से यह कार्यब्रह्म को लेजाया जाता है, यह आचार्य बादरि का विचार है।

उपनिषदों में उपासक के गन्तव्य लक्ष्य का निर्देश अनेकरूप से हुआ है। कहीं [छा० ५।१०।२] स्पष्ट ब्रह्म गन्तव्य बताया है, तो कहीं [छा० ८।१५।१॥प्र० ५।५] ब्रह्मलोक कहा है। कहीं 'ब्रह्मलोकेषु' [मुं० ३।२।६] तथा 'ब्रह्मलोकान्' [बृ० ६।२।१५] कहकर बहुत से ब्रह्मलोक गन्तव्य कहे हैं। जिज्ञासा है, ये पद साक्षात् ब्रह्म का निर्देश करते हैं, अथवा अन्य किसीका? सूत्रकार का आशय है, उक्त प्रसंगों में ये पद मुख्यब्रह्म अथवा अकार्यब्रह्म का बोध नहीं कराते, क्योंकि परब्रह्म परमात्मा सर्वत्र व्यापक तत्त्व है, उसे प्राप्त होने के लिये उस गति की आवश्यकता नहीं है, जिसका अभी वर्णन किया गया है। इसलिये उक्त प्रसंगों में उपासक के जिस गन्तव्य का इन पदों से उल्लेख हुआ है वह कार्यब्रह्म समझना चाहिये, मुख्य परब्रह्म परमात्मा नहीं। कार्यब्रह्म को गन्तव्य मानकर गति उपपन्न होसकती है।

यह कार्यब्रह्म क्या है? ब्रह्म के साथ 'कार्य' पद का प्रयोग अशास्त्रीय प्रतीत होता है। वस्तुतः 'ब्रह्मलोक' पद का अर्थ उक्त प्रसंगों में 'ब्रह्मरूप लोक' अथवा 'ब्रह्म ही जो लोक' न होकर ऐसा विशेष प्रदेश है, जहां पहुंचकर उपासक आत्मा विना किसी अन्य बाधा के आवश्यकरूप से ब्रह्म को प्राप्त होजाता है; क्योंकि वह प्रदेश ब्रह्म की अनि-

वार्य प्राप्ति का लोक है, इसी भावना से उसे ब्रह्मलोक कहा जाता है। 'कार्यब्रह्म' पद से उसीकी अभिव्यक्ति होती है, ऐसा समझना चाहिये। देवयानमार्ग के 'अर्चि' आदि पदों से उपलक्षित भी वे प्रदेशविशेष हैं, जिनको लांघकर ब्रह्मोपासक आत्मा उस विशिष्ट प्रदेश तक पहुंचता है, जहां से आवश्यकरूप में ब्रह्मसाक्षात्कार होकर उसे ब्रह्मप्राप्ति हो-जाती है। यह सब शास्त्रदृष्टि के अनुसार लिखा गया है। ऐसे प्रसंगों में केवल 'ब्रह्म' पद का प्रयोग [छा० ५।१०।२] भी उसी प्रदेशविशेष को कहता है, साक्षात् परब्रह्म को नहीं। केवल इस भावना से कि वह उपासक आत्मा की एक विशेष स्थिति होती है; इसे अवस्थाविशेष भी कहसकते हैं। इसमे वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नहीं आता।

ऐसे लोकविशेष का संकेत 'यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त' [यजु० ३२।१०] मन्त्र में प्रतीत होता है। बृहदारण्यक [१।५।१६] में तीन लोकों का निर्देश हुआ है–मनुष्यलोक, पितृलोक, देवलोक। साधारणरूप से उस तृतीयधाम को 'देवलोक' पद से कहा जाता है। ऐसा प्रदेश भूलोक से अलग रहने के कारण उसके लिये उपासक आत्मा की गति होना संभव एवं उपयुक्त है। जिस आत्मा को ब्रह्मसाक्षात्कार यहीं होजाता है, उसके लिये शास्त्र गति नहीं मानता। वह मरणकाल में स्थूल-सूक्ष्मदेह को यहीं छोड़कर तत्काल ब्रह्म को प्राप्त होजाता है। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति [बृ० ४।४।६]। आगे कहा–'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' [बृ० ४।४।७] जब समस्त कामना समाप्त होजाती हैं, तब मर्त्य अमृत होजाता है, और यहीं ब्रह्म को प्राप्त करलेता है। इसप्रकार उपासक देवयानमार्गद्वारा कार्यब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, यह बादरि आचार्य का विचार है ॥७॥

इसी विषय में आचार्य सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

विशेषितत्वाच्च ॥८॥

[विशेषितत्वात्] विशेषित होने से [च] और। उपासक कार्यब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, यह इससे भी प्रमाणित होता है, कि इस प्राप्ति को शास्त्र में कुछ विशेषताओं से युक्त बताया गया है।

बृहदारण्यक उपनिषद् [६।२।१५] में कहा–'ब्रह्मलोकान् गमयति, ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति' यहां ब्रह्मलोक को बहुत्व और निवास की विशेषता से युक्त बताया गया है। ब्रह्मलोक बहुत हैं, तथा वे उपासक आत्मा अत्यधिक काल तक वहां निवास करते हैं। इससे प्रतीत होता है, कि वे कोई सीमित प्रदेश हैं। ब्रह्मप्राप्ति की यह स्थिति नहीं है। ब्रह्म को प्राप्त होकर आत्मा किसी सीमित प्रदेश में निवास नहीं करता, वह ब्रह्मानन्द की अनुभूति करता सर्वत्र विचरता है। ब्रह्मलोक और वहां प्राप्ति के इन विशेषणों से स्पष्ट होता है, कि 'ब्रह्मलोकप्राप्ति' का अर्थ परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त

होना नहीं है, प्रत्युत ब्रह्मद्वारा कीगई सृष्टि में यह ऐसे लोक हैं, जहां पहुंचकर आत्मा आवश्यकरूप से कालान्तर में ब्रह्म को प्राप्त होजाता है, इससे आचार्य बादरि का यह विचार युक्त है, कि उपासक देवयानमार्गद्वारा कार्यब्रह्मलोक को लेजाया जाता है ॥८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि 'ब्रह्मलोकान् गमयति' [बृ० ६।२।१५] के आधार पर कार्यब्रह्मलोक को जाना स्पष्ट होता है, तो 'स एनान् ब्रह्म गमयति' [छा० ५।१०।२] सन्दर्भ की क्या संगति होगी ? यहां तो स्पष्ट 'ब्रह्म' पद पढ़ा है। सूत्रकार ने बताया—

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥९॥

[सामीप्यात्] समीप होने से [तु] तो [तद्व्यपदेशः] उसका कथन। उक्त स्थल में ब्रह्म का कथन तो ब्रह्म के समीप होने से है।

यद्यपि परब्रह्म परमात्मा सर्वव्यापक होने से सबके सदा समीप है और सब उसके समीप हैं; तथापि अज्ञान के कारण आत्मा उससे दूर बना रहता है। ऐसी दशा में समीप होता हुआ भी वह दूर है—'तद्दूरे तद्वन्तिके' [ईश० ५]। उपासक उच्चस्तरीय उपासनाफल का अधिकारी होने के कारण जब मृत्यु के अनन्तर देवयानमार्गद्वारा ब्रह्म-लोक को प्राप्त होता है, तब उसकी वह स्थिति ब्रह्म के समीप होती है; कारण यह है, कि वहां से ब्रह्मसाक्षात्कार होकर वह निश्चितरूप से ब्रह्म को प्राप्त होजाता है। इस सामीप्य के कारण उपासक आत्मा की उस स्थिति को छान्दोग्य उपनिषद् [५।१०।२] में 'ब्रह्म को प्राप्त होजाना' कह दिया गया है। इसप्रकार वहां 'ब्रह्म' पद का तात्पर्य लक्षणावृत्ति से 'कार्यब्रह्मलोक' समझना चाहिये ॥९॥

शिष्य जिज्ञासा करता है 'कार्यब्रह्मलोक को प्राप्त होकर उपासक ब्रह्म को कब प्राप्त होता है ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥१०॥

[कार्यात्यये] कार्यब्रह्मलोक को लांघजाने पर [तदध्यक्षेण] उन लोकों के अध्यक्ष के [सह] साथ [अतः] इस कार्यलोक के [परं] अनन्तर [अभिधानात्] कथन से। जब ब्रह्मसाक्षात्कार होजाने पर उपासक के लिये कार्यब्रह्मलोक समाप्त होजाता है, तब यहां से लोकों के अध्यक्ष परब्रह्म परमात्मा के साथ प्राप्त होजाता है, क्योंकि शास्त्र में ऐसा कहा गया है।

कार्यब्रह्मलोक को प्राप्त हुए ब्रह्मोपासक जब निरन्तर ब्रह्म में निष्ठा से साक्षात् ब्रह्मदर्शन पालेते हैं, तब उस लोक का भोग समाप्त होजाने तथा लिङ्गशरीर के न रहने पर सब लोकों के अधिपति परब्रह्म परमात्मा के साथ जामिलते हैं। बृहदारण्यक [४।४।८] में कहा—'तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गलोकमित ऊर्ध्वो विमुक्ताः' धीर ब्रह्मज्ञानी स्वर्गलोक [कार्यब्रह्मलोक] को प्राप्त होकर उससे आगे जा विमुक्त होजाते

हैं। प्रश्न उपनिषद् [५।५] में कहा–'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' वह सामों[1] से ब्रह्मलोक को लेजाया जाता है, तब वह प्रकृति से पर जीवघन जो अपना स्वरूप है उससे भी पर सबलोकों में व्याप्त पुरुष को साक्षात् देखता है। यही ब्रह्म का साक्षात् दर्शन है। तब 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' [तै० २।१] ऐसा ब्रह्मज्ञानी 'पर' को पालेता है। ब्रह्म का साक्षात् दर्शन ब्रह्म को पाना है, यही मोक्ष है। इसप्रकार उपासक देवयानमार्ग द्वारा मोक्ष को प्राप्त करता है ।।१०।।

उक्त विषय में सूत्रकार ने स्मृतिप्रमाण का निर्देश किया—

स्मृतेश्च ।।११।।

[स्मृतेः] स्मृति से [च] और। और स्मृति से ज्ञात होता है, कि उपासक कार्य-ब्रह्मलोक को जाकर वहां से परब्रह्म को प्राप्त होता है।

स्मृति इस अर्थ को स्वीकार करती है–'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्' [अनुपलब्धमूल] जब कार्यब्रह्मलोक के अवसान का समय आजाता है, तब वे साक्षात् ब्रह्मदर्शी कृतकृत्य उपासक ब्रह्म के सहयोग को प्राप्त हो परमपद में प्रवेश करजाते हैं। आनन्दस्वरूप ब्रह्म परमपद है, उस आनन्द की अनुभूति में लीन होजाते हैं। देवयानमार्ग से ब्रह्मलोक को उपासकों की प्राप्ति के विषय में यह आचार्य बादरि का विचार प्रस्तुत किया गया।

कार्यब्रह्मलोक अथवा अपरब्रह्म पद से कहे जानेवाले अर्थ को कतिपय व्याख्या-कारों ने 'हिरण्यगर्भ' नाम दिया है, तथा उसे ब्रह्म का चेतनकार्य माना है। ऐसा मन्तव्य चिन्तनीय प्रतीत होता है। शास्त्रीय दृष्टि के अनुसार चेतनतत्त्व कार्य हो, यह संभव प्रतीत नहीं होता। ब्रह्म को उसके किसी निम्नस्तर में 'हिरण्यगर्भ' माना गया, और उसे कार्य कहा गया, यह एक बड़ी भ्रान्ति का विस्तार हुआ है। कोई विशिष्ट जीवात्मा इस स्तर को प्राप्त होजाते हैं, और वे ब्रह्म के गुमाश्ते के रूप में कार्य करते हैं, उनका नाम 'हिरण्यगर्भ' है, यह समझना भी भ्रान्ति का रूप है। ऐसे विचार रखनेवाले 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे' [ऋ० १०।१२१।१।। यजु० १३।४; २३।१; २५।१०।। अथर्व० ४।२।७] इत्यादि मन्त्र का यह अर्थ करते हैं, कि हिरण्यगर्भ सबसे पहले उत्पन्न होता है। वस्तुतः मन्त्र का यह अर्थ न होकर अनर्थ है, भ्रामक है। मन्त्र का अर्थ है सर्ग से पहले हिरण्यगर्भ

---

१. 'साम' पद का तात्पर्य है–त्रिमात्र ओंकाररूप ब्रह्म का ध्यान। 'ओ३म्' परमात्मा का सर्वोत्तम नाम है। परमात्मा की उपासना का यह सर्वश्रेष्ठ साधन है। त्रिमात्र 'ओ३म्' के रूप में ब्रह्म की उपासना अथवा ब्रह्म का ध्यान करना, 'साम' पद से यहां अभिलक्षित है। उसी ध्यान व उपासना का फल है–ब्रह्मलोक को उपासक का प्राप्त होना।

विद्यमान रहता है, वह सब प्राणी-अप्राणी तत्त्वों का एकमात्र सिद्ध पति है, वह समस्त लोक-लोकान्तरों का धारण करता है। इससे स्पष्ट है 'हिरण्यगर्भ' परमात्मा का एक नाम है। यहां इस पद से परब्रह्म परमात्मा का निर्देश है। यह उत्पन्न कभी नहीं होता, इसलिये यह कार्य नहीं।

इसीप्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् के एक सन्दर्भ के आधार पर कतिपय विद्वानों ने 'हिरण्यगर्भ' को उभारने का प्रयास किया है। वह सन्दर्भ है–'तद्वै तत्, एतदेव तदास, सत्यमेव; स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमांल्लोकान्' [बृ० ५।४।१] वह वही है, यही वह है, सत्य ही; वह–जो इस महान यजनीय पूजनीय प्रथमज सत्य को 'ब्रह्म है' इसप्रकार जानलेता है–इन लोकों को जीतलेता है। इस सन्दर्भ में 'प्रथमज' पद का अर्थ कतिपय विद्वानों ने 'सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ' किया है। यह अत्यन्त चिन्तनीय है। उस सत्य को यहां ब्रह्मरूप कहा है, अर्थात् वह सत्य ब्रह्म है, ब्रह्म से अतिरिक्त सत्य नाम का और कोई तत्त्व नहीं है। जब ब्रह्म ही सत्य है, तो उसे उत्पन्न हुआ कैसे कहा जासकता है। यहीं वाक्यशेष में पुनः कहा–'सत्यं ह्येव ब्रह्म' [बृ० ५।४।१]। सत्य-रूप ब्रह्म को उत्पन्न हुआ कहना किसी रीति से उपपादित नहीं है। वस्तुतः 'प्रथमजं' पद का वह अर्थ ही नहीं है, जो उन विद्वानों ने समझा है। उसका अर्थ है–जो सबसे पहले विद्यमान है, सदा समानरूप से विद्यमान रहता है। यह वर्णन ब्रह्म को बतलाता है, अन्य किसीको नहीं। 'हिरण्यगर्भ' परब्रह्म का एक नाम है, क्योंकि समस्त ज्योतिर्मय लोक-लोकान्तर उसके गर्भ अर्थात् बीच में रहते हैं। समस्त विश्व कितना भी बड़ा है, पर उससे बाहर नहीं। इससे यह मानना शास्त्रीय दृष्टि के अनुकूल है, कि कार्यब्रह्मलोक उपासक आत्मा के कोई ऐसे स्तर, अथवा सृष्टि में कोई ऐसे विशेष प्रदेश हैं, जहां से आत्मा विना किसी रुकावट के ब्रह्म को प्राप्त होजाता है ॥११॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, गत सूत्रों में बादरि के नाम से जो विचार प्रस्तुत किया है, वह किस अन्य विचार की प्रतियोगिता में किया गया है? सूत्रकार ने बताया—

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥१२॥

[परं] पर को [जैमिनिः] जैमिनि [मुख्यत्वात्] मुख्य होने से। मुख्यब्रह्म का कथन होने से ब्रह्म तक आत्मा लेजाया जाता है, यह जैमिनि आचार्य का विचार है।

शास्त्र में जहां देवयानगति का वर्णन है, वहां स्पष्ट कहा गया है–'स एनान् ब्रह्म गमयति' [छा० ५।१०।२] वह इनको ब्रह्म तक लेजाता है। यहां 'ब्रह्म' पद अभिधावृत्ति से परमात्मा परब्रह्म का वाचक है, उपासक ब्रह्म तक लेजाया जाता है, इस कथन से स्पष्ट होता है, उपासक देवयानगति द्वारा मुख्यब्रह्म को प्राप्त होता है, कार्यब्रह्मलोक को नहीं। यह जैमिनि आचार्य का विचार है ॥१२॥

इसी विषय को पुष्ट करते हुए सूत्रकार ने कहा—

दर्शनाच्च ॥१३॥

[दर्शनात्] देखे जाने से [च] तथा। ब्रह्म पद का परब्रह्म परमेश्वर अर्थ में प्रयोग देखे जाने से तथा शास्त्र में देवयानगति से अमृतप्राप्ति का उल्लेख देखे जाने से ज्ञात होता है, कि उपासक गतिद्वारा परब्रह्म को प्राप्त होता है, कार्यब्रह्मलोक को नहीं।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' [तै० २।१], 'ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' [छा० ८।१४।१], 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' [बृ० ३।६।२८] इत्यादि सन्दर्भों में 'ब्रह्म' पद का प्रयोग परब्रह्म परमात्मा के अर्थ में हुआ है। उसीके समान 'स एनान् ब्रह्म गमयति' [छा० ५।१०।२] इस सन्दर्भ में 'ब्रह्म' पद परब्रह्म परमेश्वर का बोधक है। इसलिये उपासक देवयानगति-द्वारा मुख्यब्रह्म को प्राप्त होता है, यही समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त नाडीद्वारा अथवा देवयानगतिद्वारा 'अमृत' को प्राप्त होने का स्पष्ट उल्लेख है—'तयोर्ध्वमायन्न-मृतत्वमेति' [कठ० २।३।१६; छा० ८।६।६] 'अमृत' पद से परब्रह्म का ग्रहण होता है, कार्यब्रह्मलोक का नहीं; क्योंकि कार्यलोक 'अमृत' नहीं होसकता। फलतः जैमिनि के विचार से यही मन्तव्य ठीक है, कि उपासक देवयानमार्गद्वारा परब्रह्म को प्राप्त होता है ॥१३॥

प्रस्तुत अर्थ को दृढ़ करने की भावना से सूत्रकार ने बताया—

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॥१४॥

[न] नहीं [च] और [कार्ये] कार्य में [प्रतिपत्त्यभिसन्धिः] प्राप्ति का तात्पर्य। कार्यब्रह्मलोक में उपासक की प्राप्ति का तात्पर्य शास्त्र में कहीं नहीं है।

शास्त्र के किसी वचन से ऐसा तात्पर्य कहीं प्रकट नहीं होता, कि ब्रह्मोपासक देवयानमार्गद्वारा कार्यब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। छान्दोग्य [८।१३।१] में कहा—'अकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामीति' उपासक कहता है—मैं कृतकृत्य होकर अकृत ब्रह्मलोक को प्राप्त होरहा हूं। यहां ब्रह्मलोक का 'अकृत' विशेषण इस भाव को स्पष्ट करता है, कि वह ब्रह्मलोक कार्य नहीं है। 'ब्रह्मलोक' पद का ब्रह्मदर्शन अथवा ब्रह्म ही जो लोक है, ऐसा अर्थ समझकर यह आशंका नहीं रहती, कि वह कोई बना हुआ लोक-विशेष होना चाहिये। छान्दोग्य [८।१४।१] में आगे कहा—'स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' वह मैं उपासक आत्मा प्रजापति की सभा एवं घर को प्राप्त होता हूं। उसीको प्रस्तुत सन्दर्भ में पहले पदों से ब्रह्म और अमृत कहा है। इसलिये उपासक को शास्त्र में जिस ब्रह्मलोक की प्राप्ति का वर्णन है, उसके विषय में ऐसा अभिप्राय कहीं प्रकट नहीं होता, कि वह कार्य है। फलतः उपासक मुख्यब्रह्म को प्राप्त होता है, शास्त्र का यही तात्पर्य समझना चाहिये; यह जैमिनि आचार्य का विचार है ॥१४॥

अमानव पुरुष किन उपासकों को ब्रह्मलोक तक पहुंचाता है, यह स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने बादरि और जैमिनि के विचारों में सामञ्जस्य की संभावना का संकेत किया—

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथाऽदोषात् तत्क्रतुश्च ॥१५॥

[अप्रतीकालम्बनान्] जो उपासना में प्रतीक का आलम्बन करनेवाले नहीं उन सबको [नयति] लेजाता है [इति] यह [बादरायणः] बादरायण [उभयथा] दोनों प्रकार [अदोषात्] दोष न होने से [तत्क्रतुः] उसमें संकल्पवाला [च] और। प्रतीक का आलम्बन न कर जो साक्षात् आनन्दस्वरूप ब्रह्म की उपासना करते हैं, सूक्ष्मशरीररूप अमानव पुरुष उन उपासकों को देवयानमार्गद्वारा ब्रह्म तक लेजाता है; यह आचार्य बादरायण [सूत्रकार] का मत है। क्योंकि वैसा मानने पर पहुंचाने में कार्यब्रह्मलोक कहा जाय अथवा मुख्यब्रह्म, दोनों प्रकार कोई दोष नहीं है। कारण यह है, कि उनका दृढ़ संकल्प ब्रह्मप्राप्तिविषयक रहता है।

प्राकृतिक प्रतीकों के सहारे ब्रह्म की उपासना नहीं होती। जो इसप्रकार उपासना करते हैं, उनको छोड़कर ऐसे उपासकों को अमानव पुरुष ब्रह्म तक पहुंचाता है, जो परब्रह्म के मुख्य नाम 'ओ३म्' के आधार पर तथा अन्तःकरण को निर्विषय करने के अभ्यास के आधार पर ब्रह्म की उपासना करते हैं। सूत्रकार ने स्वयं कहा है, कि प्रतीक में ब्रह्म की उपासना अथवा उसका निदिध्यासन सर्वथा निष्प्रयोजन है [वे० सू० ४।१।४]। ऐसे केवलब्रह्मोपासक आत्मा देवयानमार्ग से अपने लक्ष्य तक पहुंचते हैं। उनकी गति का लक्ष्य ब्रह्म को प्राप्त करना है, ऐसी स्थिति में वे कार्यब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं अथवा ब्रह्म को, इस दोनों प्रकार के कथन में कोई दोष अथवा अन्तर नहीं है; क्योंकि देवयान-गति उन्हीं आत्माओं की होती है, जिनको चालू देह के रहते पूर्णज्ञान नहीं हुआ, सद्यःकालान्तर में होजाने को है; पर चालू देह के प्रारब्धकर्म समाप्त होचुके हैं, ऐसे अप्रतीकालम्बन ब्रह्मोपासक आत्मा देवयानमार्ग से कार्यब्रह्मलोक जाकर पुनः ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। उनके लिये ब्रह्मसाक्षात्कार का यही क्रम शास्त्र बताता है, उसमें एक आचार्य ने एक पग पहले की बात कहदी, दूसरे ने अन्तिम पग तक कहदी; इसमें कोई असामञ्जस्य नहीं। सूत्र में 'तत्क्रतुः' पद 'तत्क्रतु' पदघटित श्रुति का निर्देश करता है। जिस श्रुतिसन्दर्भ में 'तत्क्रतु' पद है, उक्त भाव को वह श्रुति प्रकट करती है। वह है—'स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तद-भिसम्पद्यते [बृ० ४।४।५] पुरुष की जैसी कामना होती है वैसा संकल्प होता है, जैसा संकल्प होता है वैसा कर्म करता है, जैसा कर्म करता है वैसा फल प्राप्त होता है। ब्रह्म-जिज्ञासु जनों का संकल्प ब्रह्म का साक्षात्कार करना है, उसीके अनुसार वे अनुष्ठान करते हुए सफल होजाते हैं। सफलता का क्रम प्रथम निर्दिष्ट कर दिया गया है।

कतिपय व्याख्याकारों ने सूत्र के 'उभयथाऽदोषात्' पदों के स्थान पर 'उभयथा दोषात्' पाठ मानकर सूत्र की व्याख्या की है। उनका कहना है, कि देवयानमार्ग का अचि

आदि गण प्रतीकालम्बन उपासकों को छोड़कर परब्रह्म के उपासकों को तथा अक्षरस्वरूप की ब्रह्मभाव से उपासना करनेवालों को परब्रह्म तक लेजाता है, ऐसा क्यों है? इसमें हेतु दिया–'उभयथा दोषात्' यदि कार्योपासकों [प्रतीकोपासकों] को लेजाता है, ऐसा मानें, तो 'अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य' [छा० ८।३।४] इत्यादि श्रुति का विरोध होता है, क्योंकि जो कार्योपासक हैं, वे 'परमज्योति' को प्राप्त नहीं होते; इसप्रकार श्रुतिविरोध दोष होता है। यदि अर्चि आदि गण केवल परब्रह्म के उपासकों को लेजाता है, ऐसा नियम करते हैं, तो 'तद्य इत्थं विदुः, ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति' [छा० ५।१०।१; बृ० ६।२।१५] जो ऐसा जानते हैं और जो अरण्य में श्रद्धा तप को उपासते हैं, वे अर्चि आदि को प्राप्त होते हैं, इत्यादि श्रुति का विरोध होता है; क्योंकि जो ब्रह्मोपासक नहीं हैं उनकी भी यहां अर्चि आदि गति कही है। तब उभयथा दोष होने से 'यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति [छा० ३।१४।१] इस लोक में जैसे कर्म करनेवाला पुरुष होता है, यहां से देह छोड़कर वैसा फल होता है, इस श्रुति से कर्मानुसार गति एवं फल आदि की प्राप्ति माननी चाहिये, यह बादरायण कहता है। इन व्याख्याकारों ने बादरि-जैमिनि मतों के सामञ्जस्य की चिन्ता नहीं की। यद्यपि छिपे तौर पर परिणाम इसका भी वही निकलता है। सूत्र में पाठभेद के कारण इसका निर्देश कर दिया है ॥१५॥

अप्रतीकालम्बन उपासकों के लिये देवयानमार्ग से ब्रह्मप्राप्ति होने में सूत्रकार ने अन्य उपोद्बलक प्रस्तुत किया—

विशेषं च दर्शयति ॥१६॥

[विशेषं] विशेष [च] और [दर्शयति] दिखलाता है। शास्त्र प्रतीकालम्बन उपासकों की गति को भिन्न बतलाता है, तथा ब्रह्मोपासकों के लिये देवयानगति को विशेषरूप से दिखलाता है।

प्रतीकोपासना के विभिन्न फल शास्त्र बताता है। छान्दोग्य [७।१।४-५] में नामप्रतीकोपासना का उसीके अनुसार फल बताया है। आगे [छा० ७।२।२] 'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' कहकर वाक्प्रतीक से ब्रह्मोपासना का जो फल कहा है, वह नामप्रतीकोपासना के फल से भिन्न है। प्रतीकोपासना के फल ब्रह्मप्राप्ति न कहकर अन्य बताये हैं, जो देहत्याग के अनन्तर उपासना के अनुसार प्राप्त होते हैं। ब्रह्मोपासना का फल ब्रह्मप्राप्ति है; ऐसे उपासकों की गति के लिये देवयानमार्ग का निर्देश है। छान्दोग्य [५।१०।२] और बृहदारण्यक [६।२।१५] दोनों में इन उपासकों के लिये विशेषरूप से देवयानगति का उल्लेख है। इससे निश्चित होता है, प्रतीकोपासकों को छोड़ उन्हीं उपासकों को अर्चि आदि गण ब्रह्मलोक को लेजाता है, जो साक्षात् ब्रह्म की उपासना करते हैं ॥१६॥

इति चतुर्थाऽध्यायस्य तृतीयः पादः

अथ चतुर्थाध्याये चतुर्थः पादः

तृतीय पाद में ब्रह्मोपासना के फल—देवयानमार्ग से कार्यब्रह्मलोक की प्राप्ति—का निरूपण किया। अब चतुर्थ पाद में ब्रह्मसाक्षात्कार के फल ब्रह्मप्राप्ति का प्रतिपादन किया जाता है। इस ब्रह्मप्राप्ति का नाम मुक्ति है, जहां समस्त दुःखों का नाश होकर केवल ब्रह्मानन्द की अनुभूति का अस्तित्व है। आत्मा तब किस रूप से वहां रहता है ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

सम्पद्याविर्भावः स्वेनशब्दात् ॥१॥

[सम्पद्य] प्राप्त होकर [आविर्भावः] प्रकट होना [स्वेनशब्दात्] 'स्वेन' शब्द से। 'स्वेन' पद से युक्त श्रुति के कथन से ज्ञात होता है, कि आत्मा ब्रह्म को प्राप्त होकर अपने कैवल्यरूप से प्रकट होता है।

छान्दोग्य [८।१२।३] में कहा—'एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' ऐसे ही यह ब्रह्मसाक्षात्कार किया हुआ आत्मा इस शरीर से उठकर परज्योति [परब्रह्म] को प्राप्त होकर अपने वास्तविक कैवल्यरूप से प्रकट होता है। यहां 'स्वेन रूपेण' इस कथन से, परब्रह्म को प्राप्त होकर अपने रूप से प्रकट होने का तात्पर्य यह है, कि आत्मा जब संसारी दशा में है, तब स्थूल-सूक्ष्मशरीरों से आवेष्टित तथा रागद्वेष आदि से अभिभूत रहता है। परन्तु जब ब्रह्म का साक्षात्कार करलेता है, और उसके फलस्वरूप इस शरीर-आवेष्टन को छोड़कर ब्रह्म को प्राप्त होजाता है, तब वह केवल आत्मस्वरूप से अवस्थित रहता है। शरीरादि बन्धनों से विनिर्मुक्त होजाता है। यह आत्मा का अपना वास्तविक स्वरूप है ॥१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, मुक्त आत्मा का वह रूप वास्तविक अपना है, यह कैसे ज्ञात होता है ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥२॥

[मुक्तः] मुक्त [प्रतिज्ञानात्] प्रतिज्ञावचन से। प्रतिज्ञावाक्य से यह ज्ञात होता है, कि मुक्त अवस्था में जो रूप प्रकट होता है, वह आत्मा का अपना वास्तविक रूप है।

छान्दोग्य [८।७।१] में प्रजापति कहता है—यह शुद्ध आत्मा जरा मृत्यु शोक भूख प्यास आदि से रहित है, सच्ची कामनाओं और सच्चे संकल्पोंवाला है, उसे ढूंढना चाहिये वह जानने योग्य है। यह आत्मा का संसारी अवस्था से रहित स्वरूप है। संसारी अवस्था में वह प्रकृतिसंपर्क से स्थूल-सूक्ष्मशरीरों से युक्त होकर प्रिय-अप्रिय राग-द्वेष भूख-प्यास आदि से अपने को अभिभूत अनुभव करता है। यह आत्मा की वास्तविक कैवल्य अवस्था नहीं है। जो कैवल्य अवस्था है, उसीके विषय में प्रजापति का प्रतिज्ञा-

वाक्य है, कि वह विजिज्ञासितव्य है, उसे जानना चाहिये। उसीके आधार पर आगे कहा है–'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' [छा० ८।१२।३] ब्रह्म को साक्षात्कर यह आत्मा इस शरीर से उठकर परज्योति को प्राप्त हो अपने कैवल्यरूप से प्रकट होता है। इसीके साथ कहा–'स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति' [छा० ८।१२।३] जो परज्योति है वही उत्तमपुरुष है, उसमें आत्मा अपने पूर्ण कैवल्यरूप से प्राप्त होता है। परज्योति अथवा पर-पुरुष को प्राप्त होना आत्मा का मोक्ष है। इस भाव को मुण्डक [३।२।८] में कहा–'तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' जब आत्मा ब्रह्म का साक्षात्कार करलेता है, तब देव-दत्तादि नाम तथा देहादि रूप से विमुक्त होकर परात्पर पुरुष को अर्थात् परब्रह्म को प्राप्त होता है। प्रकृति से पर आत्मा उससे पर ब्रह्म है, उसको प्राप्त होना आत्मा की विमुक्त अवस्था है, वही उसका अपना कैवल्यरूप है ॥२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, छान्दोग्य [८।१२।३] के सन्दर्भ में जिसे 'अपनेरूप से प्रकट होना' कहा है, वह तो वहां 'सम्प्रसाद' बताया है, जो एक अवस्थाविशेष है, इससे आत्मा का ग्रहण कैसे होता है? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

आत्मा प्रकरणात् ॥३॥

[आत्मा] आत्मा [प्रकरणात्] प्रकरण से। उक्त छान्दोग्य सन्दर्भ में 'सम्प्रसाद' पद से आत्मा का ग्रहण होता है, यह प्रकरण से जाना जाता है।

'य आत्मा अपहतपाप्मा' [छा० ८।७।१] इत्यादि से आत्मा का प्रकरण है। आगे [छा० ८।८–११] इसीको जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति अवस्थाओं से युक्त बताकर कहा–'इदं शरीरं···तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानं, आत्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां ······अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' [छा० ८।१२।१] इस अमरणधर्मा अशरीर आत्मा का यह मर्त्य शरीर अधिष्ठान है, जब यह सशरीर रहता है, प्रिय और अप्रिय से अभिभूत रहता है; जब यह शरीरबन्धन से रहित होजाता है, तब इसको सांसारिक प्रिय अप्रिय का स्पर्श नहीं रहता। यह आत्मा की वह अवस्था है, जब इसे ब्रह्म का साक्षात्कार होजाता है। आत्मा की उसी अवस्था को लक्ष्यकर आगे [छा० ८।१२।३] उसके लिये 'सम्प्रसाद' पद का प्रयोग हुआ है। फलतः प्रकरण से स्पष्ट होता है, कि यहां 'सम्प्रसाद' पद से आत्मा का ग्रहण है ॥३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या आत्मा की ब्रह्म में प्राप्ति ऐसी है, जैसे देवदत्त ग्राम में प्राप्त होकर अलग अवस्थित रहता है, अथवा ऐसी है जैसे नदियां समुद्र में जाकर अविभाग से अवस्थित रहती हैं? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥४॥

[अविभागेन] न विभाग से [दृष्टत्वात्] देखा हुआ होने के कारण। मोक्ष में आत्मा ब्रह्म के साथ अविभाग से अवस्थित रहता है, क्योंकि तब आत्मा के लिये ब्रह्म देखा हुआ होता है।

ब्रह्मज्ञान होजाने से आत्मा की जो ब्रह्म को प्राप्ति बताई गई है, वह ऐसी समझनी चाहिये, जैसी नदियों की समुद्र को प्राप्ति मानी जाती है। इस भाव को मुण्डक उपनिषद् [३।२।८] में स्पष्ट किया–'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' जैसे नदियां बहती हुई समुद्र में छिप जाती हैं अपने नाम और रूप को छोड़कर; ऐसे ब्रह्म को साक्षात् करनेवाला आत्मा अपने नाम देवदत्तादि तथा रूप देहादि से सर्वथा छुटा हुआ, परात्पर दिव्यपुरुष के समीप चला जाता है। नदी जब समुद्र में मिल जाती है, तब अपने पहले नाम और उस विशेषरूप को छोड़ देती हैं, पर नदी के रूप में जो जल समुद्र में जाकर मिलते हैं, वे स्वरूप से अपने अस्तित्व का परित्याग कभी नहीं करते। जलरूप में दोनों समान हैं, पर समुद्रजल के लावण्य से नदीजल आप्लावित होजाता है, वह ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार फिर उठ आता है, नदीरूप में बहकर पुनः वहां पहुंचता है। यह क्रम अनादि–अनन्त है। ऐसी ही कुछ स्थिति आत्मा और ब्रह्म के विषय में किसी सीमातक विचारी जाती है। दोनों चेतन हैं, संसारनदी के रूप में बहता हुआ आत्मा ब्रह्म तक पहुंचता है। उस अवस्था में उस आनन्द से आप्लावित रहता है। ब्रह्म के साथ अविभाग से रहने का तात्पर्य यही है, कि ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, और आत्मा उस आनन्द की अनुभूति करता है; यही इनकी अविभागस्थिति है। आत्मा वहां अपने अस्तित्व को छोड़ बैठता है, ऐसा कभी संभव नहीं। इसीकारण मुण्डक [३।२।३] में अन्यत्र कहा–'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' वह तब परम समता को प्राप्त होजाता है। 'यत्र नान्यत् पश्यति' [छा० ७।२४।१] जिस अवस्था में वह आत्मा आनन्द के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं देखता। 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत्पश्येत् [बृ० ४।३।२३] आनन्दानुभूति के अतिरिक्त वह दूसरा कुछ नहीं है, जो उससे अन्य विभक्त को देखे। 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' [बृ० ४।४।७] ब्रह्म होकर ब्रह्म को प्राप्त होजाता है, इसका वही अभिप्राय है। ब्रह्म क्या है ? आनन्द ही तो ब्रह्म है; जब आत्मा पूर्णरूप से आनन्दानुभूति करता है, यह अवस्था उसकी ब्रह्म को प्राप्त होने की है। यदि वास्तविकरूप से वह ब्रह्म है, तो 'ब्रह्माप्येति' कहना सर्वथा निरर्थक है। आत्मा तब ब्रह्म का साक्षात्कार कर चुका होता है, इसलिये अविभाग से रहता है। इस स्थिति को विभाग-सहिष्णु अविभाग कहना उपयुक्त है ॥४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, मोक्ष में आत्मा अपने रूप से अभिनिष्पन्न रहता है–'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते [छा० ८।१२।३] यह बताया गया। परन्तु उसका वह रूप है क्या ? आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में प्रथम जैमिनि का विचार प्रस्तुत किया—

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥५॥

[ब्राह्मेण] ब्राह्म-ब्रह्मसम्बन्धी से [जैमिनिः] जैमिनि, [उपन्यासादिभ्यः] उपन्यास आदि के कारण। मोक्ष में आत्मा ब्रह्मसम्बन्धीरूप से अवस्थित रहता है, उपन्यास आदि से यह रूप जाना जाता है; ऐसा जैमिनि आचार्य का विचार है।

सूत्र में 'उपन्यास' पद का अर्थ उपक्रम अथवा आरम्भ है। शास्त्र में जहां ब्रह्म-विषयक वर्णन हैं, वहां ब्रह्म के रूप का मुख्यतया प्रारम्भ में कथन होता है। सूत्र के 'आदि' पद से अन्य स्थलों में वर्णित ब्रह्मरूप का ग्रहण करलेना अपेक्षित है। किसी एक स्थल के उपक्रम उपसंहार का उपयोग भी यहां संग्राह्य है। मुण्डक [२।२।७] में कहा—'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' धीर आत्मा उसके साक्षात्कार-द्वारा देख लेते हैं उस आनन्दरूप अमृत को, जो सदा प्रकाशित रहता है। तैत्तिरीय [२।६] में कहा—'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' आनन्द ब्रह्म है यह जाने। इन प्रसंगों से स्पष्ट होता है, कि ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। छान्दोग्य [८।७।१] में 'सत्यकामः सत्य-सङ्कल्पः' कहकर उसके स्वरूप का वर्णन किया है। आचार्य जैमिनि का अभिप्राय है, कि ब्रह्म का जो आनन्द सत्यसंकल्प आदि रूप है, उसी रूप से आत्मा मोक्ष में अवस्थित रहता है। सर्वात्मना उस आनन्दानुभूति को करने के कारण आत्मा ब्राह्मरूप से अव-स्थित रहता है, यह कथन है। आचार्य जैमिनि के अनुसार 'स्वेन रूपेण' [छा० ८।१२।३] का तात्पर्य उक्त कारण से 'ब्राह्मेण रूपेण' समझना चाहिये।

छान्दोग्य [७।२५।२] में अन्यत्र कहा—'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' मुक्त आत्मा का सब लोकों में इच्छानुसार संचरण होजाता है। ब्रह्म स्वभावतः सर्वत्र व्याप्त है, सब लोकों में सदा प्राप्त है विद्यमान है। मुक्त आत्मा को इतने अंश में ब्रह्मरूपता प्राप्त होजाती है, कि वह इच्छानुसार सब लोकों में संचरण करसकता है, सदा सर्वत्र प्राप्त नहीं है। संचरण करना यह प्रमाणित करता है, कि आत्मा तब भी सर्वव्यापक ब्रह्म से भिन्न है। व्यापक तत्त्व के लिये 'संचरण' का कथन किया जाना सर्वथा असंगत है। इसलिये 'स्वेन रूपेण' का 'ब्राह्मेण रूपेण' तात्पर्य इसी भावना के अनुसार समझना चाहिये। मोक्ष में आत्मा अपने अस्तित्व को खोबैठता है, और ब्रह्मरूप होजाता है, अथवा लीन होजाता है, इसमें यथार्थता कुछ नहीं। ऐसे कथन उक्त भावना की छाया में औपचारिक कहे जासकते हैं। आत्मा सदा ब्रह्म है, यह कथन असंगत है; तब मोक्ष के साधन, स्वेन रूपेण अभिनिष्पत्ति आदि शास्त्रीय कथन निरर्थक होंगे। जब सदा वही रूप है, तो उसके लिये साधन या निष्पत्ति कैसी ?॥५॥

उक्त विषय में सूत्रकार ने अन्य विचार प्रस्तुत किया—

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥६॥

[चितितन्मात्रेण] चिति इतने मात्र से [तदात्मकत्वात्] वह स्वरूप होने से [इति] यह [औडुलोमिः] औडुलोमि आचार्य। चेतनमात्र स्वरूप से आत्मा मोक्ष में रहता है, क्योंकि उसका केवल वही स्वरूप है। ऐसा आचार्य औडुलोमि का विचार है।

आत्मा चेतनस्वरूप है, यह शास्त्रों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है। संसारी दशा में आत्मा प्रकृतिसंपर्क से देह इन्द्रिय आदि द्वारा संबद्ध रहता है, वह तत्त्व चेतन नहीं है। मोक्ष में वह संपर्क नहीं रहता, इसलिये मोक्ष में आत्मा चेतनमात्र स्वरूप से अवस्थित होता है, यह सिद्ध है। शास्त्र में आत्मा को चेतनस्वरूप कहा है–'कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' [बृ० ४।५।१३]। योगदर्शन [२।२०] में बताया–'द्रष्टा दृशिमात्रः' आत्मा सम्पूर्णरूप से चेतनमात्र है, इसलिये 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' [छा० ८।१२।३] का स्पष्ट अर्थ यही है, कि वह मोक्ष में अपने चैतन्यमात्ररूप से अवस्थित होता है; अन्य विजातीय संपर्क उसके साथ कुछ नहीं रहता। यह आचार्य औडुलोमि का विचार है ॥६॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त विचारों में अविरोध प्रकट करते हुए अपना मन्तव्य प्रस्तुत किया—

एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥७॥

[एवं] इसप्रकार [अपि] भी [उपन्यासात्] उपन्यास–कथन से [पूर्वभावात्] पहले के होने से [अविरोधं] अविरोध को [बादरायणः] बादरायण। मुक्ति में आत्मा के चेतनमात्र कथन का भी पहले ब्राह्मरूप कथन से अविरोध मानता है बादरायण आचार्य। क्योंकि शास्त्रों में ऐसा कहा गया है।

प्रकृतिसंपर्क से अलग होकर चेतनमात्र आत्मा मोक्ष में रहता है, यह आचार्य औडुलोमि का विचार शास्त्र के अनुकूल है। तथा आचार्य जैमिनि ने जो कहा, कि वह ब्रह्म के आनन्दरूप का अनुभव करने के कारण ब्राह्मरूप से मोक्ष में अवस्थित माना जाना चाहिये; यह विचार भी शास्त्रानुकूल है। क्योंकि आत्मा के लिये मोक्ष का यही स्वरूप शास्त्रकारों ने माना है। इसलिये सूत्रकार बादरायण का कहना है, कि इन विचारों में परस्पर कोई विरोध नहीं है। एक तथ्य एक आचार्य ने कह दिया, दूसरा दूसरे ने। दोनों मिलकर एक बात को पूरा कर देते हैं। मोक्ष में आत्मा ब्रह्म के आनन्द-रूप का अनुभव करता है, यह पहले आचार्य ने कह दिया; उस दशा में प्रकृति का संपर्क आत्मा से नहीं रहता, केवल चेतनस्वरूप आत्मा वहां रहता है, यह दूसरे ने कहा। इन दोनों को मिलाकर बात पूरी होजाती है। अर्थ को प्रतिपादन करने की यह आचार्यों की रीति है। सीधा न कहकर इसप्रकार से यथार्थ को प्रस्तुत कर देते हैं ॥७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, मोक्ष में आत्मा का जो ऐश्वर्यभोग यथाकामचाररूप में [छा० ७।२५।२] कहा है, वह क्या संकल्पविशेष से होता है, अथवा अन्य किसी प्रकार से ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥८॥

[संकल्पात्] संकल्प से [एव] ही [तु] तो [तच्छ्रुतेः] उसकी श्रुति से। मोक्ष में ऐश्वर्यभोग आदि केवल संकल्प से होता है, क्योंकि श्रुति से यह ज्ञात होता है।

लोक में देखा जाता है, जब कोई व्यक्ति कुछ करना चाहता है, तो उसके लिये संकल्प के साथ प्रयत्न एवं अन्य अनेक साधन जुटाने पर वह कार्य पूरा होपाता है। मुक्त के विषय में यह बात नहीं है। वह संकल्पमात्र से ऐश्वर्य का भोग करता है। आनन्द की अनुभूति उसका ऐश्वर्यभोग है। 'एव' पद से सूत्रकार ने यह प्रकट किया कि संकल्प से अतिरिक्त उसे अन्य किसी यत्न व साधन आदि की अपेक्षा नहीं होती। यह संकल्प क्या है? यह अन्तःकरण की संकल्पात्मक वृत्ति जैसा कोई भाव नहीं है। यह केवल आत्मा की वह अनुभूति है, जो–ऐसा होजाय–के रूप में उद्भूत होती है। छान्दोग्य [८।२।१०] में कहा–'यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते' जिस प्रदेश व कामना का वह अभिलाषी होता है, वह उसके संकल्प से ही उभर आता है, उससे सम्पन्न हुआ वह आनन्दित रहता है। मोक्ष में आत्मा का वह स्वाभाविक सामर्थ्य उद्भूत होजाता है, वही संकल्परूप है, जिससे वह मोक्ष-ऐश्वर्य का उपभोग करता है, उसे अन्य किसीप्रकार के यत्न व साधनों की अपेक्षा तब नहीं रहती। शतपथ ब्राह्मण [१४।४।२।१७] में आता है–'वदन् वाक् पश्यंश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनः' इत्यादि। इसका यही तात्पर्य है, कि मुक्त आत्मा अपने शक्तिरूप संकल्प से भावना के अनुसार ऐसा अनुभव करलेता है। इसका ऐसा अभिप्राय न समझना चाहिये, कि मोक्ष में वाक् आदि इन्द्रियां प्रादुर्भूत होजाती हैं। फलतः मोक्ष में संकल्पमात्र से ऐश्वर्यभोग होता है, यह प्रमाणसिद्ध है ॥८॥

सूत्रकार ने इसी आधार पर मुक्त आत्मा की अन्य विशेषता का निर्देश किया—

अत एव चानन्याधिपतिः ॥९॥

[अतः] इसलिये [एव] ही [च] और [अनन्याधिपतिः] न दूसरे अधिपति-वाला। तथा सत्यसंकल्प होने से ही मुक्त आत्मा, ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य अधिपतिवाला नहीं होता।

मोक्ष अवस्था में आत्मा प्रकृति के वश नहीं रहता, प्रत्युत उस शक्ति के अनुसार प्रकृति पर वशी होजाता है। इस रूप में वह स्वतन्त्र है स्वराट् है। छान्दोग्य में इस भाव को प्रकट किया है–'स वा एष एवं पश्यन्······आत्मानन्दः स स्वराड् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इसप्रकार वह परब्रह्म परमात्मा की सर्वव्यापकता सर्व-शक्तिमत्ता का साक्षात्कार करता हुआ आत्मा में आनन्द का अनुभव करता है, तब वह 'स्वराट्' होजाता है। आप ही अपने आपका राजा है। सब लोकों में उसका यथाकाम

संचरण रहता है। वह किसी प्रकृत्यंश से बद्ध नहीं रहता। प्राकृत शक्तियां उसपर किसी-तरह का आधिपत्य नहीं रखतीं। मनुस्मृति [१२।६२] में इस भाव को प्रकट किया है–'सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति' जो सब भूतों में परब्रह्म परमात्मा को व्याप्त तथा सब भूतों को परमात्मा में आश्रित यथायथरूप से साक्षात् करता है, वह आत्मयाजी ज्ञानी स्वाराज्य को प्राप्त करलेता है। 'स्वाराज्य' वह आनन्दानुभूति है, जो मोक्ष में प्राप्त होती है, क्योंकि तब वह मुक्त आत्मा सब सुखों का राजा होजाता है, स्वप्रकाश रहता है ॥६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या मोक्ष में ऐश्वर्यभोग के लिये शरीर इन्द्रिय आदि की अपेक्षा रहती है? आचार्य सूत्रकार ने अपनी चमत्कारपूर्ण विषयप्रतिपादनशैली का आश्रय लेते हुए प्रथम बादरि आचार्य का विचार इस विषय में प्रस्तुत किया—

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥१०॥

[अभावं] अभाव को [बादरिः] बादरि, [आह] कहा है [हि] क्योंकि [एवं] इसप्रकार। बादरि आचार्य मोक्ष में शरीर इन्द्रिय आदि के अभाव को मानता है, क्योंकि शास्त्र में ऐसा कहा है।

जब आत्मा संसारी दशा में शरीर इन्द्रिय आदि के साथ रहता है, तब वह प्रिय-अप्रिय अर्थात् सांसारिक व वैषयिक सुख दुःखों से घिरा रहता है। मोक्ष में ये सब सुख दुःख नहीं होते, इसलिये आवश्यक है, कि वहां शरीर इन्द्रियादि न रहें। इसीलिये साथ ही छान्दोग्य [८।१२।१] में कहा–'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' मोक्ष-दशा में प्रिय-अप्रिय के अस्पर्श को बताता हुआ शास्त्र वहां शरीर इन्द्रिय आदि का अभाव प्रकट करता है। इन सबके अभाव में मुक्तात्मा के ऐश्वर्यभोग का वर्णन करते हुए आगे छान्दोग्य [८।१२।५] में बताया–'मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते' मन से इन कामनाओं को अनुभव करता हुआ आनन्द लेता है। यदि शरीर इन्द्रिय आदि का अस्तित्व वहां रहता, तो यहां 'मनसा' कहना असंगत होता। 'मनस्' पद का अर्थ यहां मुक्त आत्मा की स्वशक्तिमात्र है; ऐसा नहीं, कि यहां प्राकृतिक मनस्तत्त्व को साधनरूप में बताया गया हो। मोक्ष प्रकरणों में यथावसर आत्मा की उस स्वरूपशक्ति को 'मनस्' अथवा 'संकल्परूप' में कहा गया है। फलतः मोक्ष में शरीर इन्द्रिय आदि का अभाव रहता है, यह आचार्य बादरि शास्त्र के अनुसार मानता है ॥१०॥

इसी विषय में आचार्य सूत्रकार ने जैमिनि का विचार प्रस्तुत किया—

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥११॥

[भावं] भाव–होना [जैमिनिः] जैमिनि [विकल्पामननात्] विकल्प के पढ़े जाने से। जैमिनि आचार्य मोक्ष में शरीर इन्द्रिय आदि का होना मानता है; क्योंकि

शास्त्रद्वारा इस विषय में विकल्प पढ़ा जाता है।

यदि इसी आधार पर मोक्ष में आत्मा के शरीर आदि का अभाव माना जाता है, कि शास्त्र वहां आत्मा को अशरीर बताता है; तो शास्त्र तो उस विषय में अनेक विकल्पों का कथन करता है। मोक्ष में आत्मा की कामचारता का उल्लेख करने के अनन्तर छान्दोग्य [७।२६।२] में कहा–उस मुक्त द्रष्टा आत्मा को तब मृत्यु रोग एवं दुःख कुछ नहीं सताता; वह सब ओर से सब प्राप्त करता व अनुभव करता है। आगे कहा–'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिः' [छा० ७।२६।२] वह एक प्रकार तीन प्रकार, पांच सात नौ ग्यारह प्रकार, एक दस बीस शत सहस्र प्रकार होजाता है। यह अनेक प्रकार से होने का जो विकल्प शास्त्र में कहा गया है, यह अनेकविध शरीरादि भेद के विना संभव नहीं है। इसलिये ऐसे विकल्प कथन के अनुसार मोक्ष में आत्मा के साथ शरीर आदि का होना मानना चाहिये। यह आचार्य जैमिनि कहता है ॥११॥

आचार्य सूत्रकार ने इस शास्त्रीय समस्या को सुलझाते हुए शास्त्रीय उदाहरण देकर बताया—

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥१२॥

[द्वादशाहवत्] द्वादशाह की तरह [उभयविधं] दोनों प्रकार [बादरायणः] बादरायण [अतः] इसकारण। क्योंकि शास्त्र दोनों प्रकार कहता है, इसकारण सूत्रकार बादरायण दोनों प्रकारों को मानता है, द्वादशाह की तरह।

शास्त्र मोक्ष में आत्मा के साथ शरीर इन्द्रिय आदि का सहयोग नहीं बतलाता, यह ठीक है; और यह भी ठीक है, कि वह उस दशा में विविध ऐश्वर्य भोगसकता है। शास्त्र के दोनों कथन ठीक हैं। केवल इतना समझलेना है, कि मुक्त आत्मा का ऐश्वर्य-भोग अथवा ऐश्वर्यानुभव संकल्पमात्र से होता है। वह संकल्प आत्मा का स्वसामर्थ्यरूप है, जो ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर अभिव्यक्त होता है। उसीके द्वारा आत्मा यथाकाम ऐश्वर्यानुभूति करसकता है, इसके लिये उस दशा में शरीर इन्द्रिय आदि सर्वथा अनपेक्षित हैं। शास्त्र में जैसे मोक्षदशा को स्पष्ट 'अशरीर' बताया है [छा० ८।१२।१], ऐसे सशरीर अथवा सेन्द्रिय होने का कहीं उल्लेख नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग [छा० ७।२६।२] में भी ऐसा कोई निर्देश नहीं है। अशरीर होते हुए अनेकविध ऐश्वर्यानुभूति की संभावना का शास्त्रीय निर्देश ऐसा ही समझना चाहिये, जैसा 'द्वादशाह' इष्टि के विषय में सत्र और अहीन दोनों प्रकार के निर्देश हैं।

जो याग दो दिन से लेकर बारह दिन तक किये जाते हैं, वे 'अहीन' कहलाते हैं–'द्विरात्रप्रभृतयोऽहीना द्वादशाहपर्यन्तः' [बौ० श्रौ० ११।३]। बारह दिनों में अथवा उससे अधिक दिनों में जो यज्ञ संपन्न होते हैं, उनको 'सत्र' कहा जाता है–

'द्वादशाहःप्रभृतीनि सत्राणि' [बौ० श्रौ० ११।४] कात्यायन श्रौतसूत्र [१२।१।४] में बताया है–'द्वादशाहः सत्रमहीनश्च' द्वादशाह इष्टि की सत्र और अहीन दोनों में गिनती होजाती है। क्योंकि पूर्वोक्त [बौ० श्रौ० ११।३-४] नियम के अनुसार इसका समावेश दोनों ओर होजाता है। ऐसे ही मोक्ष में आत्मा के अशरीर होने पर भी संकल्पमात्र से ऐश्वर्यानुभूति के आधार पर उसे सशरीर अथवा सेन्द्रिय कहना चाहें, तो भले कहलें; पर वहां प्राकृतिक शरीर इन्द्रिय आदि का आत्मा के साथ किसीतरह का संपर्क नहीं रहता, यह निश्चित है; इसीमें शास्त्र का तात्पर्य है ॥१२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, शरीर आदि के न होने पर वहां अनुभूति कैसे होती होगी ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥१३॥

[तन्वभावे] शरीर के अभाव में [सन्ध्यवत्] स्वप्नदशा के समान [उपपत्तेः] उपपत्ति–सिद्धि से। जैसे स्वप्न में शरीर एवं इन्द्रिय का सहयोग न होने पर ज्ञानवृत्ति होती है, ऐसे मोक्ष में शरीर आदि का अभाव होने पर आनन्दानुभूति होसकेगी।

स्वप्नदशा और मोक्षदशा का साम्य क्या है ? इसे ध्यान में रखना आवश्यक है। स्वप्न में देह और इन्द्रियों का उपयोग नहीं होता; केवल अन्तःकरण सक्रिय रहता है। उसके सहयोग से विविध संस्कार उद्‌बुद्ध होकर स्वप्न की स्थिति को चालू रखते हैं। मोक्षदशा में देह इन्द्रियादि का कोई उपयोग नहीं रहता, अन्तःकरण का भी वहां अस्तित्व नहीं है। केवल ब्रह्मसाक्षात्कारजन्य जो आत्मा का स्वरूपसामर्थ्य उभर आता है, उसकी सक्रियता विद्यमान रहती है। शास्त्र में इसीका 'संकल्प' अतवा 'मनस्' आदि पदों से अभिलापन किया गया है। तब आत्मा स्वरूपसामर्थ्य से आनन्दानुभूति किया करता है। इसी स्थिति को लक्ष्य कर सूत्रकार ने स्वप्न की समानता का निर्देश किया है। सूत्र में 'तनु' पद इन्द्रियादि का उपलक्षण है ॥१३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, ब्रह्मसाक्षात्कार तो जीवन्मुक्त को भी होजाता है, वहां अनुभूति की कैसी स्थिति होगी ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

भावे जाग्रद्वत् ॥१४॥

[भावे] भाव में [जाग्रद्वत्] जाग्रत् के समान। शरीर इन्द्रिय आदि होने पर अर्थात् जीवन्मुक्त दशा में जाग्रत् दशा के समान अनुभूति होती रहती है।

जीवन्मुक्त दशा में यद्यपि आनन्दानुभूति के लिये शरीर इन्द्रिय आदि का कोई उपयोग नहीं होता, फिर भी ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त उठते बैठते, जाते-आते, खाते-पीते तथा अन्य साधारण दैहिक व्यवहार करते हुए भी उस आनन्द की अनुभूति में लीन रहता है। जाग्रत् व्यापार के यथाकथञ्चित् रहते भी आनन्दानुभूति का क्रम चालू रहता है,

इसी अभिप्राय से सूत्रकार ने प्रस्तुत भाव प्रकट किया है। ऐसे ब्रह्मज्ञानियों के उदाहरण लोक में देखे गये है ।।१४।।

शिष्य जिज्ञासा करता है, जीवन्मुक्त आनन्दानुभूति के साथ दैहिक व्यापार कैसे करता रहता है ? यह स्थिति लौकिक दृष्टि के अनुकूल प्रतीत नहीं होती। आचार्य सूत्रकार ने बताया—

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ।।१५।।

[प्रदीपवत्] प्रदीप के समान [आवेशः] आवेश [तथा] वैसा [हि] क्योंकि [दर्शयति] दिखलाता है शास्त्र। जैसे एकत्र स्थित प्रदीप का अनेक पदार्थों के साथ आवेश–प्रकाशसम्बन्ध रहता है, ऐसे जीवन्मुक्त का उद्भूतशक्त्यावेश आनन्दानुभूतिकाल में दैहिक व्यापार का प्रयोजक रहता है।

जीवन्मुक्त पुरुष का ज्ञानविषयक ऐश्वर्य उद्भूत होजाता है। साधारण लौकिक स्थिति में देखा जाता है, कि एक प्रदीप जो एक जगह स्थित है, वह अपनी प्रभा से समस्त भवन में आविष्ट रहता है। उसका आवेश–प्रभासम्बन्ध सब पदार्थों को आविर्भूत करता हुआ अन्तिम कोने तक व्याप्त रहता है। इसीप्रकार जीवन्मुक्त आत्मा एकत्र स्थित हुआ अपने शक्त्यावेश से उन दैहिक व्यापारों में समर्थ होता है। लोक में देखा जाता है, आत्मा अपनी बन्ध अवस्था में चक्षु इन्द्रियद्वारा दूर तक देखता है, जितना चक्षु शुद्ध व सबल होगा, उतना अधिक दूर तक देखेगा। जब योगाभ्यासद्वारा अन्तःकरण शुद्ध होजाता है, तब चक्षु आदि के विना आत्मा अन्तःकरणद्वारा देखता है। इससे भी आगे जब आत्मा ब्रह्म का पूर्ण साक्षात्कार करलेता है, तब उसका एक अद्भुत अतिशय स्वरूपसामर्थ्य उद्भूत होजाता है। तब वह जीवन्मुक्त पुरुष आनन्दानुभूति के साथ अनेक दैहिक व्यापार व ज्ञान आदि की प्राप्ति में समर्थ रहता है। एकप्रकार वह सर्वज्ञ जैसा होजाता है। एक साथ अनेक व्यापार व ज्ञानोपलब्धि उसके लिये अशक्य नहीं रहते। जैसाकि शास्त्र इस विषय को दिखलाता है।

मुण्डक उपनिषद् [४।११] में आता है–'तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य ! स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेश' गुरु शिष्य से कहता है–हे सोम्य ! समस्त विश्व के आधार उस अक्षर ब्रह्म को जो जानलेता है, वह सबको जाननेवाला होकर सबमें आविष्ट होजाता है। ब्रह्मज्ञानी के सर्वत्र आवेश का यह स्पष्ट निर्देश है। छान्दोग्य [७।२६।२] में कहा– 'न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्। सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः' ब्रह्मज्ञानी द्रष्टा आत्मा मृत्यु, रोग और दुःखों से दूर होजाता है। न वह जन्म-मरण के बन्धन में आता है, इसीलिये न रोग व दुःख आदि से अभिभूत होता है। वह आत्मा सबको देखता जानता है, तथा सब ओर से सबको प्राप्त करता है। इसप्रकार ब्रह्मज्ञान से वह शक्ति प्रादुर्भूत होजाने पर जीवन्मुक्त आनन्दानुभूतिकाल में अन्य दैहिक आदि व्यापार

करलेता है। इसमें कोई असामञ्जस्य नहीं ॥१५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, मुक्त आत्मा को सर्वज्ञ के समान बताया गया, परन्तु शास्त्र में कहा है, कि आत्मा जब ब्रह्म के संपर्क में आता है, तो अन्दर बाहर का कुछ नहीं जानता; इसका सामञ्जस्य कैसे होगा ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

स्वाप्ययसम्पत्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥१६॥

[स्वाप्ययसंपत्योः] सुषुप्ति और सम्पत्ति में से [अन्यतरापेक्षं] किसी एक की अपेक्षा से [आविष्कृतं] प्रकट किया है [हि] क्योंकि। जहां आत्मा को अन्दर बाहर के न जानने आदि का उल्लेख है, वह सुषुप्ति और सम्पत्ति में से किसी एक की अपेक्षा से हैं; क्योंकि शास्त्र में ऐसा प्रकट किया गया है।

बृहदारण्यक [४।३।२१] में कहा है–'अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' यह पुरुष प्राज्ञआत्मा [ब्रह्म] के साथ संपर्क में आया हुआ न कुछ बाहर जानता है न अन्दर। ब्रह्म के संपर्क में आये आत्मा को यहां आन्तर बाह्य ज्ञान से शून्य बताया है। अन्यत्र कहा–'तत्केन कं विजानीयात्' [बृ० ४।५।१५] जहां सब आत्मा ही है, वहां किससे किसको जाने ? यहां ज्ञान के साधन व विषय के अभाव में ज्ञान का न होना बताया है। उस अवस्था में शास्त्रद्वारा ज्ञान का अभाव बताये जाने पर मुक्त आत्मा सर्वज्ञ के समान कैसे माना जासकता है ? इस जिज्ञासा में सूत्रकार ने कहा, जिन प्रसंगों का यहां उल्लेख किया गया है, ऐसे प्रसंगों में से या तो कोई सुषुप्ति-विषय का है, या कोई सम्पत्तिदशा का है। 'सम्पत्ति' पद यहां शुद्ध मोक्ष का वाचक है।

प्रथम वाक्यद्वारा प्राज्ञआत्मा के संपर्क में जीवात्मा को जो बाह्य आन्तर ज्ञान का न होना कहा है, वह सुषुप्तिदशा की अपेक्षा से कहा गया है। इसके पहले वाक्य है–'यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति' [माण्डू० ५; बृ० ४।३।१९] जब आत्मा सुषुप्तिदशा में है, तब न कोई कामना रखता है, न कोई स्वप्न देखता है। उसी प्रसंग में आगे का उल्लेख है, कि तब वह बाह्य आन्तर का कुछ नहीं जानता। सुषुप्ति एक तामस अज्ञान दशा है, उसके विषय में उक्त वर्णन उपयुक्त है। उसकी तुलना मुक्तदशा के साथ इस रूप में करना असंगत है। द्वितीय सन्दर्भ [बृ० ४।५।१५] मोक्ष के प्रसंग का है। मोक्षदशा में आत्मा एकमात्र ब्रह्मानन्द में डूबा हुआ उसीको देखता उसीका अनुभव करता है। ईशोपनिषद् [७] में कहा–'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' ब्रह्म के आनन्द में एकता का अनुभव करता हुआ आत्मा शोक-मोह से रहित होजाता है। ऐसी भावना से बृहदारण्यक के उक्त [४।४।१५] प्रसंग में मोक्ष-दशा का वर्णन है। वहां साथ ही कहा है–'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' जिस दशा में इसके लिये सब आत्मा ही रहता है, वहां यह किससे किसको देखे ? तात्पर्य, वहां इसको कुछ भी द्रष्टव्य आदि अपेक्षित नहीं होता; उस आनन्द को प्राप्त कर सब नगण्य रहता है।

इसी भावना से उक्त वाक्य कहा गया है। उसका ऐसा अभिप्राय नहीं है, कि तब मुक्त आत्मा कुछ जान नहीं सकता। आत्मा की आनन्दानुभूति की दशा निश्चित ही सर्वज्ञ के समान है। वह ब्रह्मज्ञान से उद्भूत स्वरूपसामर्थ्य के कारण कुछ भी जानलेने में अक्षम नहीं रहता ॥१६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि ऐसा सत्यकाम, सत्यसंकल्प आदि सामर्थ्य मुक्त पुरुष को प्राप्त होजाता है, तो क्या वह जगत् की रचना आदि करसकता है? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥१७॥

[जगद्व्यापारवर्जं] जगत् सम्बन्धी व्यापार को छोड़कर [प्रकरणात्] प्रकरण से [असंनिहितत्वात्] असंनिहित होने से [च] और। जगत् व्यापार को छोड़कर अन्य ऐश्वर्य मुक्तात्मा को प्राप्त होजाता है, क्योंकि जहां जगत् की रचना का शास्त्र मे कथन है, वहां ब्रह्म का प्रकरण है, मुक्त आत्माओं का सान्निध्य नहीं है।

जगत् के उत्पत्ति आदि व्यापार को छोड़कर अन्य अणिमा आदि ऐश्वर्य मुक्त पुरुष को प्राप्त होजाता है। जगत् के उत्पत्ति स्थिति प्रलय तथा प्राणियों के कर्मफलों की व्यवस्था आदि कार्य तो केवल परब्रह्म के सामर्थ्य में रहता है। शास्त्र में जहां जगत् की उत्पत्ति आदि का वर्णन है, वहां इस व्यापार में परब्रह्म का अबाध निर्देश है; मुक्त आत्माओं को जो ऐश्वर्य की प्राप्ति शास्त्र [तै० १।६।२; छा० ७।२५।२; ८।१।६] में बताई है, वह ब्रह्मसाक्षात्कार के होजाने पर संभव होती है। उसके लिये आत्मा को अनेक मानव जन्मों में निरन्तर दृढ़ प्रयास करना होता है, इसकारण जगत् की उत्पत्ति आदि में मुक्तात्मा का कोई सान्निध्य अथवा सहयोग संभव नहीं रहता। अनादिकाल में कोई आत्मा जब मुक्त हुआ है, इससे पहले संसार बराबर चालू रहता है, इसलिये जगत् की उत्पत्ति आदि में मुक्तात्मा को निमित्त व प्रयोजक मानना सर्वथा निराधार है। वह कार्य केवल परमेश्वर के अधीन रहता है, इसलिये मुक्तात्मा कभी परब्रह्म के कार्य का अधिकारी व स्थानापन्न नहीं होसकता। सत्यकाम व सत्यसंकल्प भी मुक्त आत्मा ऐसे अनधिकार की कामना कभी नहीं करता, क्योंकि वह उस दशा में यथार्थज्ञानी है, अज्ञानी नहीं ॥१७॥

शिष्य आशंका करता है, यदि ऐसा है, तो उसके विषय में शास्त्र ने 'आप्नोति स्वाराज्यम्' [तै० १।६।२] तथा 'सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' [छा० ७।२५।२] आदि क्यों कहा? आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥१८॥

[प्रत्यक्षोपदेशात्] प्रत्यक्ष उपदेश से [इति] यह [चेत्] यदि (कहो, तो वह

ठीक) [न] नहीं [आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः] अधिकारवाले मण्डल में अवस्थिति के कथन से। मुक्तात्मा के विषय में किये गये प्रत्यक्ष उपदेश से यह कहीं प्रमाणित नहीं होता, कि वह ब्रह्मसम्पाद्य कार्यों में उसका स्थानापन्न होजाता है; क्योंकि मुक्तात्मा के ऐसे प्रसंगों में उसके अधिकार की सीमा में अवस्थिति का कथन है।

मुक्त आत्मा का असीमित ऐश्वर्य कभी नहीं होता; ऐसा ऐश्वर्य जिससे वह जगद्-व्यापार में प्रवृत्त होसके। उसके विषय में जो ये कथन हैं–'स स्वराड् भवति' [छा० ७।२५।२] वह अपने आपका राजा होजाता है; 'आप्नोति स्वाराज्यम्' [तै० १।६।२] वह स्वर्ग के राज्य को प्राप्त करलेता है। 'सर्वेऽस्मै देवा बलिमाहरन्ति' [तै० १।५।३] सब देव इसके लिये पूजा प्रस्तुत करते हैं; 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' [छा० ७।२५।२] उसका सब लोकों में अबाध संचरण होजाता है; इत्यादि सब कथनों का तात्पर्य उसके अधिकार की सीमा में अवस्थित ऐश्वर्य का प्रकट करना है। वह अपने आपका राजा होजाता है, और निर्बाध सब लोकों में संचरण करता है; यह कथन मुक्तात्मा के विषय में इस तथ्य को प्रकट करता है, कि वह अब प्रकृतिबन्धन में नहीं है, वे प्राकृतिक सीमा अब उसे जकड़ नहीं पातीं, जिनसे वह अपनी संसारी दशा में अभिभूत रहा है। सब देव इसके लिये बलि आहरण करते हैं, इस कथन का अभिप्राय है, कि वे सब देवरूप इन्द्रियां जो इसे संसारी दशा में नचाये फिरती थीं, अब इसके लिये पूजा प्रस्तुत करती हैं। मुक्त आत्मा इन सब भावनाओं पर प्रभावी है। वह अब विना किसी बाधा के अपने सामर्थ्य से उन सब भावनाओं की अनुभूति में पूर्ण क्षमता रखता है, जिनके लिये वह कभी इन देवों के पीछे फिरता था, अब ये देव उसके लिये नगण्य हैं। जो उनके लिये कभी नेय था, अब पूज्य बनगया है। मुक्तात्मा का यह सब ऐश्वर्य उसके अपने अधिकार की सीमा में अवस्थिति को प्रकट करता है। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है, कि वह परब्रह्म का स्थान लेलेता है ॥१८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि मुक्तात्मा का ऐश्वर्य सीमित है, तो उसकी सीमा कहांतक संभव है? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

विकारावर्त्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥१६॥

[विकारावर्त्ति] विकार में सब ओर से वर्त्तनेवाला [च] और [तथा] वैसी [हि] क्योंकि [स्थिति] स्थिति को [आह] कहता है शास्त्र। मुक्त का ऐश्वर्य विकार में वर्त्तनेवाला रहता है, क्योंकि शास्त्र वैसी स्थिति को बतलाता है।

ऐश्वर्य दो रूपों में कहा जासकता है–ज्ञानरूप में और क्रियारूप में। मुक्त आत्मा का ज्ञानरूप ऐश्वर्य परब्रह्म से लेकर प्रकृति आदि समस्त भावों को विषय कर-लेता है। तात्पर्य, वह इनके यथार्थ स्वरूप को जानलेता है। पर उसका क्रियारूप ऐश्वर्य केवल विकार के उपयोग अथवा प्रयोग में सीमित रहता है। ब्राह्मी व्यवस्था

के अनुसार प्रकृति विकाररूप में परिणत होजाती है। ऐसी क्रिया में मुक्त आत्मा के ऐश्वर्य का प्रवेश नहीं है। यह क्रिया जगद्व्यापार है, उसमें मुक्त आत्मा का कोई हाथ नहीं। मुक्त के जिस ऐश्वर्य का वर्णन शास्त्र में उपलब्ध होता है–स्वराट् होना, लोकों में कामचार आदि, यह सब विकार में सीमित है। ब्रह्म का ऐश्वर्य इससे ऊपर है। ब्रह्म की ऐसी स्थिति को वेद बतलाता है–'एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि' [ऋ० १०।६०।३; यजु० ३१।३; अथ० १६।६।३] विश्व की रचना में ब्रह्म का जो ऐश्वर्य अवभासित होता है, उससे कहीं अधिक उसका ऐश्वर्य है, इसीलिये उसे असीमित कहा जासकता है। फलतः मुक्त आत्मा का शास्त्र [छा० ७।२५।२; ८।१।६; ७।२६।१-२; तै० १।६।२; श० ब्रा० १४।४।२।१७] में वर्णित ऐश्वर्य केवल विकार को विषय करता है, यह विकारक्षेत्र की सीमा से बाहर नहीं जाता। क्रियात्मक विज्ञान का समस्त चमत्कार–जो है और हो सकता है–विश्व के विकार-क्षेत्र में सीमित है। शास्त्र के उक्त वर्णनों से यह स्थिति स्पष्ट होती है ॥१६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, ब्रह्म का ऐश्वर्य विकारावर्त्ति क्यों नहीं है? अथवा वह असीमित क्यों माना जाता है? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥२०॥

[दर्शयतः] दिखलाते हैं [च] और [एवं] इसप्रकार [प्रत्यक्षानुमाने] श्रुति-स्मृतिरूप शास्त्र। वेदादि शास्त्र यह बतलाते हैं, कि ब्रह्म समस्त विश्व के अन्दर है और बाहर भी है, इससे उसके अनन्त असीमित ऐश्वर्य का पता लगता है।

सूत्र में 'प्रत्यक्ष' पद का प्रयोग 'श्रुति' तथा 'अनुमान' का 'स्मृति' के लिये माना गया है। यजुर्वेद [४०।५] में कहा–'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' वह सबके अन्दर बाहर विद्यमान रहता है। ऋग्वेद [१।५२।१२] में कहा–'त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः' हे परब्रह्म परमेश्वर! तू इस सब विस्तृत लोक-लोकान्तर के परे है। तैत्तिरीय आरण्यक [१०।१३।६] में बताया–'यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः' जो कुछ यह सब जगत् देखा या सुना जाता है, उस सबको अन्दर बाहर व्याप्त कर नारायण अवस्थित है। उपनिषदों [कठ० २।२।१५; श्वे० ६।१४; मु० २।२।१०] में कहा–'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र-तारकम्······तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' सूर्य चांद तारे विद्युत आदि कोई तत्त्व उस परब्रह्म को प्रकाशित नहीं करते; प्रत्युत उसीकी सत्ता से ये प्रकाशित हैं। यदि वह जगत् का रचयिता न हो, तो यह सब विश्व अपनी इस सत्ता में दृष्टिगोचर नहीं होसकता। इसलिये ब्रह्म का ऐश्वर्य केवल विकार में सीमित न होकर समस्त कार्य एवं कारण विश्व के ऊपर है। कितने ऊपर या बाहर है, इसे नापा तोला नहीं जासकता, इसलिये वह अनन्त असीमित है। यदि ब्रह्म का ऐश्वर्य विकारा-

र्वात्ति होता, तो जगत् की रचना कैसे होती ? इसका निर्माता फिर कौन होता ? उस दशा में जगत् की रचना असंभव होती। इसीलिये शास्त्रों ने ब्रह्म के ऐश्वर्य को सर्वोपरि अनन्त असीम बतलाया है। आत्मा उस स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता ॥२०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि ऐसी स्थिति है, तो मुक्त आत्मा का शास्त्रकारों ने ब्रह्म के साथ साम्य किस आधार पर कहा है ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥२१॥

[भोगमात्रसाम्यलिङ्गात्] भोगमात्र की समानता के लिङ्ग से [च] और। शास्त्र में वैसा कथन भोगमात्र की समानता के कारण किया गया है।

मुक्त आत्मा की ब्रह्म के साथ समता केवल मुक्त दशा में आत्माद्वारा ब्रह्मानन्द की अनुभूति के आधर पर शास्त्र में बताई है। तैत्तिरीय उपनिषद् [२।१] में कहा—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद······सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' सत्य चेतन अनन्त ब्रह्म को जो जानलेता है, वह आनन्दरूप ब्रह्म के साथ सब कामों को भोगता है। तात्पर्य, उस आनन्द को प्राप्त कर उसकी कोई कामना शेष नहीं रहजाती। वह सत्यकाम आप्तकाम होजाता है, यही ब्रह्म के साथ मुक्त आत्मा की समता है ॥२१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जब मुक्त आत्मा को लोकों में यथाकामचार प्राप्त होता है, तो क्या वह अपनी इच्छानुसार मोक्ष से चाहे जब लौट आसकता है ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥२२॥

[अनावृत्तिः] आवृत्ति—लौटना नहीं [शब्दात्] शब्द से। शब्दप्रमाण से जाना जाता है, कि वह इसप्रकार लौटता नहीं।

पितृयाणमार्ग से जानेवाले कर्मी आत्मा उन कर्मों का फल भोगकर पुनः इसी सर्गकाल में यथावसर जन्म लेते हैं, परन्तु सीधे मोक्ष को प्राप्त हुए अथवा देवयानमार्ग से ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर मोक्ष पानेवाले आत्माओं का इस सर्ग में लौटना नहीं होता, यद्यपि उनको वह सामर्थ्य प्राप्त होता है, जिससे वे ब्रह्मानन्द का अनुभव करते सर्वत्र विचरते हैं। ऐसा वर्णन वस्तुतः उनकी स्वतन्त्र स्थिति का द्योतक है, जहां वे प्रकृति-बन्धन से सर्वथा रहित हैं। फिर भी वे चाहे जब इच्छानुसार उस अवस्था का परित्याग नहीं करसकते। यह एक ब्राह्मी व्यवस्था है, कि ब्रह्मसाक्षात्कार होजाने पर आत्मा को उस आनन्द का अनुभव होना चाहिये। उसमें आत्मा व्यवच्छेद नहीं डाल सकता। वह कबतक उस आनन्द को भोगता है, यह व्यवस्था परब्रह्म परमात्मा के अधीन है। शास्त्रों ने इस विषय में जो निर्देश किये हैं, उनका केवल इतना तात्पर्य है, कि चालू जगत् में उनका लौटना नहीं होता। अन्यथा वह संसारी दशा के समान ही अनिश आवर्त्तमान

जन्म-मरण के क्रमवाली अवस्था होजायगी। आनन्दभोग का कदाचित् वह इतना अधिक काल है, कि शास्त्रों में उसे साधारणरूप से 'अमृत' कहा गया है। उस दशा में संसारी दशा के समान जन्म-मरण का निरन्तर क्रम चालू नहीं रहता।

शास्त्र इस अनावृत्ति के विषय में निर्देश करते हैं—'ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः' [बृ० ६।२।१५] वे उन ब्रह्मलोकों में अनेक वर्षों तक निवास करते हैं, उनकी फिर आवृत्ति नहीं। आचार्य शंकर ने इस पंक्ति का भाष्य करते हुए लिखा है—'पराः परावतः प्रकृष्टाः समाः संवत्सराननेकान् वसन्ति। ब्रह्मणोऽनेकान् कल्पान् वसन्तीत्यर्थः। तेषां ब्रह्मलोकं गतानां नास्ति पुनरावृत्तिः, अस्मिन् संसारे न पुनरागमनं 'इह' इति शाखान्तरपाठात्'। अनेक संवत्सरपर्यन्त वहां निवास करते हैं, अर्थात् ब्रह्मा के अनेक कल्पों तक बसते हैं। ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए उनकी आवृत्ति—उनका आगमन इस संसार में नहीं होता, दूसरी शाखा में 'इह' पाठ से यह स्पष्ट होता है। उक्त उद्धरण यहां बृहदारण्यक उपनिषद् [६।२।१५] का दिया है, इसमें 'तेषामिह' ऐसा पाठ नहीं है। यह उपनिषद् यजुर्वेदीय काण्वशाखा के शतपथ ब्राह्मण का भाग है, परन्तु वाजसनेयिशाखा के शतपथ ब्राह्मण [१४।६।१।१८] में 'तेषामिह न पुनरावृत्तिः' यह 'इह' पदघटित पाठ है, उसीका अतिदेश यहां व्याख्या में आचार्य शंकर ने किया है। आगे आचार्य ने लिखा—'यदि हि नावर्त्तन्त एव, इहग्रहणमनर्थकमेव स्यात्' क्योंकि यदि वे ब्रह्मलोकगत मुक्त आत्मा कभी लौटकर न आवें, तो यहां 'इह' पद का ग्रहण अनर्थक होजायगा। इसी प्रसंग का उपसंहार करते हुए आचार्य ने अन्त में लिखा—'तस्मादस्मात्कल्पादूर्ध्वं आवृत्तिर्गम्यते' इसलिये इस कल्प के अनन्तर आवृत्ति जानी जाती है।

इस विषय का अन्य प्रसंग छान्दोग्य उपनिषद् में दो स्थलों पर है—'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्तन्ते' [छा० ४।१५।५], तथा 'ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्त्तते' [छा० ८।१५।१]। देवयानमार्ग से ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए ज्ञानी आत्मा इस मानव आवर्त्त में फिर नहीं लौटते। मनुसम्बन्धी जो यह जगत्सर्गरूप आवर्त्त है, अर्थात् जहां घटीयन्त्र [रहट] के समान जन्म-मरण के रूप में निरन्तर आना-जाना लगा रहता है, ऐसे इस मानव आवर्त्त में उन आत्माओं का लौटना नहीं होता। जबतक ब्रह्मलोक में स्थिति है, तबतक ज्ञानी आत्मा वहीं रहता है, उससे पहले वह लौटकर नहीं आता। तात्पर्य यह है, कि उस अवस्था के मध्य में वह नहीं लौटता। आचार्य शंकर ने इन सन्दर्भों की व्याख्या में यही भाव प्रकट किया है—'एतेन प्रतिपद्यमाना गच्छन्तो ब्रह्म इमं मानवं मनुसम्बन्धिनं मनोः सृष्टिलक्षणमावर्त्तं नावर्त्तन्ते। आवर्त्तन्तेऽस्मिञ्जननमरणप्रबन्धचक्रारूढा घटीयन्त्रवत्पुनः पुनरित्यावर्त्तस्तं न प्रतिपद्यन्ते' [छा० ४।१५।५]। द्वितीय संदर्भ की व्याख्या में लिखा है—'यावद्ब्रह्मलोकस्थितिः तावत्तत्रैव तिष्ठति प्राक्ततो नावर्त्तत इत्यर्थः' [छा० ८।१५।१]। अन्तिम वाक्य से स्पष्ट होता है, कि जबतक ब्रह्मलोक में स्थिति का काल है, उससे पहले आवर्त्तन नहीं होता; स्थितिकाल पूरा होजाने

पर आवर्त्तन होसकता है ।

वह काल कितना होता है, यह प्रासंगिक विचार नहीं है । यह व्यवस्था ब्रह्म के अधीन है, इसका नियमन वही करता है । वहां तक पहुंचना आत्मा की ब्रह्मसाक्षात्कार-जन्य विशिष्ट स्थिति के कारण है । आगे व्यवस्था का वही नियामक है । सूत्र में पदों की दो बार आवृत्ति अध्याय तथा शास्त्र के सम्पूर्ण होने की द्योतक है ।।२२।।

इति चतुर्थाऽध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

इति श्रीपूर्णसिंहतनूजेन तोफादेवीगर्भजेन, बलियामण्डलान्तर्गत'छाता'वासि-श्रीकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्धविद्योदयेन बुलन्दशहरमण्डलान्तर्गत-'बनैल'-ग्रामवास्तव्येन, विद्यावाचस्पतिना उदयवीर शास्त्रिणा समुन्नीते ब्रह्मसूत्राणां 'विद्योदय'भाष्ये फलाभिधानश्चतुर्थाध्यायः ।

सम्पूर्णश्चायं ग्रन्थः ।

मकर संक्रान्ति, पौषशुक्ल १२, बृहस्पतिवार, सं० २०२१ ।
१४।१।१९६५ ईसवी, वत्सरे
ग्रन्थलेखनकार्यं पूर्णतामगात् ।

परिशिष्ट—१

सूत्रसूची

अ

आ

परिशिष्ट—२

उद्धृत सन्दर्भ सूची

आ

इ

ऐ

ओ

ह

परिशिष्ट—३

विषय-निर्देशिका

ग

च

त

द